अवन्तिका



र्ष २ : अंक ३
र्च, १९५४

संपादक—लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वार्षिक १०)
एक प्रति १)

अवन्तिका के प्रथम वर्ष

की

फाइल मँगाकर लाभ उठायें

१ अवन्तिका के प्रथम वर्ष की फाइल दो जिल्दो में हमारे कार्यालय में उपलब्ध है। जिन सज्जनो को अपने पुस्तकालय या संग्रहालय के लिए इन जिल्दो की जरूरत हो वे मनिआर्डर से १२) बारह रुपये भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर ये जिल्दें मँगवा सकते है। प्रथम वर्ष की फाइल में जिन लेखको और कवियो की रचनाएँ आपको पढ़ने के लिए मिलेंगी उनमें से कुछ के नाम ये है—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि निराला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

२ अवन्तिका का वार्षिक चंदा १०) दस रुपये, और एक अंक का १) रुपया है। किंतु प्रस्तुत अंक का मूल्य तीन रुपया है। अत यदि आप इस अंक से अवन्तिका के ग्राहक बन जाते हैं, तो फिर बाकी ग्यारह अंक आपको सिर्फ सात रुपये मे मिलते रहेंगे। अतएव, उचित है कि आप दस रुपये भेजकर पत्रिका का वार्षिक ग्राहक बन जायँ।

३ अवन्तिका का वर्षारंभ जनवरी से होता है। प्रस्तुत काव्यालोचनांक अवन्तिका के दूसरे वर्ष का प्रथम अंक है।

४ अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बना जा सकता है।

५ अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

६ पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; अन्यथा पत्रोत्तर भेजने में विलंब होगा।

७ नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता।

——प्रकाशक——

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना–४

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

लेखक : श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव'

आलोचना-साहित्य में अनुपम देन : मूल्य ६) मात्र

कुछ सम्मतियाँ

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

बहुत अच्छी लगी। यह सृष्टा का विवेचन है। आलोचक अगर सृष्टा नहीं हुआ तो वह नीरस हो जाता है और अपने ज्ञान की गरिमा से पाठक की गरदन तोड़ देता है। आपकी विवेचना सरस है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग

साहित्य शास्त्र संबंधी इस ग्रंथ को अत्यन्त परिश्रम और मनोयोग के साथ लिखा गया है। इस विषय पर यह अपने ढंग का बहुत सुन्दर है।

डा० शिवनाथ, शान्ति निकेतन

हिन्दी में ऐसे सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रंथ थोड़े हैं।

कविता

अशोक—श्री रामदयाल पाण्डेय	२॥)
कबीर—श्री यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज'	१।)
स्वर्णोदय—'प्रभात'	१।)

कथा साहित्य

अनोखा आदमी—प० छविनाथ पाण्डेय	३)
अस्पताल में ,,	३)
अंधकार ,,	३)
बदलती दुनिया—श्री सुरेश्वर पाठक	२।।।)
दरवेश का बेटा—श्री माखचन्द्र ओझा	१।)
पेशावर एजेंट—श्री राधाकृष्ण प्रसाद	१)
मृत्यु के मुँह में—श्री छविनाथ पाण्डेय	१।=)

नाटक

कसाई—श्री मोहनलाल महतो	२)
पुनरावृत्ति—श्री हंसकुमार तिवारी	१।।।)
पत्नामृत—श्री अनूप	१।)

किशोर साहित्य

धरती पर धावा	॥)
विदेशी गाथाएँ	।।।)
कला की कुटिया में	१।)
विज्ञान के पथ पर	१।)
आदि मानव	।।।)
हमारे युग पुरुष	१)
मेरा बिहार	१।)
कविता कानन	१।)
हम और हमारा समाज	२।)
हमारी शिक्षा	१)
सत्य शिवं-सुन्दरम्	॥=)
भूला हुआ भारत	१)
कृषि के वे दिन और ये दिन	॥)
हम कौन थे क्या हो गए	॥)

ग्राम्य साहित्य

पेड़ पौधों का व्यवहार	२)
साग सब्जी की खेती	२)
पशुओं का अनुभूत इलाज	१॥)
मनुष्य और भूमि	॥=)
कृषि और कृषक	।)॥

गाँधी साहित्य

राष्ट्रपिता	॥≡)
बापू की बातें	॥≡)
बापू को जानो	॥≡)
बापू की सीख	।≡)
बापू की गूँजती आवाजें	।≡)
स्वराज्य का सच्चा अर्थ	॥–)

—— प्रकाशन की पूरी सूची मँगाकर देखें ——

ज्ञानपीठ लिमिटेड : पटना-४

वार्षिक
१०)
विदेश के लिए
सत्तरह शिलिंग

अवन्तिका

[विविध-विषय निरूपित सचित्र मासिक पत्रिका]
जम्मू-कश्मीर, सौराष्ट्र, हिमाचल-प्रदेश तथा बिहार की सरकारों द्वारा
कालेजों, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

एक प्रति
१)
विदेश के लिए
डेढ़ शिलिंग

विषय-सूची :: मार्च १९५४



[विविध विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

संपादक : लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वर्ष २ : खंड १] पटना, मार्च १९५४ ई० :: फाल्गुन, २०१० वि० [अंक ३ : पूर्णांक १५

संपादकीय

१. भारत में शिक्षा का भविष्य

भारत में शिक्षा के भविष्य पर विचार करते समय सबसे पहले हमारी दृष्टि केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय तथा शिक्षा-मंत्री मौलाना आजाद पर पड़ती है। नवनिर्मित भारतीय राष्ट्र के लिए यह परम दुर्भाग्य की बात है कि मौलाना आजाद के हाथों में देश की शिक्षा की बागडोर सौंपी गई है। इसमें संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं है कि आजाद एक विद्वान् तथा विचारशील व्यक्ति हैं, किंतु उनकी विद्वत्ता का माध्यम अरबी और फारसी भाषाएँ रही हैं, उनकी विचारशीलता में हिंदुत्व प्रधान भारतीय संस्कृति का चिंतनीय अभाव है। उर्दू के सिवा भारत की किसी भाषा की उन्हें जानकारी नहीं है, उसके अधिकारी विद्वान् होने की बात तो अलग रही। भारत की राष्ट्रभाषा हिंदी है, किंतु अबतक अँगरेजी ही राजभाषा रही है और आगे भी कुछ दिनों तक वह भारत के सिर पर लदी रहेगी। आजाद न अँगरेजी के विद्वान् हैं और न राष्ट्रभाषा हिंदी के। स्वतंत्रता के नवजागरण में भारतीय प्रतिभा हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही प्रस्फुटित होने का मार्ग ढूँढ़ रही है। पर इस मार्ग को अवरुद्ध करनेवाले अकेले मौलाना आजाद नहीं, दो एक के अतिरिक्त उन्होंने अपने शिक्षा-मंत्रालय में अपनी ही किस्म के बहुत-से लोगों को जमा कर लिया है। राष्ट्र में शिक्षा-प्रचार के शुभ-चिंतकों के लिए यह एक बड़ी चिंता का विषय है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ४५ में राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व के रूप में यह उल्लिखित है कि राज्य, इस संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की कालावधि के भीतर सब बालकों को चौदह वर्ष की अवस्था-समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबंध करने का प्रयास करेगा। केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय के एक विशिष्ट तथा उच्च अधिकारी प्रो० हुमायूँ कबीर से जब एक बार पटने में ही यह प्रश्न किया गया कि संविधान में निर्दिष्ट निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा के लिए सरकार क्या प्रयास कर रही है तब उन्होंने इस प्रश्न की गंभीरता पर विचार न कर इतना ही कहा कि संविधान का यह अनुच्छेद बाध्यता-मूलक नहीं है, नीति का निदेशकमात्र है। संविधान के चौथे भाग में राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों के संबंध में अनुच्छेद ३७ में लिखा है कि इस भाग में दिए गए उपबंधों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, किंतु तोभी इनमें दिए हुए तत्त्व देश के

शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा। अतः, प्रो० हुमायूँ कबीर ने निदेशक तत्त्व की ही ओट में अपने मंत्रालय की अकर्मण्यता को ढँकने की चेष्टा की। उनकी दृष्टि निदेशक तत्त्व के अंतर्गत 'मूलभूत' और 'कर्त्तव्य' पर भले ही पड़ गई हो, किंतु उन्होंने अपनी प्रवृत्ति, प्रेरणा तथा प्रयत्न को बिलकुल ही आगे बढ़ने से रोक लिया।

एक बात बड़े मजे में उनकी ओर से ही कही जा सकती थी कि संविधान में निर्दिष्ट निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य-सरकार पर है संघीय सरकार पर नहीं। किंतु प्रो० कबीर ने ऐसी कुछ बात नहीं कही। सच तो यह है कि संविधान के अनुसार वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शिक्षा के अतिरिक्त संघीय सरकार पर शिक्षा संबंधी कुछ विशेष दायित्व नहीं है। साधारणतः शिक्षा विषय राज्य-सूची के अंतर्गत है और भारत के तीन दर्जन विश्वविद्यालयों में से केवल तीन—अलीगढ़, काशी और दिल्ली—विश्वविद्यालय ही संघीय सरकार के तत्त्वावधान में परिचालित हो रहे हैं। इतना होने पर भी, भारत में शिक्षा प्रचार का सर्वाधिक नैतिक दायित्व केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय पर है। शिक्षा के नाम पर बड़ी बड़ी रकमें खर्च की जाती हैं, किंतु इनका बहुत बड़ा भाग सभा समितियों, सांस्कृतिक शिष्ट-मंडलों को देश विदेश भेजने में खर्च होता है। कुछ अंश में यह खर्च आवश्यक माना जा सकता है, पर अपनी आर्थिक स्थिति तथा देश में प्रारंभिक शिक्षा की समस्या को देखते हुए यह खर्च बहुत असंतुलित हो गया है।

ब्रिटिश राज्यकाल में ऊपर से ही नीचे तक भारत का शासन होता था, पर स्वतंत्रता के बाद इस दिशा में जो परिवर्तन होना चाहिए था वह अबतक नहीं हो सका है। जबतक शासन-यंत्र की बनावट नीचे से ऊपर की ओर नहीं होगी तबतक राष्ट्र का सम्यक् विकास संभव नहीं है। प्रारंभिक शिक्षा का प्रसार हमारी एक समस्या है, पर केंद्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने पुरानी पद्धति के अनुसार ही उलटे ढंग से इसपर विचार किया और शिक्षा सुधार के लिए सबसे पहला काम उसने विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्त कर आरंभ किया। उसके बाद माध्यमिक शिक्षा की जाँच-पड़ताल का काम शुरू किया। प्रारंभिक शिक्षा के संबंध में अभी कोई चर्चा नहीं है। संभव है, अखिल भारतीय प्राथमिक शिक्षक-सम्मेलन के संकल्प पर विचार कर शिक्षा मंत्रालय इस दिशा में कुछ आगे बढ़ने का काम करे।

इधर पंचवर्षीय योजना आयोग के आदेशानुसार केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय ने राज्य सरकारों को बेकारी दूर करने के बहाने प्रारंभिक शिक्षा को योजनाहीन तरीके से प्रसारित करने के लिए कुछ रुपए दिए हैं। रुपया खर्च करना एक बात है और उसको अच्छी तरह सदुपयोग में लाकर ... करना दूसरी बात। क्या हम यह आशा रख सकते हैं कि संघीय तथा राज्य-सरकारें भारत में शिक्षा के भविष्य पर गंभीरता-पूर्वक विचार कर कुछ अधिक तत्परता तथा उत्साह से काम करेंगी ?

२. प्रारंभिक शिक्षा का रूप

यह बात अब प्रायः निश्चित सी है कि भारत में प्रारंभिक शिक्षा का रूप परंपरागत शिक्षा पद्धति से अन्यथा नई तालीम या उसके ढंग का होगा। जिस उद्देश्य को सामने रखकर बुनियादी तालीम या आधार शिक्षा का श्रीगणेश किया गया था उसकी पूर्ति दृष्टिगत नहीं हो रही है। जिस आधार शिक्षा को यथासंभव स्वावलंबी बनाने का उद्देश्य रखा गया था वह शिक्षा परंपरागत शिक्षा से कहीं अधिक परावलंबी हो गई। बुनियादी तालीम की यह बुनियादी गलती हुई कि परंपरागत विद्यालयों के शिक्षकों को अधिक वेतन का आकर्षण देकर नई पद्धति में लाया गया। इससे अब पीछे हटने की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि शिक्षकों को जितना वेतन मिलता है वह इतना अधिक नहीं है कि उसमें से कुछ कटौती की जा सके। खर्च की समस्या ही नई तालीम की प्रगति में बाधक हो गई है। राष्ट्र के शिक्षा शास्त्रियों को इसपर विचार करना है।

केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय ने देश के कुछ प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों से शिक्षा के संबंध में ऑल इंडिया रेडियो पर व्याख्यान दिलाने का प्रबंध कर एक प्रशंसनीय काम किया है। इस संबंध में अबतक डॉ० जाकिर हुसेन, श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम्, श्री संपूर्णानंद आदि कई प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों के व्याख्यान हो चुके हैं। ये व्याख्यान बहुत ही सुविचारित तथा चिंतनपूर्ण हैं। जबतक हमारी शिक्षा प्रणाली हमारे जीवन के साथ

मिली-जुली नहीं होगी तबतक उससे किसी लाभ की आशा करना व्यर्थ है।

भारतीय जीवन तथा उसकी संस्कृति के अनुसार शिक्षा की जो परिभाषा है वह—सा विद्या या विमुक्तये—है। सच्ची शिक्षा वही मानी गई है जो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे। आज के अर्थ प्रधान युग में हमारी आर्थिक मुक्ति भी एक प्रधान समस्या है। नौकरी को ही लक्ष्य में रखकर दी जानेवाली परंपरागत शिक्षा पद्धति अब अपनी उपयोगिता खो चुकी है। उसमें सुधार आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। सर्वोदयवादी शिक्षा का यह लक्षण होना चाहिए कि वह मनुष्य को भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक दासता से उन्मुक्त कर ऐसी क्षमता दे कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक अपने जीवन का निर्माण कर सके।

श्रीमती आशा देवी ने राष्ट्र की स्थिति के अनुकूल शिक्षा पर विचार करते हुए कहा है—

हम जानते हैं कि हम एक निर्धन राष्ट्र हैं। लेकिन इससे क्या? संसार के अन्य अधिकांश राष्ट्र भी तो निर्धन हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि एक निर्धन राष्ट्र ही दूसरे निर्धन राष्ट्र की शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग निकाल सकता है। हम जानते हैं कि हमारे लिए और दूसरे बहुत से राष्ट्रों के लिए राष्ट्रीय शिक्षा के एक विशाल कार्यक्रम के सचालनार्थ शिक्षित और सुविधा-सपन्न वर्ग जनता की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन है। लेकिन शिक्षित और सुविधा-संपन्न वर्गों का सर्वत्र ही यह दृष्टिकोण रहता है।

इसलिए, हमारी समस्यायें केवल हमतक सीमित नहीं हैं, वे संसार के एक एक शोषित और दलित देश की समस्याएँ हैं। प्रस्तुत स्थिति में हमारा यह परम पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि हम इन दुर्जेय बाधाओं के होते हुए भी एक ऐसे सांगोपांग शिक्षा-दर्शन का विकास करें जो न केवल हमारे लिए, प्रत्युत संसार के समस्त दलित तथा शोषित देशों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सके।

ऐसा करने में हम सफल तभी हो सकते हैं जब हम अपने उद्देश्यों को स्पष्टतापूर्वक निश्चित कर लें, अपने मार्गदर्शक सिद्धांतों को ठीक से निर्धारित कर लें तथा इन उद्देश्यों और सिद्धांतों के अनुसार ही अपने भावी कार्यक्रम का विकास प्रारंभ करें।

पहला मार्गदर्शक सिद्धांत जिसपर किसी को आपत्ति न होगी, यह है कि शिक्षा सबके लिए और सबके हित के लिए होनी चाहिए। 'जनता की, जनता के द्वारा, जनता के लिए शिक्षा' यह सिद्धांत स्वीकृत सत्र है।

आइए, हम अपने आपसे प्रश्न करें कि क्या हममें यह सिद्धांत स्वीकार करने का बल और साहस है? यदि हम 'सबके लिए और सबके हित के लिए शिक्षा' सत्र स्वीकार कर लेते हैं तो हमारे सामने इस बात का स्पष्ट चित्र होना चाहिए कि भारत में व्यावहारिक रूप से सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की भाषा में इस 'सबके हित' का क्या तात्पर्य है? यह आवश्यक है कि हमारे प्रश्न का उत्तर समय की आवश्यकता को पूरा करने के लिए अस्थायी प्रकृति का न होकर मानव-समाज के मूलभूत नैतिक कानून पर आधारित स्थायी मूल्य का हो। मानव इतिहास में प्रत्येक युग ने समय की महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक महान् व्यक्ति तथा एक महान् आंदोलन उत्पन्न किया है। वह व्यक्ति जो हम युग की आवश्यकता के उत्तर रूप में आया, वास्तव में जनता का व्यक्ति था। वह सबके साथ रहा और सबके हित के लिए रहा। उसने 'सबके हित' के लिए अपनी मान्यता को 'सर्वोदय' के सरल-से शब्द में व्यक्त किया है। उसने अपने जीवन व्यापी अनुभव तथा विवेक के आधार पर राष्ट्र को अपनी जो सबसे बड़ी देन दी है, वह है एक ऐसा सांगोपांग शिक्षा-दर्शन जिसके द्वारा सर्वोदय आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। उसकी दृष्टि में शिक्षा 'उस मूक सामाजिक क्रांति की वैतालिक है जिसके सुदूरव्यापी परिणाम निकलेंगे और जो एक ऐसी न्याय पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की नींव डाल देगी जिसमें शोषकों तथा शोषितों के बीच कोई अस्वाभाविक विभाजन न रहेगा तथा प्रत्येक व्यक्ति को उचित पारिश्रमिक और वेतन का अधिकार प्राप्त होगा।'

शिक्षा-प्रणाली पर ही विचार करते हुए उन्होंने फिर कहा है—

हमारे नेता ने हमारे लिए एक और आधारभूत शिक्षा-सिद्धांत छोड़ा है जिसे हम पूर्णत समझने या स्वीकार करने में समर्थ नहीं हो सके हैं। वैसे तो यह सिद्धांत हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता के कारण उत्पन्न हुआ है, परंतु यह उन समस्त सार्वभौम सिद्धांतों के अनुकूल है जो मानव विकास के मूल में रहते हैं। यह सिद्धांत है—सहयोगात्मक आत्म प्रयत्न और आत्म निर्भरता।

जब महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय शिक्षा के अपने कार्यक्रम को सबसे पहले देश के सामने रखा था, उन्होंने कहा था—'मैंने बड़े साहस से यह खतरा भी मोल लेकर कि कहीं मेरी रचनात्मक योग्यता की प्रतिष्ठा धूल में न मिल जाय, देश को यह सुझाव दिया है कि शिक्षा को आत्म-निर्भर होना चाहिए।' उन्होंने अपने जीवन के अंतिम दिनों तक हमें यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि आत्म निर्भरता ही सच्ची शिक्षा की कसौटी है।

शिक्षा को स्वावलंबी बनाने की जो कल्पना राष्ट्रपिता बापू ने की थी वह चरितार्थ नहीं हो सकी। उनके जीवन काल में ही शिक्षा शास्त्रियों ने उन्हें इस बात का विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि पूर्णत स्वावलंबी शिक्षा-पद्धति संभव नहीं है। जिन शिक्षा शास्त्रियों के भरोसे बापू अपनी स्वावलंबी आधार शिक्षा देश में चलाना चाहते थे उनके

ऐसे विचार के कारण बापू ने आंशिक परावलंबन स्वीकार कर स्वावलंबन की दिशा में प्रयत्न करने पर जोर दिया। किंतु बात कुछ आगे न बढ़ सकी। आधार शिक्षा पर खर्च की मात्रा दिन दिन बढ़ती ही गई। आंशिक परावलंबी के बदले यह आंशिक स्वावलंबी हो सकी है, इससे अधिक बढ़ने का कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ता। आधार शिक्षा का दूसरा दुर्भाग्य यह हुआ कि इस शिक्षा पद्धति के साथ राजकीय सेवाओं का कोई सामंजस्य अब तक नहीं रखा जा सका। इसका परिणाम यह है कि गाँवों की साधारण जनता, दूसरी व्यवस्था न रहने के कारण, अपने बच्चों को आधार शिक्षा दिलाने के लिए लाचार है, पर संपन्न वर्ग के लोग अपनी संतान को परंपरागत शिक्षा ही दिला रहे हैं जिससे सरकारी नौकरियाँ उन्हें प्राप्त हो सकें। इस संबंध में आशा देवी ने कहा है—

कुछ लोगों ने कहा है कि हमारी सरकार ने बुनियादी शिक्षा को प्रारंभिक स्तर की राष्ट्रीय शिक्षा के भावी कार्यक्रम के रूप में स्वीकृत कर लिया है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्री मौलाना अबुलकलाम आजाद ने १० सितंबर को 'भारत में शिक्षा का भविष्य' भाषणावली का उद्घाटन करते हुए इस कथन की पुष्टि की थी। इस स्वीकृति का व्यावहारिक में क्या अभिप्राय है—हमें यह समझने की चेष्टा करनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा को बहुत से राज्यों के देहाती क्षेत्रों में तथा कुछ निर्धन क्षेत्रों के म्युनिसिपल स्कूलों से प्रारंभ किया गया है। यदि हम बुनियादी शिक्षा की स्वीकृति का अभिप्राय यह मानें कि लोग उसे अपने बच्चों के लिए भी हितकर मानते हों, तो यह स्पष्ट है कि हमारे नेताओं और शासकों ने, उन लोगों तक ने जो बुनियादी शिक्षा का संचालन करते हैं, इसकी उपयोगिता को मन से स्वीकार नहीं किया है।

आज हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का सच्चा चित्र वर्गशिक्षा का चित्र है। हमारे यहाँ एक प्रकार के स्कूल तो वे हैं जो राष्ट्रीय निधियों से चलते हैं और जिनमें धनी लोगों के बच्चे शिक्षा लाभ करते हैं। हमारे यहाँ दूसरे प्रकार के स्कूल वे हैं जिनमें बुनियादी शिक्षा दी जाती है और निर्धन लोगों के बच्चे शिक्षा लाभ करते हैं। इन परिस्थितियों में बुनियादी शिक्षा के स्कूल राष्ट्रीय शिक्षा के स्कूल नहीं रह जाते, वे निर्धन स्कूल बन जाते हैं और बुनियादी शिक्षा जिसे उसके संस्थापक ने एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए शांतिपूर्ण सामाजिक क्रान्ति के साधन के रूप में प्रतिपादित किया था, अपना संपूर्ण महत्त्व खो देती है।

आशा देवी ने जिस वस्तु स्थिति का वर्णन किया है उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। डॉ॰ जाकिर हुसैन ने तो आज की स्थिति पर केवल असंतोष ही प्रकट नहीं किया, बल्कि यहाँ तक कह डाला कि मालूम पड़ता है कि हम कुछ विरुद्ध दिशा की ओर जा रहे हैं। क्या हमारी सरकार इस विषय पर गंभीरता पूर्वक विचार करेगी?

३. कुंभ मेला की दुर्घटना

तीर्थराज प्रयाग के त्रिवेणी संगम स्थित कुंभ मेला के अवसर पर मौनी अमावास्या के दिन ता॰ ३ फरवरी को जो दुर्घटना हुई वह कई दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। प्रायः फरवरी महीने भर देश के विभिन्न समाचारपत्रों तथा विशेषतः उत्तर प्रदेश की विधान सभा और भारतीय संसद् में इस दुर्घटना को लेकर बहुत वाद विवाद, उत्तर प्रत्युत्तर हुए। विभिन्न राजनैतिक दलों ने इस दुर्घटना को लेकर राजनैतिक लाभ उठाने की चेष्टा की। इस मेले की व्यवस्था का पूरा भार उत्तर प्रदेश की सरकार पर था और इसमें संदेह नहीं कि सरकार ने मेले की व्यवस्था के लिए जो संभव था वह किया, फिर भी दुर्घटना अप्रत्याशित रूप से घटित हो ही गई। प्रत्येक घटना या दुर्घटना अप्रत्याशित रूप से ही घटित होती है। इसके लिए राज्य के मंत्रियों तथा अधिकारियों की नीयत पर संदेह करना अपनी ही बुरी नीयत का सबूत देना है। हम यह मानते हैं कि मेले की व्यवस्था में कुछ कमी रह गई थी, बाँध के निकट गड्ढे को भराया नहीं गया, 'बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों' की देखभाल के लिए पुलिस के जितने आदमी लगे रहे उतने साधारण जनता की भीड़ को सँभालने में नहीं लगे। दुर्घटना घटित होने के बहुत बाद राज्य के अधिकारियों को इस बात की सूचना मिली और सूचना मिलने के बाद भी किसी-न किसी प्रकार राजभवन की दावत चलती रही। दुर्घटना के बारे में अनेक कारण बतलाए जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति ने अपने ढंग की कहानी सुनाई है।

काशी के दैनिक 'आज' ने श्री चंद्रशेखर का लिखा हुआ जो विवरण प्रकाशित किया है उसका कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

इस दुर्घटना की सबसे बड़ी विशेषता यह था कि इतनी बड़ी दुर्घटना हो गई, किंतु किसी को पता तक नहीं चला। देश तथा राज्य के सर्वोच्च कर्णधारों को भी, जो उस समय मेले में थे, काफी देर बाद उसका पता चला। दुर्घटना के समय और उसके बाद भी संगम में स्नान कर वहाँ से वापस चले आने तक भी लोगों को

पता नहीं था कि कोई दुर्घटना हो गई। जो लोग दुर्घटना के शिकार हो रहे थे उन्हें भी अपनी दुर्गति के अतिरिक्त और कुछ पता नहीं था। प्रयाग से लौटी एक महिला ने बताया कि वहाँ कई हजार आदमी मर गए और प्रमाण में उसने कहा कि वहाँ मैंने देखा कि पुलिस ने जो जूते एकत्र किए थे उनकी संख्या कई हजार थी। एक दूसरे व्यक्ति ने महिला से भी आगे बढ़कर कहा कि मैंने एक हजार तिरपन तक लाशें गिनी थीं। यद्यपि उक्त महाशय को संयोग से सवारी मिल गई थी और वे कुंभ के ही दिन काशी वापस आ गए थे।

देश की सबसे दुर्भाग्यपूर्ण उपर्युक्त दुर्घटना मौनी अमावास्या के दिन प्रातःकाल लगभग साढ़े नौ बजे हुई। संगम क्षेत्र में जन-समुद्र उमड़ पड़ा था। उस समय तक लगभग तीस लाख से अधिक व्यक्ति संगम क्षेत्र में पहुँच चुके थे। संपूर्ण संगम क्षेत्र नर-नारियों से इस प्रकार भरा था कि जैसे संकीर्ण क्षेत्र में लोग ठूँस दिए गए हों। साथ ही लाखों की भीड़ संगम क्षेत्र की ओर और बढ़ी आ रही थी। शहर की ओर से आनेवालों को बाँध से होकर आना पड़ता है। संपूर्ण बाँध भी आदमियों से ठसाठस भरा हुआ था। बाँध काफी ढालुआ है और पहले दिन की बूँदाबाँदी से उसपर काफी फिसलन हो गई थी। फिर भी लोग उसपर कसे खड़े थे।

यात्रियों को जहाँ कुंभ में डुबकी लगाने की चिंता थी वहाँ अधिकारियों को साधुओं के जुलूस और देश के कर्णधारों की चिंता थी। दोनों के ही दल इसी समय मेला क्षेत्र में आए। मेले में लगी अधिकांश पुलिस उधर लगा दी गई थी जिधर से देश के कर्णधार आनेवाले थे। शेष पुलिस साधुओं की सुविधा में लगी हुई थी। उस समय संपूर्ण मेला क्षेत्र अरक्षित हो गया था। सेवा-संस्थाओं के स्वयंसेवक अवश्य मुस्तैद थे, किंतु वे किया करते। लगभग साढ़े नौ बजे नागा साधुओं का दल स्नान के लिए चला। कुछ पुलिसवाले तथा कुछ घुड़सवार उनके लिए मार्ग बना रहे थे। इस भीड़ में महिलाएँ अधिक थीं। बहुत से नागा साधु भाला, तलवार तथा अन्य शस्त्रास्त्र भी लिए हुए थे। कुछ नागा इन शस्त्रों को घुमा घुमाकर अपने लिए रास्ता साफ कर रहे थे। नागा इसे अपनी शान के खिलाफ समझते थे कि कोई उनके मार्ग में आवे। वे साधारण साधारण बातों पर पुलिसवालों पर भी क्रुद्ध हो उन्हें खरी-खोटी सुनाते थे। उस समय वहाँ उपस्थित पुलिस का सारा ध्यान नागाओं की सुविधा की ओर था। वे यात्रियों की सुविधा को बिलकुल भूल गए थे। पुलिसवालों के पास तो भीड़ को नियंत्रित करने के लिए डंडा ही एकमात्र उपाय है, चाहे उससे भीड़ और भी अनियंत्रित क्यों न हो जाय। एक ओर तो यह हो रहा था और दूसरी ओर नागाओं की शान बचाने के लिए स्नान कर लौटती हुई भीड़ को भी जहाँ का तहाँ रोक दिया गया। परिणाम वही हुआ जो होना था। स्नान कर लौटती भीड़ को बाहर जाने से रोक दिया गया तथा बाहर से आनेवालों का प्रवाह बढ़ता गया और उसके बीच में भीड़ पर नागाओं और पुलिसवालों द्वारा प्रहार! मेला क्षेत्र में एक लहर आ गई। लहर आते ही कितनों के ही पैर उखड़ गए। जिनके पैर उखड़े वे सँभले नहीं, जो सँभले नहीं वे गिरे और जो गिरे उनके ऊपर से हजारों की भीड़ कुचलती हुई निकल गई। उस समय भीड़ के नीचे कितने लोग कुचले जा रहे हैं और उनकी क्या दशा हो रही है, यह सोचने का भी अवकाश किसीको नहीं था, सभी को अपनी चिंता थी। हाँ, यह अवश्य रहा कि मेला क्षेत्र के मुख्य दुर्घटना स्थल पर काफी देर तक भीड़ लाशों और घायलों के ऊपर रही। मरनेवाले इस प्रकार मरे जैसे उन्हें चक्की में पीसा गया हो। लाशों को जब परेड कोतवाली में एकत्र किया गया, तब वहाँ उन्हें पहचाननेवालों की भीड़ हो गई। उनके क्रंदन को सुनना बड़े बड़े कलेजेवालों के लिए भी कठिन था। पुलिस ने जिन लाशों को कोतवाली में एकत्र किया उनकी संख्या २१३ थी। इनमें १६ बच्चे, ४१ पुरुष और २५६ स्त्रियाँ थीं। इनमें केवल १४० मृतकों को पहचाना जा सका और शेष की लाशें सामूहिक रूप से जला दी गईं। इनके अतिरिक्त कितनी ही लाशें उनके संबंधी ले गए। घटना के तीसरे दिन शुक्रवार को मैंने स्वयं गंगाजी में पुल नंबर दो और तीन के बीच में कुछ लाशों को उतराते और गृद्धों की खुराक बनते देखा।'

मेले की दुर्घटना में जिन लोगों के प्राण गए, जो लोग घायल हुए उनका वर्णन भी बहुत हृदय द्रावक है। 'आज' के विशेष प्रतिनिधि श्री लक्ष्मीशंकर व्यास के शब्दों में दुर्घटना के एक दृश्य का मार्मिक वर्णन सुनिए—

लाशों के इस समूह में बहुत से ऐसे व्यक्ति फँसे पड़े थे जो अभी जीवित थे और कराह रहे थे। लाशों के बीच से इन्हें हटानेवाला कोई नहीं था। कुछ दूर पर स्वयंसेवक थे, पर वे भी इस दृश्य से ऐसे दहल गए थे कि इन लाशों के पास न फटके। जब श्री सियारामजी अपने पुत्र तथा पुत्री को इस समूह में खोज रहे थे तब उनके संमुख विचित्र दृश्य उपस्थित हुए।

'बाबूजी मुझे उठाइए'—अस्फुट शब्दों में एक युवक ने कहा।

लाशों के मध्य दबे एक अन्य व्यक्ति ने मंद स्वर में कहा—'मुझे भी उठाइए। मैं गरीब हूँ। मेरा विवाह इसी वर्ष हुआ है। मेरा घर नष्ट हो जायगा।'

इसी समूह के बीच पड़े दस-पाँच व्यक्तियों ने एक बार पानी माँगा और दूसरे ही क्षण दम तोड़ दिया।

× × ×

सैकड़ों लाशों का ढेर पड़ा था। घंटों तक वहाँ सहायता के लिए कोई प्रबंध न किया जा सका। यदि समुचित सहायता मिल पाती तो संभव था कि कुछ अमूल्य जानें बचाई जा सकतीं। संगम क्षेत्र में प्राथमिक उपचार के कई केंद्र अवश्य थे, पर वहाँ न कोई डाक्टर थे और न कोई सामान ही। सब-कुछ अस्त-व्यस्त था।

इस मेले के प्रबंध में उत्तर-प्रदेश की सरकार उस समय तक बावन लाख रुपया खर्च कर चुकी थी जिसमें दस लाख रुपया भारत-सरकार की ओर से मिलेगा। ...। की समाप्ति तक राज्य-सरकार को अनुमानतः कम से पंद्रह लाख रुपया और खर्च करना पड़ेगा। जनता की भीड़ को देखते हुए मेले के प्रबंध में जितना खर्च जरूरी है उतना तो खर्च करना ही है; पर इस रकम में 'वी० आई० पी०' (बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति) की सुख सुविधा के लिए किया गया खर्च भी शामिल है। जगह-जगह पर सरकारी कैंप, जगह-जगह पर टेलिफोन के तार लगाए गए थे, पर समय पर सारी व्यवस्था ठप हो गई। इतनी बड़ी दुर्घटना घटित हो गई, नगर के लोगों में इसकी चर्चा फैल गई, पर राज्य के अधिकारियों के कानों में कई घंटे बाद खबर सुनाई पड़ी। दुर्घटना लगभग नौ बजे प्रात घटित हुई और राज्य के मुख्य मंत्री को जो नगर में ही, मेले के आसपास थे, चार बजे के बाद सूचना मिली। पत्र प्रतिनिधि को एक भेंट में उन्होंने कहा—

उस दिन (१ फरवरी) साढ़े चार बजे, शाम को राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के स्वागत में दिए गए भोज में शामिल होने के लिए जब मैं सरकारी भवन (गवर्मेंट हाउस) पहुँचा तब वहाँ पंद्रह मिनट बाद मुझे दुर्घटना का समाचार मिला। दुर्घटना के फलस्वरूप सूचना के समस्त साधन ठप हो गए थे तथा अधिकारीगण इतने व्यस्त हो गए थे कि मुझे सूचित करने का उन्हें अवसर ही नहीं मिला। जब मैं झूसी क्षेत्रवाले किनारे पर था तब मुझे केवल तीन स्त्रियों के खो जाने का समाचार मिला था, किंतु उक्त घटना कुछ विशेष महत्त्व की नहीं थी। मेरे सचिव ने मेला-अधिकारियों से संपर्क स्थापित करने की कोशिश अवश्य की, किंतु सफलता नहीं मिली।

पत्र-प्रतिनिधि के संमुख मुख्य मंत्री पं० गोविंदवल्लभ पंत ने जो कुछ वक्तव्य दिया उसे हम सच तो मानते हैं, पर शोभनीय नहीं समझते। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश की विधान सभा में राज्यपाल के भाषण पर उपस्थित धन्यवाद-प्रस्ताव के संबंध में वाद विवाद का उत्तर देते हुए गृह-मंत्री श्री संपूर्णानंद ने कहा—

कुंभ दुर्घटना की सूचना सरकारी भवन में प्रीतिभोज के समय तक नहीं प्राप्त हुई थी। मैं तीन बजे तक पुलिस-शिविर में था। मुझे तबतक उसका कोई समाचार नहीं मिला था।

निश्चय ही मुख्य मंत्री तथा राज्यपाल को दुर्घटना की सूचना देना मेला अधिकारियों का कर्त्तव्य था और इस विलंब के लिए जो व्यक्ति जिम्मेदार सिद्ध होगा उसे दंड दिया जायगा। दुर्घटना के लिए आलोचकों को जितना दुःख है उससे अधिक सरकार को क्लेश है। सरकार को विशेषतः इस बात से अधिक निराशा हुई है कि मेला के संबंध में सावधानीपूर्वक की गई सारी व्यवस्था गड़बड़ हो गई।

यदि सरकार ने नागाओं के जुलूस पर प्रतिबंध लगा दिया होता तो काफी होहल्ला मचता। सरकार पर दोषारोप किया जाता कि उसने धर्म में हस्तक्षेप किया है। जो लोग इस समय यह कहते हैं कि नागाओं के जुलूस पर रोक लगा देना जरूरी था उन्हें इसके लिए पहले उपयुक्त वातावरण तैयार करना चाहिए। निस्संदेह इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इतना बड़ा मेला देश में इसके पूर्व कभी नहीं हुआ था।

गृह-मंत्री श्री संपूर्णानंद ने सरकार के जिस क्लेश का उल्लेख किया है, हम मानते हैं कि आलोचकों की अपेक्षा सरकार को कुछ कम क्लेश नहीं हुआ होगा। पर अवसर मिलने पर सरकार के राजनैतिक आलोचकों का राजनैतिक क्लेश बढ़ जाना स्वाभाविक है। सरकार से गलतियाँ हुई हैं और गलतियाँ हो जाने पर ही गलतियाँ कहलाती हैं। जहाँ तक सफाई के प्रबंध की बात थी, सबने इसकी प्रशंसा की। विधान सभा में सरकार की ओर से इस संबंध में गर्वोक्ति भी की गई कि सफाई का इतना सुंदर प्रबंध मेले में किया गया था कि आदमी की बात कौन पूछे, एक मक्खी को भी हैजा नहीं हुआ। उतनी बड़ी भीड़ में सरकार ने सफाई का जो प्रबंध किया था वह अवश्य ही प्रशंसनीय था, किंतु मेले और नगर के अस्पतालों में बीमारियों के जो आँकड़े हैं वे सरकार की इस गर्वोक्ति का पूर्णतः समर्थन नहीं करते।

मेले में जो भीड़ एकत्र हुई वह बहुत आशातीत नहीं थी। सरकार ने ५०-६० लाख की भीड़ का अनुमान करके ही व्यवस्था शुरू की थी। सरकार की ओर से भीड़ को आमंत्रित किया गया था। रेलवे तथा अन्य यातायात की सारी सुविधाएँ दी गई थीं। अनिवार्य टीके के कारण भीड़ का जो नियंत्रण था उसे ता० २७ जनवरी को अकस्मात् उठा लिया गया था। मेले की विस्तृत भूमि पर अनेक स्थलों में सरकारी कैंप डाले गए थे, अधबाजारी दर पर दूकानदारों को दूकानों के लिए ठीके दिए गए थे। सरकार की ओर से भी भीड़ को बढ़ाकर मुनाफेबाजी करने की कोशिश की गई थी। ये सब बातें सरकार के लिए शोभनीय नहीं हैं। इस दुर्घटना के समाचार से देश-विदेश का मानव-समाज क्षुब्ध तथा विषण्ण हो उठा है। अब इस दुर्घटना पर विशेष तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं। इससे जो चेतावनी ली जा सकती है वह जनता तथा सरकार को अवश्य ले लेनी चाहिए।

४. राजकीय पद, पदाधिकारी तथा नामों का हिंदीकरण

राजकीय कार्यालयों में राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा हिंदी के व्यवहार की जो प्रगति है वह बिलकुल संतोषजनक नहीं है। यह अवश्य ही प्रसन्नता की बात है कि राजकीय समारोहों के छोटे-बड़े अवसरों पर राष्ट्रपति तथा प्रधान मंत्री और राज्य-सरकारों के अनेक मंत्रिगण अधिकतर हिंदी में ही भाषण करते हैं। इसके साथ अवश्य ही यह दुख की बात है कि राजकीय विभागों के सचिवगण उसी तत्परता के साथ हिंदीकरण में सहयोग नहीं दे रहे हैं। शायद वे यह समझ रहे हैं कि अँगरेजी के बिना भारत का राजकार्य चल ही नहीं सकता। हमारे नेता, सौभाग्य से आज जिनके हाथों में शासन की बागडोर भी है, अपने सचिवों के भ्रम को जितनी शीघ्रता से हो सके, दूर करें। आज भारत की अधिकांश जनता निरक्षर है। जो थोड़े-से लोग हिंदी या अपनी अन्य मातृभाषा की थोड़ी-सी जानकारी रखते हैं उनसे यह आशा करना कि वे अँगरेजी के माध्यम से सरकार के साथ अपना संपर्क स्थापित करें, अशोभनीय ही नहीं, क्षोभप्रद बात है।

राजकीय कार्यालयों में राष्ट्रभाषा तथा राजभाषा हिंदी के पूर्णतः प्रयोग की बात तो दूर रहे, राजकीय पदों, पदाधिकारियों तथा नामों का हिंदीकरण भी पूरी तरह अबतक नहीं हो सका है। भारतीय राष्ट्र के प्रेसिडेंट आज साधारणतः राष्ट्रपति ही कहे जाते हैं, प्राइम मिनिस्टर भी प्रधान मंत्री कहे जाते हैं, किंतु हिंदीकरण का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं कि हिंदीभाषा में प्रेसिडेंट के बदले राष्ट्रपति और प्राइम मिनिस्टर के बदले प्रधान मंत्री लिखा, पढ़ा या बोला जाय। हिंदीकरण से अभिप्राय यह है कि संज्ञा या नाम की तरह अँगरेजी भाषा में भी राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री ही लिखा, पढ़ा या बोला जाय, जहाँ और जब वैसी आवश्यकता पड़े। भारत का यह परम दुर्भाग्य है कि राष्ट्र का नाम भारत भी अँगरेजी में अनुवाद के समान ही 'इंडिया' कहा जाता है, चाहे यह नाम इंडस् से ही क्यों न निकला माना जाता हो। राजकीय पदों और पदाधिकारियों का हिंदीकरण अविलंब हो जाना चाहिए। इंपीरियल बैंक ऑफ इंडिया का नाम आज हमें किस बीते दिन की याद दिला रहा है! भारतीय राज्यों के नामों में अब अधिकांशतः हिंदी का ही प्रयोग किया जा रहा है, फिर भी कभी-कभी उत्तर-प्रदेश के बदले यू० पी०, पश्चिम बंगाल के बदले वेस्ट बंगाल, पूर्वी पंजाब के बदले ईस्ट पंजाब, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब रियासती संघ के नाम के बदले पेप्सू कहे जाते हैं। सेंट्रल इंडिया, सेंट्रल इंडिया एजेंसी तथा सेंट्रल प्रोविंस के अँगरेजी नाम अब प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं, यह संतोष की बात है। रेलवे

का जो वर्गीकरण किया गया उसके नामकरण में आधार अँगरेजी का ही रखा गया। हम यह नहीं मानते कि यदि इस्टर्न रेलवे को पूर्वी रेलवे और वेस्टर्न रेलवे को पश्चिमी रेलवे कहा जायगा तो रेलगाड़ियों की चाल धीमी पड़ जायगी या रेलगाड़ियाँ टक्कर खा जायँगी। रेलवे विभाग में बार-बार बहुत परिवर्तन किए गए हैं। रेलवे मंत्रालय के मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री एक प्रसिद्ध राष्ट्रवादी हिंदी प्रेमी हैं। इन्होंने अपने विभाग में हिंदी के प्रवेश के लिए यथासंभव प्रयत्न किए हैं। हम चाहते हैं कि शास्त्रीजी भारतीय रेलवे के नामकरण हिंदी में करें और अँगरेजी टाइम टेबुलों में भी विभिन्न भारतीय रेलवे के हिंदी नाम ही प्रकाशित हुआ करें। यह बहुत बड़ा काम नहीं है, किंतु इसका बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक महत्त्व है, इसमें संदेह नहीं।

५. बंबई-सरकार का शिक्षा संबंधी प्रतिबंध

इधर बंबई सरकार के शिक्षा विभाग ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा को प्रोत्साहन देने के विचार से इस आशय का प्रतिबंध लगाया था कि अँगरेजी भाषा के माध्यम से चलनेवाले विद्यालयों में गैर एँग्लो इंडियन तथा एशियाई विद्यार्थियों का प्रवेश नहीं हो। बंबई एजुकेशन सोसाइटी ने बंबई सरकार के इस प्रतिबंध के विरुद्ध वहाँ के उच्च न्यायालय में आवेदन किया। मुख्य न्यायाधीश चागला तथा न्यायाधीश दीक्षित ने इसपर विचार किया और यह निर्णय दिया कि बंबई-सरकार का यह प्रतिबंध विधि की दृष्टि से बुरा और संविधान के विचार से अवैध है। यह प्रतिबंध गैर-एँग्लो इंडियन विद्यार्थियों तथा एँग्लो इंडियन विद्यालयों के, जहाँ अँगरेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती है, विरुद्ध है। दोनों न्यायाधीशों ने सम्मिलित रूप से इसपर विचार किया और कहा कि अँगरेजी भाषा विदेशी है, पर भारतीय संविधान के अनुसार यह संघ की राजभाषा है। उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय की भाषा भी अँगरेजी ही है। अतएव अन्य भारतीय भाषाओं की तरह अँगरेजी भाषा भी संरक्षण की अधिकारिणी है। इसके अतिरिक्त भी, न्यायाधीशों की राय में, संविधान के अनुच्छेद २६ (२) के अनुसार राज्यद्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, जाति, वर्ण, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रखा जायगा। जहाँ तक न्यायाधीशों के निर्णय का प्रश्न है, यह भारतीय संविधान के अनुकूल और न्यायानुमोदित है। राज्य-सरकार ऐसी शिक्षा-संस्थाओं को न तो तोड़ सकती है और न आर्थिक सहायता से वंचित रख सकती है, क्योंकि भारतीय संविधान के अनेक अनुच्छेद उनका संरक्षण करते हैं। बंबई-सरकार ने मातृभाषा को जो महत्त्व दिया है उसकी हम प्रशंसा करते हैं और उससे अनुरोध करते हैं कि संविधान की मर्यादा को मानते हुए वह दूसरे अनेक प्रकार से मातृभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रोत्साहन देती रहे।



याद का दिन

श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'

आज तेरी याद का दिन !

अनगिनत निशि-याम दृग ने दिन बनाये,
बूँद-बूँद बटोर नभ के ऋण चुकाये;
चाँदनी के ध्यान पर अब धुंध छाता जा रहा है,
और खग पछता रहा है;
दूर होता जा रहा है, नीरनिधि से चाँद छिन-छिन !
आज तेरी याद का दिन !!

कामना तो थी कि मिल जाये सुधाधर,
प्यास कुछ बढ़ ही गई पीयूष पाकर;
आसमाँ गलकर धरातल को जलाता जा रहा है,
दूब-दल कुम्हला रहा है;
प्रात अनुदिन बीत जाता रात के उडु-फूल गिन-गिन !
आज तेरी याद का दिन !!

भोर के पीछे नयन-अंचल अचल के
साँझ तक रश्मिल हिंडोरों पर न ललके;
दूर होता दिन धरा को ध्रुव दिखाता जा रहा है,
क्षितिज को समझा रहा है;
याद में तेरी, जला जाते तुहिन के दीप तृण-तृण !
आज तेरी याद का दिन !!

सौंदर्य की उपयोगिता

डाक्टर रामविलास शर्मा

विधाता की विचित्र लीलाओं में इसे भी गिनना चाहिए कि साहित्य शास्त्री सौंदर्य की उपयोगिता से जितना ही इंकार करते हैं, वे उसका उतना ही उपयोग या उपभोग भी करते हैं।

रीतिकालीन साहित्य शास्त्रियों ने रस को काव्य की आत्मा कहा और उसे आनंदरूप बताया। काव्य के आनंद को उन्होंने शाश्वत आनंद-रूप आत्मा से भी जोड़ दिया। लेकिन उनके आलंबन और उद्दीपन, उनका नायिकामय संसार देखकर कहना पड़ेगा,—'देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।'

सामंती वैभव के इन चितेरों के लिए सौंदर्य का मूर्त रूप था नारी। यह नारी न तो उन्हें मातृरूप में प्रिय थी, न भगिनी-रूप में। पत्नीरूप में उन्हें प्रिय रही हो—इसका प्रमाण भी दरबारी साहित्य में नहीं मिलता। इस सौंदर्य-मूर्ति नारी का उपयोग था—न केवल कवियों के लिए, वरन् उनके अवकाश भोगी अन्नदाताओं के लिए भी।

जो मनुष्य अवकाश भोगी नहीं है, दूसरों की मेहनत पर नहीं जीता, वरन् अपनी मेहनत पर खुद जीता और दूसरों को जिलाता है, उसके लिए सौंदर्य कर्ममय जीवन से बाहर नहीं होता। स्वस्थ मनुष्य भोजन से तृप्त होता है, लेकिन केवल स्वाद के लिए भोजन करना अस्वस्थ आदमी का काम है।

सुखी जीवन के लिए आवश्यक है कि हम जो काम करें, वह सुंदर हो और उससे हमें आनंद मिले। लेकिन जब से आदम ने हव्वा की बात मानकर अल्ला मियाँ की आज्ञा का उल्लंघन किया, तब से मनुष्य को यह शाप मिला कि उसका कर्ममय जीवन दुख का जीवन हो। दूसरे शब्दों में जब से व्यक्तिगत संपत्ति का जन्म हुआ, समाज में वर्ग बने, कुछ का कर्तव्य मेहनत करना हुआ और कुछ का कर्तव्य उनकी 'रक्षा' करना और उन्हें 'ज्ञान' देना हुआ, तब से सुंदरता पर इजारा हो गया उनका जो केवल रक्षा करते थे, केवल ज्ञान देते थे, पेट भरने और तन ढँकने के साधन पैदा करना जिनका काम न था। इसलिए जो लोग उपयोगी वस्तुएँ पैदा करते थे, उनका जीवन दुखमय हुआ, जो उपयोगी वस्तुओं के मालिक थे, उनका काम सुंदरता की उपासना करना हुआ। निष्क्रिय और अवकाश भोगी जीवों के सौंदर्य प्रेम को न्यायपूर्ण ठहराने के लिए ऐसा शास्त्र ही बन गया जो सौंदर्य को उपयोगी वस्तुओं से अलग करके देखता था। सौंदर्य की सत्ता वस्तुओं से हटाकर मनुष्य के मन या आत्मा में कर दी गई और वस्तुओं को उस शाश्वत सौंदर्य का प्रतीक भर माना गया।

जैसे मनुष्यों से बाहर मनुष्यता की सत्ता नहीं है, वैसे ही सुंदर वस्तुओं (या सुंदर भावों, विचारों) से बाहर सौंदर्य की सत्ता नहीं है। और तमाम सुंदर वस्तुएँ, तमाम सुंदर भाव विचार मनुष्य के लिए हैं, उसकी सेवा करने के लिए, उसका हित साधने के लिए हैं। मनुष्य उन सुंदर वस्तुओं, सुंदर भावों, विचारों के लिए, उनकी सेवा करने के लिए नहीं है। साहित्य भी मनुष्य के लिए है, साहित्य का सौंदर्य मनुष्य के उपयोग के लिए है, मनुष्य साहित्य के लिए नहीं है। लेकिन अवकाश भोगी सज्जन तमाम जनता का अस्तित्व इसीलिए सार्थक समझते हैं कि वह उनके लिए उपयोग की वस्तुएँ उत्पन्न करती है, इसे वे सनातन ईश्वर कृत नियम मानते हैं। इसी नियम के अनुसार वह साहित्य को जनता के लिए नहीं मानते, वरन् जनता को साहित्य के लिए मानते हैं।

लेकिन सौंदर्य है क्या? वह मनुष्य की भावनामात्र है या उसकी कोई वस्तुगत सत्ता है?

कुछ सुंदर वस्तुओं की मिसालें लीजिए। ताजमहल, तारों-भरी रात, भादों की जमुना, अवध के बाग, तुलसीकृत रामायण, देश प्रेम, संसार में मानवमात्र का भाईचारा और शांति—ये सभी सुंदर हैं। हो सकता है, कुछ लोगों को ताजमहल भयानक मालूम हो, तारों भरी रात में भूत दिखाई दें, भादों की जमुना देखकर मन में आत्महत्या के

भाव उठते हों, अवध के बागों में आग लगा देने का जी चाहे, तुलसीकृत रामायण निहायत प्रतिक्रियावादी लगती हो, देश-प्रेम के नाम से चिढ़ हो और शांति तथा भाईचारे की बातों में कम्युनिज्म की बारूद की गंध आती हो।

लेकिन ताजमहल अगर आपको भयावना लगता है तो क्यों? शायद इसलिए कि एक बादशाह ने आप-जैसे मुफलिसों की मोहब्बत का मजाक उड़ाया है, या शायद सगमर्मर देखकर आपको किसी कोढ़ी की याद आती है, या शायद ताजमहल की मीनारें उसकी शोभा बिगाड़ती हैं, या उसकी नफासत ही आपको अस्वाभाविक लगती है। जो भी सबब हो, दोष या तो ताजमहल में होगा या आपमें। जहाँ तक आपके मन में दोष या द्वेष होने का सवाल है, हम चार भले आदमियों से पुछवा देंगे कि ताजमहल को शाहजहाँ ने बनवाया अलबत्ता था, लेकिन उसे बनाया था कारीगरों ने। अगर कारीगरों से दुश्मनी न हो तो मोहब्बत का मजाक उड़ाये जाने की बात छोड़ दीजिए। और सगमर्मर से कोढ़ी की याद आती हो तो कुछ दिन के लिए अस्पताल में भर्ती हो जाइए। रही मीनारों और नफासत की बात, तो वह गुण या दोष ताजमहल ही में हो सकता है और उसका संबंध ताजमहल की वस्तुगत सत्ता से ही होगा।

तारों-भरी रात में भूत दिखाई देते हों, तो दो-एक आदमियों को साथ ले लीजिए या हनुमानचालीसा का पाठ कर लीजिए, भूत भाग जायँगे। भादों की जमुना में आत्महत्या करने की इच्छा होती हो तो मन के संस्कार बदलने के लिए अच्छा साहित्य पढ़ा कीजिए। अवध के बाग अच्छे न लगें तो थोड़ा व्यायाम कीजिए, खुली हवा में साँस लीजिए जिससे सारा आनंद सिनेमाघर में ही सीमित न हो जाय। तुलसीकृत रामायण प्रतिक्रियावादी लगे तो आइए, बहस कर लीजिए। और शांति तथा भाईचारे में बारूद की गंध आए तो इसकी परीक्षा कर लीजिए कि युद्धों से कितना नुकसान हुआ है, आज कौन युद्ध की तैयारी कर रहा है, कौन शांति चाहता है।

आप यह कहकर छुटकारा नहीं पा सकते कि हमारी तबियत, हमें नहीं अच्छा लगता। हम आपको व्यवहार की साखी देंगे, चार भले आदमियों से पूछेंगे कि उनका अनुभव क्या कहता है। सौंदर्य की कसौटी है, मनुष्य का व्यवहार। इस व्यवहार से आप बचकर नहीं निकल सकते। और सौंदर्य की कसौटी व्यवहार है, इसीलिए वह आपकी व्यक्तिगत इच्छा अनिच्छा पर निर्भर नहीं है, वरन् उसकी वस्तुगत सत्ता है।

व्यवहार की कसौटी पर हम किसी वस्तु के गुणों को परखते हैं। उसके गुणों को हम 'सुंदर' शब्द द्वारा प्रकट करते हैं। लेकिन सभी वस्तुओं के गुण एक-से नहीं होते; इसलिए सौंदर्य भी एक सा नहीं होता। कुछ वस्तुएँ सबसे अधिक इंद्रियों को रुचती हैं, कुछ हृदय को, कुछ मस्तिष्क को। गुलाब के फूल में कोई विचार निहित नहीं है; हम उसे देखकर चाहे जो सोचें। उसका वस्तुगत सौंदर्य इंद्रिय-बोध तक सीमित है। ललित कलाओं में इंद्रियबोध, भावना (इमोशन) और विचार—इन तीनों की एकता दिखाई देती है। स्थापत्य, शिल्प और चित्रकला में इंद्रियबोध की प्रधानता रहती है, संगीत में भावना की और साहित्य में विचारों की। लेकिन इंद्रियबोध, भावना और विचार की एकता सभी में मौजूद है।

दुष्यंत ने शकुंतला को देखा। वह उसे सुंदर लगी। शकुंतला के साथ बड़ा अन्याय होगा, अगर हम कहें कि सौंदर्य शकुंतला में न था, वरन् दुष्यंत में था। और यह आपके प्रति अन्याय होगा, यदि कोई कहे कि आप दुष्यंत की जगह होते तो उसे असुंदर कहते या काठ के कुंदे और शकुंतला को समदृष्टि से देखते।

फय्याजखाँ की जैजैवंती सुनकर (या सहगल का 'तड़पत बीते दिन रैन' सुनकर) यह कहना कहाँ तक न्यायपूर्ण होगा कि सौंदर्य उनके गाने में नहीं है, वरन् आपके कानों में है? यह सही है कि सभीको संगीत के सौंदर्य का पता नहीं लगता, भैंस के सामने बीन बजाने की कहावत बहुतों पर चरितार्थ हो सकती है। लेकिन इससे साबित यह होता है कि मनुष्य का इंद्रियबोध भी विकासमान है; वह सदा एक सा नहीं रहा, न एक सा रहेगा। मनुष्य का संगीत प्रेम उसके पिछले तमाम विकास का परिणाम है। लेकिन श्रोता के अविकसित इंद्रियबोध से, उसके अज्ञान से, यह साबित नहीं होता है कि संगीत में वह गुण नहीं है जिसे हम सुंदर कहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने जब पहलेपहल गुरु से रामकथा सुनी, तब अचेत रहने के कारण वह उनकी समझ में कम आई। लेकिन गुरु ने उसे बार बार सुनाया। उनकी चेतना विकसित हुई और रामकथा के गुणों का

उन्हें पता लगा। लेकिन रामकथा में मनुष्य के लिए जो ज्ञान था, या चरित्र चित्रण और कथा की बनावट थी, वह उसमें तुलसी के अचेत रहने पर भी थी और सचेत रहने पर भी रही। रामकथा के गुण तुलसी की इच्छा अनिच्छा पर निर्भर न थे, वे रामकथा के वस्तुगत गुण थे जिन्हें सचेत होने पर तुलसी ने पहचाना।

नौसिखिए कवि अपनी रचनाएँ किसी सिद्ध कवि के पास ले जाते हैं कि वह उन्हें सुधार सँवार दे। 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' का नियम हर जगह माना जाय तो अपनी अपनी डफली अपना अपना राग चले, दूसरों की कविता कोई सुने ही न। साहित्य का सौंदर्य किन्हीं नियमों के अधीन न होता और हर व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होता तो एक दूसरे का सौंदर्य हम समझ ही न पाते।

सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता मनुष्य के व्यवहार के कारण ही नहीं है, उसकी वस्तुगत सत्ता स्वयं वस्तुओं में है जिनके गुण पहचानकर हम उन्हें सुंदर की संज्ञा देते हैं। कहीं हम आकार प्रकार को, कहीं रूप रंग को, कहीं घ्राण और स्पर्श के विषयों को उनके विशेष अनुपातों के अनुसार सुंदर-असुंदर की संज्ञा देते हैं। लंबी नाक सुंदर है, चपटी नाक असुंदर है, काले बाल सुंदर हैं, खिचड़ी बाल असुंदर हैं, गुलाब का फूल सुंदर है, कुकुरमुत्ता असुंदर है—यहाँ आकार प्रकार, रंग रूप और घ्राण-स्पर्शादि विषयों के अनुपात को हम सुंदर असुंदर की संज्ञा देते हैं।

डिकेंस के उपन्यासों का कथानक शिथिल है, प्रेमचंद बहुधा एक कथा के साथ बहुत सी कथाएँ उलझा देते हैं, निरालाजी के गीत (एक आचार्य के अनुसार) ठूँठ-जैसे हैं,—यहाँ हम विषय वस्तु के गठन को सुंदर या [illegible] कहते हैं। विषय-वस्तु की शिथिलता या सुघरापन हममें नहीं है, वरन् उन रचनाओं में है, हम उसे देख पायें या न देख पायें—यह दूसरी बात है।

जाको पिया चहै सोई सुहागिन,—यह नियम सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता के खिलाफ नहीं जाता। कभी-कभी किसी दीवाने को लोग किसी कुरूप स्त्री पर रीझते देखकर आश्चर्य करते हैं। देखनेवालों को लगता है कि इस दीवाने को कुरूपता ही सुंदर लगती है। लेकिन दीवाने दरअसल देखनेवाले हैं जो सौंदर्य को इंद्रियबोध तक सीमित रखते हैं, जो यह नहीं समझ पाते कि उनकी आँखों से कुरूप नारी के चरित्र की जो विशेषताएँ ओझल हैं, उन्हें वह तथाकथित दीवाना देखता है; उसकी दीवानगी से यह नतीजा नहीं निकलता कि इंद्रियबोध के धरातल पर वह स्त्री कुरूप नहीं है, बल्कि यह निकलता है कि सौंदर्य इंद्रियबोध तक सीमित नहीं है, वह भावों और विचारों में भी निहित है।

दरबारी साहित्य की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि वह शारीरिक रूप तक अपने को सीमित रखता है। उसके रसराज की अथ और इति नख-शिख और सुरति-वर्णन से हो जाती है। संस्कृत कवियों की पुरानी उक्ति है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन मनुष्यों और पशुओं में समान हैं, मनुष्य की विशेषता उसका अपना धर्म है। दरबारी साहित्य शास्त्री कला की व्यापकता उस धरातल पर सिद्ध करते हैं जहाँ मनुष्य और पशु में विशेष अंतर नहीं है, अंतर है तो इतना ही कि पशुओं का जीवन आहार निद्रा भय मैथुन के धरातल पर इतना कृत्रिम नहीं होता।

इंद्रियबोध के स्तर तक जो सौंदर्य सीमित है उससे जरा ऊँचे उठकर जहाँ आप भावना और विचार के सौंदर्य के स्तर पर आते हैं वहीं नैतिकता का सवाल सामने आ खड़ा होता है। साहित्य से आनंद मिलता है, यह अनुभव सिद्ध बात है, लेकिन साहित्य शास्त्र यहीं समाप्त नहीं होता, बल्कि यहीं से उसका श्रीगणेश होता है। माना कि साहित्य से आनंद आता है, लेकिन किस तरह का आनंद आता है, उससे आपके कर्ममय जीवन पर किस तरह का प्रभाव पड़ता है, किस तरह के संस्कार आपके मन में बनते बिगड़ते हैं, ये तमाम समस्याएँ साहित्य शास्त्र की ही समस्याएँ हैं। इन समस्याओं के उठते ही साहित्य शास्त्री दो खेमों में बँटे हुए दिखाई देते हैं। एक खेमे में वे हैं जो आनंद की परिणति आनंद ही में मानते हैं, साहित्य के प्रभाव से बनने बिगड़नेवाले संस्कारों—मनुष्य के कर्ममय जीवन पर साहित्य की प्रतिक्रिया—पर विचार करना आवश्यक नहीं समझते। दूसरे खेमे में वे हैं जो साहित्य को शुद्ध आनंद रूप नहीं मानते, वरन् मनुष्य-जीवन में उसके प्रभाव पर भी विचार करते हैं यानी उसकी उपयोगिता भी स्वीकार करते हैं। पहले खेमे में तमाम भाववादी (आइडियलिस्ट) विचारक आते हैं जो साहित्य को केवल मनोरंजन की वस्तु समझते हैं। इन्हीं में वे रूपवादी शामिल हैं जो साहित्य की व्यापकता और सार्वजनीनता उसके कौशल या रूप में देखते हैं। इनके

विरुद्ध सोद्देश्य साहित्य का समर्थन करनेवाले, सौंदर्य को उपयोगी माननेवाले केवल भौतिकवादी ही नहीं हैं, वरन् वे तमाम ब्रह्मवादी, भाववादी, धार्मिक और जनसेवी साहित्यकार भी हैं जो भौतिकवादी दर्शन न मानते हुए भी जनता से प्रेम करने के कारण उसके उपकार के लिए साहित्य रचते रहे हैं। इस दूसरे खेमे ही में हमारे देश के सबसे बड़े कवि और विद्वान् रहे हैं। यह कहना असंगत न होगा कि 'साहित्य जनता के लिए'—यह हमारा जातीय सिद्धांत बन चुका है।

सौंदर्य और उपयोगिता—दो विरोधी वस्तुएँ मालूम होती हैं, लेकिन उनकी द्वंद्वात्मक एकता के बिना साहित्य-रचना असंभव है। जो लोग उपयोगिता से इन्कार करते हैं, वे वास्तव में सौंदर्य के घटिया उपयोग को छिपाना चाहते हैं। उनके लिए सौंदर्य इंद्रियबोध तक सीमित है; अपने विलास और मनोरंजन पर वे शुद्ध आनंद का पर्दा डालते हैं। लेकिन सहृदय कवियों के लिए सुंदर कर्म से बाहर सौंदर्य की सत्ता है ही नहीं। उनका साहित्य मानव-कर्म से ही प्रभावित होता है, मानव-कर्म को प्रभावित करने के लिए होता है। आदिकवि वाल्मीकि ने व्याध के क्रूर कर्म पर क्रुद्ध होकर और क्रौंच के विलाप पर द्रवित होकर कैसे श्लोक बनाया, यह कहानी साहित्य के जन्म का अच्छा रूपक है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस घटना पर टिप्पणी की है—'मुनि ने तमसा-तट की इस घटना में संपूर्ण लोक व्यापार का नित्य स्वरूप देखा। इससे वे हताश नहीं हुए। ध्यान करने पर उसीके भीतर उन्हें मंगलमयी ज्योति का दर्शन हुआ जिसमें शक्ति, शील और सौंदर्य—तीनों विभूतियों का दिव्य समन्वय था।' —(काव्य में रहस्यवाद)

निरुद्देश्य साहित्य के प्रेमी जब सौंदर्य की बात करते हैं तब शक्ति और शील की बात भूल जाते हैं। शुक्लजी ने शुद्ध आनंदवादियों और शाश्वत सौंदर्य के उपासकों को अपनी युक्ति से निरुत्तर कर दिया है। शुद्ध कलावादी सज्जन आचार्य शुक्ल के लिए यह तो कहते हैं कि उन्होंने भारतीय साहित्य-शास्त्र का अपने ढंग से अध्ययन किया और अपने ढंग के परिणाम निकाले; लेकिन वे यह नहीं बताते कि रीतिकालीन शास्त्रियों और शुक्लजी में अंतर क्या था? शुक्लजी ने न सिर्फ रीतिकालीन कवियों का मुलम्मा उतार दिया था, वरन् उन्होंने उनके साहित्य-शास्त्र का ठाट भी उलट दिया।

शुक्लजी भौतिकवादी नहीं थे, वरन् विशुद्ध आस्तिक थे। फिर भी उनकी विचार-पद्धति पर द्वंद्ववाद का गहरा असर है। वह दार्शनिक हेगल की याद दिलाते हैं जिसका विश्व दर्शन भाववादी था, लेकिन जिसकी विचार-पद्धति द्वंद्ववादी थी। इसीलिए जो लोग वैज्ञानिक भौतिकवाद के नाम पर त्रिकाल-सत्य सौंदर्य और सदाबहार प्रगतिशीलता की बातें करते हैं, उनसे शुक्लजी के विचार कहीं ज्यादा वैज्ञानिक हैं।

संसार को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानते हुए शुक्लजी इस सत्ता को सतत गतिशील मानते हैं। इसी कारण उनके लिए सौंदर्य भी स्थिर और शाश्वत न होकर गतिशील है, उसकी नित्यता उसकी गतिशीलता ही में है। 'काव्य में रहस्यवाद' में वह कहते हैं—'ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं, गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है।'

आलोचक का काम इस गत्यात्मक सौंदर्य की व्याख्या करना होता है। और यह सौंदर्य गत्यात्मक मंगल से भिन्न नहीं है। शुक्लजी के लिए यह गतिशीलता ब्रह्म की व्यक्त सत्ता का रूप है। भौतिकवादी के लिए इस गतिशील संसार से परे कोई अव्यक्त सत्ता नहीं है। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में गत्यात्मक सौंदर्य का अध्ययन करने में दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं।

जो कुछ सुंदर है, वह मंगल भी है, लेकिन जो कुछ मंगल हो वह (कलात्मक दृष्टि से) सुंदर भी हो—यह आवश्यक नहीं। राजनीति की पुस्तकें, नैतिकता के सिद्धांत, विज्ञान के आविष्कार लोक मंगल के लिए हो सकते हैं, लेकिन हम उन्हें सौंदर्य का पर्यायवाची मानें—यह आवश्यक नहीं। साहित्य के लोक मंगल की अपनी विशेषता है जिससे वह नीति, विज्ञान, दर्शन आदि के लोक-मंगल से भिन्न ठहरता है।

साहित्य के लोक-मंगल की यह विशेषता उसकी

अभिव्यक्ति में भी है और उसके आंतरिक गठन में भी। यह विशेषता साहित्य के रूप में भी है और उसकी विषय-वस्तु में भी।

साहित्य के रूप की विशेषता उसकी इंद्रिय सुखद गठन है। नीति, दर्शन और विज्ञान में जो विचार प्रकट किए जाते हैं, वे निराकार नहीं होते। भाषा का भौतिक रूप वहाँ भी होता है। लेकिन वे विचार अपने सूक्ष्म रूप में प्रकट किए जाते हैं, उन्हें इन्द्रिय सुखद मूर्त रूप देना आवश्यक नहीं होता। साहित्य के रूप की यह ऐंद्रियता (Sensuousness) उसे दर्शन और विज्ञान के रूप की सूक्ष्मता (Abstract or) से भिन्न करती है।

रानी लक्ष्मीबाई वीर नारी थीं, इस विचार को व्यक्त करने के लिए चित्रकला में झाँसी का किला, घोड़े पर लक्ष्मीबाई, डूबते हुए सूर्य की लालिमा और गोरों के कटे हुए सिर—यह सब दिखाना होगा। यही भाव संगीत में दर्शाने के लिए दुर्गा या मारवा का सहारा लेकर मूर्त स्वरारोह अवरोह से 'खूब लड़ी मरदानी' की उक्ति चरितार्थ करनी होगी। साहित्य में उसी के लिए श्री वृंदावनलाल वर्मा की कलम का सहारा लेकर बहुत सी घटनाओं का वर्णन, चरित्र चित्रण आदि करना होगा। साहित्य में जहाँ हम लोक मंगल को दर्शन और विज्ञान की तरह उसकी सूक्ष्मता (Abstraction) में प्रकट करने लगते हैं, वहीं साहित्य का रूप अपनी विशेषता खो देता है।

लेकिन साहित्य और दर्शन या विज्ञान का अंतर रूप का ही अंतर नहीं है। अंतर विषयवस्तु का भी है। दर्शन और विज्ञान यथार्थ की छानबीन करके हमारे सामने कुछ विचार रखते हैं, यह उनका मुख्य काम है। लेकिन साहित्य हमारे सामने यथार्थ का चित्र भी पेश करता है। साहित्य की विषयवस्तु में विचार ही नहीं होते, विचारों की भूमि—मनुष्य का कर्ममय जीवन भी होता है। दर्शन और विज्ञान की सहायता से हम यथार्थ को समझना चाहते हैं, साहित्य की सहायता से हम यथार्थ को समझना ही नहीं चाहते, उसे देखना भी चाहते हैं।

साहित्य की विषयवस्तु की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें विचार ही नहीं होते, यथार्थ जीवन का चित्र ही नहीं होता, इस यथार्थ जीवन और विचारों के प्रति मनुष्य की भावना, उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया भी होती है। विज्ञान और दर्शन का काम मनुष्य की भावना को जगाना, उसका परिष्कार करना, उसकी पुष्टि करना नहीं होता, यह काम मुख्यतः साहित्य का है। कला और साहित्य की सरसता का सबसे बड़ा कारण उनका यह भावनामूलक स्वभाव है।

मोटे तौर पर कह सकते हैं कि साहित्य में मनुष्य की बाह्य इंद्रियाँ, हृदय और मस्तिष्क—तीनों का समन्वय होता है। रूप, भावना और विचार की एकता से ही कला की सृष्टि संभव है। इसी एकता के कारण साहित्य का प्रभाव दर्शन और विज्ञान के प्रभाव से भिन्न होता है। साहित्य मनुष्य को श्रेष्ठ विचार ही नहीं देता, वह उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के लिए प्रेरणा भी देता है। वह हमारा मनोबल दृढ़ (या क्षीण) करता है, हमारा चरित्र बनाता या बिगाड़ता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक तर्क द्वारा हम भले आश्वस्त कर दें या पराजित कर दें, उनके श्रेष्ठ विचारों में आस्था पैदा करना, उन विचारों को आचरण में उतारने के लिए दृढ़ संकल्प पैदा करना साहित्य का ही काम है। इसीलिए मानव-चरित्र पर, किसी जाति या राष्ट्र के चरित्र पर, मनुष्य के कर्ममय जीवन पर जितना प्रभाव साहित्य का पड़ता है उतना दर्शन या विज्ञान का नहीं। साहित्य की यह सबसे बड़ी उपयोगिता है।

जो लोग कहते हैं कि साहित्य में विचारों का महत्त्व नहीं है, महत्त्व विचारों की अभिव्यक्ति के ढंग का है या महत्त्व केवल भावना (इमोशन) का है, वे साहित्य का प्रभाव कम कर देते हैं, रूप भावना विचार में किसी एक का ही महत्त्व घोषित करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने साहित्य की प्रक्रिया का बहुत ही युक्तिपूर्ण वर्णन किया है—

हृदय सिंधु मति सीप समाना।
स्वाती सारद कहहिं सुजाना।
जौं बरसै बर बारि बिचारू।
होहिं कबित मुकता मनि चारू।

यहाँ गोस्वामीजी ने साहित्य में विचारों की उदात्त भूमिका को उचित स्थान दिया है। श्रेष्ठ विचारों के न होने पर केवल हृदय-सिंधु से काव्य के मुक्ता मणि निकालना असंभव है। गोस्वामीजी रामचरितरूपी जल के लिए यह भी कहते हैं—'सो जल सुकृत सालि हित होई।' साहित्य के रस का सीधा प्रभाव मनुष्य के सुकृतों पर, उसके कर्म

पर पड़ता है। इसीलिए यह प्रभाव किस तरह का है—यह जानना-परखना आलोचक का कर्तव्य हो जाता है।

भाववादी विचारक मनुष्य की कुछ भावनाओं को चिरंतन मानकर चलते हैं। साहित्य के रस की नौ श्रेणियाँ करने के पीछे भी यही दर्शन है। लेकिन मनुष्य का जीवन इस सीधे विभाजन से ज्यादा पेंचीदा है। रीतिकालीन शैली के आलोचक किसी उपन्यास में कुप्रथा की बुराइयाँ देखकर उसे बीभत्स-प्रधान कहते हैं, किसान जमींदार-संघर्ष के चित्रण में करुण रस की व्याख्या करते हैं, गहनों से प्रेम करने के दुष्परिणाम को शृंगाराभास से सच्चे शृंगार की ओर आना कहते हैं और राजनीति से संबद्ध उक्तियों को वीररस कहते हैं।

यही नहीं कि साहित्य की विषयवस्तु नौ रसों के साँचे में ढलने से इन्कार करती है, बल्कि भाववादी विचारधारा के प्रतिकूल मनुष्य के विचार और उसकी भावनाएँ परिवर्तनशील भी हैं। जिन्हें हम मनुष्य की आदिम वृत्तियाँ—इंस्टिंक्ट—कहते हैं, वे भी विकासमान हैं, उनका भी इतिहास है। अंतर इतना ही है कि मनुष्य की कुछ वृत्तियों में इतने धीरे परिवर्तन होता है कि हम उन्हें प्रायः अपरिवर्तनशील कहते हैं जबकि दूसरी वृत्तियाँ, दूसरी भावनाएँ जल्दी बदलती हैं। मिसाल के लिए मनुष्य में समूह या व्यक्ति की भावना का विकास या ह्रास व्यक्तिगत संपत्ति के जन्म, विकास और ह्रास के साथ जुड़ा हुआ है। वर्गयुक्त समाज में व्यक्तिगत स्वार्थ की जिन वृत्तियों को मनोविज्ञान के पंडित शाश्वत मानते हैं, वर्गहीन समाज में उन्हीं का अभाव दिखाई देता है।

इसीलिए साहित्य से समाज-विज्ञान का गहरा संबंध है। समाज-विज्ञान मानव जीवन के बदलते हुए मूल्यों को पहचानना सिखाता है। साहित्य की विकासमान, परिवर्तनशील विषयवस्तु रचनाकार का मनमाना व्यापार न होकर समाज का आधार पाकर सार्थक दिखाई देती है।

किसी भी युग का साहित्य उस समय के संसार और समाज के प्रति प्रचलित धारणाओं से अछूता नहीं रहता। साहित्यकार संसार और समाज के प्रति कोई-न-कोई दृष्टिकोण अपनाए बिना तो रचना कर ही नहीं सकता। समाज-विज्ञान के विकास ने उसके सामने समस्या यह खड़ी कर दी है कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाए या अवैज्ञानिक। साहित्यकार विज्ञान के प्रकाश की सहायता से अपनी रचनाएँ और भी प्रभावशाली बना सकता है, उन्हें समाज के हित के लिए और भी सुंदर तथा उपयोगी बना सकता है।

कौन-सा दृष्टिकोण, कौन-से विचार सही हैं, कौन-से गलत—इसकी कसौटी व्यवहार है। मनुष्य का सबसे बुनियादी व्यवहार उत्पादन क्रिया है, खाने पहनने रहने के साधन जुटाने की क्रिया है। मनुष्य के विचारों का बहुत ही नजदीकी संबंध इस क्रिया से होता है। श्रम के विभाजन के सिलसिले में वर्ग बनते हैं, वर्गों के हित आपस में टकराते हैं। उनके विचार आपस में टकराते हैं। हमारे समाज में जितने वर्ग हैं, उनमें मजदूर वर्ग ऐसा है जिसका संबंध उत्पादन से सबसे आगे बढ़े हुए रूप से है। अपने जीवन की इस परिस्थिति के कारण मजदूर-वर्ग समाज को बदलने में अग्रदल की भूमिका अदा करता है, और सभी वर्गों की अपेक्षा वह सबसे आगे बढ़ी हुई विचारधारा का वाहक बनता है।

प्रत्येक युग में कोई विशेष वर्ग और उस वर्ग के प्रतिनिधि साहित्य के निर्माण में अगुवाई करते हैं। आज के युग में यह काम मजदूर वर्ग और उसके प्रतिनिधियों द्वारा संपन्न हो रहा है।

किसी भी युग में कोई भी वर्ग एकदम नए सिरे से साहित्य या संस्कृति की रचना नहीं करता। वह मनुष्य की अबतक की संचित ज्ञानराशि से लाभ उठाकर, अपने दृष्टिकोण से उसका मूल्यांकन करके और उसके स्वस्थ तत्वों के आधार पर ही नए साहित्य, नई संस्कृति का निर्माण करता है।

भारतीय साहित्य तो रक्षा करने योग्य, जन-साधारण के लिए सुलभ बनाने योग्य है ही, भारतीय काव्यशास्त्र में भी ऐसे तत्त्व हैं, जिनका द्वंद्व सिद्धांत के आधार पर विकास संभव है। रस निष्पत्ति के सिलसिले में उत्पत्तिवाद, अनुमानवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद नाम से जो चार मत प्रचलित हैं, वे एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक साबित हो सकते हैं।

रंगमंच पर नट किसका प्रेम दिखाता है? वह राम का या दुष्यंत का प्रेम दिखाता है। इसका मतलब यह हुआ कि साहित्य में जिन भावनाओं का चित्रण होता है, उनकी स्थिति वास्तविक जीवन में है। साहित्य यथार्थ जीवन का ही चित्रण करता है।

नाटक देखनेवाला नट को ही राम समझता है। इस तरह कला जीवन का भ्रम (इल्यूज़न) उत्पन्न करती है। लेकिन भ्रम और वास्तविक जीवन का संबंध क्या है? कला का 'भ्रम' जीवन से उत्पन्न होता है और जीवन को ही पुष्ट करता है। मतलब यह कि साहित्य यथार्थ जीवन की छवि ही नहीं आँकता, उस जीवन को और भरा पूरा भी बनाता है।

नट को यदि दर्शक राम ही समझता रहे तो उसे रस बोध न हो। उसके लिए रंगमंच के राम और किसी प्रेमी मानव में अंतर नहीं रहता। इस तरह कला के विशेष पात्र समाज के साधारण जनों की भावनाएँ व्यक्त करते हैं। साहित्य साधारण और असाधारण—जेनरल और पर्टिकुलर—के विरोधी तत्वों की एकता प्रकट करता है। यदि दुष्यंत हर प्रेमी के समान हो तो वह दुष्यंत न रह जाय, उसके व्यक्तित्व की अपनी विशेषता न रहे। यदि वह इतना असाधारण हो जाय कि साधारण प्रेमियों से समानता न रहे, तो उसके क्रियाकलाप से औरों को दिलचस्पी न रहे। इसीलिए साहित्य की विषयवस्तु साधारण और असाधारण, मौलिक और उधार ली हुई—दोनों होती है।

श्रोता और दर्शक में पहले से रस ग्रहण की शक्ति न हो तो वह नाटक देख-सुनकर ज्यों का त्यों लौट आए। साहित्य का प्रभाव सहृदय मनुष्य पर ही पड़ता है, लेकिन एक बार प्रभाव पड़ने पर उसकी सहृदयता निखरती भी जाती है। साहित्य और पाठक या श्रोता की सहृदयता का यह द्वंद्वात्मक संबंध है।

सौंदर्य और उपयोगिता का भी ऐसा ही संबंध है। साहित्य मानव-जीवन के लिए आवश्यक कार्यवाही है। साहित्य मनुष्यों को संगठित करने और उनके जीवन को परिवर्तित करने का एक साधन है। शासकवर्ग प्रयत्न करता है कि इस अस्त्र से जनसाधारण की चेतना को कुंद कर दे, उसे अफ़ीम की घूँटी देकर उसे न्याय-अन्याय के प्रति अचेत कर दे या उसे झूठे न्याय, झूठे सत्य, झूठी नैतिकता में फँसाकर उसे अपने शिकंजे में जकड़े रहे। साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता यह होगी कि वह साहित्य और जीवन के संबंध की वास्तविकता प्रकट कर दे, जनता के लिए अहितकर साहित्य और अहितकर साहित्य शास्त्र से भ्रम का पर्दा उठा दे।

सौंदर्य का स्रोत जनता है। समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्व हैं, जो जीवंत और उदीयमान तत्व हैं, इनसे बाहर सुंदर असुंदर की सत्ता नहीं है। जो जीर्ण और मरणशील हैं, उनके लिए सुंदरता मृत्यु में है, अन्याय-अत्याचार को फरेब से ढँकने में है, भविष्य से त्रस्त होने और क्षण में ही जीवन की साधें पूरी करने में है। जो जीवंत और उदीयमान हैं, उनके लिए सुंदरता सत्य में है, मृत्यु को जीतने में है, अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को दफ़नाने में है, सुख और शांति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ने में है। साहित्य उस मंज़िल तक पहुँचने का शक्तिशाली साधन है।

सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता है, लेकिन विरोधी वर्ग उसे अलग-अलग निगाह से देखते हैं। इसीलिए प्रेमचंद ने कहा था—'हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभीतक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। ... कला नाम था और अब भी है, संकुचित रूप पूजा का, शब्द-योजना का भाव निबंधन का। उसके लिए कोई आदर्श नहीं है, जीवन का कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं है—भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म और दुनिया से किनाराकशी उसकी सबसे ऊँची कल्पनाएँ हैं। साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सचाई है।'

हमारे युग की सबसे बड़ी सचाई यह है कि पुरानी अर्द्ध-सामंती व्यवस्था पर सशक्त वार करती हुई जनता आगे बढ़ रही है, अँगरेज़ दस्युओं की रची हुई औपनिवेशिक व्यवस्था पर वह वज्र प्रहार करने के लिए संगठित हो रही है। हिंदुस्तान के लोग अपना भाग्य बदलने जा रहे हैं, यह सत्य कुछ सज्जनों के लिए नितांत असुंदर है, उनके लिए सौंदर्य है उस व्यवस्था में जिसमें लाखों मनुष्य प्रतिवर्ष भूख और महामारी के शिकार हों। सौंदर्य की यह कसौटी बदलनी होगी। हिंदी साहित्य तुलसी-भारतेंदु-प्रेमचंद की परंपरा पर आगे बढ़ते हुए आज के युग की सबसे बड़ी सचाई का चित्रण करेगा, वह अंधकार में इस नए जीवन की किरण फूटने में सौंदर्य देखेगा और ऐसे जन साहित्य के अनुकूल हमारा साहित्य शास्त्र भी विकसित होगा।

मार्क्सवाद में अहिंसावाद के बीज

श्री हर्षनारायण श्रीहर्ष

मार्क्सवाद को प्राय हिंसात्मक क्रांतिवाद का पर्याय समझा जाता है। लोगों में यह धारणा बद्धमूल-सी हो गई है कि मार्क्सवाद और गाँधीवाद में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न पर पूर्व और पश्चिम का भेद है। किंतु यह एक सर्वथा भ्रांत धारणा है जिसके प्रचार के लिए स्वयं मार्क्सवादी—मेरा मतलब वामपक्षी मार्क्सवादियों से है—ही जिम्मेदार हैं। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स ने अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारंभिक दिनों में ही अमिश्र हिंसावाद का प्रचार किया था, बाद में उनके हृदय में अहिंसात्मक क्रांति की संभावना एवं श्लाघ्यता का विश्वास तेजी से पनपने लग गया था।

क्रांति का स्वरूप हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक—इस प्रश्न को लेकर एंगेल्स की मृत्यु के बाद से लेनिन के समय तक मार्क्सवादियों में काफी विवाद होता रहा, किंतु खेद है कि, जैसा किसी आलोचक ने लिखा है, उससे प्रकाश की अपेक्षा गर्मी ही अधिक उत्पन्न हुई। खैर, हमें यहाँ मार्क्सवादियों के उस पुराने आपसी झगड़े में न पड़कर अपने को मार्क्स और एंगेल्स के विचारों तक ही सीमित रखना है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, मार्क्स और एंगेल्स प्रारंभ में कट्टर हिंसावादी थे। सन् १८४७ में मार्क्स ने लिखा—'अच्छा, यह भी कोई आश्चर्य का विषय होगा, यदि वर्गों के विरोध पर आधारित समाज अपनी चरम परिणति के तौर पर अवश्य पाशविक संघर्ष—हाथों-हाथ भिड़ंत—की अवस्था को प्राप्त हो जायगा?'[1] यहाँ मार्क्स यह दिखलाना चाहता है कि वर्त्तमान समाज के आधारभूत वर्ग-विरोध का बढ़ते-बढ़ते खुली हिंसा का रूप धारण कर लेना सर्वथा स्वाभाविक है—हिंसात्मक वर्ग-युद्ध होकर रहेगा। आगे चलकर यह बतलाया गया है कि शांतिमय सामाजिक विकास वर्ग-विहीन समाज में ही संभव होगा, जबतक वर्गों की सत्ता बनी रहेगी तबतक अहिंसात्मक क्रांति की आशा सफल नहीं होने की। वह लिखता है—'केवल उसी व्यवस्था में, जिसमें न तो वर्ग होंगे और न वर्ग-विरोध, सामाजिक विकासों का राजनीतिक क्रांतियों के रूप में प्रकट होना बंद होगा। तबतक, समाज के प्रत्येक व्यापक नव-निर्माण के पूर्व, समाज-विज्ञान का अंतिम शब्द सदा यही रहेगा—'लड़ाई या मौत, रक्तमय संघर्ष या अस्तित्व का लोप। प्रश्न ठीक इसी प्रकार बरबस उपस्थित होता है।'[2] सन् १८४८ में मार्क्स और एंगेल्स ने स्पष्ट घोषणा की कि वर्त्तमान समाज-व्यवस्था को 'बल प्रयोग द्वारा मटियामेट करके ही' साम्यवाद स्थापित किया जा सकता है।[3] सन् १८४९ में मार्क्स ने लिखा—'जबतक सर्वहारा-क्रांति एवं सामंती प्रति क्रांति एक विश्व युद्ध में अपनी तलवारें न आजमाएँ तबतक प्रत्येक सामाजिक सुधार स्वप्न ही रहेगा।'[4]

इतना ही नहीं, वे सुधारवादी समाजवादियों की, जो 'शांतिमय ढंग से अपना ध्येय प्राप्त करना चाहते हैं',[5] जो 'समाजवाद की शांतिपूर्वक स्थापना का स्वप्न देखते हैं'[6] और जो 'जनवादिक ढंग से समाज के कायापलट'[7] में आस्था रखते हैं, जी भरकर खिल्ली उड़ाते हैं।

इस हिंसात्मक क्रांतिवाद का मूल मार्क्स के द्वंद्व सिद्धांत में ढूँढ़ा जा सकता है। द्वंद्व-सिद्धांत के द्वितीय नियम के अनुसार मात्रा भेद से गुण भेद हो जाता है (और गुण-भेद से मात्रा-भेद भी)। समाज में इस नियम का क्या रूप होता है, इसकी मीमांसा करते हुए 'हिस्ट्री ऑव द कम्यूनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक्स)' का लेखक कहता है—

'आगे, यदि धीमे मात्रिक परिवर्त्तनों का तीव्र एवं एकाएक गुणात्मक परिवर्त्तनों का रूप धारण कर लेना विकास का एक नियम है, तो यह स्पष्ट है कि पीड़ित वर्गों

१ मार्क्स, पावर्टी ऑव फिलॉसफी

२ वही

३ मार्क्स और एंगेल्स, कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो

४ मार्क्स, वेज लेबर ऐंड कैपिटल

५ मार्क्स और एंगेल्स, कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो

६ मार्क्स, द क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस, (सन् १८५०)

७ मार्क्स, द एटींथ [illegible] मेया ऑव लुई बोनापार्ट (१८५१-५२)

द्वारा की गई क्रांतियाँ सर्वथा स्वाभाविक एवं अनिवार्य घटनाएँ हैं।

'अत पूँजीवाद से समाजवाद की ओर प्रगति एवं श्रमिक वर्ग की पूँजीवाद के पाश से मुक्ति धीमे परिवर्तनों — सुधारों से नहीं, बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था के गुणात्मक परिवर्तन—क्रांति से ही निष्पन्न हो सकती है।'

कहना नहीं होगा कि आकस्मिक परिवर्तन शांतिमय, अहिंसात्मक साधनों से नहीं लाए जा सकते, उनके लिए रक्तपात अनिवार्य है।

द्वंद्व-सिद्धांत के प्रथम नियम से भी हिंसावाद को पर्याप्त प्रश्रय मिलता है। इस नियम के अनुसार प्रतियोगी वस्तुओं के बीच संघर्ष, अंतर्व्यापन एवं समन्वय का नियम काम करता है। सन् १८४५ में लिखी 'होली फैमिली'-नामक पुस्तक में मार्क्स और एंगेल्स ने पूँजी एवं सर्वहारा को परस्पर वाद एवं प्रतिवाद के रूप में संबद्ध प्रदर्शित किया है। अत द्वंद्व सिद्धांतानुसार प्रतिवाद-स्थानीय सर्वहारा वाद-स्थानीय पूँजीपतियों का अततोगत्वा सर्वनाश करके ही छोड़ेगा। पूँजीपतियों का सुधार संभव ही नहीं है। शोषक और शोषित का दीर्घ काल तक शांतिमय सहास्तित्व द्वंद्व-दृष्ट्या अचिंत्य है। मार्क्स ने १८४६ में क्रीज को लिखे एक पत्र में कहा है कि प्रेम द्वारा समाज-व्यवस्था के सुधार की चेष्टा सदा से होती आई है, किंतु प्रेम सदा अकिंचित्कर ही प्रमाणित हुआ है।

इस प्रथम द्वंद्व नियम से एक और अनुमान निकलता है, जिसे 'सतत प्रवर्द्धमान दुरवस्था का नियम' कहते हैं। उसका निरूपण यहाँ अप्रासंगिक न होगा। 'कैपिटल' में मार्क्स ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ज्यों-ज्यों पूँजीवाद का विकास होता जायगा त्यों त्यों एक ओर पूँजीपति दिनानुदिन फले-फूलेगा और दूसरी ओर सर्वहारा उसी अनुपात से दुरवस्था की अवस्था को प्राप्त होता जायगा। अंततोगत्वा सर्वहारा को लाचार होकर पूँजीपतियों के विरुद्ध खड्गहस्त होना पड़ेगा। मार्क्स बड़े ओज के साथ इस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखता है—'उत्पादन के साधनों का केंद्रीकरण एवं श्रम-सामाजीकरण उस बिंदु पर पहुँच जाते हैं जहाँ वे अपने पूँजीवादी खोल से बेमेल सिद्ध होने लगते हैं। (फलतः) वह खोल फट पड़ता है। पूँजीवादी वैयक्तिक संपत्ति की मौत का घंटा बज जाता है। लुटेरे लूट लिए जाते हैं।'[1]

मार्क्स और एंगेल्स के इस घोर हिंसावाद का एक विशेष कारण है। उनकी आँखों के सामने सन् १८३३ तक श्रमिकों की वर्णनातीत दुरवस्था सुधारने के सारे वैध प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। सन् १८०२ से १८३३ तक श्रमसुधार-संबंधी कुल पाँच कानून बन सके और उन्हें भी कार्यान्वित करने के लिए एक पाई की भी व्यवस्था नहीं की गई। कहीं १८५३ में जाकर एक वैतनिक सरकारी कारखाना निरीक्षक नियुक्त हुआ। वस्तुत १८६० ई० तक श्रमसुधार-संबंधी कानून महत्त्वपूर्ण नहीं, और जो बने भी वे अच्छी तरह कार्यान्वित सकें। कारखानेदार उन्हें विफल करने की ब करते रहे, जिसमें उनको काफी सफलता भ रही।[2] इन घटनाओं ने मार्क्स और एंगेल्स विधानवादी तरीके के प्रति अपार घृणा भर दी। समय अच्छी तरह समझ लिया कि विधानवाद कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने का नहीं, और व तो बहुत विलंब से, जिसके लिए उनके पास धै

किंतु धीरे-धीरे इस अवस्था का अंत उनके जीवन-काल में ही सहकारिता-आंदोलन सुधार संबंधी महत्त्वपूर्ण कानून इत्यादि अनेक सुधारों ने विधानवाद की सफलता एवं प्रभविष्णुत भाँति सिद्ध कर दी। यह बदली हुई परिस्थिति विचार धारा को प्रभावित किए बिना नहीं रह मार्क्स ने 'कैपिटल,' भाग ३ में ज्वाइंट स्टाक एवं सहकारिता-आंदोलन की बड़ी प्रशंसा की सहकारिता को तो उसने अन्यत्र 'पूँजी के अर्थशास्त्र श्रम के अर्थशास्त्र की विजय' बताते हुए उसके द्वारा अंततोगत्वा शोषण के अंत एवं श्रमिकों की मुक्ति तक की कल्पना कर डाली है।[4] उसने श्रम सुधार-संबंधी कानूनों की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें 'श्रमिकों की आक्रमणात्मक शक्ति के विकास' एवं 'पूँजीवादियों की प्रतिरोध शक्ति के ह्रास' का परिणाम बतलाया है। कितना

१ मार्क्स, कैपिटल, भाग १, एब्रीमैन संस्करण, पृ० ८४६
२ वही, अध्याय, वर्किंग डे
३ पृ० ५१६–१७, २१, ७१२–१३
४ वर्किंगमेंस इंटरनेशनल एसोसिएशन के उद्घाटन के अवसर पर दिया गया भाषण (सन् १८६४ ई०)

ढीला पड चुका है उसका हिंसावाद । मार्क्स खुलकर स्वीकार करता है कि श्रमिकों की अवस्था में पहले से काफी सुधार दृष्टिगोचर होता है और यह सब हुआ है वैधानिक तरीके से। कहाँ यह विश्वास कि पूँजीवाद का सुधार संभव ही नहीं और कहाँ उसके सुधार का यह स्पष्ट स्वीकार। कहाँ श्रमिकों की सतत प्रवर्द्धमान दुरवस्था में अटल विश्वास और कहाँ उनकी अवस्था में निरंतर सुधार द्वारा उनकी मुक्ति की आशा। इसके अतिरिक्त, मार्क्स और एंगेल्स के अनेक स्पष्टतर वक्तव्यों से भी उनकी अहिंसा की ओर बढ़ती पर पूं प्रवृत्ति का पता चलता है। मार्क्स के 'द क्लास भात भी इन फ्रांस' की १८९५ ई० में लिखी भूमिका में मेरा मर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है कि सशस्त्र विद्रोह हैं। वस्तुत दिन अब लद गए। उसका कहना है—'पुराने के प्रारंभिक विद्रोह · काफी हद तक समय से पीछे पड था, बाद में इसका कारण क्या है? एंगेल्स का उत्तर इस एवं श्लाघ्य—'सेना पर विद्रोह की वास्तविक विजय · क्रांति व परम अपवाद है।' विद्रोहियों की विजय की इस प्रश्ने को इतनी नगण्य क्यों है? कारण स्पष्ट है। सेना समय तक तोपखाना और शिक्षण प्राप्त इंजीनियरों की खून खेद है कि टोली रहती है—ये वे युद्ध सामग्रियाँ हैं जिनका प्रकाश की ों के पास प्राय सदा अभाव ही बना रहता है।' यहा मार्क्स एंगेल्स १८९५ की अवस्था की १८४८ की अवस्था अपने को तुलना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि तब से रखना क 'बहुत सारे परिवर्त्तन हुए हैं, और सब क सब है क पक्ष में।' यह जनशक्ति नहीं, बल्कि शस्त्र शक्ति प्रारंभ युग है।

लिए हिंसात्मक विद्रोह की अकिंचित्करता का एक दूसरा यह कारण बतलाते हुए एंगेल्स लिखता है—'आकस्मिक प आक्रमणों—अचेत जनता के नायक सचेत अल्पसंख्यकों । द्वारा की गई क्रांतियों—का समय अब नहीं रहा। जहाँ समाज-व्यवस्था के पूर्णतया बदल डालने का प्रश्न हो वहाँ स्वयं जनता को भी सम्मिलित होना चाहिए, उसे स्वयं पहले से ही समझे रहना चाहिए कि किस चीज की बाजी लगी हुई है, वे शरीर और आत्मा देकर क्या लेने जा रहे हैं। पिछले पचास वर्षों के इतिहास ने हमें यही सिखाया है।'

अच्छा, सशस्त्र विद्रोह के बदले में होना क्या चाहिए? इसके उत्तर में एंगेल्स विधानवाद एवं सार्वभौम मताधिकार का दिल खोलकर गुणगान करता हुआ पाया जाता है। सन् १८९१ में 'एर्फर्ट प्रोग्राम' की आलोचना के सिलसिले में वह अत्यंत स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर चुका है कि 'जनतंत्रात्मक गणतंत्र के रूप में ही हमारा दल एवं श्रमिकवर्ग शक्ति प्राप्त कर सकते हैं।' यह इसी विचार को आलोच्य 'भूमिका' में दुहराते हुए लिखता है—'हमलोग अवैधानिक तरीकों एवं तोड फोड की अपेक्षा वैधानिक तरीकों के द्वारा कहीं अधिक फल फूल रहे हैं। सुव्यवस्थावादी दल जैसा कि वे अपने को पुकारते हैं, स्वनिर्मित कानूनी स्थितियों के कारण नष्ट हो रहे हैं। वे हताश होकर ऑडिलॉन बैरट की भाँति चिल्लाते हैं—वैधानिकता तो हमारी मौत ही है, जबकि हमलोग इस वैधानिकता का अवलंबन करके मजबूत पुट्ठे और गुलाबी चेहरे प्राप्त करते हैं।'

मार्क्स का दृष्टिकोण भी साम्यवादी क्रांति के स्वरूप के विषय में कभी एकांगी नहीं रहा। लेनिन-जैसे सशस्त्र विद्रोहवादी ने भी स्वीकार किया है कि 'मार्क्सवाद समाजवाद के सारे आदिम रूपों से इस बात में भिन्न है कि वह आंदोलन को किसी एक विशिष्ट संघर्ष-पद्धति के साथ नहीं बाँधता।'[1] सन् १८७२ में एमस्टरडम में दिए गए एक व्याख्यान के सिलसिले में मार्क्स स्वयं कहता है – 'हमारा यह दावा नहीं है कि सर्वहारा क्रांति लाने के आवश्यक साधन सर्वत्र समान ही होंगे। · · · हम इस बात से इनकार नहीं करते कि कुछ देश—जैसे संयुक्त राष्ट्र और ग्रेट ब्रिटेन, और यदि आपलोगों की संस्थाओं के विषय में मेरी अधिक जानकारी होती तो इनमें हालैंड की भी गिनती करता—ऐसे भी हैं जहाँ श्रमिक अपना लक्ष्य शांतिमय साधनों द्वारा प्राप्त करने में समर्थ होंगे।'

एंगेल्स, रोजा लुक्जेम्बुर्ग और लेनिन—तीनों ने इस बात का उल्लेख किया है कि मार्क्स अँगरेजी भूमिपतियों को क्षतिपूर्ति प्रदान में गृहयुद्ध की अपेक्षा अधिक विश्वास रखता था। लेनिन ने तो यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मार्क्स का यह विश्वास बिल्कुल ठीक था।[2]

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस संबंध में लेनिन

१ लेनिन, पार्टीजन वारफेयर

२ लेनिन, द प्रिंसिपल टास्क ऑव ऑवर डे—'लेफ्ट विंग' चाइल्डिशनेस एंड बुर्जोआ मैंटलिटी (उन्हीं द्वारा उसके 'टैक्स इन काइंड' में उद्धृत), प्रोलिटेरियन रिवोल्यूशन एंड रेनीगेड काउस्की

देवनागरी लिपि

डाक्टर रघुवीर, एम० ए०

(१)

देवनागरी हमारी राष्ट्रलिपि है। पिछली दस शताब्दियों से यह लगभग इसी रूप में चली आई है। यदि और १५०० वर्ष पूर्व चले जायँ तो हम भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी तक पहुँच जाते हैं। लंका के भी पुरातन शिलालेख ब्राह्मी में ही उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मी में लिखे हुए अशोक के शिलालेख नेपाल, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, गुजरात और मैसूर आदि में उपलब्ध हैं।

२५०० वर्षों के इतिहास में ब्राह्मी लिपि के अनेक रूप बने। गुप्तकाल तक इन रूपों में बहुत विषमता नहीं आई, किंतु गुप्तकाल के पाँच छ शताब्दियों के पश्चात् इन रूपों में इतना अंतर आ गया कि एक लिपि का जानने वाला व्यक्ति दूसरी लिपि को नहीं पढ़ सकता था।

१० वीं शताब्दी से भारत की लिपियों के आधुनिक रूप का प्रारम्भ हुआ, किंतु कन्नड और तेलुगु का भेद बहुत अर्वाचीन है। शिरोरेखा हीन गुजराती का आविष्कार तो १६ वीं शताब्दी में किया गया। उड़िया लिपि भी बहुत पुरानी नहीं। इसके विपरीत अनेक भारतीय प्राचीन लिपियाँ धीरे धीरे अप्रयोग के कारण लुप्त हो गई, जैसे सिंधी। कश्मीर में शारदा का प्रयोग आज केवल ज्योतिषी ही करते हैं।

भारत की आधुनिक राजनैतिक सीमाएँ भारतीय लिपियों की सीमाएँ नहीं हैं। भारत के उत्तर में तिब्बत देश की लिपि का आविष्कार कश्मीर की लिपि से किया गया। आज भी यह लिपि नागरी से इतना अधिक साम्य रखती है कि नागरी जाननेवाला व्यक्ति इसको आधे घंटे में पढ़ना प्रारंभ कर दे सकता है।

चीन की अपनी लिपि संसार की विचित्रतम लिपि है। इस में स्वरों और व्यञ्जनों के आधार से शब्द नहीं लिखे जाते। आधारभूत २१४ चिह्न हैं। ये चित्ररूप मूलाक्षर हैं। इन मूलाक्षरों के अतिरिक्त अन्य सहस्रों अक्षर हैं जिनका मूलाक्षरों से संयोग करके प्रत्येक शब्द लिखा जाता है। सामान्यरूप से ऐसा समझना चाहिए कि प्रत्येक शब्द के लिए नया चित्र जानना और बनाना पड़ता है। चीनी लिपि ब्राह्मी-जैसी ही प्राचीन है, किंतु पिछले २००० वर्षों में इसमें विशेष अंतर नहीं हुआ। बौद्धधर्म के संपर्क से भारतीय लिपि चीन में गई और बौद्ध तथा तांत्रिक मन्त्रों के लिखने के लिए चीन में बौद्ध भिक्षु और आचार्य भारतीय लिपि का प्रयोग करते रहे। ८ वीं शताब्दी के पश्चात् भारत का उत्तर पश्चिम मार्ग मुसलमानों ने रोकना आरंभ किया और ११ वीं शताब्दी में यह मार्ग लगभग रुक गया। इसलिए चीन के विहारों में आज प्रयुक्त भारतीय लिपि ७ वीं-८ वीं शताब्दी के समीप की लिपि है। एकाध घंटा परिश्रम करने के पश्चात् देवनागरी के ज्ञाता इसको अच्छी तरह पढ़ सकते हैं।

इस लिपि का नाम सिद्धम् है। इसका प्रयोग मंगोलिया के गाँव-गाँव में होता रहा है। मंचूरिया और कोरिया होकर सिद्धम् लिपि ने जापान में प्रवेश किया। जापान में इसका प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। कोई मंदिर ऐसा नहीं जहाँ अवलोकितेश्वर का बीजाक्षर 'अ' आँखों को आकर्षित न करता हो।

मध्य एशिया १० वीं शताब्दी तक अनेक भारतीय लिपियों का प्रयोग करता रहा। इस्लाम के प्रचार के बाद वहाँ अरबी और फ़ारसी आरंभ हुई।

भारत के पूर्व में बर्मा की लिपि ब्राह्मी की पुत्री है। बर्मा से पूर्व की ओर श्याम, कंबोज आदि की लिपियाँ देवनागरी की बहिनें हैं, किंतु पिछले ८०० वर्षों से संपर्क न होने के कारण इनके और देवनागरी के रूप में समता ढूँढनी पड़ती है। स्थूल दृष्टि से वह दिखाई नहीं पड़ती।

छठी से बारहवीं शताब्दी तक कंबोज देश की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी। यह तथ्य भारतवर्ष के एक एक बालक और बालिका को मालूम होना चाहिए। बारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष स्वयं अपनी स्वतंत्रता खो बैठा और तभी से उसके विदेशी संपर्क भी बंद हुए।

जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों की लिपियाँ भी ब्राह्मी की पुत्रियाँ और देवनागरी की बहिनें हैं। जावा की नवीं शताब्दी की पाषाण-मूर्तियों पर देवनागरी खुदी हुई है। यह देवनागरी का रूप बिहार से गया हुआ प्रतीत होता है। भारतवर्ष के अनेक साम्राज्यों की जन्मदात्री मगध की वीरभूमि रही है।

(२)

ब्राह्मी और उसकी पुत्रियों के विस्तार का सिंहावलोकन करने के पश्चात् हम इन लिपियों के विशेष लक्षणों की ओर आते हैं। ये लक्षण भारतीय लिपियों की आत्मा हैं। इनको बनाए रखना अपनी आत्मा की रक्षा करना है।

सर्वप्रथम विशेषता है वर्णमाला का स्वरों और व्यंजनों में विभाजन तथा इनका स्थान और प्रयत्न के अनुकूल क्रमविन्यास। इस विशेषता को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करने के लिए हमें दूसरी वर्णमालाओं की ओर दृष्टिपात करना होगा। संसार में मुख्य रूप से चीनी जापानी वर्ग के अतिरिक्त अरबी-फारसी तथा यूनानी रोमीय वर्ग हैं।

अरबी-फारसी और यूनानी रोमीय वर्गों की वर्णमालाएँ सर्वथा ही वैज्ञानिक क्रमहीन हैं। स्वरों और व्यंजनों का कोई क्रम नहीं।

इन लिपियों में इतनी विभिन्न भाषाएँ लिखी जा रही हैं कि वैज्ञानिक तथा पूर्ण समालोचना के लिए प्रत्येक लिपि और प्रत्येक भाषा को अलग अलग लेना चाहिए। आज इस लेख के लिए हम पश्तो से लेकर आंग्ल तक सभी भाषाओं को न लेकर केवल दिग्दर्शन के लिए रोमीय लिपि और आंग्ल भाषा को ही लेंगे।

ह्रस्व और दीर्घ का स्वर भेद करने के लिए भी रोमीय लिपि में आंग्ल भाषियों को अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं। दीर्घ ई के लिए feet में ee, seive में ie, beat में ea, event में प्रथम e, surfeit में ei, eonolgy 'मदिराविज्ञान' में oe, Aegis 'शरण' में ae इत्यादि।

ध्वनि विज्ञान के विद्यार्थी भारतीय वर्णमालाओं के क्रम के महत्त्व को भली भाँति जानते हैं।

विषयांतर होने से यहाँ इसका निर्देशमात्र करना पर्याप्त है। अल्पप्राण और महाप्राण स्पर्शवर्ण हमारी लिपियों की विशेषताएँ हैं। यूनानी में भी ख, थ, फ विद्यमान थे। हमारे यहाँ अघोष और घोषवान्—दोनों प्रकार के ख घ, छ झ, ठ ढ, थ ध, फ भ, विद्यमान हैं। यह वर्णमाला अन्य लिपियों में विद्यमान नहीं। इसी प्रकार कंठ्य, तालव्य और मूर्धन्य-नासिक्य वर्ण हमारी विशेषता हैं। कवर्ग आदि पाँचों वर्गों के साथ अपना विशेष अनुनासिक केवल भारत की लिपियों में विद्यमान है। इनमें से ञ की व्यवस्था स्पेन आदि की भाषाओं में भी करनी पड़ी। किंतु आंग्ल और फ्रेंच आदि में तो g आदि के साहचर्य से इनकी अभिव्यक्ति की गई है। king में ng न और ग का वाची नहीं, शुद्ध ङ का वाची है। इस सिद्धांत को न जानकर आज हिंदी में किङ् (king) और विंड (wind) के स्थान पर किंग और विंड लिखे जा रहे हैं, भला ङ के साथ न कैसे। हिंदी जनता समझती है कि अँगरेजी में केवल दो ही अनुनासिक न और म हैं। यह इनकी रोमीय लिपि का दोष है। किंतु देवनागरी में लिखते समय हमको उनका लिप्यंतर न करके उच्चारण का द्योतन ही करना चाहिए। एवमेव Ghost को उच्चारण के अनुसार गोस्ट, न कि घोस्ट लिखना चाहिए।

भारतीय लिपियों की दूसरी विशेषता स्वर मात्राएँ हैं। शब्द के आरंभ में तथा स्वर के पश्चात् स्वर का पूर्णरूप लिखा जाता है, किंतु व्यंजन के पश्चात् स्वर का पूर्णरूप न लिखकर उसका छोटा सा प्रतीक मात्रा के रूप में लिखा जाता है। ये मात्राएँ ऊपर, नीचे तथा पीछे और आगे—चारों ओर लगती हैं। इन मात्राओं के प्रयोग से भारतीय लिपियों में विशेष गुण आया है। लिखने में जो बचत हुई है उसका अनुमान आप इस बात से कर सकते हैं कि महाभारत जैसा शब्द अँगरेजी में MAHABHARATA ग्यारह वर्णों से लिखा जा रहा है। भारतीय लिपि में मात्रा व्यंजन के साथ मिल जाती है। अतः नागरी में ग्यारह के स्थान में केवल पाँच लिखित चिह्न रह गए। देवनागरी के एक वर्ण भ को आंग्ल में दो वर्णों से द्योतन करना पड़ा।

हमारी भाषाओं में ह्रस्व अ की प्रधानता है। इसलिए इसकी मात्रा न रखकर केवल इसके अभाव का ही द्योतन करने के लिए भारतीय लिपियों ने विशेष व्यवस्था की है।

जब एक व्यंजन के परे दूसरा व्यंजन हो तब ब्राह्मी लिपि में दूसरा व्यंजन पहले के नीचे लिखा जाता था। यह पद्धति अनेक ब्राह्मी की पुत्रियों में अभी तक विद्यमान है। इस पद्धति से भी जहाँ स्वर के अभाव का स्पष्ट निर्देश है वहाँ स्थान की बचत होती है।

अन्त की वैज्ञानिक परिभाषा में भारतीय लिपियों को syllabic scripts कहा जाता है। syllable का अर्थ है एक अथवा अनेक व्यंजन और उनके साथ एक स्वर। हमारी लिपि केवल एक-दो वर्ण लिखने में ही समर्थ नहीं, हमारी लिपि की एकक (unit) syllable है। पारिभाषिक प्रयोग में syllable को अक्षर कहते हैं। इसलिए हमारी लिपि केवल वर्णात्मक नहीं, अक्षरात्मक है। इसका अर्थ हम पूर्वनिर्दिष्ट उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। यदि हमारी लिपि वर्णात्मक होती तो महाभारत इस प्रकार लिखा जाता—म अ ह आ भ आ र अ त अ।

(३)

चालीस-पचास वर्षों से भारत में मुद्रलिख (type writer) आए। आगे चलने से पूर्व मैं शब्द की व्याख्या कर दूँ। नाम में यंत्र की विशेषता निहित है। व्यक्ति लिखने का जो काम कलम से करता था, वह इस यंत्र द्वारा मुद्र अथवा छाप लगानेवाले अक्षर से होने लगा। अतः इसका नाम मुद्रलिख 'मुद्र से लिखनेवाला' अथवा typewriter हुआ। थाई देश की भाषा में इसको अंगुलि-लिख कहते हैं। अंगुलि लिख फ्रेंच भाषा के dactylo graph (dactylo अंगुलि graph लिख) का प्रतिशब्द है। कार्यालयों में इनका प्रयोग अधिकाधिक होने लगा। इनके कारण कार्य में अनेक प्रकार की सुविधाएँ हुईं—शीघ्रता, सुवाच्यता, अनेक प्रतिलिपियाँ आदि।

हिंदी भाषियों को भी इस यंत्र के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अँगरेजी निर्माताओं ने अँगरेजी अक्षरों के स्थान में नागरी के अक्षर लगा दिए। किंतु यह अक्षर संख्या में आवश्यकता के लिए पर्याप्त न थे। यंत्रों के निर्माताओं ने देवनागरी के पूर्ण अक्षरों को यंत्रों में स्थान देने के प्रति अक्षमता प्रकट की।

हिंदी प्रयोक्ता यंत्र संसार से अधिकांश अपरिचित थे। उन्होंने विदेशी यंत्र-निर्माताओं की अक्षमता को स्थायी और अटल समझा। हिंदी-संसार में सामान्यतः यह विचार फैल गया अथवा फैलाया गया कि नागरी लिपि में परिवर्तन होना आवश्यक है।

मुद्रलिखों के पश्चात् एकमुद्र (monotype) और तदनु पंक्तिमुद्र (linotype) यंत्रों के आयात से यह समस्या और भी जटिल दिखाई पड़ी। इस क्षेत्र में अंतिम आविष्कार दूरमुद्रक (teleprinter) है जिसमें केवल ६४ अक्षरों तथा चिह्नों का स्थान है।

इस प्रसंग में आशुलिपि (shorthand) और प्रवाही लिपि (cursive hand, शिकस्ता) का उल्लेख भी अनिवार्य है। प्रवाही लिपि के लिए हिंदी-जगत् ने एक ओर बंगीय पद्धति का अनुसरण किया और दूसरी ओर गुजराती की शिरोरेखा हीनता का। आशुलिपि के लिए पिटमैन-पद्धति के दो-तीन रूपांतर किए गए।

किंतु यंत्रों के क्षेत्र में कोई संतोषजनक आविष्कार नहीं हुआ। भारतीय वैज्ञानिक अधिकांश पुस्तकों का अध्ययन करते रहे हैं। यंत्रों के निर्माण में उनकी दक्षता और अनुभव बहुत सीमित है। विश्वविद्यालयों का यंत्र निर्माण से कोई संबंध ही नहीं। प्रत्येक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में यंत्र विदेश से बनकर आ रहे हैं। भारतीयों को यह उत्साह ही नहीं कि एक दो यंत्र हमारे हाथ का बना हुआ हो। विज्ञान और यंत्र उनके जीवन का लक्ष्य नहीं। ये केवल उदर पूर्ति के साधन हैं। फिर भी दस बीस भारतीयों ने इस ओर अपना समय दिया। इनको शासनों अथवा व्यापारियों का सहारा न था। विदेशी यंत्रों में ही इन्होंने एक दो छोटे मोटे परिवर्तन करके नागरी लिपि के लिए इनको अधिक उपयुक्त बनाने का यत्न किया। किंतु मूल समस्या जैसी-की-तैसी ही खड़ी रही। विदेशी मुद्रलिखों में ८४ से ९२ वर्णों तक का स्थान है, इससे अधिक का नहीं। किंतु नागरी लिपि के पूर्ण प्रयोग के लिए इसको अधिक वर्णों की व्यवस्था चाहिए। जर्मनी में इस दृष्टि से 'नागरी' नाम का एक यंत्र बनाया गया, किंतु वह इतना बेढंगा था कि चल न सका। तत्पश्चात् उस दिशा में यत्न बंद हो गए और एकमुद्र तथा पंक्तिमुद्र जैसे महँगे यंत्रों के आयात से नागरी लिपि को ही सिकोड़ने का यत्न किया जाने लगा। विदेशी व्यापार को यह लाभकारी था।

साहित्य समितियों के अतिरिक्त शासनों ने भी इस ओर ध्यान दिया। बंबई, उत्तरप्रदेश, बिहार और केंद्र के शासनों की ओर से समितियाँ नियुक्त हुईं। देवनागरी के परिवर्तन पर मासों तक विचार किया गया। परिवर्तन की दिशा संकोच की ओर गई, विस्तार की ओर नहीं। और इस परिवर्तन को परिवर्तन अथवा संकोच न कहकर सुधार का नाम दिया गया, जिसका अर्थ यह हुआ कि जो परि

वर्तन किया जा रहा है वह दोषों का निवारण है। वास्तव में दोष अथवा अदोष का प्रश्न ही नहीं है।

विदेशियों ने अपनी २६ अक्षरोंवाली लिपि के लिए ६४, ८८, ६० और २५२ वर्णों तक के यंत्र बनाए। हमें अपनी ४५ शुद्ध वर्णों की तथा अनेक संयुक्त वर्णों की लिपि के लिए १२० से आरंभ करके ८०० तक वर्णोंवाले यंत्रों का आविष्कार तथा निर्माण करना चाहिए। हम इसपर निर्भर क्यों रहें कि विदेशी ही हमारे लिए यंत्रों का निर्माण करें। चीनी जापानी लिपि अत्यधिक विस्तृत है। उन्होंने अपना मुद्रलिख ३००० अक्षरोंवाला बनाया है। दर्शनीय यंत्र है। मूल्य केवल ८०० रुपये है।

किसी भी समिति ने शासन को अभिस्ताव नहीं किया कि भारतीय लिपियों के लिए मुद्रलिख आदि यंत्र हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल हों और उनके आविष्कार के लिए भारतीय शासन की ओर से वैज्ञानिक नियुक्त किए जायँ, और अपेक्षित मात्रा में भारत में ही उनका निर्माण हो। भारतीयों का कोटिश धन विदेशों में जाने से बचे और भारत में एक नए धंधे का आरंभ हो।

लिपि का संकोचन किस प्रकार हो जिससे कि विदेशों में निर्मित यंत्र यहाँ यथापूर्व बिकते रहें,—इसका ही आग्रह किया गया। केंद्रीय समिति ने केवल एक स्वर अ के रूप को रखकर अन्य स्वरों के स्वतंत्र रूपों को उड़ाने का आग्रह किया। मनोविज्ञान, बच्चों, 'अंगलियों और ग्रामीणों की शिक्षा आदि अनेक कारण दिए गए। ख और र तथा व में अंतर होना चाहिए,—इसके लिए भी सुझाव आए। र का आधुनिक रूप त्याग दिया जाय। त्त, श न और अन्य संयुक्त वर्णों के स्वतंत्र अथवा पिंडीभूत रूपों का बहिष्कार हो, इत्यादि परिवर्तन अथवा सुधार आवश्यक बतलाए गए।

स्वर मात्राएँ अक्षरों के ऊपर अथवा नीचे न लगें, केवल दाग की ओर लगें। ह्रस्व इ की मात्रा बाईं ओर से दाईं ओर को हटा दी जाय,—ये विचार बलपूर्वक रखे गए।

इन सबका परिणाम क्या होगा,—यह किसी ने नहीं विचारा।

साहित्य की दृष्टि से परिणाम यह होगा कि आज-तक जो साहित्य नागरी लिपि में प्रकाशित हुआ है वह भावी पीढ़ियों के लिए अपाठ्य हो जायगा। यह परिणाम भयकर है। इसी भयंकरता के कारण यूरोप की किसी लिपि में परिवर्तन का विचार भी किसी के मन में नहीं आता। अनेक दोषपूर्ण होते हुए भी अपने ज्ञान विज्ञान की परंपरा को अविच्छिन्न रखने के लिए लिपि को जैसे-का वैसा रहने दिया जा रहा है। धनी-से धनी और उद्योगी-से उद्योगी शासन और जनता भी १५० वर्ष के प्रकाशित संपूर्ण साहित्य का दोबारा नई लिपि में मुद्रण करने में असमर्थ होगी।

देवनागरी केवल हिंदी की ही लिपि नहीं। इसमें नेपाली, मराठी और प्राकृत तथा संस्कृत के ग्रंथ भी सहस्रों वर्ष से लिखे जाते रहे हैं। नागरी का अस्तित्व केवल हिंदी पर निर्भर नहीं।

आश्चर्य की बात है कि जितने आघात नागरी पर हुए हैं उतने भारत की अन्य लिपियों पर नहीं हुए। यदि कुछ समय के लिए अथवा किसी विशेष प्रयोजन के लिए कोई परिवर्तन कभी लिपि में किया भी जाता है तो यह नियम नहीं बनाया जाता कि वह स्थायी और सार्वत्रिक हो।

ऐतिहासिक दृष्टि से नागरी लिपि अकेली नहीं है। वह एक अभिजात कुल की लिपि है। उसका संबंध गौरव और बंधुता को प्रकट करनेवाला है। ह्रस्व इ (ि) की मात्रा जैसी नागरी में है वैसी ही गुरुमुखी, गुजराती और बँगला में है। इसी प्रकार संयुक्त वर्णों की पद्धति लगभग सभी स्वदेशी और विदेशी ब्राह्मी की पुत्रियों में विद्यमान है।

आर्थिक दृष्टि से लिपि के परिवर्तन का अर्थ यह होगा कि प्रत्येक मुद्रणालय की विद्यमान सामग्री परिवर्तन के अंश तक व्यर्थ हो जायगी।

जिस समय नागरी के भक्त अपनी लिपि को भारत की एकमात्र लिपि बनाने का विचार कर रहे हैं उस समय यह और भी अधिक आवश्यक है कि नागरी के स्वरूप को विकृत न किया जाय। नागरी लिपि का प्रचार संस्कृत के द्वारा भारत के समस्त प्रांतों में हुआ है। इसका प्रचार भारत से बाहर अनेक सभ्य देशों के विद्वानों में है। नागरी के मुद्रणालय जापान, रूस, जर्मनी, इटली, फ्रांस, हालैंड, इंग्लैंड आदि पश्चिमी देशों में विद्यमान हैं। इस विस्तार को हम नागरी के भावी प्रचार के लिए पूर्णतया प्रयोग में लावें। इसकी अवहेलना न करें।

पिछले नवंबर मास में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री

पं० गोविंदवल्लभपंतजी ने अखिलभारतवर्षीय सम्मेलन बुलाया। इसमें बंबई, बंगाल, हैदराबाद, मध्यप्रदेश, अजमेर, राजस्थान आदि के मुख्यमंत्रियों ने भाग लिया। अनेक विद्वान भी सम्मिलित हुए। डा० राधाकृष्णन ने सभापति का आसन ग्रहण किया। दो दिनों की चर्चा के पश्चात् अनेक छोटे-मोटे निश्चय किए गए। कुछ नकारात्मक, कुछ स्वीकारात्मक।

मराठी और हिंदी क्षेत्रों में प्रयुक्त भिन्न रूपों में से एक एक रूप लिया गया, जैसे अ और झ मराठी के लिए गए। इसी प्रकार १, ५, ८, ६ अंकों के रूपों का भी निश्चय किया गया।

ह्रस्व इ (ि) की मात्रा बाईं ओर से हटाकर दाईं ओर कर दी गई और उसका रूप तमिल के समान पाई-रहित बनाया गया। यह रूप ब्राह्मी की अनेक पुत्रियों में मिलता है। आज सुदूरतम बाली द्वीप में भी यही रूप विद्यमान है। किंतु इस परिवर्तन से नागरी लिपि को कोई लाभ हो—यह संदिग्ध है। किंतु परिवर्तन तो कुछ न कुछ करना ही था—इस छिपी हुई मनोवृत्ति का यह परिणाम है अथवा इस मनोभावना की सान्त्वना है।

संयुक्त व्यंजनों के संबंध में पाई हीन वर्णों के नीचे हल् चिह्न लगाने का निश्चय किया गया। यदि यह निश्चय वैकल्पिक होता तो यह भारतीय परंपरा के अनुकूल था, किंतु यह हठ करना कि द्वार के स्थान में दवार, राजेंद्रप्रसाद के स्थान में राजेन्दर प्रसाद ही लिखा जाय—अपनी लिपि के इतिहास और उसकी आत्मा के विरुद्ध है। जो उच्चारण दोष उर्दू जाननेवालों के हिंदी-उच्चारण में होता है उसी दोष की नींव अब डाली जा रही है। जिस प्रकार पश्चात् और जगत् के अंतिम व्यंजनों का हल्-चिह्न प्राय देखने में नहीं आता, उसी प्रकार द्वार दवार बन जायगा और पंजाबियों के समान लोग राजेंदर पढ़ा और बोला करेंगे। अरबी लिपि के अनेक स्वर चिह्न फारसी लिपि में आकर लुप्त हो गए। हल्-चिह्न की भी वही दशा होती हुई दिखाई पड़ती है।

परिवर्तनों का सबसे बड़ा दोष यह है कि अबतक जो यत्न यंत्रों को नागरी लिपि के अनुकूल बनाने के लिए हो रहे थे, वे यत्न इस सम्मेलन के पश्चात् न होंगे,—ऐसी संभावना है।

हम यंत्र युग में रहते अवश्य हैं, किंतु अभी तक हम इसकी आत्मा से कोसों दूर हैं। हमें यंत्रों पर विजय प्राप्त करनी है। लिपि के छोटे से क्षेत्र में हमने हार स्वीकार की।

मुझे आशा और विश्वास है कि भारतीय जनता आज नहीं तो कल अपनी लिपि के ऐतिहासिक महत्त्व का अनुभव करेगी और तदनुरूप यंत्रों का आविष्कार ही उसको संतुष्ट करेगा। नागरी लिपि के यंत्र भारत और एशिया की अन्य लिपियों के लिए भी उपयुक्त सिद्ध होंगे। रोमन लिपि के लिए बनाए हुए यंत्रों की गति केवल आगे की ओर है—ऊपर, नीचे और पीछे की ओर नहीं। चतुर्मुखी गतिवाले यंत्र समस्त संसार के लिए उपकारी होंगे। इनका मूल्य और परिमाण आजकल के यंत्रों की अपेक्षा बड़ा न होना चाहिए और इनकी गति भी कम न होनी चाहिए। यंत्रों से अपरिचित जगत् को यह माँग अटपटी-सी लगती है। वे इसको समझने में असमर्थ हैं। किंतु आविष्कार के इतिहास का अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों के लिए यह केवल स्फूर्तिमात्र है।



भगवान बुद्ध की आत्मकथा

श्री परदेशी

[राजकुमार सिद्धार्थ सन्ध्या के समय सैर के लिए सारथि छंदक के रथ में गए। मार्ग में अपाहिज, भूखा वृद्ध मिला। उसका सिद्धार्थ के मन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे महल में लौट आए। यशोधरा से मिले। अब, उपर्युक्त सारी घटनाएँ और आंतरिक स्थिति स्वयं सिद्धार्थ के मुँह से सुनिए—]

'एक कासापन मिले बाबा, एक कासापन मिले बाबा, कोई इस जीव को रोटी का टुकड़ा दे अय बाबा !'

पुकारनेवाले उस व्यक्ति की पीठ सर्वथा झुक गई थी। लाठी के सहारे वह कठिनाई से एक एक डग चल रहा था। पैर लडखडाते थे, हाथ काँपते थे और सिर वायु विकंपित फुनगी-सा हिल रहा था। ग्रीवा पर वह भाररूप प्रतीत होता था। बोल निकलने के साथ ही मुँह से बहुत सी लार टपक पड़ती, जिसे उसके चीथडे तुरंत पी जाते। मक्खियाँ उसपर भिनभिना रही थीं। उस अद्भुत जीवधारी के केश श्वेत थे, और आँखों के किनारे काले पड़ गए थे।

वह इस प्रकार चल रहा था, मानों धरती पर कुछ खोज रहा है। पीछा करते नटखट लड़कों में से एक ने पूछा—'बाबा, क्या खोजते हो ?'

'अपनी जवानी !'—दूसरा बोला, और शेष सब खिलखिलाकर हँस पड़े।

'ले बाबा, यह कासापन।'—दल के एक बालक ने उस पुरुष के हाथों में कुछ ककड़ रख दिए। ककड़ का भान होने पर बाबा ने अपनी लकुटी चलाई, पर वे चपल बालक क्या उसकी पहुँच में आवें ? उन्होंने जोर से अट्टहास किया और तालियाँ बजाईं।

राजमार्ग पर काफी भीड़ थी। हमारा रथ धीरे धीरे उद्यानभूमि की ओर बढ़ रहा था। मैं तब से बाबा को देख रहा था।

'रथ रोको !'—मैंने कहा।

'............!'

'आर्य छन्न, अश्वों को अविलंब रोको।'

राजरथ रुक गया। मैं नीचे उतर पड़ा।

जब से उस देहधारी को देखा, मेरे मन में, न जाने, क्या हो रहा था। तन में कंपन भर गया था। मन में सिहरन थी। ऐसा पुरुष तो मैंने आज पहली बार देखा था।

'क्या है कुमार ?'—छन्न ने पूछा।

'देखो-देखो आर्य, इस व्यक्ति को क्या हो गया है ? इसका क्या खो गया है। बालक कहते हैं—इसकी जवानी खो गई है, तुम ढूँढ दो न, छन्न !'

आर्य छन्न कैसे हैं, वे तो नितांत मौन रहे।

मेरी आँखों में आँसू भर आए। गद्‌गद कंठ से पूछा—'श्रेष्ठ छंदक, कहो न, यह पुरुष कौन है ?'

सम्भवतः मेरे अश्रुकण देख, आर्य ने उत्तर दिया—'यह वृद्ध है कुमार !'

'वृद्धा क्या होता है, आर्य ?'

'जरा,-जर्जर जीव को वृद्ध कहते हैं। इसे अब अधिक दिन नहीं जीना है।'

'सौम्य छन्न, इसके केश श्वेत क्यों हो गए हैं ?'

'आयु के कारण।'

'आयु क्या वस्तु है आर्य ?'

'कालक्षेप को आयु कहते हैं कुमार !'

'इसके दाँत कहाँ गए, और इसकी पीठ औरों के समान सीधी क्यों नहीं है, आर्य ?'

'यह जरावस्था का धर्म है कुमार।'

—'यदि यह धर्म है तो क्या सबको धारण करना पड़ता है ?'

'यथार्थ है देव !'

'अय छन्न, क्या तुम भी एक दिन ऐसे हो जाओगे ?'

'हाँ कुमार।'

और अब तो छंदक की दृष्टि में भी करुणा भर आई।

'और क्या मैं भी वृद्धा हो जाऊँगा, क्या यह अनिवार्य है ?'

'देव, आप, हम और सभी मनुष्यों के लिए जरा अवस्था है, जो अनिवार्य है।'

मैं तो स्तब्ध रह गया। निष्कंप दीप-शिखा-सा अचपल जलता रहा।

मेरे सम्मुख अपनी जरावस्था का चित्र घूमने लगा—टेढ़े-मेढ़े झुके दंड का सहारा लिए चल रहा हूँ। सारे अंग शिथिल पड़ गए हैं। एक-एक डग में पग लड़खड़ाते हैं। श्वेतकेशी हूँ। बिना दाँत के मुँह से लार टपकती है। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। और सबसे अधिक कष्टदायी—उत्पीड़क दुष्ट वाचाल बालक मेरी हँसी उड़ा रहे हैं। हाथ में कार्षापण के नाम पर कंकड़ रख जाते हैं। पीछे से अंतरीय खींचते हैं। बारबार पूछते हैं—'बाबा, तेरी अम्बपाली कहाँ गई?'...मैंने अपने मुख पर हाथ फिराया।

बालकों का सुलष्ट हास और करतल-रव मेरे समक्ष प्रतिध्वनित-आलोकित हो उठा।...मैं अपने ही बस में न रहा।...

शिप्रतापूर्वक मैं राजरथ में आरूढ़ हुआ।

'भद्र, बस उद्यान जाना रहने दो, तुरत रथ लौटा लो।'

'देव को क्या हुआ है?'—छंदक व्यथित हो उठा।

'कुछ नहीं छन्न, घबराओ नहीं। रथ को हेमंत-प्रासाद को लौटा ले चलो।'

छंदक ने कहा—'जो आज्ञा देव।'

× × ×

रथ लौट पड़ा।

'मैं वृद्धावस्था को मिटा दूँगा'—मैंने मन-ही-मन कहा। पूछा—'छंदक, वह वृद्ध रोटी-रोटी क्यों पुकारता था?'

'वह भूखा था, देव।'

'वह भूखा क्यों रहता है आर्य?'

'क्योंकि उसके पास खाने को रोटी नहीं है।'

'रोटी नहीं है, तो भात क्यों नहीं खाता?'

'कुमार, उसके पास, न रोटी, न भात—खाने को कुछ भी नहीं है।'

'हैं! आर्य छन्न, तुम मिथ्या तो नहीं कहते?'

'नहीं, मैं कुमार का सेवक हूँ, कुमार से मिथ्या भाषण कैसे करूँगा?'

'तो क्या ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिन्हें रोटी दुर्लभ है?'

'कुमारदेव का कथन यथार्थ है।'

'फिर वे भूखे ही रहते होंगे। भूखे ही सोते होंगे?'

'हाँ, कुमार?'

'मैं भूख को मिटा दूँगा'—मैंने अपने निश्चय से कहा।

'और भद्र छंदक?'

'आज्ञा हो, आर्य!'

'वह कार्षापण-द्रव्य क्यों माँगता था?'

'खाने की वस्तु खरीदने के लिए।'

'तो क्या खाद्य का क्रय विक्रय होता है?'

'परम भट्टारक महाराज के राज्य में भी होने लगा है।'

'खाद्य-विक्रय तो पाप है छन्ना!'

'पाप है कुमार।'

'तो, परम भट्टारक भी पाप के भागी होंगे छंदक?'

'ऐसा न कहिए कुमार, ऐसा सोचना भी पाप है। शातं पापम्, शातं पापम्।'

'मैं खाद्य-विक्रय को मिटा दूँगा।'—मेरी मुट्ठियाँ बँध गईं।

'कुमार को क्या हो गया है?'

भोले छन्ना के कोष में इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न कहाँ!

× × ×

यशोधरा नहीं मानी।

मुझे अमरू-आच्छादित आसदी पर बैठना ही पड़ा।

'यश, क्या सचमुच रात हो आई है?'

'आर्यपुत्र विश्राम करें, दो प्रहर रात्रि बीत चुकी है।'

'यशोधरे, जीवन में विश्राम कहाँ?'

'देव के प्रश्नों का दासी क्या जवाब दे?'

'मैंने कितनी बार कहा—आर्ये, अपने को दासी न कहो। तुमने एक क्षण भी न माना।'

'दुखी न हों देव, मेरे देवी कहाने का समय अभी नहीं आया। लगता है, वह शुभ दिन दूर नहीं।'

और मैंने देखा—यशोधरा के अभिनील नेत्रों में बड़े-बड़े आँसू डबडबा आए हैं। बड़ी देर से जो रुलाई वह रोके बैठी थी, एक ज्वार की तरह उठी, और उस कंचनांगी की वेत्रयष्टि-देह को झकझोर गई। वह बोली—

'देवी के रहते, आज आर्य इतने अवसन्न क्यों हैं?'

'सुभगे! सायंकाल को राजोद्यान में जाते समय, मैंने एक त्रस्त, दुर्बलता-ग्रस्त व्यक्ति देखा। आर्य छंदक ने

बताया—यह वृद्ध है। और सुनो तो यशोधरा, छंदक ने कहा—सबके लिए वृद्ध होना अनिवार्य है। तब से मैं सोच रहा हूँ—वार्द्धक्य को कैसे मिटा दूँ ?'

'देव ! अपराध क्षमा हो, घटने-बढ़ने और बनने-मिटने की सतत क्रिया पर ही संसार निर्भर है।'

'उचित कहती हो, पर यशोधरा…।'

'रुक क्यों गए आर्य ?'

'और यश…'

'कहिए नाथ !'

'मैं सोचता हूँ…'

'देव सोचते हैं, क्या सोचते हैं ?'

'मैं सोचता था यशोधरा, एक दिन तुम भी वृद्धा हो जाओगी। तुम्हारे ये सावन-घन-से सघन केश श्वेत हो जायँगे यशोधरा। तुम्हारे ये आश्विन के निरभ्र नभ-से निर्मल नयन धुँधले-मंद हो जायँगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये पद्म-पुष्पों से कपोल मुरझा जायँगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये अविवर दंत एक-एक कर गिर जायँगे। मुख से…'

मैं आगे न कह सका।

पर यशोधरा रुक न सकी, बोली—'कपिलवस्तु की राजवधू जरावस्था से नहीं डरती कुमार ! जो अवश्यंभावी है, उसके लिए सोच क्या ? उसके लिए क्या शोक और क्या अनुताप देव !'

'किंतु, वह भी क्या जीवन, जिसमें जरावस्था हो ?'

'क्षमा हो देव, जीवन में ही जरा आती है। शैशव, यौवन और जरा—काल-गति के विराम-चिह्न हैं !'

'मनुष्य अवश्यंभावी दुर्दांत काल की गति फेर देगा !'

यश का मन लजवंती सा लजा गया। बड़ी बड़ी पलकें उन्मद बदलियों सी झुक आईं, बोली—'देव, रात बहुत बीत चली है।'

'तुम जाओ यशोधरा। राहुल जग जायगा।'

'देव !'

'देवी, तुमने एक दिन भी मेरी बात नहीं मानी।'

'देव—आर्यपुत्र ! शैवालिका भोजन लिए कब से खड़ी है।'

और—'भोजन' शब्द ने मुझपर वज्रपात किया।—'हाँ-हाँ, यशोधरा, वह वृद्ध रोटी का टुकड़ा माँग रहा था। वह रो-रोकर रोटी-रोटी पुकार रहा था।—एक कार्षापण दो, बाबा एक कार्षापण दो ! रोटी का टुकड़ा मिले अब या…! रोटी का टुकड़ा। मधुकंठिनि, उसका दीन स्वर अब भी मेरे कानों में गूँज रहा है। उस भूखे वृद्ध की जरा-जीर्ण प्रतिमा मेरी आँखों के सम्मुख प्रत्यक्ष खड़ी है, राहुल-माता !…

'वह अभागा अब भी भूखा होगा। तुमने कभी सोचा यश, लोग भूखे क्यों रहते हैं ? भूखे रहने को मजबूर क्यों हैं ? मैंने छन्न से कहा था—आर्य छन्न, राजकोष में कहते हैं, अनंत धनराशि है। कोटि-कोटि स्वर्ण-रौप्य मुद्राएँ हैं। इस वृद्ध को कुछ दिला देना।…

'तब छंदक ने उत्तर दिया—कोष पर राज-परिषद् का अधिकार है।'

'तो मैंने पूछा—राज-परिषद् क्या लोगों को भूखों मारेगी ?'

'ऐसा न कहें देव, राजपरिषद् सर्वोपरि सत्ता है। उसके अधिकार के विषय में प्रश्न उठाना, ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने के तुल्य है।'—छंदक ने यही कहा था, तन्वि ! यह छन्न यह न करो, यह न करो, यह न कहो, वह न कहो आदि के अतिरिक्त और भी कुछ जानता है या नहीं ?

'तब मैंने कहा—मेरा हीरकहार इसे दे दो छंदक। तो, उसकी विनम्रता बोली—कठोर राजाज्ञा है कि आप किसी बाह्य व्यक्ति से न संभाषण करें, न अन्य व्यवहार-संबंध ही रखें।

'तो, क्या चारुलोचने ! हम राजाज्ञा के बंदी हैं ? क्या सिद्धार्थकुमार किसी सत्ता के अनीतिपूर्ण आदेश का दास है ? क्या मैं इसीलिए राजपुत्र हूँ कि लोग भूख से तड़पें ?—तुम—तुम, यह क्या कहती हो कि राजाज्ञा लोक-हित के लिए प्रकाशित होती है। तो, तुम्हीं बताओ, लक्ष-लक्ष जनता को भूखा रखने में प्रजा का क्या हित देखा गया है ? मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ, यशोधरा, इसमें किसी अन्यायी वर्ग का लोभ रो रहा है। तुम मानो या न मानो, यशोधरा, मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि जन-जन को रोटी और रोटी के अधिकार निहित स्वार्थ वर्ग-विशेष द्वारा मुट्ठिबद्ध हैं।…

'सुकेशि, रात बीतनेवाली है, अंधकार जानेवाला है और नया उजेला आनेवाला है। कल का सूरज उगने दो। मैं कहता हूँ—सिद्धार्थ कहता है, कल का सूरज उगने दो। मैं अपनी आवाज उठाऊँगा। जिनके पेट खाली हैं, और जिनके अधिकार छिन गए हैं—उन सबको लेकर मैं परम भट्टारक के प्रासाद में प्रार्थी होऊँगा। यदि

महाराज और परिषद् ने मेरे विनम्र निर्वैर निवेदन को स्वीकार किया तो ठीक, और अस्वीकार किया तो याद रखो, यशोधरे, मैं तुम्हारे आभिजात्यवर्ग में वह आग लगाऊँगा जो सहस्राब्दियों तक नहीं बुझ सकेगी। सुहासिनि, मैं श्रेष्ठियों की उस सैन्य सुरक्षित बद्ध-मुष्टि को तोड़ दूँगा, और रोटी को आजाद करूँगा।'''

'विकल न हो राजकन्ये। सिद्धार्थ पागल नहीं हो गया है। प्रस्तुत प्रश्नों से पलायन करना 'जीवन' नहीं है। ''देवि ' देवि, वह वृद्ध इस समय कहाँ होगा? देखो न, कितनी प्रखर हिमवर्षा हो रही है। नीचे द्रुम-वल्लरियाँ तुषारपात के आघात से विच्छिन्न पड़ी हैं।'''गगनांगण में तारे काँप रहे हैं। तुम्हारे अरुण अधरों पर प्रकंप की लहर व्याप्त है। यशोधरा, कहो उस वृद्ध की क्या दशा होगी? उसके तन पर एक अधोवसन मात्र था। न जाने, वह कहाँ ठिठुर रहा होगा? ··

'जिसमें एक भी प्राणी भूखा है, वह कैसा जनतन्त्र है? जिसमें एक भी व्यक्ति नगा है, वह कैसा गणतंत्र है?'

'मैं ··मैं राजाज्ञा से द्रोह करूँगा। मैं उस वृद्ध के पास जाऊँगा। मध्यदेश का भावी सम्राट् एक साधारण व्यक्ति से मिलने में भी असमर्थ! वाह रे सम्राट्! हूँ ··हूँ ··हूँ ··देवि, मैं मूल को मिटा दूँगा ··मैं आयु की अवधि को मिटा दूँगा। परम भट्टारक प्रातःस्मरणीय महामहिम महाराज शुद्धोधन के राज्य में, जहाँ सुरापी सामंत और व्यभिचारी श्रेष्ठिगण प्रमाद प्रमत्त विचरते हैं— शाक्यवधू! वहाँ वृद्ध और अबल अपाहिज रोटी-रोटी को तरसते हैं। उत्तुंग अट्टालिकावती कपिला में, जहाँ कुल कन्याएँ प्रतिपल परिधान पलटती हैं, वहाँ मनुष्य अर्द्ध-नग्न मटक रहा है। ··और मैं कहता हूँ, आर्यावर्त्त की अमल एवं परम-पवित्र न्याय-परंपरा के नाम पर कहता हूँ, इस पुंजीभूत पाप का भार पुण्य श्लोक परम भट्टारक पर है, मुक्ष पर है, और यशोधरा, तुम पर है,'''और राहुल पर है, और छंदक पर है, और इस शैवालिका पर है, उस जीवातर देवदत्त पर है ''शैवालिके, शै वा लि के! ···मोदन' का थाल लौटा ले जाओ। शैवालिके, परम भट्टारक जनता को भूखों मारने के अपराधी हैं। अहा! देवी यशोधरा इसलिए सुवेशधारिणी सदलंकृता है कि कोटि-कोटि निस्सहाय नर-नारी नग्न रहने को बाध्य कर दिए गए हैं।'''कपिलवस्तु के इस नभचुंबी वातायन से मैं दसों दिशाओं के दासों को पुकार-पुकारकर कहता हूँ कि ओ,रे···ओ· तुम कैसे दास हो, जो यह भी नहीं जानते कि स्वामिनी और स्वामि-पुत्रों के कपोलों की लालिमा में तुम्हारा अपना अभिशोषित लहू छटपटाता रहा है। वे लाख लाख प्राणी, जिनके मांस-मज्जा से राजमहल आलोकित हैं, अब अधिक दिन बलि न बनेंगे। जिस पल वे एकत्र हो समवेत स्वर में अन्न, वस्त्र और अधिकार का विजयघोष लहराएँगे, उस दिन देखना यशोधरा, सिंहासन मूलच्छिन्न होंगे, और राजमुकुटों की नीलामी होगी। देवि, एक-न एक दिन महाराज, महारानी और नवजात युवराज को जन-समूह के आगे आगे विधवा कपिलवस्तु के राजमार्गों पर नंगे पैरों चलना पड़ेगा और 'जनता की जय' कहने को बाध्य होना पड़ेगा। पार्षद, पंडित और वेद-पाठी विप्रगण जनता को भ्रम में न रख सकेंगे। मैं कहूँगा, द्रव्य में नहीं, दरिद्र में नारायण है। स्वामी नहीं, जो सबका सेवक है, वही हरि-जन है। बदलेगा ··युग, दशा, दिशा और व्यवस्था बदलेगा। प्रारब्ध, परमेश्वर और पाप-पुण्य की परिभाषाएँ आमूल परिवर्तित होंगी। ''यशोधरे, काँप रही हो? अभी तो वह दिन दूर है·········

'जरा निकट बैठो देवबाला, मुझे न जाने, क्या हो गया है। आज की रात्रि मुझे न जाने, क्या क्या कह रही है। लगता है, कहीं दूर से कोई मुझे पुकार रहा है। हे पुकारनेहारे, मैं आऊँगा ··जरूर आऊँगा·· !

'देवि, सिंहद्वार पर शहनाइयाँ बजने लगी हैं, क्या भोर हो गया?···शैवालिके, आर्य छंदक को बुलाओ।···अब तुम जाओ राहुल-माता, कपिल-वस्तु का भावी युवराज जाग गया होगा, वह राज अम्बा की राह देखता होगा। ·· जाओ देवि, क्षमा करना, मेरी त्रुटियाँ मन में न लाना।'

और कोई मेरी पदांगुलियाँ पूजकर, ऊष्ण ओस बिंदु चढ़ा गई।

उसके जाने पर, मैं वैसा ही बैठा रहा। स्थिर, पर अस्थिर।···मैं बैठा ही रहा···! सम्मुख रथ था, राजपथ था···वृद्ध था···और मेरे कानों में गूँज रहा था—

'एक काषापन मिले बाबा ··इस जीव को रोटी का टुकड़ा दो अय बा ···।

मैं चौंककर उठ बैठा।

आज सीमा तोड़ बह निकले !

श्री कृष्णनदन पीयूष

बडी उम्मीद से जिनको सजाया मौन आँखो में
वही सपने अचानक आज बनकर अश्रु बह निकले !

वही तस्वीर तेरी थी, जिन्हे थी पालती आँखें,
मधुर सपने वही जिनके सहारे जी रहा था मैं
वे सपने ही हमारे प्यार की अतिम निशानी थे,
कि जिनके हर इशारे पर जहर को पी रहा था मैं

बडी उम्मीद से जिनको दिया था प्यार प्राणो का
वही जो प्राण के अपने, पराये आज बन निकले !

लुटाता ही रहा तुम पर सदा से प्राण को, मन को
बचाता पर रहा अबतक सदा से मूक सपनो को
पराये तो कभी भी हो नही पाये किसी के भी
बहुत विश्वास से पर देखती थी आँख अपनो को

बडी उम्मीद थी कि मोम-सा कोमल हृदय होगा
वही जो फूल से थे आज सहसा वज्र बन निकले !

जलन तो था लिया हँसकर, मरण भी एक दिन लेता
मगर गम है मुझे मजबूर सपनो की बिदाई का
जिन्हे अपना समझकर देखती आँखें रही अपलक
बहुत है गम उन्हे भी आज अपनो की जुदाई का

बडी उम्मीद से जिस अश्रु को रोका दृगो ने था
बडे ही बेवफा थे, आज सीमा तोड बह निकले !

आधुनिक चित्र-कला के विभिन्न रूप

श्री रामचंद्र शुक्ल, एम० एड०, पी० डिप्०

बीसवीं शताब्दी में राजा रवि वर्मा के पश्चात् चित्र कला का जो नया रूप सामने आया वह डा० अवनींद्रनाथ के बंगाल स्कूल का स्वरूप था। सन् १९४२ के आंदोलन के पहले तक उसका काफी प्रचार रहा, यद्यपि अमृत शेरगिल तथा यामिनी राय के चित्रों ने उससे काफी पहले कला के क्षेत्र में एक नया आंदोलन खड़ा कर दिया था जिसका विकसित रूप अब देखने को मिल रहा है। पिछले दस वर्षों में भारतीय चित्र कला ने एक अजीब करवट ली। बंगाल-स्कूल का कलास्रोत श्री नंदलाल बोस, क्षितीन मजुमदार, असित हाल्दार से होकर गोपाल घोष तथा ईश्वर दास तक पहुँचते पहुँचते हिचकियाँ लेने लग गया है, शायद और आगे अब नहीं घसीटा जा सकता। जो भी हो, भारतवर्ष के चारों कोनों में बंगाल स्कूल ने एक बार तो कला का प्रचार कर ही दिया और इसका सारा श्रेय डा० अवनींद्रनाथ ठाकुर और उनके सहयोगियों को है।



आधुनिक युग में चित्र कला के अनेक रूप हो गए हैं। बीसवीं शताब्दी के पहले भी ऐसे अनेक रूप चित्र-कला में खोजने पर प्राप्त होते हैं, परंतु एक साथ, एक ही समय में, कला के कई रूप बहुत कम देखने को मिलते हैं। भारत की संपूर्ण मुगलकालीन कला का रूप एक ही ढाँचे में ढला-सा प्रतीत होता है। मुगलकालीन चित्र देखते ही यह ज्ञान हो जाता है कि वह किस समय का होगा। इसी प्रकार बौद्ध, जैन और ब्राह्मण-कला भी एक साँचे में ढली प्रतीत होती है। यह बात आधुनिक कला के बारे में सत्य नहीं ठहराई जा सकती।

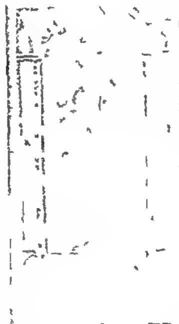
बीसवीं शताब्दी के तिरपन वर्षों में कला के अनेक रूप बने और बनते जा रहे हैं। प्राचीन काल में भारतीयों का संबंध संसार की अन्य सभ्यताओं से इतना घनिष्ठ नहीं था जितना आज है। इसलिए भारतीय संस्कृति और कला—दोनों पर उनका प्रभाव पूर्णरूप से पड़ रहा है। प्राचीन काल में सुविधाओं की कमी के कारण यह संपर्क इतना नहीं था। उस समय किसी एक देश की कला पर दूसरे देशों का प्रभाव नहीं मिल पाता। यदि आज ऐसी सुविधा है, और एक देश की सभ्यता और कला पर दूसरे देशों की सभ्यता और कला का प्रभाव पड़ता है तो वह अनुचित ही नहीं, बल्कि आवश्यक है।

चित्र-कला के प्राचीन रूपों तथा आधुनिक रूपों का भली-भाँति विश्लेषण करने पर, हमें तीन धाराएँ मुख्य जान पड़ती हैं—आलंकारिक रूप, वैषयिक रूप तथा सूक्ष्म रूप। हम इन्हें तीन प्रकार के चित्र कह सकते हैं—आलंकारिक चित्र, विषय प्रधान चित्र, और सूक्ष्म चित्र। इन तीनों प्रकार के चित्रों में किसका स्थान सबसे ऊँचा है, यह निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि तीनों प्रकार के चित्र प्रत्येक देश-काल में पाए जाते हैं। कभी किसी का प्रचार अधिक रहा, कभी किसी का। आधुनिक यूरोप में सूक्ष्म चित्र अधिक प्रचलित हैं और भारत में वैषयिक चित्र का अभी तक प्रचार रहा है, परंतु अब ऐसा लगता है कि चित्रकारों का दृष्टिकोण सूक्ष्म चित्रण की ओर उन्मुख होता जाता है। आलंकारिक चित्र इस समय बहुत कम बन रहे हैं।

आलंकारिक चित्र

जिस समय जो देश धन धान्य से सम्पन्न और आनन्दमय रहता है, उस समय वहाँ की कला तथा जीवन—दोनों में अलंकार का महत्त्व सबसे अधिक होता है। भारतवर्ष के इतिहास में जब जब ऐसा समय आया है, यहाँ की कला में अलंकार की मात्रा बढ़ी है। गुप्त-काल की मूर्ति कला, चित्र-कला—दोनों में अलंकार प्रधान है। मुगलकालीन चित्रों का तो अलंकार प्राण ही है। उस समय के चित्रों से अगर अलंकार को हटा दिया जाय तो शायद वे चित्र बहुत निम्न कोटि के हो जायँगे।

आलंकारिक चित्र इस समय अधिक नहीं मिलते। विख्यात भारतीय चित्रकारों में से बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रकार के चित्र बनाए हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के चित्रों के निर्माण का अभी युग ही नहीं है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रकार के चित्र लोगों को रुचिकर नहीं लगते, प्रत्युत उनके पास इतना समय नहीं है और न उनकी मन स्थिति ही ऐसी है कि ऐसे चित्र बना सकें। इधर के चित्रकारों में यामिनी राय, राचशु तथा सुधीर खास्तगीर के कुछ चित्र आलंकारिक कहे जा सकते हैं। यामिनी राय के चित्र अपनी आलंकारिकता के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका 'तुलसी पूजन' आलंकारिक कोटि का एक सफल चित्र कहा जा सकता है। खास्तगीर के चित्रों में अलंकार, नृत्य तथा संगीत के लय का स्वरूप मिलता है। यही बात उनके रंगों के सम्मिश्रण में भी पाई जाती है। इसकी पुष्टि हम उनके 'सम्मिलित नृत्य' वाले चित्र से कर सकते हैं। राचशु के अधिकांश चित्रों में रेखाओं के रूप में सूक्ष्म अलंकरण, बहुत कुशलता से व्यक्त होते हैं। इनके चित्रों पर मुगल तथा राजपूत अलंकरण-पद्धति की पर्याप्त छाप है। इनकी 'सरस्वती' इन्हीं पद्धतियों से निर्मित उच्च कोटि की कला-कृति है। यद्यपि भारत की ग्राम्य कला आज भी अलंकार प्रधान है तथापि उसमें विषय-सौंदर्य की भी एक निराली झांकी रहती है।



अलंकृत सरस्वती

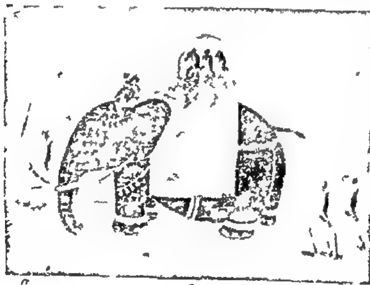
विषय-प्रधान चित्र

वे सभी चित्र जिनमें आलेख्य रूपों तथा भावों को चित्रबद्ध कर पहचानते हैं, विषय प्रधान चित्र कहलाते हैं। संसार में प्रारम्भिक काल से ही विषय प्रधान चित्र पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। विषय प्रधान चित्र में चित्रकार अधिकतर प्रकृति के स्वरूपों को अथवा उससे संबद्ध भावों को ही स्थान देता है। उदाहरणस्वरूप, किसी प्राकृतिक दृश्य का चित्र, जिसमें पृथ्वी, आकाश, जीव जन्तु, पेड़-पौधे, पत्थर, नदी, झरना आदि चित्रित हों अथवा एक व्यक्ति ही चित्रित हो जैसे एक ग्रामीण या अभिसारिका का चित्र। इस प्रकार के चित्र विषय प्रधान चित्र ही कहलाएँगे। इसी प्रकार अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की विभिन्न परिस्थितियों के चित्र भी बनाए जा सकते हैं, यदि कोई भाव या दर्शन छिपा हो। भारतीय चित्र कला में सरस्वती की चार भुजाएँ और विष्णु के चार हाथ और उनके विभिन्न रंगों का आलेखन प्राप्त होता है। सरस्वती के चार हाथों में से एक हाथ में पुस्तक, दूसरे में वीणा, तीसरे में कमल और चौथे में माला अंकित है। यहां ये चारों हाथ सरस्वती की चार शक्तियों के द्योतक हैं। श्वेत वर्ण उनके ज्ञान का द्योतक है। इसी प्रकार विष्णु के चारों हाथ और श्याम रंग उनकी शक्तियों तथा उनकी प्रकृति के द्योतक हैं। इस तरह प्रकृति के रूपों द्वारा ही चित्रकार चित्र में कोई भाव भर सकता है। इस प्रकार के चित्र भी विषय प्रधान कहलाते हैं। विषय प्रधान चित्र ही चित्रकारों का सर्वाधिक प्रिय विषय रहा है। विषय प्रधान भारतीय चित्रों में प्रायः कोई न कोई भाव अवश्य मिलता है, परन्तु पाश्चात्य देशों में अधिकतर वस्तुओं के प्राकृतिक रूप को ही विभिन्न ढंगों से बनाया गया है। अजंता, राजपूत, मुगल, जैन तथा कांगड़ा-कलाएँ—सभी विषय प्रधान चित्रों की श्रेणी में आती हैं। ऋतुओं के

चित्र, रसों के चित्र राग रागनियों के चित्र भी विषय प्रधान चित्र के ही अंतर्गत हैं।

विषय प्रधान चित्र बनाने के पहले चित्रकार यह भली-भाँति सोच लेता है कि वह किसका चित्र–किसका प्रतिरूप बनाने जा रहा है। वह जानता है उसे वृक्ष का रूप बनाना है, मनुष्य का रूप बनाना है या ईश्वर का रूप बनाना है। परमात्मा तो सूक्ष्म है, उसका चित्र बनाना तो सूक्ष्म चित्र बनाना कहा जा सकता है, परंतु यह भी विषय प्रधान चित्र है और इसमें भी परमात्मा पहले आ जाता है, फिर उसका चित्र। परमात्मा या देवी देवताओं के रूपों को भी मनुष्य का सा रूप दे दिया गया है जिसमें उनके चित्र बन सकें। चित्र बनाने से पहले चित्रकार के मन में जो भाव या वस्तु आती है, उसी भाव या वस्तु का प्रतिरूप चित्र होता है, और वह चित्र विषय प्रधान हो जाता है।

इस प्रकार विचार करने से तो यही कहा जा सकता है कि चित्र विषय प्रधान ही हो सकता है, और उसका कोई दूसरा प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि जितने भी चित्र बनते हैं उनमें चित्रकार किसी-न किसी वस्तु या भाव का रूप अवश्य बनाता है। इसीलिए आदिकाल से बीसवीं शताब्दी तक अधिकतर चित्र विषय प्रधान ही बने और आज भी बन रहे हैं। हम जो देखते हैं, जो सोचते हैं, उसी का चित्र बनाते हैं। इसके अतिरिक्त हम और क्या कर सकते हैं?



सामन्ती की सवारी

सूक्ष्म चित्र

निर्माण और पुनर्निर्माण में अंतर है। पुनर्निर्माण उस स्थिति को कहते हैं जहाँ हम उन वस्तुओं का निर्माण करते हैं जो पहले भी निर्मित हो चुकी हैं, अर्थात् जिनका निर्माण ईश्वर या प्रकृति ने किया है। परंतु निर्माण का अर्थ पुनर्निर्माण नहीं है। निर्माण का तात्पर्य यह है कि चित्रकार प्रकृति की भाँति स्वयं अदृश्य वस्तुओं का निर्माण करे अर्थात् कल्पना के आधार पर नए स्वरूप बनाए। इस प्रकार के चित्र को हम सूक्ष्म चित्र कहते हैं। यह आधुनिक युग की एक देन है।

ऐसे चित्रों में जो रूप बने हुए होते हैं वे किसी दूसरे वस्तु के या भाव के प्रतिरूप नहीं होते अर्थात् वे किसी वस्तु के रूप नहीं हैं, उनका नामकरण भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार के चित्रों को अप्रतिरूपक चित्र कहा जाता है। इनका आधार केवल मनुष्य की सहज रचनात्मक वृत्ति होती है। किसी वस्तु का पुनर्निर्माण नहीं, बल्कि सूक्ष्म, अज्ञात, अदृष्ट का निर्माण। वायु का कोई रूप नहीं दिखाई पड़ता, परंतु यदि उसे भी चित्रित किया जाय तो एक प्रकार का सूक्ष्म चित्र होगा, यद्यपि शुद्ध सूक्ष्म चित्र फिर भी न होगा, क्योंकि वायु एक ज्ञात वस्तु है, उसकी कल्पना हम पहले ही कर चुके हैं और उसी के आधार पर चित्र बनेगा।

सूक्ष्म चित्र बन जाने पर यदि हम उसका विश्लेषण करें तो उसमें कुछ गुण ऐसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं जैसे उनके प्राकृत स्वरूप में, यथा—आकार, व्यवस्थिति, वास्तुरूप, लय, छंद, संतुलन, गति इत्यादि। इस प्रकार से सूक्ष्म चित्र एक प्रकार के ज्यामितिक स्वरूप हो सकते हैं। सूक्ष्म चित्र-कला में केवल सूक्ष्म रूप, रंग तथा रेखाओं का प्रयोजन होता है। यह रूप, रेखा या रंग किसी और रूप या भाव का द्योतक नहीं होता। यह कोई अभिव्यक्ति भी नहीं करता। जिस प्रकार वर्षा ऋतु में उमड़ते घुमड़ते बादलों में नाना प्रकार के रूप बनते-बिगड़ते रहते हैं उसी प्रकार चित्रकार अपने चित्र में रूप, रंग तथा रेखाओं के सम्मिश्रण से

विचित्र विचित्र रूप बनाता है, जिनका कोई तात्पर्य नहीं रहता। ऐसे चित्र बनाने में चित्रकार की रुचि क्यों लगती है—इसका उत्तर केवल यही है कि उसके लिए रूप, रेखा तथा रंग खेलने के सामान हैं, उनसे वह खेलता है। जिस प्रकार वर्ष-डेढ़ वर्ष का बालक कभी पेंसिल पा जाता है तो कागज पर गोदता है और क्रीड़ा का आनंद लेता है, वह कुछ सोचकर, किसी वस्तु का चित्र नहीं बनाता, बल्कि रंग से खेलता है, वह भी नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है उसी भाँति आधुनिक चित्रकार रंगों, रूपों तथा रेखाओं से खेलता है, उसका कोई तात्पर्य नहीं होता। जिस तरह बालक हाथ में पेंसिल लेकर इधर-उधर चलाता है, उसी तरह चित्रकार भी करता है।

कला के आलोचक कभी कभी यह आरोप लगाते हैं कि आधुनिक चित्रकार केवल बालकों की भाँति चित्र बनाता है, उसमें कोई कार्य कुशलता नहीं होती। यह आरोप आधुनिक चित्रकार बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार करता है, और कहता है—'हाँ, यदि हम बालक की भाँति ही सोच सकते और चित्र बना सकते तो कितना अच्छा होता।' जीवन में, बाल्यकाल में मनुष्य जितना सुखी रहता है, उतना फिर कभी नहीं हो पाता। बालक का हृदय जैसा पवित्र और निर्मल होता है वैसा यदि कलाकार का हृदय हो तो उससे अधिक श्रेयस्कर वस्तु और क्या हो सकती है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि आधुनिक चित्रकार सूक्ष्म चित्र बनाकर *वैसा ही आनन्द* लेता है जैसा बालक अपने जीवन में। इस प्रकार के चित्रों का महत्त्व जितना कलाकार के लिए है उतना दर्शक के लिए नहीं है। परन्तु यदि दर्शक बालक के चित्रों में या उसके कार्यों में आनंद पा सकते हैं, तो निश्चय ही इस प्रकार के चित्रों में भी आनंद पा सकते हैं, यदि उसी स्नेह से चित्रकार के इन कार्यों का मूल्यांकन करें।

जिस प्रकार लीलात्मा परब्रह्म 'एकोऽहं बहु स्याम—मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' का विचार करता है, और सृष्टि में क्रीड़ा का आनंद लेता है, उसी प्रकार कलाकार सूक्ष्म रूपों को बनाकर उस कार्य में आनंद लेता है। जिस प्रकार सृष्टि के रूप किसी के प्रतिरूप नहीं हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म चित्र भी किसी के प्रतिबिंब नहीं। इस प्रकार की सूक्ष्म चित्र कला, चित्रकार के आनंद लेने का एक साधन मात्र है।



निर्माण और ध्वंस

इस प्रकार के चित्र बनाकर सभी व्यक्तियों को आनंद मिल सके या इस प्रकार के चित्रों को देखकर सभी दर्शकों को आनंद मिले—यह संभव नहीं। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति होती है, जहाँ पहुँचकर ही मनुष्य ऐसी कृति में आनंद ले सकता है। जिसको सचमुच आनंद आता है, वही इस प्रकार के चित्रों की रचना सदैव कर सकता है। जिस चित्रकार की मानसिक स्थिति इस प्रकार की नहीं है, वह इस प्रकार की चित्र-रचना में कभी संलग्न नहीं हो सकता। यदि इस स्थिति को हम मनुष्य की वह स्थिति कहें, जहाँ मनुष्य अपने मस्तिष्क को एकाग्र कर शून्य कर लेता है, जैसे, योगी पुरुष—तो अतिशयोक्ति न होगी। और ऐसे योगी पुरुष संसार में बहुत कम होते हैं। इसलिए यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्म चित्र कला का प्रचार होना असंभव है तो मिथ्या न होगा।

भारतीय अंकगणित

डॉक्टर अवधेशनारायण सिंह, डी० एस्-सी०

गणित हिंदुओं की प्रतिभा का किस परिमाण में ऋणी है—यह बात अभी ठीक ठीक विदित नहीं है। पर तो सभी स्वीकार करते हैं कि जिस आधार पर आधुनिक गणित की रचना हुई है उसे यूरोप में प्रवेश करानेवाले अरब के निवासी थे, और यह बात भी छिपी नहीं है कि अरबवालों ने उसे भारतवर्ष एवं यूनान (greece) से सीखा था। परंतु उस भारतवर्ष में गणित का क्या स्वरूप था—इसका विस्तृत विवरण अभी हाल ही में प्रकाशित किया गया है।[1] नीचे हम हिंदू गणित की कुछ प्रधान विशेषताओं पर ही विचार प्रकट करेंगे। इस छोटे से निबंध में सभी प्रकार के मत मतांतरों का उल्लेख नहीं किया जा सकता।

अंक-संकेत

प्राचीनतम ज्ञात काल से ही गणना का आधार १० रहा है। वस्तुतः संपूर्ण संस्कृत साहित्य में कहीं भी किसी अन्य आधार के व्यापक प्रयोग के चिह्न नहीं मिलते। यह भारतीय गणित की ही एक विशेषता है कि अत्यंत प्राचीन काल में भी बड़ी-बड़ी संख्याओं को व्यक्त करनेवाली अंक-संज्ञाओं की श्रेणियाँ मिलती हैं। जब यूनान वालों के पास दस हजार (मिरियड) और रोमन लोगों के पास एक हजार (मिली) से बड़ी संख्याओं को व्यक्त करनेवाली अंक-संज्ञाओं का अभाव था, तब भी हिंदू लोग १८ अंक-संज्ञाओं से कम का प्रयोग नहीं करते थे। ईसा की प्रथम शताब्दी में लिखे गए ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रंथ में १०^{५३} तक संख्याओं को व्यक्त करनेवाली अंक-संज्ञाओं की सूची मिलती है। आगे चलकर यह श्रेणी १०^{१४५} तक संख्याओं के लिए बढ़ा दी गई। हिंदुओं के साहित्य में बड़ी बड़ी संख्याओं का बाहुल्य है। प्रयोग में आई हुई सबसे बड़ी संख्या शीर्षप्रहेलिका नामक समय के मान को सूचित करती है। यह संख्या इतनी बड़ी बतलाई गई है कि यह १९४ स्थानों को घेरती है। यह संख्या (८,४००,०००)^{२८} है। इन बड़ी-बड़ी संख्याओं के प्रयोग के कारण ही दशगुणोत्तर एवं शत गुणोत्तर संख्या-संज्ञाओं की उत्पत्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई।।

इन अंक-संज्ञाओं का इतना ही महत्त्व है कि हिंदुओं के स्थानीय मान विषयक दशमलव संकेत (डेसीमल प्लेस वेल्यू नोटेशन) अथवा इसके समगोत्री स्वरूप शब्द संख्या संकेत (वर्ड न्यूमेरल नोटेशन) एवं कटपयादि संकेत आदि का उद्गम दशगुणोत्तर अंक संज्ञा श्रेणी ही है। क्योंकि चार हजार, तीन सौ, दो दहाई और एक कहने के स्थान में चार-तीन दो एक (अथवा एक दो-तीन चार, यदि छोटी संख्याएँ पहले कही जायँ) कहा जा सकता है। अंक-संज्ञा एवं कटपयादि संकेतों का प्रयोग करके हिंदुओं ने ठीक यही बात की है। पहले संकेत के अनुसार ४३२१ को चंद्र कर राम-वेद[2] से सूचित करते थे एवं दूसरे संकेत के अनुसार इसे क ख ग घ अथवा व ब र क[3] से सूचित करते थे। शब्द संख्या-संकेत का प्रयोग ईसा की चौथी शताब्दी में मिलता है और कटपयादि संकेत के प्रयोग के चिह्न ईसा की पाँचवीं शताब्दी-पूर्व तक मिलते हैं।

अंक-संकेत प्रायः उतना ही पुराना है जितना कि लेखन। शून्य एवं स्थानीय मान-विषयक सिद्धांत के आविष्कार के पूर्व ही अंक-लेखन के निमित्त स्थान-सूचक संकेतों की उत्पत्ति हो चुकी थी। शून्य के आविष्कार और स्थानीय मान विषयक सिद्धांत के प्रयोग ने अंक लेखन को अत्यंत सरल बना दिया है और इसी कारण आधुनिक गणित के उत्कर्ष का उत्तरदायित्व इन्हीं पर है। इनकी गणना मानव जगत् के महान् एवं अत्यंत उपयोगी आविष्कारों में की जा सकती है। शून्य एवं स्थानीय मान-

१ विस्तृत विवरण के लिए देखिए—हिस्ट्री ऑफ हिंदू मैथेमैटिक्स, लेखक डा० विभूतिभूषण दत्त और डा० अवधेशनारायण सिंह, भाग १ (१९३५) भाग २ (१९३७)।

२ यहाँ पर चंद्र=१, कर=२, राम=३ और वेद=४

३ यहाँ पर क=१, र=२, ब=३ और व=४

विषयक सिद्धांत (जहाँ तक कि दशमलव सिद्धांत से संबंध है) के आविष्कार को असंदिग्ध रूप से हिंदू-संपत्ति कहा जा सकता है। इन दो आविष्कारों का सारा श्रेय हिंदू मस्तिष्क को है।

शून्य के संकेत की, जिसे समस्त सभ्य समाज ने स्वीकार किया है, संपूर्ण सिद्धि भारतवर्ष में ईसवी सन् के प्रारंभिक काल में हुई थी। शून्य का प्रयोग पिंगल कृत छंद सूत्र में जो लगभग ईसा से तीन शताब्दी पूर्व लिखा गया था, मिलता है। गणित विषयक बख्शाली हस्तलिखित ग्रंथ ल० २०० ई०, सूर्यसिद्धांत, आर्यभटीय (४९९ ई०), पंचसिद्धांतिका (५०५ ई०) एवं आगे के अन्य गणित संबंधी ग्रंथों में स्थानापन्न अंक मिलते हैं। वस्तुतः ऐसा कोई गणित विषयक ग्रंथ नहीं है जिसमें इनका प्रयोग न मिलता हो। शिलालेख संबंधी प्रयोग प्रथम बार ५९५ ई० के एक शिलालेख में मिलता है। यह पता चला है कि ७वीं शताब्दी के मध्यकाल में ये अंक पूर्व में कंबोडिया तक पहुँच चुके थे। वहाँ ६०५, ६०६ और ६०८ शक के लिखे हुए शिलालेख मिलते हैं। पश्चिम में इनकी महिमा सीरिया तक पहुँची हुई प्रतीत होती है, क्योंकि वहाँ के विद्वान सैवेरस सेबोख्त ने इनके विषय में चर्चा की है।

गुणन

हिंदुओं ने इस संबंध में कई नियमों का प्रयोग किया है। यहाँ पर केवल दो का उल्लेख किया जायगा—(१) कपाट संधि और (२) स्थानखंड।

कपाट संधि गुणा करने का वह नियम है जिसमें गुण्य एवं गुणक का न्यास कपाट संधि की भाँति किया जाता है। मान लीजिए कि हमें १३५ को १२ से गुणा करना है तो हम इस क्रिया को निम्न प्रकार से करेंगे—

न्यास १२
१३५

पहले १२ को ५ से गुणा करेंगे। तत्पश्चात् ५ को मिटाकर उसे (अर्थात् १२×५) स्थापित करेंगे। इस प्रकार—

१२
१३६०

आयेगा। अब हम गुणक राशि अर्थात् १२ को एक स्थान बाईं ओर हटाकर लिखेंगे। इस प्रकार—

१२
१३६०

हुआ। पुनः १२ को ३ से गुणा करके पहले की भाँति ३ को मिटाकर (और ६ को उसमें जोड़कर) १२ के नीचे स्थापित करेंगे। इस प्रकार—

१२
१४२०

आया। पुनः १२ को एक स्थान बाईं ओर हटाने पर

१२
१४२०

और १२ को १ से गुणा करके, उसमें ४ जोड़कर पहले की भाँति १२ के नीचे स्थापित करने पर—

१२
१६२०

आया। अतः १६२० इष्ट गुणनफल हुआ। यह क्रिया लकड़ी के एक आयताकार टुकड़े पर जिसे पाटी कहते हैं, की जाती थी। आवश्यकता पड़ने पर लिखे हुए अंक मिटा दिए जाते थे और उनके स्थान में दूसरे अंक स्थापित किए जाते थे। इस नियम के कई भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। यह नियम अरबी ग्रंथकारों, जैसे—अल्ख्वारीज्मी (८२५ ई०), अल्नसवी (१०२५ ई०), अल्हस्सार (११७५ ई०) इत्यादि ने भी दिया है। अल्नसवी ने इसे 'तरिक अल् हिंदी' अर्थात् 'हिंदुओं का नियम' कहा है। यूरोप में यह मैक्सिमस प्लैनूडेस के ग्रंथों में मिलता है।

स्थानखंड वही नियम है जो आजकल प्रचलित है। इसकी क्रिया के विषय में भास्कर द्वितीय (११५० ई०) लिखते हैं—

'स्थाने पृथग्वा गुणितः समेतः'—लीलावती, १५ (४)

अर्थात्—'(गुणक के) स्थानों से (गुण्य को) गुणा करो और (यथास्थान रखकर एक साथ जोड़ लो)।'

ब्रह्मगुप्त से लेकर आगे के सभी गणितवेत्ताओं के ग्रंथों में यह नियम मिलता है।

विभाजन

भाग देने का आधुनिक नियम हिंदुओं का ही है। यह नियम हिंदुओं के सभी ग्रंथों में वर्तमान है। श्रीधराचार्य (७५० ई०) ने इस नियम को इस प्रकार समझाया है—

'यदि संभव हो तो हर और भाजक को तुल्य राशि से अपवर्तित करके (नहीं तो ऐसे ही) परमातिम स्थान से आरंभ करके (अर्थात् प्रतिलोम से) भाजक को क्रम से (हर द्वारा) भाग देना चाहिए।'

वर्गमूल एवं घनमूल

वर्गमूल एवं घनमूल निकालने के नियम आर्यभटीय में और आगे के सभी ग्रंथों में मिलते हैं। आधुनिक नियम इन्हीं के संक्षिप्त रूप हैं। यूरोप में हिंदुओं के इन नियमों का प्रवेश भी अरबों द्वारा हुआ। वहाँ ये नियम अविकल रूप में परवच (१४२३-१४६१), चुके (१४८८), ला रोशे (१५२०), कैटनो (१५४६) आदि के ग्रंथों में मिलते हैं।

त्रैराशिक

त्रैराशिक के जन्मदाता भी हिंदू हैं। त्रैराशिक शब्द का अर्थ है—तीन राशियाँ। अंगरेजी में इसे 'रूल आफ थ्री' कहते हैं जो त्रैराशिक शब्द का कोरा अनुवाद है। आर्यभट प्रथम (४९६ ई०) ने इस नियम को इस प्रकार दिया है—

'त्रैराशिक में 'फल' राशि को 'इच्छा' राशि से गुणा करो और 'प्रमाण' राशि से भाग दो। इस प्रकार 'इच्छा फल' (अर्थात् इष्टफल) आ जाता है।'

अन्य गणितज्ञों ने भी राशियों के यही नाम दिए हैं। केवल आर्यभट द्वितीय ने इसमें कुछ परिवर्तन किया है। वे कहते हैं—

'प्रथम राशि 'मान' कहलाती है, मध्यम राशि 'विनिमय' कहलाती है और अंतिम राशि 'इच्छा' कहलाती है। प्रथम और अंतिम राशियाँ सजातीय होती हैं। अंतिम राशि को मध्य राशि से गुणा करके प्रथम राशि से भाग देने पर फल निकलता है।'

अँगरेजी लेखक डिगेश (१५७२) ने भी यही लिखा है।

प्रश्न

आधुनिक अंकगणित के अधिकांश प्रश्न हिंदुओं के हैं। नीचे हम दो उदाहरण उपस्थित करते हैं जिनके आनयन ब्रह्मगुप्त (६२९ ई०) ने दिए हैं।

(१) यदि किसी धन स पर ट महीने का ब्याज प है तो धन कितने समय में व गुणित हो जायगा ?

(२) चार नल एक हौज को क्रम से १, ½, ⅓ और ⅙ दिन में भर देते हैं। यदि वे एक साथ खोल दिये जायँ तो वे उसे कितने समय में भरेंगे ?

दो लघु गीत : श्री शंभूनाथ सिंह

(१)

हैं झर रहे फूल बीते क्षणों के !
तेरी चकित दृष्टि
करती सुधा-वृष्टि
छिपकर सघन कुंज से गत दिनों के !
तेरे चरण - छंद
बन काल-स्वच्छंद
भरते त्वरित पंथ को वचनों के !
तेरी धवल छाँह
संगिनि बनी राह—
पर पोंछती अश्रुकण लोचनों के !
तेरे सपन आँज
निज में, नयन आज
हैं देखते पार तममय घनों के !
हैं झर रहे फूल बीते क्षणों के !

(२)

हॉल - बीच सन्नाटे में ज्यों गूँज उठे आवाज !
झपकी की दुनिया में वैसे झमक उठीं तुम आज !
भीड-भरे मंदिर में जैसे
उठे अगरु की गंध
धूपछाँह की झिलमिल में त्यों गमक उठी तुम आज !
धूल-भरी अंधी आँधी में
ज्यों बिजली की कौंध
थकी उनींदी आँखों में त्यों चमक उठी तुम आज !
दोपहरी में चलते-चलते
जैसे रुके बयार
दिवास्वप्न में चलती-सी त्यों थमक उठी तुम आज
एवरेस्ट पर, अतलातक में
दीप्त एक ज्यों चाँद
मेरे माथे पर, मन में, त्यों दमक उठी तुम आज !

महादेवी की कविता

श्री गंगाप्रसाद पांडेय

अपने नाम के साथ जिस महा के महत्त्व को लेकर महादेवी चली हैं, वही महत्त्व उनके काव्य में भी परिलक्षित होता है।

आनंद, ओज एवं मार्दव की जिस त्रिगुणात्मक कला प्रकृति से भारती मंदिर का छायायुगीन निर्माण प्रसाद, निराला तथा पंत के द्वारा हुआ, उसके पूर्ण उत्कर्ष-काल में महादेवी ने काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। इस भावधारा की कलेवर वृद्धि का श्रेय केवल उसके वार्द्धक्य का ही कारण बनता। अतएव महादेवी ने उसमें ऐश्वर्य की प्राण प्रतिष्ठा की और उसे ऐश्वर्यशाली बनाकर महिमान्वित किया।

वास्तव में महादेवी के काव्य का रंगस्थल ऐश्वर्य ही है। महादेवी के सहयोग से छायायुग ऐश्वर्य, आनंद, ओज तथा मार्दव की अंतरंग तथा बहिरंग चतुरंगिणी से सुरक्षित और सज्जित शोभित है।

यह सर्वविदित है कि आदिकाल से लेकर आजतक अपने ऐश्वर्य के आकलन तथा स्थापन के ही माध्यम से मनुष्य चेतना के इस स्तर तक पहुँचा है। यों अन्य जीवों की भाँति वस्तु-तथ्य मनुष्य का भी प्राप्य तथा संबल है, किंतु उसका भाव तथ्य—उसका सार सत्य ऐश्वर्य ही है। कहना न होगा कि ऐश्वर्य का लक्ष्य अभावों की पूर्ति न होकर महत्त्व तथा महिमा की उपलब्धि है। मनुष्य की यह ललकार स्मरणीय है—भूमैव सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।

उस दिन की कल्पना कीजिए जिस दिन मनुष्य ने चतुष्पद जीव श्रेणी में जन्म पाया और सीना तानकर दो पैरों पर खड़ा हो गया। मनुष्य के अपने ऐश्वर्य-प्रकाशन का यह प्रथम सोपान था—इसमें संदेह नहीं। शरीर और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करके अपनी आंतरिक स्वतंत्रता का यह पहला सक्रिय उद्‌घोष कम आश्चर्य का विषय नहीं। यद्यपि अन्य जीवों की अपेक्षा इस विद्रोह के कारण उसे बहुत-सी शारीरिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं तथापि उसने अपने शरीर की अपेक्षा मन की विजय स्वीकार की और जीवों के बीच अपनी विजय का ध्वजा फहराया। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है। मूल पंचभूतों का श्रेष्ठतम समन्वित विकास केंद्र बनकर इससे कुछ कम वह करता भी क्या? प्राय प्रत्येक प्रकार की गति में प्रभाव डालनेवाले अपने आकर्षण की चेतना से ही धरती माता ने भूमिवासी जीवों का चतुष्पद प्रजनन किया था। संतान का हठ और उसके साहस को देखकर ही मानवी माता ने आगामी संतानों की द्विपदता स्वीकार की हो, तो आश्चर्य नहीं। हमारे यहां शास्त्रों ने जीव-योनियों का विकास उनके मानसिक विकास के ही अनुसार माना है। कहते हैं, विकासवादी डारविन भी वृक्षों में पैने काँटों की स्थिति को वृक्षों के रक्षा-भाव का ही परिणाम मानता है। जो भी हो, मनुष्य की स्वनिर्मित द्विपद व्यवस्था उसके अदम्य ऐश्वर्य का ही प्रतीक है।

दो पैर से सीधा खड़े होने की क्रिया में मनुष्य को असुविधाओं के साथ कतिपय सुविधाएँ भी प्राप्त हुईं। एक ही रेखा में अपनी शारीरिक गति को संचालित कर सकने की अपेक्षा वह वृत्त गति का अधिकारी बना और अपनी आँखों का चतुर्दिक् प्रसार प्राप्त किया। उसने चारों तरफ दृष्टि निक्षेप किया नहीं कि अपने को केंद्र में स्थित पाया। उसने यह भी देखा कि चतुर्दिक् बिखरी वस्तु राशि में एक प्रकार का तारतम्य और संबंध है। आगे चलकर मनुष्य की यही दृष्टि-अनुभूति उसका दर्शन बनी।

उसने इतने ही से संतोष नहीं किया। कर्म और दर्शन की स्वतंत्रता के पश्चात् उसने मानसिक स्वतंत्रता—कल्पना का विधान किया, जो जीवों में एकमात्र मनुष्य की ही विशेषता है। इस कल्पना के द्वारा देश और काल के परे पहुँचने की भी क्षमता उसने प्राप्त कर ली। एक होकर भी वह अनेक और अनंत की अनुभूति प्राप्त करने लगा और सहसा व्यक्तिगत छोड़कर विश्वगत बन बैठा। मनुष्य के इस विकासतत्त्व की नाप-

तोल और विश्लेषण संभव नहीं। स्वतःस्फूर्त आत्मचेतना की तरह, अभीतक वैज्ञानिक भी नहीं बना सके।

भारतीय मनीषियों ने इसे सत्य का स्वयंप्रकाश और मनुष्य की आत्मोपलब्धि कहा है। यही उसकी चरम प्राप्ति है। चूँकि इस सत्य का साक्षात्कार मनुष्य के माध्यम से हुआ है, इसलिए यह समझना सहज है कि आदि-अंत-हीन सत्य परमतत्त्व मनुष्य के माध्यम से अपने को प्रतिष्ठित करना चाहता है। वस्तुतः मनुष्य का स्वभाव शाश्वत सत्य के अनुकूल बनते चलना है। मनुष्य के सारे ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, साहित्य उस सत्य की पूर्ण प्राप्ति के ही माध्यममात्र हैं, स्वार्जित निधियाँ हैं, ऐश्वर्य-स्थापनाएँ हैं।

साधारणतः मनुष्य की दो स्थितियाँ हैं—एक प्रत्यक्ष शारीरिक और दूसरी मानसिक एवं आध्यात्मिक। इसी बात को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य के भीतर दो भाव हैं—एक उसका जीवभाव और दूसरा उसका विश्वभाव। जीवभाव आशा और तृप्ति के प्रयोजन की प्रदक्षिणा करता भटकता रहता है, किन्तु विश्वभाव एक आदर्श को लेकर जीवित रहता है। वह आदर्श उसके अंतर का आह्वान—एक रहस्यमय निर्देश है।

ऋग्वेद ने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

जीवगत प्रक्रिया में उसका केवल चतुर्थांश परिलक्षित होता है, बाकी वृहत् अंश अमृतरूप ऊर्ध्व में है। मनुष्य इस तत्त्व को प्राप्त करने की साधना में संलग्न है। अहं को लेकर जिस प्रकार वह अहंकार का स्तूप खड़ा करता है, उसी प्रकार अहं से वियुक्त आत्मा में भूमा की उपलब्धि भी वह कर सकता है। उपनिषद् में कहा गया है कि संभूति और असंभूति के साधनात्मक समन्वय से ही सत्य का रहस्य स्पष्ट होता है। सहज जीवन में भी प्रायः प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि बाहर जो कुछ भी वह है, भीतर उससे बहुत बड़ा है। ठीक इसी तरह जैसे किसी एक मनुष्य से निखिल मनुष्यता बहुत बड़ी है। आशय यह कि मनुष्य एक ओर मृत्यु के अधिकार में है तो दूसरी ओर अमृत के, एक ओर वह व्यक्तिगत सीमा में बंदी है तो दूसरी ओर विश्वगत विराट में मुक्त। मनुष्य स्वयं जानता है कि तद्दूरे तदन्तिके च—वह दूर भी है, पास भी है। इसीलिए मनुष्य का जो संसार उसके अहं के क्षेत्र में है, उसे वह सीमित करता है, किंतु जो संसार उसकी आत्मा के क्षेत्र में है, उसे असीमित बनाता है। उसकी सार्थकता भूमा में है, जहाँ मनुष्य की विद्या, मनुष्य की साधना समस्त काल के समस्त मनुष्यों को लेकर सत्यरूप में प्रतिष्ठित होती है। मृत्यु के मध्य से अमृत की स्थापना में मनुष्य का चरम ऐश्वर्य उद्भासित होता है—

अप्रतिष्ठितं वै किल ते साम,
अनवद् वै किल ते साम।

आदि-भूत की सीमा में जो प्रश्न उलझ गया था, वह उसकी सीमा पार कर आगे निकल गया। संभवतः इसी कारण जीवों के बीच केवल मनुष्य ही अमिताचारी बन पाया है। वह अमित पाना चाहता है, अमित देना चाहता है, जो उसके भीतर प्रतिष्ठित अमित मानव का ही प्रकाशमात्र है। उपनिषद् में भगवान के संबंध में एक प्रश्नोत्तर है—स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित। वह कहाँ प्रतिष्ठित है? इसका उत्तर है—स्वे महिम्नि। अपनी महिमा में। मनुष्य भी अपनी महिमा में आनंदित होता है। किंतु विशाल भूमिका में अपने भीतर के सत्य को प्रकट करना चाहता है। पग-पग पर सीमा को मानकर चलने से चेतना विज्ञान की क्या, भौतिक विज्ञान भी कभी का ठप हो गया होता। संसार की गति का कारण मनुष्य की सहज सीमित अवस्था और उसके असीमित स्वभाव का द्वंद्व ही है। सहज सीमा में वह अपनी जीविका का आयोजन करता है और स्वाभाविक असीमता में अपनी महिमा का, अपनी विराटता का, अपने ऐश्वर्य का प्रकाशन। कहा गया है कि 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्।' मानवधर्म का गंभीर तत्त्व गोपन में अवस्थित है। मनुष्य का देहधर्म 'यही मैं' प्रत्यक्ष है, और स्वभावधर्म 'वही मैं' अप्रत्यक्ष। इन दोनों के बीच के ऐक्य को समझकर ही उपनिषद् ने उपदेश दिया था—अविरोध विदितम्।

आधारभूत इस सृष्टिगत एकता और एकात्मकता का बोध प्राप्त करने के बाद मनुष्य ने अपने भीतर छिपे हुए रहस्य के उद्घाटन की सतत चेष्टा में तल्लीन हो गया। उसने सोचा कि जीवन, जगत् तथा मनुष्य की वास्तविक पहचान इस रहस्य के उद्घाटन से ही संभव है। पिछली मानवता इसी प्रथा में आगे बढ़ती आई है

और अपनी पूर्ण सफलता तक बढ़ती जायगी। वेद ने मनुष्य की इसी प्राप्ति को 'ऋत सत्यम्' कहा है। प्रकृति प्रदत्त सीमा को पार कर अपने आत्मिक सौंदर्य को प्राप्त करने में ही उसकी सार्थकता है। इस दृष्टि से अखिल विश्व मानव के मन की भूमिका में प्रतिष्ठित हो जाता है। समस्त सृष्टि के बीच एक ही आत्मा को अपने भीतर अनुभव करना ही इस पथ की ऐश्वर्यमयी सीमा है।

दर्शन और काव्य—दोनों के माध्यम से मनुष्य ने इस धाम के पाने का प्रयास किया है। महादेवी मुख्यतः कवि हैं, किंतु उनकी कविता दर्शन से समन्वित और सुगठित है। उनके काव्य में कवित्व के साथ साथ दर्शन की भी अलग महत्ता है। कतिपय विद्वानों की राय है कि कवित्व और दर्शन का सम्मिश्रण सुकर या संभव नहीं होता, किंतु मुझे इन दोनों के विरोध की कोई संभावना नहीं जान पड़ती। कवि सौंदर्य का साधक होता है और दार्शनिक सत्य का शोधक। यों भी सौंदर्य सत्य का उत्पादक है और सत्य सौंदर्य का रक्षक। आशय यह है कि सौंदर्य और सत्य के पथों का पर्यवसान एक ही चरम केंद्र सत्ता में होता है। जो भी हो, महादेवी ने काव्य और दर्शन का बहुत ही संतुलित स्वरूप ग्रहण किया है, तभी उनका सर्वांग्य उस परमतत्त्व की खोज तथा उपासना एवं उसकी पूर्ण प्राप्ति का सुंदर सोपान है। कवींद्र रवींद्र ने कहीं पर ऐसा कहा है—भारत में दर्शन का काव्य से शाश्वत संबंध रहा है, क्योंकि यहाँ के दर्शन का उद्देश्य जन-जीवन का आध्यात्मिक उत्कर्ष है, न कि तर्कजाल की गुत्थियों में उलझाकर उनके सुलझाने की चेष्टा में विद्वत्ता-प्रदर्शन। महादेवी का दर्शन तर्कजाल नहीं, वरन् आत्मा की जीवनव्यापी भावात्मक अनुभूति का सुफल है। कहना न होगा कि उनका दर्शन उतना ही व्यापक और महान है, जितना उनका कवित्व। उनका दर्शन यदि सत्य का बोध है तो उनका काव्य उस सत्य का सौंदर्य प्रसाधन। यह विशेष महत्त्व की बात है कि महादेवी का दर्शन उनके काव्य की कलात्मकता से उसी प्रकार करुण-कोमल है जिस प्रकार उनका अश्रु सिंचित आत्म भाव-कोमल कुसुम। इस स्थल पर महादेवी ज्ञानयोगी की अपेक्षा भावयोगी हैं।

भारतीय दर्शन के सारतत्त्व गीता में जीव की चरम शांति के तीन मार्ग निर्दिष्ट हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग (भावयोग अथवा प्रेमयोग)। महादेवी प्रेमयोग को ही उसकी प्राप्ति का साधन मानती हैं। प्रेम, भाव और क्रिया की ऐसी संयुक्त-समन्वित जीवन स्थिति है जो ज्ञान और कर्म को, सहज ही अपने में समाहित कर लेती है। प्रेम कर्म का त्याग नहीं, गुरुतम ग्रहण है, क्योंकि कर्म ही प्रेम की लीला है। प्रेमी के व्यक्तित्व का उन्मेष कर्म से ही होता है। उसके साथ ही यह भी ठीक है कि कर्मों की द्विविधा का अंत भी प्रेम से ही संभव है, क्योंकि अद्वैत का आकलन प्रेम के ही द्वारा संभव है। यही प्रेम जीवन की मूल प्रेरक शक्ति है। प्रसाद ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

यह लीला जिसकी विकस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेमकला।

प्राणी की कोई भी प्रेरणा इसके अभाव में जीवित नहीं रह सकती। यही प्रेम श्रद्धा और विश्वास के दोहरे सविधान से जीवन के परमतत्त्व एवं चरम निष्कर्ष का परम अधिकारी बनता है। यह स्मरण रखना होगा कि ऐसा प्रेम कभी कर्मों का—संसार का त्याग नहीं हो सकता, बल्कि शत शत कर्मों-द्वारा वह अपने को प्रतिष्ठित, प्रमाणित तथा प्रकाशित करता चलता है। महादेवी ने लिखा है—

बन्दिनी बनकर हुई
मैं बंधनों की स्वामिनी-सी।

महादेवी ने अपने कर्म तथा काव्य के द्वारा विश्व की अनादि चरम-चेतन शक्ति का स्पष्टीकरण तथा भावन किया है। इस युग में कवींद्र रवींद्र तथा महादेवी का यही काव्य पथ है।

यह तो स्पष्ट है कि इस युग ने अपनी बौद्धिक तथा वैज्ञानिक उन्नति से मनुष्य में एक ऐसी अहंमिका भर दी जिसके परिणामस्वरूप वह अपनी चिर-सहचरी प्रकृति से अपने स्नेह-संबंध विच्छिन्न कर एक विजयी और विजित के स्वरूप में विहार करने लगा।

रवींद्र का काव्य, छायावादी काव्य, महादेवी का काव्य इसी अनर्थकारी भौतिकता के प्रति विद्रोह का स्वर है, सक्रिय संचरण है। आश्चर्य है कि कतिपय समालोचक इस युग की काव्यधारा का अँगरेजी की रोमांटिक काव्यधारा से मिलान करते हैं। विश्व के प्रथम महायुद्ध के पहले से लेकर उसकी विनाशकारी समाप्ति तथा दूसरे युद्ध की संभावना-स्थिति तक सारे संसार में भौतिकता के विरुद्ध जो भावात्मक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया हुई,

हमारा आधुनिक साहित्य उसी की सबल चेतना है। इस युग चेतना की परिव्याप्ति भारत के प्राय समस्त प्रांतीय साहित्यों में समान है। सृष्टि के अटूट नियम के अनुसार भौतिकता के ताडव नृत्य से विकंपित धरती में इस युग में भारत को ही चेतन स्वरों की सुरीली मनोमोहक तान छेड़नी थी। आश्चर्य कि देश का सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक जीवन संयुक्त रूप से एक ही तान लय में लवलीन होकर मुखरित हो उठा।

युद्धों की बर्बरता के युग में महात्मा गांधी ने राजनीति के क्षेत्र में, रवींद्र से प्रारंभ होनेवाली छायायुगीन चेतना को चरितार्थ किया। सत्य अहिंसा के स्नेहमय व्यवहारों से, अँगरेज-जैसे कूटनीतिज्ञों से स्वराज्य प्राप्त करना भारत की ही नहीं, विश्व की महत्तम आश्चर्यजनक घटना है। बीसवीं शताब्दी की मनुष्यता की यही विजय है। यों यह सृष्टिनियम का ही एक विधानमात्र है। प्रत्येक युग में जीवन के विकासशील तत्वों की उद्भावना कभी किसी मानव-समूह से, कभी किसी मानव समूह से अपना पथ प्रशस्त करती रहती है। हम तो इसे भी मानते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

वस्तुत छायायुग युग-चेतना का प्रतीक है—अखिल जीवन के विकास का स्वर-संधान अथवा मोड़ है। मनुष्य और शेष प्रकृति के बीच जिस साहचर्य, सौहार्द तथा संबंध की छायायुग ने स्थापना की, वह अद्वितीय होने के साथ इस भौतिक विज्ञानी युग में चेतन विज्ञान की प्रतिष्ठा का द्योतक, समर्थक और सजग प्रहरी है। दुःख है कि इस काव्य का व्यावहारिक उपयोग तथा सम्यक् समालोचन अभी तक नहीं हो सका। अन्यथा विश्व के विचारक तथा साहित्य पारखी इसकी प्रशंसा करते कभी न थकते। इस पयस्विनी के भगीरथ रवींद्र की दुंदुभि दुनिया में बज चुकी है। कुछ भी हो, अब समय आ गया है जबकि इस बात की घोषणा की जा सकती है कि भारतीय साहित्य का यह युग इस युग के विश्वकाव्य में श्रेष्ठ और सुंदरतम है। निस्संदेह बीसवीं शताब्दी की बाजी भारत की है।

कवींद्र रवींद्र ने गीतांजलि द्वारा जिस परमतत्त्व की भावात्मक रहस्यमयता का उद्घाटन किया था, महादेवी भी उसी पथ की पथिक हैं। आचार्य शुक्ल तक ने रहस्यवादी अनुभूतियों की सघनता में महादेवी को रवींद्र के साथ रखा है। यह स्मरण रखना होगा कि इन दोनों कवियों की भाव निकटता विभिन्न होते हुए भी दो विशाल पर्वतों की चोटियों की निकटता है। सच तो यह है कि भारती के इन दोनों पुजारियों में पूजा का विन्यास एक ही वर्णच्छटा से प्रोज्ज्वल और प्रगतिशील है। दोनों के काव्य-सुमनों में एक ही वर्ण, गंध, रस तथा सरसता की सुरभित समता प्रदर्शन का न तो यहाँ अवकाश है और न अवसर, किंतु इतना समझ लेना पर्याप्त है कि दोनों ही युग काव्य की रहस्यवादी धारा के युगल कूल हैं।

हाँ, तो रहस्यवाद एक प्रकार का प्रणय प्रशस्त काव्य पथ है। इस पथ का अनुसरण करने के लिए परमचेतन तत्त्व (ब्रह्म) पर आस्था और उसकी परमशक्ति पर विश्वास रखना आवश्यक है। महादेवी को यह आस्था अज्ञातरूप से शैशव में ही ममतामयी आस्तिक मा से मिल चुकी थी। कालक्रम से दर्शन के अध्ययन, प्रकृति के निरीक्षण और जीवन की वैराग्यमयी स्थिति ने उसे और भी दृढ तथा भास्वर बना दिया, तो यह स्वाभाविक ही कहा जायगा।

उनका विश्वास है कि एक ही चेतन से इस सृष्टि की रचना हुई है और वही उनका उपास्य, अत प्रियतम है। नारी-सुलभ कोमलता के कारण शक्ति और सौंदर्य के उस अनादि अजस्र स्रोत को महादेवी ने जो प्रेमाभयी आधार दिया है, और उस चिर-सुंदर से अपना प्रेम-संबंध स्थापित किया है, वह बहुत दिव्य, सुंदर और स्वाभाविक है। प्रकृति के विभिन्न अंशों का पारस्परिक आकर्षण पार कर महादेवी ने प्रकृति का पुरुष (ब्रह्म) के प्रति आकर्षण को अपना आधार बनाया है। यों तो संबंध का अपना अलग अलग महत्त्व है, पर प्रेम का ही संबंध मधुरतम होता है। प्रियतम और प्रियतमा की तन्मयता अन्यत्र कहाँ सुलभ-संभव है। महादेवी ने गर्व के साथ लिखा है—

प्रिय चिरंतन है सजनि
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।
श्वास में मुझको छिपाकर
वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया उसकी सजीली साध-सा बन,
छिप कहाँ उसमें सकी
बुझ-बुझ जली चल दामिनी मैं।

छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर,
धूलि में निज अश्रु बोने में पहर सूने बिताकर
प्रात में हँस छिप गई
ले छलकते दृग यामिनी मैं !
मिलन-मंदिर में उठा दूं जो सुमुख से सजल गुंठन,
मैं मिटूं प्रिय में मिटा ज्यों
तप्त सिकता में सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूं अभिमानिनी मैं !
दीप-सी युग-युग जलूं पर वह सुभग इतना बता दे,
फूंक से उसकी बुझूं तब क्षार ही मेरा पता दे,
वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं !
सजन सीमित पुतलियों पर
चित्र अमिट असीम था वह,
चाह एक अनंत बसती प्राण किन्तु ससीम-सा वह,
रज-कणों में खेलती किस—
विरज विधु की चांदनी मैं !

रहस्यवादी विश्वासों के साथ इस कविता में महादेवी ने मानव-जीवन में एक ऐसे ऐश्वर्य की अवतरणा की है, जो इस काव्यधारा को केवल उनकी देन है। उनका कहना है—मेरा प्रिय (ब्रह्म) चिरंतन है। मैं क्षण क्षण परिवर्तित होती हुई नवीन सुहागिनी हूँ। मैं वह चंचल विद्युद्गति आभा हूँ जिसे अपने श्वास में छिपाकर बादल-सा वह असीम प्रिय शून्य आकाश में छा गया। मैं उसकी सरस सजीली प्रेम की इच्छा के कारण उसमें छिपी न रह सकी, जल-जलकर बुझती रही और बुझ-बुझकर जलती रही। मैं वह रात्रि हूँ जो उस प्रकाशमय प्रिय की छाँह ओढ़कर अपना समय धूल में आँसू गराने में बिताती रही और प्रात काल प्रकाशमय होने के समय—प्रिय से मिलने के समय हँसकर छिप गई। यदि मिलन-समय में मैं अपने मुख से यह करुण घूंघट उठा दूं तो मैं उस प्रिय में उसी प्रकार मिट जाऊँ जिस प्रकार गरम बालू में पानी की बूँद। मैं अपने मधुर व्यक्तित्व का, अपनेपन को मिटाकर उसमें कैसे मिलूं? उसकी प्रियतमा होने का मेरा अपना अलग अभिमान है ऐश्वर्य है। मेरी इच्छा है कि मैं युगों तक दीप की तरह जलती रहूँ, पर जब मैं उसकी इच्छा से ही कभी बुझूं तब भी राख में मेरा अपनापन अक्षुण्ण रहे। वे सदा मेरे आराध्य रहें और मैं उनकी प्रेमिका, क्योंकि मेरी प्रेममयी सीमित आँखों में असीम का कभी न मिटनेवाला चित्र है और मेरे ससीम हृदय में उसे प्राप्त करने की अनंत अभिलाषा। धूल के कणों से निर्मित संसार में क्रीड़ा करती हुई मैं उसी दिव्य विधु (ब्रह्म) की चाँदनी हूँ।

ब्रह्म ज्ञान का चरम लक्ष्य मोक्ष महादेवी का साध्य नहीं। उनका तो कहना है—

क्यों मुझे प्रिय हों न बंधन ?
बीन बंदी तार की झंकार है आकाशचारी,
धूल के इस मलिन दीपक से बंधा है तिमिरहारी,
बांधती निर्बंध को मैं
बंदिनी निज बेड़ियाँ गिन !

रवीन्द्र ने भी यही कहा था—

वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय
असंख्य बंधन माझे महानन्दमय
लभिबो मुक्तिर स्वादु एइ वसुधार,
मृत्तिकार पात्रखानि भरि वारम्वार।

जीवन की ऐसी ही उद्भावनाएँ मनुष्य की विकासशील चेतना की साक्षी हैं, क्योंकि विकास का अर्थ ही यह है कि हम अपने आदर्श, कर्म, ज्ञान और प्रेम के द्वारा व्यक्ति-रूप से विश्वरूप में प्रतिष्ठित होना 'एकोऽहं बहु स्याम' को चरितार्थ करना है। इस विराट व्यक्तित्व का संग्रह करने के लिए संसार की सभी वस्तुओं, स्थितियों के प्रति एक सामंजस्यपूर्ण स्नेहिल स्वभाव की अपेक्षा रहेगी—यह निश्चित है। हमारे परमानंद की अनुभूति केवल तभी संभव है जब हम अपने को सबके साथ मिला हुआ पावें, अन्यथा नहीं। संभवत इसीका संकेत इस कविता में महादेवी ने किया है—

अलि, मैं कण-कण को जान चली।
सबका क्रंदन पहचान चली।
× × ×
इन आँखों के रस से गीली,
रज भी है दिवि से गर्वीली।
मैं सुख से चंचल दुख-बोझिल,
क्षण क्षण का जीवन जान चली।
मिटने को कर निर्माण चली ?

वे साहस और विश्वास के साथ कहती हैं कि उन्होंने सुख दुख के आँसुओं को जान लिया है और दुख को सुख बना लिया है। मैंने काँटे के उस पैनेपन को जो

उसके एकाकीपन का प्रतीक है, उसमें निहित मधुर भाव को समझ लिया है। इसीलिए मैंने जीवन को चिर गति का वरदान भी दे दिया है। मेरे आँसुओं से भींगा यह छोटा सीमित जीवन स्वर्ग से भी अधिक गर्वीला है। स्वर्ग में दुख का अभाव है और जीवन में एकरसता है। वस्तुतः मैं सुख से उदासीन और दुख से भरी हूँ। मैंने क्षण-क्षण के जीवन रस का आनंद लिया है और मिटने को निर्माण का रूप दिया है।

आधुनिक काव्यालोचन में महादेवी के आँसुओं का काव्यगत विधान कई प्रकार से आलोचित हुआ है, परंतु इसकी मार्मिकता की पकड़ नहीं हुई। महादेवी ने स्वयं उसे इस प्रकार स्पष्ट किया—

जिसकी विशाल छाया में
जग बालक सा सोता है,
मेरी आँखों में वह दुख
आँसू बनकर खोता है।

जग हँसकर कह देता है
मेरी आँखें हैं निर्धन।
इनके बरसाए मोती
क्या वह अवतक पाया गिन?

जिस दुख से संसार बेसुध होकर बालकों की भाँति निरुपाय है, वह मेरी आँखों में आँसू बनकर स्वयं नष्ट होता रहता है। संसार हँसकर कह सकता है कि मैं निर्धन की भाँति किसी भौतिक अभाव में रोती हूँ, किंतु वास्तव क्या किसी ने उन बहुमूल्य आँसुओं को गिनने का साहस किया है। और—

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक से ब्रीडा,
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकेंगे पीड़ा।

इस प्रकार महादेवी ने दुख को भी ऐश्वर्य से भर दिया है—

सख, यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा तेरा संग,
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु
सजीला-सा फूलों का रंग।

दुख के बीच मनुष्य को उसी प्रकार अपनी आत्मीय कुसुम-कोमलता संरक्षित करने का अवसर मिलता है जिस प्रकार काँटों से फूल सुरक्षित रहकर अपने को मिटता (झड़ता) देखकर भी दूसरों को सुगंधित कर जाता है। यही तो मार्मिक वेदना का वरदान है। विरहिणी पंकज-कली का चित्र देखिए—

पंकज-कली!
क्या तिमिर कह जाता करुण?
क्या मधुर दे जाती किरण?
किस प्रेममय दुख से हृदय में
अश्रु में मिश्री घुली!
किस मलय सुरभित अंक रह—।
आया विदेशी गंधवह?
उन्मुक्त उर अस्तित्व खो
क्यों तू उसे भुज भर मिली?
रवि से झुलसते मौन दृग
जल में सिहरते मृदुल पग
किस व्रतवती तू तापसी
जाती न सुख दुख से छली?
मधु से भरा विधुपात्र है,
मद से उनींदी रात है,
किस विरह में अवनतमुखी
लगती न उजियाली भली?
यह देख ज्वाला में पुलक,
नभ के नयन उठते छलक,
तू अमर होने नभ-धरा के
वेदना-पथ से पली।
पंकज कली! पंकज कली!

पृथिवी और आकाश के वेदना पथ से पली, विश्व के सुख से उदासीन, विरह के दुख में बेसुध पंकज-कली के गंभीर और सर्वांग चित्रण के द्वारा महादेवी ने अपने जिस कोमल-करुण व्यक्तित्व की व्यंजना की है, वह अपूर्व है।

'नीहार' से लेकर सांध्यगीत तक, प्रकृति के आँगन में प्रभात से लेकर सायंकाल तक वनदेवी की तरह गीत गानेवाली महादेवी का निसर्ग सुंदर संसार विजन वेदना से आकुल-व्याकुल है। यह वेदना किसी भौतिक अभाव की प्रतिक्रिया नहीं। इस क्षणिक जीवन के दुखों का तो एक-न-एक दिन नाश हो ही जाता है। बुदबुदों की तरह असंख्य प्राणियों के विलीन हो जाने पर भी न जाने कौन किस अगाध तल से झाँकने के कुतूहल की तरह नव नव जीवन का विस्तार करता रहता है। मानो, यह मानव

को पुन:-पुनः कुछ समझने के लिए, कुछ गुनने-धुनने के लिए अवसर देता जा रहा है। एवं एक पार्थिव जीवन की इकाई से मनुष्य इस जीवन के आदि स्रोत उस अज्ञात के अभिप्राय का ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा—जैसे सब-के सब मरणशील प्राणी उस अमर तत्त्व को जानने के लिए एक दूसरे की समझ के पूरक बनते जा रहे हैं।

महादेवी का कवि अपने गीतों में सजल कोमल होकर उस अनंत चिर-सुंदर के शाश्वत स्वरूप को उसी प्रकार प्रतिफलित करता है जिस प्रकार सिंधु आकाश को। इसी प्रेममयी कला को उपनिषद् में आत्मा की कला कहा गया है।

महादेवी का जीवन केवल दुख की बदली ही नहीं, सुख की सौदामिनी भी है। एक में करुणा है तो दूसरी में शांति।

मुस्करा दो दामिनी में
सावनी बरसात मेरी!
क्यों इसे अवसर न निज
सूने हृदय में आज भर ले?
क्यों न यह जड़ में पुलक का
प्राण का संचार कर ले?

इस प्रकार नारी हृदय की सार्वभौम करुणा और सर्वव्यापी शक्ति लेकर महादेवी ने भ्रम से भटकते विश्व के लिए चिर मंगलमय की आराधना साधना की है। वर्तमान हिंदी-कविता में रहस्यवाद की भावना को प्रशस्त करने की उनकी कलात्मक क्षमता अपने में अकेली है। वास्तव में उनकी दृष्टि में मानवता की साधना, विकास की सीमा और आत्मा की पूर्णता का यही मूल प्राण पुलकित है जो आदिकाल से मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का एकमात्र साधन रहा है, और है। महादेवी ने अपने जीवन के संपूर्ण साधना सार को काव्य के रूप में संसार को भेंट किया है—ऐसा मेरा विश्वास है।

हिमालय पर लिखे गए गीत से महादेवी के काव्य तथा व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण सुलभ है—

हे चिर-महान!
वह स्वर्ण-रश्मि छू श्वेत भाल,
बरसा जाती रंगीन हास,
सेली बनता है इंद्रधनुष
परिमल मल-मल जाता बतास!
पर राग-हीन तू हिम-निधान!
नभ में गर्वित झुकता न शीश,
पर अंक लिए हैं दीन क्षार
मन गल जाता नत विश्व देख
तन सह लेता है कुलिश भार।
कितने मृदु, कितने कठिन प्राण!
टूटी है कब तेरी समाधि?
झंझा लौटे शत हार-हार,
वह चला दृगों से किंतु नीर
सुनकर जलते कण की पुकार।
सुख से विरक्त, दुख में समान!
मेरे जीवन का आज मूक
तेरी छाया से हो मिलाप,
तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह नाप।
उर में पावस, दृग में विहान।
हे चिर-महान!

रागहीन के द्वारा अनासक्त की, समाधि की अटू... कहकर प्रकृतस्थ की, छाया कहकर प्रभाव की व्य... में अपने व्यक्तित्व की महिमा को महादेवी ने उस महा... समरूपता में सहज भाव से ही रख दिया है। हे चि... महान, तेरा प्रभाव मूकरूप से मुझपर पड़ता रहे। मेरे श... में तुम्हारी जैसी साधना शक्ति और मन में तुम्हारी करु... भर जाय। जिस प्रकार तुम्हारे हृदय में पावस (करु... और आँखों में प्रभात (प्रकाश) रहता है उसी प्रकार... हृदय में करुणा और आँखों में प्रकाश का हास हो।

जान पड़ता है, महादेवी ने अपने भाव-सौंद... ऐश्वर्य के बढ़ाने के ही लिए काव्य-कला की सृष्टि की... उन्होंने प्रायः प्रत्येक गीत में अपने हृदय के भावचि... को एक सजीव मूर्ति का रूप दिया है, जिसे देखकर मा... होता है कि यह अन्य कोई प्राकृत मूर्ति न होकर साद... प्रेम, करुणा या सौंदर्य की ही मूर्ति है। उनकी जै... विशुद्ध कलाकृति हमारे साहित्य की ही नहीं, वि... साहित्य की निधि है।

ज्वाला !

श्री क्षीरसागर

बाँस और टीन की चहारदीवारी के भीतर बंद म्युनिसिपैलिटी का लैंप जल रहा है। लाल मद्धिम प्रकाश अपने नीचे के खंभे के चारों ओर की जमीन को एक सीमित दायरे में आलोकित कर रहा है। रात का समय है और तिराहे की सड़कें सुनसान हैं।

उस खंभे से टिककर बैठे हुए व्यक्ति की आँखें प्रकाश के दायरे को पार कर अँधेरे में किसी ओर एकटक देख रही हैं। उसके पैबंद-लगे मैले पतलून की दरिद्रता पर वह प्रकाश एक और पुट चढ़ा रहा है। उसकी बगल में जमीन पर पड़ा हुआ वायलीन नीरव है।

बाईं ओर की लंबी दीवार के पास नालीदार टीन का एक ड्रम कतवार की रक्षा कर रहा है। उस टीन के पास एक लंबे समय से कतवार से छन छनकर गिरी हुई मिट्टी सड़क के स्तर से कुछ ऊँची उठकर अपने अस्तित्व की घोषणा कर रही है। और उस मिट्टी के ढेर पर लेटा हुआ एक लोम रहित गंदा पिल्ला अपनी हड्डी-पसलियों से आनेवाली मृत्यु की साक्षी दे रहा है। सामने चली गई हुई घरों की लंबी कतार शांत है। इन सबके ऊपर वातावरण की ठंडी आहें अपने हिमानी स्पर्श से एक आवरण-सा डाल रही हैं। और इस आवरण को भेद कर, म्युनिसिपैलिटी के खंभे से टिका हुआ यह आदमी किसी दूर देश के सपने देख रहा है—ऐसे सपने जिनमें से वह एक बार सचमुच गुजर चुका है।

उसकी पथराई हुई आँखों से, तीन दिनों से पेट के खाली गड्ढे में पलनेवाली भूख जरूर झाँक रही है, लेकिन इसका उसे तनिक भी भान नहीं।

उसके सामने किसी समय जिसे वह अपना कहा करता था, उस गाँव की एक लंबी-सी सड़क सर्पाकार गति से दौड़ रही है। उस सड़क के बाईं ओर एक हलवाई की दूकान है, और उस दूकान में थालियों में करीने से सजी हुई मिठाइयाँ उसके मन को मोहित और जीभ को द्रवित कर रही हैं।

वह एक लंबी साँस छोड़ता है।

हलवाई का लड़का भिन्न-भिन्न प्रकार की चार पाँच मिठाइयाँ एक दोने में रखकर, वह दोना उसके हाथों पर रखते हुए कहता है—'भाग जाओ, फिर कभी न आना। पिताजी देख लेंगे तो……'

और तब एकाएक उसके मन में एक पीड़ा सी उठती है। और वह दोना हलवाई की दूकान पर वापस रखकर आँखों में आए हुए आँसुओं को छिपाते हुए वह वहाँ से चल देता है।

उसके पैर उस टेढ़ी-मेढ़ी सड़क को पार कर स्टेशन की चहारदीवारी के भीतर एक लंबी गाड़ी के सम्मुख आकर रुक जाते हैं।

नहीं, वह भीख नहीं माँगेगा। और यदि माँगनी भी पड़ जाय, तो अपने गाँव में कदापि नहीं।

पीछे से एक रेला आता है और दूसरे ही क्षण सारे स्टेशन को हिलानेवाली सीटी की आवाज एक बड़ी भारी भीड़ के साथ उसे दुनिया में ढकेल देती है—खुली हुई दुनिया में, जहाँ अपने पैरों पर खड़ा न हो सकनेवाले आदमी के लिए जगह नहीं।

उसके बाद एक लंबे अरसे तक अपने जीवन को और लोगों के समान एक सीमित परिधि के भीतर बाँधने का वह असफल प्रयत्न करता है। और तब एक दिन अपने मन को ठोंक-बजाकर वह तय कर लेता है कि वह दुनिया का सबसे प्रतिष्ठित और स्वतंत्र रोजगार, लोगों के सामने हाथ पसारकर लोगों को बेवकूफ बनाने का रोजगार करेगा।

उसे एक गुरु भी मिल जाता है, जो उसे इस रोजगार की बारीकियाँ समझाते हुए कहता है—'जो दुनिया को बेवकूफ बनाता है वही जीता है।'

पैरों के ऊपर राल का लेप कर, ऊपर तेल में सने हुए सिंदूर का पुट चढ़ाकर, मले-चंगे अवयव को सड़ी हुई दुर्गंधित वस्तुओं की पंक्ति में बैठाकर, अपने को बुद्धिमान कहनेवाले, अपने को चालाक कहनेवाले, अपने को होशियार

कहनेवाले लोगों की आँखों में दिखाई देनेवाली झूठी दया को आह्वान देकर अपना पेट पालने की कला उसे मनमाना जीवन व्यतीत करने में पूरी पूरी सहायता देती है। लेकिन यह भी बहुत दिनों तक नहीं चलता।

और तब लड़ाई आती है। एक बार उसकी मनुष्यता फिर जाग उठती है। स्टेशनों पर अँगरेजों के जूते चमकाकर वह ईमानदारी से पेट पालने लगता है। आज इस स्टेशन पर तो कल उस स्टेशन पर। भीख माँगने के घिनौने काम से छुट्टी पाने की भावना उसके मन को हल्का कर देती है और बीते हुए दिनों को एक बुरे सपने से अधिक महत्त्व देने से वह इंकार कर देता है।

इसी तरह घूमते-घूमते, चलते चलते गोआ के एक छोटे से स्टेशन पर भुनी हुई मछलियाँ बेचनेवाला एक बुड्ढा, अपनी एकमात्र थाती, बड़ी-बड़ी चंचल आँखोंवाली लड़की का हाथ उसके हाथों में पकड़ाकर दहेज के रूप में एक वायलीन उसे दे देता है। लेकिन बुरे नक्षत्र में पैदा होनेवाले को कोई भी एक सहारा स्थायी रूप से सहारा नहीं देता।

आज वे दिन पलट चुके हैं। लड़ाई समाप्त हो चुकी है। बड़ी-बड़ी चंचल आँखोंवाली उसकी साथिन भी उसे छोड़कर दूसरे लोक की यात्रा पर रवाना हो चुकी है। और चाहे जो हो, भीख न माँगने की पक्की प्रतिज्ञा किए हुए वह उस सपने की एकमात्र स्मृति वायलीन को छाती से चिपकाए हुए कभी राजगीरी तो कभी कुलीगीरी और कभी फाका करता हुआ इस शहर में आ पहुँचता है।

पिछले तीन दिनों से उसे एक भी जूता पालिश करने को नहीं मिला है। एक भी बोझा ढोने को नहीं मिला है। और इसके फलस्वरूप उसके पेट में अन्न का एक भी कण नहीं पहुँचा है।

आज सुबह जब वह एक बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले पंडितजी के पास काम माँगने के लिए पहुँचा, उन्होंने दूर से उसे अपने मालिक की कोठी दिखा दी। कोठी के दरवान ने मालिक की तबीयत काफी खराब होने की वजह बतलाते हुए उसे भीख माँगने की सलाह दी। और एक सज्जन ने तो साफ साफ उसके मुँह पर कह दिया—'परदेशी का क्या भरोसा! फटा पतलून, हाथ में वायलीन! यह हिंदुस्तान है भैया, यहाँ काम करनेवालों को घुटनों तक धोती और छाती की हड्डियाँ गिनाने लायक भूख पचाने की शक्ति का ही सहारा है। यहाँ लाट साहब को काम कौन देगा!'

और तब एकाएक इन सब दृश्यों को ढकेलकर धींगा-मस्ती करता हुआ एक और चित्र उसके सामने खड़ा हो जाता है।

सिनेमाघर! नीली-नीली रोशनी में एक दूसरे के स्याही-पुते हुए चेहरों की ओर देखनेवाली आँखों का एक बड़ा भारी समुद्र! हाथ-गाड़ियों पर रखे हुए चना जोर गरम के पीले पीले रंग में मिलकर भूख को ललकारनेवाली नमकीन स्वादों की राशियाँ! चमकती हुई मोटरें, सिल्क की साड़ियों में लिपटी हुई दुबली-पतली गुड़ियों को आगे कर शान से चलनेवाले युवक! और कान को बधिर कर देनेवाली भीड़ की आवाज पर लहरानेवाली लाउड स्पीकर की धुन—'टूटे ना, दिल टूटे ना!'

जाने क्यों आज शाम का देखा हुआ यह दृश्य उसकी आँखों में अभीतक एक आकर्षण के साथ तैर रहा है। गीत की वह धुन जाने क्यों उसकी उँगलियों को पुकार पुकारकर कह रही है—'आ...'

वह इसकी वजह नहीं बतला सकता। लेकिन फिर भी आजतक की याद आनेवाली सारी घटनाओं पर यह दृश्य, यह गीत एक विचित्र झनझनाहट के साथ हावी हो रहा है—'टूटे ना, दिल टूटे ना!'

सहसा उस लाल मद्धिम प्रकाश में म्युनिसिपैलिटी के लैंप के खंभे से टिके हुए उसके शरीर की बाँहें आगे बढ़कर उस वायलीन को घेर लेती हैं। उसके भीतर की कला की चाह उसके मन पर एक हल्की-सी चादर खींच लेती है और वायलीन की तारों पर उसका 'बो' धीरे-धीरे घूमने लगता है। वातावरण के बोझ की कल्पना सेमर की रूई के रेशों के समान हल्की होकर ऊपर उठ जाती है। और तब अचानक उसका हाथ रुक जाता है।

दूर कहीं खट्-खट् की ध्वनि होती है। काली पक्की सड़क पर नालदार जूतों की भारी आवाज उसके अभ्यस्त मन के सम्मुख खाकी वर्दी से विभूषित सिपाहियों का चित्र खींच देती है। और वह एक झटके के साथ उठकर खड़ा हो जाता है।

'खट्...खट्...खटर्...खट्!' जूतों की आवाज निकट आने लगती है और वह कूदकर उस कतवार के ड्रम के पीछे छिप जाता है।

पैरों की आवाज सड़क के पहले मोड़ से घूमकर पास

आती है। सीटी की एक तीखी आवाज आकाश को चीरकर आसमान में उड़ जाती है और उसका दिल धक् धक् करने लगता है। पुलिस के दो सिपाही विराटे पर आकर खड़े हो जाते हैं। लाल धीमी मद्धिम रोशनी उनके खाकी वेश को रंग देती है और उनमें से एक आगे बढ़कर उस मिट्टी के ढेर पर एक लात जमा देता है। क्याँव् क्याँव् करता हुआ वह लोम रहित दुबला पतला गदा पिल्ला सड़क के ठीक बीचो-बीच खड़ा हो जाता है। सिपाहियों के ठहाके की गूंज वातावरण पर छा जाती है, और पिल्ले की पसलियों पर नालदार जूते की दूसरी ठोकर लगती है।

पुन एक बार क्याँव् क्याँव् करता हुआ वह पिल्ला उस ढेर पर जा गिरता है।

खट् खट् खटर् खट् करते हुए पैरों की दूर जाती हुई आवाज वातावरण को फिर एक बार बोझिल बना देती है। और बतवार के ठूम के पीछे छिपा हुआ वह अपने वायलीन को छाती से चिपकाए हुए आकर फिर एक बार खमे से टिककर बैठ जाता है। उसकी दर्दभरी आँखें कुत्ते के पिल्ले पर स्थिर हो जाती हैं। कुत्ते की दृष्टि उन आँखों में चमकनेवाले प्रम को पहचान जाती है और वह लोम-रहित दुबला-पतला घिनौना शरीर मिट्टी के ढेर पर से उतरकर उसके सामने आकर खड़ा हो जाता है।

बेचारा!

लबी लबी बाँहें सामने फैलाकर उसे आसरा देती हैं। उन बाँहों के स्वामी के हृदय की पीड़ा उसे उस पिल्ले के लिए सारे संसार से लोहा लेने को तैयार कर देती है। पथराई हुई आँखों में खून उतर आता है, और कल्पना की दुनिया में खाकी वर्दीवाले पशुओं की पसलियों पर पैबंद लगे हुए पतलून के बाहर निकली हुई लात जोर से एक प्रहार करती है और ठठाकर हँसने की आवाज आकाश में गूंज उठती है।

बेचारा!

दुबली-पतली उँगलियाँ कुत्ते की घिनौनी पीठ पर प्यार से घूमने लगती हैं और तब सहसा वह स्वप्न टूट जाता है।

एक खटका होता है। आँखों के सामने मृत्यु के समीप पहुँचनेवाले दुबले-पतले कुत्ते का शरीर और नालदार जूते चमक जाते हैं और एकाएक दुबके हुए कुत्ते को बाँहों में लपेटकर वह पुन उस ठूम के पीछे की ओर कूद जाता है।

एक बार फिर खटका होता है। मद्धिम रोशनी में अभ्यस्त हुई आँखें उस रोशनी के दायरे के बाहर के एक घर के दरवाजे पर केंद्रित हो जाती हैं।

दरवाजा धीरे धीरे भीतर की ओर खुलता है। एक सिर उस खुले हुए दरवाजे से बाहर झाँककर देखता है। फिर दो हाथ सामने आते हैं। और तब अचानक एक मनुष्याकृति उस दरवाजे की सीमा को लाँघकर बाहर अँधेरे में आकर खड़ी हो जाती है।

दो क्षणों तक निस्तब्धता का एकच्छत्र साम्राज्य रहता है।

और तब उसके बाद वह आकृति धीरे धीरे रोशनी की ओर बढ़ने लगती है। प्रकाश की सीमा के भीतर जैसे ही वह आकृति पैर रखती है, फटे पतलूनवाले की लज्जा उसकी आँखों को मूँद लेती है—नंगी औरत। मादरजाद नंगी औरत।

लज्जा का वेग समाप्त हो जाने के बाद आँखें फिर एक बार बगल से झाँकती हैं।

उस नंगी आकृति के हाथों में एक पत्तल दिखाई देती है। धीरे धीरे वह आकृति झुकती है। पत्तल जमीन पर टिक जाती है। घुटने टेककर वह नंगी डायन बैठ जाती है। उसका सिर नीचे लटक जाता है। वातावरण में एक विचित्र भारीपन आ जाता है। और तब एकाएक वह नग्न आकृति उठकर उस पत्तल के चारों ओर घूमने लगती है।

एक दो तीन।

तीन प्रदक्षिणा होने के बाद वह आकृति फिर बैठ जाती है। म्युनिसिपैलिटी के लैंप की रोशनी एक बार भभककर फिर क्षीण हो जाती है। लाल प्रकाश में एक बिजली-सी चमक जाती है। उस आकृति का हाथ ऊपर उठकर अनपेक्षित वेग से नीचे आता है। डस्टबिन की बगल से झाँकनेवाली आँखें पत्तल पर रखे हुए भात के बीचोंबीच गड़े हुए छुरे को देखकर काँप उठती हैं। छाती के पास दुबका हुआ घड़ियाँ गिननेवाला कुत्ता बाँहों के दबाव के बढ़ने का अनुभव करता है।

दूसरी बार खटका होता है।

ठूम के पीछे छिपी हुई आँखें चौंककर फिर झाँकती

हैं। सुनसान तिराहे पर मद्धिम रोशनी में वे देखती हैं—एक पत्तल, उसके ऊपर भात और भात के भीतर गड़ा हुआ छुरा। बस, और कुछ नहीं।

धीरे धीरे उसके पैर उसके शरीर को साधकर खड़ा कर देते हैं। और, कुछ क्षणों के बाद, मन में एक कुतूहल लिए हुए, निःशब्द तिराहे पर, उस पत्तल के पास, वह आकर खड़ा हो जाता है।

पत्तल पर भात, भात पर सिंदूर, सिंदूर पर नींबू, और नींबू को छेदकर भात को पार कर जमीन में गड़ा हुआ छुरा!

और तब एकाएक इस दृश्य पर भात का एक पहाड़ खड़ा हो जाता है और उसकी सुगंध उस आदमी की नाक को दो हाथ लंबी कर देती है।

और फिर इस चित्र को खाली पेट के गड्ढे में लहरानेवाले समुद्र की एक बड़ी भारी लहर अपने आँचल में ढाँक लेती है।

घुटने टेककर वह बैठ जाता है। बायाँ हाथ नींबू को पकड़ लेता है और दाहिना उसमें से छुरा निकालकर बगल में रख देता है। पेट का गड्ढा हँस उठता है। और तब एकाएक उसे लगता है, जैसे उसकी इस निधि पर किसी और की भी आँख लगी हुई है। वह देखता है, दुबला पतला घिनौना पिल्ला एकटक पत्तल की ओर देख रहा है। उसकी पूँछ हिल रही है।

घिनौना।

वह उठकर खड़ा हो जाता है। कुत्ते की पसलियों पर पूरे जोर से एक लात पड़ती है, और 'क्याँव-क्याँव' करता हुआ वह पिल्ला मतवार के ढूह से टकरा जाता है।

देखकर भी उसकी आँखें नहीं देखतीं। वह बैठ जाता है। भिंचे हुए दाँतों में से एक शब्द निकलता है—'कुत्ता!' उस शब्द में घृणा की एक भावना चमक उठती है। और तब भूख का समुद्र इस सबको एक बार फिर ग्रस लेता है।

दाँतों से नींबू फोड़कर वह भात पर गारने लगता है, और तब एकाएक एक छोटा-सा मुँह उसके सामने की पत्तल को खींच लेता है।

भात का ढेर जमीन पर बिखर जाता है। पेट की ज्वाला तीव्र हो उठती है। हृदय में घृणा भभक उठती है। आँखों से खून टपकने लगता है। और दूसरे ही क्षण, थोड़ी देर के पहले उस कुत्ते के पिल्ले के लिए सारे संसार से लोहा लेने को तैयार हो गई हुई बाँहें फिर एक बार आगे बढ़ती हैं। मौत की घड़ियाँ गिननेवाले घिनौनी हड्डियों के समूह को बायाँ हाथ दबोच लेता है। दाहिना एक बार हवा में ऊपर उठता है। एक चीख वातावरण के मर्म को भेदकर आकाश के पार हो जाती है, और छुरे की मदद से जमीन के साथ नत्थी हो गया हुआ कलेवर दो बार झटका देकर शांत हो जाता है। और इन सबको भूलकर आदमी की भूख जमीन पर बिखरे हुए भात की आहुति लेना प्रारंभ कर देती है।

× × ×

काँच और टीन की चहारदीवारी के भीतर वह म्युनिसिपैलिटी का लैंप अब भी जल रहा है। उसका लाल मद्धिम प्रकाश अब भी एक सीमित दायरे के भीतर जमीन को आलोकित कर रहा है। उस आलोक में लैंप के खंभे से टिका हुआ एक व्यक्ति आँखें मूँदकर सो रहा है। उसके सामने जमीन पर थोड़ा सा भात बिखरा हुआ है। और पास ही मुठियातक बिंधे हुए छुरे से जमीन के साथ नत्थी हो गए हुए एक लोम-रहित घिनौने पिल्ले के कलेवर से निकलती हुई खून की लाल काली धारा भात के कणों को चूम रही है।



पं० सुंदरलाल

श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'

पं० सुंदरलालजी को लोग 'भारत में अँगरेजी राज' के लेखक के रूप में ही जानते हैं। पर उनके संबंध की यह जानकारी बिलकुल ही अधूरी है। वस्तुतः सुंदरलालजी का जीवन तो आधुनिक भारत के इतिहास का एक पृष्ठ है।

पं० सुंदरलालजी का जन्म खतौली, जिला मुजफ्फरनगर (यू० पी०) में २६ सितंबर, सन् १८८६ ई० को हुआ। उनके पिताजी का नाम श्री तोताराम जी था। सुंदरलालजी की प्रारंभिक शिक्षा सहारनपुर में हुई। लाहौर से उन्होंने मैट्रिक पास किया और डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में पढ़ने लगे। लाहौर में पढ़ते समय ही उनकी मैत्री लाला हरदयालजी से हुई। लालाजी सुंदरलाल से सीनियर थे। सरदार अजीत सिंह सुंदरलालजी के सहपाठी थे। बी० ए० पास कर लेने के बाद वकालत पढ़ने के लिए सुंदरलालजी सन् १९०५ में इलाहाबाद आए। भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन ने इसी साल अपने को प्रकट किया। इलाहाबाद में एक बंगाली तरुण क्रांतिकारी आंदोलन में लगा था। सुंदरलालजी पर भी इस क्रांतिकारी आंदोलन का प्रभाव पड़ा। १९०५ के दिसंबर में वह काशी जाकर लाला लाजपत राय से मिले। १९०६ के शायद फरवरी महीने में कलकत्ता में सुंदरलालजी और लाला लाजपतरायजी में बातें हुईं। १९०७ में पंजाब में क्रांतिकारी दल की स्थापना हुई। १९०७ में सुंदरलालजी श्री अरविंद घोष से मिले। इसके बाद उत्तरप्रदेश, दिल्ली, राजपूताना और पंजाब में क्रांतिकारी दल के कामों को आगे बढ़ाया गया।

भारतीय क्रांतिकारी दल का बाह्य समर्थन गरम दल करता था। गरम दल के एक विशिष्ट नेता श्री अरविंद घोष ही क्रांतिकारी दल के भी नेता थे। लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय का भी क्रांतिकारी दल से संबंध था। उन दिनों गरम दल का नारा था—'स्वदेशी का उपयोग, विदेशी का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य।' गरम दल की राजनीति का यही मूल सुर था। किंतु उन्हीं दिनों गरम दल के विरोध में एक नरम दल भी पैदा हो गया था। नरम दल का नारा था—'स्वदेशी का प्रयोग तो हो, पर ईमानदार स्वदेशी का हो—अर्थात् अपने उद्योग धंधे बढ़ाओ, यदि कोई अच्छी चीज बन जाए तो उसका उपयोग भी करो। पर यदि अच्छी चीज न बन सके तो विलायती खरीदो। बहिष्कार का भाव मन में मत लाओ। इसी तरह गरम दल की राष्ट्रीय शिक्षा के विरुद्ध नरम दल का कहना था कि सरकार की सहायता से मुफ्त और अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा बढ़ाई जाय, पर अँगरेजी शिक्षा को छोड़ा न जाय। गरम दल के स्वराज्य के स्थान पर नरम दल का मत था कि स्वराज्य हो, पर अँगरेजों की छत्रच्छाया में। गरम दल के नेता मध्यम श्रेणी के कुछ पढ़े-लिखे लोग थे। उनमें ऊँचे दर्जे के सरकारी अधिकारी और बहुत बड़े धनी नहीं थे। हाँ, उसके अंतरंग में सी० आर० दास जैसे बैरिस्टर थे। नरम दल के नेता ऊँचे दर्जे के सरकारी अधिकारी, धनी और अँगरेजों के कृपापात्र थे। किंतु उनमें भी गोपालकृष्ण गोखले और पं० मदनमोहनमालवीय-सरीखे लोग भी थे।

१९०७ में पं० मदनमोहनमालवीयजी ने इलाहाबाद में यू० पी० पोलेटिकल कान्फरेंस का आयोजन किया। उसमें सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा चुनकर प्रतिनिधि भेजने का नियम था। इस नियम से फायदा उठाकर पं० सुंदरलालजी ने पब्लिक मीटिंगों द्वारा कुछ गरम दल के व्यक्तियों को भी चुनवाकर उस कान्फरेंस में भेजा। पर यह कान्फरेंस होनेवाली थी पं० मोतीलाल-नेहरूजी के सभापतित्व में। मालवीयजी और मोतीलालजी ने गरम दल के प्रतिनिधियों को कान्फरेंस में लेने से इन्कार किया। तीव्र विरोध बढ़ा। झगड़ा शांत करने के लिए लाला लाजपतरायजी बुलाए गए। उन्होंने गरम दलवालों को इस कान्फरेंस में आने से रोक दिया। इस कारण

प० मोतीलाल नेहरू ने पं० सुंदरलालजी को जरा बुरी आँखों से देखना शुरू किया।

पं० सुंदरलालजी के साथियों में श्री मंजरअली सोख्ता भी थे। सोख्ता साहब के पिता पं० मोतीलालजी के मुहर्रिर थे और आनंद भवन में ही रहते थे। १६०७ के अंतिम दिनों की बात है। एक दिन सुंदरलालजी सोख्ता साहब के यहाँ चले गए। सुंदरलाल के पीछे सी० आई० डी० थी। उसने पं० मोतीलालजी को खबर कर दिया। इधर सुंदरलाल मंजर अली के साथ बैठे मजे से अमरूद खा रहे थे। थोड़ी देर बाद पं० मोतीलालजी के चपरासी ने मंजर अली को बुलाया। वह मोतीलालजी के पास गए और आकर फिर बैठ गए। इसके बाद फिर चपरासी आया, मजर अली गए और आकर फिर बैठ गए। इसके बाद फिर चपरासी बुलाने आया। मजर अली गए और आकर फिर बैठ गए। इस बार सुंदर-लालजी ने पूछा कि बात क्या है—क्यों भाई साहब बार-बार बुला रहे हैं। मंजर अली टालने लगे। प० सुंदरलालजी के जिद करने पर उन्होंने बताया कि—'भाई साहब (प० मोतीलालजी को लोग भाई साहब कहते थे) कहते हैं कि तुमने सुंदरलाल को बुलाकर घर में बैठा रखा है और उसके पीछे पुलिस है, तो क्या तुम हमारी बंदूकों का लैसंस जब्त कराओगे।' इतना सुनना था कि सुंदरलाल आनंदभवन से उठकर अंदर ही अंदर एक दूसरे साथी श्री लक्ष्मण प्रसाद के बँगले में चले गए। इसके बाद लक्ष्मण प्रसाद बार-बार बुलाए जाने लगे। सुंदर-लाल के पूछने पर लक्ष्मण प्रसाद ने बताया कि—'पिताजी कहते हैं—मोतीलालजी ने कहला भेजा है कि सुंदरलाल को घर में बैठा रखा है, क्या अपनी नौकरी खोनी है।' इतना सुनते ही सुंदरलाल बँगले से निकलकर सड़क पर आ गए। पर इसके परिणामस्वरूप श्री मजर अली ने आनंद-भवन छोड़ दिया। उन्होंने एक पत्र लिखकर पं० मोतीलालजी के इस व्यवहार का विरोध किया। और विरोध-स्वरूप आनंद भवन छोड़ दिया। पं० मोतीलालजी मजर-अली को बहुत मानते थे। उन्होंने मंजर अली का पता लगाना शुरू किया। दो महीने बाद जब पता चला कि मंजर अली साहब कानपुर में हैं, तब उन्होंने उन्हें पत्र लिखकर बुलाया। इसपर मजर अली ने लिखा कि मुझे आपकी आज्ञा मंजूर है, पर मैं सुंदरलाल से मैत्री छोड़ने में असमर्थ हूँ। अतः नहीं आ सकता। इसपर पं० मोती-लालजी ने लंबा और सुंदर पत्र लिखा, जिसमें लिखा कि मैं सुंदरलाल के चरित्र, उसकी दृढ़ता, त्याग और लगन का प्रशंसक हूँ। पर वह अव्यावहारिक कार्य में लगे हैं, जो उचित नहीं, और तुम सुंदरलालजी की दोस्ती रखो, मुझे कुछ भी एतराज नहीं। मैं भी सुंदरलाल को प्यार करता हूँ। पर उसके तरीके को पसंद नहीं करता।

इलाहाबाद के कुछ महाराष्ट्री लोगों ने शिवाजी-जयंती मनाने का आयोजन किया और उसमें व्याख्यान देने के लिए प० सुंदरलालजी को बुलाया। इसकी सूचना सरकारी अधिकारियों को भी हो गई। उत्सव के ठीक एक दिन पहले इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट रैडीशी ने सुंदरलाल को बुलाया। उसने सुंदरलालजी से पूछा—'तुम्हारे पिता क्या करते हैं?' सुंदरलाल ने कहा—'सर-कारी नौकरी करते हैं।' इसपर मैजिस्ट्रेट ने कहा—'तुम सरकार का नमक खाते हो, तुमको सरकार का विरोध नहीं करना चाहिए।' सुंदरलाल ने तत्काल जवाब दिया—'मेरे पिता सरकार के नौकर हैं, पर वह और हम सब सरकार का नमक नहीं खाते, बल्कि जनता का नमक खाते हैं और जनता के हक में जो कुछ भी होगा, हम करेंगे।' इसपर मैजिस्ट्रेट ने स्पष्ट कह दिया कि आप शिवाजी उत्सव में व्याख्यान मत दें। पर सुंदरलालजी ने दृढ़ता से कहा कि—मैं अवश्य व्याख्यान दूँगा। मैजिस्ट्रेट और सुंदरलालजी की ये बातें समाचारपत्रों में आ गईं। लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' और 'मराठा' में सुंदरलालजी की प्रशंसा की। अमृतलाल घोष ने 'अमृतबाजार पत्रिका' में सुंदरलालजी के साहस की सराहना की। पर लिबरल लीडरों ने सुंदरलालजी को छोटा बनाकर बयान दिया। इसके बाद सुंदरलालजी को हिंदू-बोर्डिंग से निकाल दिया गया।

इस घटना के कुछ ही दिनों बाद यू० पी० का गवर्नर इलाहाबाद आया। यूरोपियन क्लब में उत्सव था। क्रांतिकारी दल ने गवर्नर पर लक्ष्य करके देशी बम फेंका। बम लक्ष्य तक नहीं पहुँचा। कीचड़ में गिर पड़ा। पर कोई गिरफ्तार न हो सका। किंतु सुंदरलाल पर सर-कारी वार हो गया। उनके वकालत परीक्षा की पूरी फीस

उन्हें वापस कर दी गई और उनको वकालत की परीक्षा देने से रोक दिया गया। उद्देश्य यह था कि ऐसा करने से सुंदरलाल इलाहाबाद छोड़ देंगे। पर परिणाम उलटा निकला। क्रांतिकारी दल ने 'स्वराज्य' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इसमें खुलेआम सशस्त्र क्रांति का प्रचार रहता था। 'स्वराज्य' उत्तर प्रदेश के क्रांतिकारियों का केंद्र था। एक ही साल में आठ संपादकों को आठ से लेकर दस तक की सजा मिली। पर 'स्वराज्य' की भाषा, भाव, भंगिमा—कहीं भी शिकन नहीं। क्योंकि असली संपादक तो सुंदरलाल थे, जिनका नाम छपता ही नहीं था। अंत में सरकार ने 'स्वराज्य' से जमानत तलब किया। रुपया क्रांतिकारियों के पास कहाँ? लाचार, 'स्वराज्य' को बंद कर देना पड़ा। इसके बाद 'कर्मयोगी' निकला। 'कर्मयोगी' का संपादन सुंदरलाल ने स्पष्ट किया। किंतु 'कर्मयोगी' पर सरकार ने पहला ही बार नौ हजार की जमानत का किया। इस प्रकार १६१० के आरंभ में 'कर्मयोगी' को भी बंद कर देना पड़ा।

१६१० में भारतीय राजनीतिक स्थिति में कुहासा था। श्री अरविंद घोष ने कार्यक्षेत्र से सन्यास ले लिया था। इससे वातावरण और भी मन को दबानेवाला था। किंतु असली क्रांतिकारी हार नहीं माना करता और क्रांति मरती भी नहीं। भारतीय क्रांतिकारी विदेश जाने लगे। जो देश में रह गए उनमें से बहुतों ने सन्यासी का रूप धारण कर लिया। सुंदरलाल ने भी सन्यासी का रूप धारण कर अपना नाम सोमेश्वरानंद रख लिया। किंतु यह सन्यास क्रांति विमुख होकर नहीं, क्रांति के लिए था। सोमेश्वरानंद नाम से सुंदरलाल ने शिमला के पास सोलन में डेरा डाला और श्री रासबिहारी बोस ने बनारस से हटकर देहरादून में नौकरी की। अब क्रांतिकारियों का अड्डा दिल्ली में जमा। यह १६१२ ई० की बात है। इसी समय निजय-गर्व से दीप्त ब्रिटिश हुकूमत की राजधानी कलकत्ता से हटकर दिल्ली आनेवाली थी। जिस समय ब्रिटिश सिंह दिल्ली में बैठकर भारत के मान मर्दन की सोच रहा था, उसी समय दिल्ली की एक गली में क्रांतिकारी दल की बैठक हो रही थी। रासबिहारी बोस, स्वामी सोमेश्वरानंद (सुंदर लाल), अमीरचंद और बालमुकुंद आदि इसमें शरीक थे। विचारणीय विषय था—दिल्ली-दरबार का क्रांतिकारी उपयोग। सोच समझकर यह निश्चय किया गया कि जिस समय लार्ड हार्डिंग ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि की हैसियत से दिल्ली में प्रवेश करें, ठीक उसी समय उनपर बम फेंका जाय। उसका उद्देश्य था प्रतीकात्मक क्रांतिकारी प्रतिवाद द्वारा संसार पर यह प्रकट करना कि भारत के तरुणों ने ब्रिटिश साम्राज्य को स्वीकार नहीं किया है। इसी के अनुसार श्री रासबिहारी बोस ने लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका। भारतीय इतिहास में तीन क्रांतिकारी प्रतिवाद हुए हैं—१. बंगभंग के अवसर पर, २ दिल्ली-दरबार के अवसर पर और ३ दिल्ली की असेंबली में बम फेंककर। बुर्जुआ इतिहासकारों ने इन क्रांतिकारी कार्यों को बहुत घटाकर प्रकट किया है और उसके प्रभाव को भी अस्वीकार किया है। किंतु वह ज्यादा दिनों तक ऐसा नहीं कर सकेंगे।

दिल्ली दरबार के अवसर पर फेंके गए बम का व्यापक प्रभाव भी पड़ा। संपूर्ण उत्तर-भारत में क्रांतिकारी संगठन का जाल बिछ गया। १६१२ से १६१४ के बीच में राजपूताने में भी क्रांतिकारी दल का संगठन बढ़ गया। राजपूताने में क्रांतिकारी दल के सूत्र-संचालक थे—सेठ दामोदरदास राठी और ठाकुर गोपाल सिंह राठौर। सेठ दामोदरदास राठी ने एक बार श्री सुंदरलालजी के कहने से और उन्हीं के साथ जाकर श्री अरविंद घोष को क्रांतिकारी कार्यों के लिए एक लाख पचहत्तर हजार रुपया भी दिया था। राठीजी पर दल की बहुत बड़ी आर्थिक जिम्मेदारी थी। ठाकुर गोपाल सिंह राठौर खरवा स्टेट के मालिक थे। वह राजस्थान में विद्रोह की तैयारी में लगे थे, जिसका पता लग जाने पर ब्रिटिश साम्राज्य ने उन्हें राज्य च्युत करके नजरबंद कर लिया था। और १६१५ के विद्रोह की तैयारी का पता तो सबको है। उसपर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है।

१६१५ में विद्रोह के पूर्व ही सरकार को विद्रोह का पता लग जाने से और सरकार द्वारा विद्रोह का दमन कर दिए जाने से सुंदरलाल को बड़ी निराशा हुई। १६१५ के दिल्ली-षड्यंत्र केस ने गुप्त—केवल गुप्त समितियों की निरर्थकता सिद्ध कर दी। सुंदरलाल के मन में प्रश्न पैदा हो गया। वह देश की स्वाधीनता के लिए किसी और उपाय की तलाश में लगे। इस बीच १६१६ में गांधीजी स्वदेश पधारे। दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह द्वारा उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। सुंदरलाल ने गांधीजी से मिलने का

निश्चय किया और वह सोलन से सीधे अहमदाबाद गए। गाधीजी से मिले, बातें कीं; पर परिणाम कुछ न निकला। सु दरलाल पर गाधीजी का प्रभाव नहीं पड़ा। पर गाधीजी के प्रति एक किस्म का आकर्षण उनके मन में पैदा हो गया। इसलिए सु दरलाल एक बार पुनः गाधीजी से मिले। पर फिर भी गाधीजी के कार्यक्रम से सहमत न हो सके। इसके बाद गाधीजी ने बिहार के चपारन जिले मे निलहों के विरुद्ध सत्याग्रह किया। इस सत्याग्रह का सु दरलालजी के मन पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। वस्तुतः क्रातिकारी मन थेयरी से सतुष्ट नहीं होता। वह थेयरी की परीक्षा प्रैक्टिस में करता है। सु दरलाल पुनः गाधीजी से मिले। देरतक उनके साथ रहे। इस समय गाधीजी ने सुंदरलालजी से कहा कि—सन्यासी के वेश में रहने से जनता के बीच में काम करने में कठिनाई होती है। अतः यदि अब आपको गुप्त रूप से कुछ नहीं करना है, तो यह रूप क्यों रखते हैं? सु दरलालजी को यह बात जँची और उन्होंने सन्यासी का सोमेश्वरानद नाम और रूप—दोनों त्याग दिए। देश की स्वाधीनता के लिए ही उन्होंने सन्यासी का रूप धारण किया था और देश की स्वाधीनता के लिए ही उसका परित्याग कर दिया।

सन्यासी का वेश छोड़कर सु दरलालजी पुनः इलाहाबाद चले आए। सन्यासी के वेश में जब सुंदरलालजी थे, तब वह प० मोतीलाल नेहरूजी के भी घनिष्ठ सपर्क में आ गए थे। अतः मोतीलालनेहरूजी भी इस बार सुंदरलालजी को इलाहाबाद में रहने के लिए बाध्य किया। इलाहाबाद आने के बाद १९१७ के अंतिम दिनों में सु दरलालजी काग्रेस के सदस्य हुए। इसके पहले वह काग्रेस के सदस्य नहीं थे। १९१९ में पं० मोतीलाल नेहरू उत्तर प्रदेशीय काग्रेस-कमिटी के अध्यक्ष हुए और पं० सुंदरलालजी प्रधान मंत्री। १९१९ में यू० पी० में सत्याग्रह सभा की स्थापना हुई। उसके सभापति हुए महात्मा गाधी और मत्री हुए पं० सुंदरलाल, मजर-अली सोख्ता तथा प० जवाहरलाल नेहरू। इसी साल सुंदरलालजी ने इलाहाबाद से 'भविष्य' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला, जिसे १९२० मे दैनिक कर दिया गया। इस प्रकार क्रातिकारी सुंदरलाल जनांदोलन में आए।

१९२० में नागपुर-काग्रेस के तीन महीना पहले गाधीजी ने सुंदरलालजी को सी० पी० में असहयोग का वातावरण पैदा करने के लिए भेजा। सुंदरलाल, भगवान दीन और अर्जुनलाल सेठी ने सारे प्रांत का दौरा करके गाधीजी के कार्यक्रम का प्रचार किया। इसके बाद जब नागपुर में काग्रेस का जलसा हुआ तब इन लोगों ने प्रतिनिधियों में भी गाधीजी के कार्यक्रम का खूब प्रचार किया। नागपुर-काग्रेस में काग्रेस ने पूर्णरूप से गाधीजी के कार्यक्रम को अपना लिया। इसके बाद गाधीजी ने सुंदरलाल को वहीं रोककर सत्याग्रह-आश्रम कायम करने के लिए कहा। गाधीजी की आज्ञा से सुदरलालजी ने नागपुर में असहयोग-आश्रम कायम किया। तिलक-विद्यालय भी खोला। इन सब संस्थाओं की आर्थिक जिम्मेदारी श्री जमनालालजी बजाज पर थी। इसी समय गाधीजी ने जोरों से असहयोग-आदोलन चलाया। नागपुर में सुदरलालजी ने इसका नेतृत्व किया। यह आदोलन इतने जोरों से चला कि वहाँ के स्कूल-कालेज बद हो गए। तिलक-विद्यालय में बी० ए० तक की व्यवस्था करनी पड़ी। सरकार ने सुंदरलाल को गिरफ्तार किया; उनपर मुकदमा चलाया और उन्हें एक साल की सजा दी।

१९२२ में गया काग्रेस के कुछ पहले सुंदरलालजी जेल से छूटे। जेल से छूटने के बाद वह सर्वसमति से महाकोशल काग्रेस-कमिटी के सभापति चुने गए। इस समय महात्मा गाधीजी जेल में थे। सुंदरलालजी गाधीजी की नीति के अनुयायी थे। देशबधु दास और प० मोतीलाल नेहरू गाधीजी की नीति में परिवर्तन चाहते थे। सु दरलालजी ने भी राजगोपालाचारी से मिलकर अपरिवर्तनवादी दल का संगठन किया। गया-काग्रेस में दोनों दलों में कसकर संघर्ष हुआ। अपरिवर्तनवादी दल जीत गया। पर सुंदरलालजी के सामने परिवर्तनवादियों का एक प्रश्न बहुत स्पष्ट रूप से आ गया। देशबंधु दास ने कहा था—'हमलोग तो कौंसिलों में जाकर सरकारी नीति का पर्दाफाश करेंगे। पर ये अपरिवर्तनवादी क्या करेंगे?' सुंदरलालजी स्वभाव से ही उग्र थे। उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने का निश्चय किया। इसी समय बैतूल में मध्यप्रातीय राजनीतिक कान्फरेंस थी। उस कान्फरेंस में सुंदरलालजी ने प्रतिज्ञा की—'हम एक महीने के लिए अन्न, फल, दूध, नमक, चीनी और इन सबसे बनी चीजों को छोड़कर, सत्याग्रह का उपाय ढूंढ़ेंगे और यदि एक

महीना के अंदर हमें सत्याग्रह का कोई उपाय न सूझा तो जल का भी परित्याग करके शरीर छोड़ देंगे।'

संयोग की बात कि जिस समय सुंदरलालजी ने यह प्रतिज्ञा की उसी समय ब्रिटिश पार्लियामेंट में एक ऐसी घटना घटी, जिसने सत्याग्रह का पथ प्रशस्त कर दिया। ब्रिटिश पार्लियामेंट में किसी सदस्य ने कहा कि हिंदुस्तान में डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और म्युनिसिपल बोर्डों पर जो कांग्रेस का तिरंगा झंडा लगाया जाता है, उसे सरकार को रोक देना चाहिए, क्योंकि सरकारी भवनों पर कांग्रेस के झंडे का अर्थ होता है कांग्रेस की जीत। इसपर तत्कालीन भारत सरकार ने आश्वासन दिया कि इस संबंध में सरकार उचित कार्यवाही करेगी। फलतः भारत सरकार ने सभी प्रांतीय सरकारों को आदेश दिया कि अब से सरकारी भवनों पर कांग्रेस का झंडा न लगाया जाय। पार्लियामेंट में झंडा संबंधी उठी बात, भारत-मंत्री का आदेश और प्रांतीय सरकारों के पास उस आदेश के पहुँचने में पंद्रह-बीस दिन लगे होंगे कि संयोग से हकीम अजमल खाँ ने जबलपुर जाने का निश्चय किया। जबलपुर की म्युनिसिपैलिटी ने उनके सम्मान का निश्चय किया। कमिश्नर ने जबलपुर के चेयरमैन को सूचित किया कि बोर्ड के भवन पर कांग्रेस का झंडा न लगाया जाय। सुंदरलालजी को सत्याग्रह का मौका मिल गया। वह महाकोशल-प्रांतीय कांग्रेस के सभापति थे और जबलपुर में रहते थे। उन्होंने इस अवसर से पूरा फायदा उठाया और झंडे के मसले पर सत्याग्रह का ऐलान कर दिया। उन्होंने घोषणा की कि सभी सार्वजनिक स्थानों पर राष्ट्रीय तिरंगा झंडा लगाया जाय। जिस समय सुंदरलाल ने जबलपुर में यह ऐलान किया, उसी समय नागपुर के असहयोग आश्रम ने भी यही घोषणा की। इसके बाद सरकार ने सुंदरलालजी को गिरफ्तार कर लिया। सुंदरलाल ने गिरफ्तारी के समय नागपुर के असहयोग-आश्रम के अपने साथी भगवान दीन को डिक्टेटर घोषित किया। इसके बाद नागपुर झंडा सत्याग्रह का केंद्र हो गया। इस प्रकार पं॰ सुंदरलालजी ने एक मामूली परिस्थिति का उपयोग करके देश में सत्याग्रह की एक लहर दौड़ा दी।

दिसंबर १९२३ में कोकनाड़ा में अ॰ भा॰ कांग्रेस-कमिटी का जलसा हुआ। मौलाना मुहम्मद अली उसके [illegible] थे। इस बार भी राजगोपालाचारी और राजेंद्र बाबू ने भी देशबंधु दास और पं॰ मोतीलाल नेहरू का साथ दिया। पर पं॰ सुंदरलाल गांधीजी के सिद्धांत पर ही डटे रहे। मौलाना मुहम्मद अली ने उनको बहुत समझाया—यहाँ तक कि कांग्रेस के मंत्रिपद और वर्किंग कमिटी में उनके दो आदमियों को लेने का भी प्रलोभन दिया। पर सुंदरलालजी नहीं माने। इस प्रकार पं॰ सुंदरलालजी के एकबगेपन से एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अवसर उनके हाथ से चला गया।

१९२४ में दिल्ली में एकाएक हिंदू-मुसलिम दंगा हो गया। इस दंगे की जाँच के लिए गांधीजी ने सुंदरलालजी को दिल्ली भेजा। सुंदरलालजी ने गांधीजी को अपनी रिपोर्ट भेजी और साथ ही उन्हें दिल्ली बुलाया। गांधीजी दिल्ली पहुँचे, पर इसी समय मुलतान और कोहाट में भी दंगा हो गया। इससे गांधीजी बहुत ही मर्माहत हुए। गांधीजी मुहम्मद अली के कमरे में दरवाजा बंद किए बैठे थे। सुंदरलाल उनसे मिलने के लिए पहुँचे। दरवाजा जरा खोला। देखा, गांधीजी चुप बैठे हैं, उनका चेहरा लाल है। सुंदरलाल पीछे हटे कि गांधीजी का ध्यान उधर गया। उन्होंने सुंदरलाल को बुलाया। सुंदरलाल गए। थोड़ी देर की खामोशी के बाद सुंदरलालजी ने कहा—

बापू, क्या आप समझते हैं कि आप हिंदू और मुसलमानों को इस तरह मिला लेंगे?

गांधीजी—क्या मतलब तुम्हारा?

सुंदरलाल—क्या आप समझते हैं कि आप हिंदू मुसलमानों को इस तरह एक कर लेंगे?

गांधीजी—क्या मतलब तुम्हारा, मैं नहीं समझा, तुम क्या कहना चाहते हो?

सुंदरलाल—क्या आप समझते हैं कि आप हिंदू मुसलमानों को इस तरह एक कर लेंगे?

इस बार गांधीजी ने जरा सोचा और बोले—

अच्छा, मैं समझ गया, तुम्हारा क्या मतलब है। तुम्हारी-मेरी तो जुहू में भी बातें हुई थीं न? तुम यही कहना चाहते हो न?

सुंदरलाल—जी हाँ।

गांधीजी—मैं समझ गया। तो मुझसे क्या पूछते हो, मैं तो कहने के लिए तैयार हूँ कि ये सब-के-सब नास्तिक हो जायँ, तो अच्छा। इनके न मानने से भगवान तो

मिट नहं 'जायगा। पर ये आदमी तो बनें। पर मेरी कौन सुनता है? मर गए कबीर कहते-कहते, मर गए दादू कहते-कहते। मेरी कौन सुनेगा? दुनिया तो अपने रास्ते चलती है।

इतना कहकर गाँधीजी चुप हो गए—खामोश। उसी दिन शाम को गाँधीजी ने हिंदू-मुसलिम एकता के लिए इक्कीस दिनों के उपवास की घोषणा की।

इस उपवास के बाद कुछ स्वस्थ होकर गाँधीजी और शौकत अली साहब कोहाट के दंगे की जाँच के लिए गए। पर जब रिपोर्ट निकली तो दोनों अपनी अपनी रिपोर्ट पर दो राय थे। इसी समय से अली बंधु तबलीग और तंजीम की ओर बढ़े तथा लाला लाजपतराय और मालवीयजी हिंदू महासभा की ओर झुके। गाँधीजी ने हिंदुओं और मुसलमानों को मिलाने की बहुत कोशिश की, पर सब बेकार सिद्ध हुआ। सन् १९२१ के असहयोग आंदोलन में जो अपूर्व एकता थी और जिसे देखकर ब्रिटिश हुकूमत परेशान थी, वह एकता छिन्न भिन्न हो गई। सुंदरलालजी इस नई परिस्थिति को देखा। उन्होंने १९२१ की हिंदू-मुसलिम एकता भी देखी थी, उनका दोनों कौमों से गहरा संबंध भी था। उन्होंने दंगों की जाँच करके उसके कारणों का पता भी लगाया था। सुंदरलाल को इन दंगों के पीछे अँगरेजों की कूटनीतिक चाल नजर आई। जिस समय अँगरेजी हुकूमत देश की दो बड़ी कौमों को लड़ाकर राष्ट्रीय एकता खत्म कर रही थी, उस समय कौंसिल प्रवेश का कार्यक्रम सुंदरलालजी को प्रतिक्रियावादी मालूम हुआ। इसलिए कांग्रेस में रहना उन्होंने निरर्थक समझा। फलत: १९२९ के प्रारंभ में पं० सुंदरलालजी ने कांग्रेस छोड़ दिया। कांग्रेस छोड़कर सुंदरलालजी ने अपने को हिंदू मुसलिम समस्या के अध्ययन में लगाया। हिंदू-मुसलिम समस्या के अध्ययन में ही उन्होंने 'भारत में अँगरेजी राज' नामक वृहद् ग्रंथ लिखा। इसका भूमिका भाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें प्रारंभ से लेकर अँगरेजों के आगमन तक हिंदू-मुसलिम संबंधों का वर्णन है। इसके बाद विस्तार के साथ दिखाया है कि अँगरेजों ने किस प्रकार भारतीयों को आपस में लड़ाकर अपना काम निकाला। इस ग्रंथ का उद्देश्य राजनीतिक है और वह पूर्ण भी हुआ। इस ग्रंथ पर ब्रिटिश हुकूमत ने बड़ी तीव्रता से हमला किया। प्रेस और दफ्तरी के घरों से इस ग्रंथ की प्रतियों को जब्त कर थाने में इसकी होली जलाई गई। पर, फिर भी कुछ ग्रंथ जनता तक पहुँच ही गए।

१९३० में महात्मा गाँधीजी ने ब्रिटिश हुकूमत से सत्याग्रह का ऐलान किया तो सुंदरलाल पुन: कांग्रेस में शरीक हो गए। दो बार उत्तर-प्रदेश के डिक्टेटर की हैसियत से जेल गए। १९३१ में गाँधी-इरविन समझौते के रूप में इस सत्याग्रह की समाप्ति हुई। किंतु ठीक इसी समय ब्रिटिश कूटनीति ने पुन: वार किया। कानपुर में भयंकर हिंदू-मुसलिम दंगा हो गया। गणेशशंकर विद्यार्थी शहीद हुए। कांग्रेस ने कानपुर दंगा जाँच के लिए एक समिति बैठाई। सुंदरलाल उसके मंत्री थे। जाँच की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। पर उस रिपोर्ट को भी सरकार ने जब्त कर लिया, क्योंकि रिपोर्ट से सिद्ध था कि सरकार ने जान बूझकर दंगा कराया और उसे बढ़ावा दिया। इसके बाद १९३२ में पुन: सत्याग्रह संग्राम छिड़ा। सुंदरलाल उसमें शरीक हुए। डिक्टेटर की हैसियत से उत्तर प्रदेश के सत्याग्रह का संचालन किया; पकड़े गए और सजा मिली। जेल से छूटने के बाद वह पुन: कांग्रेस से हट गए। उन्होंने अपने को बिहार-भूकंप पीड़ितों की सेवा में लगा दिया। स्वयं रुपया जुटाकर बिहार में भूकंप-पीड़ितों की सेवा के लिए कैंप खोला और उसी में अपने को लगाया। भूकंप पीड़ितों की सेवा से अवकाश पाने के बाद सुंदरलालजी ने अपने आपको हिंदू-मुसलिम समस्या के सांस्कृतिक पहलू के अध्ययन में लगाया।

एक समय था जब गाँधीजी ने हिंदी के प्रचार पर बहुत जोर दिया था। अहिंदी भाषा भाषी प्रांतों में हिंदी का प्रचार गाँधीजी के प्रभाव द्वारा ही हुआ। गाँधीजी ने जो हिंदी को अपनाया उसके अंदर राष्ट्रीय और जनवादी भावना थी। पर १९४० के आसपास गाँधीजी ने हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा के आसन पर बैठाने का गंभीर प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के पीछे भी एक लोकोत्तर मानवीय भावना है—हाँ, वैज्ञानिक विचार का उसमें अभाव भी है। जिस समय राष्ट्रभाषा की समस्या में गाँधीजी का मन व्यस्त था, उन्होंने सुंदरलालजी को वर्धा बुलाया। प्रभात का सुहावना समय था, गाँधीजी और सुंदरलालजी बैठे थे। बात कुछ इस तरह की चल रही थी कि हिंदुओं का हिंदी से चिपटे रहना और मुसलमानों का

उर्दू से चिढ़ते रहना, दोनों के पीछे राजनीति है—अँगरेजों की कोई चाल है।

सुंदरलाल—बापू, रोग की जड़ यह नहीं है। रोग की असली जड़ कहीं और है।

गाँधीजी—तो कहाँ है रोग की जड़?

सुंदरलाल—बापू, रोग की असली जड़ इसमें है कि जब एक हिंदू कहता है—सभापति महोदय, देवियो और सज्जनो—तब उसे जाने या अनजाने ऐसा लगता है कि वह हिंदू धर्म को निबाह रहा है, वेदों या हिंदू-संस्कृति के कुछ अधिक निकट है। जब कभी उसे कहना पड़ता है—हजरत सदर, खवातीन और हजरात—तब उसे ऐसा लगता है कि वह हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति से गिर रहा है। इसी तरह जब कोई मुसलमान कहता है—हजरत सदर, खवातीन और हजरात—तब उसे ऐसा लगता है कि वह इसलाम को निबाह रहा है, पैगंबर और जन्नत के नजदीक जा रहा है। और जब कभी उसे कहना पड़ता है—सभापति महोदय, महिलाओ और सज्जनो—तब उसे ऐसा लगता है कि वह दीन से गिर रहा है, कुफ्र के नजदीक जा रहा है। यह संकीर्ण और जहरीला ख्याल ही दोनों ओर रोग की असली जड़ है। गाँधीजी ने बड़े ध्यान से इसे सुना और कुछ सोचकर कहा—

ये बातें तो मुझमें भी हैं।

सुंदरलाल—तो बापू, पाप की जड़ तो यही है।

इसपर गाँधीजी कुछ देर तक चुप रहे और फिर उन्होंने कहा—

सच कहते हो, बिलकुल सच कहते हो। मैं इस पाप को अपने अंदर से निकालकर रहूँगा।

इसके बाद गाँधीजी ने जान-बूझकर जहाँतक हो सका, अपनी बातचीत में उर्दू और फारसी का प्रयोग शुरू किया। ये प्रयोग प्रायः गलत और बेमौजूँ भी होते थे। पर फिर भी गाँधीजी उनका उपयोग करते थे। गाँधीजी का 'हिंदुस्तानी' शब्द पर जोर देना और दोनों कौमों से दोनों भाषाओं के सीखने का आग्रह करना; वस्तुतः एक किस्म का राष्ट्रीय पाप का राष्ट्रीय प्रायश्चित था। यह अलग बात है कि बुद्धि-संगत न होने से यह प्रायश्चित कुछ और राष्ट्रीय पापों की सृष्टि करता। पं० सुंदरलालजी की भाषा नीति में भी यही दोष है। वह संस्कृति नहीं कहेंगे, क्योंकि मुसलमानों को इसके बोलने का अभ्यास नहीं है, वह 'संस्कृति' शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते। इसीलिए सुंदरलालजी 'संस्कृति' की जगह 'कलचर' शब्द का इस्तेमाल करते हैं, क्योंकि मुसलमान इसका प्रयोग कर सकते हैं। यहाँ भी अपने एकपक्षीपन के कारण सुंदरलालजी व्यर्थ में हिंदी विरोधी हो गए हैं। जातियों के मिलाने और जातियों के उठाने का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि वैज्ञानिक सत्य, सौंदर्य-बोध और परंपरागत विकासक्रम का उच्छेद कर दिया जाय। जातियों को मिलाने और उठाने के लिए मिलाने और उठानेवाले का जातियों के निकट जाना, उनकी समझ में आने लायक भाषा का बोलना आवश्यक है, पर जातियों को भी आगे बढ़ना होगा—क्योंकि उन्हें मिलना है, विकसित होना है। दोनों क्रियाओं पर ध्यान देना होगा। सुंदरलालजी ने इस तथ्य की ओर नहीं देखा, इसी कारण वह हिंदी विरोधी हो गए।

१९४२ में ९ अगस्त को पं० सुंदरलालजी गिरफ्तार कर लिए गए। कुछ दिनों बाद मैं भी गिरफ्तार हो गया। जेल में सुंदरलालजी को हृदय रोग हो गया। वह बराबर अस्पताल में पड़े रहे। अन्य बहुत से नेता जो हृदय रोग से पीड़ित थे छोड़े गए, पर सुंदरलालजी नहीं छोड़े गए। छः महीने बाद मैं जेल से छूटा। छूटने के बाद मैंने सुंदरलालजी के संबंध में सभी पत्र-पत्रिकाओं में समाचार भेजा और संपादकों से अनुरोध किया कि सुंदरलाल के संबंध में लिखें। कम्युनिस्ट पार्टी के 'लोक-युद्ध' में भी मैंने सूचना भेजी। उसने भी छापा। इसकी सूचना जब सुंदरलालजी को लगी, तब वे बड़े नाराज हुए। उनकी शिकायत थी कि कम्युनिस्ट पत्र द्वारा उनके संबंध में प्रचार क्यों किया गया।

सितंबर १९५१ में माओत्से तुंग की सरकार ने भारत-सरकार से यह अनुरोध किया कि वह १ अक्टूबर को नये चीन के दूसरे वार्षिकोत्सव पर एक भारतीय प्रतिनिधि-मंडल भेजे। इसपर भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने पं० सुंदरलालजी से अनुरोध किया कि वह शीघ्र ही दिल्ली आएँ और चीन जाने के लिए प्रतिनिधि मंडल का गठन करें। सुंदरलालजी ने दिल्ली आकर पंद्रह आदमियों का प्रतिनिधि मंडल गठित किया। यह गुडविल मिशन २० सितंबर, १९५१ को पं० सुंदरलालजी की अध्यक्षता में चीन रवाना हुआ। इस मिशन का चीन की जनता ने

अपूर्व स्वागत किया। इस मिशन के सदस्यों ने कैंटन, पेकिंग, टेंटसन, नानकिंग, शघाई और हाग चू आदि शहरों तथा उनके आसपास की देहातों का परिभ्रमण किया। इसका प्रोग्राम इसके सदस्य ही बनाते थे, चीन-सरकार नहीं बनाती थी। इस मिशन के सदस्य जहाँ भी चाहे जा आ सकते थे, जो कुछ भी देख और समझ सकते थे। चीनी भाषा न जानने के कारण चीनी दुभाषिया जरूर साथ रखना पड़ता था। सुंदरलालजी और कुमारप्पा साहब प्रात काल चीन की गलियों में दूर दूर तक टहलने निकल जाते थे और जिस किसी से भी बातें करने लगते थे। जब-कभी मिल, फैक्टरी और कारखानों में घुसकर काम देखते और मजदूरों से बातें करने लगते थे। मन चाहे रास्ते पर ड्राइवर से मोटर चलाने का इशारा कर देते थे, मोटर जब गाँव मे पहुँच जाती थी, तब मोटर से उतरकर पैदल ही गाँव मे घूमते और गाँववालो से दुभाषिया के जरिए बातें करते थे। इस प्रकार सुंदरलाल और उनके साथियों का मत है कि चीनी भाषा न जानते हुए भी उन्होंने चीन को अच्छी तरह देखा, समझा। चीन से उनको प्रेरणा मिली।

पं० सुंदरलालजी बहुत भावुक हैं, पर उनकी भावुकता में कोमलता को स्थान नहीं है। कोमलता उनके जीवन में मुझे नहीं दिखी। गाँधीजी बच्चों से खेलते थे। पर सुंदरलालजी को मैंने बच्चों में नहीं देखा। बच्चों की समस्या को शायद वह समझ भी नहीं सकते। मेरे बच्चों को दूध की जरूरत थी, पैसा मेरे पास था नहीं—इसपर आप साहब ने कहा—दाल का पानी पिलाओ। सुंदरलालजी काम में बहुत कठोर भी हैं। एक दिन रात को नौ बजे मेरे घर पर आए और चालीस फुलस्केप का मनेसक्रिप्ट देकर कहा कि कल १० बजे के पहले टाइप होकर मिल जाना चाहिए। मैंने कहा—यह कैसे हो सकता है—सवेरे टाइपिस्ट की दुकानें खुलेंगी, दस बजे तक तो असभव है। यह 'असभव' शब्द मेरे मुँह से निकला कि गरज उठे। बोले—तुमसे 'असभव' सुनने आया हूँ। दुकानें मैंने भी देखी हैं। तुम्हें यह कराना होगा और समय से पहले देना होगा। तुम क्लर्क नहीं हो, अपने साधनो का उपयोग करके काम कराओ। और रात भर लगकर—टाइपिस्टों को जुटाकर—मुझे वह काम पूरा करना पड़ा। बहुत दिनों की बात है, श्री विश्वम्भरनाथजी कविता लिखने लगे थे। सुंदरलालजी को मालूम नहीं था। सुंदरलालजी के साथ विश्वम्भरनाथ रेल में सफर कर रहे थे। थोड़ी देर में उन्होंने अपनी कविता की कापी निकाली और गुनगुनाने लगे। सुंदरलाल ने सुना, कापी ली और कहा—कविता करते हो, कल्पनालोक म विचरोगे—और कापी फाड़कर रेल से नीचे फेंक दी। कहा—इतिहास पढो, राजनीति पढो।

पं० सुंदरलालजी का जीवन बहुत सादा है। सवेरे फल—आम, अमरूद और बेल—बहुत पसद करते हैं। दोपहर को छोटी, किंतु जरा मोटी चार रोटियाँ और शाक। शाम को सूर्यास्त के आसपास वही चार रोटियाँ, शाक और कुछ घी तथा गुड। रात में एक गिलास दूध। यही उनका आहार है। बहुत सवेरे नित्यकर्म से निवृत्त हो जाते हैं, पर पूजापाठ कुछ नहीं। पैसों की भाव कमी ही उनको रहती है। उनके एक बहुत पुराने मित्र हैं, जो शायद बंबई में रहते हैं, वह जो भेजते हैं, उसे ही स्वीकार करते हैं। इस-लिए कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है कि पास में सिर्फ दो आने पैसे हैं। अत फल भी बद हो जाता है। सुंदरलालजी जेल में बीमार थे। बाहर से कुछ सामान भेजना था, 'विश्ववाणी' का पैसा वह लेते नहीं—यह तो जानता था; पर किसका पैसा वह स्वीकार करेंगे—इसका पता नहीं था। डॉ० ताराचंद से मिला, वह मुस्कराए। उन्होंने सामान खरीदा तो भेजा। इतना कठोर और सादा जीवन है उस व्यक्ति का। पं० सुंदरलालजी संपन्न घर के थे, किंतु फकीरी स्वीकार की। नेतृत्व की ऊँची-से-ऊँची चोटियों पर गए—विचरण किया। पर समझौता न कर सके। जिसे जैसा समझा, वैसा कहा, वैसा ही किया। मन में और, मुँह पर और तथा काम में और—सुंदरलाल के जीवन में नहीं है। अन्याय को अन्याय कहने में कभी न हिचके। हाँ, अन्याय का प्रतिवाद करने में अपने पराए का जरा भेद उनमे भी है। मेरे साथ उनके एक घनिष्ठ व्यक्ति ने अन्याय किया। सुंदरलालजी ने उसे समझाया-बुझाया। अन्याय को अन्याय कहा—पर उसका प्रतिकार न कर सके। किंतु अन्याय पर पर्दा भी उन्होंने नहीं डाला। बलाबल तौलकर व्यवहार करने की आदत सुंदरलालजी को नहीं है। इसलिए कमजोर और गरीब व्यक्ति का नुकसान उनसे नहीं होता। पर इन सब गुणों के साथ ही पं० सुंदरलालजी बहुत बड़े एकबग्गे हैं, इसलिए मुल्क को उनसे जितना लाभ होना चाहिए, उतना अभी तक नहीं हो सका।

ओब्लाको वेस्तनिक*

श्री वी० राजेंद्र ऋषि

१६५० में रूस जाने से पूर्व मैंने सुन रखा था कि तुलसी-कृत रामायण और महाभारत का रूसी भाषा में अनुवाद हो चुका है। सो, मास्को जाते ही मैंने इनकी एक एक प्रति खरीद ली। मुझे यह जानने की बड़ी उत्कंठा थी कि रूसी भाषा में और किन किन भारतीय साहित्यिक कृतियों का अनुवाद हुआ है। वहाँ मित्रों से बातचीत करने तथा लेनिन लाइब्रेरी की कैटलॉग से जाँच पड़ताल करने पर पता चला कि भर्तृहरि के पदों, अश्वघोष के बुद्धचरित, हितोपदेश, पंचतंत्र और कालिदास की अमर कृतियों—शकुंतला, विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र और मेघदूत का भी रूसी भाषा में अनुवाद हो चुका है। शकुंतला, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र एक ही पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए हैं और इसकी एक प्रति मुझे आसानी से ही मिल गई, परंतु मेघदूत के अनुवाद की प्रति मुझे बड़ी ढूँढ और प्रतीक्षा के पश्चात् १६५२ में वापस भारत लौटते समय एक बुकनिस्तीचेस्की मेगज़ीन (सेकेंड हैंड पुस्तक-विक्रेता) से मिली।

मेघदूत का रूसी अनुवाद पी० रित्तेर ने अक्तूबर क्रांति से चार वर्ष पूर्व अर्थात् १६१३ में किया था और इसको वियोग्राफिया पेचातनोय देलो (प्रकाशन-गृह), कौतोरम्काया (सड़क का नाम), क्लेश्चेवस्की मेरेउलोक (गली का नाम), खारकोव, ने १६१४ में प्रकाशित किया। यह अनुवाद रित्तेर ने गोडबल एंड परब, बंबई द्वारा प्रकाशित मेघदूत के संस्कृत टेक्स्ट तथा मल्लिनाथ की टीका से किया है और छंदों के नंबर भी उसके अनुसार ही दिए हैं। अपने अनुवाद में उन्होंने गिल्डमेस्टर (१८४१), शतेन्सलर (१८७४), वेलके Ein Beitrag Zur text kritik von kalidasa's Meghduta (1907) ग्यारहवीं चौदहवीं में किए गए तिब्बती भाषा के अनुवाद और भारत तथा यूरोप में छपे अन्य मूल संस्कृत टेक्स्टों से भी सहायता ली है। अनुवाद पद्य में है और विस्तारपूर्ण टीका से युक्त है।

अनुवाद के प्रारंभ में रित्तेर ने मंदाक्रांता छंद की जिसमें मेघदूत लिखा गया है, व्याख्या की है और रूसी पाठकों की सुविधा के लिए मंदाक्रांता के रूसी रूपांतर (lento adante) की संगीत लिपि भी लिखी है।

पुस्तक के प्रारंभ में भारत के प्रसिद्ध कलाकार अवनींद्रनाथ ठाकुर का चित्र है जो उन्होंने विशेष कर मेघदूत के लिए ही बनाया था और जो पूर्वमेघ के ४५ वें छंद के द्वितीय पद—सिद्धद्वंद्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः (अर्थात् हाथ में वीणा लिए हुए अपनी स्त्रियों के साथ वे सिद्ध लोग तुम्हें मिलेंगे जो अपनी वीणा भीग जाने के डर से तुमसे दूर ही रहेंगे) की व्याख्या करता है।

पंद्रह पन्नों की अपनी भूमिका के प्रारंभ में रित्तेर लिखते हैं कि सर्वप्रथम यूरोप के विद्वान विलसन ने मेघदूत का संस्कृत टेक्स्ट तथा टीका से युक्त पद्य में सुंदर अनुवाद १८१३ में कलकत्ते से प्रकाशित किया था, परंतु कवियों के रत्न कालिदास से यूरोप का परिचय कुछ पूर्व १७८६ में ही हो चुका था जब शकुंतला का अंगरेज़ी भाषा में जोंस-कृत अनुवाद प्रकाशित हुआ था। इसके ठीक दो वर्ष पश्चात् फेरेस्ट्र का जर्मन भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुआ जिसकी प्रशंसा स्वयं गेटे ने अपने प्रसिद्ध चतुष्पदी छंद में की है जिसका हिंदी रूपांतर यह है—

'यदि आप यौवन-वसंत का पुष्पसौरभ और प्रौढ़त्व तथा ग्रीष्म का मधुर फल परिपाक एकत्र देखना चाहते हैं, अथवा अंतःकरण को अमृत के समान संतृप्त और मुग्ध करनेवाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हैं, अथवा स्वर्गीय सुषमा एवं पार्थिव ऐश्वर्य—इन दोनों के अभूतपूर्व संमिलन की झाँकी देखना चाहते हैं, तो एक बार शकुंतला का अनुशीलन कीजिए।'

उन्होंने मेघदूत के विषय में भी लिखा है—

'अपनी आत्मा से संबंध रखनेवाले व्यक्ति के पास मेघ को दूत बनाकर भेजना कौन नहीं चाहेगा?'

* रूसी भाषा में मेघदूत को ओब्लाको वेस्तनिक कहते हैं।

तत्पश्चात् भारत तथा यूरोप में मेघदूत के भिन्न भिन्न भाषाओं में अनुवादों के असंख्य संस्करण छपे, परंतु रूसी भाषा में अनुवाद विलसन के अनुवाद की शताब्दी जुबली पर या यों कहिए कि स्वयं कालिदास के जीवन काल से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुआ है।

शिलालेखों और प्राप्य मुद्राओं के आधार पर रित्तर कालिदास को चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१३ सन् ई० का समकालीन मानते हैं। वह लिखते हैं कि गुप्तवंश के राज्यकाल में—चौथी से छठी शताब्दी के स्वर्णयुग में—कला तथा साहित्य का बहुत वृद्धि हुई। इस युग में काव्यशैली पूर्णरूप से निखर चुकी थी और काव्यगत रूढ़ियों का विकास हो चुका था।

रित्तर मैक्समूलर के मत का—चौथी से छठी शताब्दी तक होनेवाले भारत के पुनरुत्थान (Renaissance of India) का—समर्थन नहीं करते। वे लिखते हैं कि नई-नई खोजें मैक्समूलर द्वारा प्रस्तावित पूर्ववर्ती शताब्दियों में—विशेष कर शक-आक्रमण-कालीन और मध्यभारत में तथाकथित कुशान राज्य कालीन संस्कृत साहित्य में—बर्बरता तथा विशाल दरार का सर्वथा खंडन करती हैं। १८९२ ई० में सिल्वन लेवी ने प्रथम और द्वितीय शताब्दी के कुशान सम्राट् कनिष्क के समकालीन अश्वघोष के बुद्धचरित का पता लगाया। अब यह ग्रंथ भी रूसी जनता को बेलमोंट के अमूल्य अनुवाद के रूप में सुलभ है। यह ग्रंथ उस समय की विकसित साहित्य कला का एक अनुपम नमूना है और वाल्मीकीय रामायण तथा कालिदास की कृतियों का मेल करने में एक कड़ी का काम देता है। अभी अभी मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान में अश्वघोष के नाटक शारिपुत्र प्रकरण के कुछ अंश मिले हैं। इससे पता चलता है कि उस समय की नाट्य-कला तथा संस्कृत और प्राकृत गद्य-पद्य पूर्णतया विकसित हो चुके थे। रित्तर ने आशा प्रकट की है कि भविष्य में भी ऐसी नई नई बातों का पता चलेगा जिनमें अश्वघोष और कालिदास-युग में पड़ी तथाकथित दरार का सर्वथा लोप हो जायगा और मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में उल्लिखित भास, सौमिल्लक और कविपुत्र के नाम कल्पित मात्र न रहकर उसी प्रकार वास्तविक हो जायँगे जिस प्रकार लंका के विद्वान धर्मवीर द्वारा की गई खोज से कालिदास के पश्चात् जानकीहरण के लेखक कुमारदास का नाम वास्तविक हो चुका है। इस संबंध में रित्तर आगे चलकर अपनी टीका में लिखते हैं कि भास का नाम अब कल्पित नहीं रहा है, क्योंकि भारत के पंडित गणपति शास्त्री को त्रावनकोर में भास के ग्यारह नाटकों की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं।

इसके बाद रित्तर अपनी भूमिका में लिखते हैं कि कालिदास की जीवनी के विषय में कल्पित कथाओं के अतिरिक्त कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता, उनके नाम तथा उनकी कृतियों के आधार पर वह उन्हें शैव मानते हैं तथा सांख्य योग दर्शन और उपनिषदों का पंडित स्वीकार करते हैं।

रित्तर लिखते हैं कि मेघदूत एक रालेगीचेस्की इ रनाप्तनी मोनोलोग (करुणा पूर्ण सर्तम स्वगत उद्गार) है। इसमें *कल्पना तथा मध्य भारत से हिमालय तक के पर्वत-*मार्ग के वास्तविक भौगोलिक वर्णन का मधुर सामंजस्य है। मेघदूत की कथा का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् वह लिखते हैं—

यात्रा-मार्ग, तत्पश्चात् कुबेर के कल्पित राज्य तथा स्वयं यक्ष के निवास-स्थान का वर्णन और साथ साथ पौराणिक तथा कल्पित कथाओं से लिए गए झुकाव और दृष्ट चित्र कालिदास की काव्य-कला के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। कवि ने इन पृथक् पृथक् छंदों को जो प्रत्येक अपने आपमें संपूर्ण परिमार्जित और विनीत चित्र है, एक एक करके अमूल्य कंठहार की भाँति पिरो दिया है और उन रंग बिरंगे चटकदार पत्थर रूपी छंदों से एक सुंदर और अनुपम पच्चीकारी का चित्र तैयार कर दिया है। यक्ष जैसे कल्पित प्राणी की, जिसको विधि ने केवल प्रेम तथा संभोग का आनंद उठाने के लिए जन्म दिया था, परंतु जो विरह का बुरी तरह शिकार हो गया, मानसिक अवस्था के वर्णन के रूप में कवि की संगीतात्मक करुणा वह निकली है। इसी प्रकार कवि ने अग्निमित्र के मुख से *भी कहलवाया था*—

अनातुरोत्कंठितयोः प्रसिद्धया
समागमेनापि रतिर्न मां प्रति।
परस्पर - प्राप्तिनिराशयोर्वरं
शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः ॥

—(मालविकाग्निमित्र-३—१५)

अर्थात् जहाँ एक मिलने के लिए व्याकुल हो और

दूसरा मिलना ही न चाहता हो वहाँ उसका मिलना और न मिलना बराबर है। पर जहाँ दोनों मिलने के लिए अधीर हों और दोनों एक दूसरे से मिलने से हाथ धो बैठे हों, वहाँ प्राण भी देना पड़े तो बुरा नहीं।

रित्तेर लिखते हैं कि भारतीय कविता को समझने के लिए रसों का, जिनको यूरोपवाले (Aesthetic enjoyment) नाम से जानते हैं, ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इसलिए उन्होंने अपनी भूमिका में आठों रसों—शृंगार, हास्य, करुणा रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत तथा इनके संचारीभाव—रति, हास, शोक, क्रोध, वीर, भय, जुगुप्सा और विस्मय की व्याख्या की है। उनके मतानुसार मेघदूत में शृंगार रस प्रधान है और शृंगार रस में भी विप्रलंभ शृंगार। वह लिखते हैं कि प्रेम विरह वर्णन में हिंदू बड़े दक्ष थे और उनके विरह वर्णन जर्मन रोमांटिसिज्म का जेहनसुक्ट (Sehnsucht) अर्थात् विरह-आतुरता है। हिंदू अब भी शेक्सपीयर के रोमियो, जूलियट और वाग्नेर के त्रिस्तान और इसाल्दा का बड़ा मूल्यांकन करते हैं, क्योंकि जूलियट के शब्द Too early seen unknown and known too late अर्थात् 'बिना परिचय प्राप्त किए बहुत ही जल्दी देख लिया और पहचाना बहुत देर में' और इजाल्दा के शब्द Mir erkoren, mir verloren अर्थात् 'स्वयं पाया और स्वयं खो दिया'—भारतीय विप्रलंभ-शृंगार के सार हैं।

अंत में रित्तेर लिखते हैं—'भारत के आधुनिक आलोचक रंगाचार्य ने कालिदास के इस करुणापूर्ण गीति-काव्य का कुशलतापूर्वक तथा सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण किया है। इसमें उन्होंने अपने इष्ट प्राणी के जीवन संरक्षण के लिए आत्म त्याग से अभिभूत उसके नायक के अनुराग की तीव्रता का चित्रण करके यह सिद्ध किया है कि यह प्रेम में आत्म विस्मरण (The pathos of self-forgetful love) ही इस रस का आधार है। क्या यूरोपीय रस, जिसे हम Aesthetic enjoyment कहते हैं, मेघदूत की कविता का इस अर्थ में आस्वादन करा सकेगा? मेरा विचार है कि अवश्य करा सकेगा, यद्यपि इस रस के कारण और अवस्थाएँ यूरोपवालों की चेतना द्वारा इतनी दुर्ग्राह्य हैं कि यूरोपवालों को भी भारतीय व्याख्या की ओर भागना पड़ता है और महाकवि कालिदास के इस छंद की ही शरण लेनी पड़ती है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जन्मान्तर-सौहृदानि ॥
—(शकुंतला ५—२)

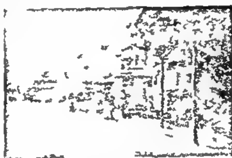
अर्थात् सुंदर सुंदर वस्तुएँ देखकर और मीठे मीठे शब्द सुनकर जब सुखी लोग भी उदास हो जायँ तब यही समझना चाहिए कि उनके मन में पिछले जन्म के जो प्रेम-संस्कार छिपे बैठे हुए हैं वही अपने आप जाग उठे हैं।



प्रकृति के दो मनोरम क्रीड़ास्थल—मसूरी और नैनीताल

श्रीयुत महेशचंद्र 'सरल'

उत्तर प्रदेश में जहाँ गंगा यमुना-जैसी पवित्र नदियाँ और काशी प्रयाग जैसे तीर्थराज हैं, वहाँ मसूरी नैनीताल-जैसे प्रकृति के मनोरम क्रीडास्थल भी हैं, जहाँ के आकर्षण में बँधकर सहस्रों व्यक्ति राज्य ही के क्या, समस्त देश के कोने-कोने से प्रतिवर्ष उन सुरम्य उपत्यकाओं, वनों और पर्वतीय शृंखलाओं में विचरण करने आते हैं। वास्तव में ये पहाड़ी प्रदेश इस प्रांत के लिए नैसर्गिक देन हैं, जहां बिजली, पानी, टेलीफोन और यातायात के साधनों को उपलब्ध कर उन्हें सर्व सुलभ बना दिया गया है।



किंग क्रेग मसूरी का मोटर बस-स्टेशन

मसूरी

मसूरी देहरादून से २२ मील उत्तर की ओर समुद्री धरातल से ६५५० फुट की ऊँचाई पर स्थित है, किंतु यहाँ का सबसे ऊँचा स्थान ७२१३ फुट की ऊँचाई पर है। जो नैनीताल की झील का मनोरम दृश्य देख चुका है, उसे किंग क्रेग (मसूरी के बस-स्टेशन) पर पहुँचते ही बड़ा अजीब सा लगने लगता है। यहाँ से ऊपर तक जाने के तीन मार्ग हैं जिनपर मोटर और रिक्शा भी चलते हैं। मसूरी की परिक्रमा कर लेने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस पहाड़ी नगर को आकर्षक बनाने में अँगरेजों ने जो बुद्धि व्यय की है वह प्रशंसनीय है। उस काल की बहार तो वहाँ अब नहीं है, किंतु जो कुछ शेष है, वही कम नहीं है। कई मील



मसूरी का कुलड़ी बाजार

के क्षेत्र में नगर बसा हुआ है। विस्तृत और विशाल कोठियाँ समय के परिवर्तन के साथ अब अपने भाग्य पर आँसू बहा रही हैं। जमींदारी, ताल्लुकदारी और अँगरेजी शासन के चले जाने से, अनेक भारतीय अफसर, उद्योगपति और पूँजीपति भी अब गर्मियों में अपने पहाड़ जाने के शौक को चिरस्थायी रखने की साध लेकर अपने पिछले दिनों की समाधि पर दो आँसू बहा आते हैं। अब स्वतंत्र भारत में उनकी वह शान शौकत कहाँ रह गई? कोठियों पर 'टू लेट' की प्लेटें दिखाई पड़ती हैं। रामपुर की चमन-स्टेट बिल्डिंग और पटियाला के लंबे लंबे विशाल भवन किराए पर उठाए जाने के लिए खाली रहते हैं।

मसूरी में दो मुख्य सड़कें हैं। एक माल रोड के नाम से प्रसिद्ध है जो लाइब्रेरी बाजार से प्रारंभ होकर कुलड़ी बाजार होती हुई लंधौर बाजार तक चली जाती है। दूसरी सड़क है कैमेल्स बैंक रोड, जो गनहिल के पीछे से घूमकर लाइब्रेरी बाजार के पास पहुँचती है। यहाँ से मसूरी के प्रसिद्ध होटल—सेवाय और शार्लविले तक जाने के लिए भी सुंदर सड़क का निर्माण किया गया है। कैमेल्स बैंक रोड शांत प्रकृति के स्त्री पुरुषों के लिए विशेष उपयुक्त है। गनहिल ७०२६ फुट ऊँची है और उस विशाल शुष्क पर्वत-खंड की आकृति ऊँट की पीठ की भाँति कूबड़ निकली दिखाई पड़ती



मसूरी का लंधौर बाजार

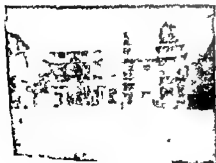
है। मालरोड पर मसूरी के मुख्य बाजार सरकारी कार्यालय, बैंक, सिनेमाघर, बालरूम और पुलिस स्टेशन हैं। यह सड़क मैदान के किसी सुंदर नगर की सड़क-सी सीमेंट की बनाई गई है, जिसपर रोशनी, बिजली, पानी और सफाई का प्रशंसनीय प्रबंध है। शाम होते होते इस सड़क पर चहल-पहल होने लगती है, जो रात तक रहती है। अनेक प्रकार के वस्त्रों से सज्जित स्त्रियाँ, बच्चे और पुरुष इस सड़क की शोभा बढ़ाते हैं। दूकानों पर सब तरह की वस्तुएँ उपलब्ध हैं, किंतु मँहगाई बहुत बढ़ी है। कपड़ों के इतने सुंदर डिजाइन कहाँ अन्यत्र मिलेंगे? संसार के सभी देशों से निकलनेवाले समाचारपत्र, मासिक और साप्ताहिक पत्र पत्रिकाएँ तथा सभी विषयों की अँगरेजी पुस्तकों का भंडार मसूरी में मिलेगा। यहाँ पाँच सिनेमाघर, दो बालरूम तथा दो स्केटिंग करने और बिलियर्ड खेलने के स्थान हैं। हैकमैन थियेटर के नाम से एक अन्य मनोविनोद का स्थान है। यहाँ के रेस्तराँओं और होटलों की गिनती लगाना कठिन है। मुख्य होटल सेवाय, शार्लविले, मन्लिगार और हिमालया हैं।



नैनीताल की नैनी झील से उत्तर—मालरोड का एक चित्र

यहाँ का सबसे उत्तम प्रबंध जिसकी ओर पर्यटकों का ध्यान जाता है—सफाई, प्रकाश, पानी तथा टेलीफोन की सुव्यवस्था है। यहाँ नैनीताल की अपेक्षा घोड़ों और डाँडी का कम प्रयोग होता है। शिक्षा की ओर मसूरीवालों की रुचि यथेष्ट है। लड़कों और लड़कियों के कई स्कूल तथा कालेज हैं। बार्लोगंज में ईसाइयों का सेंटजार्ज नामक बहुत बड़ा स्कूल है। डाक, तार और रेलवे से आए सामानों को शीघ्र-से-शीघ्र पहुँचाने की व्यवस्था यहाँ की विशेषता है। गरीब कुलियों की दयनीय दशा जो नैनीताल में है, वही यहाँ भी है। चिकित्सा का प्रबंध यथेष्ट है। एक एलोपैथ तथा एक होमियोपैथ अस्पताल है। एक पशु चिकित्सालय भी है। लालटिब्बा यहाँ का सबसे ऊँचा स्थान है जहाँ अमेरिकियों का आवास है, किंतु वे अब कम होते जा रहे हैं। पंजाबी, सिंधी और सीमांत से आए शरणार्थी अधिक संख्या में बस गए हैं जिन्होंने अन्य नगरों की भाँति यहाँ का भी व्यापार अपने हाथों में ले लिया है। प्रतिवर्ष सौंदर्य-प्रतियोगिता में सर्वश्रेष्ठ सुंदरी को 'मिस मसूरी' की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

मसूरी के प्राकृतिक दर्शनीय स्थानों में सर्वप्रथम कैंपफाल है जो लगभग सात मील दूर—मसूरी चकराता सड़क पर कई सौ फुट नीचे जाने पर देखने को मिलता है। यहाँ ४० फुट ऊपर से पानी गिरता है। सबसे मनोरम स्थान यही कहा जा सकता है। एक दूसरा भासीफाल भी है जो मसूरी-राजपुर रोड पर तीन मील दूर स्थित है। यहाँ ६-१० फुट से पानी गिरता है। गनहिल पर पानी पहुँचाने के लिए दो बड़े बड़े हौज बनाए गए हैं तथा बिजली की शक्ति से तारों पर चलाई जानेवाली एक 'बास्केट' है जो पल भर में नीचे से ऊपर सामान पहुँचा देती है। वैसे यहाँ की चढ़ाई बड़ी बेढंगी है। कुछ स्थानों पर हैंगिंग ब्रिज भी बनाए गए हैं। सिटी बोर्ड द्वारा संचालित एक म्यूनिसिपल गार्डेन तथा पार्क हैं। उक्त दोनों स्थान बड़े मनोरम हैं। लाइब्रेरी बाजार की शोभा दर्शनीय है। यहाँ सौंदर्य की हाट - सी



मसूरी का प्रसिद्ध लाइब्रेरी बाजार



मसूरी का एक मनोरम दृश्य



तल्ली ताल का एक दृश्य

लगती देखी जा सकती है। यहाँ मनोविनोद के लिए रेकार्ड बजाए जाते हैं। स्त्रियों और पुरुषों के बैठन के लिए सम्मिलित और अलग-अलग स्थान बना दिए गए हैं।

मसूरी को आकर्षक और सुरम्य बनाने के लिए मनुष्य के मस्तिष्क ने बड़ा परिश्रम किया है। प्राकृतिक दृश्य तो पहाड़ पर रहते ही हैं, किंतु उन सबमें मनुष्य अपनी कला का परिचय देकर उनकी उपयोगिता और भी बढ़ा दे तो निस्संदेह वह स्थान और उसके दृश्य एक बार देख लेने पर सहज ही नहीं भुलाए जा सकते। यहाँ अब भी अँगरेजी का बोलबाला है। अँगरेजी पहनावा तथा अँगरेजी भाषा का प्रयोग करने में लोग अपना गौरव समझते हैं। यहाँ के दिन मैदानों की भाँति ही लंबे होते हैं, पर नैनीताल के दिन मैदानों में होनेवाले जाड़ों की भाँति छोटे होते हैं। यहाँ के बादल और वर्षा के हृदयग्राही दृश्य भावुक मन के लिए चिर स्मरणीय निधियाँ हैं।

नैनीताल

मोटर बस से उतरते ही नैनीताल की मोहकता मन को छू लेती है—यह प्रत्येक यात्री का अनुभव है। काठगोदाम से २०-२१ मील ऊपर ५ और ६ हजार फुट के बीच समुद्री धरातल की ऊँचाई पर नैनीताल स्थित है। झील के किनारे उत्तरी माल रोड पर आपके पैर स्वत ही चल देंगे। अँगरेजी युग का नैनीताल अब भी वैसा ही बस रहा है। रहने सहने का ढंग सूट और टाई में कसा है। स्त्रियाँ भी पैंट और ब्रीचेज की जेबों में हाथ डाले चलती हैं। भारतीय स्त्रियाँ भी यूरोपियन ढंग के बाल रखती हैं। घोड़ों की सवारी का उनका शौक पुरुषों से किसी प्रकार भी कम नहीं है नैनीताल की छाया में, पुष्प के ऊपर मुग्ध तितलियों की भाँति यौवन का उफनाता स्रोत सहज ही इन युवतियों के हृदय में हिलोरें लेता रहता है। किंतु उनके बीच में दिखाई पड़ते हैं वे गंदे पहाड़ी जो रिक्शा खींचते हैं, जिनकी साँस पशुओं की भाँति तेजी से चलने लगती है और जो हंटर की मार से बचने के लिए जैसे दौड़कर चलना ही अपना जीवन समझते हैं। घोड़ों पर अँगरेजों और भारतीय साहबों के बच्चों को बिठाए मीलों उनके पीछे दौड़नेवालों की भी एक श्रेणी नैनीताल में बसती है। उनके जीवन में क्या सुख है—यह इन पंक्तियों का लेखक कल्पना भी नहीं कर सका।



नैनीताल का मनोरम दृश्य

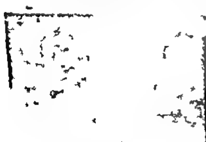
नैनीताल की मुख्य दो सड़कें हैं—एक उत्तरी तथा दूसरी, दक्खिनी माल रोड। दोनों झील के दो ओर से जाकर मल्लीताल और तल्लीताल में मिल जाती हैं। मल्लीताल में मंदिर, गुरुद्वारा, मस्जिद और चर्च—सभी पास-ही पास हैं। शाम को जो छटा मसूरी में लाइब्रेरी बाजार में देखने में आती है, वही नैनीताल में फ्लैट पर आती है। यहाँ हाकी का मैदान है, बच्चों के खेलने का प्ले ग्राउंड है तथा सिनेमाघर और स्केटिंग हाल भी है। ऊपर मल्लीताल का मुख्य बाजार है। तल्लीताल का अपना अलग बाजार है। यहीं ऊपर गवर्मेंट हाउस, जेल, कचहरी तथा फारेस्ट विभाग के कार्यालय हैं। झील के दोनों ओर पेड़ों की पंक्तियाँ हैं जिनसे सर सर करके हवा तीव्र गति से बहा करती है। शुभ्र रात्रि में नाव पर झील की सैर करने में जो आनंद है, वह अवर्णनीय है। दिनभर नावों को एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं मिल पाता है।



नैनी झील के किनारे पर फव्वारे का दृश्य

नैनीताल के दर्शनीय स्थानों में 'स्नो व्यू' का अपना विशेष स्थान है। यह अधिक चढ़ाई पर नहीं है, किंतु जाड़ों में जब बर्फ पड़ती है तब यहाँ से उसे देखकर मन को जो आनंद प्राप्त होता है, वह स्वयं देखने से संबंध रखता है। यहाँ से एक गहरा खड्ड दिखाई पड़ता है जिसमें दूर पतली लकीर सा अलमोड़ा जाने का मार्ग दिखाई पड़ता है। 'लड़िया काँटा' नाम का एक और स्थान यहाँ से दिखाई पड़ता है। 'स्नो व्यू' देखकर लौटने समय मार्ग में बिड़ला विद्या मंदिर पड़ता है। वहाँ जाने के लिए कठिन चढ़ाई करनी पड़ती है। मार्ग में विद्या मंदिर के विद्यार्थी दिखाई पड़ते हैं जिनका हृष्ट-पुष्ट शरीर और प्रसन्न मुख मन को आकृष्ट कर लेता है। काफी ऊँचाई पर विद्या मंदिर बना है, जिसके ऊपर फिर पहाड़ नहीं है, आकाश की छाया है। यहाँ रहने, खाने, खेलने तथा पढ़ने आदि की सारी व्यवस्था है। यहाँ से सामने दूर-- नीचे भुवाली के छोटे छोटे मकान स्पष्ट देख पड़ते हैं और वहाँ तक जानेवाला मोटर का मार्ग काले साँप सा प्रतीत होता है।

मई के अंत से यहाँ फूल खिलने प्रारंभ हो जाते हैं। इससे नैनीताल की शोभा और भी बढ़ जाती है। झील के किनारे किनारे छोटे छोटे पार्क बने हैं जिनमें फूल यत्न से लगाए जाते हैं। यहाँ बेंच पर बैठकर झील का आनंद लिया जा सकता है। झील में मछलियों का शिकार करना यों तो आज्ञा की अवहेलना करना है, किंतु, फिर भी शिकारी अपने खाने भर को मछलियाँ ले ही जाते हैं। गवर्नर के लिए इस झील के किनारे अलग 'बोट हाउस' बना है जहाँ उनके परिवार के व्यक्ति ही जा सकते हैं। इसी प्रकार माल रोड पर उनके या मिनिस्टर के अतिरिक्त अन्य किसी की मोटर नहीं चल सकती।



नमी भील का एक दृश्य

'लैंड्स एंड', 'टिफिन टाप्स' तथा 'चीना पीक' यहाँ के अन्य स्थान हैं,



नैनीताल की एक मनोरम झाँकी

जिन्हें नैनीताल जाने पर देखना जरूरी हो जाता है। 'लैंड्स एंड' के आगे पहाड़ समाप्त पर है। सामने सैकड़ों फुट गहरा खड्ड है जिसमें एक गाँव बसा दिखाई देता है और उसके हरे भरे खेत भी। इन स्थानों का रास्ता या तो ठीक है, किंतु सूखी पत्तियों पर पैर फिसल जाने का डर रहता है। 'टिफिन टाप्स' भी इसी मार्ग में है किंतु वहाँ की चढ़ाई बेढंगी है। चारों ओर निर्जनता बिखरी रहती है। केवल नीचे जंगल में कभी कभी लकड़ी काटने की आवाज सुनाई पड़ जाती है। इस स्थान से नैनीताल का पूरा दृश्य जिसमें गवर्मेंट हाउस मुख्य है, स्पष्ट दिखाई पड़ता है। मल्लीताल के सामनेवाली झील का दृश्य भी साफ झलकता है। यह यहाँ की ऊँची चोटियों में से एक है। 'चीना पीक' यहाँ की सबसे ऊँची चोटी है। कई घंटे का रास्ता है और मार्ग की चढ़ाई हिम्मत हरा देती है। सीधी चढ़ाई इस मार्ग में अधिक है। यहाँ एक प्लेट लगी है जिसमें, अलमोड़ा, नंदादेवी-शिखर, बदरीनाथ मंदिर तथा मुक्तेश्वर आदि अनेक स्थानों की ऊँचाई और दूरी लिखी है। यहाँ से नैनीताल साफ झलकता है। विस्तृत मैदान में, स्थान स्थान पर, पर्यटक कहीं चाय बनाते मिलते हैं, कहीं ताश खेलते मिलते हैं और कहीं संगीत का आनंद लेते मिलते हैं।

गवर्मेंट हाउस नैनीताल की इमारतों में सबसे भव्य और दर्शनीय है। यहाँ तक आने के लिए मोटर का मार्ग बना है। रंगीन मछलियों से भरे तालाब, छोटे छोटे फूलों के उद्यान तथा भवन की सजावट विलायत से लौटे हुए किसी

हाराजा के सुसज्जित राजमहल से कम नहीं है। निकट एक विशाल गिरजाघर बना है।

प्रत्येक शनिवार को मल्लीताल की नदादेवी के मंदिर में विशेष भीड होती है। स्त्री पुरुष बड़ी संख्या में प्रसाद चढाने आते हैं तथा देवी के आशीर्वाद के रूप में भक्तगण नया तिलक तथा सिर पर फूलों की पखुडियाँ रखकर लौटते हैं। मंदिर के निकट ही कीर्तन हॉल में साधु संतों के उपदेश होते हैं। निकट ही गुरुद्वारे पर नानकशाही झंडा लहराता है और शाम को मस्जिद में मुल्ला अजान देता है। तल्लीताल में आर्य समाज एक संकीर्ण गृह में करवट बदलता है। मसूरी में जिस प्रकार होटलों की संख्या अपरिसीम है उसी प्रकार नैनीताल में गिरजाघरों की।



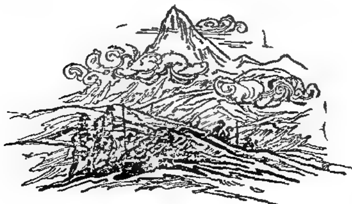
नैनीताल में एक विशाल शिला खंड

प्रत्येक रविवार का मनोविनोद के विशेष कार्यक्रम रहते हैं। अँगरेजी और देशी गर्त और संगीत होता है। रंगीन रोशनी तो नैनीताल का जीवन है। झील के किनारे का रात्रि का यह दृश्य विस्मृत नहीं किया जा सकता। दिन में पालदार नावों की दौड होती है। फ्लैट में बने मैदान में हाकी मैच देखने सहस्रो व्यक्ति एकत्र होते हैं। कई स्थानों पर टेनिस खेला जाता है। नैनीताल में खेलों का प्रचार काफी है।

मसूरी की अपेक्षा यहाँ हिंदी अधिक अपनाई गई है। म्यू० बोर्ड की लाइब्रेरी में हिंदी में हस्ताक्षर करने का अनुरोध किया जाता है। पोस्टर और दीवार पर प्रचार विज्ञापनों में भी हिंदी लिखी जाती है।

पहाडी स्थान में पगडंडियों में पडकर भटक जाना बडा आसान है। लेखक नैनीताल में विल्ला दिया मंदिर से लौटते समय भटक गया और एक अखबार बाँटनेवाला उन घने जंगलों में न मिल जाता तो न जाने क्या गति होती? ऐसे ही मसूरी में वह 'कैंपटी फाल' पगडंडी के मार्ग से जाने पर भटक गया। पूरे दो घंटे बाद कहीं ठीक रास्ता मिल सका। पहाड़ी लोग अपनी सुविधा के लिए पगडंडियाँ बना लेते हैं जो घोर जंगलों में होकर तथा कठिन मार्गों से जाती हैं। उनपर अन्य किसी का वश नहीं, जो चल सके।

लेखक को झील के कारण नैनीताल पसंद है। लोग कहते हैं कि नैनीताल कुलियों और बाबुओं के लिए है तथा मसूरी महाराजों और नवाबों के लिए। पर लेखक सोचता है कि इस भावना का अंत हो चुका है। सभी अब वर्गहीन समाज की कल्पना करने लगे हैं।



नारी

श्री सुहृद

नर ने निज उत्पीडन से
धरणी में आग लगाई,
नारी यह आग बुझाने
शीतलता बन कर आई;

कारुण्य, प्रेम, कोमलता—
व्याकुल भावों की माया,
नारी ने आ फैलाई
नर-जीवन पर सब छाया;

मानव के तन में दानव,
देखो—यह जग का नर है,
मानव-पुतली में ममता-
प्रतिमा यह जग का वर है;

रमणी ने हृदय जलाकर
नर को दी मंजुल आशा,
अंतर का रक्त पिलाकर
शीतल की तीव्र पिपासा;

नारी ने निज आँसू से
नर का अभिषेक किया है,
बदले में कुत्सित नर ने
उसको बहु क्लेश दिया है;

नर ने लोहे के बल से
नारी पर विजय जमाई,
प्रेमिका किंतु प्रेमी की
करती जा रही बड़ाई;

प्यारी कह कर नारी को
नर ने भ्रम में था डाला,
श्यामा-सी प्राण-प्रिया को
पिंजडे में रख कर पाला;

जल उठी चिता जौहर की
पतियों ने आग लगाई,
करने में दमन प्रिया का
कुछ बात न गई उठाई;

क्या सजा रहे आभूषण
रे नर! क्या इस नूपुर में,
पूजो देवी को लाकर
मन में, लोचन में, उर में।

रेडियो-काव्य-नाटक

श्री सिद्धनाथ कुमार, एम० ए०

हिंदी में काव्य नाटक का जिसे गीतिनाट्य, पद्य रूपक और काव्य रूपक भी कहा जाता है, प्रारंभ स्वर्गीय 'प्रसाद' जी के समय से होता है। उनके बाद अनेक कवियों ने काव्य-नाटक लिखे, यद्यपि इन नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत होने का अवसर कभी नहीं मिला। रंगमंच के अभाव में जब हिंदी के साहित्यिक गद्य नाटकों का ही अभिनय नहीं हो पाता, तब काव्य-नाटकों के अभिनय की बात कौन सोचता ? फिर भी कुछ कवि रंगमंच और अभिनय की चिंता किए बिना शुद्ध काव्य के रूप में काव्य नाटकों की रचना करते रहे। इधर आकर रेडियो स्टेशनों के विकास ने काव्य-नाटकों की सृष्टि को नई प्रेरणा दी है। फलतः अब कई पुराने और नए कवि इस क्षेत्र में उत्साह के साथ काम कर रहे हैं। अब जो काव्य-नाटक लिखे जा रहे हैं, वे रेडियो के लिए ही लिखे जा रहे हैं। प्रस्तुत निबंध में रेडियो-काव्य नाटक की कुछ समाचनाओं और विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

रेडियो-काव्य नाटक ने अत्याधुनिक कविता को एक नई विशेषता प्रदान की है कि वह श्रव्य हो सकती है। काव्य का प्रारंभिक रूप श्रव्य ही था। लोग किसी स्थान पर जुटते थे, और स्वयं कवि के मुख से उसकी कविताएँ सुनकर आनंद प्राप्त करते थे, क्योंकि शब्दों के उच्चरित स्वरूप के द्वारा श्रोता, उन्हें प्रेरित करनेवाली भावनाओं तक, सरलता से पहुँच सकते थे। शब्दों के उच्चरित स्वरूप के साथ मनुष्य की भावनाओं का घनिष्ठ संबंध है। एक ही शब्द को भिन्न भिन्न लहजे में उच्चरित करके, एक ही शब्द या वाक्य की कई बार आवृत्ति करके उनमें हर्ष, शोक, स्नेह, घृणा, क्रोध आदि अनेक भावनाओं की अभिव्यक्ति की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उच्चरित काव्य में कुछ अपनी विशेषता भी होती है। जब काव्य श्रव्य था, श्रोता काव्य में व्यक्त मनुष्य की भावनाओं के अत्यधिक निकट थे। लेकिन प्रकाशन-यंत्र के आविष्कार के बाद से काव्य ने अपने प्रारंभिक गुण खो दिए। प्रो० बुचर ने सत्य ही लिखा है—The art of printing has done much to dull our literary perceptions Words have a double virtue—that which resides in the sense and that which resides in the sound We mi s much of the charm if the eye is made to do duty also for the ear यही कारण है कि आज कवि अपनी वाणी को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए तरह तरह के प्रयोग कर रहे हैं। 'अज्ञेय' जी के शब्दों में—'भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे बड़े टाइपों से सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।' इन पंक्तियों से काव्य के केवल लिखित स्वरूप पर ध्यान रखनेवाले कवि की उलझनें और कठिनाइयाँ समझी जा सकती हैं, साथ ही प्रयोगों के औचित्य का समर्थन भी किया जा सकता है। यद्यपि यह देखते हुए कि इन प्रयोगों के बावजूद कविता लोकप्रिय होने के बदले और भी दुरूह एवं जन समाज से विच्छिन्न होती जा रही है तथापि यह कहा जा सकता है कि तथाकथित प्रयोगों की दिशा गलत है, और रेडियो-प्रसरण के विकास से कविता अपने प्रारंभिक गुणों को पुनः प्राप्त कर सकती है। कवि लुई मैक्नीस ने लिखा है—Few of us would agree with the youthful years that 'Words alone are certain good, but the goodness of words as spoken-and heard is something that radio has restored to us in an age when even some of our poets write as if they were deaf mutes' यह कथन सत्य है, और काव्य-नाटक में इसके लिए अधिक अवकाश है, क्योंकि रेडियो-काव्य नाटकों के प्रस्तुतकर्त्ता एवं अभिनेता प्रयत्न करते हैं कि पात्रों की भावनाओं को अधिकाधिक सफलता से व्यंजित कर सकें।

इस दृष्टि से, आज जब कविता अपनी लोकप्रियता खो रही है, रेडियो काव्य नाटकों का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यह कविता का ह्रास-युग कहा जाता है। लोग इसे स्वीकार करते हैं कि किसी भी साहित्य का सामान्य पाठक आज कविता नहीं पढ़ना चाहता, क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया, आज की कविता दुरूह और नीरस होती जा रही है, किंतु यह बात लिखित कविता के ही संबंध में सत्य है। रेडियो से प्रसारित काव्य श्रोताओं को अधिक नहीं खटकेगा। लुई मैकनीस के शब्दों में—'He (modern public) may dislike the idea of poetry but that is because he has been conditioned to think of poetry as something too sissy, infantile difficult or irrelevant Thus the mere sight of verse on the page (like a menu printed in French) is enough to frighten him off Verse however, when coming out of his radio set, will not strike him at least not too aggressively—as verse' इसका कारण यह बतलाया जा सकता है कि जीवन की जिस तीव्र स्थिति की कल्पना काव्य-नाटक में की जाती है, उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति छंदोमय-लयमय भाषा में ही आ सकती है। उस स्थिति एवं छंदोमय भाषा में पूर्ण सामंजस्य बना रहता है, विषय-वस्तु और स्वरूप विधान—दोनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं, उनका सामूहिक प्रभाव श्रोता पर इस प्रकार पड़ता है (नहीं पड़ता है, तो पड़ना चाहिए—यही काव्य नाटक की सफलता है) कि माध्यम की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता।

जैसा ऊपर कहा गया, रेडियो-काव्य-नाटक के माध्यम से कलाकार कविता को जन-सामान्य तक पहुँचा सकता है, किंतु जन सामान्य शिक्षित एवं संस्कृत नहीं है, उसका मानसिक स्तर अभी ऊपर नहीं उठ सका है। ऐसी परिस्थिति में कुछ लोग सोच सकते हैं कि यदि कलाकार अपनी कृति को जनसाधारण तक पहुँचाना चाहता है, तो उसे साहित्यिकता के उच्च धरातल से नीचे उतरना होगा, पर बात ऐसी नहीं है। यह सत्य है कि सामान्य जनता शिक्षित नहीं है, उसने बड़े-बड़े शास्त्रों और निगमों का अध्ययन नहीं किया है, वह अध्यात्मवाद और भौतिकवाद की जटिल गुत्थियों को नहीं सुलझा सकती, लेकिन इसमें भी बड़ा सत्य यह है कि वह संवेदनशील है, उल्लास में हँसती है, अवसाद में रोती है, फलतः मनुष्य की भावनाओं द्वारा—उसके रागात्मक सत्यों द्वारा प्रभावित और आंदोलित की जा सकती है। जो साहित्य इन रागात्मक सत्यों को अपना आधार बनाता है, वह जन-जन के हृदय का स्पर्श करता है। साहित्य का यही कार्य है। वह विशेषज्ञों के लिए नहीं, सर्वसाधारण के लिए होता है। यह तथ्य साहित्य के दूसरे स्वरूप-विधानों के लिए तो सत्य है ही, नाटकों के लिए विशेष रूप से सत्य है, क्योंकि अक्षरों से अपरिचित व्यक्ति भी नाटक सुनकर उससे आनंद प्राप्त करते हैं। इसीलिए नाटक को साहित्य का जनतंत्रात्मक स्वरूप कहा जाता है। हैनरी ग्रैनविल बार्कर के शब्दों में नाटक 'Everyman's Art (सबकी कला) है। अतः यदि कोई कवि काव्य-नाटक के माध्यम से जन समाज तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, तो वह साहित्यिकता और कलात्मकता के उच्च धरातल से नीचे नहीं उतरता, बल्कि सर्वसाधारण तक पहुँचकर साहित्य की सार्थकता सिद्ध करता है।

हाँ, इसके लिए कवि को ऐसे स्तर पर अपनी भाषा को रखना होगा कि वह सर्वसाधारण के लिए भी बोधगम्य हो सके। प्रेषणीयता का सबसे बड़ा साधन भाषा ही है, और उसका उचित उपयोग करना कलाकार का काम है। आज हिंदी में अधिक रेडियो-काव्य-नाटक जैसी भाषा में लिखे जा रहे हैं, उससे यही ज्ञात होता है कि उनके रचयिता उसे सर्वसाधारण के लिए न लिखकर केवल साहित्यिकों के लिए लिखते हैं। किंतु रेडियो से प्रसारित गद्य नाटकों की तरह काव्य नाटकों को भी लोकप्रिय बनाना है, तो भाषा की समस्या पर कलाकारों का ध्यान जाना चाहिए।

रेडियो काव्य-नाटक ने अत्याधुनिक कविता को श्रव्य होने की सुविधा प्रदान की है, इसका यह अर्थ नहीं कि रेडियो द्वारा प्रसारित काव्य-नाटक में काव्यमात्र ही है। काव्यत्व और नाटकत्व के सहयोग से ही काव्य नाटक की सृष्टि होती है। नाटक-तत्त्व इसका बाह्य स्वरूप निर्मित करता है, काव्य तत्त्व इसमें आत्मा की स्थापना करता है। नाटक-तत्त्व कथानक का निर्माण करता है, घटनाएँ देता है, संघर्ष देता है, पात्रों की सृष्टि करता है, और काव्य तत्त्व इसे भावनाओं और अनुभूतियों का दान देता है। हिंदी में लिखित अधिकांश रेडियो-काव्य नाटकों में इस विशेषता का नितांत अभाव रहता है। यह विशेषता तभी आ सकती है, जब गद्य नाटकों की भाँति ही काव्य-नाटकों में सुसंबद्ध कथानक रहे।

सुसंबद्ध कथानक रेडियो काव्य नाटक की पहली अनि-

वार्यता है। समूचा कथानक एक निश्चित केंद्र, एक निश्चित विषय वस्तु, घटना या समस्या पर आधारित होना चाहिए। तभी काव्य-नाटक में प्रभावोत्पादकता आ सकेगी। विशृंखल कथानक श्रोता के मन को प्रभावित नहीं कर सकेगा, क्योंकि स्वयं उसमें ही किसी निश्चित दिशा और प्रभाव का अभाव रहेगा। यह काव्य-नाटक की असफलता कही जायगी। एक काव्य-नाटक में एक ही नाटकीय प्रभाव का रहना अनिवार्य है। नाटकों के लिए ही यह सत्य है ही, रूपकों (Features) के लिए भी यह पूर्णतः सत्य है। रूपकों में काल्पनिक कथानक के बदले वास्तविक घटनाओं को नाटकीकृत करके उपस्थित किया जाता है। इनमें एक या एक से अधिक कथाकार, प्रवक्ता, वाचक या आलोचक होते हैं, जो घटनाओं के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं, उनका विवरण देते हैं उनकी शृंखला जोड़ते हैं, और उनपर अपने विचार प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिए, हम किसी रूपक में यह दिखला सकते हैं कि भारत के इतिहास, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में नगराज हिमालय का क्या महत्त्व रहा है? इसके लिए कथाकार या प्रवक्ता को इतिहास के प्रारंभ से लेकर अबतक की घटनाओं को कलात्मक रीति से उपस्थित करना होगा। लेकिन कवि इतिहासकार नहीं है, उसे घटनाओं के निर्वाचन और संगठन में बड़ी सूक्ष्मता एवं कौशल से काम लेना पड़ेगा, जिससे समूचा काव्य-रूपक श्रोता पर एक निश्चित नाटकीय प्रभाव छोड़ सके।

नाटकीय प्रभाव की सृष्टि के लिए रेडियो काव्य नाटक के लेखकों को विशेष कुशलता बरतनी पड़ती है, विशेष कुशलता इसलिए कि रेडियो-काव्य नाटकों की कुछ अपनी सीमाएँ हैं। रेडियो-काव्य-नाटकों की अवधि अन्य रेडियो-नाटकों की भाँति ही सीमित होती है। उसके पात्र, घटनाएँ, दृश्य आदि सब अदृश्य रहते हैं। केवल ध्वनियों (जिनके अंतर्गत संलाप, ध्वनि प्रभाव और वाद्य-संगीत आते हैं) के सहारे वातावरण का निर्माण करना पड़ता है, घटनाओं का विवरण देना होता है पात्रों की वैयक्तिकता स्थापित करनी होती है। श्रोता नाटकों को केवल सुनकर ही आनंद प्राप्त करते हैं। अतः दृश्यों का नियोजन, पात्रों का संलाप, कथानक का विकास, सबका ऐसा होना अनिवार्य है कि श्रोता किसी प्रकार की उलझन में न पड़े, कथानक का क्रमिक विकास समझता जाय, पात्रों की विशेषताओं से परिचित होता रहे। इन सब कामों को केवल ध्वनियों के द्वारा ही करना पड़ता है। इसीलिए रेडियो काव्य-नाटक की कला कुछ कठिन ज्ञात होती है।

हिंदी में रेडियो काव्य नाटक का कार्य अभी प्रारंभ ही हुआ है। यद्यपि स्थिति अभी संतोषजनक नहीं है तथापि अनेक प्रतिभाशाली कलाकार इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं। आशा की जा सकती है कि हिंदी में भी रेडियो-काव्य-नाटक शीघ्र ही साहित्य का एक स्वस्थ एवं सशक्त माध्यम बन सकेगा और जन समाज से विच्छिन्न होती हुई ह्रासोन्मुख अत्याधुनिक हिंदी कविता को एक नई दिशा देकर उसकी रक्षा करने में समर्थ होगा।



आदावअर्ज़ !

श्री सरयूपण्डा गौड़

भाई साहेब, क्या बताऊँ ? इस 'आदावअर्ज' से दुनिया खुश होती है। भगवान खुश होते हैं। 'आदावअर्ज' सभ्यता का द्योतक विनम्रता एवं शिष्टता का उज्ज्वल प्रतीक माना जाता है। यदि कोई आदमी अपने से बड़े या आदरणीय व्यक्ति को देखकर नम्रतापूर्वक शीश झुकाकर, दाहिने हाथ की चार उँगलियाँ सटाकर, और उसे ललाट से छुलाकर विनीत एवं मृदु वाणी में आदावअर्ज नहीं करे, तो वह आदमी महामूर्ख, घोर असभ्य तथा अत्यंत अशिष्ट समझा जाय। 'आदावअर्ज' से लाखों बिगड़ा काम बन जाता है। ऐसी है 'आदावअर्ज' की महिमा !

मगर यह है हमारे पड़ोसी मौलवी मकबूल्ला साहेब आलिम-फाजिल, जो 'आदावअर्ज' की एक भनक मात्र सुनते ही यों भौंक उठते हैं, जैसे—बौराया कुत्ता ! राम जाने इस पढ़े लिखे, आलिम फाजिल मौलवी को 'आदाब अर्ज'—जैसे नेक और शरीफ शब्द से ऐसी सख्त चिढ़ क्यों है कि जहाँ किसी ने कहा—'आदावअर्ज !' कि उस बदनसीब की शामत आई। मौलाना फौरन लाठी, डंडा, फलसुन, हँसिया, लोढ़ा, पीढ़ा, ईंट, पत्थर, गोया उस बेचैनी एवं बौखलाहट में जो भी हाथ लगा, चला देंगे। अब उस 'आदावअर्ज' कहनेवाले का भाग्य, मौलाना के इन विकट विकराल शस्त्रास्त्रों से बचे या उसका सिर, सीना, पीठ, पैर, नाक, आँख टूटे या फूटे। अथवा वह कमबख्ती का मारा मर ही क्यों न जाय। इससे मौलाना को मुतलक मतलब नहीं।

और वाह रे, मेरे मुहल्ले के बहादुर ! रोज ही मौलाना के मुख से अपनी माँ बहनों को सौ-सौ गंडे गंदी गालियाँ सुनकर, मौलाना के शस्त्रास्त्रों से अपनी पीठ तथा कपार ‚ ‚ भी 'आदावअर्ज' कहने से एक दिन तो एक क्षण भी नहीं चूकते। राम जाने, इन्हें 'आदावअर्ज' कहने और बदले में मार खाने, गालियाँ ने में ऐसी कौन-सा मज़ा, कौन-सा सुख मिलता है। और इस 'आदावअर्ज' ने सबसे बड़ी मुसीबत तथा आफत मेरी जान के लिए पैदा कर दी। आखिर रावण के पड़ोस में बसने का दुष्परिणाम जब समुद्र जैसे महाबली और प्रतापवान को भोगना पड़ा तब मेरी क्या हस्ती। मामूली-सा, जिसे कोई टके सेर भी नहीं पूछे वैसा एक लेखक हूँ। घंटों सिर को कलम से ठोंक ठोंककर कोई प्लाट ढूँढ पाता हूँ और उसे कलमबंद करने के लिए ज्यों कलम उठाता हूँ कि 'आदावअर्ज' और गालियों का शोर-सा मच जाता है। मानों, गाली और 'आदावअर्ज' में एक होड़ सी लगी हो। फिर ईंट पत्थरों की अविराम वर्षा फिर 'आदावअर्ज' कहनेवाले काफिले की भाग पराह ! फिर खटखट, पट-पट, धम धम्म उनके पैरों की धमक, आवाज ! बाद में, पटापट मौलाना के हाथों ईंट पत्थरों की वर्षा की आवाज। और मेरा भी बरांडे या चौतरे से शीघ्र पलायन, इस भय से कि कहीं इस 'धरम धक्के' में 'जौ के साथ घुन' भी न पिस जाय ! यानी मेरे मस्तक का भी कचूमर न निकल जाय। सोचा हुआ प्लाट, जगी हुई भावना, और 'मूड' से भरी तबीयत सिर्फ ढेले के एक 'वार' से काफूर ! खीझ उठता, किस कमबख्त के पड़ोस में मैं बसा, या कैसा कंबख्त मेरे पड़ोस में बसा !

आप घबरायेंगे, एक पढ़े लिखे विद्वान आदमी को 'आदावअर्ज' से ऐसी सख्त चिढ़ क्यों ?

इसकी कहानी काफी मजेदार होने के साथ ही बड़ा दुःखांत भी है। सुनिए—

मौलाना मकबूल्लाह साहेब आलिम-फाजिल मेरे मुहल्ले के हिंदू मुसलमान—दोनों के लिए एक बड़े आदरणीय पुरुष थे। एक तो वृद्ध आप ही अपने वय के कारण सबके लिए सम्माननीय होते हैं। दूसरे, मौलाना बहुत नेक, अरबी फारसी के बहुत बड़े विद्वान, बड़े धर्मात्मा, पाँचों नमाज के पाबंद, मस्जिद के पेश-इमाम और फारसी-विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। इनकी उम्र पचहत्तर की थी। सिर तथा दाढ़ी के एक एक बाल सुफेद। सादा खाना। सादी पोशाक। सादा रहन-सहन। और सदा तस्बीह फेरते रहना—मौलाना की दिनचर्या थी।

मौलवी सईद साहब हाजी, कलकत्ते के चटकल के जमादार, मौलाना के पुराने मित्र, जो इस बार कलकत्त से घर आए तो अपने साथ एक कयामत लेते आए। आप घबराएँ नहीं, आदमी कयामत नहीं लाता, लाता है खुदावंदे आला। और मौलवी सईद खुदाई कयामत लाए भी नहीं थे। हाँ, वह कयामत लाए थे, जिसकी शानो शौकत, कमाल और जमाल का बयान बड़े पुरजोर लफ़्ज़ों में शायरों ने अपनी शायरी में किया है। इस कयामत के सामने खुदाई कयामत को भी महज मामूली और एकदम नाचीज बताया है।

शायद, आप घबराएँगे कि यह कौन सी कयामत है, जो खुदाई कयामत से भी ज़्यादा ताकतवर और बड़ी है।

आप सुन लें – वह कयामत है, औरत। यह वह कयामत है, वह महाप्रलय है, कि इसमें सुर से लेकर असुर तक, बड़े-बड़े योगी यति से लेकर लठ-लपट तक—सब एक साथ, एक-सा डूबे। इस कयामत में मूर्ख, विद्वान, सदाचारी, दुराचारी का विचार या विभेद न रहा—'धरा न काहु धीर।'

औरत की एक क्षणिक सी मुस्कान ने बड़ी बड़ी सल्तनतों को और जान जान के दोस्तों की दोस्ती को पल मारते मटियामेट कर दिया है। एक से दूसरे को विलग कर दिया है। रूप और शोभा की ठंढी आग ने स्वर्णपुरी लंका को भस्मसात् कर दिया। सौंदर्य की मधुर शीतल शिखा ने कौरव पांडवों के साथ ही सारे भारत का गारत कर दिया। कहिए, अब कयामत होती कैसी है? क्या औरत से भी अधिक उत्पीड़क, नाशक और संहारक।

इतनी बड़ी कयामत पड़ोस में हो, और मौलाना मक्बल्लाह जैसे महफ़ूज रहें, गैर मुमकिन। और साथ ही दही में चीनी, जब अपना एक अभिन्न मित्र इस कयामत की बहार लूट रहा हो, उसका जल्वा देख रहा हो, तब तो और हसरत होती है—हाय, हुसैन हम न हुए।

और इस कयामत में कमाल यह था कि वह ठेठ दिहात की न होकर, शहर कलकत्ता की थी, जिस शहर का नाम खुदा औ शैतान से भी ज्यादा मशहूर है। जिसे सारे संसार के आबाल वृद्ध-वनिता—सब जानते हैं। ऐसे परम प्रसिद्ध महानगर की कयामत का क्या पूछना—सोने में सुगंध।

लंबी सी पतली, लकलक नार। मानों अब ऐंठी, अब ऐंठी। बेहद सुकुमार, जैसे अब पिछली, अब पिछली। चेहरा काफी आबदार। मानों अब चमका, अब चमका। बड़ी-बड़ी आँखें रस के मद से सरसार, मानो अब बरसीं, अब बरसीं। भौंहें खमदार, मानों तीर अब छूटा, अब छूटा।

यह कलकतिया कयामत जब चिलमन की ओट से बेहद हसरतजदा रंगीन और संगीन चोट करती तब मौलाना का ईमान पनाह माँगने लगता। हाथ से तस्बीह छूट जाती और मौलाना एक ठंढी आह खींचकर कहते—सुब्हान तेरी कुदरत! क्या कयामत है।

दो हफ़्ते बिताकर मौलवी सईद कलकत्ता चले गए और इस कयामत को यहीं छोड़ गए, शायद इस खौफ से कि यह बमुश्किल हासिल कयामत कलकत्ता लौटकर, अपना जल्वा दिखाने कहीं और ठौर न फ़ुर्र हो जाय।

जिस शाम मौलवी सईद साहेब कलकत्ता पधारे उसके सुबह मेरे मुहल्ले के निवासियों ने बड़े विस्मय विस्फारित नयनों से देखा, मौलाना सिर्फ़ रात भर में जवान हो गए, उनकी दाढ़ी और सिर के सभी बाल सुफेद से भौंरे की तरह काले तथा रेशम की मानिंद आबदार हो गए। सूखी आँखों में रस का महासमुद्र उमड़ आया। सुरमे की एक मजेदार लकीर खिंच गई। सादे वस्त्र रंगीन और चमकदार हो गए। होठों से गिल्लौरियों का रस चूने लगा। आवाज में मिठास और मजा आ गया। संसार से विरत्त तथा तटस्थ मौलाना संसार का लुफ्त उठाने के लिए दीवाना सा हो गए। कुरआन मजीद की पाक आयतों के उच्चारण के बदले, शायरों की आशिकाना गजलें गुनगुनाने लगे।

और बासी कढ़ी का यह उफान, सूखी गड़ेरिया की यह गड़गड़ाहट देखकर मुहल्लेवाले दंग-से रह गए। मौलाना के रंग-ढंग से सभी सजग हो गए कि मौलाना कहीं जरूर गहरा गोता लगाना चाहते हैं। मुहल्लेवाले इसी दिन से मौलाना से छेड़खानी करने लगे। उनका आदर-समान प्राय विलुप्त सा होने लगा।

सच है, मनुष्य जब अपनी अवस्था, परिस्थिति तथा समान के विपरीत आचरण करने लगता है, तब वह उप हासास्पद हो ही जाता है। लोग उसपर आवाजकशी करने ही लगते हैं।

खुदा का शुक्र! अल्लाह की देन। मौलाना की एकांत लगन की जलती तपस्या। अहोरात्र का नेत्रोन्मीलन निष्फल नहीं गया। कलकत्त की कयामत ने

सईद के घर से मौलाना के घर को रौशन-अफरोज किया। बाजाप्ता निकाह हुआ। 'मीलाद' हुआ। सिरनी बाँटी गई। और वही खुदा का शुक्र। मौलाना का वीरान आशियाना आबाद हुआ। मौलाना को लगा—आह! यह संसार कितना मीठा, सुहावना, पुरलुत्फ और मजेदार है।

बुढ़िया रगों में जवानी की रवानी दौड़ गई। थँका हुआ बुड्ढा बैल, औरत के अधर का अमृत पीकर कुलाचें भरने लगा। और लोग इस पुरानी ढेंकची पर नई कलई को देखकर कहकहा लगाने लगे।

कहते हैं, 'नीर, नारि नीचे को धावें'—पानी और औरत जब कहा से छूटेगी, उसकी गति अधोगामिनी होगी, यानी वह नीचे जायगी। नीर जिस प्रकार बिना बाँध एक जगह नहीं रहता, नारी भी बिना बाँधे एक जगह नहीं रह सकती। चाहे वह बंधन चहारदीवारी का हो, सुरक का हो, इश्क का हो, धर्म का हो, समाज का हो या नैतिकता का हो। वह कलकतिया क्यामत खुली हुई यानी अबाध्य कामिनी थी। वहाँ से उड़कर ही वह कलकत्ते आई थी, जिसे हाजी सईद कलकत्ता से उड़ाकर अपने घर दिहात में लाए थ। फिर सइद के घर से उड़कर वह मौलाना के घर आई, और एक दिन मौलाना के घर से भी मुड़कर, जाने कहाँ फ़ार हो गई।

अहले-सुबह मौलाना उठे तो देखा, बेगम की खाट खाली है। सोचा, पाखाने गई होगी। जब बहुत देर हो गई, तब मौलाना खुद पाखाने गए, और देखा, बेगम वहाँ भी नहीं है, तो बेचारे के पैरों तले से धरती भागने लगी। सारे घर छान देने के बाद परेशान-से वह बाहर निकले। दौड़े स्टेशन की ओर। वहाँ भी कुछ पता न चला। तब लगे ईख और अरहर के खेतों में ढूँढने और "प्यारी बेगम! जानेजाँ बेगम!" कहकर पुकारने चिल्लाने, परतु बेगम वहाँ भी न मिली। वहाँ से भागते हुए मुहल्ले में आए, हर घर में पूछा 'यहाँ बेगम है?' पर बेगम हो, तब न पता चले।

मौलाना जेठ के कुत्ते की तरह हफर-हफर हाँफ रहे थे। माघ के निठुर जाड़े में भी उनकी पेशानी से पसीना चू रहा था। चेहरा पागल के जैसा हो गया था। बेचारे चिल्लाकर नहीं तो रो सकते थे, न कहीं दाद-फरियाद ही कर सकते थे। कहा है—'अपनी हार और जोरू की मार' कहीं नहीं जाती। खुद हारे भी थे और जोरू भी दगा देकर भाग गई थी। मार दुहरी लगी थी।

बिजली की तरह मुहल्ले म यह खबर फैल गई, मौलाना की क्यामतवाली कलकतिया बेगम, वाकई मौलाना पर क्यामत कर गई।

मौलाना हारे हुए जुआडी, सर्वस्व गँवाकर लौटे हुए व्यापारी की भाँति अपने घर चले उनके पीछे लोगों की भीड़ चली। देखा गया, मौलाना की जीवन भर की कमाई भी कलकतिया बेगम साथ लेती गई। घर में एक कानी कौड़ी तक उसने नहीं छोड़ी। साथ ही जख्म पर नमक यह कि बक्से पर, आलमीरे पर, चौखटे पर, किवाड पर, दीवार पर—हर जगह खल्ली से, बड़े-बड़े हरूफों में लिख गई—'आदावअर्ज।'

बेचारे सुरे हाथों में पड़कर 'आदावअर्ज' की नसीहत हो गई।

बस, यही इस 'आदावअर्ज' की कहानी है जिसे सुनते ही मौलाना का मस्तिष्क भिन्ना उठता है। पर लोग हैं, जो 'आदावअर्ज!' कहने से मानते ही नहीं।



 भारतीय वाङ्मय

१ बँगला

भारतीय संगीत और आध्यात्मिकता

संगीत प्रत्येक संस्कृति का अंगीभूत रहा है और किसी-न-किसी रूप में उसका आध्यात्मिक मूल्यांकन होता रहा है। जिस मुस्लिम धर्म में संगीत को 'हराम' कहा गया है, इतिहास साक्षी है कि उसके अनुयायियों ने कालक्रम से उसकी चर्चा और प्रसार में काफी मदद की। जो भी हो, अपने विकासक्रम की स्वाभाविक धारा में बढ़ते हुए संगीत आज काफी मंजिल मार चुका है और इस जय-यात्रा में भारतीय संगीत के प्राण—धर्म की एक निजी विशिष्टता रही है—वह विशिष्टता उसकी आध्यात्मिकता है। इसपर वंगश्री में श्री धीरेंद्रकिशोरराय चौधुरी ने एक सुचिंतित प्रबंध लिखा है।

तंत्र और वेद में नाद द्विविध माना गया है—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। वर्णात्मक नाद या मंत्र ही वेदशास्त्रों के साधन रहे हैं। नाद के ध्वनिमय विकास की गौण चर्चा वेद और तंत्रों में रहते हुए भी इसकी विशेष साधना संगीतशास्त्र में ही की गई है। चूँकि संगीत ध्वनिमय है, इसलिए ध्वन्यात्मक नाद की साधना संगीतशास्त्र द्वारा अनुशीलित होना ही स्वाभाविक भी है। इसीलिए संगीत-रत्नाकर ने कहा है—गीतं नादात्मकम्। नाद के ध्वनिमय प्रकाश की विभिन्न दिशाएँ होती हैं। जिसे नाद की सृष्टि के आदि रूप में कल्पना की गई है, उसे परा नाद कहते हैं। (हमारे यहाँ जैसे अपौरुषेय वाक् से जगत् की सृष्टि कही गई है, ग्रीक भी कहते थे कि logos से विश्व की सृष्टि हुई।) कारण और सूक्ष्म जगत् के नाद को पश्यंती और मध्यमा कहते हैं। कंठ या यंत्र द्वारा जो ध्वनि होती है, वह वैखरी है। अनाहत और आहत नाद के ये दो विभाग भी संगीतशास्त्र में देखे जाते हैं। कानों से जो ध्वनि सुनी जाती है, वह या तो कंठ से वायु के आघात, तारयंत्र पर अंगुली के आघात या बाँसुरी में फूँक के आघात से पैदा होती है। चूँकि किसी-न-किसी तरह की चोट से ही यह ध्वनि होती है, इसलिए इस नाद को आहत कहते हैं। जो स्वतः उत्पन्न होती है और जिसे हम हृदय के आकाश में सुनते हैं, वह ध्वनि अनाहत नाद है। इस अनाहत नाद को शास्त्र में आदिध्वनि कहा गया है। कलाविद् ध्रुपद गायक या योगी कहा करते हैं कि सभी सुरों का उत्स ओंकाररूप अनाहत ध्वनि है। यह मानव हृदय के गहनतम प्रदेश में योग या तन्मयता से सुनी जाती है। इसी अनाहत ओंकार को शास्त्रकार कारण ध्वनि कहते हैं। जिस प्रकार कारण-जगत् से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल जगत् की सृष्टि हुई है, उसी प्रकार कारण-रूप अनाहत ध्वनि से सप्त सुर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना और राग-रागनियों की सूक्ष्म ध्वनियाँ उत्पन्न हुई हैं। गायक या वादक मन में जिस सुर की कल्पना करते हैं, वही सूक्ष्म ध्वनिमय सुर है, इसे मध्यमा ध्वनि कह सकते हैं। वही ध्वनि जब कंठों या यंत्रों से निःसृत होती है, तब वैखरी कहलाती है। इस तरह ध्वनि के चार भाग होते हैं—परा ध्वनि या supra mental, पश्यंती ध्वनि या Monadic तथा intutive; मन-प्राणसंजात मध्यमा ध्वनि या imaginative और अभिव्यक्त स्थूल ध्वनि यानी physical.

हिजली की उपभाषा

लोकभाषा के जो रूप आज प्रचलित हैं, गौर से देखने पर एक दूसरे से वे अजीब तरह से प्रभावित हैं और प्रभाव का वह वैचित्र्य, वह सूक्ष्मता अध्ययन की चीज है। पिछले दिनों भाषा विज्ञानियों ने इस दिशा में बहुत सारे तत्त्वों का विश्लेषण जरूर किया है, किंतु प्रभाव का ऐसा आदान-प्रदान आज भी चल रहा है। भाषा एक जीवित और गतिशील धारा है, जो अपने यात्रा-क्रम में प्रतिनियत नई नवीनता को आत्मसात् किए जा रही है, पुराने को रखकर भी उसपर नया पानी चढ़ाती जा रही है। अतः आज भी यह अध्ययन जरूरी है। यह जितना ही मनोरंजक है, उतना ही कठिन; परंतु ऐसी उपभाषाओं के स्वरूप का विवेचन समय-समय पर आवश्यक है। 'हिजली की उपभाषा' पर श्री अक्षयकुमार कयाल ने 'प्रवासी' में एक संक्षिप्त, परन्तु उपादेय लेख लिखा है और

प्रचलित शब्दों की एक तालिका भाषातात्त्विकों के विवेचन के लिए प्रस्तुत करके पेश की है।

पंद्रहवीं सोलहवीं सदी के बँगला साहित्य में बहुत सारे ऐसे शब्द पाए जाते हैं, जो आज की बँगला-भाषा में नहीं मिलते। किंतु उड़ीसा के हिजली की भाषा में उनका आज भी समावेश है। पुरानी बँगला में बेत (मुँह), छामू (सामने), मोहार (मेरा) हते (से), करति (करता है) आदि शब्द बसरत से पाए जाते हैं, आज किंतु वे गायब हो गए हैं। हिजली में उनका प्रचलन है। इससे उसकी संरक्षणशीलता का परिचय मिलता है। बँगला-साहित्य के इतिहासकार डा० दिनेशचंद्र सेन ने लिखा है—प्राचीन बँगला साहित्य की आलोचना से मैथिली, हिंदुस्तानी, उड़िया आदि भाषाओं के अनेक शब्दों की एकरूपता देखी जाती है। ये प्रादेशिक भाषाएँ एक दूसरे से उद्भूत नहीं हुई हैं, बल्कि आपसी घनिष्ठ संबंध के कारण ही यह सादृश्य पाया जाता है।

उनकी वर्त्तमान बोलचाल की भाषा का नमूना है—'गत आषाढ़ मासे आमि हिजली जावलि। से ठि आमार बंधु चुनीलाल मंडलेर दुयारे अतिथि थाइलि। चुनी बाबू आर तार स्त्री प्रमीला देवीर आदर यत्ने कदिन बेश आनंदे काटल्या। एक दिन सकालु तालाकेर मामटा घुरिया आइलि।'

[यहाँ की जो शब्दावली लेखक ने संग्रहीत की है, उसमें बीसियों शब्द ऐसे हैं, जो अभी या तो ज्यों के त्यों या थोड़े-बहुत हेर फेर के साथ हिंदी में चलते हैं। उपर्युक्त उद्धरण में ही घुरिया आइलि (घूम आया) को देखिए, घूम ऐलि से कितना साम्य है। कुछ शब्द देखिए—खरका—(खोरिका—नारियल का खरिका), तराइ (तोरइ); टिकरी (टेकरी), पीढ़ि (पीढ़ी—वंशानुक्रम); मुर्दार (शव के अर्थ में); निरेहर (भाई-बंधु के अर्थ में); माबुआ (मौंह); चइल (चुहल); माई (माई या मैया—लड़की के अर्थ में), पेका (पँका), मि (मी=आमिवि जावा—मैं भी जाऊँगा), केल्ला (करेला) आदि। छानबीन से भाषा-विषयक अन्य नवीन तथ्यों की जानकारी हो सकती है और दालभूम की भाषा-समस्या पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकता है। आयलन, भरयलि तो हजारीबाग के भी किसी किसी हिस्से में मिल जाते हैं।]

हमारी भाषा

मार्जित और अमार्जित यानी साहित्य की और लोक-प्रचलित भाषा में कैसे अमीरोगरीब व्यवहार-भेद खड़े हो जाते हैं, श्री योगेंद्रकुमार चट्टोपाध्याय ने एक छोटे-से रोचक लेख में दिखाया है, जिसमें काम के कई तथ्य हैं और बंगला के स्वरूप का थोड़ा परिचय मिल जाता है। 'बोलना' के लिए भूतकाल में साहित्यिक रूप होता है—'बोलिलाम' यानी कहा। इसी के—बोल्लाम, बोल्लेम, बोल्लूम और बोलनु—नाना रूप हो जाते हैं। एक जिले में भी भाषा के व्यवहार का अंतर काफी देखा जाता है। हुगली और चौबीस परगने के गंगा-तीरवर्ती इलाके के लोग 'उधर जाओ को' ओइ दिके जाय्य—कहते हैं, किंतु उसी जिले के अपढ़ लोग दिके को दिगे कर देते हैं। कहते हैं—ओइ दिगे जाव। पेड़ रोपने को आमतौर से साधु भाषा में 'वृक्ष-रोपण' या 'गाछ पोता' कहते हैं। लेकिन हुगली में उसी को 'गाछ आजाब' और वर्द्धमान में 'गाछ पजब' कहते हैं। हुगली में 'अमरूद' पियारा' से परिचित है, वीरभूम के सिउड़ी में 'आम सुपारी' पियारा' माँगते रहिए, तो अमरूद रहते हुए भी लोग आपकी ओर ताकते रह जायँ। कवि कंकण मुकुंद राम का 'चंडीमंगल' बँगला का मशहूर काव्य है। उसमें खुल्लना की अग्नि-परीक्षा हो रही है। कवि लिखते हैं—

'खुल्लना बेड़िया निया उठिल आकाशे।'

कवि का मतलब है—खुल्लना को घेरकर आग की लपटें आकाश को उठने लगीं। किंतु अच्छे-से-अच्छे टीकाकार चकरा गए, क्योंकि पंक्ति में उन्हें अग्नि-वाचक कोई शब्द नहीं मिला। और तब अर्थ केवल इस तरह रह गया—खुल्लना को घेरकर आकाश को उठ गया। लेकिन क्या? लोगों को क्या पता कि यह निया (लेकर) जो शब्द है, वह बँगला का नहीं, बल्कि उड़िया का घुस आया है, जिसका अर्थ है आग।

पंडित रामगति न्यायरत्न की गोष्ठी-कथा से लेखक ने एक मजेदार उदाहरण दिया है। एक मछुआ हुगली में लाट साहब को देखने गया। लौटकर आया, तो लोगों ने उत्सुकता से पूछा—क्या देखा? वह था मछुआ, उसने जो कहा, अपने ढंग से। बोला—'भाई, गिए देखलुम येन सोनार मांक मेंसे छे। आमि कोइकानाय कोइकानाय गिए येमन धरसोना हुलुप छिरधि, अमनि चितल पटक दिले आमिओ अमनि गुतो पटक्लूम।'

आम बंगाली भी इसे सहज ही नहीं समझ सकते।

इसकी अभिव्यंजना के लिए मत्स्य शास्त्र की जानकारी अपेक्षित है। इसमें हर स्वभाववाली मछली—पोना, कोइकानाइ, घरसोला, चितल, गुतो—से भाव व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। लाट साहब के लिए भीड़ जमा हुई (येन पोना भासछे)। वह किसी तरह रेंग-रेंगकर आगे बढ़ा (कोइकानाइ—कवइ मछली जैसे धीरे धीरे बढ़ती है)। फिर भी जब लाट साहब नजर नहीं आए, तब एक बार वह उछला (जैसे घरसोला मछली कूद पड़ती है) और वैसे ही किसी सिपाही ने धक्का लगाया (चितल पटके दिले)। और वह बेचारा भी दुबक गया (गुतो मछली जैसे छिप जाती है)।

मेदिनीपुर, रंगपुर, ढाका, चटगाँव आदि हल्के के लोग बोलते तो बँगला ही हैं, पर वह सर्व-साधारण बंगाली के लिए बोधगम्य नहीं होती।

नई पुस्तकें

लेखन और प्रकाशन—बँगला में दोनों की रफ्तार काफी तेज है। जो बेशुमार पुस्तकें दो-चार मास में निकली हैं, कहना फिजूल होगा कि उनमें तादाद उपन्यासों का ही ज्यादा है। ये उपन्यास केवल जाने-माने कथाकारों के नहीं हैं, बल्कि कुछ नई प्रतिमाओं के भी दर्शन होते हैं। उनमें से जिन दो चार उल्लेख-योग्य नए लेखकों के उपन्यास पाठक जगत् में पहुँचे हैं, व हैं श्री सरोजराय चौधुरी, भवानी मुखोपाध्याय, सुशील जाना, गोपाल हालदार, समरेश वसु। सरोजराय चौधुरी का 'गृह कपोती' बँगला के बाउल जीवन से संबद्ध है। बाउल बंगाल का एक संप्रदाय है, जो इकतारे पर भजन कीर्त्तन करते हुए माँगते-खाते हैं। उनकी जीवन-यात्रा के पहलू भी वैराग्य, भक्ति, रसमयता से जटिल, रोचक और वैचित्र्यमय हैं। 'रायकमल' में प्रसिद्ध औपन्यासिक ताराशंकर वंद्योपाध्याय ने नवद्वीप के वैष्णव-जीवन परिचय में जिस अनन्य अंतर्दृष्टि और गंभीर पर्यवेक्षण का परिचय दिया है, वह कमाल तो इसमें नहीं है, लेकिन बंगाल के लुप्त बाउल जीवन पर पाठकों की स्नेह सहानुभूति खींचने का यह एक सुंदर प्रयास है। प्रस्तुत पुस्तक की जान विनोदिनी का चरित्र है। दर असल पुस्तक के तीन खंड हैं—मयूराक्षी, गृह-कपोती और सोमलता। तीनों का एक क्रमिक विकास देखने पर ही पुस्तक की अखंड एकरूपता का आनंद उठाया जा सकता है। 'गृह कपोती' उसका बिचला हिस्सा है। कथाकार की आवश्यक सूझी का आभास पुस्तक में मिलता है। मामूली घटनाओं द्वारा थोड़े में एक रस की अभिव्यंजना करने की कुशलता लेखक में है।

भवानी मुखोपाध्याय का उपन्यास है—कान्ना हासिर दोला। कहानी की नायिका ऐश्वर्य विलास की चकाचौंध से आच्छन्न एक युवती है, जो धूल की धरती की मूक पुकार को मर्म से सुनकर अपने जीवन को नए साँचे में ढाल देती है। वह खयालों के आसमान के स्वप्न सितारों के जगर मगर का मोह काटकर रूखे सत्य के समुखीन हो जाती है। इससे एक अजीब अंतर्द्वंद्व, अजीब कशमकश में उस नारी चरित्र का विकास होता है। दार्शनिक परिपाटी से कथानक कुछ बोझिल जरूर हुआ है, पर उस मानसिक संघर्ष के निखार में रुचि और आनंद में बाधा नहीं आती।

'सूर्यग्रास' सुशील जाना का उपन्यास है। उसकी हड्डी-पसली नगर केंद्रित मध्यवित्त-जीवन के अभाव अभियोगों पर खड़ी हुई है। मरणोन्मुख मध्यवित्त-जीवन की मार्मिक निरर्थकता में भी एक अनागत की आशा का सुनिर्मल आलोक फूट निकला है। पद पद पर पीड़ित, लाञ्छित और लाछित जीवन के जलते हुए अभिशाप का चित्र और उसके उस उभरे निखरे घाव पर भावी जीवन की कामना-कल्पना का मरहम। गोपाल हालदार के नव गंगा की पृष्ठभूमि वह लौकिक और ऐतिहासिक-सामाजिक जीवन है, जो कि पलासी के युद्ध के अनंतर एक नवीन चेतना से अनुप्राणित हुआ था। समरेश वसु का उपन्यास 'श्रीमती' भी दो विभिन्न विचार-दर्शन के संघर्ष पर तैयार हुआ है—आजादी की लड़ाई की अपनी विचार भूमि और मार्क्स-दर्शन तथा इन दोनों की तुलनात्मक रूपरेखा में आनेवाले मानव और उसके समाज की झाँकी।

पहले से घनिष्ठ परिचित उपन्यासकारों के भी कई उपन्यास इस अवधि में प्रकाशित हुए हैं, किंतु इस बार उनका उल्लेख नहीं करेंगे। हिंदी संसार 'भेड़िया धसान' के लेखक परशुराम से अवश्य परिचित है। हास्य और व्यंग्य की उनकी अपनी एक शैली है और बड़ी चुभती सी शैली—तीखी, किंतु संयत-स्पष्ट, किंतु कलात्मक। कुछ वर्ष पहले तो उनकी रचनाओं की धूम थी। अरसे से उनकी रचनाएँ देखने को नहीं मिलती थीं। उनका एक कहानी संग्रह निकला है—गल्प कल्प। उसमें उनकी विभिन्न समय

की दस कहानियाँ संकलित हैं। उनकी प्रौढ़ शैली की सभी कहानियाँ पढ़ने लायक हैं और सबमें उनकी पैनी नजर, अकाट्य युक्ति और दूर की सूक्ष्म व्यंग्य का रूप लिए सामने आई हैं।

—हेमकुमार तिवारी

२. तमिल साहित्यिक उत्सव

वर्तमान युग की जन-जागृति सर्वतोमुखी बनकर तमिल साहित्य में भी घुस आई है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस नव चेतना के लिए महाकवि सुब्रह्मण्य भारती की कविताओं ने बहुत-कुछ किया है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी विशिष्ट सेवा करती आई हैं। साहित्य के प्रति प्रायः अनाकृष्ट रहनेवाली आम शिक्षित जनता में भी योग्य पत्रिकाओं ने अपने साहित्य की ओर एक नया दृष्टिकोण पैदा किया है। इस जागरण के अंदर कई साहित्यिक सभा-संस्थाएँ निकलीं, अभिषद्, परिषद् जन्मीं। ये साहित्यिक भाषणों का इंतजाम करने लगीं, कला कृतियों पर विचार-विनिमय होने लगा। उन संस्थाओं की ओर से बड़े-बड़े सम्मेलन भी आज होने लगे हैं। साल में कई दिन स्थायी रूप से साहित्यिक विशेषता के लिए प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ, सितंबर की ग्यारहवीं तारीख की याद आते ही, हमें कई भारती-दिवस-संबंधी दृश्य नजर आते हैं।

भारती-दिवस—सन् १९२१ ई० की ११ सितंबर को कविवर भारती दिवंगत हो गए। यह तिथि आज सर्वत्र मनाई जाती है। जगह-जगह भारती के गीतों पर भाषण होते हैं, उनकी सेवा पर भाषण दिए जाते हैं, बच्चों के लिए भारती के गायन की स्पर्धा रहती है तथा रंगमंच पर उनकी रचनाओं के आधार पर 'दृश्य' और 'अभिनय' भी हुआ करते हैं। 'भारती' घर-घर का शब्द बन गया है। यह तो बहुत स्वाभाविक और परंपरानुरूप है कि तमिल लोग अपने युग प्रवर्तक कवि का स्मृति दिवस अच्छी तरह मनाते हैं।

भारती के जन्मस्थान में उनकी यादगारी में एक मंडप भी निर्मित हुआ है। वह स्वभाषाभिमानी हर व्यक्ति के लिए एक दर्शनीय पवित्र स्थान है। आज भारती के नाम से कई छोटी-बड़ी संस्थाएँ काम कर रही हैं।

कंबर मेले—कवि-चक्रवर्ती कंबर तमिल भाषा में राम-कथा के रचयिता हैं। उनकी रामायण वाल्मीकीय रामायण की अनुयायी होने पर भी अपनी मौलिकता, कलात्मकता और सुंदर कल्पना के लिए प्रसिद्ध है। वर्णनों में सजीवता उसकी एक विशेषता है। महर्षि व० वे० सु० ऐयर वाल्मीकीय से भी कंबर-रामायण को श्रेष्ठ मानते हैं।

कंबर मेले कारैक्कुडी, मद्रास, कवि के जन्मस्थान—तेरेऴुंदूर और अन्यत्र भी हुआ करते हैं। कारैक्कुडी की 'कंबर-परिषद्' इस ओर उल्लेखनीय काम कर रही है।

मकर संक्रांति—इसे तमिल में पोंगल पंडिगै कहते हैं। यह दिन भी एक साहित्यिक दिवस के रूप में आजकल मनाया जाता है। तमिल लोग फिलहाल संक्रांति को अपना एक त्योहार मानने लगे हैं। तमिल-साहित्य-संस्कृति-संबंधी भाषण संक्रांति के दिन होते हैं।

अलावा इनके 'तिरुक्कुरल् सम्मेलन' आजकल जोरों से होते हैं। करीब दो हजार साल पहले के दार्शनिक तिरुवल्लुवर का नीति ग्रंथ तिरुक्कुरल् तमिल भाषा की एक अनुपम संपत्ति है। उसमें धर्म, अर्थ और काम—इन शीर्षकों से कई लोकोपयोगी उपदेश अनेक उपमाओं और उदाहरणों के साथ दिए गए हैं।

तिरुवल्लुवर निरे साहित्यिक या कलाकार के रूप में नहीं, बल्कि एक सहृदय मार्ग-दर्शक की हैसियत से भी जनता के निकट हैं।

तमिल महोत्सव—छः साल से प्रतिवर्ष यह उत्सव होता है। इस साल राजधानी दिल्ली में राष्ट्रपति के उद्घाटन के साथ, उपराष्ट्रपति की अध्यक्षता में तमिल समारोह आरंभ होकर बड़ी धूमधाम के साथ संपन्न हुआ। पिछले सालों में कोयंबत्तूर, मदुरा, तिरुच्चिरापल्लि, लंका और मद्रास में यह उत्सव हुआ। इसकी उत्तरदायी संस्था तमिल-अभिवृद्धि परिषद् है। इस संस्था की नींव छः साल पहले डाली गई। इसका स्थायी कार्य तमिल भाषा में विश्व कोश तैयार करके प्रकाशित करना है जो अभी हो रहा है।

इस परिषद् की ओर से, हर साल प्रकाशित होनेवाली तमिल पुस्तकों में जो श्रेष्ठ होती हैं उनके लेखकों को वार्षिकोत्सव के अवसर पर ५००) रुपये का पुरस्कार दिया जाता है। इस योजना के अनुसार गणित, विज्ञान, दर्शन, उपन्यास, कहानी, कविता आदि विविध अंगों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

वार्षिकोत्सव के अवसर पर भाषण, गीत, नाटक के साथ-साथ प्रदर्शनियाँ भी होती हैं। इस तरह ये उत्सव सिर्फ साहित्य तक न रहकर तमिल भाषियों के समग्र जीवन का संक्षिप्त रूप पेश करते हैं।

कुछ अर्से से शिलप्पधिकारम् पर भी लोगों का ध्यान गया है। शिलप्पधिकारम् तमिल भाषा के पंच-महाकाव्यों में एक है। इलंगो अडिगल् इसके रचयिता हैं। इस काव्य की नायिका है 'कण्णगि' नाम की एक सती स्त्री। उसका पुरुष राजा के गलत हुक्म से मारा गया, असल में वह था निरपराध। यह सुनकर कण्णगि उत्तेजित हो जाती है और आखिर उसकी लगाई आग सारी मदुरापुरी को जला देती है, उसका शाप पाकर सारा नगर अग्नि की बलि हो जाता है। कण्णगि तमिल स्त्रियों की देवता बन जाती है।

विशेष दिनों में रेडियो की ओर से भी कवि सम्मेलन होते हैं। भारती दिवस, गांधी-जयंती तथा संक्रांति इसके उदाहरण हैं। साहित्यिक विषयों पर भाषावली (symposium) भी अक्सर होती है।

तमिलभाषी लोग अपने यहाँ ही नहीं, बल्कि अन्य भाषाओं के प्रदेश में जाकर भी काफी दृढ़ता और उत्साह से साहित्य समाज स्थापित करके काम कर रहे हैं। ऐसी संस्थाएँ दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई आदि जगहों में हैं।

शैव सिद्धांत समाएँ तथा ऐसी अन्य संस्थाएँ भी धार्मिक साहित्य पर भाषण करवाती हैं। उनमें संत-भक्त कवियों की कृतियों का विवेचन होता है।

तमिल-संगीत को बढ़ाने के उद्देश्य से काम करनेवाली संस्था है तमिल संगीत-परिषद्। इसके सौजन्य से तमिल के प्राचीन रागों पर खोज और विवाद होते हैं।

मद्रास के तमिल लेखक-संघ की बैठकों में भी सामयिक साहित्यिक प्रवृत्तियों पर कभी-कभी भाषण होते हैं। किंतु खेद से यह लिखना पड़ता है कि लेखक इकट्ठे होकर साहित्यिक विषयों पर संभाषण नहीं करते, कुछ सुनते-सुनाते नहीं। साहित्य की व्यक्तिगत रूप से रचना करते हैं। यद्यपि वे मिल-जुलकर सामूहिक ढंग से अपने अंदर विचार-विनिमय द्वारा बहुत-कुछ कर सकते हैं।

—'उदय-सूर्य'

३. मलयालम का अमर कथाकार

तकषि शिवशंकर पिल्लाइ मलयालम के शीर्षस्थानीय कहानीकारों में एक हैं। उन्होंने छः उपन्यासों और लगभग तीन सौ कहानियों की रचना की है। पिछले पचीस वर्षों से वे मलयालम की सेवा कर रहे हैं। पेशा उनका वकालत है, परंतु मूलतः वे साहित्यिक हैं। उन्होंने अपनी प्रथम कहानी तब लिखी थी जब वे हाईस्कूल में पढ़ते थे; लेकिन लेखक के रूप में वे कई वर्ष बाद ही प्रकट हुए।

तकषि की प्रारंभिक रचनाओं में मोपाँसाँ, फ्लाबर्ट, एमिली जोला आदि पश्चिम के कथाकारों का प्रभाव दिखाई देता है। उसी समय की कुछ अन्य रचनाओं में फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रभाव भी लक्षित होता है। 'सखियाँ', 'एक स्त्री', 'प्रतिकार' आदि कहानियों में मानव के हृदय की गहराइयों में पैठने का प्रयास किया गया है। 'सखियाँ' नामक कहानी में दो ऐसी स्त्रियों का वर्णन है जिनमें से एक अगर प्रेम की भूखी है तो दूसरी पति के बंधनों से मुक्त होने के लिए लालायित। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और भिन्न भिन्न कारणों से एक स्त्री के भावों में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं और उसके फलस्वरूप उसके आचरणों में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, यह 'एक स्त्री' में दिखाया गया है। एक कोढ़ी की गूढ़तम इच्छा, जिसके संबंध में दुनिया कुछ नहीं जानती, यहाँ तक कि वह कोढ़ी स्वयं नहीं जानता—का वर्णन 'प्रतिकार' में है। हम प्रायः यह समझते हैं कि कोढ़-जैसी घृणित बीमारियों के शिकार व्यक्ति हमसे दया और सहानुभूति चाहते हैं। लेकिन मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि कोढ़ी सारी दुनिया से ईर्ष्या करता है। वह मन ही मन चाहता है कि सभी लोग उसीकी भाँति कोढ़ी बन जायँ। जब वह दीनता का साकार प्रतीक बनकर दुनिया के आगे हाथ पसारता है तब वह न दया चाहता है, न सहानुभूति ही। वरन् वह पैसा चाहता है जिंदा रहने के लिए। अगर सभी लोग उसीकी भाँति कोढ़ी बन जाते तो उसे अपार आनंद होता। अगर उसके वश की बात होती तो वह सारे संसार में कोढ़ फैला देता। तभी तकषि कहते हैं—'कोढ़ी सहानुभूति-जैसी चीज कभी नहीं चाहता। रक्त बहनेवाले व्रणों से भरा हुआ तथा गला हुआ उसका जर्जर शरीर भिक्षा पाने का एक उपकरणमात्र बना रहे—यही उसकी कामना है।' 'दो सौ रुपये' और 'रहस्य' में लेखक ने यह दिखाया है कि रति की इच्छा मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। भले ही मनुष्य उसे थोड़ी देर के लिए दबा ले, लेकिन अवसर पाकर वह दुगुने वेग से बाहर

प्रकट होती है और उस समय अगर स्वाभाविक रूप से तृप्त होने का साधन नहीं रहता तो वह कृत्रिम उपायों को ग्रहण करके शांत होने का प्रयास करती है।

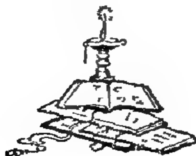
'ग्रामीण वेश्या', 'नित्य-कन्यका', 'अफसर का दामाद' आदि सामाजिक कुरीतियों की आलोचना करने के उद्देश्य से लिखी गई कहानियाँ हैं जिनमें हमें एमिली जोला के प्रकृतिवाद (Naturalism) का निकृष्ट रूप देखने को मिलता है। 'पतित-पङ्कजम्'-नामक लघु उपन्यास में समाज से बहिष्कृत एक वेश्या के जीवन का सहानुभूतिपूर्ण वर्णन है। 'वास्तविकताएँ' एक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें एक पुरुष अपनी स्त्री के चरित्र पर संदेह प्रकट करता है और उसका यह संदेह उसके समस्त पारिवारिक सुख को नष्ट कर देता है।

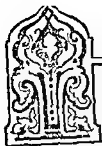
'भंगी का बेटा' (इसका हिंदी में अनुवाद हो चुका है), 'खोपड़ी', 'भिखमंगे' आदि उपन्यासों और 'वह लौट आयगा', 'मनुष्य', 'गाने का संदेश', 'जुबिली', 'समझौते के बाद', 'इतिहास की वास्तविकताएँ' आदि कहानियों में तकषि एक उग्र क्रांतिकारी के रूप में हमारे सामने आते हैं। इनमें लेखक आर्थिक असमानता से उत्पन्न सामाजिक जटिलता की आलोचनामात्र नहीं करते, अपितु उसकी तह में निहित कारणों पर भी प्रकाश डालते हैं। जहाँ प्रारंभिक रचनाओं में सामाजिक विषमता का कारण वे मनुष्य की मानसिक जटिलताओं में ढूँढते हैं, वहाँ इनमें वे आर्थिक समस्याओं में ढूँढते हैं। पहले वे सोचते हैं कि अगर वैयक्तिक रूप से मनुष्य सुधर जाय तो समाज अपने-आप सुधर जायगा। लेकिन अब सोचने लगे हैं कि व्यक्ति तभी सुधर सकता है जब समाज सुधर जाय। पहली विचारधारा गांधीवाद से प्रेरित है और दूसरी मार्क्सवाद से।

अगर अन्य प्रांतों के लोग भारत के दक्षिण पश्चिम कोने में स्थित केरल की जनता को समझना चाहें तो उनके लिए एक सहज उपाय तकषि की रचनाओं का अध्ययन है।

क्या किसान, क्या जमींदार, क्या मजदूर, क्या मालिक, क्या पादरी, क्या पंडित,—सभी के जीवन को उन्होंने अपनी लेखनी का विषय बनाया है। उनकी रचनाओं में अंधे हैं, भिखमंगे हैं, कोढ़ी हैं, भंगी हैं, मतलब समाज से बहिष्कृत सभी हैं। मध्यवर्ग के पूँजीवादी मनोवृत्तिवाले लेखकों की भाँति उन्होंने अमीरों, जमींदारों और मालिकों के विलासितामय जीवन पर आवरण डालने का निकृष्ट कार्य नहीं किया है। वरन् उन्होंने उनके स्वार्थ, झूठी प्रतिष्ठा, पाखंड, भोगलिप्सा, दारुण क्रूरता आदि का यथार्थ वर्णन करके जनता से मानों कहा है—अब तुम्हारी समझ में आ गया है न, समाज की विषमता का क्या कारण है। इस गुरु कर्तव्य को निभाने के लिए उन्हें सरकार से लोहा लेना पड़ा है, धार्मिक संस्थाओं से शत्रुता मोल लेनी पड़ी है। परंतु वे अपने कर्तव्य पथ से जरा भी विचलित नहीं हुए। एक वर्गहीन श्रेणी-रहित समाज की स्थापना की इच्छा से प्रेरित हो वे लिख रहे हैं। मलयालम के कथा-साहित्य को उनसे बड़ी आशाएँ हैं।

—डी० गोविंद शेनोइ



 विचार-संचय

१. वेदों में जीवन पर आस्था

वेदों को अपौरुषेय माननेवाले विद्वान ये पंक्तियाँ भी अपने प्रमाण में देते हैं—'यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्, सामानि यस्य लोमानि अथर्वांङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। (अथर्व० १०।७।२०)।' अर्थात्, जिससे ऋचाओं (ऋग्वेद) और यजुष् (यजुर्वेद) की उत्पत्ति हुई, जिसके रोम-स्वरूप सामवेद प्रकट हुआ और अथर्वांङ्गिरस् जिसका मुख है, बोलो, वह स्कम्भ (ईश्वर) कौन है? किंतु वे ही विद्वान एक दूसरी पंक्ति पर विचार करते हिचकते हैं,—'स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद् ऋचोऽजायन्त (अथर्व० १३।४।३८)।'—अर्थात् वह (ईश्वर) ऋचाओं से प्रकट हुआ और उससे ऋचाएँ प्रकट हुईं। इस पंक्ति की उपेक्षा इसलिए है कि ईश्वर को भी ऋचाओं से प्रकट माना गया है और इसके अनुसार शब्द-ब्रह्म का स्वरूप-वेद तो अपौरुषेयत्व ही क्या, अतिवादी अपौरुषेयत्व का अधिकारी हो जाता है। पर तनिक गंभीरता से समझने पर, इससे एक निष्कर्ष तो निकल ही आता है कि वेद और ईश्वर की स्थितियाँ परस्पर अनुस्यूत हैं। इसीलिए स्पष्टरूप से कहा गया है—'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः, यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः। (ऋ० १०।७१।१)।' अर्थात् वेद-वाणी का स्वामी ईश्वर है, वह वाणी ऋषियों के हृदय में उत्पन्न होती है; उसी वाणी को ऋषि अपने हृदय से निस्सृत कर उसके द्वारा वस्तु नाम आदि का उच्चारण करते हैं। किंतु, इसका तात्पर्य ऐसा कभी नहीं कि मानव-जीवन के प्रेरक तत्त्वों से विलग रहनेवाली ढेर-सी बातें वेदों में भरी हैं। नहीं, वस्तुतः संपूर्ण वैदिक रचना से मूलतः जीवन की ही अपने प्रति एक अंतर्मुखी महती आस्था व्यक्त हुई। यही आस्था जीवन के मूलप्रेरक तत्त्व के रूप में प्रच्छन्न है, जो आज जीवन के अभ्युदय की एकमात्र शक्ति के रूप में ग्रहण की जाती है।

आज जब जीवन के अविच्छिन्न कोटिमुख प्रवाह काल और कर्म की दिशाओं को देश-देश में आंदोलित कर रहे हैं, उस प्रथम अनस्तित्व की कल्पना भी असंभव है, जिसकी शून्यावस्था ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' में वर्णित है। किंतु अनस्तित्व के ही अंतराल से अस्तित्व की शक्ति उद्भूत हुई,—प्रकृति का आविर्भाव हुआ, जो जीवन की धात्री है। इस प्रकार—'तमासीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं, तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् (ऋ० १०।१२९।३)। ईश्वरीय दिव्य ईक्षण के द्वारा प्रकृति प्रलयावस्था की जड़ीभूत शून्यता में विकृत या कार्यरूप होकर प्रकट हुई। तो, सृष्टि अथवा जीवन की जननी प्रकृति का ही प्रादुर्भाव और सचरण किसी अज्ञात पुरुष के ईक्षण से मान लेने पर सृष्टि के मूल ज्ञान में ही आस्था की मान्यता प्रतिष्ठित हो जाती है। कारण हीन, तर्क-हीन और अहंकार-हीन अंतर की सहज स्वीकृति भी ऐसी ही होगी।

इस प्रकार सृष्टि के मूल में प्रकृति और प्रकृति के मूल में ईश्वर की दिव्य ईक्षण-शक्ति को स्वीकार कर वेदों ने मानव हृदय की मौलिक आस्तिकता का परिचय दिया है। 'नासदीय सूक्त' में वर्णित घोर शून्यता की कल्पना को भेदकर किसी एक प्रच्छन्न शक्ति की कल्पना ही, अनास्था से आस्था की ओर अनुभूति का प्रथम चरण है। आस्तिकता के अभाव में आस्था का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता; क्योंकि आस्था में श्रद्धा की शक्ति रहती है, जो आस्तिकता के रूप में ही व्यक्त होती है। अनास्था का सूत्रधार सदा ही तर्क होता है, जो नास्तिकता का कारण है। सत्ता की शून्यता के बीच किसी एक को स्वीकार करना ही अनेक को भी स्वीकार करना है; क्योंकि एक की सार्थकता तभी खुलती है। इसीलिए वेदों में ईश्वरीय सत्ता के साथ जीवन के महत्त्व की भी प्रतिष्ठा हुई है। किंतु जीवन के संचालन का दायित्व ईश्वर पर ही नहीं छोड़ा गया है। उसके संबंध में जो बड़ी तटस्थता दिखलाई गई है,

जैसे मनुष्य को उस परम सत्ता के दायित्व से कोई सबंध ही नहीं, अपने ही कर्मों से है। 'इयं विसृष्टिर्यत् आवभूव यदि वा दधे यदि वा न, यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।'—(ऋ० १०।१२९।७) अर्थात् जिसके द्वारा यह विविधात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई, वह इसे धारण करता है या नहीं,—यह तो परम व्योम का वासी जो इसका अधिष्ठाता है, वही बस, जानता होगा। ऐसा समझ लेने से जीवन का पूर्ण दायित्व मानव पर ही आ गया है। वैदिक आर्यों ने जीवन को भी जीने की क्रिया के रूप में ग्रहण नहीं किया, वरन् उसकी गति, उसकी व्यापकता और चिंता को ही विशेष आग्रह से देखा। जीवन उनके सामने केवल क्रिया-काल नहीं, कर्म, आदर्श दर्शन और भावना की अभिव्यक्ति या व्यक्तित्व का प्रतिबिंब था। इसीलिए जीने की क्रिया पर केंद्रित बाह्योन्नति उनका लक्ष्य नहीं रही। बाह्योन्नति को बराबर वे एक अतिरिक्त उपलब्धि के रूप में स्वीकार करते रहे। वैदिक आर्यों का कर्म विधान जीवन के दृष्टिकोण को सफल करता था, उनकी अनुभूतियों और उनके चिंतन-फलों को व्यवहार-सुलभ बनाता था। अत उनका जीवन, अपनी संपूर्णता में, आतरिक अभ्युदय की ओर ही एक अभियान था।

इस अभियान का प्रारंभ व्यापक श्रद्धा के उद्रेक से ही प्रतीत होता है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' का मर्म समझकर ही ऋग्वेद के श्रद्धा सूक्त में, आर्यों ने प्रात, मध्याह्न और सायकाल में श्रद्धा का आवाहन किया है।—'श्रद्धा प्रात-र्हवामहे श्रद्धां मध्य दिनं परि, श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह न।' (ऋ० १०।१५१।५)—उनकी श्रद्धा आदि, मध्य और अवसान—तीनों अवस्थाओं में व्याप्त रहनेवाली है। ऐसी श्रद्धा की कृपा से ही वैदिक जीवन में संसार की किसी वस्तु के प्रति घृणा का लोप हो गया, उस घृणा का जो जीवन में असाधु तत्त्वों के बीज बो देती है।

जीवन की प्रारंभिक अवस्था में विश्वासों का अभाव था और जीवन का नियमन भी विश्वासों के बिना असंभव था। प्रगति के लिए नियम की आवश्यकता थी और नियम के लिए विश्वासों की। जीवन का अपने प्रति विश्वास सबसे पहले अनिवार्य था। विराट ब्रह्मांड को अगम्यता को हृदयंगम करने के बाद जीवन का स्वरूप और उसकी शक्ति कितनी लघु और सीमित जान पड़ी, आरंभ और अंत का परिवर्तनमय चक्र कैसी दुर्बलता जगानेवाला दीख पड़ा, कि संपूर्ण जग-जीवन अपने प्रति एक अनंत अनास्था से भर उठता यदि वेदों के आर्य उसे व्यापक श्रद्धा का अवलंब नहीं देते। इसी श्रद्धा के द्वारा विश्व के कोने कोने से मानव ने आत्मीयता का संबंध स्थापित किया और तब उसके दृष्टिकोण में प्रत्येक 'महत्' और 'लघु' के बीच कुछ ऐसा तादात्म्य प्रतीत होने लगा कि जैसे विश्व के सभी उपकरण एक अन्विति के बंधन में परस्पर अनिवार्य और वरदान हो गए। अनास्था के त्रासद उद्वेलनों के बीच तभी जीवन की आस्था का जन्म हुआ—परस्पर श्रद्धा और विश्वास की पृष्ठभूमि पर। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' का उत्तर ढूँढ़ते हुए, आर्यों ने अपने ही अंत-करण की आवाज सुनी—'यस्य भूमि प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम।' (अथर्व० १०।७।३२) अर्थात् भूमि जिसका पद स्थान, अंतरिक्ष उदर और द्युलोक मस्तक के रूप में विरचित है, उस सबसे बड़े ब्रह्म को नमस्कार है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के सत्य की अनुभूति करने के बाद, अपनी आत्मा में भी उसी परम सत्ता का साक्षात्कार करनेवाले आर्यों ने सबसे बड़ा धर्म माना आत्मा के अनुगमन को—जिसके विरुद्ध 'आत्महनन' करने वालों के लिए—'असुर्यानाम ते लोका अंधेन तमसावृता' जैसे अंधकाराच्छन्न नरक की कल्पना की गई। इसी मान्यता के साथ आत्मवंचना का भी नितांत बहिष्कार संभव हो सका, जो अशिव निष्कर्षों की जड़ है। आत्मा का अनुसरण अपने पर जीवन की चरम आस्था का द्योतक है। जीवन का महान श्रेय यजुर्वेद ने स्थापित किया है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्, योऽसावादित्ये पुरुष सोऽसावहम्।' (यजुर्वेद ४०।१७) अर्थात् सत्य का मुख चमकीले पात्र से ढँका है, उस ढकन के हट जाने से—सत्यरूपी ब्रह्म का दर्शन हो जाने से भान होने लगेगा कि जो सर्वव्यापक ईश्वर आदित्य में प्रकाशित है, वही मैं हूँ।

किंतु इस श्रेय को पाने के लिए मन की स्थिरता, पवित्रता और सहज संयम की अवस्था को जीवन में उतारने की आवश्यकता है, जिसका प्रतिपादन ऋग्वेद के 'मनावर्त्तन सूक्त' (ऋ० १०।५८।१ से १०।५८।१२) में किया गया है। मन को एकाग्र और केंद्रस्थ कर लेने के बाद ही इंद्रियों की चंचलता पर विजय पाई जा सकती है, जो वैदिक आर्यों के लिए भी कठिन ही रही।

'मानवर्त्तन सूक्त' के प्रत्येक मंत्र के अंत में है—

'तत आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे'—अर्थात् इसीलिए उसे अपने स्थान पर जीवन धारण करने के लिए लौटाकर लाया हूँ। और, उस मन को, जो 'यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्' (ऋ० १०।५८।१०)—तेरा मन इस संपूर्ण विस्तृत जगत् में दूर दूर चला गया है। अतः जीवन धारण करने के लिए ही मन का परिसंचित अथवा एकाग्र करने का संकल्प है। जीवन में व्यक्त हुए संपूर्ण व्यक्तित्व का आधार मन ही जो है। किंतु मन की इंद्रियगत चंचलता भी वैसी ही अविजेय दीखती है—'वि मे मनश्चरति दूर आधीः किंस्विद्वक्ष्यामि किमुनूमनिष्ये' (ऋ० ६।९।६) अर्थात् अत्यंत दूर के विषयों में लगकर मेरा मन दूर-दूर जा रहा है, फिर मैं क्या कहूँ और क्या चिंतन करूँ? ऐसा अंतर्द्वंद्व रहने पर भी वैदिक आर्यों को अपने जीवन पर आस्था थी, अपनी अनुभूतियों पर विश्वास था, जिनके द्वारा वे असत् पर विजय पा सके और मन एवं इंद्रियों को वशीभूत कर उन शिव-संकल्पों से ओत प्रोत कर दिया, जिनका आभास यजुर्वेद के शिव संकल्प-मंत्रों में (य० ३४।१ से ३४।६) दिया गया है। अंतिम मंत्र है—'सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव। हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु।' अर्थात् जैसे अच्छा सारथि घोड़ों को लगामों से चलाता है, वैसे ही जो मन मनुष्यों को इंद्रिय रूपी घोड़ों को चलाता है, वह अच्छे संकल्पोंवाला हो। उन सुंदर और कल्याणप्रद संकल्पों की अवधारणा, अथर्ववेद के 'मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्' के अनुसार मस्तिष्क और हृदय के तात्त्विक मिलन या समन्वय के द्वारा ही संभव हुई और उनका प्रतिपादन भी वैदिक जीवन के अग्रदूतों ने किया। तभी तो यजुर्वेद के पुरुष सूक्त की परमसत्ता का साक्षात्कार उन्हें 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' के रूप में हुआ। तभी अथर्ववेद के 'मृत्युसूक्त' में जीवन पर अडिग आस्था की झलक मिलती है। सर्वदा ही छिनता देनेवाली शक्ति—मृत्यु की भी विजय का संकल्प आर्यों ने किया। यह मृत्यु जो रात दिन जड़ता, विषमता, घृणा, संकीर्णता और नास्तिकता के रूप धारण कर जीवन को अपने पास खींचती रहती और उसकी प्राणवत्ता का अंततः सर्वग्रास ही कर लेती है, इसी मृत्यु के विस्तार को पार कर जाने का चरम संकल्प वैदिक जीवन की महत्तम आस्था का प्रमाण है—'यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः, संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः। अहोरात्राय परियन्तोना पुस्तेनोदनेनातितराणि मृत्युम्।' (अथर्व० ४।३५।४) अर्थात् जिससे तीस (दिनरूपी) अरों वाले महीने, बारह अरों (महीना) वाला वर्ष बना है और गुजरते हुए दिन-रात जिसे सीमित नहीं कर सकते, उसके ऋत (तत्त्वज्ञान) से मैं मृत्यु को पार करूँ। और सृष्टि के मर्म को 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' में उपलब्ध कर वे मृत्यु के चिरंतन अवसाद को पार कर गए,—वे आर्य थे, जीवन पर अनंत आस्था रखनेवाले आर्य।

—राजेंद्रप्रसाद सिंह

२. बच्चा घर के बाहर

चार पाँच वर्ष की अवस्था पार कर बच्चा घर से बाहर निकलकर बाहरी जगत् से संपर्क स्थापित करने को उत्सुक होता है। इतने समय तक वह घर के पूरे वातावरण से परिचित हो जाता है, घर में उसे कई बातों का अनुभव भी हो जाता है। अपने इन्हीं अनुभवों के बल पर वह बाह्य जगत् को समझने की चेष्टा करता है। माता पिता तथा परिवार के अन्य स्वजनों के प्रति प्रेम, श्रद्धा तथा अपनापन की भावना को अब वह विस्तृत रूप देने की बात सोचता है। यही नहीं, घर के अनेक संरक्षणों से मुक्त होकर अब वह अपनी शक्ति पर विश्वास भी करने लगता है। फलतः बाहर जाकर वह इस स्वतंत्रता का उपभोग भी करना चाहता है। घर के बाहर वह अपनी अवस्था के अनेक बालकों से परिचय प्राप्त करता है, और इनमें से कुछ को अपने स्वभाव के अनुरूप अपना साथी चुन लेता है। उसके ये साथी उसके भावी विकास में बड़ा सहयोग देते हैं, और स्वयं वह भी अपने साथियों पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। बच्चों का यह पारस्परिक आदान प्रदान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। बच्चे अपने साथियों से उतना ही प्रभावित होते हैं, जितना अपने माता पिता से। वंश परंपरा द्वारा प्राप्त संस्कार से वातावरण और संगी साथियों के द्वारा प्राप्त संस्कार का महत्त्व किसी भी दशा में कम नहीं होता। यहाँ एक बात और स्मरणीय है कि बच्चा अपने पिछले संस्कार के ही आधार पर अपने साथियों का चुनाव करता है। घर के भीतर उसे अबतक जैसा वातावरण मिला है, उसकी जिन प्रवृत्तियों को विकास प्राप्त हुआ है, उसी के उपयुक्त साथी उसे भाते हैं। इसलिए घर के भीतर बच्चे को उचित दिशा की ओर प्रेरित किया गया है या नहीं—

यह उसके साथियों के चुनाव का फल देखकर अच्छी तरह से जाना जा सकता है।

बच्चे के संगी-साथी उसके लिए बड़ा महत्त्व रखते हैं। वयस्कों की मित्रता तथा बच्चों की मित्रता में बड़ा भेद होता है। वयस्कों की मित्रता प्रायः पारस्परिक स्वार्थों के आधार पर स्थित रहती है, किंतु बच्चों की मित्रता पवित्र एवं सहज स्नेह पर आधारित रहती है। इसलिए यह साथ बड़ा प्रभावशाली होता है। उनमें परस्पर लड़ाई-झगड़ा भी होता है, किंतु वह क्षणिक होता है। बिना किसी स्वार्थ के वे आपस में जितना प्रेम स्नेह रखते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। खाना-पीना छोड़कर बच्चे दिनभर अपने साथियों के साथ घूमा करते हैं। एक दूसरे की रक्षा के लिए वे अधिक-से अधिक त्याग करने को प्रस्तुत रहते हैं। बिना किसी भय तथा अनुशासन के वे अपने नेता साथी की आज्ञा का हृदय से पालन करते हैं। यही नहीं, बच्चे अपने साथियों में जिस प्रकार खुलकर व्यवहार करते हैं, वैसा वे अपने परिवार में भी नहीं करते। यही कारण है कि यहाँ वे स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं। मन के अंदर अप्रत्यक्षरूप से वर्तमान अनेक संस्कार यहाँ उन्मुक्त होकर बच्चे के स्वभाव का निर्माण करते हैं। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में बच्चे के लिए यह क्षेत्र निर्माण क्षेत्र कहलाता है। यहीं वह त्याग तथा परोपकार-जैसी सार्वजनिक हित की भावनाओं को ग्रहण करता है। वस्तुतः बच्चे के सार्वजनिक जीवन की पाठशाला यही है। मनोवैज्ञानिकों का यह भी मत है कि बच्चा पाँच वर्ष तक जिन संस्कारों से प्रभावित होता है, उन्हें वह अपने साथियों के बीच विकसित करता है तथा अपने अन्य प्रभावशाली साथियों से बहुत-कुछ ग्रहण करता है। जीवन में आनेवाले अनेक छोटे-मोटे व्यवहार वह यहीं सीखता है। यहाँ बच्चे के ऊपर कोई भी प्रभाव शीघ्र डाला जा सकता है, और अपेक्षाकृत उसे अधिक स्थायित्व भी दिया जा सकता है। इसलिए बच्चे को घर के बाहर अपने साथियों के बीच विकसित होने देना अनिवार्य है। दुर्भाग्यवश जिन बच्चों को यह अवसर नहीं मिलता उनमें अंकुरित गुणों का विकास होना तो दूर रहा, अन्य कई प्रकार के भयंकर दुर्गुण आ जाते हैं।

साथियों के अभाव में बच्चे के स्वभाव में पनपनेवाले कई उत्तम गुण मुरझा जाते हैं। जब वह अपनी भावनाओं का विकास नहीं कर पाता, अपनी इच्छाओं को कार्यरूप नहीं दे पाता तब उसकी आत्मा निराशा से पूर्ण हो जाती है। ऐसे बालक का हृदय शुष्क तथा किसी भी भावना को धारण करने के लिए ऊसर सदृश हो जाता है। यही नहीं, उसकी कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ जिनका अंत हो जाना चाहिए, स्थायित्व पा जाती हैं। शिशुपन का स्वार्थ दृढ होकर उसे असहनशील बना देता है। दूसरे के साथ सहानुभूति करना वह जानता ही नहीं। बाल मनोविज्ञान के विशेषज्ञों का कहना है, कि जिस बच्चे को साथियों के बीच रहने का जितना ही कम अवसर मिलता है, वह उतना ही अधिक स्वार्थी होता है। बात यह है कि प्रारंभकाल में बच्चा जबरदस्त स्वार्थी होता है, अपने इस स्वार्थ को वह साथियों के बीच स्वतः खो देता है और बदले में त्याग तथा परोपकार की भावना का उपार्जन करता है। साथियों के अभाव में उसका यह स्वार्थ स्थायी हो जाता है और फिर उसका पुराना स्वार्थी स्वभाव नहीं मिटता।

सच बात तो यह है कि बच्चे की अपने साथियों के साथ खेलने कूदने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। बच्चों की यह अनिवार्य अवस्था है। मानव के विकास में इस प्रवृत्ति से बड़ा लाभ होता है। मानव-व्यवहार का अधिकांश भाग यहीं निर्मित होता है। इसलिए इस प्रवृत्ति का गतिरोध वस्तुतः जीवन का गतिरोध है। इसके बिना बालक पूर्ण मानव बनना तो दूर, मानवोचित गुणों का सम्यक् अर्जन भी नहीं कर पाता। इस प्रवृत्ति में बाधा पड़ने पर बच्चे का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। वह अपनी अवस्था के बच्चों को परस्पर खेलते, हँसते, बातें करते देख प्रथम तो ललचता है और जब वह उसे प्राप्त करने में परिस्थितिवश या अभिभावकों की असावधानी से असफल हो जाता है, तब ईर्ष्या करने लगता है। संयोगात्, जब कभी वह उनके संपर्क में पहुँच भी जाता है, तब शीघ्र अपनी ओर बच्चों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ-न-कुछ कांड कर बैठता है। किसी बच्चे को अनायास पीट देना या अन्य प्रकार से खिझाने का प्रयत्न करना इसका स्वभाव बन जाता है। फल यह होता है, कि वयस्क होने पर भी उसकी प्रकृति झगड़ालू हो जाती है। बच्चों में एक प्रवृत्ति यह भी पाई जाती है कि वे अपने साथियों से प्रशंसित होने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। साथियों के बीच प्रशंसा प्राप्त कर बच्चा एक अपूर्व आनंद का अनुभव करता

है और उससे उसे एक प्रकार की शक्ति मिलती है जिससे वह आगे और उत्तम कार्य करने में सफल होता है। जिसे साथी ही नहीं मिलते उसे प्रशंसा कहाँ से मिल सकती है? इसके अभाव में बच्चे में उत्तम गुणों की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति मारी जाती है, और प्रशंसा प्राप्त करने की भावना के दब जाने से अनेक भयंकर मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। वह अन्य अनुचित साधनों से प्रशंसा प्राप्त करने के प्रयत्न में निंदा तथा हास्य का पात्र बन जाता है। कभी-कभी यह सब न होकर बच्चे में आत्म हीनता का भाव आ जाता है। वह अपने आपको महत्त्व-हीन तथा दीन समझने लगता है। बच्चे के मानसिक विकास के लिए यह स्थिति भयप्रद होती है। इस हीनता के भाव के कारण उसका विकास अवरुद्ध होकर सीमित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति सदा लुक-छिपकर अपना प्रत्यक कार्य करता है, क्योंकि उसे अपने प्रत्येक कार्य के प्रति संदेह ही रहता है। इसका फल यह होता है कि वह समाज की आँखें बचाकर कई समाजविरोधी कार्यों की ओर भी अग्रसर हो जाता है।

प्राय अभिभावक यह समझते हैं कि बाहर दूसरे बच्चों के साथ बच्चा बिगड़ जाता है। उनकी इस धारणा का एक कारण है। बात यह है कि घर के भीतर अनुचितरूप से दबाई गई कई दूषित प्रवृत्तियाँ बालक के बाहर निकलते ही कभी-कभी उग्र रूप में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। यह सच है कि घर में माता पिता के भय या अन्य कारणों से जिन दूषित भावनाओं को बच्चा अनुचित रूप से दबा देता है, वे साथियों के बीच अवश्य प्रस्फुटित हो जाती हैं। यही कारण है कि घर में बिलकुल सीधा-सादा बच्चा, बच्चों के बीच जाकर, झगडालू बन जाता है। अभिभावक उसके झगडालू होने का वास्तविक कारण न समझ, बाहर जाने को ही रोकने का प्रयत्न करते हैं। बाहर जाकर बच्चा बिगड़ रहा है, इसलिए उसे बाहर अन्य बच्चों के बीच न जाने देना भयंकर भूल है। बच्चे की यह स्वाभाविक एव अनिवार्य प्रवृत्ति है। बच्चे को जीवन भर घर में ही नहीं रहना है। उसे तो इस बात की आवश्यकता है कि वह इस अवस्था में बाहर जाय और अपनी रुचि के अनुरूप अपने साथियों का चुनाव करे और उनके सहयोग से अपना विकास करे। यदि बच्चा बाहर जाने से बिगड रहा है तो इसमें बाहर जाना दोष का कारण नहीं, अपितु उसकी ऐसी दूषित प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका विकास आपने या आपके घर के वातावरण ने किया है। इस प्रवृत्ति को आप घर तथा बाहर उसके प्रतिकूल वातावरण उपस्थित करके दूर कर सकते हैं। अपने उपयुक्त वातावरण के अभाव में वह प्रवृत्ति स्वयं दब जायगी। बाहर जाना रोककर या साथियों का साथ छुड़ाकर आप बच्चे को ठीक नहीं कर सकते। यह निश्चित है कि झगडालू बच्चा वैसे ही बच्चों को साथी चुनेगा जो झगड़ालू होंगे। अर्थात् अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप ही वह साथी भी चाहेगा। इसलिए बच्चे को सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे बच्चों का साथ आप छुडा दें और साथ ही उसी की अवस्था के अन्य विकसित बच्चों का साथ उसे दे दें, किंतु ये नये साथी उस बच्चे को सुधारने के लिए तभी कारगर हो सकते हैं, जब आप धीरे धीरे बच्चे की उस दूषित प्रवृत्ति को भी दूर करने का प्रयत्न करेंगे, जिसके कारण उसने पहले अनुचित साथियों का चुनाव किया था। यदि ऐसा न हुआ तो ये उत्तम साथी भी उसे न सुधार सकेंगे, प्रत्युत वे स्वयं इस बच्चे से प्रभावित हो जायँगे। जहाँ ऐसी अवस्था हो, वहाँ एक बात का और ध्यान रखना चाहिए। बच्चे अपनी अवस्था से कुछ बडे बच्चों से अधिक प्रभावित होते हैं। इसलिए यदि किसी बिगडे हुए बच्चे को उससे अवस्था में कुछ बडे साथी मिल जायँ तो वह शीघ्र सुधर सकता है।

वस्तुत यदि प्रारभकाल से ही उचित ध्यान दिया जाय और उपयुक्त ढंग से बच्चे की देखरेख की जाय तो पाँच वर्ष के बाद बहुत कम ऐसे अवसर आते हैं जब बच्चे के स्वभाव के संबंध में चिंता करनी पडे। यदि कभी अकस्मात् बच्चा किसी दुर्गुण या मानसिक रोग का शिकार हो भी जाय तो उसे बहुत थोडे परिश्रम स ही ठीक किया जा सकता है।

घर से बाहर निकलने की यह प्रवृत्ति बच्चों में और कई ऐसे गुणों का अर्जन करती है, जिनका प्रत्येक सामाजिक प्राणी में रहना अनिवार्य होता है। घर के भीतर बच्चे माता पिता तथा अन्य स्वजनों के बीच बहुत ही सुरक्षित रहते हैं। उस समय बच्चे अपनी रक्षा के लिए या अपने संबंध की अन्य चिंताओं के लिए बहुत ही कम अवसर पाते हैं। बाहर उन्हें इन सबकी जिम्मेदारी स्वयं

उठानी पड़ती है। इस समय उसे अपनी शक्ति को समझने और उसे देखने की चेष्टा करनी पड़ती है। यदि उसमें कुछ कमी रही तो उसकी पूर्ति के लिए वह अन्य साथियों से सहानुभूति चाहता है। धीरे धीरे वह इस बात को भली-भांति जान लेता है कि दूसरे की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए स्वयं को सहानुभूतिशील एवं उदार बनाना चाहिए। इस प्रकार उसकी संकुचित प्रवृत्ति विकसित होती है, और उसका हृदय विशाल बनने लगता है। घर के भीतर अनतक किसी ऐसी परिस्थिति में पड़ जाने पर जिससे छुटकारा पाना बालक के लिए सहज नहीं होता, वह अपने संरक्षकों को आकर्षित करने के लिए रो पड़ता था। प्रयत्न भी करता था, किंतु अंतिम शस्त्र उसका रोना ही था। बाहर यह बात नहीं होती। यहाँ तो उसे परिस्थितियों से स्वयं को जूझने के लिए तैयार करना पड़ता है, और अंतत उसे ऐसी शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता है, जिससे वह हर समय परिस्थितियों का मुकाबिला कर सके। इस प्रकार बच्चे में सच्ची तथा उपयोगी शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, और वह उसका मूल्य भी समझने लगता है। इतना हो जाने पर उसमें आत्मविश्वास की भावना का उदय होता है, जिसके बल पर उसका भावी जीवन विकसित तथा दृढ़ होता है।

बच्चे आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। किसी बात पर मतभेद हो जाने से, चाहे वह साधारण-सी ही बात क्यों न हो, ऐसा होता है। झगड़े में केवल मार-पीट ही नहीं होती। वे आपस में एक दूसरे की आलोचना प्रत्यालोचना तथा कभी-कभी एक साथ मिलकर झगड़े को शांत करने के लिए विचार विनिमय भी करते हैं। इस प्रकार उचित अनुचित का विवेक तथा सहनशीलता का बीज उनमें अंकुर प्राप्त करता है। धैर्य-जैसे उत्तम गुण का विकास भी यहीं से प्रारम्भ होता है। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि प्रत्येक बच्चा अपने दल में किसी-न किसी को अपना पथ-प्रदर्शक मानता है—बुद्धि से नहीं, हृदय से। आपने संभवत इस बात पर विचार न किया हो कि बच्चे बस्तुत बाहर निकलते कैसे हैं? उन्हें इसके लिए प्रेरणा कहाँ से मिलती है? इस अवस्थावाले बच्चों में गुरु-शिष्य-परंपरा की एक अनुपम परंपरा चलती है। इस गुरु शिष्य-परंपरा की विशेषता यह होती है, कि यह सहयभाव पर आधारित रहती है। गोरैया (चिड़ी) को आपने देखा होगा, जब उसका बच्चा घोंसले से बाहर निकलने के योग्य हो जाता है, तब वह चोंच में चारा लेकर बच्चे को ललचाती है और इस प्रकार उसे बाहर निकलने की प्रेरणा देती है। चारे के लालच में बच्चा बाहर निकलता है, और तब उसे वह स्वयं चारा प्राप्त करने का उद्यम सिखाती है। ठीक इसी प्रकार बच्चों में भी होता है। चारा-जैसी आकर्षक वस्तु तो इनमें नहीं होती, किंतु इनमें एक ऐसी कला होती है, जिससे वे घर के भीतर से माता पिता से अलग कर किसी अन्य बच्चे को अपने साथ बाहर निकाल ले जाते हैं। घर में अपनी अवस्था के बच्चे को देखकर बाहरवाले बच्चे उसे अपने साथ ले जाने के लिए तत्पर हो जाते हैं। घर में घुसकर वे उसे प्रेरणा देने लगते हैं, और शीघ्र ही उसे घर का मोह छुड़ाकर बाहर ले जाने में सफल हो जाते हैं। बच्चा जिसकी प्रेरणा पर बाहर चलता है, उसे ही अपना पथ प्रदर्शक मानता है। यही नहीं, बच्चों में इसी प्रकार की एक प्रवृत्ति और होती है। समान अवस्था के दो बच्चे साथ मिलते ही वयस्कों से अलग हो जाते हैं। अपने पारस्परिक आदान प्रदान में संभवत वे वयस्कों की उपस्थिति नहीं चाहते। बहुत छोटी अवस्था में ही बच्चों में यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। आभा (लगभग ग्यारह माह) तथा प्रकाश (लगभग १० माह) की मा जब दोनों को लेकर साथ बैठती है तब आभा किसी खिलौने को लेकर अलग हटने लगता है, प्रकाश उसका पीछा करता है, जब प्रकाश कुछ दूर जाकर अपनी मा की ओर घूमकर देखने लगता है तब आभा भी खिलौने को लेकर प्रकाश के पास लौट आता है, ज्यों ही प्रकाश खिलौने की ओर आकृष्ट हुआ, आभा फिर खिलौने को दूर खिसका देता है। इस प्रकार वह प्रकाश को खिलौने का लालच देकर माता से अलग ले जाना चाहता है। बच्चों की यही प्रवृत्ति उन्हें बाहर निकालती है।

—व्रजभूषण पाण्डेय

३. फिरि-फिरि जानि महावरी

पायँ महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिरि-फिरि जानि महावरी, एँड़ी मीड़त जाय॥

—बिहारी।

उपर्युक्त दोहा कविवर बिहारीलाल की सुप्रसिद्ध रचनाओं में से एक है, और भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने इसके ऊपर भिन्न भिन्न टीकाएँ लिखी हैं। इन टीकाकारों ने 'महावरी'

शब्द का अर्थ 'महावटी' बतलाया है। परंतु वातावरण के लिहाज से शब्द का पूरा पूरा अर्थ कुछ और ही होना चाहिए। 'महावटी' शब्द कदापि वह अर्थ नहीं रखता, जो 'महावरी' के भीतर रखा हुआ ज्ञात होता है। 'वटी' संस्कृत में गोली का नाम है, और 'महावटी' एक बहुत बड़ी गोली होगी, बल्कि यों कहिए कि एक गोला होगा। बात यह रह गई कि यह 'महा' या तो गोली के रूप का विशेषण है या गुण का। वैद्यक शास्त्र में 'महा' और 'बृहत्' प्राय गुण के ही विशेषण हुआ करते हैं, और 'वटी' शब्द वैद्यक शास्त्र में ही अधिकतर प्रयुक्त हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'महावटी' का अर्थ 'महावरी' कदापि नहीं निकल सकता। चाहे 'महावर' की व्युत्पत्ति अथवा root कुछ भी हो, परतु उसका अर्थ, मात्र इतना है कि वह लाल रग जिसे स्त्रियाँ अपने पाँवों के रँगने में प्रयोग करती है। और 'महावर' से 'महावरी' बना जिसका मतलब हुआ—'जिसमें महावर लगा हो।' हिंदी में संज्ञा शब्द से विशेषण बनाने में प्राय. शब्द को ईकारात कर देते हैं और उसे ईकारात कर देने से 'वाला' का अर्थ हो जाता है, यथा—जगल से जगली, मगल से मगली, बाजार से बाजारी, शहर से शहरी और उसी तरह 'महावर' से 'महावरी'। मतलब यह निकला कि महावरी का अर्थ है महावरवाला, अर्थात् वह पाँव जिसमें महावर लगा हुआ है।

जिस समय स्त्रियाँ पैर में महावर लगाती हैं, साधारणत. पहले पैर को धो डालती हैं, और पहले से लगे हुए महावर को खूब मलमल कर धो लेने के बाद ही नया महावर लगाती हैं, और ऐसा ही करने से नया रग सुदर और चमकीला दीखता है। पालिश और वार्निश करनेवाले भी लोहे और लकडी को पहले साफ कर लेते हैं, और पहला रग हटाकर ही नया रग चढाते हैं।

उपर्युक्त विचारों पर ध्यान देते हुए अर्थ को देखिए। नाइन उस सुदरी के पैरों में महावर लगाने के लिए आई, तो उसके पाँव को यह समझकर कि उसमें महावर लगा हुआ है, पहले लगे हुए महावर को हटाने के लिए उसकी एँड़ियों को मलकर धोती है कि पहले रग को हटा लेने के बाद वह नया रग चढाय। परतु यह केवल उसका भ्रम है। उस नायिका की एँड़ियाँ स्वभावत कुछ ऐसी लाल हैं कि नाईन उन लाल-लाल एँड़ियों को महावर लगा हुआ समझ लेती है। वास्तव में वे एँड़ियाँ महावरी नहीं हैं। नाइन ने भ्रमवश उनको महावर लगा हुआ समझ लिया और उसे मलमल कर साफ कर लेने का प्रयत्न कर रही है।

'महावरी' से जो 'महावटी' अर्थ निकालते हैं, वह शुद्ध नहीं मालूम देता। वह सदा गोली ही नहीं होती, जिसको पैर रँगने के काम में लाते हैं। कभी तो वह तरल पदार्थ होता है, कभी रुई, कपडे आदि के रूप में होता है। फिर क्यों महावर गोली या गोले के ही रूप में समझा जाय?

व्युत्पत्ति पर विचार करने से 'महावर' शब्द ईरानी भाषा का मालूम होता है। इसका रूप माह+आवर हो सकता है, जिसका अर्थ होता है चाँद का बनानेवाला। कारण कि उस रग से स्त्रियों के पाँवों पर चाँद आदि की शक्ल बना देते हैं, इसलिए उसको 'माह-आवर' कहा गया। 'माह' शब्द भी यहाँ पर एक बृहत् अर्थ रखता है। पैर की सजावट और सौंदर्य को बढाने के लिए इस रग को लगाते हैं और चाँद से बढकर कोई और वस्तु सौंदर्य के अर्थ को प्रकट करनेवाला भी नहीं है। इसलिए कहना पड़ेगा कि इस शब्द का प्रथम प्रयोग करनेवाले ने बडी चातुरी दिखलाई है। 'माह आवर' और 'महावर' शब्दों में सुननेवालों को कोई भेद नहीं मालूम पडता। फिर यह कहना कि 'महावटी' से बिगडकर 'महावरी' बना, उपर्युक्त युक्ति-सगत अर्थ के सामने क्या हकीकत रखता है?

कविवर बिहारीलाल ने अपनी नायिका के जिस सौंदर्य का नख शिख वर्णन किया है, वह अनुपम है, असाधारण है। इस बात को भी ध्यान में रखने पर टीकाकारों का 'महावटी' वाला अर्थ तनिक भी ठीक नहीं जँचता। बिहारी की नायिका के पाँव यदि इतने लाल न हों कि नाइन को उनके महावरी होने का भ्रम न उत्पन्न हो, तभी आश्चर्य है। 'महावरी' का अर्थ महावर लगी हुई करना, बिहारी की शैली के सर्वथा अनुकूल है।

—गदिशकर श्रीवास्तव 'मणि'

४. वंकिम बाबू का गीतानुवाद

'वंदे मातरम्' मत्र के द्रष्टा ऋषि बँगला के साहित्य-सम्राट् स्वर्गीय राय बहादुर बंकिमचद्र चटर्जी सी० आई० ई० के नाम से सभी भारतवासी परिचित हैं। उनके सभी उपन्यासों के हिंदी अनुवाद हिंदी लेखकों के द्वारा हो चुके हैं। पर, बहुत स लोग उनको केवल उपन्यास लेखक

ही जानते हैं। उनकी धार्मिक तथा विचारात्मक पुस्तकों से उनके गंभीर ज्ञान का परिचय मिलता है। बंकिम बाबू के तीन प्रधान धार्मिक ग्रंथ हैं—(१) कृष्णचरित्र, (२) धर्मतत्त्व और (३) श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या। इनमें कृष्णचरित्र का अनुवाद पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने तथा धर्मतत्त्व का अनुवाद पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी न किया है। परंतु बंकिम बाबू की गीता व्याख्या का हिंदी अनुवाद अबतक नहीं हुआ। मेरे विचार से अर्वाचीन युग के दृष्टिकोण स गीता की जितनी व्याख्याएँ हुई उनमें तीन ही सर्वोत्तम हैं। पहली लोकमान्य तिलक की, दूसरी योगिराज अरविंद की और तीसरी बंकिमचंद्र की। बंकिम बाबू का यह अंतिम ग्रंथ था और देश के दुर्भाग्य वश वे उसे समाप्त नहीं कर सके। ग्रंथ के प्रारंभ में ही उनका देहांत हो गया। समाप्त होने से यह एक विराट ग्रंथ होता और देश को बहुत लाभ भी पहुँचता। बंकिम बाबू ने चतुर्थ अध्याय के १६ श्लोक पयत की टीका लिखी थी जो लगभग ६७ वर्ष पहले 'प्रचार'-नामक पत्र में निकली थी और १९०२ ई० में पुस्तक के आकार में प्रकाशित हुई थी।

पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी-जैसे विद्वान और प्रतिष्ठित लेखकों ने जैसे कठिन काम के भार को उठाया था, मेरे-जैसे अख्यात व्यक्ति के लिए वैसा भार उठाना दुस्साहस नहीं तो और क्या है? किंतु मेरा यह प्रयत्न इसलिए है कि मैं बंकिम बाबू के धर्ममत का कट्टर अनुवर्ती हूँ और हिंदी प्रमी भी हूँ। यद्यपि बंकिम बाबू ने गीता के केवल चार अध्यायों की व्याख्या की है तथापि उतनी ही अमूल्य वस्तु है, और उसीसे उनका धर्ममत ज्ञात हो जाता है। तदतिरिक्त गीता के और भी कुछ श्लोकों की व्याख्या उनके 'कृष्णचरित्र', 'धर्मतत्व' तथा 'विविध प्रबंध' में पाई जाती है।

—सुधीरचंद्र मजुमदार

५. हिंदी में कारक और क्रियाएँ किधर ?

प्रत्येक पुत्री में माता की प्रकृति का पाया जाना अवश्य भावी है। इतना ही नहीं, यदि हम किसी कन्या के गुणों का गंभीर अध्ययन करें तो विदित होगा कि उसके मूलभूत बीज कन्या की दादी में भी वर्तमान थे। उन्हीं का विकसित रूप हम कन्या में देखते हैं। भाषाओं के जन्म एवं विकास का क्रम भी संतान की ही भाँति है। प्रत्येक भाषा प्रकृति और शैली में अपनी जननी भाषा से विशेषरूपेण संबद्ध होती है। उसको आगे बढने के लिए बल भी जननी के पयोधरों से ही प्राप्त होता है। प्रत्येक वंश की अपनी एक धारा होती है, एक टेक होती है, एक मर्यादा होती है और होती है एक रीति। ठीक उसी भाँति प्रत्येक भाषा की एक गति होती है, एक प्रवाह होता है, एक प्रकृति होती है और एक विशेष रीति नीति होती है, जो तत्संबंधी देश से पूर्णतः संबद्ध और उसके अनुकूल होती है। देश वासियों की प्रकृति एवं परंपरा से विलग होकर कोई भाषा न समृद्ध हो सकती है और न व्यापक। उसे समृद्ध और व्यापक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रवाह अपनी ही निजी मर्यादाओं, सीमाओं तथा कूलोपकूलों के अंतर्गत हो। यद्यपि भाषा एक स्वच्छंद प्रवाहवान स्रोतस्विनी है तथापि उसकी अनिष्टकारी बाढ़ को रोकने के लिए जब-तब व्याकरण के कूलों तथा सीमाओं का ठीक तथा पुष्ट रखना परमावश्यक है। हमें उन कूलों का निर्माण भी उसी धरातल की मिट्टी से करना होगा जिस पर कि स्वयं स्रोतस्विनी बह रही है। परंतु खेद का विषय है कि हमारे कुछ इंजीनियर राष्ट्रभाषा की स्रोतस्विनी के कूलों का निर्माण इंग्लैंड की मिट्टी से कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि हिंदी के व्याकरण को अँगरेजी व्याकरण की भाँति चला रहे हैं। वही व्याकरण आज हिंदी के विद्यार्थियों को पढ़ाया जा रहा है। पंडित किशोरीदास वाजपेयी जैसे वैयाकरण की आवाज तो नक्कारखाने में तूती की आवाज की ही भाँति है।

संस्कृत ने जो थाती प्राकृत (पाली आदि) को सौंपी थी वही अपभ्रंश भाषाओं के हाथों म होती हुई हिंदी भाषा को कुल-रीति के रूप में प्राप्त हुई है।

अतएव राष्ट्रभाषा हिंदी की वर्तमान कुल रीति की उत्पत्ति एवं विकास को देखना है तो हमें संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रंथों की भाषा को देखना होगा, उनकी प्रकृति परखनी होगी और उन भाषाओं के व्याकरणों की धाराओं की गति तथा दिशा का निरीक्षण भी गहराई से करना होगा। उसी दिशा निर्देश के आधार पर राष्ट्रभाषा हिंदी के व्याकरण को चलाना होगा। अन्यथा हमारी राष्ट्रभाषा का हित नहीं हो सकता।

हिंदी के व्याकरणों में कारकों और क्रियाओं के संबंध

म जो भ्रांति तथा गड़बड़ी फैली हुई है, उसका समाधान निकट भविष्य में होता हुआ दिखाई नहीं पड़ता। कामताप्रसाद गुरु के उपरांत हिंदी के व्याकरण को समुचित दिशा एवं गति प्रदान करने में अबतक केवल पंडित किशोरीदास वाजपेयी का कार्य ही मौलिक तथा स्तुत्य माना जा सकता है। खड़ी बोली के अतिरिक्त उन्होंने ब्रजभाषा का भी व्याकरण लिखा है। ब्रजभाषा-व्याकरण लिखने में डा० धीरेंद्रजी वर्मा को भी नहीं भुलाया जा सकता। भाषाविज्ञान के साथ-साथ व्याकरण के ग्रंथों का निर्माण उनकी विद्वत्ता का परिचायक है। अब आवश्यकता इस बात की है कि एक ब्रजभाषा का व्याकरण फिर से लिखा जाय। लेखक ब्रजभाषा, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का पूर्ण ज्ञाता हो। उसने ब्रजप्रांत में रहकर वर्षों ब्रजभाषा की माधुरी का स्वाद भी लिया हो। यदि वह ब्रजवासी और ब्रजभाषी भी हो तो और अच्छा।

प्रस्तुत लेख क लेखक के अध्ययन-मार्ग में हिंदी-व्याकरण की कई पुस्तकें देखने में आई जो स्कूलों और कालेजों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित हैं। उनमें कारक और क्रियाओं के विवेचन प्रायः अँगरेजी - व्याकरण के पद-चिह्नों पर ही किए गए हैं। यदि उन्हें गंभीरतापूर्वक देखा जाय तो वे वास्तव में हिंदी भाषा की प्रकृति तथा गति के विरुद्ध सिद्ध होते हैं।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने शिक्षा विभाग की ओर से हिंदी का एक व्याकरण तैयार कराया था। वह वर्षों तक स्कूलों के पाठ्यक्रमों में रहा। आज भी उसी व्याकरण को मूलाधार मानकर अनेक हिंदी-व्याकरण लिखे जा रहे हैं और स्कूलों के पाठ्यक्रमों में स्वीकृत हो गए हैं।

हिंदी व्याकरणों में कारक बहुत-कुछ संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही चले हैं; परंतु विवेचन की गति कुछ ऐसी रही है कि कहीं वे अँगरेजी व्याकरण का किनारा छू लेते हैं तो कहीं संस्कृत का पल्ला पकड़ लेते हैं। हिंदीवाले आठ कारक मानते हैं और प्रत्येक की विभक्ति को उस विशिष्ट कारक से शाश्वत संबद्ध कहते हैं। उनका कथन है कि कर्त्ता कारक की विभक्ति 'ने', कर्म की 'को', करण की 'से' और अधिकरण की 'में' 'पर' आदि हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जहाँ 'से' विभक्ति होगी वहाँ करण कारक होगा, जहाँ 'ने' विभक्ति होगी वहाँ कर्त्ता कारक होगा। वैसे 'ने' विभक्ति कहीं-कहीं नहीं भी आती है।

यदि आज हिंदी के एक विद्यार्थी को पदान्वय के लिए यह वाक्य दिया जाय—'वाली रामचंद्रजी से मारा गया।' तो वह 'रामचंद्रजी' को करण कारक और 'से' को करण कारक की विभक्ति (चिह्न) बताएगा। साथ ही-साथ 'वाली' को कर्त्ता कारक और 'मारा गया' को कर्मवाच्य की क्रिया बताएगा। आश्चर्य की बात है कि छात्र की दृष्टि में संपूर्ण वाक्य में 'कर्म' कोई नहीं, परंतु वह 'मारा गया' को कर्मवाच्य की क्रिया अवश्य बतलाता है। इस गड़बड़ी और अनर्थ कथन का मूल कारण अँगरेजी का व्याकरण है जिसे आधार मानकर आज हिंदी-वैयाकरण चल रहे हैं।

हिंदीवालों ने वाच्य (कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य) में तो अँगरेजी के व्याकरण को पकड़ा और कारक-भेद में बहुत कुछ संस्कृत व्याकरण को। परिणाम क्या हुआ? ठीक वही जो धोबी के कुत्ते का होता है। वह न घर का रहा, न घाट का।

कारकों के संबंध में संस्कृत व्याकरण बतलाता है कि वाक्य में संज्ञाओं की अवस्था को कारक कहते हैं जो क्रिया से संबद्ध होता है। जो शब्द वाक्य की क्रिया से संबद्ध नहीं होता है उसे संस्कृत का व्याकरण कारक नहीं मानता। इसीलिए हिंदी में जिन्हें संबंध और संबोधन कारक कहा है, वे संस्कृत में नहीं हैं। संस्कृत में केवल छः कारक ही माने गए हैं—(१) कर्त्ता, (२) कर्म, (३) करण, (४) संप्रदान, (५) अपादान और (६) अधिकरण। संस्कृतवाले सात विभक्तियाँ अवश्य मानते हैं। संबोधन में वे प्रथमा विभक्ति स्वीकार करते हैं। संस्कृत-व्याकरण की एक धारा है जो सांगोपांग नियमबद्ध है। इसमें कारक और विभक्तियाँ पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखती हैं। कारकों से विभक्तियों का कोई विशेष संबंध नहीं है। संस्कृत में यह आवश्यक नहीं कि तृतीया विभक्ति में सदैव करण कारक ही होगा। अर्थ के अनुसार तृतीया विभक्ति में कर्त्ता कारक भी हो सकता है और प्रथमा विभक्ति में कर्म कारक। जैसे 'रामेण हतो वाली' वाक्य के 'रामेण' में तृतीया विभक्ति है, किंतु, वह यहाँ कर्त्ता कारक है, क्योंकि मारनेवाले 'राम' हैं। वाली मारा गया है, अतः 'वाली' शब्द में प्रथमा विभक्ति है, लेकिन यह कर्मकारक है। 'हतः' क्रिया 'वाली' कर्मकारक के अनुसार प्रयुक्त हुई है, इसीलिए कर्मवाच्य की है। ठीक इसी भाँति हिंदी के छात्र को भी 'राम से वाली मारा गया' वाक्य में समझना चाहिए।

हिंदी व्याकरणों को पढ़कर व्याकरण पढ़ानेवाले हिंदी-शिक्षक प्राय छात्रों को एक सर्वमान्य सा नियम बता देते हैं कि विभक्तियों (कारक चिह्नों) से ही कारक पहचान लेना चाहिए। छात्र तो लकीर के फकीर होते ही हैं, और शिक्षक की बात को वेद-वाक्य भी मानते हैं। अत जहा 'से' चिह्न देखा वहीं करण या अपादान कारक लिख मारते हैं। परीक्षाओं में देखा गया है कि 'राम ने मोहन से कहा' वाक्य के 'मोहन' शब्द में किसी छात्र ने करण कारक और किसी ने अपादान लिखा, जबकि वह शब्द कर्म कारक है। हिंदी में भी विभक्तियों को कारक चिह्न न कहना चाहिए और न इनका सबध सदैव कारकों से जोड़ना चाहिए। हिंदी में विभक्तियाँ लुप्त भी रहती हैं। हमें वहाँ ध्यानपूर्वक विचार कर उन्हें ज्ञात करना चाहिए। जैसे 'मेरे घर अनेक पुस्तकें हैं' यहाँ 'घर' शब्द की विभक्ति 'में' या 'पर' छिपी हुई है।

एक प्रसिद्ध हिंदी व्याकरण की पुस्तक में निम्नाकित वाक्य के 'दिन' शब्द का पदान्वय करते हुए लेखक ने दिन को जातिवाचक सज्ञा और क्रिया विशेषण कर्म बताया है। वह वाक्य इस प्रकार है—'राम के पिता मोहन ने उस दिन कलावती से अपनी पुस्तकें ले लीं।'

यदि विचार किया जाय तो हिंदी व्याकरण को सीधे मार्ग पर सुगमतापूर्वक लाया जा सकता है। यहाँ अंग-रेजी के एडवर्बियल ऑब्जेक्ट Adverbial object का अनुवाद करके रखने की आवश्यकता नहीं। सीधी सी बात है, पुस्तकें 'उस दिन' में ली गई हैं, इसलिए सप्तमी विभक्ति लुप्त होने के कारण यहाँ अधिकरण कारक है। अधिकरण क्रिया का आधार होता है। यहाँ लेने का काम दिन म हुआ है। इसके स्थान पर सस्कृतानुवाद 'तस्मिन् दिने' भी इसी ओर सकेत करता है।

हिंदी म क्रियाओं की बड़ी गड़बड़ी मची हुई है। हिंदी के वैयाकरण क्रिया के तीन काल तो ठीक मान लेते हैं और उनमें सर्वमान्यता भी है। यह सभी मानते हैं कि क्रिया के मुख्य तीन काल हैं—(१) वर्तमान, (२) भूत, (३) भविष्यत्। परंतु इनके उपभेद करने में प्राय मनमानी की जाती है। कोई अंगरेजी के कालों का अनुवाद करता है तो कोई संस्कृत के लकारों का भावार्थ सा ग्रहण करता है। कोई दोनों का मध्यम मार्ग स्वीकार कर लेता है। कालोपभेद के नामकरण की भिन्नता तो मिलती ही है, परतु क्रिया के वाच्य के सबंध में प्राय सभी हिंदी वैयाकरण अंगरेजी व्याकरण की लकीर पर चल पड़े हैं। उन्होंने सस्कृत व्याकरण के प्रशस्त राजमार्ग को लेशमात्र भी नहीं झाँका। उन्होंने नहीं सोचा कि 'राम ने रोटी खाई' और 'राम ने अमरूद खाया' वाक्यों में 'खाना' क्रिया का लिंग क्यों बदल गया है?

हिंदी के वैयाकरण 'राम ने रोटी खाई' में 'खाई' क्रिया को कर्तृवाच्य मानते हैं और इसका कर्मवाच्य बनाते हैं—'राम से रोटी खाई गई।'

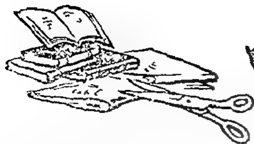
आइए, उक्त वाक्यों को दृष्टि-पथ में रखकर यहाँ कुछ विवेचन करें। यदि 'खाई' क्रिया कर्तृवाच्य है तो उसे लिंग, वचन आदि में कर्ता 'राम' के अनुसार पुल्लिंग और एकवचन में होना चाहिए था। देखा क्या नहीं? अत स्पष्ट है कि 'राम ने रोटी खाई' में 'खाई' क्रिया कर्मवाच्य है क्योंकि 'रोटी' कर्म स्त्रीलिंग है। अत क्रिया भी स्त्रीलिंग है। जब हम यह कहते हैं कि 'राम ने अमरूद खाया' तब 'अमरूद' कर्म के पुल्लिंग होने के कारण ही क्रिया 'खाया' भी पुल्लिंग हो जाती है, क्योंकि कर्मवाच्य की क्रिया 'कर्म' के अनुसार ही होती है।

हिंदी की कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जो सस्कृत में 'क्त' प्रत्यय के योग से प्रचलित हैं। कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय का योग होता ही है। 'राम ने रोटी खाई' के मूल में 'क्त' प्रत्ययवाला कर्मवाच्य ही है।

यदि हम यह विचार करें कि हिंदी में 'राम गया' और 'सीता गई' कैसे हुआ? 'गया' से 'गई' का परिवर्तन कैसे हुआ और उसके मूल में पूर्वरूप क्या थे? तो इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि सस्कृत में पहले ये वाक्य थे—'राम गतवान्' और 'सीता गतवती।' 'गतवती' शब्द से परिवर्तित होकर ही 'गई' शब्द हुआ है। यहाँ 'क्तवतु' प्रत्यय के स्त्रीलिंग 'वती' का प्राधान्य है जो कर्तृवाच्य में हुआ करती है।

इससे स्पष्ट है कि हिंदी की गति एवं प्रकृति का सबंध संस्कृत से ही है। अत हिंदी भाषा के व्याकरण का निर्माण सस्कृत-व्याकरण के ही अनुसार होना चाहिए।

—अंबा प्रसाद 'सुमन'



सार-संकलन

१. लेखक और पाठक !

यूरोप और अमेरिका में प्राइमरी शिक्षा के सर्वव्यापी प्रचार ने पाठकों की संख्या इतनी अधिक बढ़ा दी है कि आप एक प्रकार से सारी बालिग आबादी को पाठकों की श्रेणी में गिन सकते हैं। जैसी माँग वैसी ही खपत—दो अरब पौंड लकड़ी, लेई और दफ्तियों पर प्रतिवर्ष काली स्याही फेर दी जाती है। बहुत से देशों में समाचार-पत्रों का प्रकाशन वहाँ के बड़े उद्योगों में गिना जाता है। इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में ही चालीस हजार से भी अधिक पुस्तकें प्रतिवर्ष छपती हैं।

एक ओर लेखकों की सेना है, दूसरी ओर भूखे पाठकों की जमात ; और जब दोनों इकट्ठे होते हैं, तब क्या होता है ? किस प्रकार और किस मात्रा में पाठक लेखकों के अनुचर बनते हैं ? लेखकों का पाठकों पर कितनी दूर तक, किस सीमा के भीतर प्रभाव पड़ता है ? बाह्य परिस्थिति उस प्रभाव को कैसे प्रभावित करती है ? प्रभाव किन नियमों के अनुसार घटता अथवा कम होता है ? कठिन प्रश्न है। आदमी जितना ही इनके बारे में सोचता है, ये उतने ही अधिक कठिन प्रतीत होते हैं। चूँकि इन प्रश्नों से हम सभी का निकट का संबंध है, इसलिए इनके उत्तरों की खोज करना सर्वथा निष्प्रयोजन नहीं होगा।

जहाँ तक वैज्ञानिक लेखकों और उनके पाठकों का संबंध है, वह पहले से स्वीकार किए गए नियमों पर आश्रित है। जहाँ तक हमारी बात है, हमारे सामने वैज्ञानिक साहित्य की कोई समस्या नहीं है। इसलिए मैं आगे इसके बारे में कहीं कुछ न कहूँगा। इस निबंध में ऐसे लेखन को जो शुद्ध वैज्ञानिक नहीं है, तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है।

सर्वप्रथम तो साहित्य के उस विशाल भंडार को ही लेना पड़ेगा जिसका प्रकट उद्देश्य भी किसी को किसी खास दिशा में प्रभावित करना नहीं है, वह सारा हल्का साहित्य जो समय काटने के लिए है, जो विचारों को रोकने के लिए है और जो भावनाओं को मारने तथा साथ ही उत्तेजित करने मात्र के लिए है एक दर्जे तक, लगभग हम सभी के लिए पढ़ना सिग्रेट पीने की तरह एक व्यसन हो गया है। हम प्राय पढ़ते हैं इसलिए नहीं कि हम अपने आपको शिक्षित करना चाहते हैं इसलिए भी नहीं कि हम अपनी भावनाओं और कल्पनाओं को परिष्कृत करना चाहते हैं लेकिन केवल इसलिए कि पढ़ना हमारी एक खराब आदत बन गई है, क्योंकि यदि हमारे पास खाली समय हुआ और पढ़ने को कुछ न रहा तो हमें कष्ट होता है। जिन्हें पढ़ने का व्यसन है, यदि उन्हें अखबार या उपन्यास न मिले तो वे कोई पाकशास्त्र की किताब ही ले बैठेंगे, वे पेटेंट दवाइयों के गिर्द लिपटे हुए साहित्य को ही ले बैठेंगे, वे उन हिदायतों को ही ले बैठेंगे जो जलपान के डिब्बों पर, भीतर की चीजों को खस्ता बनाए रखने के लिए लगी रहती हैं या कोई भी वैसी ही चीज। इस प्रकार के साहित्य का अस्तित्व इसीलिए है कि व्यसनी पाठक खाली रह ही नहीं सकता। इसके बारे में इससे अधिक और क्या कहा जाय कि यह काफी बड़ी मात्रा में है और अपने उद्देश्य में पूर्णरूप से सफल होता है।

दूसरा स्थान मैं दो तरह के प्रचार साहित्य को देता हूँ। एक वह जो लोगों के धार्मिक, नैतिक विचारों तथा उनके व्यक्तिगत आचरण को प्रभावित करना चाहता है, दूसरा वह जो लोगों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विचारों तथा व्यवहार को प्रभावित करना और दिशा-विशेष की ओर मोड़ना चाहता है।

सुविधा के लिए और चूँकि नामकरण भी अनिवार्य ही है, इसलिए हम तीसरे प्रकार के साहित्य को कल्पना-प्रसूत साहित्य कह सकते हैं। इस तरह का साहित्य खुले तौर पर प्रचार-साहित्य नहीं होता, किंतु अपने पाठकों के विचारों, उनकी भावनाओं तथा उनके आचरण पर गंभीर प्रभाव डाल सकता है।

हम प्रचारकों से ही आरंभ करें।

यदि व्यापारिक प्रचारक अपने कार्य को इतनी अच्छी तरह समझते हैं तो क्या कारण है कि नैतिक तथा राजनैतिक प्रचारक अपने काम के बारे में इतने अधिक अज्ञ हैं? इसका उत्तर यही है कि अपनी चीजों का विज्ञापन करनेवालों के सामने जो समस्याएँ हैं, वे उन समस्याओं से सर्वथा भिन्न हैं जिनका नैतिक तथा राजनैतिक प्रचारकों को सामना करना पड़ता है। अधिकांश विज्ञापनों का सम्बन्ध जीवन की अपेक्षाकृत महत्त्वहीन बातों से रहता है। उदाहरण के लिए मुझे साबुन चाहिए। इसमें मेरे लिए कुछ भी खास बात नहीं है कि मैं 'क' द्वारा बनाया हुआ साबुन खरीदता हूँ अथवा 'ख' द्वारा। इसलिए मैं अपने चुनाव में बड़ी ही आसानी से या तो 'क' की इस बात द्वारा प्रभावित हो सकता हूँ कि उसके विज्ञापन पर जो चित्र है वह बहुत ही आकर्षक है, या 'ख' की इस बात से प्रभावित हो सकता हूँ कि उसके विज्ञापन का शब्द-विन्यास अथवा कारटून बहुत ही मनोहर है। बहुत हालतों में तो मुझे वस्तु विशेष की आवश्यकता ही नहीं होती। लेकिन, चूँकि मेरे पास कुछ फालतू पैसा है, और मुझमें अनावश्यक चीजें बटोरने की विचित्र इच्छा विद्यमान है, इसलिए मैं आसानी से किसी भी ऐसी सूचना से प्रभावित हो जाता हूँ जो मुझे अनावश्यक शौक की चीजें खरीदने की बात सुझाती है। इन सब अवस्थाओं में व्यापारिक विज्ञापन स्वाभाविक अथवा गृहीत तृष्णा के सामने हार मानने के निमन्त्रण से अधिक कुछ नहीं। कोई भी विज्ञापन यह कभी नहीं कहता कि अपने लोभ पर विजय पा लो। यह हमेशा उसके सामने हार मानने की ही बात कहता है। आदमी जो कुछ करना चाहता है, उसे वही करने के लिए प्रेरित करना कुछ विशेष कठिन नहीं है।

जब पाठक को कोई शौकीनी की फालतू सी चीज खरीदने के लिए कहा जाता है, अथवा अनिवार्य आवश्यक [illegible] चीज की दो तरह की बनावटों में से कोई एक चुनने को [illegible] तब इधर या उधर—किसी भी ओर कुछ विशेष [illegible] लेकिन कुछ दूसरी हालतों में, [illegible] कि पाठक [illegible] प्रभावित होने [illegible] पर कर [illegible] कुछ दर्द है अथवा कोई शारीरिक [illegible] तो उसे सहसा [illegible] है कि 'क' की गोलियाँ अथवा 'ख' का मरहम अद्भुत लाभ पहुँचानेवाला है। स्वाभाविक तौर पर वह तुरन्त खरीद लेता है। ऐसी हालत में विज्ञापनदाता को अपनी वस्तु का जोरदार शब्दों में विज्ञापन भर करना होता है, शेष काम पाठक की आवश्यकता स्वयं कर लेती है।

नैतिक तथा राजनैतिक प्रचारकों का काम इससे सर्वथा भिन्न है। नीति के उपदेशक का काम है कि वह लोगों को ऊँची व्यवस्था के हित में, उनके अपने विकास के हित में अथवा समाज के हित में, अहंता तथा व्यक्तिगत तृष्णा को जीतने की प्रेरणा दे। नैतिक शिक्षाओं के आधारभूत दर्शनों में अंतर हो सकता है, लेकिन शिक्षा प्रायः सभी जगह एक ही है, और यह शिक्षा अधिकांश में रुचिकर नहीं है। व्यापारिक विज्ञापन करनेवाले की शिक्षा रुचिकर ही होती है। व्यापारिक प्रचारक के घी में केवल एक ही मक्खी रहती है—वह हमारा पैसा चाहता है। कुछ राजनीतिक प्रचारक साथ-साथ नीति के उपदेशक भी होते ही हैं। वे अपने पाठकों को अपनी आकांक्षाओं को दबाने के लिए तथा अपने 'अहं' को सीमित करने के लिए कहते हैं ताकि उससे किसी राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि हो सके, जिससे भविष्य में सुख मिले। दूसरे, अपने पाठकों से किसी व्यक्तिगत प्रयत्न की माँग नहीं करते। वे केवल उद्देश्य-विशेष अथवा नीति विशेष का समर्थन भर चाहते हैं, जिसके सफल होने से संसार अनायास अनेक विपत्तियों से बच जायगा। पहली तरह के राजनीतिक प्रचारकों को लोगों को ऐसे काम करने की प्रेरणा देनी पड़ती है, जिनका करना उनके लिए किसी भी तरह रुचिकर नहीं है। दूसरी तरह के प्रचारकों को अपने पाठकों को अपनी नीति के ठीक होने का विश्वास दिलाना पड़ता है। निस्सन्देह ऐसा करने में उन पाठकों को कोई असुविधा विशेष नहीं होती, किंतु ऐसा करने में उनको कोई लाभ भी नहीं होता। दोनों को ही दूसरे प्रचारकों के मुकाबले मैदान में उतरना पड़ता है। इसमें क्या आश्चर्य है यदि राजनीतिक प्रचार की कला व्यापारिक प्रचार की कला से कहीं कम विकसित है।

चिरकालीन अनुभव ने नीति के प्रचारकों को यह सिखा दिया है कि नीति के प्रचारमात्र से आदमी नैतिक नहीं बन सकते। पिछले कुछ हजार वर्षों में संसार के अनेक असभ्य देशों में असंख्य प्रेरक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। [illegible] इसके बावजूद

नैतिक स्तर पर्याप्त नीचा ही है। हो सकता है कि यदि यह साहित्य प्रकाशित न हुआ होता तो नैतिक स्तर और भी नीचे पहुँचा होता। कुछ कह सकना कठिन है। मुझे तो संदेह है कि यदि हम किसी प्रकार माप सकें तो जहाँतक लोगों के नैतिक आचरण का संबंध है उसमें प्रकाशित नैतिक साहित्य का प्रभाव एक प्रतिशत से भी कम ही होगा। व्यक्तिगत उदाहरणों में अथवा जहाँ कारणविशेष से परिस्थिति अधिक अनुकूल हो, लिखित प्रचार-कार्य का विशेष प्रभाव हो सकता है। लेकिन सामान्य रूप से यदि आदमी सौजन्य का परिचय देते हैं तो यह इस कारण नहीं कि उन्होंने सौजन्य के संबंध में कुछ पढ़ा ही है, अथवा वे सौजन्य के सामाजिक तथा तात्त्विक मूल कारणों को समझते हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें बचपन में ही अच्छे व्यवहार की गहरी व्यवस्थित शिक्षा मिली है। नीति के प्रचारक न तो मुख्यरूप से और न मुद्रित साहित्यमात्र पर ही निर्भर रहते हैं।

विज्ञापनदाताओं से सर्वथा भिन्न, राजनीतिक और सामाजिक प्रचारक प्रायः अँधेरे में ही तीर चलाते हैं। स्वयं प्रचारक प्रायः इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। हम सभी की तरह उन्हें भी अपने महत्त्व का आग्रह रहता ही है। इसके अतिरिक्त इतिहास लेखक तथा राजनीतिक सिद्धांतों की चर्चा करनेवाले भी उनके ऐसे दावों का समर्थन करते रहे हैं। यह कोई आश्चर्य का विषय भी नहीं है। स्वयं पेशेवर लेखक होने से इतिहास-लेखक और राजनीतिक सिद्धांतों की चर्चा करनेवाले साहित्य का कुछ अधिक मूल्यांकन करते ही हैं।

इतिहास के हर युग में कुछ पुस्तकें समाज के अंग-विशेष के लिए 'प्रमाण' बन जाती हैं। प्रचारक का एक कार्य यह भी होता है कि वह यह सिद्ध करे कि उसे इन 'प्रमाणों' का समर्थन प्राप्त है। यदि वह ऐसा नहीं कर सकता तो उसे इन 'प्रमाणों' के महत्त्व को घटाने का ही कार्य करना पड़ता है।

अब हम जरा कल्पना-जन्य साहित्य की बात करें। हम जानते हैं कि पाठक बहुधा, पुस्तकों में से उन पात्रों को चुन लेते हैं जिन्हें वे अपने जीवन में उतारना चाहते हैं अथवा जिनके अनुसार वे अपना जीवन ढालना चाहते हैं। लेकिन वे ही इस भ्रम को उलट भी देते हैं। वे जैसे-तैसे छापे की लकीरों में जीना चाहते हैं। आज के उपन्यास, नाटक और सबसे अधिक सिनेमा का एक बड़ा काम यह है कि वह पाठकों की अतृप्त आकांक्षाओं को संतुष्ट करने की चेष्टा करे। अपने व्यसनी पाठकों पर इस प्रकार के साहित्य का प्रभाव कम नहीं है। इसके प्रभाव में वे कुरुचि-पूर्ण-से-कुरुचिपूर्ण बात को अंगीकार करने के लिए तैयार रहते हैं। वास्तविक जीवन में साठ हजार अँगरेजों में से कोई एक अँगरेज मुश्किल से 'बैरन' होता है, लाखों में कोई एक ऐसा होता है कि जिसकी वार्षिक आय एक लाख पौंड हो। उपन्यासों के पात्रों का लेखा जोखा शायद कभी नहीं किया गया। उनमें सौ में से एक और शायद प्रत्येक पचास में से एक पात्र अवश्य 'लार्ड' अथवा 'लखपति' रहा है और कभी-कभी दोनों।

आज पश्चिम के पास प्राचीन ज्ञान का प्रतिनिधित्व कर सकनेवाला कोई साहित्य नहीं है। इस समय जो कुछ भी उसके पास सामूहिक रूप से है वह विज्ञान है और जानकारी है। विज्ञान निस्संदेह जानकारी है, किंतु वह ज्ञान नहीं है, वह परिमाणों की नाप-जोख करता है; किंतु उन गुणों की नहीं जिनसे हमारा सीधा संबंध है। सुख-दुःख भोगनेवाले प्राणी की हैसियत से हमें लगता है कि विज्ञान की शब्दावली जैसे हमें स्पर्श ही नहीं करती। दूसरे, विज्ञान के शब्दों में कहीं भी कला का कुछ भी समावेश नहीं है। इसलिए वे न तो पाठक के मन को अनुप्राणित ही करते हैं और न किसी विशेष साँचे में ढालते हैं।

एक तरह से अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त करने की हमारी लालसा, संसार और दूसरे लोगों का अधिक से-अधिक ज्ञान प्राप्त करने के हमारे उद्देश्य के ही विरुद्ध जा पड़ती है। अपने पूर्वजों की अपेक्षा हमारी जानकारी बहुत बढ़ी-चढ़ी है। इसके बावजूद जितनी अच्छी तरह और जितनी गहराई से वे दूसरे लोगों से परिचित थे उतने हम नहीं हैं। आज से ५०० वर्ष पहले एक शिक्षित फ्रान्सीसी इंग्लैंड में घटनेवाली राजनीतिक घटनाओं के बारे में बहुत ही थोड़ी जानकारी रखता था और ऐसी बातों के बारे में तो कुछ भी नहीं जानता था जिनसे हमारा आज का साहित्य भरा रहता है; जैसे-जुर्म की बातें, धनियों की बातें, खेलों की बातें और सिनेमा तारिकाओं की बातें। इसके बावजूद, संभवतः वह अपने आज के वंशज की अपेक्षा अपने समय के अँगरेज चिंतकों की चिंता-धाराओं और

भावनाओं से कहीं अधिक परिचित था। उसे यह ज्ञान अपने भीतर झाँकने से प्राप्त होता था।

अपने आपको जान लेने से वह उन्हें पहचान लेता था। एक ही तरह के धार्मिक और लौकिक साहित्य के साँचे में ढले हुए दिमाग एक दूसरे को बहुत अच्छी तरह समझते थे। जो लोग केवल विज्ञान और जानकारी में ही समान रूप से हिस्सेदार हैं उनसे इसकी आशा रखी ही नहीं जा सकती।

यह देखना है कि क्या विज्ञान कोई ऐसा पथ अपना सकेगा जिससे ये बिखरे सूत्र फिर एक साथ मिल जायँ।

—भदंत आनंद कौसल्यायन

(श्री अल्डोस हक्सले के एक निबंध से)

२. वाचन में विवेक

गुजरात पुस्तकालय परिषद् का तृतीय अधिवेशन पिछले दिनों बड़ोदा शहर में संपन्न हुआ था। उसके सभापति ज्ञानयोगी श्री केदारनाथजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में जहाँ अन्य उपयोगी बातें कहीं वहाँ वाचन में विवेक दृष्टि रखने पर विशेष बल दिया है। श्री केदारनाथजी महाराष्ट्र के माने हुए तत्त्वचिंतक, मूलगामी विचारक और साधक हैं। स्वर्गीय तेजस्वी पत्रकार किशोरलाल मशुवाला के आप गुरु हैं। जीवन में गांभीर्य और सात्त्विकता आपके चरित्र और चिंतन से झरती रहती है। उक्त भाषण में एक स्थान पर आप कहते हैं—

मानव जीवन के अध्येता और मानवता के उपासक के रूप में इतना ही जानता हूँ कि प्रत्येक विद्या, कला और ज्ञान का उपयोग मनुष्य को अपनी तथा अन्यों की मानवता बढ़ाने के लिए करना चाहिए। जिस प्रकार हमारी अन्य शक्तियों की वृद्धि हुई है, उसी प्रकार हमारी बौद्धिक शक्ति में भी बहुत उन्नति हुई है। हमारी विकासोन्मुख शिक्षण विषयक प्रवृत्तियों से तथा अनुदिन होने वाली पुस्तकों तथा पुस्तकालयों की वृद्धि से उक्त तथ्य अच्छी तरह समझा जा सकता है। परन्तु मैं केवल इस प्रकार के विकास का भोक्ता नहीं हूँ, अतः मुझे उससे शुद्ध आनंद और तद्विषयक अभिमान नहीं उत्पन्न होता। जिस प्रकार आरोग्य का आग्रह रखनेवाला व्यक्ति केवल पेट भर आहार प्राप्ति पर ही लक्ष्य नहीं रखता, अपितु क्या खाना पीना चाहिए और किस प्रकार पचाना चाहिए आदि बातों पर अधिक ध्यान देता है उसी प्रकार मानवता का उपासक तो इस बात पर विशेष ध्यान देता है कि जनता में आज जो वाचन प्रवृत्ति तथा लेखन प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह समाज को सुसंस्कृत और सद्गुण-संपन्न बनाने में कहाँ तक उपयोगी है तथा मानवता के सिद्धिरूप जीवन के मुख्य हेतु को प्राप्त करने में वह प्रवृत्ति कहाँ तक सहायता दे रही है।

बालक के आरोग्य और कल्याण के इच्छुक माता पिता अपने बालक को प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ, खाने पीने के लिए नहीं देते, अपितु उन्हें ऐसा आहार प्रदान करते हैं जिससे बालकों की शक्ति और चपलता बढ़े, स्फूर्ति और उत्साह बढ़े, उनकी बुद्धि का तेज बढ़े, उनमें पवित्रता और सद्गुणों की वृद्धि हो उनका रक्त शुद्ध हो और उनके शरीर पर कांति झलक उठे। वे अपने बालकों को रोग पैदा करनेवाले, उनकी बुद्धि में मंदता लानेवाले तथा उनके मन को भ्रष्ट करनेवाले कुपथ्य से बचाते हैं। इसी प्रकार हमें भी अपने को तथा अपनी आनेवाली प्रजा को, संतति को शुभ संस्कार देकर कुत्सित संस्कारों से बचाना चाहिए। आजकल लोगों में जो साहित्य प्रचलित है और जो साहित्य अधिक अभिरुचि से बाँचा जाता है उसकी बात सुनता हूँ तो भयभीत हो जाता हूँ। इसीलिए आपके समक्ष ये बातें कह रहा हूँ। घर घर बननेवाले अन्न में या होटलों में सुंदरता से सजाए हुए भोज्य पदार्थों में जिस प्रकार अमृत भरा हुआ नहीं होता, आरोग्य का विचार न रखकर केवल स्वाद और द्रव्येच्छा के लिए बनाए हुए पदार्थों में अमृत की अपेक्षा आरोग्य के विघातक तत्त्वों का होना ही अधिक संभव है, उसी प्रकार मानव जीवन के पवित्र हेतु का विचार बिना किए लिखी हुई पुस्तकों से ज्ञान और सुसंस्कार नहीं प्राप्त हो सकते, प्रत्युत कुसंस्कार लगने की ही शक्यता होती है। अतः हमें अच्छे ग्रंथों के लिए आग्रह रखना चाहिए जिन ग्रंथों से समाज के चारित्र्य, बल, पुरुषार्थ, सद्गुण और ज्ञान की वृद्धि होती रहे, उन्हीं को प्रोत्साहन और आश्रय देना चाहिए।

—शंकरदेव विद्यालंकार

(गुजराती 'बुद्धिप्रकाश' से)

विश्ववार्ता

१. बर्लिन

चार बड़े देशों के परराष्ट्र मंत्रियों की बर्लिन-वार्ता का उद्देश्य यद्यपि जर्मनी तथा आस्ट्रिया की ही समस्या मुख्यतः हल करना था तथापि अंतरराष्ट्रीय महत्त्व के अन्य प्रश्नों पर भी विनिमय होना अस्वाभाविक नहीं था। आरम में इसी का प्रयास किया गया कि वार्ता सीमित ही रह जाय, किंतु ऐसा नहीं हो सका। कारण, अंतरराष्ट्रीय तनाव की संभावनाओं का अंत करने के उद्देश्य से बड़े राष्ट्रों का दायित्व ही ऐसा है कि इस प्रकार की वार्ता की परिधि सीमित नहीं की जा सकती। फलतः चार बड़े परराष्ट्र मंत्रियों ने यह निश्चय कर लिया है कि सुदूर पूर्व की समस्याओं पर विचार करने के लिए २६ अप्रैल को जेनेवा में एक सम्मेलन किया जाय जिसमें कम्युनिस्ट चीन को भी आमंत्रित किया जाय। इस सम्मेलन में मुख्यतः कोरिया तथा हिंदचीन की समस्याओं पर विचार किया जायगा।

२६ अप्रैल को होनेवाले सम्मेलन में रूस, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा कम्युनिस्ट चीन के अतिरिक्त उत्तर कोरिया, दक्षिण कोरिया तथा उन देशों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित होंगे जिनकी सेनाएँ कोरिया युद्ध में लड़ रही थीं। इसके साथ ही चार परराष्ट्र मंत्रियों द्वारा प्रकाशित विज्ञप्ति में इस विषय को भी स्पष्ट कर दिया गया है कि उक्त सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमंत्रण का यह अर्थ नहीं कि किसी देश विशेष को राजनीतिक मान्यता प्रदान कर दी गई है। इस निश्चय के बाद गत १८ फरवरी को बर्लिन सम्मेलन समाप्त कर दिया गया।

परराष्ट्र मंत्रियों की संयुक्त विज्ञप्ति में यह भी बता दिया गया है कि बर्लिन सम्मेलन में जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या, यूरोप की सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण आदि प्रश्नों पर विस्तार-पूर्वक विचार किया गया; किंतु इनका कोई समाधान नहीं निकल सका। सम्मेलन की समाप्ति पर बर्लिन के दोनों क्षेत्रों में प्रदर्शन हुए। पूर्वी बर्लिन के प्रदर्शनकारियों ने जर्मन एकता के संबंध में रूस द्वारा दिए गए सुझावों का समर्थन किया। दूसरी ओर पश्चिम बर्लिनवालों ने पूरे जर्मनी के लिए संयुक्त सरकार की मांग की।

निष्कर्षतः जेनेवा वार्ता की सफलता के संबंध में अभी कुछ कहना कठिन है, फिर भी, इसका उपक्रम आशाजनक समझा जा सकता है। विश्व के दो प्रधान गुट एक दूसरे के जितने ही निकट आ सकें उतना ही विश्व के लिए कल्याणकारी और आशावर्द्धक सिद्ध होंगे।

२. पाकिस्तान

भारत से संमिलन के प्रश्न पर कश्मीर संघ विधान-सभा ने जो निर्णय किया है, उसको लेकर पाकिस्तान में भयंकर प्रतिक्रिया हुई है, और पाकिस्तान के अधिकारी इस निर्णय को अवैधानिक करार देते हैं। किसी भी रूप में इसे स्वीकार करने की स्थिति में वे अपने को नहीं मानते। इस संबंध में पाकिस्तान के प्रधान मंत्री मुहम्मद अली ने प्रधान मंत्री नेहरू के पास पत्र भी लिखा है; किंतु नेहरू ने पत्र का कोई उत्तर अभीतक नहीं दिया है। फलतः घबराकर पाकिस्तान के अधिकारी संयुक्त-राष्ट्र-संघ की दुहाई देने लगे हैं। लेकिन संयुक्त-राष्ट्र-संघीय क्षेत्रों में कहा जाता है कि सुरक्षा परिषद् में कश्मीर के मसले पर विचार होने की किसी योजना की जानकारी सदस्यों को नहीं है। किंतु, पूर्वी पाकिस्तान में चुनाव प्रचार के समय पाक नेताओं के भाषणों में इसके विपरीत बातें कही गई हैं।

२२ फरवरी के प्रेस संमेलन में पाकिस्तान के प्रधान मंत्री ने अब बाध्य होकर इस सत्य को प्रकट कर दिया कि पाकिस्तान ने अमेरिका से सैनिक सहायता की माँग की थी। इसके लिए वे इस लचर दलील का सहारा लेकर दुनिया की आँखों में धूल झोंकने की भी कोशिश कर रहे हैं कि पाकिस्तान विश्व के उन स्वतंत्र राष्ट्रों में है, जो अंतर राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के लिए सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की सुदृढ़ता में विश्वास करता है। किंतु इससे भी

महत्त्वपूर्ण उनकी दृष्टि में पाकिस्तान की सुरक्षा है। और इसीलिए *स्वतंत्र तथा मित्र-राष्ट्रों के सहयोग से वे पाकिस्तान* को सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। श्री अली का यह भी कहना है कि पाकिस्तान ने तुर्की के साथ जो समझौता किया है, वह इसी लक्ष्य पूर्ति के लिए किया जानेवाला प्रारंभिक प्रयास है।

३. कश्मीर

कश्मीर के प्रति पाकिस्तान की कैसी स्वार्थ भावना काम कर रही है, यह पाक अमेरिकी सैनिक समझौते से अब पूर्णतः स्पष्ट हो गई है। *अपनी चालाकी तथा मक्कारी* में असफल हो जाने के बाद पाकिस्तान एकदम व्यग्र हो उठा है और अब पाकिस्तान की सरकार इस स्वप्न-भावना को लेकर हवा में उड़ रही है कि सैनिक दृष्टि से सशक्त पाकिस्तान कश्मीर की समस्या का हल करने में सफल होगा। पाकिस्तान-सरकार अपने स्वप्न को साकार करने में कहाँ तक सफल होगी—यह तो भविष्य ही बताएगा, किंतु उसकी नीति ने अब एशियाई देशों को सचेत एवं चौकन्ना अवश्य कर दिया है। कश्मीर की जनता भी अब पाकिस्तानी तिकड़म को समझ चुकी है और अब उसे चकमा देकर गुमराह करना कठिन है।

कश्मीर के प्रधान मंत्री बख्शी गुलाम मोहम्मद ने भी यह कहकर पाकिस्तान के हौसले पर पानी फेर दिया है कि हमारा भारत प्रवेश का अध्याय भारतीय सेना के हजारों बहादुर सैनिकों तथा राज्य के शहीदों के खून से लिखा गया है जिन्होंने पाकिस्तान की ओर से आए बर्बर तथा खून के प्यासे लुटेरों से राज्य की रक्षा में प्राण दे दिए। राज्य की जनता ने पाकिस्तान तथा पश्चिमी देशों की ओर से आक्रमण की धमकियों के समय भारतीय जनता तथा उसके नेताओं के हाथों में अपने हाथ मजबूती से थमा दिए।

भारत की जनता सदा कश्मीरी जनता के साथ रही है। अतः कोई और रास्ता अपनाने के अर्थ होंगे इस राज्य की जनता की इच्छा तथा आकांक्षा की उपेक्षा। जनमत-संग्रह का प्रस्ताव तो भारत ने छः वर्ष पूर्व पाकिस्तान से किया था परंतु *पाकिस्तान-सरकार उसके लिए तैयार* नहीं थी। छः वर्षों तक प्रतीक्षा करते रहने के बाद राज्य की जनता ने यह अनुभव किया कि वह अपनी प्रगति में बाधा डालने के लिए अनिश्चितता तथा अस्थिरता की स्थिति और आगे नहीं रहने देना चाहती। अतः उसने *भारत प्रवेश को निर्णायक रूप दे दिया तथा इस प्रकार* उसने इस अध्याय को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् ने कश्मीर का प्रश्न सुलझाने की जगह और उलझाया है तथा उसने इस विवाद में आक्रमणकारी पाकिस्तान को भारत के साथ समान दर्जा दिया है।

४. अमेरिका

अमेरिका की रिपब्लिकन पार्टी ने वर्तमान सरकार को जो चेतावनी दी है, उससे *यह स्पष्ट और पुष्ट हो गया है कि* अमेरिका में भीषण आर्थिक संकट उपस्थित हो चला है। अमेरिका इस समय भयंकर मंदी का शिकार हो रहा है और इसके फलस्वरूप तीस लाख आदमी वहाँ बेकार हो गए हैं।

उक्त पार्टी ने आइसन हॉवर की सरकार को यह साम यिक चेतावनी दी है कि यदि इस मंदी के रोकने की कोशिश नहीं की गई और बेकार लोगों की रोजी की व्यवस्था न हो सकी तो 'आइक सरकार' की असफलता का यह एक कारण बन जायगी।

सोवियत रूस के लेखक एलेक्जेंड्रो सगोरेव के लेख को 'तास' संवाद-समिति ने प्रचारित किया है जिसमें कहा गया है कि अमेरिकी अर्थतंत्र मंदी का तो अनुभव कर ही रहा है, साथ ही संकट भी उत्तरोत्तर गहरा होता जा रहा है। अमेरिका में इस समय बड़े परिमाण में माल भरा हुआ है और जनता की क्रयशक्ति अत्यधिक कम हो जाने के फलस्वरूप उसके लिए कोई बाजार नहीं है। आज अमेरिका में जनसाधारण का जीवन-व्यय १९३९ की अपेक्षा तीन गुना अधिक है। खाद्य पदार्थ, कपड़े और दवाओं की कीमतें बेहद बढ़ गई हैं। कॉमोडिटी क्रेडिट कॉरपोरेशन के प्रधान जॉन डेविस को भी मजबूर होकर यह मानना पड़ा है कि किसान संकट में हैं और उनकी क्रय शक्ति १९४१ से अभी न्यूनतम है। कुल राष्ट्रीय आय में उनका हिस्सा पिछले बीस वर्षों में इस समय सबसे कम है, और उनकी गरीबी बढ़ती जा रही है।

१९५४ के लिए अमेरिकी व्यापारिक क्षेत्र से निकट संपर्क रखनेवाला *'बिजिनेस वीक'* नामक पत्रिका ने व्यग्र होकर यह भविष्यवाणी की है कि १९५४ की गर्मियों तक १९५३ के उच्चतम स्तर के मुकाबले औद्योगिक उत्पादन में लगभग दस प्रतिशत कमी हो जायगी।

अमेरिका की आर्थिक स्थिति किस ओर जा रही है, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि पिछले साल की ग्रीष्म ऋतु से लेकर साल समाप्त होने तक सात लाख व्यक्ति अपने काम से अलग कर दिए गए। गाँवों के लाखों मिहनतकश अत्यंत कठिन परिस्थितियों में रहते हैं और १९५२ की अपेक्षा १९५३ में उनकी आमदनी लगभग एक अरब डॉलर कम हो गई है। और १९५४ के शुरू में उनका कुल कर्ज सोलह अरब सत्तर करोड़ डॉलर तक पहुँच गया।

५. मिस्र

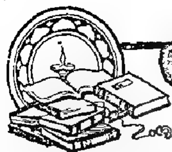
अरब संसार में स्वेज नहर के संघर्ष को लेकर बड़ा ही असंतोष व्याप्त है। इसकी पुष्टि मिस्र के अधिकारियों के उस कथन से हो जाती है, जिसमें कहा गया है कि सौदी अरब ने अमेरिकी सैनिक सहायता इसलिए अस्वीकार कर दी कि स्वेज के प्रश्न को लेकर उनमें भयंकर असंतोष है। मिस्र के अधिकारियों ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि उक्त असंतोष के परिणामस्वरूप असहयोग के और उदाहरण भी सामने आ सकते हैं। मिस्र तथा अरब राष्ट्रों का विश्वास है कि अगर अमेरिका ब्रिटेन पर दबाव डाले तो स्वेज की समस्या सुलझ सकती है। अमेरिकी अधिकारी यद्यपि इस बात को स्वीकार करते हैं कि मध्यपूर्व में अमेरिका की स्थिति डाँवाडोल है तथापि वे स्वेज नहर के झगड़े के संबंध में ब्रिटेन पर और ज्यादा दबाव नहीं डाल सकते। उन्हें इस बात की भी आशंका है कि यदि चर्चिल की सरकार और अधिक छूट देने को तैयार हो गई तो उसका पतन निश्चित है। और दूसरी ओर अमेरिका भी अभी मिस्र को सैनिक तथा आर्थिक सहायता देने के संबंध में अपना दृष्टिकोण बदलने के लिए तैयार नहीं।

मिस्र भी रूस से एक समझौता करने जा रहा है। इस समझौते के अनुसार मिस्र की विकास योजनाओं में रूसियों का बहुत हाथ हो जायगा। ये दोनों बातें इसका संकेत करती हैं कि अरब-राष्ट्र एक योजनानुसार पश्चिमी राष्ट्रों के साथ असहयोग प्रदर्शित कर रहे हैं। मिस्र इस बात से असंतुष्ट है कि अमेरिका उसको सैनिक सहायता देने को तैयार नहीं जबतक स्वेज के प्रश्न पर पूर्णरूप से समझौता न हो जाय। नए शाह सऊद ने अभी अंतरराष्ट्रीय समझौते में पड़ने से अस्वीकार कर दिया है। उनका कहना है कि मैं अनुभवहीन हूँ; किंतु दूसरी ओर यह स्मरणीय एवं विचारणीय है कि शाह सऊद शीघ्र ही मिस्र का दौरा करनेवाले हैं।

६. गोआ

इधर पुर्तगाल की बस्ती गोआ में 'गोआ छोड़ो' आंदोलन उत्तरोत्तर जोर पकड़ता जा रहा है। १९ फरवरी का समाचार है कि स्वयंसेवकों ने गोआ की सरकारी इमारतों पर भारत का राष्ट्रीय झंडा फहरा दिया। दूसरी ओर सरकार ने एक गुप्त गश्ती पत्र जारी किया है जिसमें ग्रामों के पाटिलों को भारतीय झंडा उतारने का आदेश दिया गया है, और साथ ही उन्हें सावधान भी किया गया है कि वे भारतीय झंडे का किसी भी प्रकार अपमान न करें। २१ फरवरी को पुलिस ने सरकारी इमारतों से २५ से अधिक भारतीय झंडे उतारे जो बाद में अच्छी तरह लपेटकर सैनिक संरक्षण में गवर्नर जेनरल के पास भेज दिए गए। यह भी बताया जा रहा है कि गोआ-सरकार बस्ती में भारतीय समाचार पत्रों का प्रवेश रोकने पर उच्च स्तरीय विचार कर रही है। सरकार का पक्ष लेनेवाले समाचारपत्रों ने दावा किया है कि गोआ में कोई स्वाधीनता आंदोलन नहीं चल रहा है। साथ ही इन पत्रों ने गोआ में चीजें भेजने पर भारत सरकार द्वारा लगाए गए प्रतिबंध की तीव्र निंदा की है और इसे अमैत्री पूर्ण बताया है।





पुस्तकालोचन

शिमले की कोम (कहानी-संग्रह)—लेखक—धीरेंद्र मेंहदीरत्त, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह ५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद, पक्की जिल्द, दोरंगा आकर्षक कवर, मूल्य—२।)

श्री धीरेंद्र मेंहदीरत्ता की इन कहानियों को पढ़कर हिंदी कहानियों के भविष्य के बारे में नई आशा का संचार होता है। पिछले दिनों कला का कुछ ऐसा रूप लोगों के दिमाग पर हावी हो गया था कि बौद्धिकता का दावा करने के लिए जबर्दस्ती अच्छी रचनाओं को भी बोझिल बना दिया जाता था। उस प्रवृत्ति के मुकाबले इन कहानियों का स्वर न सिर्फ नया लगेगा, बल्कि एक अजीब हल्केपन से दिल में गहरे उतर जानेवाला साबित होगा।

इन कहानियों का कथानक जीवन की साधारण घटनाओं पर आधारित है। लेकिन कोई भी घटना, साधारण से साधारण क्यों न हो, अच्छे कलाकार की नजर में पड़कर चमक उठती है। मेंहदीरत्ताजी की कहानियाँ इस बात के प्रमाण हैं। उनका 'पंखा कुली' पढ़ जाइए। गाँव से आए हुए एक साधारण लड़के और शहर की प्रौढ़ गृहिणी की बातचीत ऊपर से तो सीधी-सादी दिखाई देगी, पर हर सवाल जवाब पर दोनों के जीवन की कहानियाँ बिखरती-सी चलती हैं। धीरे-धीरे हम दोनों के जीवन से ही नहीं, उनके मानसिक गठन से भी परिचित हो जाते हैं।

कुछ कहानियों को अलग कर दिया जाय तो मेंहदीरत्ताजी की कहानियों का सबसे आकर्षक रंग उनका चुटीलापन ही लगेगा। इन मीठी चुटकियों से खीझ नहीं होती, क्योंकि ये मीठी हैं। फिर इन्हें आप आँख मूँदकर भूल भी नहीं सकते, क्योंकि इनकी जड़ें जीवन में गहरी उतर चुकी हैं।

कुछ कहानियों में निर्मल परिहास भर है। 'मनोविज्ञान का पेच' ऐसी ही कहानी कही जायगी। 'दो पैकेट सिगरेट' में व्यंग्य का जो पुट है उसके बावजूद मैं उसे निर्मल परिहास की ही कोटि में रखने के पक्ष में हूँ।

मेंहदीरत्ताजी ने कहानी लिखने की विशेष प्रतिभा पाई है जो उनकी निरंतर साधना से फूल रही है। साथ ही उन्होंने लेखक की ईमानदारी भी पाई है जो बड़ी बात है। अक्सर देखा गया है कि बड़े उच्च कोटि के भी लेखक जीवन की अपनी अनुभूति या अपने निष्कर्षों के प्रति ईमानदारी नहीं बरतते। जमाने की हवा देखकर अपनी कलम मोड़ देते हैं। स्वभावतः उन लोगों की रचनाएँ अपंग हो जाती हैं। जहाँ तहाँ प्रतिभा की एकाध झलक भले दिखाई दे, पर रचना कौशल की इकाई की सुंदरता नष्ट हो जाती है और अंत में असंतोष की एक छाया मन पर रह जाती है। मेंहदीरत्ताजी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदारी बरती है और उनकी रचनाओं की सफलता का शायद सबसे बड़ा कारण यही है।

प्रकाशन बड़ा सुरुचिपूर्ण है। नीलाभ-प्रकाशन-गृह ने बहुत थोड़े अरसे में प्रकाशकों के बीच अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

—धीरेंद्र नारायण

शब्दों का जीवन—लेखक—श्री भोलानाथ तिवारी; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या ११५, मूल्य—२)

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने शब्दों के जीवन के कई पहलुओं पर बड़े ही आकर्षक ढंग से तेरह निबंध लिखे हैं। इन निबंधों को पढ़ते समय ऐसा लगता है, मानो हम किसी व्यक्ति विशेष या अनेक व्यक्तियों की जीवनी पढ़ रहे हों। लेखक ने भाषा विज्ञान के नीरस तथ्यों का यहाँ बड़ा ही सरस और मनोरंजक अध्ययन रखा है और बीच बीच में शब्दों के बहाने अपने समाज के प्रति कड़वा व्यंग्य भी किया है। किंतु, कई निबंधों में गाम्भीर्य का अभाव है

और लेखक की कई बातें मान्य नहीं होतीं, क्योंकि उनमें प्रमाणों की कमी है, जैसे—'गंगा' शब्द को लेखक ने चीनी परिवार का माना है, पर प्रमाण पर्याप्त नहीं है। फिर काँट को हिंदी के 'खाट' शब्द से बना हुआ एक अँगरेजी शब्द लेखक ने माना है, किंतु लेखक ने भाषा विज्ञान के प्रामाणिक आधार की अपेक्षा केवल अपने अनुमान से ही यहाँ काम लिया है। इस तरह के और भी इस पुस्तक से उदाहरण दिए जा सकते हैं। पृष्ठ ५५ पर लेखक ने हिंदी में विदेशी भाषाओं से आए शब्दों की संख्या दी है, किंतु मैं समझता हूँ कि यदि लेखक ने उन शब्दों के नाम भी दिए होते तो वह और भी लाभप्रद होता। लेखक ने 'कलम' शब्द का प्रयोग पुलिंग में किया है। भाषा-विज्ञान की पुस्तक के लेखक से ऐसी गलती की आशा नहीं की जाती है। कलम उर्दू-व्याकरण के अनुसार पुलिंग और हिंदी-व्याकरण के अनुसार स्त्रीलिंग है।

कुछ त्रुटियों के बावजूद यह किताब हिंदी-साहित्य के लिए एक अच्छी किताब कही जा सकती है और भाषा के सामान्य पाठकों को इससे बड़ा ही लाभ हो सकता है। अंत में लेखक का यह विचार देखिए—'आज हमारी शब्दों की समस्या काफी सुलझ जाय यदि भक्तिकालीन हिंदी-साहित्य तथा ग्रामीण बोलियों के समर्थ शब्दों को संग्रहीत करके हम प्रयोग करने लगें।' व्यक्तिगत रूप से लेखक के इस विचार से मैं आंशिक रूप में सहमत हूँ। छपाई सफाई अच्छी है हालाँकि प्रूफ की अशुद्धियाँ कई जगहों पर बुरी तरह खटक जाती हैं।

—नरेंद्रनारायण लाल

हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव—लेखक—श्री म० म० राय—प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ० सं० ८३; मूल्य—२।)

प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन लोकोत्सवों का एक ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन है। भारत के पुराने जमाने में कौन से लोकोत्सव मनाए जाते थे और उनके पीछे कौन-सा सांस्कृतिक महत्त्व छिपा पड़ा था—इसे विद्वान लेखक ने बड़े सुंदर और आकर्षक ढंग से हमारे सामने रखा है। संपूर्ण पुस्तक पढ़ लेने पर हमें भारत के अनेक उत्सवों की जानकारी होती है। हर लोकोत्सव की पुष्टि में वेद, पुराण, उपनिषद्, शिला-लेख आदि का हवाला दिया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के अथक परिश्रम के फलस्वरूप ही इस पुस्तक का निर्माण संभव हो सका है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यह पुस्तक हिंदी साहित्य में निराली है और कदाचित् ऐसा प्रयास हिंदी में प्रथम बार हुआ है।

लोकोत्सवों के पीछे हमारी संस्कृति की बहुत-सारी बातें छिपी पड़ी हैं और प्रस्तुत पुस्तक हमें उन बातों से भली-भाँति परिचित कराती है। दूसरे शब्दों में हम इस पुस्तक को भारतीय संस्कृति का एक संक्षिप्त कोष भी कह सकते हैं। वस्तुतः विद्वान लेखक ने ऐसी पुस्तक लिखकर हिंदी साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। संस्कृति वह बुनियाद है जिसपर किसी राष्ट्र और साहित्य की इमारत उठती है, और यह पुस्तक लोकोत्सव के बहाने हमें हमारी संस्कृति की याद दिलाती है। ऐसी पुस्तक के लिए लेखक और प्रकाशक दोनों धन्यवाद के पात्र हैं। छपाई-सफाई साधारण है और प्रूफ की त्रुटियों से भी यह पुस्तक मुक्त नहीं है।

—नरेंद्रनारायण लाल

तमिल और उसका साहित्य—लेखक—श्री पूर्ण सोमसुंदरम्, संपादक—श्री क्षेमचंद्र 'सुमन'; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ १२८; मूल्य—२)

प्रस्तुत पुस्तक में तमिल भाषा और साहित्य का परिचयात्मक विश्लेषण है। लेखक ने तमिल-साहित्य के गत ढाई हजार वर्षों के इतिहास की एक हलकी-सी रूप-रेखा यहाँ रखने की अच्छी चेष्टा की है। लेखक ने तमिल-साहित्य को सात कालों में विभक्त किया है—१ संघपूर्व काल, २ संघ काल, ३ संघोत्तर काल, ४ भक्ति-काल, ५ कंबन काल, ६ मध्य काल और ७ आधुनिक काल। लेखक ने बड़े सुंदर ढंग से इन सातों कालों में तमिल साहित्य का क्रमिक विकास दिखाया है। प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से यह पता लगता है कि तमिल में सुव्यवस्थित रूप से साहित्य रचना लगभग २६०० वर्ष पहले आरंभ हुई। संघपूर्व-काल में तोलकाप्पियम् पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण की तरह एक बेजोड़ रचना है, लेकिन इसमें न लिंग की कट्टरता है और न संकीर्णता। बाहरी शब्दों को आत्मसात् करने की क्षमता यह व्याकरण तमिल साहित्य को प्रदान करता है। फिर ११ वीं सदी के रामायण-लेखक कंबन और आधुनिक काल के महाकवि सुब्रह्मण्य भारती के संबंध में लेखक पाठक को एक अच्छा-खासा परिचय देता है। तमिल

साहित्य में ऐसे ऐसे महारथी लगभग हर काल में होते गए जिनकी अपूर्व साधना के आधार पर तमिल-साहित्य का उत्तरोत्तर विकास हम देखते हैं।

विद्वान लेखक ने तमिल साहित्यकारों की अंत में जातीयता, सकस आदि भीषण विकारों से अपनी रचनाओं को बचाने की एक अपील की है। ये विकार केवल तमिल साहित्य के ही नहीं हैं, वरन् हमें राष्ट्रभाषा को भी इनसे सुरक्षित रखना पड़ेगा। श्री सोमसुंदरमजी को मैं हृदय से धन्यवाद देता हूँ, उन्होंने ऐसी पुस्तक हिंदी में लिखकर तमिल साहित्य की केवल सेवा नहीं की है, वरन् राष्ट्रभाषा हिंदी की भी अपूर्व सेवा की है। भाषा प्रांजल और छपाई सफाई अच्छी है। संपादक और प्रकाशक भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने भारतीय साहित्य-परिचय-जैसी बड़ी योजना में ऐसी उपयोगी पुस्तक प्रकाशित की है।

—नरेंद्रनारायण लाल

सरल हिंदी-प्रवेशिका, (तीन खंड)—बालोपयोगी—लेखक—श्री स्वामी प्रकाशानंद 'पथिक', प्रकाशक—श्री कुमारीप्रसाद सिंह, प्रधानाध्यापक, कन्या माध्यमिक विद्यालय, अमहरा, पटना, मूल्य—क्रमश दो, तीन और चार आने।

पुस्तक के तीनों खंडों में तीन पद्धतियों का अनुसरण किया गया है। पहले खंड में 'समग्र से संक्षेप' वाली पद्धति अपनाई गई है, दूसरे खंड में प्राचीन 'सूत्र-पद्धति' तथा तीसरे खंड में 'मिश्र-पद्धति' के अनुसार संयुक्ताक्षरों का ज्ञान बहुत सुंदर ढंग से कराया गया है।

'समग्र से संक्षेप' वाली पद्धति के अनुसार इसमें पहले एमे अक्षरों को रखा गया जिनसे सरल शब्द आसानी से बनाया जा सके। शब्द-चयन में भी यह ध्यान रखा गया है कि पहले ऐसे शब्द हों, जिनसे बच्चा पहले से परिचित हो। आधुनिकतम प्रणाली यही है। दूसरे खंड में प्राचीन 'सूत्र पद्धति' के अनुसार पहले वर्णमाला का ज्ञान कराया गया है और बाद में शब्दों का।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम खंड में पहले पाँच अक्षर—क, न, द, म, और ह लिए गए हैं तथा दो पृष्ठों तक इन्हीं अक्षरों के हेरफेर से शब्द बनाए गए हैं। इसी तरह दो-दो पृष्ठों के बाद पाँच-पाँच नए अक्षर आते गए हैं। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बच्चा जैसे-जैसे आगे बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे उसे नए-नए शब्द मिलते जायँगे और पुराने शब्दों की आवृत्ति भी बार-बार होती जायगी।

दूसरे खंड में मात्राओं का ज्ञान इस तरह कराया गया है कि एक पाठ को पाँच बार पढ़ने पर एक मात्रा की कम से-कम दो सौ बार आवृत्ति हो जायगी और बच्चे को यह अनुभव भी नहीं होगा कि वह अपने पाठ को इतनी बार पढ़ गया। इस खंड में प्रथम पाठ को छोड़कर सोलह पाठ तक एक एक शृंखलाबद्ध कहानी भी दी गई है तथा इस खंड के अंत में पत्र लिखने का भी ज्ञान कराया गया है। पुस्तक के अंत में हजार तक की गिनती एक साथ है।

तीसरे खंड में विभिन्न प्रकार से लिखे जानेवाले संयुक्ताक्षरों को प्रत्येक पाठ के ऊपर दिखाया गया है और साथ में उन शब्दों को लेकर एक क्रमबद्ध कहानी भी दी गई है। पुस्तक समाप्त करने पर विद्यार्थी कठिन-से कठिन संयुक्त शब्दों को आसानी से समझ और पढ़ सकता है।

पुस्तक में एक खटकनेवाली चीज है—वह है पुस्तक को ज्यादा आकर्षक नहीं बना पाना। आवरण पृष्ठ एवं बीच में भी आकर्षक चित्र देकर पुस्तक की उपयोगिता और अधिक बढ़ाई जा सकती थी। दूसरे खंड के पच्चीसवें पृष्ठ पर चिट्ठी के पते लिखने के ढंग को इतना घना नहीं करना चाहिए था। चार की जगह पर दो ही पत्रों के पते का तरीका दिखाया जाता तो अच्छा होता। पुस्तक की छपाई रंगीन एवं शुद्ध है। यह पुस्तक प्रौढ और बच्चा—दोनों के लिए विशेष उपयोगी होगी। लगता है कि साधन की कमी के कारण ही लेखक पुस्तक को और आकर्षक नहीं बना पाया है। ऐसी बालोपयोगी पुस्तक को अवश्य प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

—राधावल्लभ

चार के चार—ले०—श्री कमल जोशी, प्रकाशक—शुभ्रा प्रकाशन, २६, कट्रावर्स पुरिया, (वेस्ट) जमशेदपुर, पृष्ठ संख्या १५८३ मूल्य—२॥)

'हिंदी-कहानियों में ये अलग पहचानी जा सकेंगी, इनमें इतनी निजता है। कहीं-कहीं तो तुम्हारी कलम पर ईर्ष्या होती है।'—ये मंतव्य हैं सुप्रसिद्ध कथाकार श्री जैनेंद्रकुमारजी के, जो लेखक की कहानियों पर प्रकट किए गए हैं। शैली, भाषा तथा चरित्र चित्रण की दृष्टि

से लेखक काफी सफल रहा है और इस कसौटी पर ये कहानियाँ अवश्य खरी उतरी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक दस कहानियों का संग्रह है। संग्रह की अंतिम कहानी 'चार के चार' है, जिसके आधार पर पुस्तक का नामकरण हुआ है। इस कहानी में फुटपाथ पर जीवन व्यतीत करनेवाले उपेक्षित भिखमगों के जीवन का चित्रण है। इनमें तीन भिखमगे हैं, जिनमें एक लूला है, दूसरा काना और तीसरी कपासी—एक जवान औरत है। इन लोगों का निवास फुटपाथ के किसी एक स्थान पर तबतक निश्चित रहता है, जबतक पुलिस इन्हें वहाँ से भगा नहीं देती। तीनों भीख माँगते हैं और कपासी भोजन बनाती है। इन लोगों की मडली में एक लँगडा भी आता है, जो कपासी की सिफारिश पर दल में सम्मिलित कर लिया जाता है। वह इन लोगों के बजाय ज्यादा पैसे माँग लाता है। कपासी का आकर्षण लूले की ओर से हटकर लँगडे की ओर होता है। एक रोज लँगडा कपासी के लिए झुमके खरीद लाता है। रात में सबके सो जाने पर कपासी लगडे को जगाती है और जगाने का कारण पूछने पर कहती है कि 'चुप, जरा भी आवाज नहीं करना, नहीं तो ये लोग जग जायँगे।' लँगडा बैसाखी उठाता है, लेकिन कपासी कहती है—'इसकी आवाज से तो सारा मुहल्ला जग जायगा।'—उसे वह अपना कधा पकडाकर बिजली की रोशनी से दूर अँधेरे की ओर ले जाती है। एक रोज रात को लँगडा कपासी को जगाता है, लेकिन वह कहती है कि 'जाकर सो जाओ, मैं अब नहीं जाऊँगी।' कुछ दिनों के बाद लँगडा काफी रात गए लौटता है और पैसे की कटोरी देते हुए कहता है कि आज काफी पैसे मिले हैं। लूला पैसे की कटोरी फेंक देता है और गालियाँ देते हुए दोनों उसे पीटने लगते हैं। वह अपनी बैसाखी टेकता हुआ चला जाता है। कुछ देर बाद काना हँसते हुए कहता है—खैर, हमारे दल में चार थे, चार जने ही फिर हो जायेंगे।' कहानी काफी सफल हुई है। लगता है, लेखक का इस कहानी के प्रति ज्यादा मोह रहने से ही इसके नाम के आधार पर पुस्तक का नामकरण हुआ।

'जिंदगी की राह में' एक शरणार्थी लडकी के जीवन से संबद्ध पुस्तक की पहली कहानी है। इसमें लेखक लता द्वारा उसके केशव भैया के एकात जीवन को दिखलाने का लोभ सवरण नहीं कर सका है। जिस समय वह उसके एकाकी जीवन को देखने जाती है, उस समय चोरी का, और कीमती हाथीदाँत के फ्रेम चुराने के अभिप्राय से उसके फोटो के उठाने पर, उसपर प्रेम का अभियोग लगाया जाता है। 'देवकी के दाँत' और 'डाक्टर की पत्नी'-शीर्षक कहानी भी काफी स्वाभाविक एव सफल हुई है।

प्राय सभी कहानियों का एक ही विषय—सेक्स है, जिसके इर्द गिर्द कहानियों के पात्र विभिन्न भेष भूषा और विभिन्न अवस्था में चक्कर लगाते नजर आते हैं। ऐसा लगता है कि लेखक की दृष्टि में आज की रूढिवादिता, सस्कार एव विवेकहीन धारणाओं और माप दंडों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए एक ही प्रशस्त तथा स्पष्ट मार्ग है, जिसे फ्रायड के हिमायतियों ने चुन रखा है।

—राधावल्लभ

प्रयाग—प्रकाशक—पब्लिकेशन्स डिविजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फारमेशन्स एड ब्राडकास्टिंग, गवर्मेंट ऑफ इंडिया, दिल्ली।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रयाग का सक्षिप्त इतिहास तथा उसके इलाहाबाद नाम के बारे में चर्चा की गई है। प्रयाग में जितने भी दर्शनीय स्थान हैं, उनके सुदर चित्र प्रकाशित किए गए हैं। यह पुस्तक विशेषत कुभ मेला के यात्रियों को ही दृष्टिकोण में रखकर लिखी गई थी। इसीलिए कुभ-स्नान के सबध में भी ज्ञातव्य बातें दे दी गई हैं। पुस्तक बड़ी उपयोगी और सुदर है। छपाई सफाई भी आकर्षक है।

—सदय

अतरिम क्षतिपूर्ति योजना—प्रकाशक—पब्लिकेशन्स डिविजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फारमेशन्स एड ब्राडकास्टिंग, दिल्ली।

प्रस्तुत पुस्तक में क्षतिपूर्ति योजना के सबध में बहुत ही सुदररूप से प्रकाश डाला गया है। विस्थापितों के पुनर्वास तथा शरणार्थियों की क्षतिपूर्ति का प्रश्न स्वतत्र भारत के सामने बहुत ही जटिल रूप मे उपस्थित है। सरकार की ओर से इस दिशा में जो कदम उठाए गए हैं उनके प्रति सबद्ध व्यक्तियों की जो प्रतिक्रिया हुई उसे ध्यान मे रखते हुए इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। अतरिम क्षतिपूर्ति योजना वास्तविक रूप में कैसे लागू की जायगी और इसके दावेदार अपना हक कैसे सरकार के

सामने पेश करेंगे—इस संबंध में एक काल्पनिक व्यक्ति के माध्यम से सब-कुछ बताया गया है। पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। छपाई-सफाई भी सुंदर तथा आकर्षक है।

—सदय

सरल पंचवर्षीय योजना—पब्लिकेशन्स डिविजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फॉर्मेशन एंड ब्राडकॉस्टिंग, गवर्मेंट ऑफ इंडिया, दिल्ली ८, पृष्ठ ७२, मूल्य—॥)

प्रस्तुत पुस्तक में पंचवर्षीय योजना को सरल और सुबोध बनाकर दिया गया है। इसमें पंचवर्षीय योजना के अंदर आनेवाले उद्योगों और कार्यों के विवरण के अतिरिक्त तत्संबंधी छोटे-बड़े और आकर्षक चित्र भी दिए गए हैं। इसमें दिखलाया गया है कि १९३८ में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के सभापति श्री सुभाषचंद्र बोस ने नेहरूजी की अध्यक्षता में एक योजना-कमिटी की स्थापना की थी। उस कमिटी की रिपोर्ट भी १९४० में प्रकाशित हुई और उसीको ध्यान में रखते हुए भारत-सरकार ने नेहरूजी के प्रधानत्व में १९५० ई० में योजना आयोग की स्थापना की। सन् १९५१ के अप्रैल से यह योजना चालू भी कर दी गई है। कुल मिलाकर पाँच साल में २,०६९ करोड़ रुपए खर्च किए जायँगे। इस योजना से देश की किन किन दिशाओं में क्या क्या उन्नति होगी, इसका पूरा विवरण बहुत सरल भाषा और बोलचाल की शैली में दिया गया है। छोटे बड़े चित्रों तथा आँकड़े देकर पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ा दी गई है। प्रस्तुत पुस्तक सर्वसाधारण को ध्यान में रखकर लिखी गई है—ऐसा इसे देखने से ही प्रतीत होता है। आवरण पृष्ठ काफी आकर्षक है तथा छपाई और सफाई बड़ी अच्छी है।

—राधावल्लभ

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना-विशेषांक-प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, १ फैज बाजार, दिल्ली, मूल्य—५)

आलोचना साहित्य में इस पत्र का अपना खास महत्व है—इसे कोई भी इनकार नहीं कर सकता है। प्रस्तुत विशेषांक भी अपनी मर्यादा के अनुकूल ही काफी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है। संपादकीय [illegible] कर इस अंक में ३० निबंध [illegible] हैं। सभी एक-से-एक बढ़कर सुंदर, पठनीय एवं मननीय हैं। इस अंक के प्रा[illegible] सभी लेखक हिंदी-संसार के [illegible], इस क्षेत्र के अधि[illegible]कारी विद्वान हैं। फिर भी संपूर्ण अंक को देखकर लग[illegible]ता है कि यह अंक किसी [illegible] उद्देश्य से नहीं नि[illegible] गया है। आलोचना का [illegible] साधारण अंक नि[illegible] है, उसी प्रकार का यह अंक भी है। सैद्धान्तिक [illegible] व्यावहारिक आलोचनाएँ तो इस अंक में समाविष्ट [illegible], किन्तु यह नहीं किया गया है कि एक विषय [illegible] सामने रखकर विद्वानों से [illegible] निबंध लिखवाया गया [illegible] [illegible] लिखवाए [illegible] नहीं [illegible] जाता, जाते और वे क्रमबद्ध रूप में प्रकाशित किए जाते तो इस अंक का महत्व ही दूसरा होता। उदाहरण के लिए डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी का ही निबंध लीजिए—'गौड़ीय वैष्णव रस सिद्धांत'। प्रस्तुत निबंध में आदरणीय द्विवेदीजी ने बहुत ही संक्षेप से काम लिया है। गौड़ीय वैष्णव रस-सिद्धांत पर बहुत कुछ कहने को रह गया है। हाँ, फुटनोट में संपादकजी ने यह सूचना अवश्य दी है कि इस विषय पर विस्तार से द्विवेदीजी ने अगले किसी लेख में विचार करने का आश्वासन दिया है। यह सूचना एक प्रतिष्ठित पत्र के महत्वपूर्ण विशेषांक में अपेक्षित नहीं है। विशेषांक तो अपने आपमें पूर्ण चाहिए। इसके बावजूद भी यह अंक बहुत ही उपयोगी और महत्वपूर्ण है। श्री परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० देवराज, डॉ० नगेंद्र, श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री शम्भूनाथ सिंह, श्री नलिनविलोचन शर्मा, श्री अज्ञेयजी तथा डॉ० रामअवध द्विवेदी के निबंध इस अंक के गौरव हैं। आशा है, हिंदी-संसार इस अंक का विशेष स्वागत करेगा।

साहित्यिक प्रकाशन

उपन्यास

इन्द्रधनुष	पं० छविनाथ पाण्डेय	३॥)
माँ की ममता	”	२॥)
कैदी की पत्नी	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	३)
मीमांसा	श्री अनूपलाल मण्डल	३॥)
दर्द की तस्वीरें	”	२)
समाज की वेदी पर	”	१॥)
बुझने न पाय	”	४)
वे अभागे	”	५)
रूप-रेखा	”	१॥)
सविता	”	३)
साकी	”	१॥)
बूचड़खाना	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)
लहरों के बीच	श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त	२॥)
इन्दु	श्री ब्रजविहारी शरण	२॥)
अविरल आँसू	महथ धनराजपुरी	५)
सरस्वती की आत्महत्या	श्री रमण	२)

कहानी

लाल तारा	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
संसार की मनोरम कहानियाँ	”	१॥)
माटी की मूरतें	”	१॥)
प्रतिमा	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	२॥)
रात की रानी	सुश्री उषादेवी मिश्रा	२)
भीखू की टोली	सुश्री शारदा वेदालंकार	१)
हरदम आग	श्री कृष्णनन्दन सिनहा	२॥)
समानान्तर रेखाएँ	श्री राधाकृष्णप्रसाद, एम० ए०	२॥)
गौने की विदा	श्री शिवसहाय चतुर्वेदी	२)
सूरतें और सीरतें	प्रो० कपिल	१)

प्रहसन

दो घड़ी	श्री शिवपूजन सहाय	॥)
कहकहा	श्री सरयूपंडा गौड़	१)
ससुराल की होली	”	२॥)
हँसो-हँसाओ	”	१॥)

नाटक

अम्बपाली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
तथागत	”	१॥)
वर्धमान महावीर	श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)
पारिजात-मंजरी	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	१॥)
संस्कृति की झलक	श्री रमण	१॥)
जय	श्री रासविहारी लाल	२)
नवयुग का प्रभात	श्री उग्रमोहन झा	२)

यात्रा

भूमण्डल-यात्रा	श्री गोपाल नेवटिया	१॥।)

प्रबन्ध-साहित्य

संस्कृत का अध्ययन	राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद	२)
आगे बढ़ो	पं० छविनाथ पाण्डेय	१॥)
जीवन की सफलता	”	॥≥)
साहित्य-समीक्षा	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	२॥।)
दुग्ध-विज्ञान	श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर'	१)
बौद्धधर्म के उपदेश	धर्मरक्षित	२)
निर्माण के चित्र	श्री रमण	१)

इतिहास

हमारी स्वतन्त्रता	श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)

संकलन

गाँधी-अमृतवाणी	श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी	१॥।)
संस्कृत-लोकोक्ति-सुधा	श्री जगदम्बाशरण राय	१॥।)

जीवनी

आत्म-कथा	राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद	१२)
कार्ल मार्क्स	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२॥)

काव्य

कैकेयी	श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'	३)
कर्ण	”	१॥)
रश्मि-रथी	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'	५)
धूप और धुआँ	”	२॥)
इतिहास के आँसू	”	३)
मधुबिन्दु	श्री रामसिंहासन सहाय 'मधुर'	१)
नारायणी	श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)
द्रोण	श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'	१॥)

संस्मरण

बापू के कदमों में	राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद	५)

राजनीति

राजनीति-विज्ञान	प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र	६)
भारतीय संविधान और शासन	प्रो० विमलाप्रसाद	६॥)

नीति-शास्त्र

नीति शास्त्र श्री क्षेमधारी सिंह २।।)

नागरिक शास्त्र

प्राथमिक नागरिक शास्त्र प्रो० दिवाकर झा ४)

आर्थिक इतिहास

भारत का आर्थिक इतिहास प्रो० मोतीचन्द गोविल ३)
इंगलैंड का आर्थिक इतिहास २)

सामान्य विज्ञान

विश्व का विकास माननीय श्री रामचरित्र सिंह २।।)
विश्वज्ञान-भारती श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' १०)

ग्राम्य साहित्य

अन्नपूर्णा के मन्दिर में श्री शिवपूजन सहाय १।।)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा सम्पादक-मंडल ।।=)
गाँव स्वर्ग बन सकता है " ।।=)
हमें जानना चाहिए " ।।=)
किसान और मजदूर सम्पादक-मंडल ।।=)
हमारा कर्त्तव्य " ।=)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा " ।)
पशुपालन और भारत का पशुधन " ।)
बिहार पंचायत राज और उसके अधिकार" ।)
फल तथा सब्जीसंरक्षण श्री उमेश्वरप्रसाद वर्मा १।।)
फलोत्पादन " १।।)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव ३।।)
काव्य और कल्पना प्रो० रामखेलावन पाण्डेय ३।।)
निर्गुण काव्यदर्शन प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी ५)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ चित्रकार—श्यामलानन्द २)

मैथिली-साहित्य

खट्टर ककाक तरंग प्रो० हरिमोहन झा १।।)

बाल-साहित्य

कहानी

सप्तसोपान प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ।।।)
नवरत्न " ।।।)
कथा-कहानी " ।।।)
सीख की बातें " ।।।)
आश्चर्यजनक कहानियाँ श्री केदारनाथमिश्र 'प्रभात' १।)
मूर्खों की कहानियाँ " १।)
मनोरंजक कहानियाँ " १।)
समुद्र के मोती " १।)
शेर का शिकारी श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' ।।।)
छहरदार पूँछ श्रीराधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० ।।।)
नकली सिंह " ।।।)
ऊँचे ऊँट " ।।।)
साँढ़ और बैंग " ।।।)
चोर राजा " ।।।)
दालिम कुमार श्री शिवस्वरूप वर्मा ।।।)
सीत-बसंत " ।।।)
हितोपदेश की कहानियाँ श्री शशिनाथ झा १।।)
मामाजी " ।।।)
कसी कीचड़ की कहानियाँ श्री सुरेश्वर पाठक १।।।)
सत्तू में भैंस सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी ।।।)
जादू की बंशी श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त ।।)
जादू का थैला श्री जगदानन्द झा ।।)
काजी घोड़ा " ।।)
कासिम का चप्पल " ।।)
चालाक मुर्गी " ।।)
सियार का न्याय " ।।)
चाँद का दूत " ।=)
दादा का ढोल " ।=)
गधे की सूझ " ।=)
समझदार मेढक " ।=)
बेटे हों तो ऐसे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ।।।)
बेटियाँ हों तो ऐसी " ।।।)
अनोखा संसार " ।।=)

पौराणिक कहानी

उपदेश की कहानियाँ श्री अनूपलाल मण्डल
— भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=); भाग, ३ ।।=); भाग, ४ ।।=)
इनके चरण-चिह्नों पर श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ।।।)
माँ के सपूत श्री शिवपूजन सहाय ।।—)

अवन्तिका



वर्ष २ : अंक ४

अप्रैल, १९५४

संपादक—लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वार्षिक १०)

एक प्रति १)

अवन्तिका के प्रथम वर्ष

को

फाइल मँगाकर लाभ उठायें

१ अवन्तिका के प्रथम वर्ष की फाइल दो जिल्दों में हमारे कार्यालय में उपलब्ध है। जिन सज्जनों को अपने पुस्तकालय या संग्रहालय के लिए इन जिल्दों की जरूरत हो वे मनिआर्डर से १२) बारह रुपये भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर ये जिल्दें मँगवा सकते हैं। प्रथम वर्ष की फाइल में जिन लेखकों और कवियों की रचनाएँ आपको पढ़ने के लिए मिलेंगी उनमें से कुछ के नाम ये हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि निराला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

२ अवन्तिका का वार्षिक चंदा १०) दस रुपये, और एक अंक का १) रुपया है। किंतु प्रस्तुत अंक का मूल्य तीन रुपया है। अतः यदि आप इस अंक से अवन्तिका के ग्राहक बन जाते हैं, तो फिर बाकी ग्यारह अंक आपको सिर्फ सात रुपये में मिलते रहेंगे। अतएव, उचित है कि आप दस रुपये भेजकर पत्रिका के वार्षिक ग्राहक बन जायें।

३. अवन्तिका का वर्षारंभ जनवरी से होता है। प्रस्तुत काव्यालोचनांक अवन्तिका के दूसरे वर्ष का प्रथम अंक है।

४ अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बना जा सकता है।

५ अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

६. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; अन्यथा पत्रोत्तर भेजने में विलंब होगा।

७. नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता।

—प्रकाशक—

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना–४

साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि

लेखक : श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव'

आलोचना-साहित्य में अनुपम देन : मूल्य ६) मात्र

कुछ सम्मतियाँ

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी :

"……बहुत अच्छी लगी। यह स्रष्टा का विवेचन है। आलोचक अगर स्रष्टा नहीं हुआ तो वह नीरस हो जाता है और अपने ज्ञान की गरिमा से पाठक की गरदन तोड़ देता है। आपकी विवेचना सरस है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग :

साहित्य शास्त्र सम्बन्धी इस ग्रंथ को अत्यन्त परिश्रम और मनोयोग के साथ लिखा गया है। इस विषय पर यह अपने ढंग का बहुत सुन्दर है।

डा० शिवनाथ, शान्ति-निकेतन :

हिन्दी में ऐसे सैद्धान्तिक समीक्षा के ग्रंथ थोड़े हैं।

कविता

अशोक—श्री रामदयाल पाण्डेय	१॥)
कबीर—श्री यमुनाप्रसाद चौधरी 'नीरज'	१)
स्वर्णोदय—'प्रभात'	१)

कथा साहित्य

अनोखा आदमी—पं० छविनाथ पाण्डेय	३)
असगार में ,,	३)
अंधकार ,,	३)
बदलती दुनिया—श्री सुरेश्वर पाठक	२॥)
हरवैया का बेटा—श्री मालचन्द्र ओझा	१)
कैसे बहार दर्जे—श्री राधाकृष्ण प्रसाद	१)
मृत्यु के मुँह में—श्री छविनाथ पाण्डेय	१।=)

नाटक

बगाई—श्री मोहनलाल महतो	२)
पुनरावृत्ति—श्री हरकुमार तिवारी	१॥)
पचासुन—श्री अनूप	१।)

किशोर साहित्य

धरती पर धावा	।)
विदेशी गाथाएँ	।॥)
कला की कुटिया में	१)
विज्ञान के पथ पर	१)
आदि मानव	॥)
हमारे युग पुरुष	१)
मेरा विहार	१)
कविता कानन	१)
हम और हमारा समाज	२)
हमारी शिक्षा	१)
सत्य शिवं-सुन्दरम्	॥=)
भूला हुआ भारत	१)
कृषि के वे दिन और ये दिन	॥)
हम कौन थे क्या हो गए	॥)

ग्राम्य साहित्य

पेड़ पौधों का संसार	२)
साग-सब्जी की खेती	२)
पशुओं का अनुभूत इलाज	१।)
मनुष्य और भूमि	।=)
कृषि और कृषक	॥)॥

गांधी साहित्य

राष्ट्रपिता	।≈)
बापू की बातें	।≈)
बापू को जानो	।≈)
बापू की सीख	।≈)
बापू की गूँजती आवाजें	।≈)
स्वराज्य का सच्चा अर्थ	।-)

प्रकाशन की पूरी सूची मँगाकर देखें

ज्ञानपीठ लिमिटेड : पटना-४



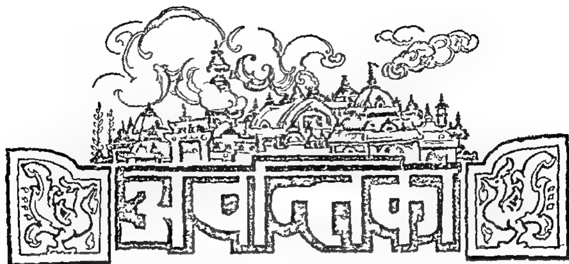
वार्षिक
१०)
विदेश के लिए
ग्यारह शिलिंग

अवन्तिका

एक प्रति
१)
विदेश के लिए
डेढ़ शिलिंग

[विविध विषय विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]
जम्मू-कश्मीर, सौराष्ट्र, हिमाचल-प्रदेश तथा बिहार की सरकारों द्वारा
कॉलेजों, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विषय-सूची : अप्रैल, १९५४



[विविध विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

संपादक : लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वर्ष २ : खंड १] पटना, अप्रैल १९५४ ई० . चैत्र, २०१० वि० [अंक ४ पूर्णांक १६

संपादकीय

१. भाषाधार राज्य-पुनर्गठन

भाषाधार राज्य पुनर्गठन की चर्चा बहुत पुरानी है, किंतु समय समय पर इस चर्चा में ज्वार भाटा आ जाता है। आज से बहुत दिन पहले ही कांग्रेस ने भाषाधार राज्य-पुनर्गठन के सिद्धांत को मान लिया था और उसके अनुसार ही कांग्रेस ने अपनी कई प्रादेशिक कांग्रेस कमिटियों का संगठन भी भाषाधार पर किया। जब कांग्रेस के हाथ में देश के शासन की बागडोर नहीं थी, तब इससे अधिक कांग्रेस कुछ कर भी नहीं सकती थी। अब जब कांग्रेस के हाथ में देश का शासन-सूत्र आया तब कांग्रेस की सरकार के लिए यही प्रश्न सरदर्द का कारण हो गया है। ऐसे बहुत-से काम हैं जिनका समर्थन अधिकारहीन कांग्रेस बड़ी तत्परता के साथ करती आई थी, पर अब अधिकार प्राप्त होने पर उन कामों को कांग्रेस-सरकार ने दूसरे दृष्टिकोण से देखना शुरू किया है। ऐसे प्रश्नों की तालिका में भाषाधार राज्य पुनर्गठन के साथ साथ मद्य निषेध तथा नमक कर आदि के प्रश्न भी जोड़े जा सकते हैं।

दृष्टिकोण के बदलते ही प्रश्न के पहलू भी बदल जाते हैं। शासन की सुविधा के लिए भाषाधार राज्य पुनर्गठन की बड़ी आवश्यकता बताई जाती है, पर भाषाधार राज्य-पुनर्गठन इस प्रकार किया जाय जिससे शासन में असुविधा नहीं हो, यह प्रश्न भी निराधार नहीं है। प्रश्न का मौलिक आधार क्या है—भाषा या शासन? यदि हम भाषा को मुख्य समझें तो इस प्रश्न पर एक ढंग से विचार किया जा सकता है और यदि शासन को ही प्रधान मानें तो इसपर दूसरे ढंग से विचार किया जा सकता है। शासनारूढ़ कांग्रेस सरकार के लिए दूसरा कोई चारा नहीं है कि वह इस प्रश्न पर शासन की दृष्टि से ही विचार करे जिससे भाषाधार राज्य-पुनर्गठन के कारण नवजात भारत राष्ट्र का ऐक्य-बंधन शिथिल नहीं हो।

भारत से बहुत दूर नहीं, अगल-बगल ही पंजाब और बंगाल के ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि भाषा की एकता लोगों को केवल इस आधार पर बाँध नहीं सकी। धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर स्वदेशी भाई विदेशी हो गए। धर्म का आधार भी राजनीति की दुनिया में बहुत महत्त्व नहीं रखता। धर्म राजनीति का हथकंडा बन सकता है, पर उसका आधार नहीं बन सकता। यदि ऐसी बात रहती तो दुनिया के

सारे मुस्लिम राष्ट्र या सारे ईसाई राष्ट्र एक राजनैतिक तन में आ जाते। पर ऐसी बात हुई नहीं और न होने की उमीद की जा सकती है। राजनीति ने भाषा, संस्कृति, धर्म, जाति सबको अपनी महिमा से मंडित कर लिया है। राजनीति के कारण ही ऐसे प्रश्न उठाये जाते हैं और राजनीति में ही सबका विलयन भी हो जाता है। यह एक पूर्वापर विरुद्ध स्थिति है, किंतु इस स्थिति को स्वीकार करना ही होगा।

भाषाधार राज्य-पुनर्गठन की समस्या के समाधान के लिए बहुत तरह के विचार उपस्थित किए गए हैं। हम दो-तीन ढंग के विचारों को अपने पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं। इस संबंध में श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपने जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हें पढ़िए—

> पुराने समय से चले आते बड़े बड़े नौकरशाह और उनकी उँगलियों पर नाचनेवाले आज की नेताशाही नौकरियों को केवल अपने हाथों में रखने के लिए अंग्रेजी की प्रधानता बनाए रखना चाहती है। इसलिए वह भाषानुसार प्रदेश निर्माण का विरोध करती है। जबतक आंध्र मद्रास प्रदेश के चों चों के मुरब्बे में शामिल था, तबतक वहाँ की विधान-सभा के मेंबरों के लिए यह अनिवार्यता थी कि यदि अपनी बात को तमिल मलयालम भाषाभाषी मेंबरों तक उन्हें पहुँचाना है, तो वे अंग्रेजी में बोलें। आंध्रप्रदेश के निर्माण के बाद ही अब अंग्रेजी बोलना बिल्कुल अस्वाभाविक बात हो गई। जब विधानसभा के सारे सदस्य तेलगू भाषी हैं, तब वहाँ अंग्रेजी में भाषण कैसे किए जा सकते हैं? जबतक महाराष्ट्र हिंदी, गुजराती, तेलगू, कन्नड़भाषी प्रदेश सबों में मिला हुआ है, तबतक वहाँ भी मराठी भाषा का राज्य में मुख्य स्थान होना असम्भव है और तबतक वहाँ की विधानसभाओं और सरकारी नौकरियों में अंग्रेजी का बोलबाला रहेगा। यहाँ तो साफ बड़ी बड़ी तनख्वाहों की लूट का सवाल है। इसका साफ मतलब है कि केवल अपनी मातृभाषा तक ही शिक्षा पानेवाले तरुण अंग्रेजी के कायम किए हुए फौलादी ढाँचे के भीतर घुस न सकें।

श्री राहुल ने बहुत उत्तेजित हृदय से इस प्रश्न पर विचार किया है। आज राष्ट्र के शासन की बागडोर श्री जवाहरलाल नेहरू के हाथ में है। नेहरू भाषाधार राज्य-पुनर्गठन के विरोधी नहीं हैं, लेकिन दूसरों की तरह वे इसके आग्रही भी नहीं हैं। शायद नेहरू की दृष्टि में अब राज्य-पुनर्गठन में शासन की सुविधा का विचार ही मुख्य है। इसी कारण वे भाषाधार राज्य-पुनर्गठन का विरोध तो नहीं करते, पर इसके लिए आग्रह भी नहीं दिखलाते। राहुल ने नेहरू की नीयत पर हमला करते हुए लिखा है—

> काटजू और नेहरू क्या कभी दिल से भाषानुसार प्रदेश बनाना देख सकते हैं, जिनका कि अपना कोई प्रदेश नहीं, अपनी कोई प्रादेशिक संस्कृति नहीं, अपनी कोई जनता की (देहाती) भाषा नहीं, जिनकी कोई लोक संस्कृति नहीं। वे "पीर पराई क्या जानें!" अपनी भाषा में शिक्षा और शासन के न होने से जनसाधारण को जितनी कठिनाइयाँ होती हैं, उन्हें देखने के लिए उनके पास आँखें नहीं हैं। यह भी देखने के लिए उनके पास आँखें नहीं हैं, कि सोई-मुरझाई हुई सी जनता की आकांक्षा समय पर बहुत प्रचंड हो सकती है।

नेहरू की नीयत पर यह हमला अन्यायपूर्ण है। नेहरू के पूर्वज भारत के चाहे जिस क्षेत्र से आए हों, लेकिन उत्तर प्रदेश में उनका जन्म स्थान है और उत्तर प्रदेश के साथ उनका स्वाभाविक ममत्व है, इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। उनकी शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य पद्धति पर हुई, पर घरेलू मामलों में उर्दू के साथ उनका संबंध जुड़ा। हिंदी के लिए वे हमारी तरह आग्रही नहीं हो सकते, इसका कारण स्पष्ट है। भारत की एकता को अखंड रखने के संबंध में उनकी नीयत पर संदेह प्रकट करना अनुचित ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी है। राहुल ने फिर लिखा है—

> यदि भाषानुसार प्रदेश बनाने से भारत की एकता खतम हो जाती है, तो फिर बंगाल और उड़ीसा को क्यों अलग रखते हो, आंध्र को क्यों अब मारकर अलग प्रदेश का रूप दिया? एक भाषा जहाँ हो, उसे खंड खंड करने में तो भारत की एकता को कोई नुकसान नहीं होता, लेकिन खंड-खंड किए हुए टुकड़ों को भाषानुसार एक कर दिया जाय, तो भारत की एकता को खतरा पैदा हो जाता है? स्वार्थ के पीछे मरनेवालों को कैसे कोई समझाए? हिंदी प्रदेश को बिहार, उत्तर प्रदेश, विंध्यप्रदेश, मध्यप्रदेश, मध्यभारत, भोपाल, अजमेर, राजस्थान, हिमाचल, बिलासपुर, पंजाबान्तर्गत हरियाना—इन ग्यारह टुकड़ों में बाँट देने में देश की एकता को कोई क्षति नहीं हुई, लेकिन यदि उसे अपने टुकड़ों में मगही, भोजपुरी, मैथिली आदि भाषाओं के अनुसार गठित किया जाय, तो 'शांतं पापं', अनर्थ हो जायगा।

प्रो० सक्सेना ने राज्यों के पुनर्गठन के संबंध में एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार किया है। उनके अनुसार पुरानी

यूरोपीय प्रणाली के विपरीत चीन, रूस तथा संसार के अन्य बड़े राष्ट्रों के समान भारत का पुनर्गठन तीन प्रशासकीय भागों में किया जाय—प्रांत, राज्य तथा संघ। प्रो० वयेजा का कथन है कि आज भी भारत में प्रांतों का विभाजन इसी प्रकार है, किंतु उसे औपचारिक संवैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं है। भारत में ६७ ऐसे क्षेत्र हैं जिनकी शासन व्यवस्था का आधार बहुत कुछ भाषाएँ ही मानी जाती हैं। प्रो० वयेजा का कहना है—

> हम यदि यह मानकर चलें कि एक प्रांत की जन संख्या पचास से साठ लाख तक होगी और आगामी दस वर्षों के संक्रमण काल में वर्तमान शासनों में इससे किसी प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न नहीं होगी तो निम्न प्रकार प्रांतों का गठन होगा।
>
> (१) काश्मीर समूह—जिसमें जम्मू, काश्मीर, लद्दाख तथा गिलगिट नामक चार प्रांत सम्मिलित होंगे।
>
> (२) पंजाब-समूह—जिसमें उत्तर पंजाब, पटियाला, दक्षिण पंजाब, हिमाचल प्रदेश, कुमायूँ तथा मेरठ विभाग रहेंगे।
>
> (३) उत्तरप्रदेश—जिसमें रोहिलखंड, आगरा, अवध, गोरखपुर, ग्वालियर, इलाहाबाद तथा विंध्यप्रदेश रहेंगे।
>
> (४) बिहार असम समूह—जिसमें तिरहुत विभाग, कोसी उत्तर असम, दक्षिण असम, पूर्व-उत्तर सीमा एजेंसी, मनीपुर तथा त्रिपुरा रहेंगे।
>
> (५) राजस्थान-गुजरात समूह—जिसमें बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, उदयपुर, अजमेर, कच्छ सौराष्ट्र, गुजरात तथा मालवा रहेंगे।
>
> (६) महानदी तराई समूह—जिसमें जबलपुर, छत्तीसगढ़, बस्तर, दक्षिण छोटानागपुर, उत्तर उत्कल तथा दक्षिण-उत्कल रहेंगे।
>
> (७) बंगाल बिहार समूह—जिसमें कलकत्ता क्षेत्र, पश्चिम बंगाल, दामोदर तराई, पश्चिम बिहार तथा पूर्वी बिहार सम्मिलित रहेंगे।
>
> (८) बंबई तट समूह—जिसमें बंबई शहर, गुजराती कोंकण, मराठी कोंकण, कन्नडी कोंकण, मालाबार, कोचीन तथा ट्रावनकोर रहेंगे।
>
> (९) दक्षिण या गोदावरी-समूह—जिसमें पूना, कोल्हापुर, बरार, औरंगाबाद, हैदराबाद, वारंगल, रायलसीमा, उत्तर सरकार तथा आंध्र डेल्टा रहेंगे।
>
> (१०) कावेरी समूह—जिसमें मद्रास, तंजोर, मदुरा, गुलबर्गा, मैसूर, कुर्ग तथा धारवार रहेंगे।

आज भारत में तीनों श्रेणियों के राज्यों की संख्या, आंध्र को मिलाकर तीस से कम नहीं है। प्रो० वयेजा ने भारत की ६७ इकाइयों का १० समूहों में वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण से राज्यों की बड़ी संख्या में दो तिहाई कमी हो गई है, परंतु यह कमी भाषाधार राज्य पुनर्गठन के उद्देश्य के निकट नहीं पहुँचाती। इस वर्गीकरण में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बिलकुल विचार नहीं किया गया है। समान मूल की भाषाओं तथा बोलियों का भी पृथक वर्गीकरण किया गया है। जनपदीय बोलियाँ भी वैज्ञानिक पद्धति से समूहबद्ध नहीं की गई हैं। अतः इस वर्गीकरण से आज की समस्या का समाधान नहीं हो सकता, बल्कि इसके विपरीत कुछ ऐसी नई समस्याएँ उत्पन्न हो जायँगी जो राष्ट्र की एकता पर प्रश्न चिह्न बन जायँगी।

फादर ई० डि-माउलडर ईसाई मिशनरियों में एक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री हैं। आदिवासियों के क्षेत्र में उन्होंने अच्छा काम किया है। अभी कुछ ही दिन बीते, उन्होंने अपनी कुछ पुस्तकें मुझे दीं। उन पुस्तकों में एक है—'ट्रायबल इंडिया स्पीक्स'। फादर डि-माउलडर भाषाधार राज्यों के पुनर्गठन के हिमायती नहीं हैं, किंतु उन्होंने इस संबंध में अपना एक विचार व्यक्त किया है जो हमारे ध्यान को आकर्षित करने की क्षमता रखता है। उनके विचार से यदि भाषाधार राज्यों का पुनर्गठन किया जाय तो भारतीय राज्यों की संख्या घटा कर २२ की जा सकती है और उनका पुनर्गठन इस प्रकार किया जा सकता है (१) आसाम (असमिया) (२) बंगाल (बँगला) (३) मिथिला (मैथिली) (४) मगध (मगही) (५) झारखंड (मुँडारी) (६) भोजपुर (भोजपुरी) (७) अवध (अवधी) (८) ब्रज (ब्रजभाषा) (९) बुँदेलखंड (बुंदेलखंडी) (१०) बघेलखंड (बघेलखंडी) (११) छत्तीसगढ़ (छत्तीसगढ़ी) (१२) कुरुक्षेत्र (हिंदुस्तानी) (१३) राजस्थान (राजस्थानी) (१४) पंजाब (पंजाबी) (१५) कश्मीर (कश्मीरी) (१६) गुजरात (गुजराती) (१७) महाराष्ट्र (मराठी) (१८) आंध्र (तेलुगु) (१९) उत्कल (उड़िया) (२०) तामिल नाड (तमिल) (२१) केरल (मलयालम) (२२) कर्नाटक (कन्नड)।

फादर डि माउलडर का वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक है। इस वर्गीकरण में ध्यान देने की एक खास बात है कि इसमें हिंदी को क्षेत्रीय स्थान भी प्राप्त नहीं है। कुरुक्षेत्र में हिंदुस्तानी को स्थान मिल गया है। इस प्रकार हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद तो प्राप्त रहेगा, किंतु वह किसी राज्य की राजभाषा नहीं बन सकेगी।

२. पूर्वी पाकिस्तान की गति-विधि

पाकिस्तान अब भारत के लिए एक विदेशी राष्ट्र है, किंतु भारत के साथ निकट संबंध के कारण इसकी गृह-समस्याएँ हमारे ऊपर बहुत प्रभाव रखती हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका की ओर से पाकिस्तान को दी जानेवाली सैनिक सहायता के समाचार से भारत सशंक और विक्षुब्ध हो उठा। मुस्लिम लीगी पाकिस्तान-सरकार की इस नीति की भर्त्सना भारत के सिवा अनेक दूसरों ने भी की है। मुस्लिम लीग में अब अनुभवी और विलक्षण बुद्धि के राजनीतिज्ञों की बड़ी कमी हो गई है। जो दो चार पुराने राजनीतिज्ञ नेता आज जीवित हैं वे मुस्लिम लीग तथा उसकी सरकार की नीति से बहुत असंतुष्ट हैं। ऐसे नेताओं में श्री फजलुल हक और श्री सुहरावर्दी हैं जिन्होंने अपने-अपने दल को मिलाकर एक संयुक्त मोर्चा—यूनाइटेड फ्रंट—बनाया और पूर्वी पाकिस्तान के आम चुनाव में मुस्लिम लीग के उमीदवारों को बुरी तरह पराजित किया। पूर्वी पाकिस्तान की विधान-सभा की कुल ३०९ जगहों में से अधिकांश पर संयुक्त मोर्चे के उमीदवारों ने कब्जा किया। मुस्लिम लीग के केवल ६ उमीदवार विजयी हो सके। ६ महिला उमीदवारों में से एक ने भी विजय नहीं प्राप्त की, सब-की-सब पराजित हो गई। भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री नूरुल अमीन के साथ-साथ उनके सब पुराने सहयोगी धराशायी हो गए। चुनाव में पचास से कहीं अधिक मुस्लिम लीग के उमीदवारों की जमानतें जब्त हुईं। मुस्लिम लीग के ऊपर यह एक भीषण वज्रपात है जिसकी मार्मिक चोट उसे जल्द उठने न देगी, शायद कभी उठने न देगी।

पाकिस्तान की जनसंख्या का अधिकांश—लगभग ५६ प्रतिशत पूर्वी पाकिस्तान में है। पश्चिमी पाकिस्तान में दो-तीन छोटे राज्य हैं जो अपनी स्थिति पाकिस्तान के केंद्रीय राजतंत्र पर अवलंबित किए हुए हैं। पाकिस्तान की संविधान-सभा के कुल ७४ सदस्यों में से ४३ पूर्वी पाकिस्तान के हैं। आज वे भले ही मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि हों, पर उनकी जगहों पर अब संयुक्त मोर्चे का नैतिक अधिकार हो गया है। पूर्वी पाकिस्तान के निर्वाचन-परिणाम को देखकर मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि सदस्यों से त्यागपत्र की माँग की जा रही है, पर मुस्लिम लीग ने अपने अस्तित्व की रक्षा के विचार से उन सदस्यों को संविधान-सभा की सदस्यता से त्यागपत्र देने की अनुमति नहीं दी। ऐसी नीति वास्तविकता पर आधारित नहीं है। हठधर्मी अधिक दिनों तक नहीं चल सकेगी।

मुस्लिम लीग पर संयुक्त मोर्चे की विजय किस कारण हुई, यह प्रश्न हमारे लिए भी विचारणीय है। नेहरू ने भारतीय संसद् के कांग्रेस-दल की एक बैठक में भाषण करते हुए हमारा ध्यान पूर्वी पाकिस्तान की भाषा-समस्या की ओर आकर्षित किया है और भारत को उससे सावधान रहने की चेतावनी दी है। संयुक्त मोर्चे ने अपने चुनाव-घोषणा पत्र में बँगला को पूर्वी पाकिस्तान की राजभाषा बनाने पर बहुत जोर दिया। राजनैतिक बंदियों की रिहाई, भारत के साथ अच्छा संबंध स्थापित करना तथा अमेरिकी सैनिक सहायता की भर्त्सना करना आदि के नारे लगा कर जनता के मत लिए गए। जनता के विशाल बहुमत ने संयुक्त मोर्चे के झंडे को ऊँचा उठाया। मुस्लिम लीग का झंडा मिट्टी में मिला दिया गया। राजनीति के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

पूर्वी पाकिस्तान के लिए बँगला को राजभाषा बनाना बिलकुल एक स्वाभाविक बात है, किंतु राजनीति के चक्कर से जब कोई आंदोलन उठ खड़ा होता है तब जनता अपनी विवेक-बुद्धि खो बैठती है। लार्ड कर्जन ने जब बंगाल का विच्छेद किया तब सारे बंगाल में आग लग गई। उसकी लपटों से भारत भी झुलस गया। जिस कारण से भी हो, जिस बंगाल विच्छेद का उस समय तीव्र विरोध किया गया उसी बंगाल-विच्छेद को बंगाल के हिंदू-मुसलमानों ने संतोषपूर्वक स्वीकार कर लिया। राजनीति ने धर्म की ओट में काफी शिकार किया—भारत की अखंडता बनी न रह सकी। भाषा की ओट लेकर भी राजनीति के तीरदाजों ने बहुत तीर छोड़े। बंगाल विभाजन के पहले बंगाल के मुसलमान उर्दू को अपनी राज भाषा बनाने पर जोर देते थे। मुसलमानों की ओर से बंगाल में उर्दू के प्रचार का बहुत प्रबल प्रयत्न किया गया। पिछले दस पंद्रह वर्षों के भीतर बँगला भाषा में उर्दू के प्रचार के कारण अरबी-फारसी के जितने शब्द गृहीत हुए उतने इतनी ही अवधि में पहले नहीं हुए। अब जब बंगाल का एक खंड पाकिस्तान बन गया तब मुस्लिम राजनीतिज्ञों ने अपने तीर का निशाना बदल दिया। आज यह बुरी तरह महसूस किया जा रहा है कि बँगला के बदले उर्दू पूर्वी पाकिस्तान की राजभाषा बने। वाह री राजनीति!

पूर्वी पाकिस्तान में मुस्लिम लीग की करारी हार से अमेरिकी राजनीतिज्ञ बहुत चौंक गए हैं। उनका चौंकना स्वाभाविक है। पाकिस्तान की केंद्रीय सरकार पर अमेरिका ने बहुत प्रभाव जमा लिया है। अपनी कूटनीति से श्री महम्मद अली को प्रधानमंत्री के पद पर बिठलाकर अमेरिका ने पाकिस्तान तथा उसकी सरकार से जो उमीदें बाँधी थीं वे चूर-चूर हो रही हैं। पूर्वी पाकिस्तान के जनमत ने स्वयं कह दिया कि पाकिस्तान पर अमेरिका का प्रभाव दासता-मूलक है, उसे हटाना आवश्यक है। इतने से ही अमेरिका चुपचाप पाकिस्तान से भाग नहीं जा सकता। उसे अभी पाकिस्तान में बहुत चालें चलनी हैं। श्री महम्मद अली से अमेरिका निराश हो गया है। पाकिस्तान में बहुत सभव है, सैनिक विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हो उठे। इसकी तैयारियाँ की जा रही हैं। किसी दिन यह समाचार मिल सकता है कि पाकिस्तान में सैनिक सरकार कायम हो गई। यदि पाकिस्तान के राजनीतिज्ञ मिलकर गंभीरता-पूर्वक उत्पन्न परिस्थिति पर विचार करें और सर्वदलीय राष्ट्रीय सरकार बना सकने में समर्थ हो सकें तो कुछ दिनों के लिए 'होनी' टाली जा सकती है, रोकी बिलकुल नहीं जा सकती। पाकिस्तान के कुछ राजनैतिक नेताओं की महत्वाकांक्षाएँ इतनी बड़ी हैं कि उनको पूरा करना सरल नहीं है। पूर्वी पाकिस्तान के सयुक्त मोर्चे के दोनों नेता—श्री फजलुल हक और श्री सुहरावर्दी—बहुत दिनों तक मिले रह सकेंगे या नहीं, यह सदेह से खाली नहीं है। वर्तमान व्यवस्था के अनुसार हक राज्य सरकार में और सुहरावर्दी केंद्रीय सरकार में रहना चाहते हैं। यदि इस व्यवस्था में किसी कारण व्यवधान उपस्थित हुआ तो जुड़ी हुई दोनों नावें दो दिशाओं में अलग अलग बह निकलेंगी।

३. साहित्य अकादमी की स्थापना

पिछले कुछ दिनों से इस बात की चर्चा थी कि दिल्ली में भारत-सरकार के शिक्षा विभाग की ओर से एक साहित्य अकादमी—विद्वत्परिषद्—की स्थापना की जायगी। विगत १२ मार्च को भारतीय ससद के केंद्रीय भवन में साहित्य अकादमी की प्रथम बैठक में भाषण करते हुए शिक्षा-मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा—

> साहित्य अकादमी अपने उद्देश्य में तभी सफल हो सकती है जब इसका मान अधिक-से अधिक ऊँचा रखा जाय। यदि इसका मान नीचा हुआ तो अकादमी की स्थापना का उद्देश्य ही व्यर्थ हो जायगा। इसका लक्ष्य जन रुचि का परिमार्जन तथा साहित्य का विकास है। यह काम तभी हो सकता है जब हम अकादमी के मान को ऊँचा बनाये रखें। मान के प्रश्न के संबंध में हमें चौदहवें लुइस द्वारा १६३५ ई० में स्थापित फ्रेंच एकेडमी के उदाहरण से लाभ उठाना चाहिए जिसमें केवल चालीस सदस्य थे और अबतक इस सख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई है। इस प्रकार समूचे फ्रांस में ऐसे व्यक्तियों की सख्या केवल चालीस थी जो एकेडमी की सदस्यता प्राप्त कर सकते थे। विख्यात साहित्यिकों को भी एकेडमी की सदस्यता के लिए रुक जाना पड़ता था जबतक उसमें कोई स्थान रिक्त न हो जाय। फ्रेंच साहित्य के विख्यात लेखक डेकार्टे, पैशल, मोलियर, रूसो, दाँते, मोपासाँ जोला आदि आदि भी फ्रेंच एकेडमी के सदस्य नहीं बन सके थे। यदि भारतीय साहित्य अकादमी ने फ्रेंच एकेडमी की तरह अपने मान को ऊँचा न रखा और साहित्य के केवल अमर कलाकारों के लिए ही स्थान सुरक्षित न रखा तो इसकी स्थापना व्यर्थ हो जायगी।

मौलाना आजाद ने जहाँ तक साहित्य अकादमी के मान को ऊँचा रखने की बात कही है, इसमें किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किंतु प्रश्न यह नहीं है। साहित्य अकादमी के सदस्यों का मनोनयन किस पद्धति से किया जायगा और वह पद्धति किस सीमा तक निर्दोष तथा निरपेक्ष रह सकेगी, विचारणीय विषय यही है। ऊँचे स्तर की बातें करना सरल है, पर उसी स्तर पर काम करना बहुत कठिन है। मौलाना आजाद के वक्तव्य के इस खंड पर डॉ० राधाकृष्णन ने व्यंग्य भी किया कि रूसो, जोला जैसे विश्वविख्यात लेखक यदि फ्रेंच एकेडमी की सदस्यता से वंचित रखे गए तो एकेडमी पर एक गुट होने का आरोप लगाया जा सकता था। केवल बड़े-बड़े साहित्यिकों की उपेक्षा करने से ही साहित्य अकादमी का मान ऊँचा नहीं माना जा सकेगा। मौलाना ने अपने भाषण का सिलसिला जारी रखते हुए कहा—

> यह बात निश्चित की गई है कि साहित्य अकादमी के सदस्यों की सख्या २१ से कभी नहीं बढ़नी चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि अकादमी में पूरे सदस्य बने ही रहें, बल्कि इसका यह अर्थ है कि २१ से अधिक सदस्य कभी न होंगे। 'सगीत नाटक अकादमी' के सदस्यों की सख्या सीमा ३० तक है, पर वस्तुत उसके अबतक सात सदस्य ही है। साहित्य अकादमी

में, जैसी मेरी धारणा है, सदस्यों की संख्या उससे भी कम होगी, क्योंकि चुनाव बड़ी सावधानी के साथ करना है।

साहित्य अकादमी की नियमावली बनाने के लिए एक समिति गठित की गई है। उसका प्रतिवेदन प्राप्त होने के बाद ही अकादमी के सदस्य—फेलों—चुनने का प्रश्न उपस्थित होगा। ऐसी सूचना है कि श्री जवाहरलाल नेहरू ऐसी साहित्य अकादमी बनाने के पक्ष में नहीं थे, किंतु मौलाना ने अकादमी की स्थापना में बहुत उत्साह दिखाया और नेहरू को किसी प्रकार अकादमी का अध्यक्ष बनने के लिए राजी कर लिया। भारतीय संविधान में केवल १४ भाषाओं को मान्यता दी गई है और उन्हीं का उल्लेख है, पर मौलाना ने अंगरेजी की बड़ी महिमा बताकर अकादमी की तालिका में अंगरेजी को भी स्थान दे दिया है। अंगरेजी एक विदेशी भाषा है, इस कारण भारतीय साहित्य अकादमी में उसको स्थान नहीं मिलना चाहिए। अंगरेजी के संबंध में मौलाना की दलील सुनकर सरदार पणिक्कर से चुप नहीं रहा गया। उन्होंने मौलाना से कहा कि तो फिर फारसी को क्यों नहीं स्थान मिलना चाहिए। मौलाना को इसका उत्तर देने की जरूरत नहीं थी।

साहित्य अकादमी के नामकरण के संबंध में कुछ वाद विवाद हुए। अकादमी शब्द के बारे में कहा गया कि यह ग्रीक शब्द है, कोई भारतीय शब्द चुनना चाहिए। कई शब्द सुझाव के रूप में बताए गए, किंतु मौलाना को अकादमी के सिवा दूसरा कोई शब्द पसंद ही नहीं पड़ा।

मौलाना ने साहित्य अकादमी की स्थापना कर एक महत्त्वपूर्ण दिशा में पाँव बढ़ाने की कोशिश की है, लेकिन हमें कभी कभी आशंका इस बात की होती है कि भारत के गण्यमान्य साहित्यिकों को मौलाना ने कहीं मायाजाल में फँसाने का उपक्रम तो नहीं किया है। अभी इससे अधिक कुछ कहने की सामग्री नहीं। यदि इस संस्था का संचालन तत्परतापूर्वक किया गया तो इससे भारतीय साहित्य को बहुत लाभ हो सकता है। हिंदी को इससे विशेष कुछ लाभ होने की आशा नहीं है। राष्ट्रभाषा हिंदी को कोई विशेष प्रतिनिधित्व भी नहीं दिया गया है—उसे एक प्रादेशिक भाषा ही माना गया है। यूनेस्को के साहित्य-संपर्क विभाग को परामर्श देने के लिए जो समिति संगठित की गई है उसमें हिंदी का कोई प्रतिनिधि नहीं है। इसी समिति के द्वारा भारतीय साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का रूपांतर विदेशी भाषाओं में किया जायगा। तीन सदस्यों की इस समिति में मलायलम्, बँगला और बँगला उर्दू के प्रतिनिधि हैं। अभी अकादमी के संबंध में अधिक कुछ लिखने का अवसर नहीं है। उसकी गति विधि को देखने के बाद ही उस पर विशेष कुछ लिखा जा सकता है।

४ देवनागरी लिपि-सुधार-सम्मेलन

उत्तर प्रदेश के लखनऊ स्थित राजभवन में राज्य के मुख्य मंत्री श्री गोविंदवल्लभ पंत के निमंत्रण पर देवनागरी लिपि सुधार-सम्मेलन का अधिवेशन ता० २८ व २९ नवंबर ५३ ई० को हुआ। इसमें सम्मेलन की संचालन-समिति के सुझावों पर विचार कर लिपि सुधार के संबंध में कुछ प्रस्ताव स्वीकृत हुए।

(१) वर्तमान देवनागरी अक्षरों के निम्नलिखित रूपों को प्रमाणित रूप माना जाय।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ
ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ
ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द
ध न प फ ब भ म य र ल व
श ष स ह क्ष ज्ञ ळ

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

(२) शिरोरेखा का प्रयोग प्रचलित रहे।

(३) ह्रस्व 'इ' की मात्रा को छोड़कर शेष मात्राओं के वर्तमान स्वरूप यथावत् रहें।

ह्रस्व 'इ' की मात्रा अक्षर के बायीं ओर न लिखकर दाहिनी ओर लिखी जाय।

ह्रस्व 'इ' की मात्रा भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी दीर्घ 'ई' की है, अंतर दोनों में यह रहेगा कि ह्रस्व की मात्रा ऊपर से नीचे आती हुई शिरोरेखा पार करते ही समाप्त हो जायगी। जैसे—

ि (कि)

(४) 'फुलस्टाप' और 'कोलन' को छोड़कर शेष विरामादि चिह्न वही ग्रहण कर लिए जायँ जो अँगरेजी में प्रचलित हैं।

- —, ; ! ?

पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई (।) का प्रयोग किया जाय।

जहाँ तक संभव हो टाइपरायटर के मुद्री पटल (की बोर्ड) में निम्नलिखित चिह्नों को सम्मिलित कर लिया जाय।

. / ˎ ' ‸ % " " ( ) + × ÷ * = +

(५) संयुक्ताक्षर दो प्रकार से बनाए जायँ। पहला जहाँ तक संभव हो अक्षर के अंतवाली खड़ी रेखा को हटाकर या दूसरा संयुक्त होनेवाले प्रथम अक्षर के अंत में हलंत (्) लगाकर। क, फ और ह को यदि किसी अक्षर के आरंभ में संयुक्त करना हो तो इसके लिए बिना हलंत का प्रयोग किए इस समय प्रचलित ढंग को ही काम में लाया जाय।

(६) अनुस्वार और अनुनासिक के दो रूपों ', ँ में से एक को त्याग देने का सुझाव स्वीकार न किया जाय।

यह भी निश्चय हुआ कि अंकों के संबंध में परिवर्त्तन का जो प्रस्ताव है वह संविधान के उपबंधों के अधीन होगा।

लिपि सुधार-सम्मेलन के उपर्युक्त प्रस्तावों के विवरण से इतना स्पष्ट हो गया होगा कि केवल ह्रस्व 'इ' की मात्रा को बायीं ओर से न लिखकर दायीं ओर से शिरोरेखा पार करते ही समाप्त कर लिखने का एक क्रांतिकारी प्रस्ताव है। व्यंजन वर्णों में दो-चार उल्लेखनीय परिवर्त्तन किए गए हैं। ध, म, ल के रूप बिलकुल आपत्तिजनक नहीं हैं। ख का रूप एक प्रकार से बहुत सुविधाजनक रखा गया है, क्योंकि कभी-कभी ख की लिखावट सुंदर नहीं रहने पर उसे र व पढ़ने का भ्रम हो जाता है। अंकों के रूप भी प्रायः सब प्रचलित रखे गए किंतु इस संबंध में जो मजेदार बहसें हुईं उनका संक्षिप्त परिचय पाठकों को दे देना हम आवश्यक समझते हैं। देवनागरी अंकों की मान्यता का प्रश्न जब उपस्थित हुआ तब मौलाना आजाद के शिक्षा सचिव प्रो० हुमायूँ कबीर से न रहा गया। उन्होंने कहा कि जब संविधान में अरबी अंकों को मान्यता दी जा चुकी है तब इस सम्मेलन को, जिसमें राज्यों के मुख्य मंत्रियों और प्रतिनिधियों का ही समावेश है, क्या अधिकार है कि वह देवनागरी अंकों को मान्यता दे। इसपर मध्य प्रदेश के मुख्य मंत्री श्री रविशंकर शुक्ल ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद ३४३ के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि पंद्रह वर्ष की अवधि के भीतर भी वे अंतरराष्ट्रीय अंकों के साथ ही किसी विशेष राजकार्य के लिए देवनागरी अंकों के प्रचलन का आदेश दे सकते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि मूल संविधान की प्रति पर हस्ताक्षर करते समय संविधान परिषद् के सदस्यों ने नागरी अंकों का ही व्यवहार किया है। सम्मेलन के अध्यक्ष डॉ० राधाकृष्णन ने निर्णय किया कि इस प्रश्न में संविधान के किसी उपबंध की बाधा नहीं है। अध्यक्ष का निर्णय वैधानिक ही हुआ, पर इस प्रश्न के बारे में प्रो० कबीर का इरादा साफ झलक गया।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने ता० ३० मार्च को एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर प्रकाशकों, समाचार पत्रों, प्रेसों, टाइप फाउंडरी, टाइप राइटर के बनानेवालों से अनुरोध किया है कि वे लिपि सुधार सम्मेलन से अनुमोदित लिपि को ही अपनावें। उत्तर प्रदेश की सरकार ने यह घोषणा की है कि पिछले देवनागरी लिपि-सुधार-सम्मेलन में जो संशोधित देवनागरी लिपि स्वीकृत हुई थी उसीका प्रयोग अब सब सरकारी पुस्तक पुस्तिकाओं में किया जायगा। इसके अतिरिक्त सरकार की स्वीकृति से जो पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित होंगी उनमें भी संशोधित लिपि ही प्रचलित की जायगी। जहाँ तक ह्रस्व 'इ' के प्रयोग की बात है, हम इसे एक क्रांतिकारी परिवर्त्तन मानते हैं, पर अन्य सब रूपों के प्रयोग का हम हार्दिक समर्थन करते हैं।

५. राज्यपालों का अँगरेजी-मोह

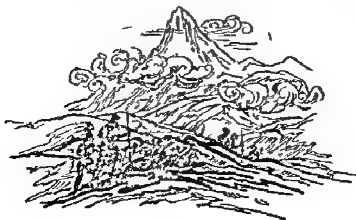
भारत के राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद राष्ट्रभाषा हिंदी के बड़े हिमायतियों में हैं, किंतु कुछ राज्यपालों का अँगरेजी मोह अब तक दूर नहीं हो सका है। अँगरेजी एक बड़ी समृद्ध भाषा है और ज्ञानार्जन के लिए उसका पठन-पाठन जारी रहना चाहिए, इसमें किसी को आपत्ति नहीं है। लेकिन अँगरेजी के स्थान पर धीरे धीरे हिंदी का व्यवहार भी हो, इसके लिए भी प्रयत्न करना हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी कभी हिंदी के हिमायतियों में एक थे, पर पिछले कुछ दिनों से, मालूम पड़ता है, उनके विचार में कुछ परिवर्त्तन हो गया है। 'अँगरेजी के भविष्य' पर आकाशवाणी से प्रसारित अपने भाषण में उन्होंने अँगरेज़ी की महिमा का बड़ा वर्णन किया है। उन्होंने कहा—

> 'अंग्रेजी हमारी है और इस देश में उसकी उपेक्षा या तिरस्कार अपराध ही होगा। भारत का संदेश विश्व में फैलाने के लिए इतिहास ने हमारे हाथों में एक अमोघ शस्त्र सौंपा। यह अपनी प्राचीन परम्परा और भविष्य के प्रति वंचना ही होगी यदि [redacted] उस शस्त्र को कुंठित हो जाने दें। आज अंग्रेजी भाषा हमारी है। उसके द्वारा ही हमारा विश्व से सम्पर्क हो सकता है। अतएव उसकी उपेक्षा या तिरस्कार अपराध ही होगा।'

भारत का संदेश विश्व में फैलाने के लिए अँगरेजी की शरण लेना प्रकृति विरुद्ध बात है। वस्तुतः भारत का संदेश किसी भारतीय भाषा के माध्यम से ही दिया जा सकता है। दुनियाँ में अँगरेजी का बड़ा बोलबाला है, पर ब्रिटेन और अमेरिका ही सारी दुनियाँ नहीं है। रूस, जापान, चीन, फ्रांस, जर्मनी आदि ऐसे अनेक राष्ट्र हैं जहाँ अँगरेजी का प्रचलन नहीं है। अँगरेजी एक अंतरराष्ट्रीय भाषा है, पर वह एक मात्र अंतरराष्ट्रीय भाषा नहीं है। अपनी भाषा के माध्यम से हमें संसार को अपना संदेश देना चाहिए और संसार की विभिन्न भाषाओं में उसका प्रसारण किया जाय।

बंबई के राज्यपाल श्री गिरिजाशंकर वाजपेयी एक अनुभवी सिविलियन हैं। जीवन भर उन्हें अँगरेज और अँगरेजी का साहचर्य रहा है। गत २७ मार्च को उन्होंने बंबई माध्यमिक शिक्षक संघ के एक उत्सव की अध्यक्षता करते हुए इस बात पर बहुत जोर दिया कि देश की वैज्ञानिक उन्नति के लिए अँगरेजी को रखना आवश्यक ... मूलतः हम इसका विरोध नहीं करते, पर पूछना चाह... कि यह कब तक? क्या जर्मनी, रूस, जापान आदि ... ने अँगरेजी भाषा के माध्यम से ही वैज्ञानिक उन्नति ... हिंदी को विज्ञान पथ पर बढ़ना होगा, आज नहीं त... उसे विज्ञान के पूरे दायित्व को सँभालने की क्षमता ... करना है।

मद्रास के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश हिंदी के ऐसे घ... घोर पक्षपातियों में हैं जो हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप ... देखना पसंद नहीं करते। क्षेत्रीय हिंदी के रूप में कोई परि... वर्तन उन्हें मान्य नहीं है और राष्ट्रभाषा हिंदी के स्वरूप पर अनेक भारतीय भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक तथा उचित है। यदि श्री श्रीप्रकाश के विचार के अनुसार हिंदी को उत्तर तथा मध्य भारत के कुछ क्षेत्रों में ही सीमित रखा जाय तो अंतरराज्य या अखिल भारतीय व्यवहार के लिए अँगरेजी भाषा के अतिरिक्त दूसरी कौन सी भाषा का माध्यम ग्रहण करना पड़ेगा, यह एक विचारणीय विषय है।



प्राण-पर्व

श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

मनु ने दीप जलाया जो, वह बुझा नहीं, जलता है
मर्त्य-लोक यह, मृत्यु खड़ी है, पर मानव चलता है !
बंधन टूटे,
बंधन टूटे हैं कई बार
मैं मानव का इतिहास बोलता हूँ ।

(१)

प्र
गर-समुद्र-नदियों के प्राणों की ज्वाला को
न फूँककर चला आ रहा है अथक
भँय निराक झंझाओं को दे रहा चुनौती है
सगर्व ?'

कि
पूर्ण समंडल चकित
चि-मंडल विस्मित
किसका प्रकाश बढ़ रहा तोड़कर तिमिर-दुर्ग का
बंद द्वार ?

भर अरुण तेज निस्सीम शून्य में
कौन बुलाता है भविष्य को बार-बार ?
ऐसा ही था वह महापर्व
जब छिन्न-भिन्न कर प्रलय-जनित सघनांधकार
बोला था पावन सृजन-योग—
'चेतना ! सँभालो स्वर्ण-बीन
मैं मानव का उल्लास बोलता हूँ !'

(२)

आकाश !
सुना है, तुम दिगंतव्यापी विभूतियों के स्वामी हो
विभापुंज
हे महाशून्य !
तुम धारण करते हो गीतों का अमृत-कोष
हे गहन नील के ज्योतिःकण !
तुम लक्ष-लक्ष दीपों का लेकर स्नेह
जल रहे हो अनादि से इसी भाँति ।
मेरे हाथों में रिक्त पात्र—
यह है धरती का हृदय—
इसे भरने को विकला मैं अधीर !
तुम व्यर्थ हो रहे भीत, तुम्हारी अटल शांति
चिर से नमस्य, चिर से प्रणम्य !
यह रिक्त पात्र भरने को दौड़ी चली आ रही
विश्वदेव की करुणा की मधुमयी शांति
जय हो धरती के कण-कण की
मैं मानव का उच्छ्वास बोलता हूँ !

(३)

मैं तुम्हें जानता आयु !
तुम्हारे पथ का होता वही अंत
मैं जहाँ बूँद से वारिधि की बनता पुकार ।
मैं तुम्हें जानता मरण !
तुम्हारी छाया होती वहीं शेष
निःशेष जहाँ बनता मेरा अस्तित्व मनोमय महाज्योति
मैंने देखा है वह मंगलमय समारोह—
आभा से मंडित कोटि-कोटि देवता खड़े
देवत्व मूक अपना सँभाल,
उनके पीछे जगमग प्रकाश,
तव महातेज,
तव मानवता की प्राण-ज्योति !
साँसों में शंखध्वनि सुनता मैं बार-बार
मस्तिष्क और मन के ऊपर
मैं मानव का विश्वास बोलता हूँ !



भारतीय न्यायों का विकासात्मक परिचय

आचार्य चंद्रशेखर शास्त्री

भारतीय दर्शनों में न्यायदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, किंतु न्याय की विशुद्ध दृष्टि से विचार किया जाय तो विदित होगा कि न्यायदर्शन न्याय के विशुद्ध अर्थ में न्याय कम और 'दर्शन' अधिक है। दर्शनशास्त्र के विषय में प्राचीन काल से ही अनेक प्रकार के सिद्धांत चले आते हैं। प्रत्येक सिद्धांतवाला यही मानता रहा है कि केवल उसका विचार ही ठीक है, दूसरे का नहीं। उस प्राचीन काल में जब दो परस्पर विरुद्ध विचारवाले विद्वान मिलते थे, तब उनमें वाद विवाद भी छिड़ जाया करता था, किंतु आरंभ में वाद-विवाद के नियम स्थिर न होने से तत्कालीन वाद विवाद अत्यधिक विशृंखलित होते थे। अन्ततः मेधातिथि गौतम ने वाद विवाद की इस त्रुटि पर ध्यान देकर उसके संबंध में नियम स्थिर किए। मेधातिथि गौतम के अपने भी एक विशेष प्रकार के दार्शनिक विचार थे। उन्होंने वाद-विवाद के नियमों के साथ-साथ अपने दार्शनिक विचारों को भी उसमें स्थान दिया। बाद में अक्षपाद गौतम ने मेधातिथि गौतम के सिद्धांतों को लिपिबद्ध करके उनको सूत्ररूप देकर उसे 'न्यायदर्शन' नाम दिया।

किसी बात को सिद्ध करने के लिए 'प्रमाण' की आवश्यकता होती है। वाद-विवाद के नियमों के इस मूलभूत सिद्धांत का नामकरण भी 'प्रमाण' ही किया गया। यद्यपि प्रमाण के साथ-साथ उसके साधक तथा बाधक अनेक शब्दों की सृष्टि की गई, किंतु मुख्यरूप से वाद-विवाद करने की इस विद्या का नाम 'प्रमाण विद्या' अथवा 'न्याय-विद्या' रखा गया। प्रमाण द्वारा निश्चित किए जानेवाले विषय को 'प्रमेय' नाम दिया गया। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के सभी सिद्धांत 'प्रमेय' हैं, और उनको युक्तियों की तुला पर तोलनेवाली तराज़ू का नाम 'प्रमाण' है। इस प्रकार न्यायदर्शन प्रमाण तथा प्रमेय—दोनों ही विषयों का प्रतिपादन करने के कारण केवल न्यायमात्र न होकर न्याय-दर्शन भी है। प्रमाण का वर्णन भारत के सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी शैली से किया है।

यद्यपि न्यायदर्शन में न्याय शब्द की कोई परिभाषा नहीं दी गई; किंतु भारत की सभी न्याय-व्यवस्थाएँ जैन-शास्त्र की इस परिभाषा से सहमत हैं—

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।

अर्थात्—प्रमाणों द्वारा वस्तु-तत्त्व की परीक्षा करना न्याय है।

उस प्राचीन काल में न्यायदर्शन की रचना से भारत के दार्शनिक इतिहास में एक क्रांति-सी मच गई। ब्राह्मणों की उस समय अच्छी बन आई और वे शास्त्रार्थ में अपने प्रतिवादी जैन तथा बौद्ध आदि के दाँत अच्छी तरह खट्टे करने लगे।

कालांतर में बौद्धधर्म की प्रधानता होने पर बौद्ध आचार्यों को न्यायदर्शन का यह महत्त्व बहुत खला। उन्होंने ब्राह्मण नैयायिकों के आक्रमण से बौद्धधर्म की रक्षा करने के लिए बौद्ध सिद्धांतों का मंडन करनेवाले बौद्ध-न्याय की नींव डाली। यह न्याय केवल 'प्रमाण-रूप' था। इसमें प्रमेय के सम्मिलित न किए जाने से इसको विशुद्ध रूप में न्याय कह सकते हैं। प्राचीन न्यायदर्शन की त्रुटियों को लक्ष्य में रखकर इस न्याय की रचना की गई थी। यह न्याय कुछ तो इस कारण से तथा कुछ केवल प्रमाण-रूप होने से प्राचीन न्यायदर्शन के न्याय की अपेक्षा अधिक विकसित था। बौद्ध-न्याय की रचना से जहाँ एक ओर बौद्धधर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली वहाँ वैदिक तथा जैनधर्म के प्रचार को भारी धक्का भी लगा।

कालांतर में प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के समय बौद्ध न्याय की अच्छी उन्नति हुई। उनके ग्रंथ 'न्याय प्रवेश' का बड़ा आदर हुआ और उसका समस्त भारत में प्रचार हो गया। अब तो बौद्ध-न्याय के ऊपर सहस्रों ग्रंथ लिखे गए और बौद्ध-न्याय का भारतीय दर्शनों में एक विशेष स्थान हो गया।

बौद्ध-न्याय के इतिहास में ईसवी सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का नाम विशेषरूप से

उल्लेखनीय है। उनके कारण बौद्ध न्याय अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'न्यायबिंदु' की ऐसी धाक जमी कि आज भी काशी के पंडित न्यायबिंदु को पढ़ाते घबराते हैं। वास्तव में न्यायबिंदु को पढ़ाना एक टेढ़ी खीर समझा जाता है।

बौद्ध न्याय के सहस्रों ग्रंथों में न्यायबिंदु को सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। मीमांसा-न्यायबिंदु से यह ग्रंथ पृथक् है। इसका वर्तमान संस्करण काशी के विद्याविलास प्रेस से निकला है, जिसमें आचार्य धर्मोत्तर की संस्कृत टीका, संपादक (इन पंक्तियों के लेखक) के संस्कृत नोट तथा उसकी आधुनिक भाषा-टीका भी दी गई है। इस ग्रंथ की विस्तृत भूमिका में न्यायबिंदु की रचना तक का बौद्ध-न्याय का इतिहास तथा भारतीय न्यायों का गवेषणा-पूर्ण तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है।

यह ऊपर दिखलाया जा चुका है कि बौद्ध न्याय की रचना ने आरंभिक दिनों में ही जैनधर्म को हानि पहुँचने लगी थी। जैन विद्वानों ने इस हानि को बड़ी सतर्कता के साथ देखा और वे इसके निराकरण करने के उपाय में लग गए, क्योंकि इस समय वैदिक तथा बौद्ध—दोनों ही धर्मों की चोट उनपर होने लगी थी।

ईसवी चौथी शताब्दी में महाराज विक्रमादित्य की सभा के नौ रत्नों में से एक क्षपणक—अपरनाम सिद्धसेन दिवाकर—ने 'द्वात्रिंशिका'—अपरनाम 'न्यायावतार'—नाम से बत्तीस श्लोक बनाकर जैन न्याय की नींव डाली। क्षपणक ने इस न्याय-ग्रंथ की रचना अनेक वैदिक तथा बौद्ध आचार्यों की कृतियों तथा शास्त्रार्थों को देखकर की थी। अतएव यह उन दोनों से ही अधिक युक्तिपूर्ण था। बाद में बनने के कारण इस ग्रंथ में प्राय प्रत्येक त्रुटि से बचने के उपाय किए गए थे। इस ग्रंथ की रचना से जैन विद्वानों को उनके द्वारा किए जानेवाले शास्त्रार्थों में बड़ी भारी सहायता मिली।

जैन न्याय के इतिहास में ईसवी सातवीं तथा आठवीं शताब्दी का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस समय प्रसिद्ध जैन-आचार्य श्रीमत् अकलंक देव ने अपने ग्रंथों से न केवल जैन-न्याय में नवीन प्राण प्रतिष्ठा की, वरन् अपने भारी-भारी शास्त्रार्थों से भी भारत के अनेक राजाओं को जैनधर्म की शिक्षा से दीक्षित किया।

श्रीमद्भट्ट अकलंकदेव ने जैन न्याय को सुसंगठित प्रकार से नवीन रूप दिया। उनके 'न्याय विनिश्चय' आदि ग्रंथों का महत्त्व अवतवीर्य के निम्नलिखित श्लोक से अच्छी तरह प्रकट होता है जो उन्होंने अपने ग्रंथ 'प्रमेयरत्नमाला' के आरंभ में दिया है—

अकलङ्कवचोऽम्भोधे—
उद्दध्रे येन धीमता,
न्यायविद्यामृतं तस्मै
नमो माणिक्यनन्दिने।

अर्थात्—जिस विद्वान ने अकलंकदेव के वचनरूपी समुद्र में से न्याय-विद्यारूपी अमृत को निकाला है, उस आचार्य माणिक्यनंदि को नमस्कार है।

इस श्लोक से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) अकलंकदेव का स्थान जैन न्याय में सर्वोच्च है तथा उनको जैन न्याय का प्रणेता अथवा उद्धारक मानना चाहिए।

(२) जैन-न्याय के विषय में अकलंकदेव के ग्रंथ ही आदि प्रमाण हैं।

(३) माणिक्यनंदि आचार्य द्वारा बनाए हुए 'परीक्षा-मुख सूत्र' नामक जिस न्याय-ग्रंथ के द्वारा आज जैन न्याय का प्रामाणिक वर्णन पढ़ने को मिलता है, वह भी अकलंकदेव के वचन का ही सारांश है।

(४) जैन न्याय में श्रीमत् अकलंकदेव के पश्चात् आचार्य माणिक्यनंदि का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन-न्याय का अध्ययन 'परीक्षामुख सूत्र' के अतिरिक्त 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामक ग्रंथ द्वारा भी किया जा सकता है। प्रथम ग्रंथ दिगंबर आम्नाय का तथा दूसरा श्वेतांबर आम्नाय का है। 'परीक्षामुख सूत्र' की आठवीं शताब्दी में तथा 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' की रचना बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी में की गई थी। अतएव जैन-न्याय के विषय में प्राचीनता के कारण प्रथम ग्रंथ को ही अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है।

परीक्षामुख-सूत्र के ऊपर प्रभाचंद्राचार्य ने 'प्रमेयकमल मार्तंड' नाम से एक बड़ी भारी पांडित्यपूर्ण टीका बनाई। इस टीका में भारत के सभी दर्शनों तथा न्यायों का खंडन करके जैन न्याय का विशेषरूप से मंडन किया गया।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त जैन न्याय के ऊपर अन्य भी असंख्य ग्रंथों की रचना की गई। यदि जैन न्याय के

सभी ग्रंथों को एकत्र किया जाय तो केवल उन्हीं का एक बड़ा विशाल पुस्तकालय बन जाय।

बौद्ध तथा जैन-न्याय के इन ग्रंथों की रचना से प्राचीन वैदिक धर्म को जो अब अधिकतर केवल ब्राह्मण धर्ममात्र रह गया था, बड़ा भारी धक्का लगा।

अतएव उन दोनों न्यायों का खण्डन करने के लिए प्राचीन न्याय के सिद्धांतों के आधार पर मिथिला के पंडितों ने लगभग ६०० वर्ष पूर्व प्राचीन न्याय का परिष्कार करके 'नव्य न्याय' की नींव डाली। इस नव्य न्याय में प्राचीन न्याय की तुलना में दो विशेषताएँ थीं। प्रथम तो यह कि यह प्राचीन न्याय के समान प्रमाण और प्रमेय—दोनों का वर्णन न करके केवल प्रमाण का वर्णन करता है। दूसरी यह कि इसमें इस प्रकार के आडम्बरपूर्ण शब्दों को रखा गया है कि जो व्यक्ति नव्य न्याय नहीं जानता, अथवा कम जानता है, वह नव्य न्याय वाले के शास्त्रार्थ को नहीं समझ सकता, फिर उसको उत्तर तो वह किस प्रकार दे सकता है।

नव्य न्याय के शब्दाडम्बर का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

नव्य न्याय में 'घट' को घट न कहकर 'घटत्वावच्छेदकावच्छिन्न' [अर्थात् घटत्व के अवच्छेदक अर्थात् नियामक (घटत्व) से अवच्छिन्न अर्थात् युक्त] कहा जाता है।

दार्शनिक विद्वान इस न्याय में तत्त्व की अपेक्षा शब्दाडम्बर ही अधिक मानते हैं।

इस प्रकार भारतीय दर्शनों में प्राचीन न्याय, बौद्ध न्याय, जैन-न्याय और नव्य न्याय—ये चार न्याय हैं।

यद्यपि न्याय विद्या को प्रमाण विद्या भी कहा जा सकता है, तथापि प्रमाण सामान्य की परिभाषा एक दार्शनिक विषय है। प्रथम विभिन्न दर्शनों की प्रमाण की परिभाषा पर ही विचार किया जाता है।

सांख्यदर्शन में कहा है—

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्ति प्रमा, तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम्।

—सांख्यदर्शन, अ० १, सू० ८७

अर्थात् [illegible] असन्निकृष्ट (प्रमाता में अप्राप्त) अर्थ का निश्चय करना प्रमा है। वह प्रमा चाहे बुद्धि और पुरुष—दोनों का धर्म हो अथवा बुद्धि का ही धर्म हो, अथवा पुरुष का ही धर्म हो, जो उस प्रमा का साधकतम (फल का एकमात्र और अभिन्न कारण) हो, वह प्रमाण होता है। वह तीन प्रकार का है।

यहाँ यदि प्रमारूप फल को पुरुष में रहनेवाला माना जाय तो बुद्धिवृत्ति प्रमाण होगी, क्योंकि पुरुषजन्य प्रमा बुद्धिवृत्ति से ही हो सकती है, अन्य से नहीं। अथवा यदि प्रमारूप फल को बुद्धि में ही रहनेवाला माना जाय, (क्योंकि पुरुष तो ज्ञान से बिलकुल पृथक् है) तो इन्द्रियवृत्ति सन्निकर्ष आदि ही प्रमाण होंगे, क्योंकि पुरुष तो प्रमा का साक्षी है। उसको प्रमाता कहने में उसमें कर्तृत्व का आरोप करना पड़ेगा (जो कि सांख्य सिद्धांत के प्रतिकूल है) अथवा यदि पौरुषेय बोध और बुद्धिवृत्ति—दोनों को ही प्रमा कहा जायगा तो उक्त दोनों को ही प्रमाण मानना पड़ेगा।

योगदर्शन के पातंजल भाष्य में प्रथम मत को ही स्वीकार किया गया है, किंतु सांख्य का प्राचीन मत उपर्युक्त मतों में से दूसरा प्रतीत होता है। इस प्रकार सांख्य तथा योगदर्शन का प्रमाण अस्वसंविदित तथा अचेतन है।

प्रमाण का लक्षण न्यायदर्शन अथवा उसके वात्स्यायन भाष्य में भी नहीं दिया गया, किंतु वात्स्यायन-भाष्य की टीका न्यायवार्तिक (उद्योतकर रचित) में निम्न लिखित वाक्य मिलते हैं—

इन्द्रियं खलु अर्थप्रकाशकत्वात् प्रमाणं,
उपलब्धिहेतु प्रमाणम्। ....
प्रमाणोत्पत्ताविन्द्रियार्थसन्निकर्षमपेक्षमाणाभ्यां
प्रमातृ-प्रमेयाभ्यां प्रमाणं जन्यते।

अर्थात्—अर्थ प्रकाशक होने से इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं, क्योंकि उपलब्धि का हेतु प्रमाण होता है। प्रमाण की उत्पत्ति में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा करने वाले प्रमाता और प्रमेय ज्ञान के जनक होते हैं।

इस प्रकार नैयायिक मत में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण माना गया है।

वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में लिखा है—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः। ....
तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे विद्या चाविद्या चेति ... विद्यापि चतुर्विधा, प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा।

अर्थात्—बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय—ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं, उस बुद्धि के अनेक भेद होने पर

भी संक्षेप से दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। विद्या के भी चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्ष।

इससे प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शन की विद्या और प्रमाण भिन्न भिन्न नहीं हैं। अतएव वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रमाण ज्ञान है।

मीमांसा में मुख्यरूप से दो अचार्यों के मत लिए जाते हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर।

कुमारिल ने प्रमाण का लक्षण यह किया है—

अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायक प्रमाणम्।

अर्थात्—जो न जाने हुए और तथाभूत (वास्तविक) अर्थ का निश्चय करावे वह प्रमाण है। यह एक प्रकार का 'प्रमाकरण प्रमाणम्' ही हुआ।

प्रभाकर ने प्रमाण का लक्षण यह किया है—

अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापाराज्ञानरूपोऽपि प्रमाणम्—अथवा—अनुभूति प्रमाणम्।

अर्थात्—अर्थ के वास्तविक रूप को प्रकट करनेवाला ज्ञाता का अज्ञान-रूप अनुभव व्यापार प्रमाण है अथवा अनुभूति अथवा अनुभात ही प्रमाण है। यहाँ भी प्रमाण ज्ञान-रूप है।

बौद्ध न्याय के प्रसिद्ध ग्रंथ न्यायबिंदु में प्रमाण के स्थान पर प्राय सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग मिलता है। सम्यग्ज्ञान के विषय में न्यायबिंदु टीका में लिखा है—

अविसंवादक ज्ञान सम्यग्ज्ञानम्।

—न्यायबिंदु, पृष्ठ ५, पंक्ति ६

(१६२४ का काशी संस्करण)

जो पहले से जाने हुए पदार्थ में प्रवृत्ति करता है, उसे लोक में संवादक कहते हैं। ज्ञान के विषय में भी यही बात घटती है, क्योंकि ज्ञान भी उसी प्रकार स्वयं दिखलाए हुए अर्थ में प्रवृत्ति करता हुआ संवादक कहा जाता है। अतएव अविदित अर्थ को बतलानेवाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जैसा कि कहा है—

अनधिगतविषय प्रमाणम्।

—न्यायबिंदु, पृष्ठ ६, पंक्ति १

अर्थात्—प्रमाण अविदित विषय को बतलाता है।

बौद्धों ने प्रमाण और ज्ञान को दो पदार्थ न मानकर एक ही माना है, जैसा कि जैनियों ने भी किया है।

जैनियों के प्रसिद्ध ग्रंथ 'परीक्षामुख सूत्र' में प्रमाण का यह लक्षण किया गया है—

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्।

अर्थात्—अपने और अपूर्व अर्थ का निश्चय करानेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

जैन और बौद्ध—दोनों ही ज्ञान में 'सम्यक्' विशेषण लगाते हैं। इससे वह संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय ज्ञानों में सम्यग्रूप से प्रमाणत्व का निषेध करते हैं। 'अविसंवादक' तथा 'अनधिगत विषय' से बौद्धों द्वारा तथा कुमारिलभट्ट द्वारा स्वीकार किए हुए धारावाहिक ज्ञान में प्रामाण्य का निषेध किया गया है।

प्रमाण के भेद

विभिन्न दर्शनों में प्रमाण की संख्या भी उसके सिद्धांत के अनुसार विभिन्न प्रकार की मानी गई है।

चार्वाक केवल एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। बौद्ध दर्शनों में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—दो प्रमाण माने गए हैं। वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष तथा अनुमान—ये दो प्रमाण माने गए हैं। इन दोनों में अंतर यह है कि वैशेषिक तो उपमान और अर्थापत्ति आदि का अनुमान में अंतर्भाव कर लेता है, किंतु बौद्ध न्याय कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि-जनित ज्ञान को ही अनुमान मानता है। अतएव बौद्ध अनुमान में उनका पूर्ण अंतर्भाव नहीं है।

सांख्य तथा योगदर्शनों में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—ये तीन प्रमाण माने गए हैं। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा अनुगम—ये चार प्रमाण माने गए हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

बौद्धों का प्रत्यक्ष जितना विचित्र है, उतना ही उसको समझना भी कठिन है। न्यायदर्शन में इंद्रियों और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। जैनियों का प्रत्यक्ष विचित्र होने पर भी समझने में उतना कठिन नहीं है।

जैनियों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किए हैं—

एक इंद्रिय प्रत्यक्ष (अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष), दूसरा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (अथवा पारमार्थिक या मुख्य प्रत्यक्ष)। जैनियों का इंद्रिय प्रत्यक्ष लगभग न्याय दर्शन-जैसा ही है, किंतु उनका अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष एक प्रकार का योगिज्ञान है, जो केवल आत्मिक शक्ति से आत्मा में ही होता है।

बौद्ध-न्याय में प्रत्यक्ष का लक्षण यह किया गया है—

तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् ।

—न्यायबिंदु, पृष्ठ ११

अर्थात्—'कल्पना-रहित तथा निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।' कल्पना रहित को प्रत्यक्ष कहने का कारण यह है कि कल्पना अर्थ की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं रखती, किंतु बौद्ध प्रत्यक्ष अर्थ के सान्निध्य में ही हो सकता है, अन्य अवस्थाओं में नहीं।

—न्यायबिंदु, पृष्ठ १३, १४ तथा १५

यद्यपि बौद्ध न्याय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान के रूप में कुल दो प्रमाण ही माने गए हैं, तथापि उसमें प्रत्यक्ष का विषय अत्यंत व्यापक करके उसके निम्नलिखित चार भेद किए गए हैं—

इंद्रिय प्रत्यक्ष, मन प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा योगिप्रत्यक्ष।

यद्यपि बौद्ध दर्शन में आत्मा अथवा जीव नाम का कोई पदार्थ नहीं माना गया है तथापि सुख, दुःख आदि में तो यह प्रत्यय होता ही है कि 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुखी हूँ' आदि। इसी अनुभव को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष माना गया है।

बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण का फल प्रत्यक्ष ज्ञान है और ज्ञान का पदार्थ के समान बन जाना ही प्रमाण है, क्योंकि उसी से पदार्थ का ज्ञान होता है।

अनुमान प्रमाण

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने अनुमान का लक्षण न करके उसके स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान—दो भेद कर डाले हैं। फिर उन्होंने इन दोनों का लक्षण यों किया है—

तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।

—न्यायबिंदु, पृष्ठ २६

त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानम्।

—न्यायबिंदु, पृष्ठ ६१

अर्थात्—जो ज्ञान अनुमेय में त्रिरूपलिंग से उत्पन्न होता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं, तथा त्रिरूपलिंग का कहना परार्थानुमान है।

यद्यपि इन लक्षणों से स्वार्थानुमान का ज्ञानरूप तथा परार्थानुमान का वचनरूप होना स्पष्ट है, तथापि इन दोनों का एक लक्षण हो सकता था, क्योंकि, यद्यपि ये दोनों ज्ञान तथा वचनरूप हैं तथापि दोनों ही त्रिरूपलिंग से उत्पन्न होते हैं। अतएव बौद्ध आचार्य अनुमान का लक्षण—

त्रिरूपलिङ्गत्वमनुमानम्।

—कर सकते थे, जैसा कि प्राचीन न्याय के सिद्धांत मुक्तावली, तर्कभाषा तथा तर्कसंग्रह आदि मध्यकालीन ग्रंथों में भी किया गया है। इन सबने ही ज्ञानात्मक *स्वार्थानुमान तथा वचनात्मक परार्थानुमान* माना है, किंतु 'लिंगपरामर्श' दोनों में समान होने से इन्होंने—

लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्।

—अनुमान का लक्षण किया है।

किंतु जैन-न्याय का अनुमान-लक्षण इन सबसे अधिक परिष्कृत है—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।

—परीक्षामुखसूत्र, उद्देश्य ३, सूत्र ६

अर्थात्—साधन से या हेतु से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है।

इसमें यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जैनी ज्ञान को ही अनुमान मानते हैं। *परार्थानुमान* भी उनके यहाँ ज्ञानरूप ही है। दोनों अनुमानों में अंतर केवल यह है कि स्वार्थानुमान किसी के उपदेश के अनुमाता (अनुमान करनेवाला) स्वयं करता है, किंतु परार्थानुमान का ज्ञान अनुमाता को दूसरे के वचन से होता है।

ऐसा विदित होता है कि अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद बौद्ध नैयायिकों के ही आविष्कार थे, क्योंकि न तो उनका सिद्धसेन दिवाकर (लगभग ४८०–५५० ई०) से पूर्व के जैन न्याय के ग्रंथों में ही उल्लेख है और न न्यायदर्शन में ही है। उसके विरुद्ध न्यायदर्शन में उसके और ही पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट नाम से तीन भेद उपलब्ध होते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर बौद्धों के स्वार्थानुमान तथा जैन न्याय के अनुमान के लक्षण में कोई भेद नहीं है, क्योंकि अनुमेय साध्य होता ही है और त्रिरूपलिंग भी हेतु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए न्यायबिंदु में स्वार्थानुमान के लक्षण के पश्चात् पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षाद्व्यावृत्ति नामक त्रिरूपलिंग का वर्णन किया गया है। यदि इसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना हो तो इसमें मध्यकालीन नैयायिकों के समान अबाधित विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व और बढ़ाए जा सकते हैं, किंतु बौद्धों ने तीन रूप रखकर ही हेतु का कथन किया है। इस अवसर पर हमको फिर जैन-न्याय का हेतु-लक्षण

स्मरण हो आता है, जो उनसे अधिक परिष्कृत, संक्षिप्त तथा युक्तिपूर्ण है—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।

—परीक्षामुख-सूत्र, उद्देश्य ३, सूत्र १५

अर्थात्—जिसका साध्य (अनुमेय) के साथ अविनाभावी संबंध निश्चित हो—उसे हेतु कहते हैं।

वास्तव में विचार किया जाय तो त्रिरूपलिंग अविनाभावनियम अथवा व्याप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

न्याय के ग्रंथों में अनुमान के वर्णन के पश्चात् पक्ष का वर्णन किया जाता है, क्योंकि अपने पक्ष का मंडन तथा पर-पक्ष का खंडन ही न्याय-विद्या का उद्देश्य होता है। पक्ष के बाद प्राचीन न्याय, बौद्ध न्याय तथा जैन न्याय—तीनों में ही हेत्वाभास का वर्णन किया जाता है। किन्तु इन सभी के हेत्वाभासों की संख्या के समान उनके लक्षणों में भी थोड़ा थोड़ा अंतर है। अतएव उनका तुलनात्मक अध्ययन किए बिना शास्त्रार्थ करनेवालों को हास्य का पात्र बनना पड़ता है।

यह पीछे बतलाया जा चुका है कि बौद्ध-न्याय में हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षाद्व्यावृत्ति आदि तीन रूपों का होना आवश्यक माना गया है। अतएव उन तीनों रूपों में से किसी एक भी रूप के न होने अथवा संदिग्ध होने पर हेत्वाभास हो जाता है। अतएव त्रिरूपलिंग मानने से बौद्धों को तीन ही हेत्वाभास मानने पड़े हैं, जो कि ये हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकांतिक। किंतु मध्यकालीन नैयायिक हेतु में पाँच अंगों का अस्तित्व आवश्यक मानते थे। अतएव उनके मत के अनुसार इन तीन में बाधित विषय और सत्प्रतिपक्ष—ये दो और जोड़ देने से पाँच हेत्वाभास होते हैं।

न्यायदर्शन में सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम तथा कालातीत—ये पाँच हेत्वाभास माने गए हैं, जो कि ऊपरवालों से प्रायः अविरुद्ध हैं।

जैन-न्याय में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक और अकिंचित्कर—ये चार हेत्वाभास माने गए हैं। इनमें अकिंचित्कर हेत्वाभास नया हेत्वाभास है।

न्याय-ग्रंथों में हेत्वाभासों के पश्चात् दृष्टांत तथा दृष्टांताभासों का वर्णन किया जाता है।

यह पीछे बतलाया जा चुका है कि बौद्ध-न्याय की रचना गौतमीय न्याय का उदाहरण लेकर की गई थी। इसी कारण आरंभिक बौद्ध न्याय पर गौतमीय न्याय की पूरी छाप लगी हुई है। न्यायबिंदु को देखने से पता चलता है कि वह छाप इतनी पक्की हो गई थी कि धर्मकीर्ति भी उसकी उपेक्षा न कर सके और इसी कारण इन्होंने न्यायबिंदु को समाप्त करते-करते विशेष आवश्यक न होने पर भी उसमें दूषण, जाति और जात्युत्तर का थोड़ा-सा वर्णन कर ही डाला, जिनमें से जाति न्यायदर्शन का एक मुख्य विषय है। किंतु उससे बाद में बनने के कारण जैन न्याय के रचयिता इस प्रकार की त्रुटियों से सावधान रहे।

इस प्रकार जो व्यक्ति गौतमीय न्याय, बौद्ध-न्याय, जैन-न्याय तथा नव्य न्याय का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, वही भारतीय दर्शनों के सर्वश्रेष्ठ तुलनात्मक विद्वान् हो सकते हैं। भारतीय संस्कृति के प्रसार की दृष्टि से भी इन ग्रंथों का पठन-पाठन आवश्यक है।



सांस्कृतिक उत्थान की दिशा में

श्री लक्ष्मीनारायण भारतीय

आज की भूमि-समस्या ने सारे एशिया को आक्रांत कर लिया है और भारत के लोक-जीवन को तो उसने पूरी तरह ग्रस लिया है। सम्पत्ति का विषम विभाजन भी हमारे भौतिक जीवन को आच्छादित कर चुका है, परन्तु लोक-जीवन, जो लाख-लाख ग्रामों में फैला है, भूमि समस्या से ही पीड़ित है और यह भी प्रकट तथ्य है कि इस समस्या के हल में सम्पत्ति के विषम विभाजन की समस्या का भी हल है। अत आज भूमि समस्या सबका कार्य और ध्यान खींच चुकी है—इसमें संदेह नहीं है। हमारी भौतिक दुर्गति के लिए कारणीभूत इतनी बड़ी समस्या पर ही यदि सारे देश का ध्यान जाता है, तो वह स्वाभाविक भी है।

परन्तु परिस्थिति से ऊपर उठकर हम यदि देखने का प्रयत्न करें तो प्रतीत होगा कि इन भौतिक समस्याओं के हल करने की पीड़ा के पीछे, हमारी असली समस्या, असली पीड़ा है—नव मानव, नव समाज के निर्माण की, जिसकी मर्मवेदनाएँ ही इन भौतिक पीड़ाओं के रूप में सामने आ रही हैं। अत' आज हमारे सामने एक तो तात्कालिक लक्ष्य है, भूमि की समस्या के हल का, और दूसरा भविष्यत् लक्ष्य है, नव समाज के निर्माण का। ये दोनों लक्ष्य सध सकें—इसके लिए आज हर चंद कोशिशें हो रही हैं जिनमें भूदानयज्ञ एक बड़ी और व्यापक कोशिश है। और कोशिशों के मुकाबले इसका दावा भी ऐसा ही है, अत 'यह देखना जरूरी है कि दोनों लक्ष्यों की पूर्ति इससे कहाँ तक संभव है। विचार करने की सुविधा के लिए हम इन दोनों के बीच 'आर्थिक समानता' की एक और मंजिल गिन लें तो विषय-विश्लेषण में सुविधा होगी। भूमि-समस्या की पार्श्वभूमि ही प्रथम देख लें।

आज स्थिति यह है कि भूमि की समस्या दिनों-दिन उग्रतम होती जा रही है। जागतिक भूमि-प्रश्न पर न सोचते हुए भारतीय भूमि की समस्या पर ही हम गौर करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि इसे हम शीघ्र-से-शीघ्र हल न करेंगे तो इसका उग्रतम रूप समाज को भस्म किए बिना नहीं रहेगा, जिसका एक रूप हमने तेलगाना में देखा है। भूमि विषयक विषमता आज उग्र इसलिए भी महसूस होती कि गरीबी और भुखमरी ने समाज को हिला दिया है। शोषण ने उसको मजबूर कर दिया है। भूमि का विषम विभाजन तो सैकड़ों सालों से कायम ही है, उस विभाजन पर आज नए से क्या रोना रोना है? जब अन्य परिस्थितियाँ तीव्रतर होती हैं, तभी यह अखरती है और यही अखरना आज भीतरी ज्वालाएँ बनकर जगह-जगह स्फोटक वातावरण है, यानी तेलगाना में जो नाशकारी स्वरूप यह कोई हिंसक उपचारों के कारण ही नहीं हुआ है वहाँ की स्फोटकता भी उसकी जड़ में रही है। ऐसी स्फोटकता, दूसरी ओर इलाजों का परिणाम—ऐसी स्थिति वहाँ रही है।

भाव पका है या नहीं—यह जाँचने के लिए एक कण देखना काफी होता है। जमीन की कितनी तीव्रतर हो उठी है और उसका कोई उचित न निकले तो किस प्रकार उसका लाभ उठाया जा है, इतना इस घटना से सहज जाना जा सकता है। इस विषय में किसी का खास मतभेद भी नहीं है। प्रश्न ही किया जाता है कि कानून के द्वारा ये जन सरकार क्यों नहीं इस प्रश्न का हल करती हैं, जो इसी के लिए प्रतिज्ञाबद्ध भी हैं। प्रश्न उचित है, परन्तु गहरा नहीं है; क्योंकि कानून के पीछे बल (सैंक्शन) किसका हो, यही यहाँ सोचना है। कानून अपने बल पर तो खड़ा नहीं होता। उसे या तो जन-मत का बल मिलना चाहिए या सत्ता का। सत्ता के बल से ही चीन में इस प्रश्न का हल निकला है। परंतु भारत में वैसी सत्ता आज नहीं है, जिसका कि एक प्रयत्न तेलगाना में भी हुआ है। आज जो राज्य-सत्ता यहाँ है, वह तबतक कोई क्रांतिकारी काम खुद नहीं कर सकती, जबतक या तो जनता उसे उसके लिए मजबूर न कर दे या उसकी जगह सशस्त्र क्रांति के

बल से कोई नई सत्ता न आ जाय। आज जमीन का कोई भी क्रांतिकारी कानून इस सरकार द्वारा पास होने दीजिए, कितने विरोधी तत्व खड़े होकर उस कानून को निकम्मा बना डालते हैं, देख लीजिए। केवल 'एकपक्षीय' सरकार होने से, उसका बहुमत होने से, वह किसी क्रांतिकारी काम के लायक बन जाती है ऐसी बात नहीं, जबकि उसके उस 'बहुमत' का 'बहुमत' भी अपने पास बहुत सारी जमीनें ादि रखे हुए हों! तब ऐसे कानूनों के लिए एक ही मा बच जाता है, जन-मत को प्रबल बनाने का। पर ारी उच्चाटन कानून बनाने तक का ही यह जनमत पद्व 'आ था। उसने टूटे फूटे रूप में इतना काम कर मडन। लेकिन जमींदारी हटाने का कानून कायम्प में होता है करना, और जमीन की पूर्ण समस्या ही हल न्याय—ो दो बड़े काम बचे रहे और इसी के लिए जन-किंतु इन बल' बनाना जरूरी था। जनता में, गरीबों में, लक्षणों भूख है, विषमता से वे ग्रस्त हैं, यह स्थिति यानी तुलनात्मः होता है। इस स्थिति में 'शक्ति निर्माण' करना हास्य क ल' कहलाता है। हमारा यह दावा है कि भूदान-यः जनबल व्यापकरूप में निर्माण कर रहा है। में पहार में विनोबा 'विनोबा समस्या' क्यों बन गए तीन योंकि या तो वहाँ की भूमि-समस्या हल करो या उन तः लिए तैयार रहो—ऐसी उसके पीछे चुनौती है। सदि। के पीछे से यह जनमत अब बोल रहा है। सैकड़ों मान ों के पैदल प्रवास में यह तत्त्व जमा दिया गया है कि ये ोन सबकी है, उसका यह विषम विभाजन अन्याय्य है, नें जोतनेवालों को मिलनी चाहिए।' यह भूख और ने तृप्त करने का सरल उपाय—दोनों मौजूद होते हुए भी दि कोई न चेते तो दूसरा क्या रास्ता रह जाता है, जनता को विद्रोह करने के सिवा! यह तेलंगाने से भी खतरनाक स्थिति है, क्योंकि भूख तीव्रतर हो गई है, एक माकूल इलाज उसे मिटाने के लिए हद दर्जे तक किया जा रहा है, तब भी समस्या हल नहीं होती है। तो, परिणाम क्या होगा? लेकिन विनोबा इस आग से इसलिए खेल रहे हैं कि उनमें खुद को भस्म करके न्याय्य तरीकों से समस्या हल करने की शक्ति उनमें आ गई है। इसीलिए आज यहाँ अब भू-समस्या नहीं, 'विनोबा-समस्या' खड़ी हो गई है। इधर देश में कई जगह यह स्थिति आ गई है कि गए माँगने, कि जमीन मिलती है। यह जन-मत ही है, जो अब एक 'जन-बल' का रूप धारण कर रहा है। इस तरह देश में एक विशिष्ट ढंग से जन-बल का निर्माण हुआ कि फिर कानून की मुहर लगाना मुश्किल काम नहीं है। तभी कानून कामयाब होगा, तभी समस्या हल होगी। भूदान यज्ञ उसी को रूप दे रहा है। यह प्रबल जनमत भूदान यज्ञ ही तैयार कर रहा है और जनमत को बड़ी शक्तिशाली बना रहा है। बिना इसके कोई भूमि कानून हरगिज सफल नहीं हो सकता। या फिर उसे सफल करने के लिए सशस्त्र क्रांति आ धमकेगी, जो भारत के लिए नाश के सिवा दूसरा कोई पैगाम नहीं दे सकती। पर इस प्रकार भूमिदान यज्ञ ही ऐसा प्रबल लोकमत निर्माण कर रहा है, ऐसी शक्ति जनता में उत्पन्न कर रहा है कि उसके जरिए भूमि की समस्या हल होकर रहनेवाली है। फिर उसे कानूनी रूप भी सत्ताधारी पक्षों को देना ही होगा। दो-ढाई सालों में भूमिदान ने जो हवा पैदा की है, जो वातावरण तैयार किया है, जो भूख देहात-देहात में निर्माण की है, और जो शक्ति भी दो-ढाई साल की सफलता से मिली है वही भू-कानूनों को बनाने के लिए, भू-समस्या हल करने के लिए मजबूर करनेवाली है। इसके बिना तो कानून निःसत्त्व होते हैं।

जमीन की विषम समस्या भूदान यज्ञ द्वारा हल होगी या नहीं—इसके बारे में लोगों को अब भी शंका हो सकती है, लेकिन भूदान-यज्ञ ने भू-समस्या के हल का मार्ग न सिर्फ खोल दिया है, बल्कि वह हल अब दृष्टि-पथ में है और भूदान यज्ञ द्वारा ही यह संभव हो सका है—इसकी शंका अब किसी के दिल में नहीं रह सकती। उस मंजिल तक पहुँचने की शक्ति और हवा भूदान-यज्ञ से आज संभव हो सकी है, इसके बारे में बहुत कम संदेह रह गया है। और भूदान-यज्ञ से ही भू-समस्या हल करने की मंजिल तक हम पहुँच सकते हैं, यह विश्वास भी सन् '५७ तक देश को हो जानेवाला है—ऐसा हम मानते हैं।

और इसी तात्कालिक मंजिल के पास ही हमने आर्थिक समानता की मंजिल गिनी है। जमीन की समस्या हल होने पर भी अन्य क्षेत्रों की विषमता बची ही रहती है। यह आर्थिक विषमता दूर हुए बिना आर्थिक क्षेत्र की सार्वभौम समानता संभव नहीं है। दर-असल भूमि समस्या तो एक अंग है, पर आर्थिक विषमता ने सारे वातावरण को ही आप्लावित कर दिया है। पर आर्थिक

समता कायम करने की जहाँ बात आती है, वहाँ मंजिल अभी बहुत दूर नजर आती है। आर्थिक समता के बिना जन जन के दुख दर्द भी दूर नहीं हो सकते, यह सही है। ऐसी हालत में देखना यह है कि भूदान यज्ञ से इसका भी कुछ हल निकलता है क्या ?

विनोबा ने संपत्तिदान-यज्ञ भी इसके साथ शुरू किया है। भूदान यज्ञ ने तो कुछ पराक्रम दिखा दिया है, लेकिन संपत्तिदान की तो अभी शुरुआत ही है। इसलिए संपत्तिदान यज्ञ का ध्येय कुछ भी हो, अभी उसके आधार पर आर्थिक समानता की मुनादी दे देना अप्रासंगिक होगा। संपत्तिदान तो सारी जीवन निष्ठा को ही बदलकर शक्तिशाली असंग्रह के ध्येय की ओर ले जानेवाला है। इसलिए उसके परिणाम भी बहुत शीघ्र नहीं दीख पड़नेवाले हैं। लेकिन भूमिदान-यज्ञ के द्वारा ही आर्थिक विषमता को दूर करने की चाभी मिल जाती है, ऐसा हम कहें तो वह अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि सीधी-सादी बात है कि किसी आंदोलन से केवल एक ही परिणाम सिद्ध नहीं होता, कई अन्य प्रश्न हल करने के भी रास्ते खुल जाते हैं। भूदान आंदोलन का ध्येय भी केवल जमीन के प्रश्न को ही हल करने तक सीमित नहीं है। यह तो एक बुनियाद है, पहला कदम है। अतः भूमिदान आंदोलन से जो 'शक्ति' निर्मित होगी, जो जनमत अनुकूल होगा और जो वातावरण पैदा होगा, वह आर्थिक क्षेत्र की विषमता को दूर करने के साधन भी पैदा कर देगा। जब स्वराज्य का ध्येय पूरा हुआ तभी हम अब आगे बढ़ सके हैं। उसी तरह भूमि समस्या—उत्पादन के महत्वपूर्ण साधन की समस्या—हल होने पर ही हम आर्थिक क्रांति करने की राह पर चल सकते हैं। इसका क्या स्वरूप होगा, इस विषय में अभी चर्चा करना अप्रासंगिक होगा; लेकिन यह निश्चित है कि जमीन की समस्या के हल के बिना और कोई प्रश्न हल नहीं हो सकता, और जमीन का प्रश्न अब हल होकर रहेगा; क्योंकि उसका वातावरण अब बन चला है। आर्थिक विषमता हटाने के लिए या समता स्थापित करने के लिए भी कोई लंबी अवधि तक या भूमि समस्या के पूरे हल होने तक राह देखनी होगी—ऐसी भी बात नहीं है। दो साल हुए भूमिदान-यज्ञ के प्रारंभ हुए, और अब संपत्तिदान-यज्ञ भी शुरू हो गया है। यह अभी जोर से शुरू नहीं हुआ या आंदोलन नहीं बना है, परंतु धीरे-धीरे जो जड़ जम रही है वह भूमिदान से भी मजबूत होनेवाली है; क्योंकि भूमि वितरण के पश्चात् और संपत्ति-विभाजन के पश्चात् भी 'संपत्तिदान-यज्ञ' का काम चलनेवाला ही है। आज संपत्तिदान सिर्फ षष्ठांश माँगता है, परंतु जहाँ किसी ने षष्ठांश दिया, कि वह बँध गया। बाकी पाँच ही अपने पास रख सकता है, यानी पूरी संपत्ति के और पैदावार के छः हिस्सों से ज्यादा वह हिस्से कर नहीं सकता, और फिर धीरे धीरे उसके पास एक और समाज के पास पाँच ऐसे उन छः हिस्सों का बँटवारा होगा। इसके साथ सहज साधन शुद्धि का नियंत्रण उसपर आ जायगा। एक हाथ में पाप और एक हाथ में पुण्य लेकर बहुत दिनतक जनमत को अँधेरे में नहीं रखा जा सकता—यह प्रकट सत्य है। जनमत देखकर चुप रह जायगा, ऐसा भी नहीं। जन बल में उसका परिवर्तित होना अनिवार्य है। इस प्रकार संपत्तिदान द्वारा आर्थिक विषमता की मंजिल पार करना अवश्यंभावी होगा। इस प्रक्रिया में अभी काफी देर लगेगी, परंतु यह होकर रहेगी, क्योंकि इसकी नींव में वह शक्ति-संचय है, जो भूदान आंदोलन से प्राप्त हो रहा है। इसके साथ ही युग-धर्म भी है जो अपना काम हर हालत में पूरा करावेगा। समानता जब आनी हो, आवे; आज उसकी हवा आ चुकी है।

इस प्रकार तात्कालिक लक्ष्य की दो मंजिलें तय करते ही दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति का, नव समाज की निर्मिति का समय सन्निकट आता है। एक रस, एक आत्मा, एक वर्ग बने हुए समाज के निर्माण की—नव मानव के निर्माण की सामग्री जुटती है। समाज का सांस्कृतिक उत्थान अप्रत्यक्षरूपेण होता रहता है। यह सांस्कृतिक उत्थान ही मानव - सभ्यता की आधारशिला रहा है। इस शिला की स्थापना का, सांस्कृतिक बुनियाद डालने का काम ही इन यज्ञों से हो रहा है अर्थात् ये आंदोलन मूलतः सांस्कृतिक और रूपतः आर्थिक हैं।

मानव की सद्वृत्तियों, सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों की सामूहिक अभिव्यक्ति को संस्कृति कहते हैं। मनुष्य की आज और कल की कृति और वृत्ति का परिणाम मानव्य की वृद्धि में होने का नाम ही संस्कृति है। 'समष्टि मानव' की अच्छाइयों का निचोड़ ही संस्कृति है—यह संक्षेप में कहा जा सकता है। मानव में विकसनशीलता है, अतः वह

सांस्कृतिक कार्य कर सकता है। पशु क्यों नहीं सांस्कृतिक कार्य कर पाता? मनुष्य का मानव्य, मानव्य की साधना, मानव्य का प्रत्यक्षीकरण और मानव्य का समष्टीकरण ही संस्कृति है। मनुष्यों के सत् और अच्छे कर्म ही संस्कृति निर्माण करते हैं। इस प्रकार मानव एवं मानव समूह में सत्य शिव सुंदरम् का आविर्भाव यानी सांस्कृतिक मूल्यों का प्रत्यक्षीकरण है।

तो, इस कसौटी पर संपत्तिदान यज्ञ और भूदान यज्ञ कहाँ तक टिक सकते हैं—यही हमें परखना है।

इन दोनों यज्ञों का आधार बिंदु है—मानव की सद्भावनाओं का आवाहन और उनका समूहीकरण। मनुष्य चाहे जितना क्रूर, निर्दय, स्वार्थी और शोषक बन गया हो, उसका हृदय यथार्थ में हृदय ही है, पत्थर नहीं बन गया है, और ये सब विकृतियाँ परिस्थितिवश पैदा हुई हैं। उसके मस्तिष्क की सोचने की राह दुर्भाग्य से दूसरी ओर चली गई है, जिसका कारण है, सद्ज्ञान की ओर उसका न मुड़ना। इस प्रकार एक ओर ज्ञान का अभाव, दूसरी ओर परिस्थितियों का दबाव, इस बीच में हृदय कहीं दुबककर बैठ गया है। उस दुबके छिपे हुए हृदय को न केवल जागरित करना बल्कि उसे शक्तिशाली बनाना आज अनिवार्य हो गया है। क्योंकि, यदि ऐसा नहीं किया गया तो मानव के विकास और संस्कृति के संवर्धन की आशा छोड़ देनी होगी। मानव-हृदय को और मानव मस्तिष्क को उनके अपने विकसनशील मार्ग की ओर से पीछे खींचने वाली परिस्थितियों का निराकरण इस काम की पहली शर्त है, और, यह निराकरण समाज रचना की विषमताओं को हटाने से ही हो सकता है। इस विषमता का आधार आज बन गया है, भूमि और संपत्ति का अन्याय्य विभाजन। इस विभाजन को दूर करने का सर्वोत्तम मार्ग किसी हालत में पशु बल प्रयोग हो नहीं सकता, क्योंकि वह न तो हार्दिकता की, न संस्कृति की और न मानव्य की सच्ची राह है, अपितु फल दान का सुलभ और तात्कालिक मार्गमात्र है, अत अंतत वह प्रतिक्रियात्मक ही होकर रहेगा। यह दुनिया की तमाम रक्तरंजित क्रांतियों, युद्धों और परिवर्तनों के इतिहास के सूक्ष्मावलोकन से प्रकट हो जाता है। यह बलप्रयोग चाहे सत्ता के द्वारा हो या क्रांति-कारकों के द्वारा, मूलत कोई फर्क नहीं पड़ता, मात्रा में ही सिर्फ फर्क पड़ता है। तब एकमात्र सर्वोत्तम मार्ग यही हो सकता है कि मानव मस्तिष्क में क्रांति करना, सत्य विचार सतत शुद्धता के साथ उस मोहग्रस्त के सामने रखना जो युग की हवा से मुख मोड़ना चाहता है। अज्ञान का प्रतिकार ज्ञान से ही हो सकता है भले ही उसके लिए लंबी अवधि लगे। अज्ञान डंडे के बल पर दूर नहीं होगा, दब जायगा। अत ज्ञान—सत्यज्ञान, सत्य विचार, न्याय्य विचार—का सतत—प्रसार ही मानव मस्तिष्क की क्रांति कर सकता है, और उस क्रांति को कार्यरूप – अमली रूप देने में मदद कर सकती है, उसके हृदय को की हुई अपील। 'हृदय परिवर्तन' शब्द आज मखौल बन गया हो, पर इसके साथ 'मस्तिष्क परिवर्तन' का जोड़ हो जाने से वह मखौल नहीं हो सकता, और 'शक्ति' के रूप में ही वह प्रकट हो सकता है। भूदान और संपत्तिदान यज्ञ आज मानव-मस्तिष्क में नव समाज रचना का एक सद्विचार, एक ज्ञान किरण, एक युगवाणी भर रहा है कि 'भूमि और संपत्ति पर समाज का—केवल समाज का ही अधिकार है, तुम तो केवल ट्रस्टीभर हो और ऐसा ट्रस्टी जो उस संपत्ति का समष्टि के लिए ही सतत उपयोग करने के लिए बँधा हो। बिना श्रम के कुछ भी पाने का तुम्हें अधिकार नहीं है।' समाज की धरोहर समाज को लौटा देने का तीव्र आग्रह ये यज्ञ कर रहे हैं। युग परिस्थितियाँ भी उसके लिए स्पष्ट निर्देशन दे रही हैं। और इसके साथ उसके हृदय को भी अपील की जाती है कि 'अपना जन्मजात प्रेम, स्नेह, अपनापन, कुटुंबभावना आदि को किंचित्मात्र व्यापक करो—केवल व्यक्ति-विशेषों तक ही सीमित न रखो। दूसरों के साथ सह-अनुभूति और सहकर्म का सामंजस्य न करोगे तो मानवता की कब्र बनना अनिवार्य है।' इस प्रकार संपूर्णत मनुष्य के अंतर को, उसके हृदय और बुद्धि को हर तरह से समझा-बुझाकर युगधर्म का निर्देशन करके उसको देने के लिए प्रवृत्त करना, उसकी देने की मूल भावना को जागरित करना इन यज्ञों का बुनियादी काम है और यह नवीन समाज रचना की एक बुनियाद मात्र है।

ऐसा यह बुनियादी काम है जो सत्य भी है सुंदर भी है और शिव भी है, इसलिए वह सांस्कृतिक ही है। आज उसका रूप आर्थिक या सामाजिक है, परंतु स्थायी परिणामों की दृष्टि से वह सांस्कृतिक ही है। बल्कि कहा जा सकता है कि इसकी आर्थिक-सामाजिक बाजू भले ही

देरी से सिद्ध हों या कम सिद्ध हों, सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिष्ठापन तो इसका अनिवार्य परिणाम ही है।

युग-सापेक्ष्य माँग के साथ मानव के अन्तर में सन्निहित सद्भावनाओं का सामूहिक और शक्तिशाली आवाहन सांस्कृतिक उत्थान का ही आवाहन है और उससे जो आर्थिक और सामाजिक क्रांति के बीज बोए जा रहे हैं, उसके फलने के पहले सांस्कृतिक उत्थान के मार्ग पर हम अग्रसर होते हुए नज़र आयेंगे, क्योंकि आर्थिक समानता या सामाजिक समानता की प्राप्ति की आड़ में आन्तरिक मोह खड़ा है, जिसके लिए संभव है, कभी तीव्र उपायों के रूप में सत्याग्रह की शरण लेनी पड़े। वह एक आर्थिक क्रांति का संग्राम-युक्त कार्यक्रम हो जायगा। उसके फलित दूसरे होंगे, लेकिन इस तात्कालिक लक्ष्य के साथ ही जो सांस्कृतिक उत्थान का रास्ता नापा जा रहा है, वह अपने लक्ष्य तक, संभव है, उस तात्कालिक लक्ष्य के पहले पहुँच जाय। क्योंकि प्रचलित मूल्यों, मान्यताओं और भावनाओं को, जो इस उत्थान के आड़े आई हैं, इस आज दान ने और विचार के प्रचार ने जबर्दस्त धक्का दिया है और आज मनुष्य मानवता की बात, सहिष्णुता की बात, समानता की बात ही सोचने लगा है। उसकी अपनी विषम रचना से उद्भूत मान्यताएँ ढही जा रही हैं। उसके अंतर में तीव्र संघर्ष है और यही आंतरिक क्रांति की पार्श्व भूमि है, जिसमें से निस्संदेह नव-मानव का सृजन होनेवाला है। हमारा भविष्यत् लक्ष्य हमारे दृष्टिपथ में है और उसी की सामग्री इन आंदोलनों ने जुटा दी है, यह प्रकट है। नव मानव एवं नव समाज का निर्माण उनके ही सह विकास से होगा और यह सह विकास की प्रक्रिया आज इन आंदोलनों के कारण तेजी से हो रही है। समष्टि मानव की अच्छाइयों का निचोड़ संस्कृति है और उन अच्छाइयों का सबल, सक्षम सक्रिय आवाहन प्रत्यक्षरूप धारण कर रहा है। मानवता का साक्षात्कार हो रहा है। मानवता और सांस्कृतिकता अभिन्नांग हैं। इनका संयुक्त विकास हो, इसीका प्रयास प्रस्तुत यज्ञ कर रहे हैं। इस 'संयुक्त विकास' की परिणति का ही अर्थ है, नव समाज और नव मानव का निर्माण, जिसकी आधारशिला प्रेम—स्नेह।

इस प्रकार भूदान-यज्ञ भूमि-समस्या का सप नैतिक शक्ति-संचय-कारक हल प्रस्तुत करके उसने सम्पत्तिदान के रूप में आर्थिक विषमताओं को करने का मार्ग सरल कर रहा है और इन ता भौतिक आवश्यकताओं की न्याय्य पूर्ति को प्र साथ ही हमारा सांस्कृतिक उत्थान भी हो रहा है सांस्कृतिक उत्थान नव समाज स्थापना का दीप-स्तं जिसके वाहक ये दोनों यज्ञ हैं।



भारतीय बीजगणित

डॉ० अवधेशनारायण सिंह

विद्वान् यह मानते हैं कि बीजगणित का जन्म भारतवर्ष में ही हुआ। इस विज्ञान में हिंदुओं ने बहुत पहले ही अत्यधिक उन्नति की थी। जिस भांति अंकगणित का सार स्थानीय मान-विषयक दशमलव सिद्धांत है, ठीक उसी भांति बीजगणित का सार-संकेतों का प्रयोग अर्थात् अज्ञात राशियों के स्थान पर वर्णमाला के अक्षरों का प्रयोग है। बीजगणित में वर्णमाला का उचित प्रयोग प्रथम बार हिंदुओं ने ही किया। इन लोगों ने अज्ञात राशि के [illegible] र पर संस्कृत के य, क, नि इत्यादि का प्रयोग किया। हो, उ[illegible]ोग पाँचवीं शताब्दी ई० से दृष्टिगोचर होता है। गया है[illegible]

उसके म[illegible]

नामकरण

[illegible] चली गुप्त (६२८ ई०) ने बीजगणित का नाम [illegible] उसका गुत अथवा कुट्टक दिया है। कुट्टक एक विशेष [illegible] दूसरी [illegible] समीकरण है जिसे अँगरेजी में इंडिटरमीनेट [illegible] (बकर्व आफ दी फर्स्ट डिग्री' कहते हैं। प्राचीनकाल में [illegible] रणित इतना विशिष्ट विषय समझा जाता था कि [illegible] बीजगणित को ही कुट्टक के नाम से पुकारते थे। उन [illegible] चलकर आचार्य पृथूदक (८५० ई०) ने इसका [illegible] बीजगणित रखा। बीजगणित का अर्थ है—वह [illegible] जिसमें बीजों की सहायता से गणना की जाय। [illegible] बाद के सभी गणितज्ञों ने इसे बीजगणित कहा। किसी-किसी ने इसे 'अव्यक्त गणित' अर्थात् 'वह विज्ञान जिसमें अज्ञात की सहायता से गणना की जाय' भी कहा है।

सरल समीकरण

समीकरण (इक्वेशन) के अर्थ में ब्रह्मगुप्त ने समकरण, समीकरण और सम शब्दों का प्रयोग किया है। आधुनिक अँगरेजी शब्द इक्वेशन इन्हीं का पर्यायमात्र है। सरल समीकरण का आनयन बौधायन कृत (ल० ८०० ई० पू०) शुल्व सूत्रों में मिलता है। बख्शाली हस्तलिखित ग्रंथ में भी बहुत-से समीकरण मिलते हैं। इस ग्रंथ में इनका आनयन उस नियम के अनुसार है जिसे आजकल 'रूल आफ फाल्स पोजिशन' कहते हैं। आर्यभट प्रथम आदि आगे के गणितज्ञों के ग्रंथों में इनका आनयन बीजात्मक (अलजेब्रेइक) है। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि हिंदू बीजगणित में 'रूल आफ फाल्स पोजिशन' नामक नियम नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हिंदुओं के पास अत्यंत प्राचीन काल में ही भलीभांति विकसित बीज (अलजेब्रेइक सिम्बॉलिज्म) वर्तमान थे।

बख्शाली ग्रंथ एवं आगे के ग्रंथों में $य_1 + य_2 = अ_1$, $य_2 + य_3 = अ_2$ …… $य_न + य_{न+1} = अ_न$ की तरह के रैखात्मक समीकरण मिलते हैं। यह प्रतीत होता है कि इन समीकरणों का उस समय बड़ा प्रचार था।

वर्ग-समीकरण

शुल्व-सूत्रों में समीकरण $७ य^2 + \frac{?}{?} य = ७\frac{1}{2}$ = म मिलता है जिसका आसन्न आनयन $य^2 = १ + \frac{म}{७}$ कात्यायन* ने दिया है।

समीकरण $४ ह^2 - ४ द ह = - च^2$ का साधारण आनयन $ह = \frac{1}{2}(द - \sqrt{द^2 - च})$ जैन आगम ग्रंथों (५००-३०० ई० पू०) एवं तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (ल० १५० ई० पू०) में मिलता है।

समीकरण $अ य^2 + ब य = च$ का आनयन ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने इस प्रकार दिया है—'रूपगुणक को चतुर्गुणित वर्गगुणक से गुणा करके उसमें मध्यगुणक के वर्ग में जोड़ दें। इसके वर्गमूल में मध्यगुणक घटाकर द्विगुणित वर्गगुणक से भाग देने पर मध्य (अर्थात् अव्यक्त राशि) आ जाता है।'

श्रीधर का नियम इस प्रकार है—

'(समीकरण के) दोनों पक्षों को चतुर्गुणित वर्गगुणक से गुणा करें और अव्यक्तगुणक के वर्ग को दोनों पक्षों में जोड़ दें। तत्पश्चात् (दोनों पक्षों का) वर्गमूल निकालें।'

उदाहरणार्थ मान लीजिए कि हमें समीकरण $अ य^2 + ब य = च$ का आनयन निकालना है तो दोनों तरफ ४ अ से गुणा करने पर $४ अ^2 य^2 + ४ अ ब य = ४ अ च$ आया। अर्थात् $(२ अ य + ब)^2 = ४ अ च + ब^2$

$$\therefore २ अ य + ब = \pm\sqrt{४ अ च + ब^2}$$

$$अतएव\ य = \frac{\pm\sqrt{४ अ च + ब^2} - ब}{२ अ}$$

* देखिए—विभूतिभूषणदत्त, दी साइंस आफ दी शुल्व, कलकत्ता, १९३२, पृ० १६६

यही इष्ट आनयन है।

यद्यपि श्रीधराचार्य का वह ग्रंथ जिससे यह नियम लिया गया है, लुप्त हो गया है, तथापि यह नियम भास्कर द्वितीय ज्ञानराज एवं सूर्यदास द्वारा दिए हुए उल्लेखों में सुरक्षित है। यह बतलाना कठिन है कि श्रीधर ने करणी के दोनों चिह्नों का प्रयोग किया अथवा केवल एक का। किंतु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महावीराचार्य (८५० ई०) ने करणी के दोनों चिह्नों का प्रयोग किया है। इन्होंने समीकरण $\left(\frac{अ}{व}\right)$ य^2=य+च का

आनयन $य = \dfrac{\frac{व}{अ} \pm \sqrt{\left(\frac{व}{अ} - ४ च\right)\frac{व}{अ}}}{२}$ दिया है।

भारतीय ग्रंथों में ऐसे बहुत से प्रश्न हैं जिनमें निम्नलिखित युगपत् समीकरणों के आनयन की आवश्यकता पड़ती है।

(१) य—र = व, य र = व (२) य+र = अ, य र = व

(३) य^2+र^2 = च, य र = व (४) य^2+र^2 = च, य+र = अ

आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने (१) और (४) के ब्रह्मगुप्त ने (१), (३) और (४) के एवं महावीराचार्य (८५० ई०) ने चारों के आनयन दिए हैं। आगे के ग्रंथों में भी ये समीकरण मिलते हैं।

समीकरण य^2—र^2 = म, य—र=न य^2—र^2 = म, य+र = प

को सभी हिंदू-गणितज्ञों ने विशेष महत्त्व प्रदान किया है। ब्रह्मगुप्त ने इस क्रिया को विषम करण कहा है।

कुट्टक

जहाँ तक मालूम है आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने प्रथम बार कुट्टक पर विचार प्रकट किया। कुट्टक ब र—अ य=च का साधारण आनयन लाने के लिए उन्होंने नियम बनाए और यह भी बतलाया कि युगपत् कुट्टकों का अभिन्न घन-आनयन लाने के लिए इसका प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए। भास्कर प्रथम (६२९ ई०) ने यह बतलाया कि कुट्टक ब र—अ य=—च के आनयन के लिए भी यही नियम प्रयुक्त किया जा सकता है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि कुट्टक ब र—अ य=—च का आनयन कुट्टक ब र—अ य=—१ के आनयन पर निर्भर है। बाद के सभी गणितज्ञों ने इन्हीं नियमों को अपनाया है। दसवीं शताब्दी के मध्यकाल में आर्यभट द्वितीय* ने इन नियमों में कुछ सुधार किए और कुछ कुट्टकों के आनयन के लिए इन नियमों को शब्दित किया। उन्होंने यह भी बतलाया कि कुट्टक ब य—अ र= + च का आनयन सर्वदा संभव नहीं है। इनके नियम आगे के ग्रंथों में भी मिलते हैं।

गणित के ग्रंथों में उपलब्ध कुट्टक के प्रश्नों से प्रायः तीन प्रकार के कुट्टक आते हैं—

(१) अ य —ब र=च

(२) $\dfrac{ब य \pm ग}{घ}$ = र

(३) अ य+ब र = ±च

कुट्टक अ य—ब र = ±१ को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इसका इतना महत्त्व था कि ब्रह्मगुप्त, भास्कर प्रथम और भास्कर द्वितीय ने इसपर अपने विचार अलग प्रकट किए। इन लोगों ने यह भी बतलाया कि कुट्टक अ य—ब र = ± च का अभिन्न-घन आनयन कुट्टक अ य—ब र = ±१ पर ही निर्भर है। अतएव यदि अ य—ब र=±१ का आनयन मालूम हो तो अ य—ब र= ±च का आनयन तुरत आ सकता है।

युगपत् कुट्टक के आनयन के नियम ब्रह्मगुप्त (१०३९ ई० और भास्कर द्वितीय (११५० ई०) में मिलते हैं। ऐसे कुट्टकों के लिए निम्नलि[illegible] उल्लेखनीय हैं।

(१) चार सौदागरों के पास क्रम से ५,३,[illegible] ८ घोड़े; २, ७, ४ और १ ऊँट, ८, २, १ और ३ [illegible] और ७,१,२ और १ बैल हैं। यदि चारों के पास बरा[बर] धन है तो प्रत्येक जानवर का क्या मूल्य होगा?

(२) वह संख्या बतलाओ जिसको $अ_1$, $अ_2$, $अ_3$, ... $अ_न$ से भाग देने पर क्रम से $ब_1$, $ब_2$ ... $ब_न$ शेष बचता है?

वर्ग-प्रकृति

समीकरण न य^2+च =र^2 तथा न य^2+१=र^2 को वर्गप्रकृति कहते हैं। ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने इन समीकरणों पर अपने विचार प्रकट किए थे। इनके आनयन के लिए उन्होंने निम्नलिखित सिद्धांतों का उपयोग किया था—

* विस्तृत विवरण के लिए देखें दत्त और सिंह, पूर्वोक्त, भाग २।

(१) यदि समीकरण $न य^2 + क = र^2$ का आनयन $य = अ$, $र = व$ हो और समीकरण $न य^2 + क^2 = र^2$ का आनयन $य = अ$, $र = व$ हो, तो समीकरण $न य^2 + क क = र^2$ का आनयन $य = अ व \pm अ व$, $र = व व \pm व अ अ$ होगा।

दूसरे शब्दों में—यदि $न अ^2 + क = व^2$ और $न अ'^2 + क' = व'^2$ हो तो $न (अ व' \pm अ' व)^2 + क क' = (व व' \pm न अ अ')$

(२) यदि समीकरण $न य^2 + क = र^2$ का आनयन $य = अ$, $र = व$ हो तो समीकरण $न य^2 + क^2 = र^2$ का आनयन $य = २ अ व$, $र = व^2 + न अ^2$ होगा।

(३) यदि समीकरण $न य^2 + क^2 = र^2$ का आनयन $य = अ$, $र = व$ हो, तो समीकरण $न य^2 + १ = र^2$ का आनयन $य = \frac{अ}{क}$, $र = \frac{व}{क}$ होगा।

यूरोप में इन सिद्धांतों का पुनरनुसंधान आयलर ने १७६४ ई० में एवं लाग्रांज ने १७६८ ई० में किया था।

समीकरण $न य^2 + १ = र^2$ का आनयन निकालने के लिए ब्रह्मगुप्त ने पहले अ, क, व के मान को प्रयोग से इस [illegible] निकाला कि $न अ^2 \pm क = व^2$ तत्पश्चात् सिद्धांत [illegible] का प्रयोग किया।

[illegible] पति¹ ने प्रथमबार आनयन $य = \frac{२ म}{म^2 - न}$ और $र = \frac{म^2 + न}{म^2 - न}$ निकाला। यहाँ पर म कोई अकरणीगत [illegible] है। यह आनयन आगे के गणितज्ञों के ग्रंथों में [illegible] बाद का है। यूरोप में इस आनयन का पुनरनुसंधान फ्रानेकल ने १६५७ में किया था।

[illegible] अभिन्न घनानयन के लिए ब्रह्मगुप्त ने समीकरण $न य^2 + ४ = व^2$ का प्रयोग किया है। उनका आनयन इस प्रकार है-$य = \frac{१}{२} अ व (व^2 + ३)(व^2 + १)$

$$र = (व^2 + २)\left\{\frac{१}{२}(व^2 + ३)(व^2 + १) - १\right\}$$

[illegible]=अ व और $फ = न र^2 + २$ का उत्थापन देने से $य = \frac{१}{२} प$ $(फ^2 - १)$ $र = \frac{१}{२} फ (फ^2 - ३)$ इस आनयन का पुनरनुसंधान आयलर ने किया था।

१—लिरो, १४, ३३

श्रीपति¹ ने यह साफ साफ लिखा है कि यदि $क = \pm १, \pm २$, अथवा ∓ ४ हो तो ब्रह्मगुप्त के नियम के अनुसार चलने पर अभिन्नायन आवेगा। किंतु समीकरण $न अ \pm क = व^2$ (यहाँ पर $क = \pm १ \pm २$ या ± ४) का आनयन लाने का कोई भी नियम उन्हें मालूम न था।

किंतु भास्कर द्वितीय (११५० ई०) ने इस समीकरण के दो अभिन्न आनयन लाने के लिए एक सरल नियम दिया है।

यह नियम 'चक्रवाल' कहलाता है। इस प्रकार भास्कर द्वितीय ने समीकरण $न य^2 \pm च = र^2$ का संपूर्ण आनयन निकालने में सफल हुए।

भास्कर द्वितीय निम्नलिखित समीकरणों के आनयन निकालने में भी सफल हुए।

(१) $अ य^2 + व य + च = र^2$
(२) $अ य^2 + व य + च = अ र^2 + व र + द$
(३) $अ य^2 + व य^4 \pm च = ल^2$
(४) $अ य^2 + व य र + च र^2 = ल^2$

भास्कर द्वितीय के ग्रंथों में अन्य समीकरण भी मिलते हैं। यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक है कि भास्कर द्वितीय ने युगपत्समीकरण —

$अ य^2 + व र^2 + च = उ$
$अ य^2 \quad व र^2 + द = इ^2$

— का भी आनयन दिया है। इन्होंने उदाहरण के लिए उपपत् समीकरण—

$य^2 + र^2 - १ = उ^2$
$य^2 + र^2 - १ = इ^2$

—को लेकर निम्नलिखित आनयन निकाले हैं—

$$य = \frac{(४ म^4 + थ^4) + त^2}{(४ म^4 + थ^4) - त^2} \quad उ = \frac{२ त (२ म^2 + थ^2)}{(४ म^4 + थ^4) - त^2}$$

$$र = \frac{४ म थ त}{(४ म^4 + थ^4) - त^2} \quad इ = \frac{२ त (म^2 - थ^2)}{(४ म^4 + थ^4) - त^2}$$

यहाँ पर म, उ और त अकरणीगत अंक हैं।

गेनोची² (१८५१) ने त के स्थान में $\frac{स}{ट}$ रखकर उपयुक्त समीकरण का विशिष्ट आनयन निकाला है। ई क्लेयर³ (१८५०) ने इसी प्रकार एक दूसरा विशिष्ट आनयन निकाला था। डूमड⁴ ने भी १९०२ ई० में उसी से आनेवाला एक तीसरा आनयन निकाला है।

(१) पूर्ववत्, १४, २२
(२) Nouv. Anu Meth 10, Do-05, 1051
(३) Nouv Ann Math 9, 116-110, 1050
(४) Ann Math Monthly 9, 232 1902,

कड़वा रोमांस

श्री राधाकृष्ण प्रसाद

ललिता के चेहरे पर सुख की बुझी हुई लौ का अंधकार था। गोरा मुखमंडल और उसपर अनवरत उठते हुए काले धुएँ। एक व्यर्थता का, एक ऊब का तनाव! ऐसे चेहरे चंचल नहीं, स्थिर-से होते हैं—'ममी'-से—'मॉडेल'-से, मानों चित्रकार ने उसे हिलने डोलने की मुमानियत की हो।

राजेश ने सोचा—ललिता ऐसी क्यों हो गई? इसी ललिता का रूप चौंका देनेवाला था। जब वह हँसती थी तब लगता था, जैसे कोई मनोरम स्वप्न हँस रहा है। उसकी मुस्कराहट भौतिक, रक्त और मांस से बने ओठों की उपज नहीं मालूम होती थी। राजेश एकटक, अपलक ललिता की मुस्कराहट देखा करता था।

ललिता ने एक बार उसे इस तरह भाव-विभोर देखकर टोका था—राजू, तुम इस तरह मुझे आँखें फाड़कर क्यों देखा करते हो?'

राजेश ने कहा था—'लल्ली, तुम इसी तरह मुस्कराती रहो। तुम्हारी हँसी मुझे बहुत अच्छी लगती है।'

ललिता नूपुरों की झनकार की तरह फिर खिलखिला पड़ी थी—'तू तो पागल है! मां तो डाँटती है कि इस तरह हमेशा 'बत्तीसी' मत निकाला कर—शरीफ की बेटियाँ इस तरह नहीं हँसतीं।'

और राजू इस उत्तर से चुप हो गया था। बाद में राजेश कवि बन गया और ललिता की स्मृति में कविताएँ लिखने लगा। छोटे-से मोफ़स्सिल शहर से जब वह बड़े शहर में आकर विज्ञान पढ़ने लगा, तब कविता हवा हो गई। उम्र के साथ-साथ बुद्धि बढ़ी और बुद्धि के साथ-साथ भावुकता का दलदल पीछे छूट गया। ललिता की याद तब आती थी जब कभी वह कोई खूबसूरत चेहरा देखता, कोई मधुर गीत सुनता या उद्दाम बहती हुई नदी को देखता। ललिता की स्मृति प्रकृति की सुंदर छटा से आबद्ध थी। आनंद और उल्लास, जीवन और गति का जैसे वह पर्याय हो। ऐसे क्षणों में वह कभी-कभी स्वयं से मानों प्रश्न करता—ललिता के लिए तुम कभी-कभी इतने बेचैन क्यों हो जाते हो? तुम ललिता को क्यों चाहते हो? और इस प्रश्न के साथ ही एक झुरझुरी उसके मन पर छा जाती थी। उसकी साँसों की गति बढ़ जाती थी और जैसे एक झिझक, संस्कारगत एक अवरोध से वह कुंठित हो जाता था। उसे क्या ललिता की गोरी देह चाहिए? पूर्ण आत्मसमर्पण? राजेश के ओठ जलने लगते और वह अपने को धिक्कारता। प्रेम का यह रूप तो अस्वस्थ है जिसमें नाले का गंदा पानी है, सरिता का अजस्र प्रवाह नहीं।

राजेश मन को बाँधकर अपनी प्रयोगशाला में जुट जाता—जहाँ केवल यंत्र और यथार्थ थे—गणित के सिद्धांतों पर ज्ञान की भित्ति थी।

× × ×

तो ललिता ऐसी क्यों हो गई?—राजेश ने सोचा—जीवन और गति से हीन—ललिता का सफेद मुर्दा सा चेहरा डर पैदा करता है—एक जुगुप्सा, एक वितृष्णा!

ललिता बोली—'राजेश भैया, तुम तो बड़े अफसर हो—सुना कि दो या ढाई हजार महीना तुम्हें मिलता है!'

राजेश ललिता के इस रूप से कब परिचित था? बोला—'हाँ लल्ली, मुझे पैसा तो काफी मिल जाता है, पर तुमने ऐसी सूरत क्यों बना रखी है? क्या हो गया है तुमको?'

ललिता के निष्प्रभ, सफेद कागज से चेहरे पर थोड़ी हरकत हुई और वह निरर्थक मुस्कान में परिणत हो गई। बोली—'तुम इसे नहीं समझोगे। पाँच बच्चों की मां हूँ—और वे सिर्फ पचहत्तर रुपए पाते हैं।'

राजेश चुप रह गया। बात और कुछ करने को नहीं थी। पूरे पंद्रह साल बाद ललिता से भेंट हुई थी। किशोरावस्था का भावुकता से भरा प्यार याद आ गया। छायावादी ढंग की वे तुकबंदियाँ जिनमें अलौकिक प्रेयसी को

चर्चा थी और जो अप्रत्यक्ष रूप से ललिता को संबोधित कर लिखी गई थीं।

राजेश यथार्थ के व्यंग्य पर मुस्कराया। उसकी कल्पना की क्या यही चरम गति थी?

ललिता ने उसी मुस्कान के साथ कहा—'तुमने मेरे पास जो प्रेम पत्र भेजा था, उसकी पंक्ति तुम्हें याद है?'

प्रौढ़ राजेश सरल बालक-सा झेंप गया, जैसे स्मृति कुरेद रही हो—'लल्ली, तुम मेरे जीवन की लालिमा हो और तुम्हारे बिना मेरा सारा जीवन निस्सार हो जायगा!'

कितना बड़ा झूठ! कीमती रेशमी टाई से राजेश की उँगलियाँ खेल रही थीं—कितना बड़ा झूठ था वह!—स्कालरशिप पाकर वह अमेरिका गया और वहाँ उसे ललिता की शादी की खबर मिली थी। उस समय वह एक अमेरिकन लड़की के प्रेम पाश में आबद्ध था। ललिता की शादी की खबर पाकर उसे कोई गम नहीं हुआ था और न देवदास की तरह वह शराब की बोतलों में डूबा था।

तो क्या उसका वह भावुक प्यार झूठा था? ...नहीं। राजेश के भीतर जैसे आलोड़न हो रहा था। जीवन के कुछ क्षण सत्य भी होते हैं और उनमें कृत्रिमता नहीं आ पाती; क्योंकि वह 'कोरा' प्यार होता है। राजेश को याद आया कि चार पंक्तियों के प्रेम-पत्र लिखने में उसने किस तरह कई रातें जागकर बिताई थीं।

ललिता ने टोका—'कितने बच्चे हैं तुम्हारे?'

'दो।'—राजेश बोला।

'अच्छा है! भगवान किसी को दो से अधिक बच्चे न दे!'

राजेश को अब असह्य हो रहा था। बोला—'लल्ली, अब मैं जाना चाहूँगा।'

ललिता बोली—'थोड़ी देर और ठहर जाओ। स्कूल से अब वे आनेवाले ही हैं।'

'नहीं लल्ली, शाम को हवाई-जहाज से मुझे दिल्ली लौट जाना है—यह तो संयोग कहो कि एक नदी-योजना के सिलसिले में मुझे यहाँ आना पड़ा और तुम्हारा पता मिल गया।' राजेश को वहाँ का वातावरण असह्य हो रहा था। कुर्सी से उठकर वह खड़ा हो गया। ललिता का एक आठ वर्ष का लड़का भौंचक हो इस नए रोबीले मेहमान को एकटक देख रहा था।

राजेश ने सौ का एक नोट निकालकर बच्चे की ओर बढ़ाते हुए कहा—'लो बेटे, मिठाई खाना।'

बच्चा ललचाई आँखों से कभी नोट की ओर देखता, कभी मा की ओर।

ललिता ने मुस्कराकर कहा—'ले लो बेटा, तुम्हारे अफसर मामा हैं। सौ की मिठाई तो हम सारी जिंदगी खाते रहेंगे!' और साथ ही एक अस्वाभाविक खिलखिलाहट गूँज गई।

राजेश को हँसती हुई ललिता की ओर देखने का साहस नहीं हुआ।



अनारकली

श्री व्रजकिशोर 'नारायण'

[अकबर की राजनर्तकी अनारकली पर लिखे गए खंड-काव्य का प्रथम अंश]

फारस की बुलबुल
चपल धवल
अकबर के नृत्य-निलय-निधि की—
चंद्रिका अमल !
बरबस कैदी बन जाते थे जिसपर
नव नयन सरल !
जब रंगमहल में
रूप-दामिनी कौंधाती
वह मधुरा
मृदु पायल की झंकार लिए
रुनझुन रुनझुन
इतराती, बलखाती, अँगड़ाती
जब चलती
तब उसकी हृद्हारी—
मुस्कान मनोहर
चुभ जाती आँखों में,
मन में, दिल में,
आत्मा विमल में
बड़े-बड़े उदासित, सौम्यचितों की !!
इस तरह महल भर में हलचल—
थी मची गुप्तरीत्या उससे !
अलि तत्पर थे
पद्याण,
भिखारी बन जाने तक !
पर कलिका—
अँगड़ाई में ही टाल दिया करती थी !
उनके प्रलाप थे भावुकता से भरे
और कातर भी !
वे व्याकुल, बेबस प्रेमी
बस, किसी तरह से पी जाते थे
प्रणय-सिंधु को !
बादशाह के डर से !!

× × ×

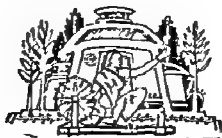
सम्राट यदपि बूढ़े थे
पर देख लिया करते जब थे
कलिका के यौवन का उभार !
झट झुकी कमर तन जाती थी !
कर मूँछों पर फिर जाता था !
दिल की धड़कन बढ़ जाती थी
उस रूपसि के जादू से !
कलिका नतमस्तक होकर भी
अधरों में थी मुस्का उठती,
सम्राट सँभल कर कह उठते—
'नादान ! व्यर्थ हँसती है !'
उस डाँट-डपट में भी थी—
कुछ दुर्बलता और रसिकता
रति लज्जा, राव, विवशता !

× × ×

चौदह का चंचल यौवन
रक्तिम कपोल
दृग मदिर लोल
उर में उरोज
जैसे शुचि सर में शिशु मराल !

गति यति रति-सी !
कटि कृश कोमल
बेसुध-सी फिरती मदमाती
यौवन-मदिरा पीकर अतीव !
तन अर्द्ध-नग्न
कच घुघराले
पट अस्त-व्यस्त
थे केलि-निरत—
पग मतवाले !
ले सुमन-सुरभि
उद्यान बीच—
कुजो में छिपती
और कभी मुस्का देती
लखकर प्रस्तर-प्रतिमा को !
वह प्रतिमा क्या थी ?
मानो सुषमा थी जड़ीभूत—
हो गई देख कलिका को !!!
पीछे से जाकर कलिका ने—
प्रतिमा के लोचन लिए मूंद
बोली हँसकर—
'हां ! बूझो ना
मैं कौन, कहां की, क्या हूँ ?'
वह सहम गई सुनकर उत्तर—
'तुम मेरे दिल की रानी !
गूंगी प्रतिमा से पूछ-पूछ
क्यों अरुण अधर कुँभलाती !
आकर मूंदो मेरे लोचन
मैं बतलाऊंगा—
कौन, कहां की, क्या हो !'
वह सहम गई
डरकर पीछे मुड़कर देख
हँसकर बोली—
'तसलीम !
किंतु आप हैं कौन ?
इस समय यहां पर कैसे ?'
प्रेमी बनकर बोला सेनप—
'मुझ को कहते हैं लोग भीम !
मैं लवपुर का वासी मधुरे !
मैं सेनानी हूँ वही प्रिये !
साकार मधुरिमा देख यहां
मैं आया था अनजान बना !
पर उपवन की देवी-सी—
तुम हो कौन ?
कि मुखरित कर देने को उद्यत हो
इस प्रतिमा का मौन ?'
'मैं राजनर्तकी बादशाह अकबर की !'
कहकर सगर्व
वह मुस्काती
चल पड़ी महल की ओर
लता-कुजो से सटती इठलाती
कुंचित चितवन से विद्ध किए सेनप को !
वह क्षण भर तक तो
रहा देखता—
उसकी गति-यति की संसृति को !
पर समझ सका वह यह किंचित—
यह माया है !
या उसकी उज्ज्वल चल छाया
है या सुंदरता की काया
था चकित नही केवल वह
कुछ व्यग्र हुआ जाता था
खुद को भूला जाता था !
बोला—'हां, हां ! सुनिए तो
क्या बिना बताए नाम-धाम
इस तरह टला जाता है !
मेहमान बुलाकर घर पर
इस तरह छला जाता है !'

शर लगा निशाने पर था !
वह ठिठक गई तत्क्षण ही,
बोली शरमा कर—
'कहिए ना !
मैं टाल रही थोड़े हूँ !
अनारकली मुझ बाँदी को कहते हैं,
मैं राज-नर्तकी बादशाह अकबर की !
पर आप भला,
क्यों बारबार इस तरह तंग करते हैं ?
क्या सचमुच मैं सुंदर हूँ ?'
प्रणयाकुल सेनप छलक पड़ा—
'सटकर सुन लो दिल से रानी,
अह ! तुम कितनी सुंदर हो !
आकर झाँको इन आँखों में
तुम कितनी रुचिर मधुर हो !
मेरे उर के अज्ञात देव
रह-रहकर मुझसे हैं कहते—
'यह तेरी है
तू इसका है !'
कलिका प्रतिमा की ओर देख
इंगितकर उसको बोल पड़ी—
'हाँ ! यह तेरी
तू इसका है !'
इतना कहकर वह भाग गई
बस ! इसी बीच में बादशाह—
आ पहुँचे कहते—'भीम सिंह !
क्या देख रहा हूँ मैं इस क्षण ?'
सेनप ने झुककर कहा—'प्रभो !
गलती मुआफ !
था भूल गया मैं तो पथ को
पर, उसको
सम्राट गरज कर बोल पड़े—
'उसकी ही तो चिंता है !
जाकर कह देना फौरन ही
वह मिले आगरे आकर
हाँ ! कह देना उससे यह भी
तुम पुन बड़े अच्छे सलीम !
आवेग अगर दो त्याग कहीं
जो ठीक नहीं
हर समय, परिस्थिति, क्षण में ।
तब तुम रोशन कर डालोगे
अकबर की इज्जत और शान !
जाओ !!!'
इतना कहकर सम्राट गए !
पर प्राण लौट आई तन में
उस डरे हुए सेनप के ।
लेकिन लवपुर का था प्रस्थान इष्ट
इसलिए विवशता और कसक,
हसरत लेकर भी रुक न सका ।
आखिर वह तो सैनिक था !
इसलिए
किले से बाहर,
सुन पड़ा शब्द 'टप् टप् !' का
जो धीरे धीरे क्षीण हुआ जाता था !!!



सिक्किम और उसके आदिवासी

श्री कन्हैयालाल मिंडा

[लद्दाख से डिब्रूगढ़ पर्यंत गगनचुंबिनी हिम-शिखाएँ भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा की शत्रियों से अटल प्रहरी रही हैं और आधुनिक युग में भी इनका प्राचीन महत्त्व ही स्थापित है, किंतु तिब्बत में कम्युनिस्ट आधिपत्य हो जाने के पश्चात इन पार्वत्य प्रदेशों की स्थिति में आमूल परिवर्तन आ गया है और इनकी स्थिति पूर्णतः परिवर्तित हो गई है। इसीके साथ-साथ इनका महत्त्व भी बढ़ गया है। भारत की सीमा से लगते हुए हिमालयी प्रदेशों को शक्ति सीमित होने के कारण उन्हें अपनी सुरक्षा की महती आवश्यकता अनुभव होने लगी है। यद्यपि प्रस्तुत प्रदेशों के साथ चिरकाल से भारत के हार्दिक संबंध रहते आए हैं, परंतु वर्तमान में उन्होंने भारत की संरक्षता भी स्वीकार कर ली है और इस प्रकार वे भारत के सीमांत प्रदेश बन गए हैं। ऐसे ही राज्यों में भारत की तिब्बत से लगती हुई उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित भारत संरक्षित राज्य सिक्किम है जो तिब्बत, नेपाल, भूटान और भारत की पार्वतीय सीमाओं का सगम-स्थल है तथा गिरिमालाओं पर पलायन करनेवाले पर्वतारोही दलों का गढ़ है। सुंदरता की दृष्टि से सिक्किम अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी पर्वतमालाएँ वनराजि से सुशोभित हैं। चोटियाँ रजतमयी हिमावलियों से सुसज्जित तथा घाटियाँ गहरी और लंबी हैं।]

सीमा, क्षेत्रफल और जनसंख्या—सिक्किम, हिमालय के उत्तर-पूर्व में कंचनजघा की छत्रच्छाया के नीचे हिम-मंडित शिखाओं एवं रम्य उपत्यकाओं के मध्य अवस्थित एक सुंदर पार्वत्य प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल २७४४ वर्गमील तथा जन संख्या १३७७२५ है जिसमें से ७२२१० पुरुष और ६५११५ स्त्रियाँ तथा १३४६८१ ग्रामीण और केवल २७४४ नगरवासी हैं। सिक्किम दो भागों में विभक्त है—उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम। उत्तर दक्षिण की लंबाई ७० मील और पूर्व-पश्चिम की चौड़ाई ४० मील है। सिक्किम राज्य में कुल ६६ ग्राम हैं तथा २८ डाक-बंगले और ३६ बौद्ध विहार हैं।

सिक्किम के उत्तर-पूर्व में तिब्बत, दक्षिण पूर्व में भूटान, दक्षिण में जिला दार्जिलिंग और पश्चिम में नेपाल राज्य है। उत्तर-पूर्वी और पश्चिमी सीमाएँ हिम-मंडित गिरि-मालाओं से घिरी हुई हैं। दक्षिण में महानदी, तिस्ता और उसके सहकारी रंगीत एवं रफू नामक प्रपात भारतीय सीमा की रूपरेखा हैं।

गिरिमालाएँ और घाटियाँ—सिक्किम राज्य से प्रशस्त होनेवाली उच्चतम पर्वत श्रेणियों में से निम्न के नाम उल्लेखनीय हैं। कंचनजघा २८१४६, सिनियोंचू २२६२०, सेमगुदकाग २३३०० कंचनझौ २०७०० सिंमू २२२६०, पंडीम २२०१०, लाचेनकाग १६६००। कंचनजघा की ऊँचाई विश्व की उच्चतम पर्वत-श्रेणियों में तीसरा स्थान रखती है। सिक्किम के उत्तर में छोटेन, निमाला, धूंमयोमू, पाहुनरी आदि पर्वत-शिखाएँ हैं तथा पूर्व में चोराला, पातोला, लक्र ला, चमकी, नाथूला, जलप ला. गीवमोची आदि घाटियाँ हैं। दक्षिण में भूटान तथा सिक्किम र.व्य की सरहद से ऋषि ला हिम शिखा है।

नदियाँ—सिक्किम की मुख्य नदी तिस्ता है जो १८१३७ फुट ऊँचे 'दोंग क्याला' पर्वत से निकली है। दोंगक्याला के दक्षिण से लाचूंग चू और उत्तर से लाचेन चू आती है। ये दोनो चुंगथाम में जाकर मिल जाती हैं। इन्हीं के सगम को तिस्ता कहते हैं। लापचे (सिक्किम के आदिवासी) भाषा में नदी को चू कहते हैं। तिस्ता की सहायक नदियों में डिक चू, रंगीत चू, ऋषि चू आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें मुख्य नदी रंगीत है और रगीत में तलूंग चू, रथूंग चू, रगवी चू, रमाम खोला और छोटा रंगीत आदि हैं।

भूगर्भ—सिक्किम के भूगर्भ में सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, शीशा, अल्मोनियम, गंधक और सुहागा आदि अनेक धातुओं की खानें भी उपलब्ध हैं परंतु कोयले की खान न मिलने के कारण अबतक इन सब खानों से समुचित लाभ नहीं उठाया जा सका है।

पैदावार—सिक्किम की उपज में प्रधानतः इलायची, आलू, धान, कोदो और कलइ दाल आदि हैं। सिक्किम का संतरा प्रसिद्ध है और यह तीन हजार फुट की ऊँचाई-

वाले पहाड़ों पर बहुतायत से पाया जाता है। सिक्किम राज्य से सतरा निर्यात करने की सबसे प्रसिद्ध मंडी रफ है। यहाँ पर रियासत में उत्पन्न अधिकांश सतरा बिकता है। लाचूंग की तरफ बड़े आकार का सुन्दर सेब पैदा होता है जो सिक्किम और दार्जिलिंग में प्रसिद्ध है। लाचीम तथा लाचूंग से कस्तूरी भी गंगटोक आकर बिकती है।

वन-सौंदर्य—सिक्किम राज्य के जंगलों में विविध भाँति के बहुमूल्य वनस्पति वृक्ष, अनेक प्रकार के फल फूल तथा जड़ी बूटियाँ पाई जाती हैं। सिक्किम को प्राकृतिक सौंदर्य का भंडार कहा जा सकता है। वन वृक्षों पर विविध रंगों के भाँति भाँति के 'सोनाखारी' नाम के फूल पाए जाते हैं। यह सिक्किम के जंगलों की ही विशेषता है। 'सोनाखारी' फूल वृक्षों की टहनियों पर ही पैदा होते हैं। इन्हें अतिरिक्त पानी या मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती। ये वृक्षों से ही अपनी खुराक पूरी करके फलते फूलते रहते हैं। सिक्किम के जंगलों में नाना भाँति की वनस्पति उपलब्ध हैं जिनमें चद्राक्ष, हरड़, आँवला, कट्टव देवदार, धूप आदि वृक्षों के नाम उल्लेखनीय हैं। भारत का भू-तत्त्व अनुसंधान-विभाग यहाँ के वनों में अन्वेषण कर रहा है और उनकी धारणा है कि उन्हें निश्चय ही कतिपय अलभ्य वनस्पतियाँ प्राप्त होंगी।



सिक्किम राज्य के राजगुरु बौध विहार का आंतरिक दृश्य

कुटीर उद्योग—सिक्किम के वासी विशेष करके खेती और व्यापार करते हैं। यहाँ के कुटीर उद्योगों में मुख्यतः ऊन के बने हुए वस्त्र, दरी, गलीचा, नाड़ा, कंबल और राइड़ी (कंबल जैसा बिछाने के लिए बनाया गया मोटा टिकाऊ वस्त्र) आदि हैं।

सिक्किम राज्य के कृषि विभाग ने परीक्षण के लिए राज्य के अनेक अंचलों में सिन्कोना (जिससे कुनैन बनती है) और तरकमेंदु ग, (जिससे ग्लुनीकरिंग तेल तैयार किया जाता है) के पौधे लगवाए हैं। आशा है कि अब सिक्किम में इन चीजों की भी अच्छी उपज होने लगेगी। श्रीनकॉफी यहाँ पर हर गृहस्थ घरों में ही लगाता है और प्राय जनता इसके पीने की अभ्यस्त है।

सिक्किम के आदिवासी—सिक्किम के आदिवासी लेपचा हैं। लेपचा लोगों का सत्रहवीं सदी से पूर्व का इतिहास उपाख्यानों एवं दन्तकथाओं से परिपूर्ण है। इनका वर्तमान इतिहास आधुनिक शासक-वंश के पूर्वज सरदार जीरकमसे के नेतृत्व में इस देश में आने के पश्चात् आरंभ होता है। यह लोग तिब्बत की चुंबी घाटी से सिक्किम में आये थे।

प्राचीन सिक्किम—वर्तमान सिक्किम राज्य संकुचित होकर केवल २७४४ वर्गमील तक ही सीमित रह गया है, परन्तु १८वीं शताब्दी से पूर्व इसकी सीमाएँ अधिक विस्तृत थीं। उस समय की सीमाएँ उत्तर में—तिब्बत की व्यापारिक मंडी पारी के मैदानों तक; पूर्व में—जलधोक नदी तक, दक्षिण में—बिहार के जिला पूर्णिया तक और पश्चिम में—अरन नदी तक थी, परंतु तत्कालीन राजा की दुर्बलता एवं असावधानी के कारण पड़ोसी राज्यों ने इसके अधिकांश प्रदेश को हड़प लिए।

तिब्बत ने उत्तर में चुंबी घाटी पर अधिकार कर लिया। पश्चिम में दार्जिलिंग जिले के अंतर्गत चाय की पैदावार के क्षेत्र कालिम्पोंग पर भूटान ने अधिकार कर लिया। बाद में उसे अंग्रेजों ने हथिया लिया। नेपाल ने सिक्किम के उस प्रदेश को अपने अधिकार में कर लिया जो इस समय उसके दो जिलों—ईलाम और धनकुटा के अंतर्गत है। दार्जिलिंग तो पहले ही ईस्ट इंडिया कंपनी को १२००० रु० वार्षिक उधार पट्टे पर दे दिया गया था। अंत में सिक्किम का केवल वह क्षेत्रफल रह गया जो कि नितांत पर्वतीय है। अतः आजकल केवल १०७००० एकड़ जमीन पर अत्यंत कठिनतापूर्वक खेती की जा सकती है। यहाँ की बहु-संख्यक जनता इसी परिश्रम साध्य भूमि की उपज पर आश्रित है। चावल, कपड़ा, नमक और तेल तथा

घर बनाने के सपूर्ण सामान सिक्किम को भारत ही से आयात करने पडते हैं। औद्योगिक एवं शैक्षणिक रूप से सिक्किम एशिया के पिछडे हुए देशों में से एक है जो कि वर्तमान मे भारत की सरक्षता पाकर उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है।

सिक्किम तिब्बत संबंध—भारत मे विदेशी आधिपत्य क पूर्व सिक्किम का राज्य-परिवार पीढियों से ही तिब्बत की चुबी घाटी मे रहा करता था। इसका प्रादुर्भाव तिब्बती रक्त से हुआ है—और चीन के पुराने शाही परिवार से सबधित है। तिब्बती कुलीन घरानों क साथ सिक्किमियों क विवाह-सबध होते थे। उन दिनो वे एक प्रकार से ल्हासा-सरकार के हाथ का खिलौना मात्र थे और विपत्ति के दिनों मे रक्षा के लिए उन्हे तिब्बत का ही मुँह ताकना पडता था। अग्रेजों ने सिक्किम के तत्कालीन शासकों क इस व्यवहार को पसद नहीं किया और वे चाहते थे कि सिक्किम अंतिम रूप से भारत में मिल जाय, परतु सिक्किम के महाराजा अधिकांश समय तिब्बत में ही व्यतीत करते थे इसलिए अग्रेजों के लिए यह चिंता का विषय था। अत उन्होंने सिक्किम के महाराजा को अपने राज्य में रहने क लिए बाध्य किया और जब वे न माने तो अग्रेजों ने उनके विरुद्ध युद्ध घोषित करते हुए महाराजा को दार्जिलिंग जिले के प्रसिद्ध नगर कुर्सियाग में नजरबद कर लिया। अत मे सन् १८८९ में महाराजा को शासनाधिकार से वंचित करके शासन की बागडोर अपने हाथों मे ले ली और राज्य सत्ता संचालन के लिए एक ब्रिटिश अधिकारी नियुक्त कर दिया। तत्कालीन महाराजा को उनके जीवन-पर्यंत शासनाधिकार से वचित रखा गया। उनके पुत्र और वर्तमान महाराजा सर ताशीनामग्याल १९१४ में शासनारूढ हुए, किंतु उन्हे १९१७ तक शासनाधिकार नहीं दिए गए। यद्यपि दिखावे के लिए उन्हे शासनारूढ कर दिया गया, किंतु सिक्किम का वास्तविक शासक ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त राजनीतिक अधिकारी ही था और इसके अनुसार सन् १९३५ में निर्मित भारत-विधान मे सिक्किम को प्रस्तावित सघ की एक इकाई माना गया था तथा सिक्किम और कूच विहार दोनों को मिलाकर भारतीय सविधान सभा मे एक संयुक्त सीट दी गई थी। अत इससे स्पष्ट है कि भारत पर अंग्रेजी शासन क दिनों अन्य रियासतों की भाँति सिक्किम भारत का प्रदेश था।



प्रसन्न मुद्रा में सिक्किमी कृषक महिला

जन आदोलन से राज्य-परिवर्तन—सिक्किम म जनता और शासन के मध्य सघर्ष आरम्भ हुआ और मार्च १९४७ में सिक्किम का एक प्रतिनिधि मडल नई दिल्ली आया तथा भारत और सिक्किम के बीच यथावत समझौता हो गया। परतु जनता सिक्किम को भारत मे विलीन कराना चाहती थी और महाराजा एसा नहीं चाहते थे। अत उन्होंने भारत-सरकार से सहायता की याचना की और तदनुसार भारत सरकार ने २ जून को अपनी सेनाएँ सिक्किम मे भेज दी और ७ जून से सिक्किम का शासन प्रबंध अपने हाथ में ले लिया। भारत की सेनाएँ वहाँ के आदोलन को कुचलने क लिए नहीं गई थीं। उनका प्रयोजन प्रजातत्रीकरण में सहायता करना था। हाँ, यदि भारत सरकार चाहती तो सिक्किमी जनता की माँग के अनुसार सिक्किम को भारत मे विलय कर लेती, किंतु भारत सरकार ने अपने मैत्री पूर्ण सबधों को दृष्टिगत रखते हुए सिक्किम को अपना सरक्षित राज्य बना लिया। यह अच्छा हुआ कि सिक्किम के वर्तमान महाराजा ने अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को लक्ष्यगत रखते हुए सिक्किम की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भारत सरकार को सौंप कर स्वायत्त-शासन पर सतोषकर लिया। आजकल सिक्किम में उत्तरदायी सरकार का गठन हो गया है। निर्वाचन की दृष्टि से राज्य को चार चक्रों मे विभाजित किया गया है। सिक्किम राज्य परिषद के कुल १७ सदस्य



सिक्किम राज्य की प्रसिद्ध ताल कुण्ड

होंगे जिसमें ६ भुटिया तथा लेपचा और ६ नेपाली ये १२ निर्वाचित होंगे एवं ५ सदस्य राज्य द्वारा मनोनीत किए जायेंगे।

भारत का संरक्षित राज्य—सिक्किम आजकल भारत का संरक्षित राज्य है। संरक्षित राज्य का अर्थ उस राज्य से है जो स्वयं अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो। अतः सिक्किम ने भारत की संरक्षता स्वीकार कर ली और तदनुसार गत ५ दिसम्बर १९५० ई० को भारत और सिक्किम के बीच एक संधि हो गई। आंतरिक मामलों में सिक्किम को स्वायत्त शासन प्राप्त रहेगा, किंतु रक्षा, वैदेशिक मामलों और यातायात पर भारत का पूर्ण नियंत्रण रहेगा। भारत सरकार सिक्किम की सुरक्षा और उसकी प्रादेशिक एकता के लिए उत्तरदायी रहेगी जब कि विदेशी मामलों का संचालन और नियमन पूर्णतः भारत सरकार द्वारा ही होगा। वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि और सिक्किम की परिस्थिति एवं उसके सैनिक संगठन को दृष्टिगत रखते हुए भारत और सिक्किम के बीच ऐसी संधि का होना परमावश्यक था। सिक्किम की सुरक्षा का अर्थ भारत की सुरक्षा है। अतः इस संधि के अनुसार भारत को ३ लाख रु० प्रति वर्ष दिया करेगा।

महत्वपूर्ण राज्य सिक्किम—सिक्किम से होकर नाथुला और जालेपला नाम के दो दर्रे जाते हैं। यह दर्रे भारत और उसके उत्तर में स्थित पार्वत्य प्रदेशों के बीच संबंध स्थापित करने के मुख्य मार्ग हैं। इन्हीं से होकर तिब्बत को भारत का व्यापार मार्ग जाता है और ल्हासा के आगे यही मार्ग अन्य देशों को चला जाता है। सैनिक दृष्टि से ये दोनों मार्ग अत्यंत महत्व के हैं। सिक्किम की राजधानी गंगटोक इसी मार्ग पर अवस्थित है। गंगटोक से भारत का राष्ट्रीय मार्ग समाप्त हो जाता है, किंतु इससे आगे पहले तो भारत सरकार खच्चर-मार्ग की व्यवस्था करती थी और डाक तार का प्रबंध भी प्राय भारत सरकार के अधीन था, परन्तु तिब्बत पर चीनी कम्युनिस्टों के छा जाने के पश्चात् परिस्थितियाँ आमूल परिवर्तित हो गई हैं और इसीलिए जब कि तिब्बतवासी कम्युनिस्ट भूटान, जिला दार्जिलिंग, कूच बिहार, जलपाईगुड़ी और सिक्किम के राज्यांतर्गत अपनी सीमा होने का दावा करते हैं—ऐसी अवस्था में उपरोक्त प्रदेशों के साथ साथ सिक्किम जैसे महत्वपूर्ण द्वार की रक्षा करना भारत के लिए अत्यंत आवश्यक हो गया है। भारत-सरकार अपने कर्त्तव्य के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक भी है तथा पिछले दिनों भारत के महामंत्री तथा प्रधान सेनापति महोदय भी सिक्किम का भ्रमण कर आए हैं।

सिक्किम-तिब्बत व्यापार—गंगटोक से तिब्बत की सीमाएँ मिली हुई हैं। तिब्बत में स्थित चीनी कम्युनिस्ट सेनाओं के लिए लाखों मन चावल चीन से आकर भारत सरकार के द्वारा सिक्किम होकर तिब्बत गया है तथा तिब्बती जनता और सैनिकों की आवश्यकता पूर्ति के लिए खाद्य सामग्री एवं कृषि और गृह-निर्माण की वस्तुओं का क्रय-केन्द्र सिक्किम बना हुआ है। सिक्किम की राजधानी गंगटोक से तिब्बत की राजधानी ल्हासा तक पक्की सड़क बन कर तैयार होनेवाली है। इस प्रकार सिक्किम का तिब्बत से सीधा संबंध जुड़ गया है और इसी कारण भारत का और भी सतर्क रहना आवश्यक हो गया है।

सिक्किम नाम की उत्पत्ति—लेपचा भाषा में सिक्किम को दे जोंग कहते हैं जिसका अभिप्राय 'धान का प्रदेश' है। सिक्किम में धान की खेती बहुतायत से होती है तथा सिक्किम के दूसरे महाराजा ने किरात जातीय लिंबू राजा की कन्या से विवाह किया था। लिंबू भाषा में नये घर को सुखिम कहते हैं। अब 'सुखिम' का अपभ्रंश होकर ही इसका नाम सिक्किम पड़ा है।

पौराणिक महत्व—नेपाली साहित्यकारों की खोज के अनुसार सिक्किम के पूर्व भाग में महारानी कुंती अपने पुत्र अर्जुन को लेकर यहाँ आई और घोर तपस्या की। अंत में उनका भूटान में स्वर्गारोहण हुआ तथा ये लोग महाभारत वन पर्व में उल्लिखित इन्द्रकील शब्द के आधार

पर वर्तमान सिक्किम को मानते हैं कि अर्जुन ने यहाँ भारी तपस्या करके किरातेश्वर महादेव को सतुष्ट और पाशुपत नाम का अस्त्र प्राप्त किया। कतिपय नेपाली साहित्यकार तिब्बत को इद्रलोक भी मानते हैं।

जलवायु—सिक्किम प्रदेश हिमालय की बाहरी एवं मध्यवर्ती श्रेणियों के बीच स्थित है। जलवायु अत्यत सुखप्रद और स्वास्थ्यवर्धक है। दक्षिणी भाग समुद्र तल से १ से ५ हजार फीट तक ऊँचा है; परतु उत्तरी भाग केवल १७ फीट। वर्षा वर्ष में १०० इच होती है। ५०० फीट तक ऊष्ण कटिबंध का मध्यम ताप-क्रम रहता है। इससे आगे कड़ाके का जाड़ा पड़ता है और पेड़ों का अभाव है। चतुर्दिक सीमाएँ हिम मडित शिखाओं से घिरी हुई हैं।

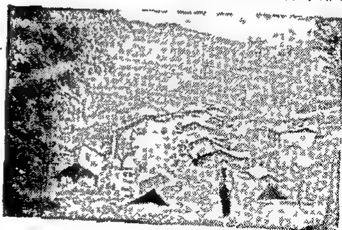
दर्शनीय स्थान—सिक्किम की राजधानी ग्यगटोक है और सिक्किम के वर्तमान महाराजा का नाम सर टासीनामग्यल है। सिक्किम के दर्शनीय स्थानों में ग्यगटोक का राजभवन, भारत सरकार के राजनीतिक अधिकारी का भवन, पब्लिक हॉल, सर टासीनामग्यल हाई स्कूल, गर्ल स्कूल, थाना, कचहरी और बौद्ध मदिर हैं। सिक्किम राज्य में गेजिंग का बौद्ध-विहार प्रसिद्ध है। रथोंग नदी के दाएँ तट पर स्थित पेमियोची में लामा लोगों के पढ़ने का सरकारी बौद्ध देवालय है। यह स्थान गेजिंग से २ मील दूर है। समूचे राज्य मे इसी देवालय की सर्वाधिक मान्यता है। राजघरानों के कार्यों का श्रीगणेश यहीं से होता है। यह राजगुरु मठ के नाम से प्रसिद्ध है।

रोग रक्षक जलागार—गेजिंग से आठ मील की दूरी पर खेचीपेरी नाम की एक बस्ती है उसके अतर्गत एक विशाल पोखरी (तालाब) है जिसकी चौड़ाई प्राय ? फरलाग और लबाई आध मील है। इसमें अथाह जल है। यह रमणीक स्थान है और चारो ओर से सुदर उपत्यकाओं से घिरा हुआ है। इस पोखरी की पहरेदार चिड़ियाँ है जो जल की स्वच्छता का प्रतिक्षण पूरा ध्यान रखती हैं। जब भी पानी में कोई पत्ता गिर जाता है तो उस चिड़िया तुरत ही चोंच से उठाकर ले जाती हैं। यह अडाकार झील अति सुदर और दर्शनीय है।

उष्ण जल प्रपात—सिक्किम राज्य के अतर्गत वैसे तो गरम पानी के अनेक झरने हैं, परतु तातापानी नामका एक विख्यात प्रपात है। इस स्रोत से गंधक का ऊष्ण जल प्रवाहित होता रहता है। यह जल इतना गर्म रहता है कि इसमें यदि कपडे में चावल बाँधकर लटका दिए जायँ तो सहज ही पक सकते हैं। यह जल अत्यत रक्तशोधक और चर्मरोगहारी है। अनेक चर्मरोगी रोग मुक्त होने के लिए यहाँ पर प्रतिवर्ष आते हैं। यहाँ जाने का सुदर मौसम शीत ऋतु है। कहते हैं कि लगातार लगभग दो महीने इसी जल मे स्नान करने तथा भोजन पकाने और पीने से कुष्ट रोग तक नष्ट हो जाते हैं। यह स्थान काफी ऊँचाई तथा दूरी पर निर्जन वन मे स्थित है। इसके समीप कोई बस्ती नहीं है। कई मीलों के बाद एक दो बस्तियाँ हैं। उनमें आगतुकों के लिए कोई सामग्री प्राप्य नहीं है। अस्तु यात्रियों को अपने साथ आवश्यक सामान ले जाना चाहिए। अधिक ऊँचाई पर होने के कारण बर्फ भी पड़ती रहती है।

सिक्किम के एक प्रसिद्ध व्यक्ति टकसारी चद्र बीर प्रधान

आपका जन्म १८३७ मे नेपाल राज्य के अतर्गत भादगाँव नगर में हुआ जिसको आजकल भरतपुर कहते हैं। आपने नेपाल से आकर दार्जिलिंग जिले में व्यापार किया। आपकी जान पहचान सिक्किम के तत्कालीन प्रधान मंत्री से हुई और सन् १८८८ में आपने सिक्किम राज्य मे ताम्बे की खान का ठेका ले लिया। उस समय सिक्किम में मजदूरों की बहुत कमी थी। इसलिए उन्होंने राज्य से खान के समीप ही बस्ती बसाने की आज्ञा ली और नेपाल से



सिक्किम की राजधानी ग्यटोक

आदमियों को लाकर वहाँ बसाया तथा इस प्रकार अपना व्यापार बढ़ाते हुए आपने सिकिम के नामथग, किताम, डुगा, रङ्‌रीनक, पाचेखाना, अबा बाजा और रागुका में अपनी जमींदारी कर ली तथा रीनक में एक बाजार स्थापित कर दिया। पाचेखानी और तुरुक की ताँबे की खानों से आपने लाखों का ताँबा निकाला और १८८२ से १८६१ तक सिकिम राज्य में प्रथम ताँबे का पैसा आपने बनाकर चलाया। इसीसे आपका नाम टक्सारी पड़ा। स्वर्गीय चद्रवीर जी के स्व० रतन बहादुर और दुर्गा शमशेर नाम के दो पुत्र हुए जिन्होंने चंद्रनवेरी के नाम से फूलों का काम आरम्भ किया जो भारत ही नहीं, अपितु जगत-विख्यात है।

सिक्किम के आदिवासी 'लेपचा'

सिकिम के आदिवासी लेपचा हैं। ये मगाल श्रेणी के हैं और हिमालय के दक्षिणी छोर पर बसी हुई आदिम जातियों में से हैं। लेपचा प्रकृति के उपासक हैं और अपना उद्गम स्थान कचनजधा पर्वत को मानते हैं। 'लेपचा' अन्य भाषियों का रखा हुआ एक अपमान सूचक शब्द है। इनका असली नाम 'रोंग' है, परतु आज कल ये लेपचा के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इन प्रकृति के पुजारियों के उद्भव की एक अत्यंत रोचक दंत कथा इस प्रकार है—



सिक्किम के बौद्ध-मदिर में अर्चना के पूर्व बाजा बजाया जा रहा है।

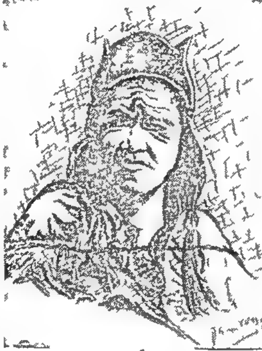
यद्यपि दार्जिलिंग और सिक्किम में, जिसे प्राचीन काल में क्रमशः दोरजेलिंग और दानजोंग कहा जाता था, बहुत से मनुष्य रहते हैं तथापि ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है जिन्होंने यहाँ के आदिवासी 'मुतन्ची रोंग कप' एवं उनके आरम्भिक काल के विषय में जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो।

एक रोचक कथा—सिकिम राज्य में 'रोंग-इट' और 'रोंगन्यू' नाम की दो प्रसिद्ध नदियाँ हैं जिन्हें क्रमशः महान रंगित तथा तिस्ता के नाम से संबोधित किया जाता है। ये दोनों सरिताएँ गिरिराज हिमालय से निकलकर सिक्किम राज्य के विभिन्न स्थानों को सींचती हुई पेशोक नामक स्थान के कुछ नीचे जाकर मिल जाती हैं। यह सगम स्थान पेजोक अर्थात जंगल कहलाता है। रोंगइट एवं रोंगन्यू दोनों लेपचा भाषा के शब्द हैं जिनका अर्थ रोंग = स्वय, इट = उत्पत्ति स्थान; रोंग = स्वयं; न्यू = माता है। भारत में आदिकाल से नदियों की मातृवत अर्चना की जाती रही है और वस्तुतः यह माँ कहलाने की अधिकारिणी भी हैं। क्योंकि नदियाँ जल देती हैं जिससे अन्न पैदा होता है और अन्न से मानव प्रतिपालित होता है। अतः भारत में जिस प्रकार गंगा यमुना और भागीरथी आदि नदियों का संबोधन करने के पूर्व माँ शब्द का प्रयोग किया जाता है; इसी मूलभूत आधार पर लेपचा भी अपना उद्गम-स्थान कचनजघा से अवतरित रोंगइट एवं रोंगन्यू से मानते हैं। लेपचाओं का ऐसा विश्वास है कि रोंगइट पुरुष और रोंगन्यू स्त्री थे और इसी मान्यता पर वे रोंगइट को पिता और रोंगन्यू को माता के रूप में अपना आदि पूर्वज और जाति मर्यादा का युगल दंपति मानते हैं। इन दोनों नदियों के सबध में लेपचा भाषा में यह कथा आदि काल से प्रसिद्ध है।

ससार के आदिकाल में इन दोनों नदियों ने अपने उद्गम-स्थान से निःसृत होते समय एक साथ समुद्र में जाने का विचार किया और तदनुसार पेशोक के पास मिल कर वहाँ से सयुक्त रूप में समुद्र में जाने का निश्चय किया। रोंगइट (पुरुष) टटको अर्थात् चिड़ियों की संरक्षता में जिसे नेपाली भाषा में पेवरा कहते हैं और रोंगन्यू (स्त्री) सर्पों के राजा पामोलव्यू की सरक्षता में संचालित हुए और शुभ मुहूर्त में प्रस्थान करके सोल्लास आगे बढे। रोंगन्यू पिया-मिलन की चाव में नागराज पामोलव्यू की सरक्षता में सचालित होने के कारण मार्ग में बिना विलम्ब किए सीधे निर्धारित स्थान पेशोक के नीचे

पहुँच गई। लेकिन रोंगइट चिड़ियों द्वारा मार्ग प्रशस्त पा रहा था, इसलिए उसे विलंब हो गया, क्योंकि जिस प्रकार चिड़िया इधर उधर उड कर चुगे पानी का जुगाड करती और विश्राम के लिए ठहरतीं उसी के अनुसार रोंगइट को भी रुक जाना पडता। अत इस प्रकार रोंगइट निश्चित स्थान पर विलंब से पहुँचा तो उसने रोंगन्यू को अपने पूर्व ही रंगरेलियाँ करते हुए पाया और जब रोंगन्यू इठलाती हुई रोंगइट की ओर बढी तो रोंगइट ने लज्जा के मारे सिर झुका लिया तथा रोंगन्यू से बात न कर सका। रोंगन्यू स्त्री होते हुए भी रोंगइट पुरुष से पहले पहुँच गई। इस हार के कारण उसने मुँह फेर लिया तथा कहा कि 'रोंगन्यू मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ और इसीलिए मैं वापस जाऊँगा।' लेकिन रोंगन्यू जिसे प्रीतम बना चुकी थी भला वह कैसे वापस जाने देती। उसने गले लगाकर कहा—'तुम बहादुर पुरुष हो। जिस मैं अपना प्राण मान चुकी, वापस कैसे जाने दे सकती हूँ। तुम्हें यह कायरपन की बातें शोभा नहीं देतीं। यदि अब तुम ही मुझे अकेली छोड जाओगे तो मेरा क्या हाल होगा? मैं तो स्त्री हूँ मिलन की चाव में सीधे दौडी आई परंतु तुम तो वीर पुरुष ठहरे। तुम्हें सुंदर वनिताओं ने स्वागतार्थ रोक लिया होगा तथा तुम सबके दुःख दर्द की कहानी सुनते आए होंगे। इसलिए तुम्हें किंचित विलंब हो जाना स्वाभाविक ही था।' रोंगन्यू के प्रशंसा भरे शब्द सुन कर रोंगइट फूला न समाया और रोंगन्यू ने विनयपूर्वक अपने आप के लिए नीचे की ओर से चलने की आज्ञा माँगी तथा रोंगइट (तिस्ता) उसके ऊपर से चलने लगा। इस प्रकार इन दोनों का यहाँ संगम हुआ और यहीं से ये एक होकर समुद्र में जा मिले।

नोट—यह कल्पना आश्चर्य की बात नहीं कि वास्तव में इस दंत कथा की सत्यता का आभास इनके संगम स्थान से होता है। जहाँ इन दोनों का मिलन हुआ है वहा स्पष्ट रूप से प्रगट होता है कि रोंगइट से रोंगन्यू लगभग १०० फीट नीचे बहती है। ग्रीष्म ऋतु में जब पानी अत्यंत निर्मल हो जाता है तब यह साफ दिखाई देता है। इनका आधुनिक नाम 'तिस्ता' है जो थिसथा नामक पद से बना है, जिसका अर्थ है रोंगन्यू का पहिले पहुँच जाना जिस रोंग भाषा में 'थी साथा नोन थी' कहते हैं।



सिक्किम के गौरव—रोंग युवक

लेपचा जाति का प्राचीन इतिहास

देजोंग व दामसांग नामक क्षेत्रों पर सिक्किम का अपना स्वाधीन राज्य था। महानदी तिस्ता का उत्तर पूर्वी हिस्सा देजोंग और दक्षिण पश्चिमी दामसांग कहलाता था और इस समूचे प्रांत पर लेपचाओं का आधिपत्य था। परंतु भूटान सिक्किम युद्ध में लेपचाओं से दामसांग कहलानेवाला भाग अर्थात् तिस्ता का दक्षिणी पश्चिमी हिस्सा छिन गया और कालांतर में तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्य ने भूटान सरकार से प्रस्तुत प्रदेश ले लिया। प्राचीन काल में लेपचाओं की अधिकृत भूमि की सीमाएँ उत्तर में हिमालय, पूर्व में भूटान, पश्चिम में नेपाल तथा दक्षिण में तितलिया अर्थात् जलपाई गुडी तक बताई जाती है।

अंगरेजों ने देजोंग नामक सुन्दर उपत्यकामय आँचल को देख कर चढाई कर दी और यह इलाका भी अपने अधीन कर लिया।

लेपचा जाति बनवासी थे, उनके पास कोई वैज्ञानिक शोध पर निर्मित हथियार तथा युद्ध के लिए आधुनिक यंत्र नहीं थे। किंतु लेपचा बहुत बहादुर, साहसी और अनुभवी शिकारी थे। तीर या बाणों से शेर, चीते, हाथी, गैंडे आदि हिंसक जानवरों का आखेट करते थे। धनुर्विद्या में पारंगत सिक्किमियों ने अपने एक-मात्र हथियार तीर-कमान से ही आक्रमणकारियों का सामना किया तथा

तिस्ता की धाराओं में ऐसी विषैली जड़ी बूटियाँ मिश्रित करदीं जिससे तिस्ता का जल विषाक्त हो गया। फल स्वरूप प्रस्तुत जल को पीनेवाले अनेक विदेशी आततायी काम आए।

लपचा जाति अपना जन्म प्रकृति के संसर्ग से होना मानती है इसलिए वह भगवान या देवता आदि के होने पर विश्वास नहीं करती और अपना एकमात्र देवस्थान कंचनजंघा (जिसको रोंग भाषा में 'चूवी' कहते हैं) मानती है और एकमात्र प्रकृति की ही उपासना करती है। इसी कारण इनका जातीयता से विशेष मोह का न रहना स्वाभाविक था और फलतः लेपचा जाति के कितने ही लोग जब जब जिस जिस तरह बाध्य किए गए अन्य धर्मों में प्रविष्ट हो गए तथा भोटियों के जीतने पर बौद्ध और अंगरेजों के अधीन होने पर मिशनरियों के प्रभाव में आकर क्रिश्चियन बन गए। आजकल सिक्किम और दार्जिलिंग में बौद्ध लेपचाओं की संख्या अधिक है तथा एक बड़ी संख्या ईसाइयों की भी है। आजकल सिक्किम की ८० प्रतिशत जनता नेपाली और शेष लेपचा तथा भोटिया आदि हैं। लेपचा लोग अपने को प्रकृति का अनुचर मानते थे और आदि काल में खेती-बारी कुछ नहीं करते थे। उनके जीवन यापन का आधार वनों में उत्पन्न कन्द मूल, जड़ी बूटी और वनस्पति वृक्ष ही थे तथा विषैली जड़ी बूटियों से तीर को तर करके जानवरों का शिकार किया करते थे।

भूटान ने अपने राज्यकाल में सैकड़ों लेपचाओं को भूटान ले जाकर लामाओं द्वारा बुद्ध-धर्म की दीक्षा दिलाई और बौद्ध-विहार निर्माण कराए तथा चित्रकारी की कला सिखाई।



बौद्धमंदिर में नमस्य बुद्ध भित्ति चित्र

लेपचाओं के बहुसंख्यक बौद्ध बन जाने का यह भी एक प्रमुख प्रमाण है कि सिक्किम राज्य में निर्मित अनेक बौद्ध-मन्दिरों का निर्माण बौद्ध लेपचाओं ने किया है। लेपचा कारीगर ही नहीं, कुशल चित्रकार भी हैं। मन्दिरों में निर्मित भित्ति चित्र उनकी कुशल चित्रकारी के विशिष्ट नमूने हैं।



सिक्किम का एक हिंडोला पुल

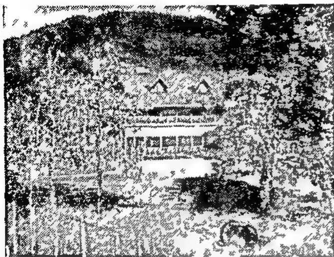
लेपचा या रोंग

लेपचा लोगों की भाषा पृथक है। लापचे एक अपमानसूचक शब्द है जिसका अर्थ थक कर बैठ जाना होता है। यह नाम नेपालियों का रखा हुआ है। लेपचाओं का ही सही नाम रोंग है। इनके संबंध में किंवदंती है कि भगवान ने बाँस और लेपचाओं को एक-साथ पैदा किया है और इस कथन के अनुसार जब तक बाँस रहेंगे तब तक लेपचा भी रहेंगे।

लेपचा जाति

लेपचा लोग पर्वत प्रदेशों में कंद मूल खाकर ही रहा करते थे। सिक्किम के वनों में सिम्मल तोंग नाम का एक वृक्ष होता है जिसकी जड़ को गरम करके ऋषि महात्मा आहार किया करते थे तथा इन्हीं वृक्षों के नीचे तपस्या भी करते थे। सिक्किम के वासी आज-कल भी इसे बहुत चाव से खाते हैं। हाट-बाजार के दिन यह जड़ खुले बाजारों में बिकती है।

इसके अतिरिक्त लीची के वृक्ष, अखरोट, कटहल, (अनानास) अमरूद, नासपाती, आड़ू, आलू बुखारा और विविध भाँति की सब्जी तथा जड़ी-बूटी होती हैं। प्रसिद्ध औषधियों में काश्मीरी कूट, चार प्रकार की पीपल, लकोपोडियम पोलन, कुटकी, मीठा और खारा चिरायता, मीठा मोरा (विष) और मजीठ आदि पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त सोयाबीन, (भुटमांस) पापर और गेहूँ भी पैदा होता है। सिक्किम के निवासियों के जीवन यापन



सिक्किम के महाराजा का राजभवन

और तत्पश्चात् तीन बार विवाह संस्कार होता है। प्रथम बार दूल्हा बरात लेकर लड़की के घर जाता है। बराती उसी दिन लौट जाते हैं और लड़का वहाँ तीन दिन तक रहता है। लेपचा भाषा में इसे 'लाकत' कहते हैं। इस प्रथम विवाह संस्कार पर लड़के के अभिभावकों की तरफ से लड़की की माँ, मामा, बुआ, भाई, बहिन और काका आदि को एक एक काँसे की थाली लोटा और उसमें चाँदी का एक एक रुपया डालकर दिया जाता है। इस रीति को लेपचा लोग 'जरजात' कहते हैं और इस रीति को पूरा करने के पश्चात् विवाह की पहली रस्म पूरी समझी जाती है। इसके पश्चात लड़का अपने घर तीन दिन ठहरकर पुन अकेला ही ससुराल जाता है और दूसरी रस्म को पूरा करने का कार्यक्रम निश्चित करके लड़का पुन अपने घर लौट आता है। तदुपरांत निर्धारित तिथि पर दूल्हा अपने पिता को घर छोड़कर अन्य कुटुम्बियों के साथ फिर ससुराल जाता है और ठाठ बाट से माल तथा शराब उड़ाई जाती है। लड़के तथा लड़की को एक थाल में भोजन करवाया जाता है और अगले दिन नव वधू को लेकर दूल्हा घर लौट आता है और इस प्रकार दूसरा विवाह संस्कार की रीति पूरी की जाती है। द्वितीय संस्कार के बिना वधू ससुराल नहीं आ सकती। इसे 'आसेक' कहते हैं जिसका प्रयोजन वधू का घर ले जाना होता है। अब तीसरी रीति शेष रह जाती है जो कि दो तीन बच्चे होने के पश्चात् पूरी की जाती है।

'अधिकांशत कृषि पर ही अवलम्बित है। इनके नाम तिम्बाछिरंग, ओदीछिरंग, मेगमार, नतीपन, रामो आदि होते हैं। इनके रीति रिवाज अधिकांश में तिब्बतियों के साथ मिलते हैं। मँगनी के लिए लड़केवाले शराब आदि लेकर लड़की के घर जाते हैं तथा स्थिति के अनुसार कुछ बर्तन भी ले जाते हैं और लड़की के बाप से लड़की देने का आग्रह करते हैं। जब माँ बाप प्रसन्न हो जाते तब उन्हें मद्य पान कराते और स्वयं करते हैं तथा पाँच सात रुपए देकर सम्बंध पक्का कर लेते हैं। हिंदू धर्म के अनुसार लेपचाओं में भी सगोत्र विवाह वर्जित है। लेपचाओं में तामसाग, कत्थक, सीमंग, रोंगाटा आदि गोत्र होते हैं।

रीति रिवाज—प्रसव के कुछ दिन पूर्व ही नवागंतुक प्राणी के स्वागत की प्रसन्नता में अनेक प्रकार के उत्सव मनाए जाते हैं और चीह या जाँड नाम का मद्य विशेष रूप से प्रस्तुत किया जाता है जो शिशु के जन्म के तीसरे दिन उगाया जाता है। इस अवसर पर जन्म उत्सव गाँव के सरपंच की प्रधानता में मनाया जाता है और वही नामकरण-संस्कार करता है। बच्चों के पढ़ाने का कोई पृथक प्रबंध नहीं होता था। माँ बाप जो जानते थे वह स्वयं ही घर में पढ़ा लेते थे।

लड़के का सम्बंध जब निश्चित कर लिया जाता है तो उसके पश्चात् लड़केवाले के गाँव का मुखिया पुन लड़की के घर जाता है



कञ्चनजंगा जिसकी पुनीत ज्योति से सिक्किम आलोकित है और सिक्किम के आदिवासी रोंग जिसे अपना उद्गम स्थान मानते हैं।

इसको 'तगगोम' कहते हैं। जिसका अर्थ 'लड़की की माँ से विदा लेना' होता है। तीसरे विवाह-संस्कार पर नव दंपति लड़की की माता को एक दुधारू गाय तथा एक वस्त्र भेंट करते हैं और मां से विदा लेते हुए गाने बाजे के साथ घर लौट आते हैं। यदि पहले विवाह के पश्चात् दुर्भाग्यवश लड़की की मृत्यु हो जाय तो जिन लोगों ने 'सिरकान' लिया था उन्हें यदि मृत लड़की की सगी बहन हो तो उसे और नहीं तो उनमें से किसी भी एक को अपनी लड़की प्रस्तुत विधुर जमाई को अनिवार्य रूप से देनी होगी। इसी प्रकार यदि लड़के की मृत्यु हो जाय तो बरात में आनेवाले बारातियों में से यदि उस लड़के का सगा भाई न हो तो किसी भी एक को प्रस्तुत विधवा लड़की को ब्याहने के लिए अपना लड़का देना होगा। इस प्रथा के अनुसार पुरुष का युवक होना ही आवश्यक नहीं-वह प्रौढ़ भी हो सकता है। अस्तु, इन प्रथाओं के अनुसार सिक्किम के आदिवासी लेपचा जाति के जन जीवन में विधवा या विधुर होने का नाम मात्र भी स्थान नहीं है। इनमें बहु-विवाह भी वर्जित नहीं है।

वस्त्र और आभूषण—लेपचा एक लम्बी, दुधारी छुरी रखते हैं जिसे लेपचा भाषा में 'बम्फक' कहते हैं। प्रतिवर्ष पौष कृष्णा अमावस्या को नव वर्ष उत्सव मनाया जाता है। ये लोग—बौद्ध धर्मावलम्बी होते हैं। शीत प्रधान देश के वासी होने के कारण ऊन-सेवी और आमिष आहारी होना इनका स्वाभाविक गुण है। सिक्किमवासियों के वस्त्र और आभूषण भी विभिन्न प्रकार के होते हैं। मुख्य वस्त्रों के नाम ये हैं—दुमप्रा प्यादो, अँगरखा तेगो, डोरे लिम्बू, हाथरेट-ट्रोम, गादो दनदेम, वच्छा-लेम्पा, ओन्ने का दमतोरो।



आभूषणों से सुसज्जित लेपचा रमणी

कतिपय आभूषणों में प्राचीनतम आभूषणों के नाम उल्लेखनीय हैं—नेकुंग, टेकुंग, सिदाब, जेत, दोलिया, पहला, कैंग, वच्छोप, जीकिस, वक, कठा आदि। वच्छोप यह एक प्रकार की लगभग डेढ़ इंच चौड़ी डेढ़ सेर वजन की जंजीर के आकार की होती है। इसे लेपचा लोग कमर में बाँधते हैं। यह चाँदी की बनी हुई होती है।

जेत—यह गोलाकार कर्णफूलों जैसी प्रायः नौ इंच लंबे (चाँदी के) सूए जैसे होते हैं। इनका लगभग आध सेर वजन होता है। स्त्रियाँ साड़ी में पिन की भांति इनका प्रयोग करती हैं।

जीकिस—यह मूँगे, नीलम, मोती तथा हीरे आदि की बहुमूल्य मालाएँ होती हैं। आजकल इनके स्थान में रुपए अठन्नी चवन्नी आदि की चाँदी की मालाएँ चल पड़ी हैं जिन्हें इस प्रदेश में 'हारी' कहते हैं।

वक—सोने या चांदी का बना हुआ और उसमें मोती-मूँगे आदि मूल्यवान रत्नों से जड़ा हुआ होता है। स्त्रियों के गले में पहनने का यह मुख्य आभूषण है।

नेकुंग—कान में पहनने के लिए झुमकों की नाईं बने हुए होते हैं। आजकल इनके स्थान में सोने के हलके २ झुमके या कर्णफूल नाम की पत्तियाँ प्रचलित हो गई हैं।

कठा—सोने के बड़े बड़े गोलाकार मनकों से बना हुआ होता है। इनके अतिरिक्त बागड़ी को बच्छे और चूड़े को चेगर कहते हैं तथा और भी अनेक प्रकार के आभूषण होते हैं। इस प्रदेश के वासी प्रकृति के अनन्य भक्त रहे हैं। इस कारण उन्हें पार्वत्य शिखरों पर प्राप्य रत्नों से ही अधिक प्रेम रहा है, जिनसे वे अपने आभूषणों में अलंकृत करते रहे हैं।

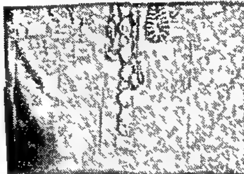
लेपचा भाषा

लेपचाओं की अपनी भाषा और स्वतंत्र लिपि है। सिक्किम के तीसरे महाराजा के शासनकाल से लेपचा भाषा की वर्णमाला प्रकाशित हुई बतलाई जाती है। लेपचा-

साहित्य सीमित ही है। हाल ही में इंग्लैंड की एक भाषा अन्वेषक संस्था ने सिक्किम के एक आदिवासी ग्रेजुएट लेपचा को वहाँ बुला कर अपनी महत्वपूर्ण खोज के अनुसार लेपचाओं की जाति और साहित्य पर विस्तृत ग्रंथ प्रस्तुत किया है। सिक्किमियों का एक शिष्ट मंडल भी भारत के प्रधान मंत्री जी से मिला था। जिनकी संरक्षता का आश्वसन तथा साधन पाकर लेपचा साहित्य दिनों दिन प्रगति कर रहा है। लेपचा-भाषा की गिनती इस प्रकार है:—

१	२	३	४	५
कात	नेत	साम	फली	फगो
६	७	८	९	१०
तरोक	कन्योक	कक्यु	कन्योत	कत्ति

इसी प्रकार ११ को काथाम १२ को नेथाम १३ को सामथाम आदि कहते हैं।



लेपचाओं के आभूषण

वार को मीइ कहते हैं यथा—सोमवार उंगसीई, मंगलवार-लोगसीई, बुधवार मीसीई गुरुवार फुंगसीई, शुक्रवार - नोंजासीई, शनिवार सकमतसीई, रवीवार-सचकसीई।

महीनों के नाम भी पृथक ढंग के होते हैं यथा — जनवरी-इत्त, फरवरी रा, मार्च मर, अप्रैल तफा, मई-करनीत, जून करसोग, जुलाई-नमकम, अगस्त गिलू, सितम्बर - नमचम, अक्टूबर - परवीम आदि बारह वर्ष का एक लसूर या युग माना जाता है। प्रत्येक युग के पृथक पृथक नाम हैं यथा—एक-लोगनाम, दो-मोननाम, तीन कच्यूलाम, चार क्लोकनाम, पाँच कष्योंग नाम। छः वग्रनाम, सात-लकनाम, आठ उग्रनाम, नौ हिकनाम, दस सदेरनाम ग्यारह सहूनाम और बारहवाँ युग स्योंगनाम कहलाता है।

सिक्किम-प्रवेश

सिक्किम के दीवान श्री जे० एस० लाल की राज्यकीय आज्ञा सं० २४० सी० पी० दिनांक २०-६-५२ के अनुसार सिक्किम राज्य में प्रवेश करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूरे पते के साथ अपना नाम सिक्किम राज्य में प्रवेश करते समय सम्बंधित—अधिकारियों को बताना चाहिए एवं होटलवालों के पास भी एक रजिस्टर रहेगा जिसमें उन्हें लिख देना चाहिए।

सिक्किम तिब्बत की सीमा पर अवस्थित है। इसलिए सिक्किम प्रवेश पर वहाँ की सरकार अत्यंत सतर्क है और अपरिचित व्यक्तियों के राज्य प्रवेश के लिए प्रतिबंध भी लगा देती है। सिक्किम सुंदर पार्वत्य-प्रदेश है और यहाँ के गावों में ग्यंगटोक, रंगली, रिनक, प्याकोंग, रंगपू, सिंगताम, डिकचू, मारवा, गेजग, टेनताम, बालुक, सोरयोंग, सोमवारी, नयाबाजार, मझीतार और मेली आदि हैं।



'गर्म राख' और औपन्यासिक यथार्थवाद

श्री राजेंद्र यादव

'ईसप्' की कहानियों में एक मेंढक की कहानी आती है। उसे जब अपने एक चर द्वारा बैल का आकार बताया गया तब उसने अपना पेट फुलाकर पूछा 'क्या बैल इतना बड़ा था?' चर ने सिर हिलाया—'नहीं, इससे बड़ा।' उसने फिर फुलाया और चर नकारात्मक सिर हिलाता रहा।

अश्कजी ने अपने दोनों उपन्यासों—'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' के प्रारंभ में आलोचकों को जिस ढंग से याद किया है उसे देखकर बरबस इस कहानी की याद आ जाती है। जैसे वह हर बार अपना आकार बदलकर आलोचकों से कहलवाना चाहते हैं कि अब तो मुझे महान मानोगे इसलिए उन्हें 'पटखनियाँ' (अश्कजी का शब्द है) खिलाने में वे ऐसा ही आनंद अनुभव करते हैं जैसा खिलाड़ी खिल्ली उड़ाने को। फिर भी यदि लेखक और आलोचकों के दाव-पेंच छोड़ दिए जायँ और केवल कृति और आलोचना को ही लिया जाय तो 'गर्म राख' के विषय में आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। कहना पड़ता है कि 'गर्म राख' के प्रति आवश्यकता से अधिक उपेक्षा दिखाई गई है। उपेक्षा इसलिए नहीं कि वह कोई ऐसा चकाचौंध उत्पन्न कर देनेवाला उपन्यास निकला था कि लोगों ने क्यों नहीं उसे हिंदी का अकेला उपन्यास घोषित कर दिया। और न उपेक्षा इसलिए कि उस पर बोलने की आवश्यकता अनुभव करते हुए भी, लोगों ने 'चुपचुप' कहकर उसके साथ वही व्यवहार किया जो 'नदी के द्वीप' के साथ हुआ। हो सकता है कि 'गर्म राख' उतना महान् उपन्यास न हो जितना लेखक का दावा है कि पाठक उसे साल में दो बार रामायण की तरह पढ़ें। और यह भी हो सकता है वह इतना निर्दोष भी नहीं कि 'कड़खना' आलोचक मुँह में रखे बादाम की तरह अपने दाँत आजमाता ही रह जाय। लेकिन यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि 'गर्म राख' में अपनी एक मौलिकता है और वह हिंदी की वर्तमान उपन्यास परंपरा से इतनी अधिक अलग है (बचाव के लिए चाहे आगे उसे फिलहाल न कहें) कि सहसा ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहती। जब हम इस मौलिकता का गंभीरतापूर्वक विश्लेषण करेंगे तब कह सकते हैं कि 'गर्म राख' चाहे हिंदी की नई उपन्यास परंपरा का एकदम निर्दोष, सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नहीं, वह उपन्यास के एक नए मोड़ का सशक्त प्रतीक अवश्य है। उसपर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए था। खास तौर पर इसलिए कि 'गर्म राख' की मौलिकता विषय वस्तु या रूप का ऐसा कोई प्रयोग कौतुक नहीं है कि अचानक पाठक को चौंका दे और वह मानने को विवश हो कि ऐसा उपन्यास पहले नहीं लिखा गया, बल्कि उसकी मौलिकता ही यह है कि वह वस्तु और रूप दोनों में इतना साधारण है कि हिंदी में उतनी सादगी देखने में नहीं आई। यह दूसरी बात है कि जब सादगी सिद्धांत का आधार लेकर आती है, वह आकर्षक होती है, प्रभविष्णु होती है, लेकिन जहाँ वह विवशता या 'सीमा' है वह दया और करुणा, कभी कभी आलोचना का भी विषय हो जाती है।

'गर्म राख' का यथार्थवाद ही वह सबसे बड़ा तत्त्व है जो उसे हिंदी की उपन्यास परंपरा से अलग और विवेच्य बना देता है। इस यथार्थवाद को समझने के लिए हमें सबसे पहले देखनी होगी 'गर्म राख' की कहानी। यह एक अत्यंत ही साधारण लोगों की कहानी है जिसमें से कुछ साहित्यिक जीव होते हुए भी असाधारण अथवा अपसाधारण नहीं हैं, असामान्य अवश्य हो सकते हैं। और चूँकि यह मध्य-वर्ग का बुद्धिजीवी वर्ग है, अतः ऐसी असामान्यता क्षम्य है। इसके साथ ही यह बहुत ही साधारण ढंग से कही गई है।

'चातक जी' ऐसे रसिक हृदय कवि हैं जो हर नई युवती की तस्वीर देखकर नई कविता बना डालते हैं, और उसे वे अपने हृदय की संपूर्ण अनुरक्ति प्रदान करने में नहीं हिचकिचाते। इस प्रकार के शत प्रतिशत कवियों की

तरह उनके पारिवारिक जीवन और 'बायरन'—जैसे इस रोमानी जीवन म कहीं कोई सगति नहीं बैठती, इसलिए अपने घर से वे सदैव कतराते हैं। अपने मित्र गोपालदास के यहाँ 'मालती' में सत्याजी की तस्वीर देखकर एक कविता बना डालते हैं। 'संस्कृति समाज' की कल्पना उनके दिमाग में आती है। जिसके द्वारा वे इस मृगनयनी के सपर्क में आ सकते हैं। 'संस्कृति-समाज' के चपरासी नुमा सैक्रेटरी के लिए याद किया जाता है जगमोहन। जगमोहन उपन्यास का नायक है। संस्कृति-समाज का काम शुरू होता है और जगमोहन सत्याजी से पहली बार मिलता है। जैसा कि इस अवस्था के किसी भी युवक के लिए असंभव नहीं है, वह आकृष्ट होता है सत्याजी की ओर और परिणाम स्वरूप दो चार बार उसके घर लस्सी पीकर जब सत्याजी उसके आत्मर्पण को निमंत्रण देने लगती हैं तब वह ठंडा पड़ जाता है। कम से कम उतनी तत्परता नहीं दिखाता जितनी प्रारम्भ में थी। उसके सपनों का केंद्र हो जाती है दुरो। फिर भी सत्याजी और जगमोहन की घनिष्ठता बढ़ती जाती है। आगे पढ़ने के लिए वे उसकी आर्थिक कठिनाई भी हल करती हैं। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उसकी मदद करती है और दो एक बार ऐसी भी परिस्थितियाँ आती हैं जब सत्याजी और जगमोहन निकटतम आते हैं। लेकिन लगता ऐसा है कि शरीर की पुकार उसे सत्याजी की तरफ लाती है और सपनों की रोशनी उसे दुरो की ओर खींचती है। दुरो प्रेम करती है हरीश से। हरीश एक सामाजिक कार्यकर्त्ता है और वह साम्यवाद मे विश्वास करता है। जीवन को देखने का उसका दृष्टि कोण इतना साफ कटा-छँटा और इतना युक्ति सगत है कि जगमोहन उसे अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं मान पाता, उल्टे श्रद्धा ही करता है। सच पूछा जाय तो प्रतिद्वंद्विता की बात भी उसके मन में नहीं आती। हरीश का व्यक्तित्व शुरू से ही उसे इस प्रकार ढँक देता है कि उसके सामने अपनी असहायता पर सिवा एक गहरी साँस लेने क वह कुछ नहीं कर पाता और मन-ही-मन दुरो के प्यार को सँजोए रखता है। उसकी भाभी के द्वारा सत्या जी की शादी के प्रस्ताव उसके सामने आते हैं जिन्हें वह स्वीकार नहीं करता और अत मे जब वह उसकी छाती से लगी स्पष्ट विवाह का प्रस्ताव करती है तो एक पत्र लिख कर वह मना कर देता है। फिर जैसे उसे चिढ़ाने के लिए वे अपनी रजामदी अफ्रीका में रहनेवाले सज्जन को दे देती है। उसे विवाह में निमत्रित करती है, और फिर कोशिश करती है कि जगमोहन पिघल जाय, लेकिन जगमोहन नहीं पिघलता। वह अफ्रीका चली जाती है तब कहीं जगमोहन उसके प्रति एक करुणा से अभिभूत हो उठता है। उस समय वह अपनी स्थिति का विश्लेषण करता है तो पाता है कि उसके प्रेम का यह आख्यान भर्तृहरि के इस श्लोक की व्याख्या मात्र बन कर रह गया है—

या चिंतयामि सतत मयिसा विरक्ता।
साप्यमन्यमिच्छति जन, सा जनापिन्योमरक्त ।।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
धिकृतां च तच मदन च इमां च मांच ।।

और तब उसे उसी प्रकार की विरक्ति घेर लेती है जैसी कभी कवि भर्तृहरि ने अनुभव की थी। लेकिन उसके इस बीमार प्रेम की तुलना में चलता है हरीश का प्रेम, जो प्रेम का एक स्वस्थ रूप सामने रखता है। वह प्रेम से विरक्त हो कर उसकी प्रतिक्रिया को रोकता है और 'फ़ैज़' की ये पंक्तियाँ

और भी तो दु ख हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा।
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा ।।

उसकी मानसिकता को एक स्वस्थ दिशा में ढालने का सकेत करती हैं। यहीं उपन्यास का अत है।

लेकिन अश्क हिंदी का पहला उपन्यासकार है (निश्चितरूप स मैं इस तारों के खेल के उपन्यासकार को नहीं ले रहा) जो कभी भी अपने उपन्यासों की कहानी को वर्ग समाज और तत्कालीन परिस्थितियों से एक दम काटकर अपने पात्रों में उनके ड्राइंग रूमों, कमरों या रेल के डिब्बों में होने हुए भी केवल उन तक सीमित नहीं रखना जानता। दिल्ली के प्लेटफार्म पर एक दूसरे को विदा देते हुए रेखा और भुवन जैसा वाटर टाइट खोल आप को अश्क में नहीं मिलेगा। वह हर समय आपको अनुभव कराता रहेगा कि ये ऐस लोगों की कहानी है जो आदमियों के बीच में रहते हैं जिनके कुछ सामाजिक सबंध और संपर्क हैं, स्तर है और स्थितियाँ हैं और उनका जीवन 'नदी के द्वीप' का जीवन नहीं है, जहाँ क्रूसो और गुड फ्राइडे के अलावा और कोई हो ही न। अपने बहुत स मित्रों की तरह मेरा भी दावा है कि एक शहर अपनी

अधिकतम विशेषताओं के साथ किसी भी उपन्यास में अभी तक शायद ही इतना मुखर हुआ हो जितना लाहौर 'गर्म राख' में हुआ है। यह इसलिए नहीं कि अश्क ने लाहौर की पूरी फोटोग्राफी या नक्शा बयान कर दिया है। नहीं, वहाँ की भीड़ भाड़, वहाँ की धूल धक्कड़, कहकहे, गंदगी, भैंसों की पूछों से उछलती हुई कीचड़, स्त्री पुरुष, पंजाबी गालियाँ और सबोधन सब कुछ इतने सजीव और उभर कर आए हैं कि जब आप उपन्यास समाप्त करते हैं तब लगता है जैसे लाहौर के उसी वातावरण में रह कर आ रहे हों। यही वजह है कि प्रस्तुत उपन्यास में जगमोहन के साथ शुक्लाजी, कवि चातक, हरीश, बसत, प्रोफेसर धर्मदेव शास्त्री से लेकर दर्जनों छोटे मोटे चरित्र अपनी विशेषताओं सहित आए हैं, जो कहानी के वातावरण में आवश्यकतानुसार रंग भर जाते हैं। ये पताका और प्रकरियाँ हमें प्रेमचंद की उपन्यास शैली की याद दिला देती हैं—जहाँ एक से अधिक कथाओं को एक साथ चलाने का प्रयत्न किया गया है—खास तौर से हरीश और हुरो की कहानी जो कवल जगमोहन क बीमार और 'छिपकिली' से प्रेम की तुलना में लाई गई है।

बहुत काफी और कहीं-कहीं अत्यंत साधारण अंतर होते हुए भी सामान्य पाठक 'गर्म राख' और 'गिरती दीवारें' की कहानी में अधिक अंतर नहीं कर पाता। कभी-कभी तो लगता है कि वह केवल जरा सा परिवर्तन करके एक ही कहानी सुने जा रहा है। उसके कुछ मुख्य कारण ये हैं—

'गर्म राख' की कहानी उसी वर्ग के लोगों की और लगभग उसी ढंग से कही गई कहानी है जिस प्रकार की 'गिरती दीवारें'। दोनों में स्थान अर्थात् लाहौर की जिंदगी भी उसी ढंग से प्रस्तुत की गई है।

दोनों का काल भी लगभग एक ही दशक में आता है जब कि उस वर्ग या स्थान की मौलिक या बाह्य परिस्थितियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता।

दोनों के पात्र—प्रमुख पात्र—सामाजिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत, रुचि और मानसिक बनावट के लिहाज से अधिक दूर के नहीं लगते। चेतन की रामेच्छा नीला को खा गई और जगमोहन की महत्वाकांक्षा सत्या को। फलतः एक रगून भेज दी गई और दूसरी अफ्रीका चली गई। कहानी के इस परिवर्तन के अलावा जगमोहन के चरित्र को मानसिक रूप से लेखक स्वय भी चेतन से अलग नहीं कर पाया है। यह प्रकाशक और लेखक की सावधानी के बावजूद भी जगमोहन के बदले में प्रयुक्त किए गए पृष्ठ ४८ पर 'चेतन' शब्द से जाना जा सकता है। प्रोफेसर स्वरूप और कवि रामदास का शोषण इत्यादि कई ऐसी बातें हैं जो बार-बार याद दिला देती हैं कि इन दोनों का लेखक एक ही है।

यों 'गर्म राख' और 'गिरती दीवारें' दोनों पर राय देना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि दोनों अभी है। जगमोहन तो व्यक्तिगत स्तर से उठकर कर्मक्षेत्र किनारे पर आया ही है जहाँ से जीवन का अस प्रारभ होता है। इस तरह उसे 'हफ वाल्पोल' के प्रेल्यूड टू एडवेंचर (अभियान की भूमिका) किसी विशाल उपन्यास की भूमिका ही स्वीकार सकता है। लेकिन जो है उस पर विचा आवश्यक है।

तो 'गिरती दीवारों' से 'गर्म राख' साधारण दृष्टि में एक होते हुए भी, कई बातों में आगे है ये पीछे।

'गर्म राख' के प्रमुख पात्र तीन हैं—जगमोहन और हरीश। जगमोहन एक ऐसा पात्र है जिसके लेखक ने भरसक कोशिश की है कि वह जरा असाध न बने, वह तत्कालीन निम्न मध्यवर्गीय युवकों के चरि प्रतिनिधि या टाइप रहे। वह साधारण मध्यमवर्ग की घु भरी परिस्थितियों में बढ़ा पला है—वही परिस्थितियाँ, संस्कार, वही छाप, कमजोरी और विशेषताएँ लिए हुए जिनमें ऊँचे स्वप्न और स्वल्प साधन रहते हैं। फल वह मानसिक विकृतियों और ग्रंथियों का शिकार है। जीव के संघर्ष तथा आर्थिक प्रतियोगिता या सामाजिक रुकावटों

* पृष्ठ—११६ जगमोहन मध्यवर्ग के उन लाखों युवकों में से एक था जो बचपन में बच्चे और जवानी में युवक नहीं होते, बचपन से ही जिनपर प्रौढ़ता का रंग चढ़ जाता है, जो एक कदम आगे रखते हैं तो दो बार सोचते हैं फिर पीछे रख लेते हैं। और कई बार इसी आशा-आकांक्षा में जिन्दगी के दिन पूरे कर देते हैं। जिनके बचपन में न खिलवाड़ीपन होता है न जवानी में मन्हड़पन।

ने जिसकी हर महत्वाकांक्षा के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा दिया है। वह खुलकर हँस नहीं सकता, रो नहीं सकता, जो उसकी प्रतिभा, व्यक्तिगत रुचि सभी को दिन रात कुचलती रहती है। ऐसी एक मानसिक घुटन उसके दिमाग में घर कर गई है और जिसने उसके अत्यंत स्वाभाविक संबंध, प्रेम को भी एक अपराध या पाप की तरह स्वीकार करने को विवश कर दिया है। राधा और कृष्ण का प्रेम, शकुन्तला और दुष्यंत का प्रेम, नल दमयंती का प्रेम उसके लिए स्वप्न और स्पृहा की वस्तु बनकर शुरु गई हैं। बचपन में सब कुछ भूलकर खेलना और है। जैसे सब कुछ भूल कर प्रेम करना भी वह नहीं जान असंभव। वह एक निहायत कमजोर आदमी की तरह और परिशो रह जाता है। कैसा था 'व्रासकी' का प्रेम जब सत्यान्ना' के लिए सब कुछ छोड दिया। और अन्ना ? तन वह ट देवता जैसे पति और कलेजे के टुकड़े को छोड़कर नहीं दिखा। किस प्रेम में अंधी थी? कैसा था नेख्लीदोफ हो जाती का ज्वार जिसने साधारण नर्तकी नटाशा के लिए घनिष्ठता व जाना स्वीकार कर लिया। यह सब आज आर्थिक व हो पाता? य" क्यों आज वीरबहूटी की तरह रूप से तुअपने में सिमट जाता है, अपने ही अंदर घुटन परिस्थितियाँ है और हमेशा सिर झुका कर चलता है दबा निकटतम सा रहता है। भरी सभा में बढ़कर जयमाला पुनार रनेवाली प्रीति या लड़ाई के मैदानों में तलवारों रोशनीया में किलककर हरण करने और हो जाने का हरीश र—यह सब आखिर गया कहाँ? आज तो—

सं दिव्य कली सी यह मुहब्बत
उ८ आज के युग की लजीली।—
सगर —भीरु
पात अपने नाम से जो सिमट जाए
प्रि
क मिर के आच्छन्न कोनों और अंतरों से सरक कर
झाँकती है।

प्रस्तुत से वह समझौता नहीं कर पाता और अप्रस्तुत उसे मिल नहीं पाता। यह उसके प्रेम की ट्रेजेडी है क्योंकि प्रस्तुत को वह झुठला नहीं पाता। दुरो उससे बहुत दूर थी, पर सत्या जो नितांत निकट थी, और अपनी निकटता की याद वह उसे दिलाए रखना चाहती थी (पृष्ठ २१०) उसे न जाने क्यों यह भ्रम हो गया है कि यह नारी जो इतने दिनों से उसके गिर्द मकड़ी का जाला बुने जा रही है, उसकी सारी प्रतिभा का रक्त चूस जायगी। एक अनचाहे संग को निभाने के लिए वह बाध्य हो जायगा और उसे जीवन भर बाध्य रहना पड़ेगा। (पृ० ५०८) इसीलिए शायद उनके लिए उसके हृदय में प्रेम न था। होता भी ■ विवाह करने की उसकी स्थिति न थी। (पृष्ठ ३२३) वह साफ अपने पत्र में सत्याजी को लिख देता है—'मुझे यदि आपसे प्रेम होता तो मैं इतना परेशान न होता। पर मुझे आपसे प्रेम नहीं है। शायद आप समझें चूँकि आपने आत्मसमर्पण कर दिया, इसलिए आप मेरी नजर में गिर गई हैं और मैं आप से घृणा करने लगा हूँ। मैं आपसे घृणा नहीं करता (पृष्ठ ४५३) और यही नहीं कि उसके अपने प्यार का उतार सदैव उतार पर रहा चढ़ाव उसने देखा ही कहाँ है। (पृष्ठ ५०१) वह कभी-कभी सोचने लगता है 'यह कैसा प्रेम है जो आदमी को सबकुछ भुलाकर अपने में तल्लीन कर लेता है। उसके प्रति सत्या का और हरीश के प्रति दुरो का प्रेम भी क्या वैसा नहीं है? स्वयं उसे क्या वैसा प्रेम नहीं होता? दुरो से उसे प्रेम ही सही, पर क्या वह उसी प्रकार अंधा है, उन्मादी है जैसा किट्टी के प्रति लेविन का और व्रासकी के प्रति अन्ना का? (पृष्ठ ५००) और इसी उलझन में उपन्यास को गति मिलती है। जगमोहन कवि है, लेकिन जीवन के हर पहलू की तरह कविता के प्रति भी वह ईमानदार नहीं है। प्रेम के विषय में उसका कहना है—'वास्तव में समाज की वर्तमान व्यवस्था में प्रेम करते हुए भी उसे निबाहना बड़ा कठिन है। मानव की सबसे पहली आवश्यकता पेट की भूख की है। भरे पेट और फालतू समय-वाला वह निधड़क और बेधड़क प्रेम कहाँ? हमारे निम्न-मध्यवर्ग में तो और भी नहीं—भूख के बाद प्रेम का नम्बर आता है। (पृष्ठ २०८) ऐसी स्थिति में कविता उसके लिए एक नशे की चीज है—हृदय की पुकार नहीं।' जिस प्रकार आदमी चिंताओं से मुक्त होने के लिए नशा सेवन करने लगता है, मैं कविता ले बैठता हूँ। मस्तिष्क एकाग्र होकर चिंता मुक्त हो जाता है। (पृष्ठ २३०)

और उसके बीमार प्रेम की नायिका हैं सत्याजी जो मकड़ी के जाल की तरह उन्हें चारों तरफ से उसे बाँधती हैं वह उनके जोंक सरीखे प्रेम से हर समय भागता है। वे धीरा नायिका हैं—जल्दी किसी काम में नहीं करना

ने जिसकी हर महत्त्वाकांक्षा के आगे एक प्रश्न चिह्न लगा दिया है। वह खुलकर हँस नहीं सकता, रो नहीं सकता, जो उसकी प्रतिभा, व्यक्तिगत रुचि सभी को दिन रात कुचलती रहती है। ऐसी एक मानसिक घुटन उसके दिमाग में घर कर गई है और जिसने उसके अत्यंत स्वाभाविक सबंध, प्रेम को भी एक अपराध या पाप की तरह स्वीकार करने को विवश कर दिया है। राधा और कृष्ण का प्रेम, शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम, नल-दमयंती का प्रेम उसके लिए स्वप्न और स्पृहा की वस्तु बनकर रह गई हैं। बचपन में सब कुछ भूलकर खेलना और है। जैसे सब कुछ भूल कर प्रेम करना भी वह नहीं जान असंभव। वह एक निहायत कमजोर आदमी की तरह और परिगो रह जाता है। कैसा था 'आसवी' का प्रेम जब सत्याग्रह' के लिए सब कुछ छोड़ दिया। और अन्ना? तब वह ट देवता जैसे पति और कलेजे के टुकड़े को छोड़कर नहीं दिखा। किस प्रेम मे अंधी थी? कैसा था नेख्लीदोफ हो जाती का ज्वार जिसने साधारण नर्तकी नटाशा के लिए धनिष्ठता व जाना स्वीकार कर लिया। यह सब आज आर्थिक व हो पाता? वह क्यों आज वीर-बहूटी की तरह रूप से उअपने में सिमट जाता है, अपने ही अंदर घुटन परिस्थितिया है और हमेशा सिर झुका कर चलता है, दबा-निकटतम सा रहता है। भरी सभा में बढ़कर जयमाला पुनार रनेवाली प्रीति या लड़ाई के मैदानों मे तलवारों रोशनीया में किलककर हरण करने और हो जाने का हरीश र—यह सब आखिर गया कहाँ? आज तो—

सर् दिव्य कली सो यह मुहब्बत
उ॰ आज के युग की लजीली।—
सपर —मौन
पात अपने नाम से जो सिमट जाए
प्रति
क॰ तिमिर के आछन्न कोनों और अंतरों से सरक कर
झाँकती हैं।

प्रस्तुत से वह समझौता नहीं कर पाता और अप्रस्तुत उसे मिल नहीं पाता। यह उसके प्रेम की ट्रेजेडी है क्योंकि प्रस्तुत को वह झुठला नहीं पाता। दुरो उससे बहुत दूर थी, पर सत्या जो नितांत निकट थी, और अपनी निकटता की याद वह उसे दिलाए रखना चाहती थी (पृष्ठ २१०) उसे न जाने क्यों यह भ्रम हो गया है कि यह नारी जो इतने दिनों से उसके गिर्द मकड़ी का जाला बुने जा रही है, उसकी सारी प्रतिभा का रक्त चूस जायगी। एक अनचाहे संग को निभाने के लिए वह बाध्य हो जायगा और उसे जीवन भर बाध्य रहना पड़ेगा। (पृ० ५०८) इसीलिए शायद उनके लिए उसके हृदय में प्रेम न था। होता भी तो विवाह करने की उसकी स्थिति न थी। (पृष्ठ ३२३) वह साफ अपने पत्र में सत्याजी को लिख देता है—'मुझे यदि आपसे प्रेम होता तो मैं इतना परेशान न होता। पर मुझे आपसे प्रेम नहीं है। शायद आप समझें चूँकि आपने आत्मसमर्पण कर दिया; इसलिए आप मेरी नजर में गिर गई हैं और मैं आप से घृणा करने लगा हूँ। मैं आपसे घृणा नहीं करता (पृष्ठ ४५३) और यही नहीं कि उसके अपने प्यार का ज्वार सदैव उतार पर रहा चढ़ाव उसने देखा ही कहाँ है। (पृष्ठ ५०१) वह कभी-कभी सोचने लगता है 'यह कैसा प्रेम है जो आदमी को सबकुछ भुलाकर अपने में तल्लीन कर लेता है। उसके प्रति सत्या का और हरीश के प्रति दुरों का प्रेम भी क्या वैसा नहीं है? स्वयं उसे क्या वैसा प्रेम नहीं होता? दुरों से उसे प्रेम ही सही, पर क्या वह उसी प्रकार अंधा है, उन्मादी है जैसा किट्टी के प्रति लेविन का और आसकी के प्रति अन्ना का? (पृष्ठ ५००) और इसी उलझन में उपन्यास को गति मिलती है। जगमोहन कवि है; लेकिन जीवन के हर पहलू की तरह कविता के प्रति भी वह ईमानदार नहीं है। प्रेम के विषय में उसका कहना है—'वास्तव में समाज की वर्तमान व्यवस्था में प्रेम करते हुए भी उसे निबाहना बड़ा कठिन है। मानव की सबसे पहली आवश्यकता पेट की भूख की है। भरे पेट और फालतू समय-वाला वह निधड़क और बेधड़क प्रेम कहाँ? हमारे निम्न-मध्यवर्ग में तो और भी नहीं—भूख के बाद प्रेम का नम्बर आता है। (पृष्ठ २०८) ऐसी स्थिति में कविता उसके लिए एक नशे की चीज है—हृदय की पुकार नहीं।' जिस प्रकार आदमी चिंताओं से मुक्त होने के लिए नशा सेवन करने लगता है, मैं कविता ले बैठता हूँ। मस्तिष्क एकाग्र होकर चिंता-मुक्त हो जाता है। (पृष्ठ २३०)

और उसके बीमार प्रेम की नायिका हैं सत्याजी जो मकड़ी के जाले की तरह उन्हें चारों तरफ से उसे बाँधती हैं वह उनके जोंक सरीखे प्रेम से हर समय भागता है। वे धीरा नायिका हैं—जल्दी किसी काम में नहीं करना

नहीं चाहतीं, अधीर होकर भाग उठना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। बस कभी आवश्यकता पड़ने पर जरा तेज तेज चल लेती हैं, कभी जमाव और घुटन आ जाते हैं तो उन्हें पिघलने देना चाहती हैं। उनकी कोई महत्वाकांक्षा नहीं है। अंत में यह रहस्योद्घाटन कि वे एक कुमारी के गर्भ से उत्पन्न हैं, जगमोहन को उसी स्वप्न भंग की अवस्था में छोड़ जाता है जिसमें गोरा अपने आप को पाता है, जब वह जान पाता है कि जीवन भर भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन और भारतीयता की हर बात का पुजारी वह स्वयं एक अंग्रेज माँ-बाप की संतान है। जहाँ गोरा एक मानवता के धरातल पर अपने आपको पाता है वहाँ जगमोहन की उनके प्रति तटस्थता इस घटना के बाद एक करुणा में बदल जाती है। और वह निर्णयात्मक कदम उठाता है कि सत्याजी से शादी नहीं करेगी।

कहानी कहने की उत्सुकता 'रागेय राघव' की कला को खाये जाती है और अपने उपन्यास में आनेवाली हर नई कहानी को वे बड़ी निष्ठा से बयान करने लगते हैं। पिछले परिच्छेद की कहानी से चरित्र छूटकर कहाँ गए, क्या हो गए, उसका उन्हें ध्यान नहीं रहता, काफी देर बाद ध्यान आया भी तो पात्र, काल, स्थान, नाम एक होते हुए भी सब कुछ बिल्कुल नया अपरिचित होकर सामने आता है। वही कुछ ढंग अपने चरित्रों के प्रति अश्क का है। अच्छाई यह है कि एक के बाद एक नए पात्र का परिचय कराते हुए भी अश्क को अपने हर नए पात्र की विशेषता का ध्यान रहता है। 'चातक'जी आते हैं तो लगता है कि लेखक 'चातक' जी को ही उपन्यास का नायक बना रहा है लेकिन 'चातक' जी पाठक को पहुँचा देते हैं जगमोहन तक, जगमोहन जाता है हरीश तक और लेखक के अनुसार उपन्यास समाप्त करके हम देखते हैं कि हरीश और दुरो उपन्यास के नायक नायिका हैं।

'हरीश' को लेखक ने भगवान बुद्ध का अवतार बना कर प्रस्तुत किया है। एक रात उन्हें जैसे बोध हुआ कि यह सभी व्यवस्था कैसी है—उन्हें पता चल गया कि उनके पिता कैसे रुपया कमाते हैं। और सहसा उन्हें उस सारी की-सारी व्यवस्था से घृणा हो आई। उन्होंने फैसला कर लिया कि वे उसका अंग न बनेंगे। फिर तो हर जगह वे उपन्यास में विश्व कोष की तरह सामने आते हैं, हर प्रश्न का सही और स्वस्थ दृष्टिकोण से उत्तर उनके पास है। उनके जीवन का हर पहलू जैसे निश्चित है कि किस समय वे क्या करेंगे। जरा प्रेम हृदय में आया तो पीठ थपथपा देंगे, नहीं तो लेक्चर झाड़ देंगे। अश्क ने 'गिरती दीवारें' की भूमिका में लिखा था—'बड़े-बड़े दार्शनिकों ने जीवन की भट्ठी में तप कर जो निष्कर्ष निकाले हैं उन्हें बटोर कर उपन्यास के इस या उस पात्र के मुँह में भर देना कठिन नहीं है, पर मैंने यही अच्छा समझा कि अपने सामाजिक जीवन के जिस कूड़े कचरे की सफाई मैं चाहता हूँ अथवा जिसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना मुझे अभीष्ट है, उसको यथार्थता के साथ व्यक्त कर दूँ और पाठकों को निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतंत्र छोड़ दूँ।' (गिरती दीवारें पृष्ठ १३) काश! ये वाक्य उन्हें 'गर्म राख' लिखते समय भी याद रहते। इस उपन्यास में जैसे वे बहुत काफी अधीर हो उठे हैं।

हरीश ही क्यों 'गर्म राख' का हरेक पात्र एक सेट चरित्र लेकर आया है, विकास किसी का नहीं होता। जगमोहन, सत्या, दुरो, हरीश, चातक सबके बने-बनाये चरित्र हैं, जिनसे वे जरा भी इधर-उधर नहीं हटते। इस लिहाज से 'गिरती दीवारें' अधिक सफल है। 'गर्म राख' की तरह हर चीज उसके पात्रों के दिमाग में तय नहीं है। जगमोहन ही का उदाहरण लें तो उसके चरित्र की सबसे बड़ी कमजोरी या असफलता यह है कि उसके हृदय में कुछ महत्वाकांक्षाएँ ही नहीं हैं—वह कुछ नहीं करना चाहता। उसने तो 'जीवन को जाड़े की रात के भीगे कंबल की तरह लिया है, न जिसे छोड़ते बनता है न रखते।' 'चेतन' जैसे कवि, चित्रकार, लेखक, संत, संगीतज्ञ सब कुछ बनना चाहता है, जगमोहन कुछ भी नहीं। उसके कुछ ऐसे सपने भी नहीं हैं जो सदैव उसके आगे-आगे भागते रहे हों और उन्हें पकड़ने के लिए वह समाज से संघर्ष लेता रहा हो—कम से-कम छटपटाता तो रहा ही हो। इस लिहाज से चेतन की असफलताएँ, चेतन का शोषण, चेतन की मस्ती, सपने, नीला का विवश बलिदान—सब कुछ अधिक मानवीय है, अधिक हृदय को छूता है और उसी के अभाव में 'गर्म राख' का हर एक पात्र जैसे बुझा-बुझा कठपुतली सा लगता है।

आश्चर्य यह देखकर होता है कि जिस यथार्थ के आग्रह ने अश्क को जगमोहन जैसे 'साधारण' पात्र को

कल्पना दी हरीश जसे पात्र के समय कहाँ चला गया था। यदि साहित्य की निजाव परिभाषा को ही लें तो माणिक मुल्ला और चदर के स्रष्टा श्री धर्मवीर भारती के नपुसक पात्रों के कटघरे का सबसे अच्छा उदाहरण जगमोहन है और जैसा वे चाहते हैं कि एक अधिक स्वस्थ और सतुलित दृष्टिकोण अपना कर अपने नायक की इस मानसिक नपुसकता का परिहार कर उसे उलझन और आत्म विश्वास से बचा सकनेवाले सबल "नायक की तरह हरीश को रखा जा सकता है" जो इन दो युगों के सधि-काल में अपने उत्तरदायित्व को निभा सके और युग की समस्त चुनौतियों को स्वीकार कर सके, लेकिन लगता है आलोचना के सम्पादकों को साहित्य में गतिरोध लिखते समय न तो 'गर्म राख' की याद आती है और न भाषा के सिलसिले में नागार्जुन की।

खैर, बात यहीं तक होती तो ठीक था। हरीश के रूप में आज के समय के अनुसार ऐसा पात्र मिल ही गया था जो 'पथ के दावेदार' के 'सव्यसाची' की तरह विश्व उपन्यास के पात्रों में छाए नपुसकत्व के लिए एक 'सौ मेघों के गर्जन और सौ वज्रों की चोट वाला' जवाब होता।* लेकिन उसे स्वीकार करने में भारती को बाधा वही पड़ सकती है जो उन्हें रेल्फ फाक्स के साथ पड़ती है—अर्थात् राजनीतिक मूल्याकनों से लेखक का गहरा मतभेद। (वस्तुतः 'विश्व उपन्यास नायकों में 'पुसत्व-हीनता' वाला लेख लिखते समय उन्हें कृतज्ञता ज्ञापन सबसे अधिक रेल्फ-फाक्स के प्रति ही करना चाहिए था, खास तौर से उपन्यासों में 'नायक की मृत्यु' वाले अध्याय के लिए।)

राजनीतिक मूल्याकनों के मतभेद की बात न भी रखी जाय तो सच बात यह है कि आज के युग में वीर पूजा युगवाले न तो ऐसे कड़कदार नायक की वकालत की जा सकती है और न अपनी ही दार्शनिकता में उलझे रहनेवाले चद्रनाथ (पथ की खोज) के पिता डा० देवराज के इस कथन को ही स्वीकार किया जा सकता है कि श्रेष्ठ उपन्यासों के अधिकाश नायक विशेष कर्मठ नहीं होते और जिसे उचित ठहराने के लिए वे भारती की उक्त स्वयंसिद्ध कसौटी को आज की आलोचना के लिए खतरा बताते हैं (आलोचना अक ७)। खतरा तो वास्तव में वह तब होता जब भारती ने उसे गंभीरता-पूर्वक लिखा होता। अपने अन्य साहित्यिक मित्रों की तरह जो इलाहाबाद की साहित्यिक प्रगति को हिंदी साहित्य की प्रगति कहकर अक्सर प्रस्तुत किया करते हैं, उन्होंने भी तीन फ्रांसीसी, तीन अंगरेज और तीन (ठीक तीन ही) हिंदी उपन्यासों के आधार पर विश्व उपन्यास-नायकों की पुस्त्वहीनता का निदान करके एक फतवा (नुसखा) दे डाला है।

× × ×

अश्क के दोनों पात्रों—हरीश और जगमोहन को (इसमें भी पहले को अधिक) किन्हीं अशों में असफल पात्र कहा जा सकता है। हरीश के चरित्र में तो अश्क के ऊपर इतना अधिक आदर्श सवार हो गया है कि 'गिरती दीवारें' में स्वीकार किए गए एक अच्छे सिद्धात को वे चाट गए हैं और जान-बूझकर वही गलती कर गए हैं जिसके बारे में मार्गरेट हार्कनेस को एँगिल्स ने उसके उपन्यास के विषय में लिखा था—'कलाकृति में लेखक के विचार जितने ही अप्रत्यक्ष हों उतना ही अच्छा। लेखक के विचारों (की बोझिलता) से बचकर भी (कृति की) वास्तविकता अपना उद्देश्य पूरा कर सकती है। इसका मतलब यह नहीं कि जिक्र आ जाने और आवश्यकता पड़ने पर सिद्धातों की बात कहना - मात्र ही सिद्धात बूझने की मशीन हो जाता है। (यह किसी-किसी अवसर पर अमृतराय में भी पाया जाता है) लेकिन उसी अनुपात से उसे सक्रिय भी दिखाना आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना व्यक्तित्व पूर्ण नहीं होता।*

दूसरी ओर जगमोहन को साधारण बनाने के चक्कर में उसकी उसी तरह हत्या कर डाली है जिसके लिए रेल्फ फाँक्स ने सकेत किया है—'आज के उपन्यासकार ने अत्यत सामान्य लोगों को अत्यत सामान्य परिस्थितियों में दिखाने की धुन में नायक के व्यक्तित्व का निर्माण करना

* क्राति की चेतना तथा नए सृजन के बल की जितनी अभूतपूर्व अभिव्यक्ति सव्यसाची के चरित्र में हुई है उतनी पिछले तीन दशकों में विश्व उपन्यास के किसी भी नायक के चरित्र में नहीं हो पाई है।

प्रतीक में भारती का लेख 'विश्व उपन्यास-नायकों में पुंसत्वहीनता।'

*You can not show... man complete unless you show him in action.

(Novel and people 103) Socialist Realism.

ही छोड़ दिया है और इस तरह जीवन और यथार्थ दोनों को उसने तिलांजलि दे दी है।'*

जगमोहन अधिक जानदार पात्र होता या हरीश थोड़ा अधिक सामान्य होता तो शायद 'गर्म राख' हिंदी के दो तीन उपन्यासों में से एक होता। इस समय तो एक गले से नीचे नहीं उतरता—दूसरा याद ही नहीं रहता। हरीश के चरित्र में वे गुण थे कि वह सच्चे अर्थों में आज के समय की माँग के अनुरूप 'हीरो' बन सकता। वह गुण हैं समय की माँग की पहचान।

समय की माँग को पहचानना या ऐतिहासिक आवश्यकता को अनुभव करना एक ऐसा उत्तरदायित्व है जिसे पिछले बहुत कम उपन्यासकारों ने समझा है। यदि समझा भी है तो केवल कुछ हद तक। पूँजीवाद का उत्थानकाल वह काल था जब व्यक्ति स्वातन्त्र्य के महत्व को प्रतिपादित करना या 'व्यक्ति की चेतना से संसार को देखना' एक अत्यंत ही क्रांतिकारी और प्रगतिशील कदम माना जाता था। लेकिन हर समय उन्हीं आधारों पर व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रट या व्यक्तित्व निर्माण के नाम पर व्यक्तिवादी नायकों को महिमान्वित नहीं किया जा सकता। फॉक्स ने इस संबंध में बहुत स्पष्ट कह दिया है कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य की पहली और महान घोषणा हमारे समय में व्यक्ति की पवित्रता के नाम पर व्यक्ति की मृत्यु से बढ़कर कुछ भी नहीं है।' वह उन्नीसवीं सदी के उपन्यासकारों को घोर गैर-जिम्मेदार मानता है कि उन्होंने पूँजीवादी उत्थानकाल में व्यक्ति स्वातन्त्र्य की आवाज तो बुलंद की, लेकिन उसके उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों को वे न समझ पाए, न निभा पाए। समय की आवाज से आँखें फेर कर उन्होंने वेश्याओं, नर्तकियों और आवारों के चरित्रों को तो लिया, उन्हें न्याय्य ठहराया, लेकिन किसी वैज्ञानिक, किसी इंजीनियर किसी अच्छे व्यापारी को वे अपना नायक नहीं बना पाए जो उस समय का एक क्रांतिकारी कदम होता। उन्होंने अपनी कारयित्री प्रतिभा और रचनात्मक कल्पनाशक्ति द्वारा समय की माँग को पहचान कर एक प्रतिनिधि नायक के निर्माण से मुँह फेर लिया था। आज का उपन्यासकार यदि सही और सच्चे अर्थों में मानव-आत्मा का शिल्पी बनना चाहता है तो उसे उसी काम को हाथ में लेना होगा और उस गलती से भरसक बचना होगा जो शरत्चंद्र के हाथों से महिमान्वित होती रही—व्यक्ति की कुवासनाओं से प्यार। आज के यथार्थवाद की माँग है कि नायक केवल आलोचक या सिद्धांतों की 'रिफरेन्स बुक' की तरह ही सामने न आए—और न ही ऐसे व्यक्ति के रूप में आए जो व्यर्थ के और अनावश्यक संघर्षों में अपनी शक्ति का क्षय करता दिखाया जाय; बल्कि अपनी परिस्थितियों को बदलने में तत्पर, जीवित और सक्रिय इंसान की तरह, स्वयं अपने भाग्य का निर्माण करने में प्रयत्नशील इंसान की तरह आए। जीवित रहने का अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी निर्बलता और कमजोरियों में ही संतुष्ट और फँसा हो। जैसे नायक की डा० देवराज माँग करते हैं और न भाग्य के विधाता का अर्थ आज शिवाजी जैसे वीर से है जो नक्षत्रों के गर्जन सा आकाश में घनघनाता रहे। इसका सीधा अर्थ यह है कि वह इतिहास के दौर से मेल खाता हुआ हो। फॉक्स ने इस समय की माग को भी बिल्कुल साफ बताया है कि 'संसार को देखने और जीवन को समझने के दृष्टिकोण के अभाव में ऐसा व्यक्तित्व की पूर्ण और स्वतंत्र अभिव्यक्ति जरा भी सम्भव नहीं है। सच बात तो यह है कि सही दृष्टिकोण के बिना आज का उपन्यासकार न तो नए जीवन को पा सकता है—और न मानवता का ही उत्थान कर सकता है।' और इसे बड़े से-बड़े प्रतिक्रियावादी ने भी स्वीकार किया है कि आज वह सही दृष्टिकोण है द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण, चाहे इस भौतिकवाद में वे थोड़ी आध्यात्मिकता का छौंक लगा कर ही उसे स्वीकार करने की बात बार-बार क्यों न करते रहे हों। केंचुली के मोह में वे बँधे और विवश हैं। यह द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ही कला के क्षेत्र में समाजवादी यथार्थवाद के रूप में आता है।*

*The modern novelist, abondoning the creation of personality of a hero, for the minor task of rendering ordinary people in ordinary Circumstances, has thereby abondoned both realism, and life itself. (पृ० १० वही)

* The novel cannot find new life, humanism cannot be reborn, until such an outlook has been attained, That outlook today can only be the outlook of dialectical Materialism, giving birth in art to a new Socialist Realism.

(१—वही)

ऊपर का विश्लेषण हमें निष्कर्ष देता है कि अश्क के यथार्थवादी पात्र वह नहीं बन पाए हैं जिसकी आज समय और पाठक को आवश्यकता है। उसमें कहीं कसर रह गई है। उसके दृष्टिकोण में कहीं कोई ऐसी बात है जो उन्हें अभी सतुलन नहीं दे पाई है और वह लक्ष्य पर मडराता सा रहा है।

मूल समस्या—अश्क के यथार्थवाद की कमजोरी—पर आने से पहले एक और समस्या पर थोड़ी बातचीत आवश्यक है, क्योंकि अश्क ने अपने यथार्थवाद को वही रूप दिया है—अर्थात् आज के निम्न मध्य वर्ग में प्रेम की स्थिति—और उसी के विभिन्न रूप लेखक ने दिए हैं। कवि 'चातक' का घर में बीवी होते हुए भी हर नारी के लिए उत्पन्न हो उठनेवाला साहित्यिक प्रेम जो उनसे कविताएँ लिखवाता है, रावण को आदर्श प्रेमी बताता है जिसने प्रेम के लिए सब कुछ निछावर कर दिया; उमर खयाम के अनूठे प्रेम की आकांक्षा करता है, जिसमें उसने एकात पेड़ की डाली के नीचे एक रोटी, कविता पुस्तक, शराब और नागिन सी जुल्फोंवाली साकी की माँग की है—

Here with a loaf of bread beneath the Bough Flask of Wine—a Book of verse and Thou Beside me singing in the wilderness—And wilderness is paradise a new.

दूसरा प्रेम है शुक्लाजी का जौहर नारी को देखकर खैनी के रस की तरह उमडा पड़ता है और वे उसे बड़ी मुश्किल से सभाल पाते हैं। तीसरा जगमोहन और सत्याजी का प्रेम--बीमार प्रेम, जोंक और छिपकिली सा प्रेम जिसका आधार मात्र शरीर है, चौथा जगमोहन और दुरो का एकागी और अफलातूनी प्रेम, पाँचवा पडित दाताराम का बेटी के सबोधन और उम्रवाली सत्या के प्रति जो एक वासना बनकर आँखो में झाँका करता है और वे कामातुर हाँफते कुत्ते की तरह जीभ निकाले धूप में घटो बैठे ताकते रह सकते हैं। फिर सबसे अधिक अस्वस्थ है हरीश और दुरो वाला प्रेम—जो कार्य-क्षेत्र की ओर प्रेरणा देनेवाला प्रेम है—प्रेमी को बाँधकर नहीं रखता। कहना चाहे तो कह सकते हैं कि 'गुनाहों का देवता' की भूमिका में भारती ने जो दावा किया था—कि आज की सामाजिक आर्थिक विषमताओं ने प्रेम-जैसे पवित्र सबंध में भी विकृतियाँ उत्पन्न कर दी हैं—'गर्म राख' उसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

मात्र प्रेम की ऊपरी दृष्टि से 'गर्म राख' को देखना न केवल एकागी होगा वरन् लेखक के साथ अन्याय होगा जो समाज का एक सश्लिष्ट चित्र देने की कोशिश करता है—और अब हम पुनः उसी प्रश्न पर उतरते हैं कि अश्क के उपन्यासों में चित्रित यथार्थवाद विशेषकर 'गर्म राख' में—वास्तविक सही और वाछनीय है? ऐसा यथार्थवाद है जिसे हम समाजवादी यथार्थवाद या सामाजिक यथार्थवाद कह सकें और जिसके लिए प्रकाशक फ्लेप पर दावा करता है कि 'गर्म राख' का लेखक, जीवन की कटु यथार्थता का ही चित्रण नहीं करता, आदर्शोन्मुख जीवन की झलक भी देता है। यह आदर्शोन्मुख जीवन वास्तविक परिस्थितियों से उभरा हुआ ठीक वैसे ही जीवन के प्रस्तुतीकरण का प्रयत्न है जैसा रंगरूट में है, या ऊपर से लादा हुआ जीवन है?—साथ ही इस आदर्श को पात्र स्वत' यथार्थ की भूमि से खोज कर पाते हैं या लेखक खुद आदर्श के फल तोड़-तोड़कर उनके हाथ में दे देता है? वह जड़ और फोटोग्राफिक यथार्थ है या जीवित और गतिशील?

'गर्म राख' के यथार्थवाद के संबध में कुछ शिकायत इस प्रकार की जा सकती हैं —

हिंदी के कम ही उपन्यासकारों के पास शायद वह चीज है जो अश्क के पास है—चरित्र और अनुभवों की विशवता और विविधता। जिस भी चरित्र या जीवन के क्षेत्र का वह वर्णन करने लगता है, तो मालूम होता है कि उसके विषय में वह काफी जानता है। अत कहीं कतराने या झिझकने की उसे आवश्यकता अनुभव नहीं होती। फिर भी अश्क वह चीज नहीं दे सका जिसकी उम्मीद की जाती थी—इसका पहला कारण है उसका अपनी कलम पर अनियत्रण। एक चरित्र पर जब उसकी कलम चल जाती है तो उसके बाप-दादे, नाते रिश्तेदार, सात पीढ़ियों का वर्णन वह देने लगता है—वह एक ही उपन्यास में सब कुछ वर्णन करने का मोह नहीं छोड़ पाता। शायद कहानी और नाटक में बँधे-बँधे और सधे सधे चलने की यह प्रतिक्रिया है। 'गर्म राख' में कई जगह आपको ऐसा मिलेगा कि कथा में चलते चलते एक नया पात्र आया। अश्कजी ने उसकी सूरत दिखाई, चेप्टर बंद किया और नए चेप्टर में उसकी जन्म पत्री शुरू कर दी फिर महाभारत में 'जनमजय उवाच' की तरह दो अध्यायों के बाद मूल कथा पर आए। इस तरह पूरा उपन्यास 'अलिफलैला' या

'कथासरितसागर' की बरगद की जड़ों जैसा कहानियों का एसा जाल लगता है जिसकी एक मुख्य धारा ही मुश्किल से मिले।

दूसरी बात यह है कि जीवन और समाज जैसा है उसे ज्यों-का त्यों चित्रण कर देने की धुन में वर्णन स्थितियाँ और विषयांतर इतने अधिक हैं और इतने अधिक यथातथ्य हैं कि उनमें गतिशीलता नहीं आ पाती। उनकी सचाई और स्वाभाविकता अद्वितीय और बेजोड़ हो सकती है.... लेकिन उनमें सब मिलाकर वह प्रवाह और रोचकता नहीं आ पाती जो कथा के लिए आवश्यक है। कहा जा सकता है कि अश्क बहुत ही अच्छा फोटोग्राफर है और 'गर्म राख' एक अत्यंत कुशल फोटोग्राफर द्वारा लिए गए ऐसे चित्रों का एलबम* है जिसमें महीन-से महीन झुर्रियाँ रोएँ, सभी कुछ दिखाई दे जाता है—लेकिन यहीं उपन्यास का यथार्थ समाप्त हो गया है। कला का सत्य रूप के सत्य के साथ साथ भाव का भी सत्य है। नृत्य के एक फोटो और चित्र में क्या अन्तर है? बाह्य दृष्टि से एक बिल्कुल वही है उसका महीन से महीन विवरण प्रस्तुत करते हुए यथातथ्य प्रतिकृति है—दूसरा उस स्थिति की ऐसी अनुकृति जो नृत्य में अपनी पहली स्थिति (मुद्रा) से इस वर्तमान स्थिति तक की गति और दोनों स्थितियों के सम्बन्ध की सूचक है साथ ही अपनी मुद्रा से अगली आने वाली स्थिति को भी व्यंजित करती है। इस तरह वास्तविकता के अत्यंत निकट जाकर भी फोटोग्राफी गति को पकड़ कर स्थिर कर देती है—जड़ बना देती है, कला जड़ को पकड़ कर उसमें गति और जीवन का भ्रम उत्पन्न कर देती है।

वस्तुस्थिति को एक यथार्थ कोण से रखा जाय, यहाँ तक तो प्रेमचंद के बाद अपने समकालीन अधिकांश उपन्यासकार अश्क से आगे हैं—लेकिन इस यथार्थ में भी चुनाव की आवश्यकता है, कलम साधकर लिखने की जरूरत है—यह उसने अभी नहीं समझा। इस चुनाव के बिना ही यथार्थ प्रकृतिवाद रह जाता है—फोटोग्राफी बन जाता है—फलतः प्रतिनिधि या टाइप नहीं बन पाता। यथार्थ टाइप न हो—यह उसकी अकलात्मकता का पहला प्रमाण है। साथ ही यह कमजोरी उसकी गति-रोचकता में भी बाधक होती है। इस भेद को माओ ने अपने एक भाषण में बड़ी अच्छी तरह स्पष्ट किया है—

प्रकृति (यथातथ्यता) साहित्य की आधारभूत सामग्री प्रदान करती है और कला उसे अंतिम रूप देती और सँवारती है। हालाँकि यह (आधार-भूत सामग्री) कला की अपेक्षा विषय वस्तु के लिहाज से कहीं अधिक उत्कृष्ट—कहीं अधिक समृद्ध होती है, फिर भी लोग प्रकृति मात्र से सन्तुष्ट नहीं होते—कला की माँग करते हैं। क्यों? इसलिए कि सुन्दरता में दोनों समान होते हुए भी साहित्य के रचनात्मक रूप और कला प्रकृति को कहीं अधिक पीछे छोड़ देते हैं—क्योंकि वह अधिक युक्तिसंगत होते हैं, अधिक संहित, अधिक प्रतिनिधि और वांछनीय (ideal) होते हैं—इसीलिए अधिक सार्वभौमिक होते हैं।

अश्क की इसी प्रवृत्ति के कारण 'गिरती दीवारें' के एकाध आलोचक ने अश्क को प्रकृतिवादी माना है और मैं समझता हूँ कि वे सत्य से अधिक दूर नहीं रहे। यह चुनाव क्या है? प्रकृतिवाद यथार्थवाद से कैसे भिन्न है? इन प्रश्नों पर विचार से पहले एक बहुत चलता सा उदाहरण 'गिरती दीवारें' का लें। ज्याँ क्रिस्तोफ के पटर्न को उसने अश्क ने स्वीकार किया है क्योंकि (ज्याँ क्रिस्तोफ के अनुवादक के शब्दों में) It is as direct and simple as life itself है। और 'अज्ञेय' ने तो न केवल पैटर्न और रूप में बल्कि कहीं-कहीं विचारों में भी शेखर को ज्याँ क्रिस्तोफ के निकट रखा है। इसे शायद ही कोई अस्वीकार करे। फिलहाल क्रिस्तोफ को छोड़ भी दें, क्योंकि हर आदमी का जीवन और जीवन के प्रति दृष्टिकोण भिन्न है) तो क्या वजह है कि उससे प्रभाव और प्रेरणा लेते हुए भी 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' का यथार्थवाद और शेखर का यथार्थवाद इतने अलग जा पड़े हैं? (इस अलग शब्द का अर्थ चित्रण और दृष्टिकोण की विभिन्नता नहीं समझनी चाहिए)। क्यों एक इतना जड़ और अनभिनिरुद्ध है और क्यों दूसरा चिंतन की जटिलता के बावजूद इतना सुथरा-सधा, सीधा और साफ है? एक को

*उनकी (प्रेमचंद) की रचना उस फोटोग्राफर के एलबम की तरह नहीं है, जिसमें बाह्य जगत के चित्रण इधर उधर बिखरे हुए एक असम्बद्ध रूप में सामने आते हैं। बिना संवेदना या विचार किये जो साहित्यकार यथार्थवाद के नाम पर सामाजिक निराशा या स्थितियों का असम्बद्ध चित्रण करता उसका चित्रण ऊपर से देखते हुए भी अवास्तविक होगा।

—रामविलास शर्मा 'प्रगति और परंपरा' २०८

दृष्टि फोटोग्राफर की है और एक की कलाकार की। एक प्रकृतिवादी है और एक (विकृत और कहीं कहा अति) यथार्थवादी। कैमरे का मुँह निम्न मध्यवर्ग की ओर ही घुमा देना ही सबसे बड़ा एक्सक्यूज नहीं है कि प्रकृतिवाद यथार्थवाद हो जाय।

अश्क को प्रकृतिवादी कहनेवालों ने कभी चिंतन नहीं किया कि वे जरा खुलकर बताएँ क्यों वे उन्हें प्रकृतिवादी मानते हैं और आखिर उनकी दृष्टि में प्रकृतिवाद और यथार्थवाद में क्या अन्तर है। प्रकृतिवाद शब्द मनुष्य की सभी मौलिक प्रवृत्तियों—काम, भूख इत्यादि को ज्यों का त्यों पशुता के स्तर तक स्वीकार करने तथा उनका पक्ष लेकर उन्हें प्रतिष्ठित कराने के अर्थ में हिंदी में आया है और 'सररियलिज्म' के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। 'यथार्थवाद का आतंक' (हिंदुस्तान दीपावली अंक) में हजारी प्रसाद द्विवेदी तक ने यथार्थवाद को इसी प्रकृतिवाद के अर्थ में प्रयुक्त करके यथार्थवाद के संबंध में कुछ अजीब बातें कही हैं, शायद इसका कारण उनकी भावात्मकता (abstractness) है, लेकिन जब प्रकृतिवाद को यथार्थवाद के साथ या तुलना में प्रयुक्त किया जाता है तब उसका एक विशेष अर्थ होता है जो एक्सेसुअलिज्म का पर्याय है।

वस्तु का पूर्ण यथातथ्य चित्र देने के लिए क्या आवश्यक है कि उसके हर पक्ष और विवरण या वर्णन को दिया जाय ?—या वास्तविकता पर आधारित उन बिंबों और कल्पना चित्रों (Images) के द्वारा उस वस्तु को प्रस्तुत किया जाय जो भौगोलिक, ऐतिहासिक या अन्य वैज्ञानिक दृष्टि से चाहे पूर्ण न हों—भाव की दृष्टि से ऐसे हों कि यथार्थ की संपूर्णता की एक छाप मन पर छोड़ जाते हों। 'वैलन्तिन एज्मस' के अनुसार यथार्थवादी कला का जीवन की सच्चा चित्रण करने का अर्थ ही यह है कि यह यथार्थवादी कला कृति—और भी स्पष्ट कहें तो ये यथार्थवादी कल्पना चित्र, वास्तविक जीवन की छाप या भ्रांति का सृजन करें। कोरे जीवन का चित्रण करना कोई मानी नहीं रखता। जीवन और यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए कलाकार को उनमें से बड़ी सावधानी से उन बिंबों-कल्पना चित्रों और आवश्यक अंशों को छाँटना पड़ेगा जो उनकी जान हैं। तभी अनावश्यक अंशों को छोड़कर केवल प्रमुख और आवश्यक अंगों द्वारा भी वह एक संपूर्ण यथार्थ के उद्देश्य को प्राप्त कर सकेगा। यही चुनाव या विवेक ही प्रकृतिवाद को यथार्थवाद से पृथक करता है। एज्मस के शब्दों में इसे यों समझें—

'किसी भी वस्तु के सभी पक्षों और अंगों (features) को ज्यों-का त्यों उतार देने मात्र से यथार्थ का भाव नहीं प्रगट किया जा सकता, बल्कि यह भाव तो (वस्तु के) उन (मौलिक) पक्षों के चित्रण करने से पैदा होता है जो यथार्थ के तत्व को बनाते हैं और इन दोनों का अंतर यह है कि यथार्थवादी कला का अपूर्ण चित्र भी किसी वस्तु के मूल भूत पक्षों का प्रतिबिंब होता है और (इसके विपरीत) चूँकि प्रकृतिवादी कला में वस्तु की व्याख्या सहित संपूर्णता को चित्रित करने का प्रयत्न रहता है इसलिए उस चित्र में मूल-भूत पक्षों के अलावा अन्य अर्थात् अनावश्यक पक्षों का भी चित्रण हो जाता है।'

इसका परिणाम यह होता है कि प्रकृतिवादी हर विवरण और विशेषता के व्याख्या सहित वर्णन में ही अपने आपको सीमित बना लेता है और उसे सबकी चीज नहीं, केवल कुछ की चीज बना डालता है। प्रतिनिधि या टाइप नहीं, विशेष। यथार्थवादी कला में उतने ही विवरण को स्वीकार किया जा सकता है जो संपूर्ण के सार को प्रस्तुत कर सके। इस चुनाव या छाँट न करने का परिणाम बिल्कुल उलटा ही निकलता है। लेखक को परिश्रम पूरा करना पड़ता है और सारभूत तत्वों से उलझे हुए और कहीं-कहीं उन्हें छिपाए हुए ये अनावश्यक वर्णन, गौणतत्व पाठक के ध्यान को लेखक के अभीष्ट चरित्र, स्थिति या दृश्य को उतनी उत्कट तीव्रता से तो ग्रहण करने ही नहीं देते—उसे अस्पष्ट, अरोचक और पहेली जैसा बना देते हैं। ज़रा-सी गलती से लेखक के परिश्रम के इस नाश को टाल्सटाय ने अपने हाथ से अपनी मूर्ति को तोड़ देना बताया है। हो सकता है ये गैर जरूरी तत्व उसके मूल भाव (Basic idea) को नष्ट न भी करें फिर भी किसी चीज का लगातार वर्णन दिए जाना खुद उस प्रभाव को नष्ट कर देता है।*

* To say too much is the same as to give a composite statue a push and make it fall apart or to take the lamp out of the magic lantern The attention of the reader or onlooker is distracted and the reader sees the author, the audience sees the actor, the illusion vanishes To restore an illusion is sometimes impossible
Tolstoy's dairy, Quoted by Azmus

प्रकृतिवाद का चित्रण स्वयं इस बात का सूचक है कि लेखक उस कच्चे माल में से यथार्थवादी कला के तत्त्वों को छाँटने या चुनने के परिश्रम से बचा है। यही कारण है कि 'हावर्ड फास्ट' जैसे लेखक प्रकृतिवाद को यथार्थवाद से पलायन तक मानते हैं। उसके अनुसार 'कोई लेखक चाहे जितना कुशल हो अनावश्यक और गौण तत्वों को आवश्यक और नाटकीय तथ्यों से छान कर ही यथार्थ को ऊँचा उठाने की प्रक्रिया की ओर बढ़ पाता है।' (साहित्य और यथार्थ पृ० १७)

तो एक बार फिर दुहरा दिया जाय कि यह चुनाव की प्रवृत्ति ही एक ऐसा तत्व है जो प्रकृतिवाद को यथार्थवाद से अलग करता है। एक कलाकार वैज्ञानिक की तरह एक वस्तु को हर पक्ष (डाइमेंशन) से नहीं दिखा सकता। यह असंभव भी है और अनावश्यक भी। छोटी-से-छोटी कहावत किंवदंती से लेकर बड़े से बड़े महाकाव्य तक में साहित्यिक कल्पना चित्रों* द्वारा प्रस्तुत किया जानेवाला जीवन कलाकार का अपनी कलम पर नियन्त्रण और चुनाव का ही परिणाम है। लेकिन इस चुनाव और विविधता का परिणाम यह न हो कि यथार्थ खण्ड-खण्ड में इतस्ततः बिखर बिखर जाय। जीवन की संपूर्णता दिखाने के लिए उसके विभिन्न पक्ष और विविधता दिखानेवाले उपन्यासों के विषय में डा० रामविलास ने 'संस्कृति और साहित्य' में इसी डर की ओर संकेत किया है।

'बड़े-बड़े उपन्यास लिखने में यह खतरा रहता है कि जीवन की विविधता दिखाते हुए उसकी सबद्धता का ही लोप न हो जाय।'

हम यह मानना होगा कि अश्क में यह चुनाव कम है। माउथवर्ड भरनेवाले सरदारजी हों या हरीश का खानदान, प्रोफेसर स्वरूप का घर हो या मिसेज़ कर्मा का लैफ्ट नूरुद्द या चौपड़ा—जहाँ वह वर्णन करने पर उतर आता है वहाँ रुकना ही नहीं जानता। मैं पूछता हूँ जैसे बसंत ने माउथवर्ड भरनेवाले सरदार जी का किस्सा सुनाया उसी तरह सत्याजी जगमोहन के वक्ष पर लेट कर अपनी उत्पत्ति की पचास पृष्ठों की कहानी नहीं सुना सकती थीं? या जिस 'गिरती दीवारें' में पूरी अनारकली उद्धृत की गई है। क्या उसी तरह रेनोल्ड का पूरा 'लंदन रहस्य' या 'एनसाइक्लोपीडिया' नहीं उद्धृत किया जा सकता था जिनसे चेतन या जगमोहन समय-समय पर प्रभावित और नाराज होते रहे हों? यदि यही ढंग रहा तो कोई शक नहीं कि 'गिरती दीवारें' नौ क्या, नौ सौ भागों में भी चल सकता है और 'गर्म राख' पाँच क्या, पाँच हजार पन्नों का भी हो सकता है।

अनावश्यक तत्वों को आवश्यक से छानकर जीवन के यथार्थवादी वर्णन की दृष्टि से 'रात, चोर और चाँद' को अत्यंत ही सफल उपन्यास माना जा सकता है। शायद पंजाब और सिक्ख जीवन को, उसे पढ़ने के बाद बहुत कम जानना शेष रह जाता है। अभी तक फोटोग्राफर और कलाकार के अंतर की बात थी लेकिन अब कलाकार को परखने की आवश्यकता आती है। 'रात, चोर और चाँद' या 'देशद्रोही' जिसमें दुनिया की सारी बुराइयाँ खोजने पर भी जिसके घरेलू चित्रों की सुंदरता डाक्टर रामविलास को माननी पड़ी है—यथार्थवाद के प्रतिनिधितत्वों को पहचानने, और चुनाव की दृष्टि से यथार्थवादी कलाकृति का उत्कृष्ट उदाहरण है। लेकिन यह यथार्थवाद अधूरा है और अगली समस्या को जन्म देता है। समय और काल से परे कलाकार कोरा शाश्वतवादी कलाकार हो या समय की धड़कनों और काल की गति को पहचाननेवाला सचेत भविष्यद्रष्टा। यहाँ तक तो कलाकार सत्य में से सुंदर सम्प्रेषणीय, साधारण और ग्राह्य छाँटता रहा था, लेकिन क्या 'शिव' उसकी सीमा से परे है—और क्या हर समय का 'शिव' एक ही है समय-समय का 'शिव' अलग नहीं है? यहीं हमें एक दूसरे कलाकार की याद आती है जो सच्चे अर्थों में यथार्थवादी कलाकार है, जो समय की नब्ज और धड़कनों को पहचानता है और जिसकी रचनाएँ इस अगले प्रश्न का भी उत्तर हैं। नागार्जुन का 'बलचनमा' इस दिशा का प्रयत्न है—जो उन्हें प्रेमचंद की परंपरा में रखता है।

सीधे शब्दों में यह दूसरा प्रश्न यों है—क्या मात्र चुनाव और प्रतिनिधि चुनाव * ही सब कुछ है। अपनी

* It is not the art image, that gives birth to life but life that gives to art and its images.
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　फ्रामस।

* जैसा एंगिल्स ने मिस हार्किंस को लिखा था—"मेरे विचार से तथ्यों के विवरण के साथ-साथ यथार्थवाद प्रतिनिधि चरित्रों या प्रतिनिधि परिस्थितियों में सच्चा चित्रण करता है।
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　(Literature & Arts)
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　Marx & Engels

शब्दावली में तो प्रकृति को ऐसे यथार्थवादी ढग से रखना कि वह सब के लिए सम्प्रेषणीय और साधारणीकरण योग्य हो जाय—ही सब कुछ है? पूर्णतया प्रकृतिवादी मैं अश्क को नहीं मानता। उनका झुकाव यथार्थवादी है। कहें तो कह सकते हैं कि उनकी 'एप्रोच' यथार्थवादी है और वर्णन प्रकृतिवादी। हावी प्रकृतिवाद इतना हो गया है कि वह उनके यथार्थवाद के प्रभाव को बडा अस्पष्ट कर देता है और कहना पड़ता है कि मूलत कृष्णचद्र के रोमाटिक यथार्थवाद और इस नेचुरलिस्टिक यथार्थवाद में कोई विशेष अंतर नहीं है। अंतर है तो इतना कि एक हवा में उडता है, दूसरा धूल में रेंगता है। अश्क के आदर्श और यथार्थवाद म जो चौड़ी खाई दिखाई देती है उसका मूल कारण भी यही प्रश्न है कि उनके यथार्थवाद में और क्या ऐसी कमजोरी रह गई है कि आदर्श को अलग से लाकर उन्हें वह आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रूप देना पडा जिससे ऊबकर प्रेमचदजी अपने अतिम उपन्यासों में पीछा छुड़ाते दिखाई देते हैं?

इस प्रश्न को सुलझाने का भी वही तरीका है जो चुनाव के बावजूद भी कला-कृति को फोटोग्राफी से बचाने का तरीका है। किसी वस्तु के प्रमुख पक्षों के चुने-चुनाए फोटो ही क्या उसका वास्तविक चित्र देने मे समर्थ हैं—विशेषतया जब कि वह चीज जीवन जैसी गतिमान नहीं? इसका भी सिद्धात वही है जो एक सेकेंड में सोलह बार कटे होने पर भी सिनेमा की रील की सबद्धता का सिद्धात है। अर्थात् वास्तविकता का ऐसा गत्यात्मक चित्र जो पिछली गति से तो उसकी कडी जोडता ही हो, अगली गति का भी सूचक हो। एज्मस ने इसका भी विश्लेषण किया है—'वास्तविक जीवन के वर्णन के साथ-साथ यह कला एक दूसरा कार्य भी पूरा करती है। अर्थात् वह नवीन के जन्म को, दूसरे शब्दों में भविष्य की उस अनिवार्य तात्कालिकता को जो सभव है अस्तित्व में नहीं भी चित्रित करती है·· '*

अस्तित्व में न होने से एज्मस का अर्थ काल्पनिक और हवाई से कभी नहीं है—उसने अनिवार्य तात्कालिकता शब्द से अपनी बात को साफ किया है। इसके लिए आवश्यकता है कि यथार्थ के विकास की प्रवृत्ति को समझा जाय तभी कलाकार भविष्य की उस अनिवार्य तात्कालिकता या इतिहास की माँग को यथार्थ में ही खोज पाएगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि भविष्य की यह अनिवार्य तात्कालिकता वर्तमान की विभीषिका में गुम हो जाती है, चारों ओर से रास्ते बद लगते हैं, सामने अँधेरे की एक दुर्भेद्य दीवार जैसी खड़ी दिखाई देती है। एक जड़ता—गतिरोध जीवन और साहित्य में आ जाता है।—या कभी-कभी यह अनिवार्य भविष्य इतना धुँधला और अस्पष्ट होता है कि पहचानना मुश्किल होता है। उस समय निर्भीकता से उसकी ओर सकेत करनेवाली प्रचड प्रतिभा ही युगद्रष्टा और स्रष्टा की प्रतिभा है—उस भविष्य के उठते ज्वार को अपनी हथेली से रोक कर समाज और भविष्य के बीच में नाना रूप धारण करके खडे होनेवाले 'शिखडियों' की प्रतिभा नहीं। दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं की पर्तों में छिपे हुए सत्य की जड तक पहुँचने के लिए, या यथार्थ से उभरती अदृश्य या अस्पष्ट दिखाई देती भविष्य की अनिवार्य तात्कालिकता को बडा (Magnify) करके देखने और दिखाने के लिए एक अत्यत ही समर्थ कल्पना शक्ति की आवश्यकता है और ऐसा सशक्त-कल्पनाशील यथार्थवादी कलाकार प्रकृतिवादी की तरह निर्जीव नकलची (शब्द एज्मस के हैं) नहीं होता, बल्कि सच्चे अर्थों में मानव आत्मा का शिल्पी होता है—क्योंकि वह यथार्थ की गति और प्रकृति प्रगति को पहचानता है। उसमें और ससार के सारे इलाजों को बाजारू कह कर आपरेशन के डर से अपने फोड़े की चमक में ही सुख मानने और उस सुख को ही गुननेवाले मरीज़ों और मायोपियन (क्षीण दृष्टि) में अंतर है जो न उसे देख पाते हैं, न सह सकते हैं।

× × ×

हाँ तो यहीं हमें इस बात का जवाब मिलता है कि क्यों अश्क एक दम गर्म और एकदम ठडा पानी साथ पीने को पाठक को देता है और जब स्वस्थ पाठक उसे पीने से इनकार कर दे तो उसकी समझ के विषय में सदेह करता है। रूपक की भाषा छोड देते ही जीवन के गलीज, वीभत्स, विकृत और भ्रष्ट चित्रों के साथ (क्या सुदर से दुश्मनी यथार्थ की कोई शर्त है?) देवताओं के चरित्र उसी वातावरण में जब किसी पाठक की समझ में नहीं

* Whilst depicting actual life, this art at the same time performs another function, it depicts the birth of the new, in another words, the inevitable future of that which may not yet exist Azmus

आते तो क्यों वह ही दापी है? लेखक स्वय ही आदर्श को पचाने का धैर्य नहीं रख पाता। यदि चाहता तो 'रंग रूट' का लेखक भी किसी ऐसे पात्र की सृष्टि कर सकता था जो उन हजारों कुत्तों जैसी सिपाहियों के बीच में एक देवता एक 'जायंट' होता, जो हर अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ता, लोगों को सगठित करता और बात बात में झंडा ऊंचा करके हड़तालें कराता, लेकिन, कुछ मित्रों की इस शिकायत के बावजूद भी कि मिलिट्री का जीवन उसमें अतिरंजित है उसने वैसी जल्दबाजी नहीं की और एक समर्थ कल्पना शक्ति और तीव्र दृष्टिवाले कलाकार की तरह उस गलाजत, स्वार्थप्रपचार, लाचारी विवशता और उस पशुओं जैसे जीवन में वह उन सामान्य भूमियों और धरातलों को खोजता चला गया है जहाँ अब भी मानवता के मूल तत्व धड़कते हैं और एक सच्चे यथार्थवादी कलाकार की तरह उसने बताया है कि कहा अनजान और अनायास रूप से अचानक ये धरातल एक हो जाते हैं कि वे सारे सिपाही पाते हैं कि वे सगठित हो गए हैं और अन्याय के खिलाफ लड़ रहे हैं।

अश्क के यथार्थवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है उसका कैमराईपन अर्थात् सतहीपन, जो अपने साथ दो अनिवार्य परिणामों को लेकर आया है। आवश्यक और अनावश्यक के भेद की कमजोरी, पात्रों परिस्थितियों के भीतर देखने की दृष्टि की कमजोरी या यथार्थ की अतर्धारा का अपरिचय। परिणामत उस भविष्य के अनिवार्य की पहचान की कमजोरी। अभी तक के विश्लेषण से यह कभी न समझना चाहिये कि कुशल कैमरामैन होना ही बुरा है—या प्रकृतिवाद कोई ऐसी अग्राह्य वस्तु है। प्रकृतिवाद या फाटोग्राफी में सबसे बड़ा दोष ही यह है कि उसके द्वारा जो जितना विकसित है आप उसे ही दिखा सकते हैं—आपके सारे वर्णन और व्याख्याएँ—जो जितना है उतने तक ही सीमित है। विकास की सभावनाएँ और दिशाएँ उसमें से उभरती आप नहीं दिखा सकते * क्योंकि उसका यथार्थ गतिशील नहीं होता। यदि इतनी कीमत चुकाने पर लेखक प्रकृतिवाद को स्वीकार करता है, तो करे।

यही वजह है कि परिस्थितियों की तरह 'गर्म राख' का हर पात्र सेट मनोविज्ञान लेकर आता, विकास किसी का नहीं होता। वह पाता और छोड़ता कुछ भी नहीं है। उपन्यासों में सेट चरित्र भी लाए जाते हैं। एक निश्चित मनोविज्ञान के चरित्र बहुत से उपन्यासों में आए हैं, लेकिन कुशल कथाकारों ने उस स्थिति में एकरसता या उस दोष से बचने के लिए उनके आसपास या तो इतने गतिशील पात्र रखे हैं या ऐसी विभिन्न परिस्थितियों में उन्हें घुमाया है कि उनका यह दोष अखरने नहीं पाया और उनकी यह कमजोरी पकड़ में नहीं आती। डिकेंस ने 'डेविड कापरफील्ड' में मिकाबर या बैटसी इत्यादि कई चरित्र सेट और स्थिर मनोविज्ञान के दिए हैं, लेकिन स्वय डेविड का चरित्र इतना विकासशील है कि सब चरित्र गतिशील प्रतीत होते हैं उसी तरह जैसे रेल में बढ़ते आदमी को पेड़ों की लाइनें गतिशील और क्रमबद्ध दिखाई देती हैं। दूसरी तरह का उदाहरण है अन्ना का पति अलेक्जेंड्री अलेक्जेंड्रीविच। उसे भी टाल्सटाय ने बिल्कुल सेट मनोविज्ञानवाले व्यक्ति की तरह चित्रित किया है—जिस का विकास नहीं होता, लेकिन लेखक उसे इतनी विभिन्न परिस्थितियों और स्थानों पर दिखाता है कि वह उबाता नहीं—कभी वकील के यहाँ, कभी लेविन के घर, कभी क्लब में, कभी गाड़ी पर, कभी अध्ययन कक्ष में, या कभी बहन बहनोई के साथ। 'नदी के द्वीप' का भुवन भी शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में एक साँचे में ढला व्यक्ति है लेकिन उसके साथवाले पात्र इतने अधिक सजीव और समर्थ हैं कि यह पता भी नहीं लगता।

असल में अश्क मूलत. एक नाटककार है। वह बाह्य प्रकृति को जितना अच्छा चित्रित कर पाता है अंत प्रकृति को नहीं। स्त्री पात्र तो उसके बिल्कुल ही निर्जीव हैं, न उनका व्यक्तित्व है न वैसे गठे हैं। जगमोहन और हरीश पर बात हो ही चुकी है—उनके अन्य पात्र लें तो वे भी अपवाद नहीं है। मैं मानता हूँ कि अश्क उन कलाकारों में से हैं जो निरंतर विकास का प्रयत्न करते आ रहे हैं—वह अपनी प्रगति से सतुष्ट नहीं है—वह भगवती चरण वर्मा और जैनेंद्र जैसे हिंदी के उन

* Naturalism is contemplative retrospective and limited to the depiction of only that which is fully developed Naturalism is an earth bound idealess theory, incapable soaring to any hight and the art of naturalism does not in any way differ from its theory " Azmus.

'जीनियसों' जैसा नहीं है जो विकास क प्रयत्न को जीनियस की सबसे बड़ी पराजय मानते हैं क्योंकि वे स्वयम्भू बनकर पैदा हुए हैं—फलत: आप उनकी प्रथम और अंतिम रचना में अधिक अंतर नहीं पा सकते—कम-से कम उत्थान नहीं मिलेगा। यह ठीक है कि अश्क मानव मन के उस स्तर पर नहीं उतरा जिसपर चेखव, टाल्स्टाय, गोर्की, डिकेंस, प्रेमचंद, रवींद्र, शरत और यशपाल उतरे हैं, लेकिन उसमें मनुष्य की बाह्य प्रकृति से उसके अंतर्जगत की ओर बढ़ने के प्रयास स्पष्ट दिखाई देते हैं।

केवल बाह्य प्रकृति की ही बात ली जाय तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं तो बहुत ही सच्चे और सफल हैं—जैसे वार्तालाप के क्षेत्र में 'इनडाइरेक्ट' *फार्म में आए हुए वर्णन व्यंग्य।* और ये इतने अधिक हैं कि उपन्यास की रोचकता का प्रमुख आधार भी इन्हें कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त लेखक को इनका इतनी अधिक संख्या में ज्ञान है कि वह चलते-चलते अत्यंत निस्पृह भाव से इन्हें दिखाता चलता है। लोगों की कही हुई बात को पुनः प्रस्तुत करने में या चेष्टा की व्याख्या करने में तो अश्क को कमाल हासिल है और इस जोड़ का कोई दूसरा लेखक नजर नहीं आता। जैसे गालियों के अर्थ देना। पहेली का सही अर्थ कर डालनेवाले सरदार की गालीभरी घोषणा या नूरे की शेखियाँ या 'गिरती दीवार' में चगड़ मुहल्ले का वार्तालाप। यही हाल शारीरिक चेष्टाओं का है। शुक्लाजी का मुँह में सैनी भर कर बातें करना, कवि चातक का एक टाँग से दूसरी को खुजलाना और बालों की लटें ठीक करना या सहगल साहब का दाँत दिखाकर हँसना। हाँ, जब ये *चेष्टाएँ आंतरिक स्थितियों की सूचक न रहकर मात्र आदत* बन जाती हैं तो अपना उद्देश्य तो पूरा कर देती हैं लेकिन उनका महत्त्व नाटक में अभिनेता की उस लत से बढ़कर कुछ नहीं होता जिसे 'मैनरिज्म' कहते हैं।

अक्सर अश्क के ऊपर व्यक्तिगत रूप से यह आक्षेप किया जाता रहा है कि 'गर्म राख' के कुछ पात्रों के प्रति लेखक की कुछ निश्चित सी धारणाएँ और पूर्वग्रह हैं—जिन्हें वह जगमोहन के माध्यम से तथा कहीं कहीं किसी और बहाने से व्यक्त करता है। असल में यह भी बाह्य प्रकृति तक रह जाने का एक उदाहरण है। क्योंकि कुछ पात्रों को जगमोहन अपनी दृष्टि से देखता है, कुछ को लेखक की दृष्टि से। यह भेद—हरीश तथा अन्य पात्रों—जैसे चातक, शुक्ला, सहगल, शान्ताजी इत्यादि के प्रति लेखक और जगमोहन के दृष्टिकोणों की तुलना करने पर स्पष्ट हो जायगा। इसके जवाब में यशपाल के 'पार्टी-कामरेड' को लिया जा सकता है। जिस कथा भूमि को यशपाल ने लिया है उसमें सभी अन्य चरित्रों को एक गुंडा कैसे देखता है—और उसका दृष्टिकोण क्रमशः कैसे बदलता जाता है—ध्यान देने योग्य है। इसी चीज को न समझ पाने के कारण कुछ उग्र आलोचकों ने उसे गलत और हानिकारी चित्रण का फतवा दिया है। लेकिन सच पूछा जाय तो गलत और भोंडा चित्रण तब होता जब अपनी कथा के पात्रों को लेखक कुछ को गुंडे की तरह देखता और कुछ को लेखक की तरह। एक लड़की चाहे जितने ही अच्छे और ऊँचे सिद्धांतों से अनुप्रेरित है लेकिन बिना उसके संपर्क प्रभाव में आए एक गुंडे का दृष्टिकोण उसके लिये एक ही है और लेखक को कोई अधिकार नहीं है कि एक ओर तो उसका चित्रण गुंडे के दृष्टिकोण से करे, दूसरी ओर लड़की का वकील बनकर सीधे पाठक से बात करे। घटनाओं का विकास सब कुछ बताएगा। 'बाराबास' के लेखक 'पारला गरविस्ट' ने ईसामसीह की फाँसी तक की एक साधारण—अत्यंत साधारण—आदमी की फाँसी के रूप में पूरे उपन्यास में लिया है, क्योंकि उस समय उसका पात्र—बाराबास जिसकी आँखों से वह यह सब दृश्य देखता है—एक भयंकर और अनास्थावान डाकू है।

यों अश्क एक यथार्थवादी उपन्यासकार है मात्र यथार्थ को चित्रण करना उसने सीखा है—उसे गति देनेवाली आंतरिक धाराओं को उसने पढ़ा भर है, घटनाओं, पात्रों के *माध्यम से देखा या समझा नहीं है।* चुना हुआ गतिशील और सजीव यथार्थ—अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' जैसा या नागार्जुन की 'नई पौध' जैसा यथार्थ—प्राप्त करने में उसे अभी समय लगेगा।

भाषा के विषय में उससे किसी को ही शायद शिकायत हो—वह बहुत सरल, प्रवाहपूर्ण और सजीव है।

बात अधूरी रह जायगी यदि अश्क के कैमरे की कला का एक और उदाहरण न दे दूँ। अध्यायों और अध्यायों में वर्णित घटनाओं का विभाजन भी उसने फिल्म की कट और फ्लैश बैक शैली में किया है। सिनेमा से इतने मिलते-जुलते ढंग फ्लैश बैक में तो शायद वही पहला

लेखक है; लेकिन कट शैली में ताराशंकर बंद्योपाध्याय जैसी सफलता उसे अभी नहीं मिली।

कविता के संबंध में स्थान-स्थान पर आए हुए विवाद सुंदर हैं, आवश्यक हैं। कवि चातक जैसे पेशेवर कवियों का कैरीकेचर सफल है।

भारतीय राजनीति के संबंध में भगतसिंह की लाश के साथ गद्दारी करने की बात कहना या उस युग में अपने को गांधीवादी कह कर जेल से छूट जाना असंगत है।

'गर्म राख' नाम का क्या महत्व है, इसकी खोज इसलिए व्यर्थ है कि उपन्यास पूरा नहीं है। जान-बूझकर वही गलती क्यों की जाय जिसका अश्क ने 'गिरती दीवारें' की भूमिका में मजाक उड़ाया है—कि हर आलोचक ने उसमें कोई-न-कोई दीवार गिरती दिखाई है। किसी भी भले आदमी ने नहीं सोचा कि-अपनी राय उपन्यास के पूरे हो जाने पर ही कायम करते। इस उपन्यास में तो 'गर्म राख' के कई अर्थ लग जाते हैं—राख जैसी जड़ जिंदगी में आदर्श की यह गर्मी—यह मुख्य पात्रों की ओर संकेत है। राख जैसी बुझी हुई भावनाओं और उम्र में वासना की यह गर्मी—यह चातक इत्यादि अन्य पात्रों की ओर संकेत है।

अभी तक अश्क की या तो प्रशंसा की गई है या उसे चिढ़ाया गया है उसके प्रयत्नों का जिनमें वह ईमानदार रहे—सफल या असफल, लेकिन ईमानदार प्रयत्न नहीं किया गया। कभी-कभी तो यह प्रशंसा और चिढ़ाने का काम एक ही आलोचक द्वारा हुआ है। यही कारण है कि उसका दृष्टिकोण आलोचकों की ओर कुछ इस तरह का हो गया है कि उन्हें अपने हर उपन्यास में उनके लिये कुछ न कुछ लिखना पड़ता है।

गीत : श्री रमण

रात के पिछले प्रहर में,
यह मुझे किसने पुकारा ?

यह मुझे किसने कहा—मैं आसरा में जी रहा हूँ ?
व्यर्थ हँसता हूँ कि अपनी जिंदगी ही पी रहा हूँ।
थरथराने प्राण जब तो हैं लगे, बेचैन मन है—
और जैसे मैं बहानों से हकीकत सी रहा हूँ।

हाय फिर भी भूल मेरी आज तक की गलतियों को,
रात के सूने प्रहर में यह मुझे किसने दुलारा ?
यह मुझे किसने पुकारा ?

संगिनी ! है याद मरुस्थल-सी दहकती छाँह मेरी ?
संगिनी ! है याद नागिन-सी लिपटती बाँह मेरी ?
मैं न विस्मृति के अतल-तल में उन्हें हूँ डाल पाता,
आज मुझको ही स्वयं कस, मारती है चाह मेरी।

मैं विवशता में विकलता भी न अनुभव कर रहा हूँ,
इस परीक्षा के प्रहर में चाहता फिर भी किनारा !

रात के सूने प्रहर में—
प्राण ने मुझको पुकारा !!

रसायन-शास्त्र के इतिहास की रूपरेखा

श्री ओम्प्रकाश आर्य

इस दुनिया में प्रत्यक्षतः दो इकाइयाँ हैं-पदार्थ और शक्ति। घ्राण, श्रवण, दर्शन, स्पर्श आदि पाँचों ज्ञानेंद्रियों से जो कुछ जाना जाता है, उसे पदार्थ कहते हैं और पदार्थों के विज्ञान को रसायन शास्त्र। इसलिए रसायन शास्त्र का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मनुष्य की समझ का इतिहास।

जब से आदमी जंगली जानवरों के गिरोह से अलग होकर सामाजिक जीव के रूप में आया तब ही से उसने प्रकृति में फैले हुए पदार्थों और उनके चारों ओर गतिशील शक्तियों की ओर नजर डाली। अनुभव और शोध के जरिये उसने पदार्थों के बारे में कुछ तथ्य खोज निकाले और वे तथ्य जब जमा होकर बढ़ गए तब उसने उनके अंदर विभिन्न प्रणालियों का विकास किया। उन्हें काट-छाँटकर अलग-अलग वर्गों में विभक्त कर दिया। इस विभाजन और प्रणाली-निर्माण के कारण ही वे तथ्य-संचय विज्ञान कहलाने लगे। पदार्थों के बारे में जितने तथ्य उसे मिले वे रसायन शास्त्र नामक विज्ञान में जमा हुए।

परंतु सभ्यता का उदय और विकास किसी एक ही समय या किसी एक ही स्थान पर तो हुआ नहीं। आज से पाँच-छः हजार वर्ष पहले भारत, चीन, मिस्र, मेसोपोटेमिया और यूनान में अलग-अलग सभ्यता का, विज्ञान का विकास हुआ। उसी में रसायन शास्त्र भी जन्मा, विकसा और फैला। अभीतक यह विवादग्रस्त प्रश्न है कि रसायन शास्त्र के सिद्धांत सबसे पहले कहाँ और कैसे खोजे गए। इसीलिए बहरहाल ये पाँचों स्थान आदि रसायन के (आॅतक्रेमिक) उद्गम स्थान समझे जाते हैं। इन सब देशों में प्रारंभिक रासायनिक ज्ञान की प्रगति सदा चिकित्सा-शास्त्र के साथ, धातु-विज्ञान के साथ, विभिन्न दस्तकारी कलाओं के साथ एवं तांबे और पारद को सोने-चाँदी में बदल पा सकने के विश्वासों और प्रयत्नों के साथ मिली हुई, जुड़ी हुई, पाई जाती है।

चूँकि हम निर्णयात्मकरूप से इनमें किसी भी एक देश को रसायन शास्त्र का एकमात्र आदिमस्थान नहीं मान सकते हैं, इसलिए स्वच्छया हम अपने देश से प्रारंभ करें तो अच्छा होगा।

रसायन शास्त्र का आदिकाल

पुराने जमाने में रसायन-शास्त्र का गहरा संबंध चिकित्सा शास्त्र से रहा है। उसी के अनुसार यदि हम भारतीय चिकित्सा-परंपरा के वाहक 'चरक' और 'रसार्णवम्' आदि ग्रंथ उठाकर देखें तो हमें बहुत से रासायनिक तथ्यों का ज्ञान होता है। मसलन 'रस समुच्चयम्' में एक श्लोक है:—

प्राकृत सहज वह्निसंभूत खनि संभवम्।
रसेन्द्रवेध संजात, स्वर्णं पंचविधम् स्मृतम्॥

इसके अनुसार सोना पाँच प्रकार के होता है-प्राकृतम् यानी कुदरती, सहजम् यानी जो आसानी से पड़ा हुआ मिल जाय, वह्निसंभूतम् यानी जो आग से पैदा हो, खनी संभवम् यानी जो खोदकर खान से निकाला जाय और रसेंद्रवेध संजातम् यानी जो विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं से पैदा किया जाय। अंदाज कीजिए कि आज से हजारों साल पहले कितने स्पष्ट रूप में सोने का जिक्र है। यहाँ यह बतला देना भी ठीक होगा कि उस जमाने में भारतीय सोने को तत्व न मानकर यौगिक या समास मानते थे और उस युग के आचार्य तांबे से सोना बनाने के स्वप्न देखा करते थे। यह कह देना भी शायद उपयुक्त हो कि प्राचीन भारतीय रसायन शास्त्र को हम 'विज्ञान' की संज्ञा नहीं दे सकते। उस जमाने में हजारों-लाखों औषधियाँ, खनिज और उद्भिज पदार्थ, लोगों को ज्ञात अवश्य थे और समय-समय पर उनका संग्रह या समुच्चय भी विभिन्न ग्रंथों में हुआ है, तो भी उन संग्रहों में कहीं वर्ग विभाजन या प्रणाली निर्माण की व्यवस्था नहीं की गई। इसीलिए तथ्यों के साथ ही-साथ हम कल्पनाओं और स्वप्नों का मिश्रण भी पाते हैं।

दूसरी बात यह है कि उन युगों की दर्शन धाराओं ने इस विश्व के सब पदार्थों के साथ एक न एक आधि दैविक भाव जोड रक्खा था, जिससे उन पदार्थों के मौतिक और रासायनिक गुणों के बीच में ही अचेतनरूप से बहुत-सी ऐसी बातें आईं, जिन्हें आज हम हास्यास्पद समझते हैं। परन्तु इतिहास पढ़ते समय उस युग की प्रमुख विचार-धाराओं का और जीवन के प्रति बने हुए दृष्टिकोण का विचार तो अवश्य करना होगा।

हमने ईसवी सन् के ३००० वर्ष पहले अपनी कहानी शुरू की थी। एक साथ ही अब हम २५०० वर्ष पार करके ईसवी सन् के लगभग ५०० वर्ष पहले चीन में पहुँचते हैं। चीन के अंदर आदि-रसायन का विकास उस देश की 'ताओ' नामक दर्शन प्रणाली और धार्मिक-मत से सम्बद्ध है। ईसवी सन् के १५०० वर्ष पहले से ५०० वर्ष पहले तक ला ओ त्सु, च्वाङ् ताओ लिङ् और हो-कुङ् नाम के बड़े बड़े धर्माचार्य और रसायन शास्त्री हुए। इनमें हो-कुङ् सबसे प्रसिद्ध आचार्य समझे जाते हैं। अपने देश के 'चरक' और 'रस समुच्चयम्' के समान ही इन्होंने भी ग्रंथ लिखे हैं, जिसमें मोती-मूँगे, जडी-बूटियाँ और सुवर्ण-निर्माण के गुण और विधियाँ विशद-रूप से लिखी मिलती हैं। उन्होंने रसायन शास्त्र के तीन विभाग किए हैं—१ तरल सुवर्ण का निर्माण, जिससे आयु लंबी की जा सके। २ ताँबे और पारद से सुवर्ण का निर्माण, ३ जीवनप्रद लाल-औषधि, सिंदूर का निर्माण। इस प्रकार हम देखते हैं कि चीन में वर्तमान रसायन के एक-आध बाहरी वृत्त ही छुए जा सके थे। ५१ सौ वर्ष पीछे गंधक, जस्ता, संखिया आदि के विशिष्ट गुणों की खोज भी चीनी लोग कर सके, ऐसा वर्णन उनके पुराने ग्रंथों में मिलता है।

लगभग उसी समय या सौ डेढ सौ साल के बाद मिस्र में आदि रसायन शास्त्र का जिक्र हमें मिलता है। वहाँ भी प्रकृति में सुलभ धातुओं और जड़ी बूटियों का जिक्र है। मिट्टी और काँच के सामानों में मिस्र एक जमाने में सिरताज था और नील नदी के बालू से सोना निकालना उस युग की एक विशेषता थी। मिस्र के बारे में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जैसे ग्रंथ हमें चीन या भारत में चिकित्सा शास्त्र या धातु शोध के बारे में मिलते हैं वैसे ग्रंथ मिस्र में हमें उपलब्ध नहीं हुए। इसलिए मिस्र के लोगों को किन किन पदार्थों का अच्छी तरह ज्ञान था यह हम उनकी नील घाटी की सभ्यता की ऊँचाई से ही जाँच सकते हैं, पुरानी पुस्तकें इनके बारे में लुप्त हैं।

पुस्तकों की कमी की जो बात मिस्र के लिए लागू होती है वही मैसापोटामिया और यूनान के लिए भी। इसलिए उन सभ्यताओं के रासायनिक ज्ञान का विवेचन अभी सम्भव नहीं है।

रसायन-शास्त्र का मध्ययुग

चीन, भारत, मिस्र आदि सभ्यता के सब आदिम स्थानों में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—ये पाँच मूलभूत तत्व माने जाते थे। अपने देश में पंच भौतिक शरीर की कल्पना तो बड़े बड़े शास्त्रों तक में पाई जाती है परन्तु उस जमाने में तत्व के वे अर्थ न थे जो हम आज समझते हैं। सब तत्व की इकाईयों को परमाणु समझा जाता था और परमाणु की परिभाषा थी—जो काटा, तोड़ा या विभक्त न किया जा सके।

असल में दुनिया में अरबों की विजय के साथ ही इधर उधर बिखरे पुराने विद्वानों को अरब और ईरान में आश्रय मिला। प्रारंभ में अरब लोगों ने भी रसायनशास्त्र का उपयोग नई औषधियाँ खोजने और पारे से सोना बनाने की कोशिशों में किया। वे धातुओं को तत्व न मानकर रासायनिक गुणों का बदल समझते थे। जबर अरब देशों के एकमात्र प्रमुख रसायनशास्त्री हुए हैं। इनका विचार था कि धातुओं के सब यौगिक पारद और गंधक के बने होते हैं। ये स्रवण, विलयन और स्फटिकीकरण की रासायनिक प्रक्रियाओं को भलीभाँति समझते थे। इनके समय में कास्टिक सोडा, अमोनियम क्लोराइड, नत्रिकाम्ल, गंधकाम्ल आदि बनाए जाते थे और लोगों को इनके गुणों से परिचय था। सिल्वर नाइट्रेट बनाने की विशद विधि भी इनके लेखों में पाई जाती है।

जबर के बाद अरबों ने किसी बड़े रसायन शास्त्री को जन्म नहीं दिया। दूसरी तरफ सदियों तक योरोप की वैज्ञानिक विचारधारा क्षीण रही। १३ वीं सदी में आकर एलबर्टस मैगनस और रौजर बेकन ने आकर उसमें कुछ जान फूँकी। मैगनस ने ही सबसे पहले धातुओं और गंधक के बीच रासायनिक स्नेह को उनके पारस्परिक संयोग का कारण बतलाया, रौजर बेकन ने योरोप के बारूद का

आविष्कार किया और अमोनिया का पता लगाया। परंतु रौंगर बेकन की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने स्वयं परीक्षण करके तथ्यों को सिद्ध करने और खोज लेने की प्रणाली पर जोर दिया है।

१६ वीं सदी के प्रारंभ से ही सरकारी प्रतिबंधों को तोड़कर साहसिक खोज की एक सचेतन भावना योरोप के लोगों में फैली। १६वीं सदी के शुरू में ही अमेरिका में नई-नई खोजें हुई। गुटेनबुर्ग ने छापने की कला का आविष्कार भी उन्हीं दिनों किया था। योरोप में किताबों का नया प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। नए-नए विश्व-विद्यालयों की स्थापना हुई थी। जीवन को रासायनिक आधारों पर समझने की नई कोशिशें शुरू हुई थीं। और, रसायन-शास्त्र का उद्देश्य जीवन को अधिक सुखी बनाना हो गया था। इन सबके फलस्वरूप नई प्रयोगशालाएँ खुलीं, परीक्षणों और प्रयोगों द्वारा नए यौगिक खोजे हुई और रसायन-शास्त्र वैज्ञानिकता के आधार की ओर बढ़ा।

१४ वीं सदी से लेकर १६ वीं सदी तक पैरेसेलियस, एग्रिकोला, फौन हैलमौंट, और ग्लौबर नामक प्रसिद्ध रसायनज्ञ हुए। पैरेसेलियस मौजूदा स्विटजरलैंड के बाजल विश्वविद्यालय में रसायन-शास्त्र और औषधि-शास्त्र का अध्यापक था। उसीने सबसे पहले अयुक्ति-संगत प्राचीन सिद्धांतों को अमान्य घोषित कर रसायन शास्त्र में नए तथ्यों की खोज की। हाइड्रोजन की खोज का आधा श्रेय उसी को है। धातुओं का जो वर्ग विभाजन उसने किया वह सदियों तक मान्य रहा।

एग्रिकोला अपने समय का प्रमुख औद्योगिक रसायन-शास्त्री था। उसने धातुओं को शोधने, मिश्रण करने और उनसे नए यौगिक बनाने के संबंध में बहुमूल्य खोजें कीं। उसकी प्रमुख पुस्तक 'डि रे मैटल्लिका' के कितने ही संस्करण हुए और एक लंबे अरसे तक वह अधिकृत पुस्तक समझी जाती रही। उसके जमाने में एक लोकप्रिय अशुद्ध विचार यह था कि जैसे सब्जियाँ खेतों में उगा करती हैं वैसे ही धातु भी खानों में उगा करते हैं। और इसीलिए लोग सोचा करते थे कि अगर पुरानी खानों को कुछ अरसे के लिए बंद कर दिया जाय तो वे फिर भर जाएँगी। उसने इस विचार का तीव्र विरोध किया और धातुओं एवं वनस्पतियों का भेद समझाया।

फौन हैलमौंट ने अपनी सारी जिंदगी अपनी प्रयोग-शाला में समाप्त कर दी। उसीने सबसे पहले हवा, भाफ, और दूसरी गैसों के आपसी भेद को लोगों को सुझाया। उसीने उनका विभाजन ज्वलनशील और अज्वलनशील के रूपों में किया। परंतु उसे गैसों को अलग करने और इकट्ठा करने की विधि नहीं मालूम थी।

ग्लौबर का नाम तो आज हर विज्ञान का मामूली विद्यार्थी भी जानता है। उसने कितने ही नए रासायनिक यौगिकों को खोजा। शुद्ध उद्हरिकाम्ल और नत्रकाम्ल उसने पहल पहल योरोप में बनाया। उसका बनाया हुआ सोडियम सल्फेट आज भी 'ग्लौबर के लवण' के नाम से मशहूर है। आधुनिक रसायन की दोहरे पृथक्कीकरण की प्रक्रिया को प्रयोगशाला में उसीने सबसे पहले बरता और अपने तथ्यों की यथार्थता की सिद्धि में उसने तुला का जो उपयोग किया वह आज भी मान्य और सराहनीय है।

इस प्रकार रसायन का महत्त्व और प्रभाव बहुत तेजीसे बढ़ा और धीरे-धीरे औषधि-शास्त्र से अलग होकर इसका क्षेत्र सब ज्ञात पदार्थों के पृथक्करण और संयोग के आधारभूत नियम जान लेना हो गया। खनिज पदार्थों के विश्लेषण किए गए। भट्ठी के साथ ही अब जल और अम्ल भी रासायनिक पदार्थों के गुणों के अध्ययन में प्रयुक्त होने लगे। इसीलिए १७ वीं सदी में जितना वैज्ञानिक काम रसायन-शास्त्र में हुआ वह पिछले १६ सौ सालों के मिले-जुले कामों से कहीं अधिक था।

नई भावना को लेकर पहले वैज्ञानिक १७ वीं सदी में रौबर्ट बौयल हुआ। यह अंग्रेज था और इंगलैंड की रॉयल सोसाइटी के संस्थापकों में से था। इसने अधिकतर कार्य वायु और जल पर किया है। ये दोनों पदार्थ प्रकृति में बहुतायत से मिलते हैं और इनका उपयोग भी बहुत है। इसने एक नए 'वायु पंप' का प्रयोग करके शून्य वातावरण में गैसों का व्यवहार देखा और देखकर रसायन के प्रसिद्ध सिद्धांत की रचना की, जिसके अनुसार 'गैस का परिमाण दबाव के विरुद्ध बदलता है' यह बतलाया गया है। यह सिद्धांत आज भी सर्वमान्य है और 'बौयल के नियम' के नाम से जाना जाता है। पदार्थ की आंतरिक रचना के बारे में उसके विचार आज के प्रचलित विचारों के काफी निकट थे, परंतु अपने उन विचारों को इसने कभी सूत्र-बद्ध नहीं किया।

गैसों के बाद वैज्ञानिकों की दृष्टि आग पर पहुँची।

प्रश्न था—कोई चीज जलती क्यों है? धातुओं को तपाने से कई दफे जो लवण बनते हैं उनका मूल क्या है? १८ वीं सदी में ज्वलन का जो सिद्धांत प्रचलित था उसे 'फ्लौजिस्टन सिद्धांत' कहा जाता है। इसके अनुसार धातुएँ कैल्क्स और फ्लौजिस्टन नामक तत्वसे निर्मित यौगिक समझी जाती थीं। और जब उन्हें गर्म किया या जलाया जाता था तब फ्लौजिस्टन नष्ट हो जाता था और कैल्क्स यानी लवण बाकी बच जाता था। इस सिद्धांत के प्रतिपादक बचेर और स्टाह्ल नामक दो जर्मन रसायनज्ञ थे। जलनेवाली हर चीज में जैसे कोयला, गैस और तेल में यह फ्लौजिस्टन नामक तत्व समझा जाता था। पर प्रश्न था कि यह तत्व क्या है? इसकी परीक्षा प्रयोगशाला में हो सकती है कि नहीं? आग की ज्वाला सदा ऊपर को क्यों उठती है? इन प्रश्नों के कोई उत्तर उस समय के वैज्ञानिकों के पास नहीं थे। सबसे बड़ी भूल उन लोगों की यह थी कि वे यह नहीं जानते थे कि वायु की बनावट क्या है? यह मिश्रण है, समास है या तत्व है?

उस जमाने के सब बड़े-बड़े वैज्ञानिक यानी ब्लैक, कैवेंडिश, प्रीस्टल, शिले आदि ज्वलन के इस फ्लौजिस्टन सिद्धांत को मानते थे। १७ वीं सदी के अंत में हुक नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध भी किया कि ज्वलन का कारण फ्लौजिस्टन न होकर वायु के अंदर का कोई तत्व है, पर उनकी बात बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने न मानी। कुछ दिन बाद मेयो नामक वैज्ञानिक ने यह स्वीकार किया कि वायु में ज्वलन पोषक कोई तत्व विद्यमान है। पर यह तत्व क्या है? उसके कौन से गुण हैं? इसे स्वयं फ्लौजिस्टन सिद्धांत के आचार्य प्रीस्टले और शिले ने खोजा जिसे हम आज ओषजन कहते हैं। दोनों ने अलग-अलग पारद को गर्म करके एक लाल पारद लवण बनाया और फिर इस लवण को वायु-शून्य प्रकोष्ठ में रखकर फिर गर्म किया तो पारद के साथ ही उन्हें एक ऐसी गैस मिली जो ज्वलन की पोषक थी। प्रीस्टल ने इसे फ्लौजिस्टनमय-वायु कहा। उन्हीं दिनों कैवेंडिश ने ज्वलनशील वायु का आविष्कार किया और देखा कि प्रीस्टले की फ्लौजिस्टनमय वायु और उनकी अपनी आविष्कृत ज्वलनशील वायु को जब मिलाकर जलाया जाता है तो जल की उत्पत्ति होती है। यह एक ऐसा तथ्य था जिससे दोनों चक्कर गए। उन्होंने मामला फ्रांस के एक बड़े वैज्ञानिक लवाजिए के सुपुर्द कर दिया। लवाजिए ने कैवेंडिश की ज्वलनशील वायु को उद्जन यानी जल की उत्पादक और प्रीस्टले की फ्लौजिस्टनमय वायु को ओषजन यानी अम्ल की उत्पादक गैसों के नाम दिए।

रसायन शास्त्र का आधुनिक युग

अब धीरे-धीरे रसायन शास्त्र एक विज्ञान में परिणत होता गया। बहुत से तथ्य तो जमा हो गए थे परंतु उनका वर्ग विभाजन ठीक तरह नहीं हो सका था। फिर भी लोग तत्व और समास में भेद समझने लगे थे। तत्व की परिभाषा थी—तत्व वह वस्तु है जो एक ही किस्म के पदार्थ का बना हो और समास वह है जो दो या दो से अधिक तत्वों से किसी निश्चित अनुपात में मिल कर बना हो। तत्व और समास की परिभाषा स्पष्ट होने पर योरोप में तत्वों और समासों की खोज की होड़ सी लग गई। विश्लेषिक रसायन के द्वारा दुनिया भरके खनिज और उद्भिज पदार्थों का विश्लेषण किया गया और पाया गया कि यह सारी दुनिया कुल थोड़े से तत्वों की ही बनी हुई है। शिले, क्लेपरहावे, वर्थालेट बर्गमान, आदि वैज्ञानिकों के नाम इस तत्व परीक्षा में विशेष उल्लेखनीय हैं।

१८ वीं सदी में अब हमारी कहानी वर्त्तमान रसायन शास्त्र के संस्थापक लवाजिए तक पहुँच गई है। रसायन के ये महान आचार्य फ्रांस में हुए। इनकी महत्ता इसमें है कि आदिम युग से लेकर अपने जमाने तक के सारे तथ्यों और दंत-कथाओं को, विश्वासों और सिद्धांतों को, मतों और विचारों को इन्होंने मथा और उसमें से, जितना कुछ अयुक्ति-संगत और अमान्य था वह बाहर निकाल फेंका और उसके बाद उन्होंने रसायन के जिन सिद्धांतों की रचना की वे कुछ यों लिखे जा सकते हैं—

(१) रासायनिक प्रक्रियाओं में पदार्थों के रूप ही बदलते हैं परंतु संपूर्ण परिमाण सदा वही रहता है।

(२) सब तरह के ज्वलनों में ज्वलनशील वस्तु ओषजन के साथ मिलती है। धातुओं के साथ मिल कर ओषजन लवण बनाती है और धातु भिन्न तत्वों के साथ मिलकर अम्ल।

(३) सब अम्लों में ओषजन क्षारीय पदार्थों के साथ या मूल (रैडिकल) के साथ मिली हुई पाई जाती है।

अप्रामारिक पदार्थो में अधिकतर यह एक तत्व होता है परतु प्रामारिक पदार्थों में यह प्रागार, उद्जन, नत्रजन और फौस्फोरस आदि कई तत्वों का समूह होता है।

इन आधारभूत समझे जानेवाले सिद्धातों को जान लेने के बाद यह प्रश्न उठा कि तत्व और समास आपस में कैसे मिलते हैं? उनके नियम निषेध क्या है? और इसका हल वैज्ञानिक डाल्टन ने निकाला उन्होंने बताया कि (१) प्रत्येक तत्व एक प्रकार के परमाणु से बना है जिनके भार स्थिर हैं। (२) रासायनिक समास विभिन्न तत्वों के परमाणुओं के संयोग से बनते हैं। ये परमाणु सीधे आकिक सबधों से बँधे रहते हैं।

परमाणुओं का विचार रसायन-शास्त्र के लिए क्रांतिकारी विचार था। परतु डाल्टन के परमाणुओं की व्याख्या कहीं स्पष्ट नहीं थी। कितने ही परीक्षणों के बाद भी उनके सिद्धातों को सिद्ध नहीं किया जा सकता था। उसी समय एक् गे लुसाक नामक वैज्ञानिक हुआ। उसने परीक्षण करके यह सिद्ध किया कि जब गैस परस्पर सयुक्त होते हैं तो उनके सयोग की परिमाओं में एक साधारण अनुपात रहता है। और उस संयोग के परिणामस्वरूप बनी हुई नई गैस की परिमा में और प्रारंभिक गैसों की परिमाओं में भी एक साधारण अनुपात रहता है। गेलुसाक और डाल्टन के सिद्धातों में सामजस्य पैदा करने के लिए एक 'अणु' (मौलीक्यूल) की कल्पना की गई। इसका श्रेय इटली के वैज्ञानिक एवोगैड्रो को है।

डाल्टन के परमाणु सिद्धात के बाद परमाणु के स्वरूप, गुण, कार्य आदि की चर्चा जोरों से चली। यह स्पष्ट समझा जाता था कि सब रासायनिक प्रक्रियाओं के लिए परमाणु आधारभूत तत्व की तरह काम करता है। परमाणु विभाज्य है या नहीं इसपर डाल्टन चुप थे। १८१५ में प्राउट ने यह विचार प्रकाशित किया कि हर तत्व का पारमाणिवक भार पूर्ण सख्या में है और वे सख्याएँ उद्जन की इकाई की गुण मात्र हैं। परतु पारमाणिवक भारों के वैश्लेपिक अध्ययन के साथ ही प्राउट का विचार अमान्य घोषित कर दिया गया। प्रारंभ में बरजीलियस ने प्राउट के विचारों का स्वागत किया परतु अपने प्रयोगों के बाद वे उन विचारों के कट्टर विरोधी हो गए। उसी समय मैरिनक नामक एक नए वैज्ञानिक ने यह सुझाया कि यदि उद्जन के पारमाणिवक भार का आधा हिस्सा इकाई की तरह से मान लें तो सब तत्वों के पारमाणिवक भार उसकी गुणामात्र सख्याएँ होगीं। परंतु प्रयोगों ने इस विचार को गलत साबित कर दिया।

डोबरनीयर ने तत्वों के पारमाणिवक भारों में "त्रिक" (ट्रायड) की खोज करके दिखलाई। उन्होंने दिखलाया कि स्ट्रौंशियम नामक धातु का पारमाणिवक भार बेरियम और कैल्शियम के पारमाणिवक भारों की अकगणितिक मध्य-राशि है। इस प्रकार बेरियम स्ट्रौंशियम और कैल्शियम एक त्रिक समझा गया। उसी तरह लीथियम, सोडियम और पोटाशियम का दूसरा क्लोरीन ब्रोमीन और आयोडीन का तीसरा और सल्फर टैलेरियम और सैलनियम का चौथा त्रिक समझा गया। इसी विचार को सामने रखकर १८५७ में लेनसेन ने उस समय के सब ज्ञात तत्वों को लगभग इसी तरह के बीस समूहों में बाँटकर रख दिया। उसके बाद औडलिंग ने उन बीसों समूहों में से एक प्राकृतिक प्रणाली खोजने की कोशिश की, परतु ऐसे सब प्रयत्नों में उन्हें असफलता मिली।

१८५३ में ग्लेडस्टन ने सबसे पहले पारमाणिवक भार के आधार पर तत्वों की एक ऊपर की बढती हुई माला सुझाई, परतु उस समय के ज्ञात पारमाणिवक भार विश्वास के योग्य न थे। इसलिए उनकी माला का कोई विशेष अर्थ नहीं निकल सका। १८६३ में डी चान्कार्टू ने फिर से मापे हुए पारमाणिवक भारों के आधार पर ग्लेडस्टन की सूची को सुधारा। इस सुधारी हुई सूची को सामने रखकर ही रूसी वैज्ञानिक मेंडेलीफ ने यह प्रतिपादित किया कि किसी भी तत्व के गुण उसके पारमाणिवक भार पर आश्रित हैं। यही घोषणा रसायन की विख्यात 'आवर्त्त प्रणाली' की आधार बनी।

इस 'आवर्त्त प्रणाली' के प्रतिपादन से कुछ पहले ही हर तत्वको उसके लेटिन नाम के अनुरूप ही एक चिह्न दिया गया। चिह्न के बाद हर तत्व के परमाणु का पारस्परिक सपर्क और सबध के लिए प्रयोगों के आधारपर 'सयुजता' (वेलेन्सी) नामक गुण बाँटा गया, जिससे पता चले कि अमुक तत्व का परमाणु किस प्रकार या किस-किस प्रकार दूसरे तत्वों के परमाणु व परमाणुओं से सयुक्त या वियुक्त होता है। चिह्न और सयुजता के बाद इन दोनों को मिलाकर 'सूत्रों' (फारमूलों) का जन्म

हुआ। यौगिकों के संक्षिप्ततम नामों को ही सूत्र कहा गया। यह सब कब, क्यों और किसने किया—यह एक लंबी कहानी है, जिसे स्थानाभाव से यहाँ देना संभव नहीं।

इतना सब होने के बाद मेंडेलीफ ने अपनी 'आवर्त प्रणाली' के आधारपर सब ज्ञात तत्वों को एक 'आवर्त्त-सारिणी' (पीरियॉडिक टेबुल) में सजाया। उस सारिणी के सिद्धांत कुछ यों थे—

(१) यदि सब तत्वों को उनके पारमाणविक भार के आधार पर सजा कर रखा जाय तो उनके गुणों में एक अद्भुत आवर्त्तन (पीरियाडिसिटी) दिखलाई पड़ता है। (२) समान रासायनिक गुणोंवाले तत्वों के पारमाणविक भार समान रूप से बढ़ते हुए पाए जाते हैं। (३) पारमाणविक भार के आधार पर तत्वों के विभाजन से उनके विभिन्न रासायनिक गुण और उनकी संयुजता स्पष्टतया सामने आ जाती है। (४) उन तत्वोंका पारमाणविक भार कम है जो प्रकृति में बहुतायत से फैले हुए हैं। (५) पारमाणविक भार की अधिकता किसी तत्व के गुणों का उसी प्रकार पता देती है जैसे अणुओं की अधिकता किसी यौगिक के गुणों का।

मेंडेलीफ की सारिणी में कमियाँ थीं, और गहरी कमियाँ थीं। परंतु उस समय के रासायनिक विश्व के लिए यह कम महत्वपूर्ण नहीं थी।

तत्व पता चले, उनके पारस्परिक व्यवहार के नियम निषेध पता चले, तत्वों की चरम इकाईयाँ—परमाणु—पता चले, परमाणु के सामूहिक गुण पता चले, परंतु वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न था कि आखिरकार यह परमाणु क्या है? हर तत्व के परमाणु में कोई सामान्य गुण तो नहीं है? अगर नहीं तो पारमाणविक भार के आधार पर संपूर्ण तत्वों की 'आवर्त्त सारिणी' से उनके गुणों का एकीकरण और विभाजन इतनी आसानी और सुंदरता से क्यों हो जाता है? परमाणु का विभाजन किया जा सकता है कि नहीं? ये सवाल १८९८ तक ऐसे ही बने रहे।

परमाणु के बारे में जो खोज आज पिछले पचास सालों में हुई है उसका जिक्र करने से पहले यह बतला देना नितांत आवश्यक है कि मैंने अब तक रसायन-शास्त्र के बारे में जो कुछ भी लिखा है वह सामान्य और चौड़े सैद्धांतिक आधारपर ही स्थित है। यों रसायन शास्त्र की कई शाखाएं हैं—

(१) अप्रांगारिक रसायन, (२) प्रांगारिक रसायन और (३) भौतिक रसायन। इन शाखाओं के अपने अपने लम्बे और सुंदर इतिहास हैं। उनका जिक्र यहाँ संभव नहीं है। परंतु इतना कहना असंगत नहीं होगा कि प्रांगारिक रसायन की नींव १८२८ में जर्मन रसायनज्ञ वोहलर ने अपनी प्रयोगशाला में अमोनियम सायनेट से यूरिया की रचना कर डाली थी। उसके बाद लीबिग केरियस विक्टरमेयर, हौफमान आदि कितने ही बड़े-बड़े रसायनशास्त्री हुए। आज रसायन शास्त्र में चार लाख ज्ञात यौगिकों का समावेश हो चुका है। इनमें से साढ़े तीन लाख यौगिक प्रांगारिक हैं।

भौतिक रसायन की नींव तो गेलुसाक, एवोगेड्रो, एंपियर आदि के समय में ही पड़ गई थी। परंतु १८८७ में आर्हेनियस के 'वैद्युतिक वियवन सिद्धांत' 'इलेक्ट्रिकल डिस्सोसियेशन थ्योरी' के साथ इस शाखा का महत्व बहुत बढ़ गया। उसके बाद ओस्टवाल्ड, वाट हौफ और चंद्रशेखर वेंकटरमण आदि ने इस शाखा में आधारभूत अन्वेषण किए जिनसे आज यह शाखा विश्व की किसी भी ज्ञानशाखा के अनुरूप ही आवश्यक समझी जाती है।

जैसे भौतिक रसायन में भौतिक शास्त्र (शक्ति शास्त्र) और रसायन शास्त्र (पदार्थ शास्त्र) आकर मिलते हैं वैसे ही परमाणु संबंधी खोज में भी। इस खोज में शक्ति और पदार्थ परस्पर परिवर्त्तनशील समझे गए, इसीलिए इस सामान्य क्षेत्र का विकास संभव हो सका।

परमाणु-शक्ति का विकास

१८९५ में प्रयोगशाला में काम करते हुए रौंटजन ने क्ष-रश्मियों का आविष्कार किया। १८९६ में बैकरेल ने यह जाना कि यूरेनियम में से एक प्रकार के कण निकलते हैं, जो अंधेरे में भी भा-चित्रीय पट्ट पर असर डाल सकते हैं। १८९८ में पियर और मेरी क्यूरी ने उन कणों पर खोज करते हुए एक नए तत्व रेडियम का आविष्कार किया, जिनमें से वैसे ही विद्युत्-कण प्रवाहित होते थे जैसे यूरेनियम में से। इन दोनों वैज्ञानिकों ने यह भी बतलाया कि रेडियम और यूरेनियम में से एल्फा, बीटा और गामा—ये तीन तरह की किरणें बाहर निकलती हैं। १८९९ में जर्मन वैज्ञानिक मेक्स प्लेंके ने तत्कालीन 'प्रकाश के विद्युत् चुंबक सिद्धांत' (इलक्ट्रो मैगनटिक थ्योरी ऑफ लाइट) की कमजोरियों को दूर करने के लिए 'क्वान्तम सिद्धांत'

का प्रतिपादन किया। १९०५ में एलबर्ट आइंस्टाइन ने अपनी सापेक्षता के विशेष सिद्धांत के प्रतिपादन के साथ ही यह बतलाया कि इस दुनिया में पदार्थ और शक्तियाँ आपस में बदली जा सकती हैं। कैसे? यह वे न बता सके। १९१२ में बर्तानवी वैज्ञानिक लौर्ड रदरफोर्ड ने तत्कालीन ज्ञान के अनुसार परमाणुओं की आंतरिक रचना का एक चित्र सामने रखा जिसमें उन्होंने दिखाया कि धनात्मक विद्युत् के चारों ओर ऋणात्मक विद्युत के कण एक या एकाधिक वृत्तों में थोड़ी-थोड़ी दूर पर धनात्मक विद्युत् को सतुलित करने के लिए स्थित रहते हैं। १९१३ में नील्स बोअर ने लार्ड रदरफोर्ड के परमाणु मौडल में यह संशोधन किया कि नाभि के चारों ओर अपने स्थिर वृत्तों में ये ऋण विद्युत् कण अथक और निरंतर गति से घूमा करते हैं। १९१९ में तेजोद्गिरण (रेडियो एक्टिविटी) से निकली एल्फा किरणों को लार्ड रदरफोर्ड ने नत्रजन के परमाणुओं पर तीव्रशक्ति के साथ प्रहारित किया और उसके फलस्वरूप उन्हें ओषजन के कुछ परमाणु मिले। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमाणुओं से परे भी कोई ऐसी आधारभूत इकाई दुनिया के सारे पदार्थों को बाँधकर रखने की है। ओषजन मिलने के साथ ही उन्हें अपार शक्ति राशि भी मिली। १९३२ में कौक्रोफ्ट और वाल्टन ने लीथियम के ऊपर प्रोटोन नामक धनात्मक विद्युत् कणों से उसी तीव्रता के साथ प्रहार किया तो उन्हें दो 'एल्फा कण' मिले। परन्तु इन दो 'एल्फा कणों' की सयुक्त मात्रा (मास) लीथियम और प्रोटोन की मिली जुली मात्रा से कम थी। साथ ही उन्हें १७२ मेगावाट शक्ति भी मिली। आइंस्टाइन के सूत्रों को जब कौक्रोफ्ट के प्रयोग के संदर्भ में देखा गया तो वह एक दम फिट बैठ गया। इससे उसकी सत्यता प्रमाणित हुई।

१९३२ में शेडविकने इंगलैंड में और बोथे एवं बैंकरने जर्मनी में बैरीलियम एल्फा कणों को तीव्र रूप से प्रहारित करके न्यूट्रन (विद्युत रहित) नामक कण प्राप्त किए। १९३४ में इटालियन वैज्ञानिक एनरिको फर्मी ने यूरेनियम को न्यूट्रन कणों से तीव्रता से प्रहारित किया तो 'यूरेनियम' से अधिक भारवाले दो एकदम नए तत्वों की सृष्टि वे कर सके। इन नए तत्त्वों को उस समय तक ज्ञात किसी भी भौतिक या रासायनिक तरीकों से पहचाना नहीं जा सका था और इन्हें नेपचूनियम तथा प्लुटोनियम के नाम दिए गए। १९३९ में हाह्न और स्ट्रॉसमानने यह दिखलाया कि जब यूरेनियम को न्यूट्रन कणों से तीव्रता से प्रहारित किया जाता है तो न्यूट्रन कणों के अलावा यूरेनियम के पारमाणविक भार के आधे भारवाले बेरियम के परमाणु पाए जाते हैं और साथ ही एक अपार शक्ति-राशि खुल पड़ती है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक न्यूट्रन का प्रहार करने से यूरेनियम में से हमें अपार शक्ति और कुछ अधिक न्यूट्रन मिलते हैं। इसी प्रकार ये नए न्यूट्रन जब फिर यूरेनियम पर हमला करते हैं तब वही प्रतिक्रिया दुहराई जाती है। इस प्रकार इस 'नाभि-मूलक प्रतिक्रिया' का अंत बहुत देर में जाकर और बहुत मुश्किल से होता है। इसीलिए इसका एक दूसरा नाम 'शृंखलात्मक प्रतिक्रिया' (चेन रिएक्शन) रखा गया। 'शृंखलात्मक प्रतिक्रिया' व्यावहारिक रूप में कैसे पैदा की गई और कैसे नियंत्रित की गई यह एक अपने में ही लंबी चौड़ी कहानी है, जिसके विस्तार में जाने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि शृंखलात्मक प्रतिक्रिया को नियंत्रित करके ही परमाणु बम तैयार किया जा सका और परमाणु शक्ति का विकास सभव हो सका। और यों हमारे रसायन शास्त्र का परमाणु भौतिक शास्त्र की शक्ति में परिणत हो गया।

उपसंहार

इस प्रकार हमने देखा कि आदिम युग से लेकर आज तक रसायन-शास्त्र के उद्देश्य समय समय पर बदलते रहे हैं। कभी यह जीवन का दार्शनिक सिद्धात था तो कभी महज धातु-विज्ञान की शाखा भर। कभी यह आग और ज्वालाओं का अध्ययन बना और कभी यह औषधि शास्त्र का अंग बना रहा। एक जमाना आया जब यह पदार्थ मात्र के पारस्परिक संपर्क, संबंध, वैषम्य और विरोध आदि जानना ही इसका अर्थ हो गया।

इसके अनुगामी निरंतर परिवर्त्तनशील इस विश्व के परिवर्त्तनों और परिवर्धनों की अंतर्धारा की गति, और दिशा मापने का प्रयत्न करते हैं। वे गुलाब के रंग का मूल, चंपा की गंध का स्रोत और दूब की हरियाली का कारण समझ लेने को तत्पर रहते हैं और यह जानने का निरंतर प्रयत्न करते हैं कि सूरज की किरणें और वायु किस प्रकार विश्व के इन महान आश्चर्यों की सृष्टि करती हैं।

कविराज भोज

प्रो० महेंद्र भटनागर,

पात्र

भोज	मालव-सम्राट
बाण, महेश्वर, कालिदास	भोज सभा के सम्मानित विद्वान्
लक्ष्मीधर	द्रविड़-देश से आए हुए महापंडित
धर्माध्यक्ष	
अामात्य	
कुविंद	
द्वारपाल,	सैनिक आदि

समय :
१०१० से १०५५ ई०

स्थान :
धारा नगरी

[भारती-भवन में कमल-पद पर स्थित सरस्वती की प्रतिमा । महाराज भोज, बाण, महेश्वर, कालिदास और महापंडित लक्ष्मीधर के बीच सिंहासन पर बैठे हुए हैं। सायंकाल का समय है। सूर्यास्त होनेवाला है। भोज के तेजस्वी मुख-मंडल को सूर्य की अंतिम किरणें स्पर्श कर रही हैं। एकाएक सूर्य को देखकर भोज कह उठते हैं]

भोज—परिपतति पयोनिधौ पतङ्गः ।

(पश्चिम-समुद्र में सूर्य प्रवेश कर रहा है।)

बाण—हाँ, पृथ्वीवल्लभ ! सरसिरुहामुदरेषु मत्तभृङ्गः।
(बंद होते हुए कमल के अंदर में भ्रमर प्रवेश कर रहा है।)

महेश्वर—निस्संदेह कविराज ! उपवनतरुकोटरे विहगः।
(उपवन के वृक्ष के कोटर में विहग प्रवेश कर रहा है।)

कालिदास—ओह ! कविमित्र ! युवतिजनेषु शनैः शनैरनङ्गः ॥

(यौवन से मदोन्मत्त कामिनियों में धीरे-धीरे कामदेव प्रवेश कर रहा है।)

भोज—[मुसकराते हुए] तो फिर सभा विसर्जित हो। [महापंडित लक्ष्मीधर से] महापंडित ! कोई कष्ट तो नहीं ? मालव-प्रदेश की प्रतिभाओं से तो परिचित हो गए न ?

महापंडित—परमार मुकुट मणि ! आप धन्य हैं ! धारा नगरी का कण-कण आपका यशोगान करता है। यह प्रजा धन्य है, जिसे आपका संरक्षण मिला हुआ है।

भोज—महापंडित ! आप जानते होंगे, आमात्य को मेरा आदेश है कि धारा नगरी में कोई मूर्ख निवास न करे और विद्वानों को सभी प्रकार की सम्भावित सुविधाएं प्रदान की जायें।

महापंडित—हाँ, सम्राट ! जानता हूँ। निःसंदेह यह आदेश आपके गौरव के अनुकूल है। इससे धारा नगरी की अशिक्षित जनता की प्रगति होगी और भारतीय संस्कृति को नया बल मिलेगा।

बाण—पृथ्वीवल्लभ ! यह आपके ही उदार और सूझ-बूझ पूर्ण शासन का परिणाम है कि कवियों, विद्वानों, पंडितों आदि को स्वतंत्र-विचरण की सुविधाएँ प्राप्त हैं।

महेश्वर—आपके राज्य में कला और ज्ञान के विकास का यही कारण है, कविराज !

कालिदास—कविमित्र ! भारत के सांस्कृतिक उत्थान में आपका नाम अमर है !

भोज—[धर्माध्यक्ष से] धर्माध्यक्ष ! महापंडित आज मेरे अतिथि हैं, अतः आज की रात्रि उनके भोजन एवं शयन का प्रबंध राजभवन में ही होगा।

धर्माध्यक्ष—जो आज्ञा, विक्रम !

भोज—और कल प्रातःकाल तक धारा नगरी में आपके निवास की उचित व्यवस्था हो ही जानी चाहिए।

धर्माध्यक्ष – त्रिविध वीर-चूड़ामणि ! स्वयं आमात्य इसी कार्य के लिए गए हुए हैं; क्योंकि धारा नगरी में कोई

मूर्ख खोजने पर भी नहीं मिल रहा है; जिससे कोई स्थान रिक्त कराया जा सके अथवा स्थान-परिवर्तन संभव हो सके। आशा है, वे प्रबंध करके आते ही होंगे।

[द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल—आमात्य आपसे साक्षात्कार निमित्त राजोद्यान में उपस्थित हैं, महाराजाधिराज!

भोज—क्या आमात्य आ गए? अच्छा, आने दो। महापंडित लक्ष्मीधर भी इस समय उपस्थित हैं।

[पार्श्व में कोलाहल-सा होता है। आमात्य का दो सैनिकों के साथ प्रवेश। सैनिक एक कुविंद (जुलाहे) को पकड़े हुए हैं। कुविंद के केश अस्तव्यस्त हैं। दाढ़ी बढ़ी हुई है एवं वस्त्र भी मैले तथा फटे हैं। आमात्य तथा सैनिक भोज को प्रणाम करते हैं। कुविंद घबराया हुआ-सा है; वह भोज को प्रणाम करना भूल जाता है।]

आमात्य—त्रिविध वीर-चूड़ामणि! इस समय विद्वानों की गोष्ठी में उपस्थित महाराजाधिराज को कष्ट पहुँचाने-वाले आमात्य को क्षमा करें।

भोज—क्या बात है, आमात्य? कहो। [कुविंद की ओर नेत्रों से संकेत करके] यह कौन है जिसे तुम्हें मेरे सामने लाने की आवश्यकता पड़ी?

कुविंद—महाराज! मैं..........मैं..........तुम्हारे आमात्य.......... !

धर्माध्यक्ष—तुम चुप रहो, अशिष्ट!

भोज—आमात्य! घटना का वर्णन करो।

आमात्य—महाराजाधिराज! यह इस नगरी का एक मूर्ख कुविंद है, जो उत्तर दिशा में स्थित सरोवर के निकट रहता है। धर्माध्यक्ष के कहने पर मैं स्वयं द्रविड़ देश से आए हुए महापंडित के लिए निवास-स्थान की खोज में गया था।..........।

कुविंद—[बीच ही में] प्रभो! तुम्हारा यह आमात्य मुझे मूर्ख कहता है! मैं...... !

भोज—सैनिक! कुविंद को खड़ा करो। [कुविंद से] और कुविंद! पहले आमात्य को पूरी घटना का वर्णन कर लेने दो, तत्पश्चात् मैं तुम्हारी बात भी सुनूँगा।

आमात्य—तो यह कुविंद महापंडित के निवास के लिए सरोवर के तट का स्थान नहीं छोड़ता। अंत में विवश होकर मुझे यहाँ अंतिम-निर्णय के हेतु उपस्थित होना पड़ा।

भोज—कुविंद!

कुविंद—प्रभो!

भोज—क्या कुविंद तुम मेरा यह आदेश नहीं जानते कि धारा नगरी में कोई मूर्ख न रहे और विद्वानों को प्राथमिकता दी जाय?

कुविंद—जानता हूँ।

भोज—फिर तुम्हें अपना निवास-स्थान द्रविड़ देश से आए हुए महापंडित के लिए छोड़ना होगा।

कुविंद—परंतु...... मैं कहाँ जाऊँगा प्रभो! मेरी पत्नी...... बच्चे ......। और मैं मूर्ख भी तो नहीं हूँ महाराज! क्या मैं इसलिए मूर्ख हूँ कि कुविंद हूँ? क्या काव्य-रचना से ही कोई विद्वान् हो जाता है? महाराज, मैं भी कविता कर सकता हूँ..........

> काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि।
> यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि॥
> भूपेन्द्र मौलिमणिमंडितपादपीठ ॥
> हे साहसाक कवयामि वयामि यामि॥

(हे महाराज! मैं काव्य-रचना करता हूँ, पर वह सुंदर नहीं होती; किंतु प्रयत्न करने पर सुंदर कविता भी बना सकता हूँ। भूपेंद्रमौलिमणिमंडित पादपीठ! यदि आप कहें तो कविता बनाऊँ, कहें तो कपड़ा बुनूँ तथा देश-त्याग की आज्ञा दें तो उसका पालन करूँ।) तुम्हीं सोचो प्रभो! फिर मैं मूर्ख कैसे हुआ?

भोज—तो जाओ कुविंद! काव्य-रचना का अभ्यास करो। जब अच्छे ज्ञानी और पंडित बन जाओगे तब तुम्हें भी धारा नगरी में यथोचित सम्मान मिलेगा।

कुविंद—परंतु, प्रभो! काव्य-रचना से क्या होता है? वह किस काम आती है? मुझे देखिए, मैं कपड़ा बुनता हूँ; जो पहनने के काम में आता है। कविगण केवल व्यर्थ की बातें करते हैं......। वाणी-विलास ही तो उनमें मिलता है। तुम्हीं देखो महाराज! मेरा क्या दोष है? तुमने ही काव्य-रचना करके.......... !

आमात्य—[क्रोधित होकर] महाराजाधिराज! यह कुविंद विद्रोही है!

भोज—कुविंद! तुम्हें राज्योचित-सम्मान से बात करनी तक नहीं आती! राजा को 'तुम' शब्द से सम्बोधित करते हो? तुम्हें भाषा तक का ज्ञान नहीं है!

कुविंद—हे महाराज ! मैं नहीं समझता कि मैं कोई भूल कर रहा हूँ । 'तुम' शब्द कोई बुरा नहीं है वरन् अनेक स्थलों पर तो श्रेष्ठ माना गया है। तुम यह अवश्य जानते होगे—

बाल्ये सुतानां वचने प्रियाणां
स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम् ।
त्वकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः
कस्ते प्रभो मोहतर स्मर त्वम् ॥

(बचपन में बच्चों की बोली में 'त्व' शब्द का प्रयोग बुरा नहीं लगता, मित्रों के पारस्परिक वार्तालाप में 'त्व' शब्द अच्छा माना जाता है, युद्ध में सैनिक 'त्व' शब्द का व्यवहार करते हैं-वह भी अभिनंदनीय [redacted] होता है, और स्तुति में राजा ईश्वर आदि के लिए कविजन 'त्व' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसे भी अच्छा माना गया है ।)

भोज—[प्रसन्न मुद्रा में] ततुवाय ! हम आपसे प्रसन्न हैं । आप मेरे नगर की शोभा हैं । आप सरोवर के निकटवर्ती स्थान पर रहिए । महापंडित के लिए अन्य व्यवस्था कर दी जायगी । [धर्माध्यक्ष से] और धर्माध्यक्ष ! आपको पर्याप्त पारितोषिक देकर उचित सम्मान के साथ विदा करो ।

धर्माध्यक्ष—जो आज्ञा महाराज ।

कुविंद—धन्य हो ! प्रभो !

आमात्य—[कुविंद से] मुझे क्षमा करें ततुवाय ! मैंने आपको मूर्ख होने के संदेह में व्यर्थ कष्ट पहुँचाया।

कुविंद—कोई बात नहीं, आमात्य ! भविष्य में महाराजाधिराज भोज के राजत्व में किसी निर्धन और साधारण व्यक्ति को कभी कष्ट न पहुँचाना ।

[कुविंद, धर्माध्यक्ष, आमात्य और सैनिकों का भोज को प्रणाम करके प्रस्थान ।]

महापंडित—परमार मुकुटमणि ! आज का दृश्य देखकर तो मैं चकित रह गया ! धन्य है आपकी उदारता और परख-शक्ति ! [आश्चर्य से] धारा नगरी का जब एक साधारण ततुवाय इतना विद्वान है तो यहाँ के माने हुए विद्वान् कितने प्रतिभा संपन्न होंगे, इसका अनुमान लगाना दुर्लभ है !

भोज—नहीं, नहीं, महापंडित ! मेरी परख-शक्ति कुछ नहीं । मैं तो अभी केवल प्रयोग ही कर रहा हूँ। आज इस ततुवाय के कारण ही मेरा ध्यान निश्चय ही इस बात पर गया है कि विद्वत्ता केवल काव्य-कला तक ही सीमित नहीं है, अनेक उपयोगी कलाओं के मर्मज्ञ भी उतने ही आदर के पात्र होने चाहिए ।

बाण—निःसंदेह महाराज !

महेश्वर—ततुवाय की कविता भी अर्थ गांभीर्य से पूर्ण थी, कविराज !

कालिदास—इस घटना से मेरे हृदय में वेदना हो रही है । कविमित्र ! पता नहीं, जन साधारण की नगरी में क्या स्थिति है । वे अभीतक उपेक्षित ही रहे हैं ।

भोज—हाँ, कालिदास ! तो चलिए, आज हम सब गुप्त रूप धारण कर नगरी में घूमें और जन साधारण की यथार्थ स्थिति का ज्ञान प्राप्त करें ।

महापंडित—हाँ, पृथ्वीवल्लभ ! सचमुच आप जैसे उदार सम्राट ही ऐसा सोच सकते हैं ।

सब—चलिए !

(सबका प्रस्थान)

[पटाक्षेप]



हास्य की सत्ता और महत्ता

श्री गंगाधर मिश्र

जीवन के साथ काव्य का एक निश्चित संबंध है। काव्यों के अध्ययन अध्यापन, सर्जन एवं प्रमथन हमारी रूखी सूखी भावना को अपूर्व-वस्तु प्रदान कर उसे सभी तरह से पल्लवित, पुष्पित एवं फलित बना देती है। काव्य का जीवन रस है। अतः रसात्मक वाक्य काव्य कहे गए हैं। वस्तुतः काव्य में रस वही वस्तु है, जो कुसुम में विकास, किरण में प्रकाश, एवं शरीर में आत्मा है। रस रहित काव्य किंशुक-कुसुम सम कथित है—'रसाऽलङ्काररहिता भारती नैव भासते' (अग्नि पुराण)। रस रूप का निर्वचन 'साहित्यदर्पण' में इस प्रकार है—

विभावेनाऽनुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥

विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव से व्यक्त (स्वयं उसी रूप में परिणत होकर पिण्डीभाव से प्रकाशित) भावुक सामाजिकों की रत्यादि (अनुराग प्रभृति) स्थायी भाव ही रस है। सागर में जैसे कितनी उल्लोल-लहरियाँ उठती और विलीन हो जाती हैं, किंतु उन लहरियों के साथ जल कभी भी उद्वेलित किंवा विचलित नहीं होता है, वैसे ही काव्य में कितने विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव आभासित होकर तिरोहित हो जाते हैं, किंतु स्थायीभाव सर्वदा सर्वथा सुस्थिर रहता है। हाँ, यह सिद्धांत आवश्यक है कि ये (तत्तद्रूपक) विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव स्थायी भाव के अभिव्यंजक होते हैं।

रसों में हास्य की सत्ता

काव्य में नौ रस (वात्सल्य दसवाँ भी) माने गए हैं। सब रसों में एक अनुपम विच्छित्ति है। किंतु हास्य में एक निराली छटा रहती है। हास-मधुमास के आगमन से मानस-कानन में उल्लास किसलय खिलखिला उठते हैं। हास्य की औदास्य-ध्वंसी वंशी की मधुर ध्वनि सुनते ही अमंदानंद सदोह की उत्तुंग तरंगों से अंतरंग नृत्यमान हो उठता है। हास्य की विवेचना इस प्रकार है—

विकृताऽऽकारवाग्वेशचेष्टाऽऽदेः कुहकाद् भवेत्।
हासो हास्यस्थायिभावः श्वेतः प्रमथ दैवतः ।
विकृताऽऽकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः
तदत्राऽऽलम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ।
अनुभावाऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादिकः
निद्राऽऽलस्याऽवहित्याऽऽद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ।
(साहित्यदर्पण ३ य परिच्छेद)

कौतुकी जनों के विपरीत आकार, वचन, वप, हस्तादि संचालन एवं विविध चिह्न आदि से 'हास' स्थायिभाववाला हास्य (रस) होता है। और ये सब विषय जहाँ वर्णित रहते हैं वे गद्य-पद्य भी हास्य रस से युक्त होते हैं। हास्य का वर्ण श्वेत (सात्विक) है, क्योंकि 'कविसमयख्याति' में निर्दिष्ट है—'धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो'। हास्य के इष्टदेव प्रमथ शिव के गण हैं। किसी की विकृत आकृति, मूर्खता एवं उन्मत्त प्रलाप आदि, जिसके दर्शन वा श्रवण से हँसी आती है, आलंबन विभाव है। दूसरे का अनुकरण करना, मुँह बनाना, हाथ चमकाना आदि, जिससे हास्य उद्दीप्त हो, उद्दीपन विभाव है। विभाव के साहाय्य से मानस में जो भाव या विकार उठता है, उसे बाहर प्रकट करनेवाला अनुभाव है। अनुभाव चार प्रकार के हैं। हर्ष आदि का प्रदर्शन 'सात्विक', आँख, मुँह, भौंह एवं हाथ आदि से जो चेष्टाएँ की जाती हैं वे 'कायिक', मानस-कृत प्रमाद आदि 'मानसिक', आहरणीय वस्त्र विन्यास आदि से संबद्ध 'आहार्य' है, किंतु आहार्य की उपयोगिता केवल दृश्यकाव्य में ही होती है। स्थायी भाव में जो जलतरंग के समान उठते और विलीन हो जाते हैं, वे पदार्थ संचारी भाव कहलाते हैं। संचारी भाव ३३ प्रकार के हैं—हर्ष, श्रम, मद, निर्वेद, आवेग, दैन्य, जडता, मोह आदि।

आचार्यों ने हास्य के छः भेद माने हैं—
ज्येष्ठाना स्मितहसिते
मध्याना विहसितावहसिते च
नीचानामपहसित—
न्तचातिहसितञ्च षड् भेदाः ।

ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ।
मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरः कम्पमवहसितम्
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम्
(सा० द० तृ० परि०)

कुछ विस्फारित आँखों एवं कंपित अधरों के साथ के 'हास्य' को स्मित, कुछ दंत-पंक्ति प्रदर्शनपूर्वक हास्य को 'हसित'; मधुर एवं सुस्वरयुक्त हास्य को 'विहसित'; मस्तक तथा कंधे को संचालित करते हुए हास्य को 'अवहसित'; सजल आँखों के साथ हास्य को 'अपहसित'; एवं अंगों के पूर्ण संचालनपूर्वक हास्य को 'अतिहसित' कहते हैं।

इनमें उत्तम पुरुष (एवं उत्तम काव्य) के लिए स्मित एवं हसित हैं, क्योंकि दोनों में सभ्यता का सविचक्षण परिरक्षण होता है। मध्यम के लिए विहसित एवं अवहसित है, कारण दोनों में सभ्यता का न तो पूर्ण रक्षण और न पूर्ण विसर्जन ही होता है। अधम के लिए अपहसित तथा अतिहसित है।

उदाहरण

'भिक्षो ! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ?'
'किं तेन मद्यं विना'
'मद्यञ्चापि तव प्रियं ?' 'प्रियमहो
'वाराङ्गनाभिः सह ।'
'तासामर्थरुचिः, कुतस्तव धनं ?'
द्यूतेन चौर्येण वा !'
'चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः !'
'नष्टस्य कान्या गतिः ॥

यहाँ किसी भिखारी के प्रति किसी व्यक्ति का सव्यंग्य प्रश्न और उस भिखारी का हास्यरस से ओतप्रोत उत्तर है।

व्यक्ति—भिखारी ! क्या मांस भी खाते हो ?
भिखारी—अरे मदिरा बिना मांस क्या !
व्यक्ति—मद्य भी तुम्हें रुचता है !
भिखारी—वह मद्य भी वारवनिताओं के साथ !
व्यक्ति—वेश्याएँ धन चाहती हैं, तुम्हें धन कहाँ ?
भिखारी—जुआ पर दाव जीतने से, (यदि इससे नहीं हो फिर) चोरी से !
व्यक्ति—चोरी और जुआ का भी अवलम्बन !
भिखारी—नष्ट हो गए व्यक्ति की और गति ही क्या है !

व्यक्ति ने भिखारी से चुहल की, किंतु भिक्षुक ने ऐसा तीखा-चोखा उत्तर दिया कि वे निरुत्तर हो गए; अपितु 'नष्ट' पद ने उसके दिल पर साँप लोटा दिया।

यहाँ विनोदी भिक्षुक विभाव, मांसमदिरादि का सेवन अनुभाव, विकृत आकृति एवं विलक्षण भावभंगिमा आदि उद्दीपन विभाव, त्वरित उत्तरदानरूप चापल्य संचारी भाव हैं; और इन सबों से पोषित स्थायी 'हास' चर्व्यमाण (आस्वाद्यमान) होता हुआ हास्य (रस) हो जाता है।

यः कामिनीषु केवलं
मद्यावधि मासि मासि संलब्धः ।
अद्भुतमत्र सदाऽसौ
पुंस्वपि दृष्टो रजोयोगः ॥

कामिनियों में ही मासदिन पर जो रजोयोग आजतक होता आ रहा है, वह (रजोयोग) यहाँ पुरुषों में भी प्रतिक्षण होता है। (प्रस्तुत पद्य पूज्यवर पं० श्री त्रिलोकनाथ मिश्र जी ने बीकानेर से अपने किसी मित्र को लिखा था। तात्पर्य यह है कि बीकानेर की भूमि बालुकामय है। अतः लोगों के ऊपर धूलि बराबर उड़कर पड़ती रहती है।) वस्तुतः कितना मनोहर एवं मर्मस्पर्शी हास्य है। 'रजोयोग' शब्द में श्लेष भी कितना परिपुष्ट है।

क्रय-विक्रय-कूट-तुला-लाघव-निक्षेप-रक्षण-व्याजैः ।
मुष्णन्ति दिवस-चौरा एते हि महाजना वणिजः ॥

खरीद और बिक्री करने में निपुण, तराजू को गिराने और ऊपर उठाने के छल से ये दिन के चोर बनिये ग्राहकों को खूब ठग रहे हैं। दिनके चोर (दिवस-चौराः) में कितना हास्य का गंभीर परिपाक हुआ है।

अयि गौरवशालिनि ! मानिनि ! आज
सुधास्मिति क्यों बरसाती नहीं ?
निज कामिनि को प्रिय ! गो, अवशा,
अलिनी भी कभी कहीं जाती कहीं ?
(पोद्दार अलंकारमंजरी पृ० ६७)

यहाँ शिवजी ने सम्मान के साथ पार्वती को 'गौरवशालिनि' कहकर संबोधित किया, किंतु शैलजा ने सहास्य इस पद को भग्न कर दूसरा ही अर्थ मान लिया और

शिवजी को उलाहना दिया कि निज पत्नी को (गौ+अवशा+अलिनि) गाय, स्वतन्त्र और भौंरी भी कहीं कहा जाता है ?

While words of learned length
and thundering sound
Amazed the gazing rustics
ranged around;
And still they gazed, and still
the wonder grew,
That one small head could
carry all he knew
(The Deserted Village)

पाठशाला के ग्रामीण शिक्षक बड़े-बड़े वाक्य एवं कड़े-कड़े शब्दों के प्रयोग करते थे, ग्रामीण छात्रगण उनकी वैद्युत-वाणी को सुनकर परम विस्मित हो जाते थे कि अध्यापकवर का इतना छोटा सिर कितनी बातें जानता है।

मैथिली में हास्य का परिपाक देखिए—

उठत नियन्त्रण भारतवर्षक
सुनलक बात जखन ई हर्षक
बनिआँ आ' टुटपुंजिया नेता
सब कोठी अजबाड़ि रहल अछि,
जग के युग परतारि रहल अछि ॥
('युग-चक्र', श्री अमर)

यहाँ बनिया एवं टुटपुंजिया नेता आलंबन विभव, भारतवर्ष में नियन्त्रण का अवरोध रूप सदेश उद्दीपन-विभाव, कोठियों को खाली करना अनुभाव (कायिक), आवेग, हर्ष आदि संचारीभाव तथा इन सबों से पोषित स्थायी हास चर्व्यमाण होता हुआ हास्य (रस) रूप में परिणत हो जाता है।

इन भाषाओं में हास्य का पूर्ण परिपाक हुआ है—

संस्कृत, हिंदी, इंगलिश, मैथिली, पाली, महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, गौडी, लाटी, पैशाची, पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगीय, अरैस्ती आर्मानियन, ऐल्बेनियन, ग्रीक, इटेलिक, कैल्टिक, गोलिक, आइलमैटिक, डेनिश, नौर्वेजियन, स्वीडिश, जर्मन, लिथुएनियन बलोटियन, रशन, पौलिश, एवं अन्यान्य।

अन्य प्राणियों के हास्य

मानव जिस तरह खिलखिलाकर हँसते हैं वैसे पशुपक्षीगण नहीं हँसते। फिर भी उनमें हास्य की सत्ता देखी जाती है। बिलार जब चूहे को पकड़ता है तब वह उसे तुरंत ही नहीं खा लेता है, अपितु मूसे के साथ कुछ देरतक विविध प्रकार से खेलता है। इसमें बिलार को परमानंद मिलता है और उसके अंग-विक्षेप से 'स्मित' एवं 'हसित' (उत्तम हास्य) प्रकट होता है। पिंजरे से उन्मुक्त विहगमों की रुत में, फरफराहट में; जुगनुओं की जगमगाहट में; पशुओं के पारस्परिक कडूयन में; द्विरेफ-दल की गुंजन में एवं जलजीवों के तूर्ण-पूर्ण संचलन में हास्य की गहरी छटा छिटकती है।

विदेशी विद्वानों के मत में हास्य

(१) विश्रुत विद्वान स्पेंसर के मतानुसार किसी प्रकार के मनोविकार के प्राबल्य होने से हास्य का उदय होता है। अपने मत के समर्थन में वे कहते हैं कि सर्वाधिक आनंद होने पर हँसी आती है और अत्यधिक क्रोध होने पर भी! (२) हाब्स के कथनानुसार दूसरे की अपेक्षा अपने में श्रेष्ठता की अनुभूति ही हास्य का मूल तत्व है। (३) प्रो॰ अलेक्जेंडर बेन के विवेचना क्रम में लघुता प्रदर्शन हास्य का मुख्य हेतु है। (४) काट के मत में अधिक समय से उदित अपेक्षा युक्त कल्पना जब अस्तित्वहीन हो जाती है तब तात्कालिक विकृति-जन्य-क्रिया को हास्य कहते हैं। (५) शोपेनहर के विचार में—अपनी कल्पना और उससे संबद्ध वस्तु में जब किसी प्रकार की असमानता प्रकट होती है, तब हास्य उदित होता है। (६) शेली के सिद्धांत में मानवों की लीलात्मक-प्रवृत्ति (Intention of playfulness) हास्य का तत्व है।

उपसंहार

यह निर्विवाद तथ्य है कि साहित्य में हास्य का प्रमुख स्थान है। यद्यपि अन्यान्य रसों की अपेक्षा इसका प्रचार अल्प हुआ है; किंतु इसमें यह हेतु है कि हास्य की रचना के लिए जिस स्वतंत्र वातावरण की आवश्यकता है वह कवियों को कठिनाई से प्राप्त होता है। हास्य की रचना के लिए विशिष्ट अनुभूति की अपेक्षा रहती है। अनौचित्य होने का बड़ा भय रहता है। वस्तुतः सूक्ष्मेक्षिका या समीक्षा करने से प्रत्यक्ष होता है कि हास्य की सर्जना के लिए प्रेक्षा-प्रचालित स्वांत नितांत आवश्यक है। हास्य-

हुआ मानस में मेधा की सृष्टि करती है। शृंगार और वीर का सौंदर्य तो हास्य के साहचर्य में ही निखरता है। आचार्यों ने विदूषकों की सृष्टि हास्य भण्डार के लिए ही की। वैदिक साहित्य, पौराणिक साहित्य एवं औपनिषद्-साहित्य में हास्य का पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है। संस्कृत काव्यों, नाटकों, उपन्यासों एवं चम्पुओं में हास्य पूर्णरूप से समादृत हुआ। अब मैं अंत में महाकवि श्रीहर्ष (ई० १२ शतक) के हास्य पद्यों को उपस्थित करता हूँ।

'औलूक' नाम धारण करनेवाला वैशेषिक दर्शन ही तम की आकृति के वर्णन में पूर्ण समर्थ है, इस विषय का वर्णन कवि ने कितना मनोहर किया है—

> ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
> वैशेषिकं चारु मतं मतं मे
> औलूकमाहुः खलु दर्शनन्तत्
> क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय।

कितनी चोखी और अनोखी कल्पना है। कितना सजा और भजा व्यंग्य है। 'ननु दशमं द्रव्यं तमः कुतो नोक्तम्?' यह पूर्वपक्ष कर अन्धकार के दशम द्रव्यत्व को खण्डित करनेवाले वैशेषिक सिद्धान्तियों पर नीतिकुशल का आक्षेप कितना मर्म स्पर्शी है'।

> मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
> गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
> (१७ सर्ग ७५ श्लोक)

जो रसिक व्यक्ति को भी पत्थर के समान वैशिष्ट्य विरल हो जानेवाली मुक्ति का उपदेश देता है, उस गौतम (गोतम) को देखकर तुम्हें जैसा बोध होता है ठीक वैसा ही वह है। (अर्थात् रसिक को भी निर्गुण मुक्ति) मार्ग दिखलानेवाला वह गोतम (पक्का बैल) ही है।

> उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मतिर्मम।
> अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि॥

कलि के द्वारा कविवर श्री हर्ष ने 'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र का विचित्र अर्थ लगवाया है।

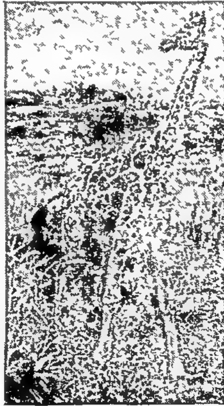
'स्त्री एवं पुरुष' दोनों ही कार्य में तल्लीन रहा करें—अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति नपुंसकों के लिए ही है। श्री हर्ष का आशय है कि 'अपवर्गे तृतीया' यह सूत्र (सिद्धान्त) बनाकर पाणिनि ने भी इस वस्तु को स्वीकृत किया है। हास्य में कितनी मस्ती, चुस्ती और दुरुस्ती है। इस सम्बन्ध में महती कवयित्री विज्जका की वाणी व्यङ्ग्य-कसौटी कितनी मीठी है—'स्मित मिममृतं भवेत्' अर्थात् स्मित (उत्तम हास्य) मिल जाय तो अमृत से क्या प्रयोजन?



जिराफ

श्री विश्वनाथ कुलश्रेष्ठ

जिराफ दुनिया का सबसे अधिक ऊँचाईवाला जानवर है। गरदन ऊपर उठाकर खड़े होने पर इसके सिर की चोटी भूमि से १६ फुट से कम ऊँची नहीं रहती। इसके आगेवाले पैर जरूरत से ज्यादा लंबे होते हैं, जिसके कारण जिराफ की गरदन झुकने पर भी मुँह जमीन से ऊँचा ही रहता है। इसलिए अगर वह धरती की घास चरना चाहे तो खड़े-खड़े नहीं चर सकता। खड़े-खड़े वह ऊँची झाड़ियाँ तथा पेड़ों की पत्तियाँ ही खा सकता है। जिराफ के अगले पैरों की विशेष अधिक लंबाई यह सिद्ध करती है कि उसका स्वाभाविक भोजन भूमि से कम-से-कम डेढ़-दो फुट से अधिक ऊँचाई पर ही पैदा होता है और वही इसके लिए उपयुक्त है। जिराफ को सबसे अधिक आनंद ऐसे पेड़ों की पत्तियाँ खाने में आता है जिनकी ऊँचाई धरती से कम-से-कम १४-१५ फुट होती है, क्योंकि उनके खाने में इस जानवर को अपनी गरदन झुकानी नहीं पड़ती।



जिराफ उत्तरी अफ्रीका के मिमोसा के पौधे के घने जगलों में बहुतायत से पाया जाता है। ममोसा का पौधा १४-१५ फुट ऊँचा होता है। अतः जिराफ को उसकी पत्तियाँ चरने में अपनी गरदन को झुकाने का कष्ट नहीं करना पड़ता। जिराफ पत्तियाँ या घास ही खाता है। वह माँस नहीं खाता।

जिराफ बहुत ही भोला जानवर है। वह कभी किसी दूसरे जानवर पर हमला नहीं करता। वह प्रकृति से डरपोक होता है। डरके मारे वह दूसरे जानवर के पास आने पर खुद ही वह स्थान छोड़कर चल देता है। वह प्रायः झुंडों में ही रहता है।

यह जानवर दुनिया के सबसे बदसूरत जीवों में है। ताड़ जैसी लंबी गरदन पर रखा हुआ बहुत ही छोटा-सा बेतुका सिर, आगेवाले बेढंगी लंबाई के पैर, बदन से मेल न खाने वाली पूँछ (जो न छोटी ही होती है न बड़ी और जिसके अंत में बालों का एक घना गुच्छा उगा रहता है), सिर से पूँछ तक का ढालू शरीर (जो न सवारी के ही काम आ सकता है, न माल ढोने के) जो आकृति की ताड़ जैसी लंबाई को द्विगुणित करने में सहायता करता है, ये सब अंग जिराफ की बदसूरती बढ़ाने में योग देते हैं। तिस पर जिराफ एक बाजू के दोनों पैर एक साथ आगे रखता हुआ चलता है और चलते समय एक अजीब तरह से भटकता चलता है जो और भी भद्दा लगता है। तेजी से चलने में लगता है मानो जिराफ लँगड़ा रहा है।

इस जानवर के दो अंग सुंदर कहे गए हैं। इसके पैरों के खुर हरिण के खुरों की भांति सुडौल बने होते हैं। इसके अलावा जिराफ की आँखें बहुत ही लुभावनी बताई जाती हैं। लोगों का कहना है कि पशु-जगत में जिराफ जैसी सुंदर आँखें भगवान ने और किसीको नहीं दीं।

जिराफ की खाल की जंगली अरबों में बहुत माँग रहती है। वे इसकी ढालें बनाते हैं। सूखने पर इसकी खाल गैंडे की खाल की भांति बहुत कठोर हो जाती है और उस

पर तलवारों और भालों के भी वार असर नहीं करते। इसकी खाल की ढालें गैंडे की खाल की ढालों से अधिक मूल्यवान इसलिए समझी जाती हैं चूंकि जिराफ का सूखा चमड़ा गैंडे या भैंसे के चमड़े से कहीं अधिक हलका होता है। इसलिए ढाल भी हलकी होती है, और साथ ही मजबूत किसी से कम नहीं होती। अबीसीनिया के मुसलिम निवासी जिराफ का मांस खाते हैं। वे इसका मांस टुकड़े करके झाड़ियों की टहनियों पर धूप में सुखाने के लिए टाँग देते हैं। सूख जाने पर उसे रख लिया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर निकालकर उपयोग में लाया जाता है। पर अरब लोग खाल के लिए ही प्रायः इसका शिकार करते हैं।

अत्यधिक लंबाई के कारण जिराफ दूर से ही नजर आ जाता है, इसलिए शिकारी को उसे खोजने के लिए झाड़ियों की सूक्ष्मता से निरीक्षण नहीं करना पड़ता। अलबत्ता मिमोसा के जंगल में उसकी पहिचान कठिन हो जाती है। मिमोसा के पत्तों और तने की छाल का रंग लाल होता है और जिराफ के बदन पर भी लाल रंग के धब्बे बने रहते हैं। इस कारण वह मिमोसा के जंगलों में होने पर कठिनता से पहिचाना जाता है।

चाल विचित्र होने पर भी जिराफ बहुत तेजी से दौड़ लेता है। जिन जगहों में यह पाया जाता है वहाँ के घोड़े जिराफ के साथ साथ नहीं दौड़ सकते हैं। अरब लोग जब अपने घोड़ों की तेज चाल की प्रशंसा करते हैं तो अक्सर कहते हैं कि मेरा घोड़ा जिराफ से दो चार गज ही पीछे रहेगा। बाहर के कोई कोई घोड़े जिराफ के बराबर रफ्तार से दौड़ सकते हैं, पर जिस ऊबड़ खाबड़ जंगल में यह जानवर पाया जाता है उसकी जमीन में जिराफ के बराबर तेजी से कोई-कोई ही घोड़ा दौड़ पाएगा।

जिराफ की दौड़ [illegible] एक विशेषता होती है। यह बड़ा ही दमदार जानवर है और एक सी तेज गति से घंटों तक दौड़ता रह सकता है। मजबूत-से मजबूत घोड़ा जिराफ के बराबर समय तक एक-सी तेज रफ्तार से दौड़ता नहीं रह सकता। जिराफ जब दौड़ना आरंभ करता है तब शुरू में कुछ देर उसे तेज रफ्तार बनाने में लग जाती है। जानकार शिकारी लोग इसका लाभ उठाकर जिराफ को बहुतदूर से देखते ही अपना घोड़ा पूरी रफ्तार से उसकी तरफ दौड़ा देते हैं और जब तक जिराफ अपनी पूरी रफ्तार पर पहुँचता है तब तक उसके पास पहुँच जाते हैं। जो लोग जिराफ के शिकार के अनुभवी नहीं होते वे जिराफ को दूर से देख लेने पर अपना घोड़ा चुपके चुपके उसके पास पहुँचाना चाहते हैं। जिराफ शिकारी को देखकर भागता है, पर पहले इस तरह भागता है कि पीछे आनेवाले शिकारी को उसकी गति बहुत धीमी दिखाई देती है। थोड़ी ही देर में शिकारी यह अनुभव करने लगता है कि उसका घोड़ा और भी पिछड़ गया है। इस पर वह घोड़े को ऐंड़ लगाकर तेज दौड़ाता है, पर इस समय तक जिराफ अपनी पूरी रफ्तार पर आ चुका होता है और वह शिकारी की दृष्टि से दूर हटता हुआ ओझल हो जाता है।

शिकारी लोग जिराफ के ठीक पीछे अपना घोड़ा नहीं दौड़ाते। जिराफ के खुर इस तरह के चिरे हुए रहते हैं कि दौड़ते समय उसके पिछले पैरों से रास्ते के कंकड़ पत्थर पीछे की तरफ इस तरह उछलते चलते हैं मानो कोई उन्हें उठा-उठाकर तेजी से सीधा फेंक रहा हो। अगर शिकारी अपना घोड़ा जिराफ के पीछे दौड़ा रहा है, तो ये कंकड़ उछलकर इतने जोर से लगते हैं कि शिकारी और उसके घोड़े की आँख, नाक, कान, मुँह घायल कर देते हैं और पीछा करना असंभव हो जाता है।

अरब लोगों में यह भ्रामक विश्वास प्रचलित है कि भगवान ने जिराफ को ऐसी अद्भुत शक्ति प्रदान की है कि वह दौड़ते समय रास्ते के कंकड़ उठा उठाकर अपना पीछा करनेवाले शत्रु को मार सकता है और इस तरह अपनी रक्षा कर लेता है। पर वास्तविकता यह है कि उसके खुर ही ऐसे बने हुए होते हैं कि उनमें फँसकर कंकड़ पत्थर स्वतः पीछे की ओर उछलते चलते हैं, इसके लिए जिराफ की ओर से जानबूझ कर कोई प्रयास नहीं किया जाता है।

शत्रु से रक्षा करने के लिए जिराफ के पास कोई चीज ऐसी नहीं होती जिससे वह प्रतिद्वंद्वी पर हमला कर सके। उसके सींग होते हैं पर वे बहुत ही छोटे होते हैं और उनके भी ऊपर बालदार खाल चढ़ी रहती है। अतएव उनसे हथियार का काम नहीं लिया जा सकता।

शिकारी के लिए जिराफ के ठीक पीछे घोड़ा दौड़ाना इसलिए भी खतरनाक होता है क्योंकि जब जिराफ बेतहाशा दौड़ लगाता है तो उसकी ऊँची गरदन पेड़ों की लटकनेवाली डालियों से टकराती चलती है, जिससे

इन डालियों के झोंके से घोड़े और घुड़सवार दोनों के घायल हो जाने का खतरा रहता है। जब जिराफ यह देखता है कि हमलावर उसके बिल्कुल निकट आ गया है तो वह अपने पीछे की टाँगों से कसकर ऐसी दुलत्ती झाड़ता है कि मनुष्य क्या, शेर और बाघ जेसे आक्रमणकारी जानवर के दाँत-नाक टूट जाते हैं। जिराफ की दुलत्ती मशहूर है। जिराफ की खासियत यह होती है कि यह ऐसे अचानक क्षण में दुलत्ती लगाता है जब आक्रमणकारी को उसकी तनिक भी आशा नहीं होती, और वह इस वेग से दुलत्ती लगाता है कि बलवान से बलवान आक्रमणकारी भी मुँह थामकर वहीं बैठ जाता है। इसलिए शिकारी लोग जिराफ के पीछे नहीं, बल्कि उसकी दहिनी या बाईं तरफ घोड़ा दौड़ाते हैं।

जेसा कि पहले कहा जा चुका है, जिराफ ऊँट की तरह चलता है, यानी वह बारी-बारी से एक-एक बाजू के दोनों पैर एक साथ उठाता है। अन्य जानवरों कि तरह आगे का दायाँ और पीछे का बायाँ या कि आगे का बायाँ और पीछे का दायाँ पैर एक साथ नहीं उठाता। इस तरह की चाल का एक बड़ा नुकसान यह होता है कि यदि घटनावश जिराफ की कोई भी एक टाँग बेकार कर दी जाती है तो फिर वह दो पग भी आगे नहीं बढ़ सकता।

दो गीत

(१)

सुश्री लीलावती सिंहा

प्रिय, करुण नयन-दल खोलो!

आशा की सोनजुही की
मृदु तंद्रा के दल पावन,
जग के निश्चल जीवन पर
फूटे हैं शुभ्र सुहावन;
स्वर्गंगा की धारा में—
प्रिय, आज नयन-दल धो लो!

जाने क्यों बजती निशि की
करुणा की वीणा अविरल?
वह कौन सदा सीमा का
परिज्ञान कराता पल-पल?
रजनी की नश्वरता पर—
प्रिय, आज तनिक तुम हँस लो!

कैसी प्रिय यह परवशता—
तन्मयता जिसमें जीवन की;
अपने को खो जाना ही
क्या हार अतुल चेतन की?
चेतन की मधु छाया में—
प्रिय, आज तनिक तुम सो लो।

(२)

सुश्री मालती

सखि, ज्योतित कर
पुलकित कर
........तन मन।

हटा आवरण लज्जा का
घूंघट का भेद हटा,
विभ्रम के पर्दे को चीर
जगा, मेरा सुप्त मन।
सखि, ज्योतित कर
पुलकित कर
........तन मन॥

आवरण का मोह छोड़
द्वैत की बात मिटा,
चपल नयन, मुग्ध-दृष्टि
करुणा का दीप जला;
तन - मन को
ज्योतित कर
रे सखि! तिमिर हर;
दूर कर
तन - मन का अंधकार!!

इन्सान और दरिंदे

श्री नदकुमार पाठक

यह छोटानागपुर की उपत्यकाओं के दामन में बसे एक गाँव की कहानी है। प्राचीन परंपरा और संस्कृति अभी भी इन पहाड़ों के साए में निर्बंध और सुरक्षित है। इन पहाड़ों की दुर्गम घाटियों के गोरखधंधों ने नवीन चेतना के मार्ग में रुकावटें डालकर प्राचीनता को सँभाले रखा है। इन्सानी आविष्कारों की नियामतें वहाँ कदम नहीं रोप सकी हैं। यहाँ की हवा में पक्षियों का कलरव, चरवाहों के पहाड़ी गीत, गायों और बकरियों की घंटियों की आवाजें तैरती हुई पहाड़ी घाटियों में इठलाती फिरती हैं। कल कारखानों के भोंपू, चिमनियों के धुएँ, लोहे की पटरियों पर दौड़ लगानेवाली रेलों, गोले-बारूद के कारखानों और यन्त्रों से बहुत दूर पर जाकर यह धरती बसी है।

रात भर बरसने के बाद, सुबह मेघों का झुरमुट झीना हो गया था, और बादलों के इस झीने झुरमुट की ओट में उगता हुआ सूरज, बादलों के हिंडोले पर झूलता हुआ सा मालूम पड़ रहा था। धरती से सोंधी गंध निकल कर नाक में भरने लगी थी। झोपड़ों की कतारों में एक बेचैन हरकत पैदा होने लगी थी।

मधुआ अपने झोपड़े के बाहर लकड़ी के एक कुंदे पर बैठा, अपने दोनों हाथों से सर थामे खाँस रहा था। उसका लड़का जेठू अपने कुल्हाड़े को पत्थर पर घिस कर तेज कर रहा था। इसी समय गाँव के जमींदार का गुमाश्ता, कंधे पर हुकूमत का डंडा सँभाले गुजर रहा था। वह घोषणा कर गया—'निकलो, जल्दी चलो, आज नदी के ढलवान का खेत जोतना होगा।'

मधुआ खाँसता हुआ जेठू को एकटक देख रहा था। खाँसते-खाँसते उसकी आँखों में पानी भर आया और कनपटियाँ चटकने लगीं। उसने देखा जेठू के पुट्ठे भर आए हैं, बाहों की मछलियाँ उभर आई हैं, और मसें भीजने लगी हैं। बोला—'जेठू! देखो, तुम ऐसी गलती न करना बेटा! तुम अपनी शादी अपनी कमाई से करना। उसमें कुल २०-२२ का खर्च है बेटा, लेकिन मालिक के जुल्म से बचे रहोगे। हम लोग तो जो कर चुके, सो तो हो गया। और उस गलती का फल भी भोग रहे हैं। तुम तो यह पुराना रिवाज जानते ही हो कि मालिक जिसकी शादी अपने खर्च से कराता है, उसको वह एक तरह से खरीद लेता है। और उससे मरते दम तक काम लेता रहता है। देखो न, मैं रात भर खाँसता रहा हूँ। देह टूट रही है। मन करता है कि आज आराम करूँ। लेकिन गुमाश्ता जो कुछ कह गया सो तो सुन ही चुके।'

जेठू ने लकड़ी फाड़ना छोड़ दिया और मधुआ के पास आकर खड़ा हो गया। पूछा—'तुम्हारी तबियत अच्छी नहीं है, तो तुम आराम करो। आज मैं खेत पर चला जाता हूँ।'

उस दिन जेठू खेत जोतने चला गया, लेकिन खेत जोतने में उसका मन नहीं लग रहा था। दूर, उसके दिल की गहराई में एक कसक बैठ गई और आँखों में उल्लास की एक चमक तड़प रही थी। आँखों की यह चमक और दिल की यह कसक उसकी बनी रही। थोड़े दिनों के बाद जब उसके बप्पा की हालत कुछ सुधर गई तब एक दिन जेठू ने कहा—'बप्पा, तो मुझे कुछ दिनों के लिये छुट्टी दे दो। मैं अपनी शादी का इन्तजाम कर लूँ। तुम बोलते हो न, अपनी कमाई से करना चाहिए।'

× × ×

झरिया के कोयले की खानों में पूरे दस महीने काम करने के बाद जेठू जब घर लौटा तब उसकी टेंट में १२० रुपये थे। उन रुपयों से जेठू ने अपनी शादी की, दो बैल खरीदे और मालिक से एक बीघा खेत बँटाई पर लिया। शर्त वही, जेठू की मशक्कत, खर्च, बैल, बीज, देख-रेख, और मालिक का खेत। और फसल का आधा भाग मालिक और आधा जेठू को मिला।

यह सब तो हुआ ही और एक बात और हुई। जेठू के विवाह के दिन झोपड़ों के उल्लास की हरकतें कुछ बहकी हुई नजर आईं। शराब, माँस, भात और नाच! इसके बाद मधुआ, जेठू और उसकी बीवी जब मालिक

के घर आशीर्वाद लेने पहुँची तब मालिक की आँखों की गहराइयों से एक खौफनाक इरादा उमड़ कर पलकों से टकरा गया। जेठू की बीवी पहाड़ी हिरनी की तरह थी। और शर्म की चोटों से उसकी झुकी हुई पलकों में और नपे-तुले कदमों में जवानी की बेखबर अलमस्ती दिखलाई पड़ती थी। जिसे देखकर ही मालिक का इरादा उस समय बदल गया था।

कुछ दिनों के लिए मधुआ और जेठू के फाके के दिन खत्म हो गए। थोड़ी-सी मशक्कत से उसके जीवन में राहत मिल गई। जेठू और उसकी बहू की देख रेख में एक बीघे की धरती मुस्कराने लगी। अपने पसीने से लहलहाते खेतों की फसल को देखकर जेठू का मन पुलकित हो उठता। उसके जीवन का प्रतिदिन तीन भागों में बँट गया था। जमीन से छुट्टी मिलती तो बैल, बैल से छुट्टी मिलती तो घर और घर से छुट्टी मिलती तो दिल की पुलकभरी धड़कनों को सहलाना।

एक दिन हल जोतकर बीज बोते समय अपनी बहू के चेहरे पर पसीने की हल्की बूँदों को देखकर जेठू ने कहा—'तुम अब खेत में काम करने लायक नहीं हो। तुम चली जाओ। मैं कुछ और इंतजाम कर लूंगा।'

बहू ने शरमाकर मुँह फेर लिया और झोपड़ी में लौट आई। खेत में डाले बीज अंकुरित हो गए थे, और अब तो उनमें जोड़ी पत्तियाँ भी फूट आई थीं। जेठू बाजार करने गया था। बहू का दिल न माना तो वह खेत की ओर निकल आई और पौधों की पत्तियों को देखकर बड़ी प्रसन्न हुई। लेकिन एक नई बात उसने देखी। देखा कि पत्तियों पर नन्हे-नन्हे लाल कीड़े रेंग-रेंग कर पत्तियों को चाट रहे हैं।

उसका मन व्याकुल हो उठा। जेठू के बाजार से लौटते ही बोली—'खेत गए हो?'

'नहीं तो! क्या बात है?'—जेठू ने कहा।

'आज गई तो देखा कि पौधों पर लाल-लाल कीड़े रेंग रहे हैं और पत्तियों को चाट-चाटकर साफ कर रहे हैं।'

जेठू दौड़ा हुआ खेत में पहुँचा तो देखा कि बात ठीक है।

वह समझ गया गलती उसकी ही थी। खेत में जो गोबर कच्चा रह गया था उसीके कारण ये कीड़े पैदा हो गए थे। वह दिन भर पौधों की पत्तियों पर राख डालता रहा। पौधों को कीड़ों से रक्षा करने का और कोई उपाय न था।

गेहूँ की फसल तैयार होने में अभी दो महीने की देर थी। बहू की दशा देखकर जेठू का मन न माना तो एक दिन एकांत पाकर उसने उससे पूछ ही दिया—'फसल में, देखता हूँ, अभी दो महीने की देर है। तुम्हारा यह कौन-सा महीना है? उस दिन के लिए भी तो इंतजाम करना होगा।' बहू शरमा गई। जेठू भी झेंप गया। फिर वह मुँह फेर कर बोली—'यह नवाँ महीना है।'

जेठू के चेहरे पर एक हल्की परेशानी की छाया फिर कर उड़ गई और वह शरमाकर चला गया।

जेठू की बहू जिस खिलौने की रचना करनेवाली थी, उसके स्वरूप की कल्पना में उसकी आँखों में एक नए उल्लास की चमक और लज्जा की लाली दौड़ती रहती थी। उसके जीवन में एक अपरिचित अवगुंठन आ गया था और वह जेठू से दूर-दूर रहने लगी थी।

जेठू का बाप मधुआ इस बात में खामोश था। वह तो दिनभर मालिक का काम करके शाम को ताड़ीखाने की ओर चल देता। और वहाँ से नशे में लड़खड़ाते कदमों से लौटता तो संसार की सभी चिंताओं को धत्ता बता देता। और यह भी बात थी कि जेठू खुद भी समझदार और माकूल इंतजामकार बन गया था। इसलिए मधुआ व्यर्थ ही क्या करता!

जेठू ने महाजन से फसल पर कर्ज लेने का इंतजाम कर लिया। जब एक दिन उसकी बहू ने एक लड़की को जन्म दिया तब वह दौड़ा हुआ जाकर हल्दी, सोंठ, घी, गुड़, तेल आदि खरीद कर ले आया। पुराने चले आए रिवाज के अनुसार पड़ोसी रिश्तेदारों के लिए जेठू ने शराब, भात और मांस का भी सुंदर इंतजाम किया। पड़ोसियों ने बधाई देते हुए कहा—'अगर तुम भी मालिक के खर्च पर शादी करके कमिया बन जाते, जेठू! तो जानते हो क्या होता? मालिक की तरफ से छः सेर चावल, दो सेर दाल, एक पाव तेल, नमक, मसाला और आठ आने नगद मिलते। लेकिन, भाई तुमने तो आज खूब छक कर खिलाया-पिलाया।'

रात को जब नाच शुरू हुआ तब सारी बस्ती उमड़ पड़ी। मानर के तालों पर पहाड़ी गीत बहकी टेकों के

साथ पहाड़ों की घाटियों में गूँज गए। पहाड़ सो गए थे। चाँद और सितारे आकाश में हँस रहे थे। घाटियाँ खामोश हो गई थीं। सिर्फ जंगली दरिंदे और बस्ती के मालिक जाग रहे थे। गीत की अंतिम टेक भी पहाड़ों में जाकर खो गई। टेक इस प्रकार थी—'ओ चंदा मामा तुम पहाड़ों की घाटियों के रास्ते नदी के किनारे सोने के कटोरे में दूध और भात लाकर मेरी गुड़िया को खिला जाओ। मैं उन पहाड़ों के रास्तों को अपने कमर तक लटके, मेघ-सदृश्य बालों से झाड़-बुहार कर साफ कर दूँगी। मैं तुम्हें अपनी आँखों के निर्मल कोयों के हिंडोलों पर झुला दूँगी और फिर तुम बेंतों के घने वन से होकर पहाड़ों की सभी चोटियाँ फाँद कर आकाश में लटक जाना। ओ, बेंतों के घने वन से ओझल होकर आकाश में लटक जानेवाले चाँद!'

फसल कट कर खलिहान में ढेर हो गई। मधुआ तो अपने मालिक के खलिहान में काम कर रहा था। अपने खलिहान में अकेला जेठू था। जेठू का अकेला मन काम से भटकने लगा। उसे इच्छा हुई कि वह एक बार घर जाकर देख आए अपनी बहू को और बच्ची को। उधर खलिहान में जेठू सूखी फसल से दाने और भूसे को अलग कर रहा था और यहाँ झोपड़ी में जेठू की बहू अपनी बच्ची के साथ बेखबर सो रही थी। बच्ची उसके सीने से चिपकी हुई थी और तंदिल मासूम ओठों से अपनी माँ की छाती को पी रही थी। फल और फूल दोनों सो रहे थे। खेत और फसल दोनों सो रहे थे। लेकिन मातृत्व जनानी की तरह बेखबर होकर नहीं सो सकता। इसीलिए जैसे ही जेठू झोपड़ी के भीतर दाखिल हुआ, बहू सचेत हो गई और अपनी बच्ची को वंचित किए हुए उघड़े सीनों को ढँकने लगी। सावधान होने के उद्योग में उसकी स्निग्ध पलकें शर्म से झुक गई। जेठू का स्वर मानों फूटने से इंकार कर गया। वह खामोश ही हो जाना चाहता था कि वह बोल उठी—'बाहर बप्पा हैं क्या?'

'नहीं, लेकिन आज खलिहान में अकेले मन नहीं लग रहा है। सो जरा देखने आ गया हूँ।'—जेठू ने कहा।

'तो क्या साथ चलूँ?'—बहू के स्वर में हर्ष, दुलार और उपासना थी।

'आज धूप तेज है, मैं ही झुलस रहा हूँ तो तुम कहाँ जाओगी?'—जेठू ने प्यार से कहा।

जेठू खलिहान में लौट आया। उसकी आँखों में बहू का चित्र खिंच गया था। एक नई माँ का सौंदर्य। एक नवयुवती जो अभी-अभी माँ बन गई थी, उसका अद्भुत रूप। उफ! और एक बात की गुदगुदी वह महसूस कर रहा था। लेकिन ठीक से समझ नहीं पा रहा था कि वह उससे कुछ दूर क्यों चली गई है। उसका खुला हुआ उन्नत गोल वक्ष जेठू की आँखों में घूम गया जिसे उसने आज उस नई रचना—नन्हीं गुड़िया के मुँह में लगे देखा था। उसे अपने बीते हुए उच्छृंखलताओं से भरे दिन याद आ गए। गेहूँ के दाने को अलग करते हुए उसकी आँखों में एक ममता और दुलार से भरी हुई चमक पैदा हुई और फिर बुझ गई।

दुलार से जिस बच्ची को वह गुड़िया कहता था वह जब पाँच साल की हो गई तब बहुत काम करने लगी। वह मैले चीथड़ों से खुद गुड़िया बना कर खेलने लगी। अपने दादा के आने पर खाना पूछ कर जो कुछ रूखा-सूखा घर में बनता, उसके आगे डाल देने लगी। यहाँ तक कि फसल पकते समय जब खेत में मचान बना दिया जाता तब उस पर मैली गुदड़ियों में लेटी-लिपटी कौए हाँकने का गाना भी गुनगुनाती थी।

एक दिन की बात है—पूरा परिवार एक जगह जमा होकर बैठा था। गुड़िया अपने दादा के घुटनों के बीच में सुरक्षित बैठकर अपनी माँ की शिकायत कर रही थी कि वह माँ के साथ नदी जाना चाहती थी और रात में उबाले कपड़ों को साफ करने में मदद पहुँचाना चाहती थी तो उसने आने नहीं दिया और मारा भी। फिर वह बैलों की बात कह गई कि वे उसे बहुत प्यार करते हैं। जब वह उनके मुँह में घास देने गई थी तब वे उसे चाटने लगे थे। जेठू खेत जाने की सोच रहा था। बहू घड़ा लेकर पानी भरने को जाने का विचार कर रही थी। मधुआ के हलक से खाँसी का वही पुराना स्वर फूटने लगा था। साँसों की धौंकनी जोर-जोर से चलने लगी थी। जेठू ने कहा—'बप्पा, ऐसा करो कि तुम मालिक से अलग हो जाओ। इस फसल पर उनका खर्च वसूल कर देता हूँ जो तुम्हारी शादी में खर्च किए गए थे। इस हालत में भी दिन भर मिहनत करते हो और मजूरी मिलती है वही दो सेर। इस दो सेर से क्या बनता बिगड़ता है। क्यों?'

हलक में से फूटती हुई खाँसी पर काबू पाने की

कोशिश करते हुए मधुआ ने कहा,—'नहीं बेटा, ऐसी बात भूलकर भी न करो। तुम नहीं जानते हो। मालिक से अलग रहकर गाँव में नहीं रहा जा सकता। हमलोगों की झोपड़ी उन्हींकी जमीन में बनी है। यह दो कट्ठा जमीन शादी के समय दी जाती है। और मालिक सिर्फ अपने कमिया को ही जमीन देते हैं। अलग हो जाने पर तो वह जमीन ही छीन लेंगे। फिर हम कहाँ रहेंगे? और बैल भी उनकी ही जमीन में चरते हैं। हमलोग मालिक से अलग रहकर गाँव में नहीं निभ सकते, बेटा!'

इसी समय गुमाश्ता आकर रोब गाँठनेवाली आवाज में बोला—'हवेली से बुलावा आया है। भीतर किसी मालकिन की तबियत खराब है। तेल-मालिश के लिए चलना होगा।' मधुआ और जेठू के होश-हवाश रुखसत हो गए। कहीं गुमाश्ते ने उनकी बात सुन न ली हो! सो जेठू की बहू को जाना पड़ा—वहाँ हवेली के अंतःपुर में दरवाजे पर से होकर—जहाँ मालिक रोब और हुकूमत के आसन पर बैठे रहते हैं।

मालिक ने आज बहुत दिनों के बाद उसे फिर देखा और उनकी बहुत दिनों की सोई प्यास आज फिर जाग गई। उन्हें ख्याल आया कि वह तो एक जरूरी योजना को भूल बैठे थे। मालिक ने—अपने विधुर जीवन में नारी-देह की स्थूल-कामना—सिर्फ स्थूल दैहिक सपर्क और दैहिक व्यापार की लालसापूर्ति के लिए दुरभिसंधियों का इंद्रजाल फैला रखा था। इनका विधुर जीवन एक विराट कामोत्सव था। इस कभी न तृप्त होनेवाली तृष्णा में नारी का हृदय नहीं, वे चाहते थे मात्र देह। भूखी, प्यासी, आर्त्त, करुण, विपण्ण देह; मैली-कुचैली दुर्गंधियों से भरी देह; जिसके सिर में जुँओं ने घोसले बना लिए हों, शरीर से पसीने की बू आती हो, मुँह से शराब की बू आती हो, किसी भी तरह की देह जो उनके कामोत्सव के अनुष्ठान में काम आ सके। आज इस पहाड़ी मांसल सुंदर सहमी हुई हिरनी को देख कर सियार जाति के एक इन्सान के बच्चे के मुँह में पानी भर आया।

कई वर्षो के बाद इस वर्ष देखा गया कि आसमान ने अपना रुख बदल दिया। धान के पौधों की जड़ें सूखने लगीं तो बस्तीवाले आकाश की ओर आर्त्त प्रतीक्षा करते हुए भविष्य की चिंताओं से काँपने लगे। कंठगत बालियो-वाले धान के खेत-के-खेत मुर्झाने लगे। लेकिन आसमान के किसी कोने में भी मेघ का टुकड़ा भूला-भटका दिखाई न दिया। ये पहाड़वाले मौसम की हरकतों को खूब पहचानते हैं। वे आपस में तजवीज और आलोचना करने लगे। लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि कभी-कभी बादल की छाया दिन में दिखलाई देती है लेकिन रात को तारे वैसे ही टिमटिमाते नजर आते हैं। फिर सावन के महीने में पूर्वी हवा के बहने का मतलब ही होता है कि बैलों को बेंच दो और गायें खरीद लाओ। खेतों की हालत देखकर किसान आसमान में टकटकी लगा हाहाकार मचाने लगे। आसमान नहीं बरसा। फसल दम तोड़ कर झुलस गई।

जेठू बैल बेचकर गाय तो घर में न ला पाया, लेकिन, हाँ, लगान में उसका एक बैल मालिक ने लेकर दया करके उसे छोड दिया।

यह तो जो कुछ हुआ सो तो हुआ ही। अब तक जेठू का कुछ अधिक न बिगड़ सका था? उसने अभी भी सँभल जाने का ताना-बाना बुनना न छोड़ा था। लेकिन पहाड़, आसमान, धरती और बैल ही सब कुछ नहीं कर देते।

इसी समय संसार पर एक संकट आ पड़ा। दुनिया में एक ऐसा जंग छिड़ा कि जिंदगी की नींवें खिसकने लगीं। वह क्षण दूर होने लगा जिसपर जीवन की साख टिकी रहती है। मौत पर हावी हो जानेवाले इंसानों ने इंसानों की जिंदगी को मिट्टी का मोल बना दिया। जीने के अनिवार्य साधनों की कीमतें आसमान से बातें करने लगीं। मुद्रा का मूल्य बिल्कुल घट गया। उसकी शक्ल सूरत तो ठीक पहले की ही तरह थी, लेकिन जैसे उसकी आत्मा निकल गई थी। सट्टे बाजारों और शेयर मार्केटों में लक्ष्मी के लाड़ले पुजारी मधुमक्खियों की तरह भिनभिनाने लगे। इन पहाड़ों से बहुत दूर के आसमान के नीचे बादलों में जो लड़ाई लड़ी जा रही थी और नरमेध मनाने की सज्जा जो रची गई थी, उस महायज्ञ के पुरोहितों के स्वर अनेक लयों में फूट निकले थे। इनका राजनैतिक स्वर कहता था, मानवता को बरकरार रखने के लिए युद्ध अनिवार्य है। इनका दार्शनिक स्वर युद्ध के नैतिक महत्व और सांस्कृतिक प्रयोजन की पुष्टि करता था। दार्शनिक कहने लगे, यह विश्वव्यापी युद्ध, युग युग की पुरानी सड़ी गली आस्थाओं को निर्भयतापूर्वक अपनी कसौटी पर कस रहा है और इसी युद्ध में से नये युग का जन्म

होगा, सचेतन विश्व-समाज की पैदाइश होगी। वैज्ञानिकों का स्वर था धरती को लाशों से पाट देने का सस्ता नुस्खा तैयार करना, युद्ध की रफ्तार को आगे बढ़ाना, उसमें गरमी पैदा करना। और, इसके लिए चाहिए था सोना, लोहा, कोयला, रबर, रूई और अनाज। तोप ढालने और ढोने के लिए लोहा, कोयला और रबर। सिपाहियों को गर्म रखने के लिए रूई। सिपाहियों के लिए अनाज और उन्हें पट्ठा बनाने के लिए गोश्त। सो उनको चाहिए—पशु भी।

लहलहाती और मुस्कराती धरती की आँतों को खोद-खोद कर खंदक बनाए जाने लगे और उनमें फौलादी टोपियाँ पहने इन्सान सिपाही दम साधे मौत का देने की ताक में बैठ गए। युद्ध में कोल पर दृढ़ तत्पर हो जानेवाले सिपाहियों में जोश बनाए रखने के लिए और बेगाह प्रजाओं को युद्ध का खर्च देने की प्रेरणा देते रहने के लिए राजनीतिज्ञ बड़े सुन्दर और लच्छेदार शब्द गढ़ने लगे। पत्रों में पत्रों छपने लगीं। महान् राष्ट्रों ने मिलकर पाँच हजार शब्दों की योजना बनाई कि अब मनुष्य को पूर्ण अधिकार मिल जायगा।

समुद्र के उस पार के आकाश और धरती पर लड़े जानेवाले युद्ध ने अपना प्रभाव इन पहाड़ों पर भी डालना न छोड़ा। युद्ध में लड़नेवाले सिपाहियों के खाने के लिए किसानों के घर से ऊँचे दाम पर अनाज खरीदा जाने लगा। उन्हें बलवान बनाए रखने के लिए गोश्त जुटाया जाने लगा। गाँवों के बैल, गाएँ और बकरे आदि खरीदे जाने लगे। गाँवों की पशु-सम्पत्ति खंदकों में हँसनेवाले फौलादी टोपियाँ पहने सिपाहियों के पेट में दफन होने लगी।

जेठू का बैल भी बिक गया। और तीन महीने में वे रुपए खर्च हो गए। अब जेठू का वह बल भी कट गया और दशा भी न सुधरी। छोटानागपुर के इन पहाड़ों ने अपने अंचल में रहनेवालों के लिए बहुत-सी नियामतें दी हैं। आठ महीने तो गाँवों की परवरिश ये पहाड़ ही कर देते हैं। जेठू को पहाड़ की शरण लेनी पड़ी। कुछ दिन जंगली बेर चले। फिर कुछ पौधों की जड़ें खोद कर लाई जाने लगीं। उन्हें उबाल कर खाया दिया जाता और नमक के साथ पेट के जालिम देवता की पूजा की जाती। महुआ भून कर कुछ दिन कटे, तो फिर पत्तों की बारी आई। अनेक तरह के पौधों की पत्तियाँ खाकर जिन्दगी काटी गई। मधुआ के कंकाल में बस साँस अटकी थी। शरीर की हड्डियाँ उभर आई थीं। बहू का पहाड़ी हिरनी जैसा मांसल शरीर हड्डियों का ढाँचा बन गया था। गुड़िया भी फाके और भूख से तड़प उठती तो अपनी माँ की छाती में चिपट कर रोने लगती और उसकी छाती में मुँह लगा देती। वह सोचती थी शायद वहाँ दूध मिल जायगा। पहले तो वह इन्हीं छातियों को पीकर पेट भरती रही है। लेकिन हड्डियों से दूध नहीं निकलता, यह वह नहीं जानती थी। सारी बस्ती पर एक मुर्दनी छा गई।

एक दिन खेलने के लिए निकली गुड़िया और मानिक की हवेली की ओर चली गई। हवेली-परिवार की एक लड़की के साथ वह भीतर चली गई। वहाँ उसे कुछ खाने को तो मिल जरूर गया, लेकिन उसके मन में एक बड़ी लालसा पैदा हो गई। गुड़िया ने देखा हवेली की लड़कियों ने अपने सिरों को बड़े ही सुन्दर लाल फीते से सजा रखा है। उन लाल फीतों में फूल काढ़े गए हैं। और वे लाल फूल उनके सिरों पर खिल कर हँस रहे हैं। गुड़िया का मन मचल गया और वह अपने धुँओं से भरे मैले कुचैले घर को भी वैसा ही सजाने का सपना देखने लगी।

अपनी झोपड़ी में गुड़िया लौटी तो उसकी आँखों में लाल फीते का कढ़ा फूल खिल कर हँस रहा था। जेठू की गोद में बैठ वह हवेली की उन परी-लड़कियों के बनाव-शृंगार की बातें कर गई। और बोली आज उसे भात भी खाने को मिला। पेट भर भात वह खा आई है। फिर वह लाल फीते की बात कह गई।

वह बोली—'बप्पा, मुझे भी वैसा लाल-लाल फीता ला दो। मैं भी अपने सर में बाँधूगी।'

जेठू कुछ बोला तो नहीं, लेकिन उसकी आँखों से आँसू बह निकले। उसे इच्छा हुई कि वह फूट-फूट कर रोने लगे। वह गुड़िया से बात करने से डरता जाने के लिए वहाँ से उठकर चला गया। पूरे आठ दिन तक जेठू की आत्मा उसे काटती रही। पनाह का कोई रास्ता उसे न मिला तो एक दिन मधुआ से वह बोला,—'बप्पा, तुम अगर किसी तरह कुछ दिन सँभाल लो तो मैं फिर बाहर चला जाना चाहता हूँ। शहर में कुछ काम करने से शायद हमलोग पेट भर सकेंगे।' और एक दिन जेठू चला गया।

शहर में उसे एक बीड़ी बनाने की दूकान में काम लगा। बीड़ी का तंबाकू पत्तों में लपेट कर लाल धागे से बाँध कर बंडल बना देने का काम। जेठू का जीवन धीरे धीरे बदलने लगा। पहाडी चशमों का पानी पीनेवाला जेठू नल का पानी पीता था। हल के मूठ पर टिक कर धरती मे बीज डालनेवाला हाथ बीडी का बडल तैयार करता था। जिन ओठों पर पहाडी गीत और बैलों के टिटकारने की आवाज तडपती थी उन ओठों पर सिनेमा के गीत फूटने लगे। धरती की सोंधी गध निकालनेवाले कीचड और धूल से भरे बालों से सुगधित तेल की खुशबू आने लगी। बाल शहरी ढंग से तराश दिए गए थे। उसके सामने नगी टाँगोंवाली सफेद युवतियों की टोलियाँ अलमस्ती की चाल चलती हुई निकल जातीं और वह एक अनजान भाव से ताकता रह जाता। अजीबो गरीब जेठू का संस्करण तो हुआ लेकिन एक घटना उसके दिमाग में घर किए बैठी रही। बीडी को लाल धागे से लपेटने के काम में उसे गुडिया का लाल फीता, फूल और गुडिया की याद रोज-ब-रोज बनी रही। पाँच महीने के शहरी जीवन के निरतर प्रभाव से, बाहर से बदले हुए, जेठू के भीतर लाल धागे ने गुडिया के चित्र को मिटने नहीं दिया।

जेठू पाँच महीने के बाद जब घर लौटने लगा तो उसके दिमाग में से वास्तविकता मिट गई थी और एक सपना बस गया था। उसके पास नकद ४० रुपये थे और गुडिया के सर के लिए सुदर लाल फीता था। घाटियों पर से होकर जब वह गुजरने लगा तब सूरज पहाडों के भूल भुलैयों में गुम हो गया। पहाड़ी प्रदेश की शाम पहाडों पर से नीचे झुक आई थी और अँधेरे की निस्तब्धता गहरी हो गई थी। जब वह घर पहुँचा तो रात काफी बीत चुकी थी। झोपडियों के दीपक बुझ गए थे। झोपडियाँ सो गई थी। चारो ओर मुकम्मिल खामोशी थी। निस्तब्धता ने दम साध ली थी। जेठू ने अपनी झोपडी को बद पाया। क्यों बद है, सो कुछ न समझ सका।

जेब से माचिस निकाल कर उसने बीड़ी सुलगाई और दीया जलाया। दीये के उजाले में देखकर कुछ समझ लेना चाहा तो कुछ समझ में न आया। मिट्टी के सभी बर्तन खाली थे। उसे प्यास लगी थी। वह पीछे की झोपडी में जाकर अपने पडोसी को जगाना चाहता ही था कि एक झोपड़ीवाला लाठी टेकता हुआ वहाँ पहुँच गया। वह एक करुण अदाज के स्वर में बोला—'कौन ? जेठू ?'

'हाँ दादा, मैं।'—जेठू ने आवाज दी।

दादा ने शहर की बातें पूछी, अपनी बातें कहीं, लेकिन जेठू के परिवार की चर्चा छेडने से कतराता ही रहा। जेठू ने उसकी बातों के सिलसिले को कई बार तोडना चाहा और पूछा—

'और मेरे बप्पा और गुडिया कहाँ हैं, दादा ?'

दादा ने बयान दिया—'मधुआ का हाल क्या कहूँ, बेटा। मालिक ने उसे लकड़ी लाने के लिए जगल भेजा। लेकिन वह उस दिन नहीं लौटा। दूसरे दिन जब हम पहाड गए तो देखा, कौवे, कुत्त और गीध एक लाश को नोच रहे हैं। हमलोगों को शक हुआ। नजदीक जाकर देखा तो कपडों से पहचान लिया कि वह मधुआ था।'

झोपडी का दीया अबतक तेल नहीं रहने के कारण बुझ गया था। झोपडी के विरल निस्तब्ध अधकार में दोनों बातें कर रहे थे। और कभी-कभी मिट्टी के बर्तनों की ओट में से चूहों के आने-जाने की हरकत की आवाज सुनाई दे जाती थी। जेठू ने एक गहरी सास लेकर फिर पूछा,—'और गुडिया कहाँ है, दादा ? गुडिया की माँ कहाँ है ?' जेठू जल्दी करना चाहता था।

दादा ने कहा—'भगवान जो चाहे सो करे। सब सहना ही पडता है। मधुआ के मरने के बाद गुडिया की माँ लाचार हो गई। कहाँ से खाती ? सो मालिक के घर उसे काम करना पड़ गया। नदी के ढलवान के खेत में वह एक दिन धान रोपने गई थी। शाम को जब लौटने लगी तो गुडिया को साँप ने काट लिया। कैसा विषधर साँप था वह, जेठू। कि पलक मारते देखा—एक दो हिचकियाँ आई और फिर बच्ची की साँस गायब हो गई। कोई जतर मतर भी नहीं किया जा सका।'

जेठू दीवाल के सहारे टिक कर बैठ गया तो अँधेरे के सीने में से बेशुमार चिंगारियों को चक्कर काटते देखा। वह सुन्न हो जाने से बचने के लिए कोशिश करने लगा। उसकी आँखों मे आँसू नहीं आए। सिर्फ एक चीख कठ तक आकर दब गई।

दादा कहता गया—'गुडिया की मा बेचारी क्या करती ? उसे मालिक के पास से बराबर ही बुलावा आता रहा। वह वहाँ जाने लगी और गुजारा करने लगी

अब आजकल रोज ही वह रात के सो जाने के समय वहाँ चली जाती है और सुबह मुँह अँधेरे लौट आती है। झोपड़ीवाले सभी जानते हैं। कोई कुछ कह नहीं सकता। मालिक की बात तो तुम जानते ही हो। लेकिन झोपड़ीवाले सभी कहते थे कि जेठू आएगा तो उससे शराब और भात लेंगे, तब फिर वह गुड़िया की माँ को रख सकता है।'

दादा खामोश हो गया। जेठू की इच्छा हुई कि दादा शीघ्र वहाँ से चले जायँ तो अच्छा हो। उसके भीतर से एक खौफनाक हूक फूट पड़ना चाहती थी। उसे रोकने में जेठू के समस्त प्राण थर्रा उठे।

'अच्छा जेठू, अब सो जाओ बेटा। दूर से चलकर आए हो। पहाड़ों में चूर हो गए होंगे। मैं भी चलता हूँ।' कहता हुआ दादा चला गया।

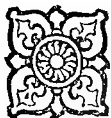
जेठू की आँखों से नींद उड़ गई थी। वह लेट गया—जैसे पहाड़ की चोटी से टूटकर गिरा हुआ एक पत्थर पड़ा हो। अग्निफलेला का एक पान जैसे पत्थर हो गया था। शरीर में कहीं कोई हरकत नहीं थी। चेतना लुप्त हो गई थी। झोपड़ी के भीतर अंधकार के सीने में लिपटा हुआ जेठू के सामने रातभर खौफनाक नजारा दिखलाई देता रहा। इंसान की लाश, और लाश को अपने खौफनाक जबड़ों से तोड़-तोड़कर कलेवा करते हुए दरिंदे। शेर, कुत्ते, गीध और कौवे। उसकी आँखों के सामने इंसानी लाशें थीं और दरिंदे थे। साँप थे जो अपने भयावने फनों को फैला कर लाशों के ढेरों पर चक्कर मार रहे थे। और इसी तरह रात कट गई। पहाड़ों के ढलानों से सूरज पहाड़ की चोटियों पर चढ़ना चाहता था। गुड़िया की माँ झोपड़ी के बाहर दीवाल के सहारे टिकी, सहमी, हैरान-सी खड़ी थी। मालिक का गुमाश्ता हुकूमत का डंडा कंधे पर तोलते हुए घोषणा करता हुआ चला गया—'आज बहुत देर हो रही है। जल्दी तैयार हो जाओ, चलो।'

जेठू के मन में न मालूम कैसी दृढ़ता आ गई कि वह मालिक का खेत जोतने चला गया और दोपहर में वह जब खाना पहुँचाने गई तो खाना सामने पेश कर अपनी शर्माली, सहमी हुई आँखें चुराकर एक ओर खामोश बैठ गई।

जेठू खाना खाते समय बोला—'यही होता है हम इंसानों के साथ। हम लोगों की जिंदगी ऐसे ही खत्म हो जाती है। हम साँप, गीध, कुत्ते और दरिंदों के ही काम में आते हैं। और ये इंसानी दरिंदे जंगली दरिंदों से कम खौफनाक नहीं हैं। हमारे बैल कहाँ गए? देखो। गुड़िया और बप्पा का क्या हुआ, देखो? और अब तुम थी, सो भी एक दरिंदे की ही पकड़ में आ गई हो। और फिर मैं भी यहीं आ पहुँचा हूँ। हमलोग दरिंदों से बचकर जिंदा नहीं रह सकते। तो तुम इस तरह क्यों परेशान हो? जातवाले कह रहे हैं 'दारू और भात दो, तब जात में रहोगे और तब गुड़िया की माँ को रख सकोगे।' तो ठीक है हम उन्हें देंगे। तुम ही कहो, तुम्हें छोड़ कैसे दूँ?'

गुड़िया की मा ने एक गहरी और बहुत देर की दबी साँस छोड़ी। और फिर सिसकियों की लपेट में आकर उसका तमाम जिस्म काँपने लगा।





भारतीय वाङ्मय

१. अत्याधुनिक बँगला-साहित्य

श्री अनिल दत्त ने 'ऊषा' पत्रिका में वंगीय साहित्य परिषद् की आलोचना के प्रसग में अति आधुनिक बँगला-साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। बँगला साहित्य से हम सर्वसाधारण लोग जो समझते हैं, उसकी आयु ज्यादा नहीं है। ऐतिहासिक चाहे जो कहे, बँगला गद्य की उम्र सौ साल से ज्यादा नहीं है। और महज सौ साल में ससार का कोई भी साहित्य बालिग नहीं हो सकता। स्वाभाविकतया दूसरे महायुद्ध के पहले तक बँगला-साहित्य के उपजीव्य की परिधि खास कुछ विस्तृत नहीं थी। समाज और धर्मनीति की नपी-तुली पगडडी पर ही उसकी गति थी। किन्हीं-किन्ही ने उन बधनों का विरोध जरूर किया, पर ज्यादा आगे न जा सके। बंकिम, शरत् और रवींद्र की प्राथमिक कृतियाँ इसके प्रमाण हैं।

'कल्लोल' पत्रिका से जिस नई साहित्यिक गोष्ठी का संगठन हुआ, उसने साहित्य की प्रचलित रीति का विरोध किया। किंतु इस विरोध से पैदा होनेवाला उनका साहित्य इतना व्यक्ति केंद्रिक हो उठा है कि समाज से उस व्यक्ति या उस साहित्य का बहुत दूर से भी कोई लगाव नहीं रहा। हाँ, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद साहित्य में एक सर्वथा नई अवस्था आई, जो समकालीन समाज धारा के विवर्तन के अनुरूप थी। अग्रेजी सल्तनत के शुरुआत से ही कुछ सर्वजन विदित कारणों से वगीय समाज नगर-केंद्रिक होने लगा था। दूसरे महायुद्ध से उस प्रकिया की गति और तेज हो उठी। और पिछले वंगाल के अकाल से जो सामाजिक अर्थनैतिक स्थिति का मटियामेट हो गया, उससे यह नगरकेंद्रिकता की प्रक्रिया पूरी सी हो उठी। इसके चलते धर्म और सस्कार के बधन ढीले पड़ने लगे। व्यक्ति-स्वतत्रता ने सिर उठाया, श्रेणी विरोधिता कमते कमते लुप्त हो गई। अत. कल्लोलयुग में लेखकों ने आत्मकेंद्रिक जगत् में जो अपने को समेट लिया था, वैसा करना आज के साहित्यकारों के लिए संभव नहीं रह गया। इसके कारण हैं—गिरी हुई आर्थिक अवस्था, नैतिक पतन, आशु परिवर्तनशील समाज व्यवस्था, सवाद पत्र, रेडियो आदि की लोकप्रियता। इसीलिए आज के अधिकांश कवियों की रचनाओं में निराशाजनित आहों की आँधी है; इन्हे वीते या आनेवाले दिनों के किसी जीवत जगत की भी कोई खबर नहीं। इस रूखी-सूखी, वध्या पृथ्वी से दूर कहीं आश्रय पाने की एक ललक। इसलिए आधुनिक साहित्य में अगर कुछ रोशनी की झलक है, तो वह बिजली की; गीत है तो रेडियो का और कुछ अगर चहल पहल है तो वह या तो राजनैतिक है या अर्थ-नैतिक। आज के उपन्यासों में अब नायक वीरभूम के जमींदार नहीं मिलते, या तो वह दफ्तर का किरानी होता है या फिर मोची, मेहतर या दलाल। इसका घर कलकत्ते के उपकूल में नहीं, किसी ग्वाला की गली में होता है। ये अब आमद के लिए उद्यान-विहार में नहीं जाते, हिंदी तस्वीर देखने जाते हैं। पड़ोस की पार्वती से उनका अब प्रेम नहीं होता, होता है मधुबाला से। इस प्रकार यह पता चलता है कि पूर्ववर्ती साहित्य की जीवन से जो दूरी या बिलगाव था, वह बहुत हद तक दूर हो गया है, बाकी भी जाता रहेगा। आज के साहित्य की भाषा ही रोजमर्रा नहीं है, घटनाएँ भी दैनंदिन हैं। क्योंकि इन दैनंदिन समस्याओं से हमारी कभी मुक्ति नहीं। फलस्वरूप उपजीव्य की परिधि बढ जाने से साहित्य का उत्तरदायित्व भी बढ गया है। इसलिए यह अवस्था जितनी ही आशाजनक है, उतनी ही आशकाजनक भी है।

मनुष्य ईश्वर की सृष्टि है। समाज की सृष्टि में उसका बहुत बड़ा हाथ होते हुए भी उसके नियत्रण का मात्र वही नायक नहीं है। इसी आयत्तातीत मनुष्य और समाज के अश विशेष के समन्वय से वह रूप जगत् की सृष्टि करता है। इसी रूप-सृष्टि के अनुरूप मनुष्य अपने सामाजिक-जीवन का या तो नियंत्रण करता है या करने की कोशिश करता है। इस तरह साहित्य समाज की सेवा करता है और समाज साहित्य को जन्म देता है।

साहित्य अगर अपना सामाजिक दायित्व भूल बैठता है, तो क्या मर्मातक दुरवस्था हो सकती है, यह हम

पिछले दिनों देख चुके हैं। इसके विपरीत यदि समाज ही साहित्य का ग्रास कर बैठे तो उसका क्या बुरा अंजाम हो सकता है, यह हम रूस और अमरीका को देखकर जान सकते हैं। रूस और अमरीकी साहित्य की इस अवनति का मूल कारण यही है कि वह सामाजिक मूल्य को साहित्यिक मूल्य मान बैठने के भ्रम में है। फ्रांस और ब्रिटेन में ऐसी दशा की आशंका अपेक्षाकृत अधिक थी, पर वैसा नहीं हुआ। क्योंकि ब्रिटेन की जातिगत रक्षणशीलता और फ्रांस की एकेडेमी की कड़ी निगाह ने यह अवस्था बचा ली, किंतु बंगाल में आज ऐसा होने लगा है और आगे और भी अधिक होने की संभावना है। रक्षणशीलता तो बंग चरित्र में है ही नहीं। और एकेडेमी? वह तो 'भूतो न भविष्यति'।

उन्नीसवीं सदी का बंगाली समाज

श्री योगेंद्रनाथ गुप्त ने अपने एक लंबे लेख में ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा इस विषय पर बड़ा सुंदर आलोकपात किया है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भी समाज किन बुराइयों का शिकार था, इसमें इसके अनेक आँख खोलने वाले तथ्य हैं। लेखक ने बताया है, तत्कालीन समाज में गुटबंदी का बाजार गर्म था, आपद्धर्म की प्रधानता थी, लोकाचार बहुत गिरा हुआ था, समाज का नीतिबोध बड़े नीचे स्तर का था। हममें न तो वह शक्ति थी, जिसे संगठन-योग्यता कहते हैं, न शासन दक्षता थी और नहीं थी सुचिंतित कार्य पद्धति। हम अपने को आध्यात्मिक भावापन्न कहकर गौरव करते हैं किंतु हमारी वह आध्यात्मिकता क्या थी? किस सत्य की प्रतिष्ठा के लिए हम अग्रसर हुए थे? और जो सचमुच हुए थे अग्रसर, गिनती में वे कितने थे? बंगाल की आज की समस्या मूलतः राजनीतिक नहीं है, वह शिक्षा और अर्थनीति की समस्या है। किंतु अगर देशवासी में जातीयता-बोध और संस्कार-मुक्त मन न हो, तो वे किस प्रकार शिक्षा और ज्ञान-लाभ-द्वारा वीर्यवान देश प्रेमी हो सकते हैं?

चैतन्य के अभ्युदय काल में शांतिपुर एक प्रसिद्ध विद्या-केंद्र था। मगर उसके पाँच सौ साल बीते। किंतु उसी शांतिपुर में सन् १८२६ के लगभग चंद्र बंद्योपाध्याय नाम के एक कुलीन ब्राह्मण की हत्या की गई थी। इन सज्जन के १०० तो विवाहिता पत्नी थीं। अपनी बहन से दुर्व्यवहार करने के कारण उनके एक साले ने ही इन्हें मौत के घाट उतारा था। उनके मरने पर उनकी ८ पत्नियाँ सती हुई थीं। उन दिनों शांतिपुर में सती होनेवालियों की अच्छी-खासी संख्या थी। सन् १८१६ में नदिया जिले में ५६ नारियाँ सती हुई थीं, जिनमें २० शांतिपुर की थीं। नर-बलि भी प्राय हुआ करते थे। सन् १८३२ में वहाँ के एक ब्राह्मण ने हजामत के लिए कलकत्ता से एक नाई को बुलवाया था। उस नाई से ब्राह्मण ने काली के सामने बकरा बलि करने को कहा। नाई ने वह भी किया। उसके बाद वहीं उस नाई की भी बलि चढ़ा दी गई। अवश्य इस अपराध में ब्रह्मण को प्राणदंड हुआ था।

एक और कालीपूजा का वाकया है। पूजा के समय से ही पुजारियों ने छूट कर पीना शुरू किया। जब नशे में वे धुत-से हो गए, तो शोर मचाना शुरू किया—अरे, बलि का बकरा कहाँ है? जल्दी ला, जल्दी। इतने में एक पिये हुए आदमी ने ही दो चार बार में में करके कहा—भई, बकरा तो मैं ही हूँ। दो, मुझे बलि दो। उसने अपनी गरदन यूपकाष्ठ में रोप दी। और सचमुच ही एक ने खड्ग उठाकर उसे काट डाला। दूसरे दिन जब होश आया, तब उन्होंने जाना कि अपने एक साथी को ही लोगों ने बलिदान कर दिया है। शांतिपुर में आत्महत्या की संख्या भी बहुत ज्यादा थी। कुछ अजीब सा ही था वहाँ का उस समय का समाज। एक बार एक पैंतालीस साल के मर्द ने जाकर मजिस्ट्रेट से कहा—'महोदय, मैं आग में जल मरूँगा। संसार असार है, यहाँ शांति नहीं।' मजिस्ट्रेट ने उसे मदद देनी चाही। उसने नहीं ली और उसी रात आग में जल मरा।

शांतिपुर तंत्र के कुत्सित पंचमकार साधना का भी अन्यतम केंद्र था। तांत्रिक मतानुसार जघन्य आचरण द्वारा भैरवी चक्र का अनुष्ठान वहाँ प्राय ही हुआ करता था। इस संबंध में एक इतिहासज्ञ ने लिखा है—The obscene rites of the Tantrasastra are some times celebrated there One of them is the worship of a shamefully exposed female नग्ननारी अर्चना के जघन्य कुकर्म वहाँ प्राय होते थे।

पाश्चात्य देशों में समुद्र-पूजा

ईसाई धर्म प्रचलित होने के बाद से ही पश्चिम के देशों से बुतपरस्ती उठ गई है। प्राचीन ग्रीस और रोम के देवी-देवताओं की अनगिनत मूर्त्तियाँ अब भक्ति के बजाय रूप-साधना का मूल्य रखती हैं। अतः ऐसे निराकार

एकेश्वरवादी देशों में कहीं पौत्तलिकता की बू-बास मिले तो अचरज ही की बात है। 'धरती' में श्री यतींद्र सेन ने दो देशों में समुद्र-पूजा के प्रचलन की बड़ी मनोरंजक कहानी दी है।

ये दो देश हैं, ब्राजिल और स्पेन। ये लोग न केवल समुद्र को अर्घ्य निवेदन करते हैं, बल्कि समुद्र देवी की वंशानुक्रम से मूर्ति कल्पना भी करते आए हैं। दोनों देशों में देवी का नाम सागर रानी है। ब्राजिलवाले उसे कहते हैं 'इयेमोजा'। उनका विश्वास है कि समुद्र रानी सागर की विपत्तियों से तो रक्षा करती ही हैं, नर-नारी की मनोकामनाएँ भी पूरी करती हैं। उनकी कृपा से सुख-समृद्धि बढ़ती है, यौवन और श्री की वृद्धि होती है, वह तरुण-तरुणियों के प्रणय को सार्थक करती हैं, प्रवासियों को सकुशल घर वापस भेजती हैं, समाज और कर्मक्षेत्र में लोगों को मर्यादा-रक्षा की याद दिलाती हैं। यहाँ तक की परीक्षा में पास भी कराती हैं।

दोनों देशों में देवी की मूर्ति-कल्पना अपने अपने ढंग की है। ब्राजिल देश की सागर-रानी काठ की मूर्ति और साधारण-सी हैं। गले में सीप और कौड़ियों की माला, कमर से ऊपर का हिस्सा अनावरण, नीचे घाघरे सा पहनावा। दोनों हाथ जुड़े हुए—छाती से नीचे। माथे में बाल नहीं के बराबर। इसीलिए शायद उनके उपासक उन्हें प्रसाधन-सामग्रियों की ही भेंट चढ़ाते हैं, जिनमें बाल की सौंदर्य-वृद्धि करनेवाली वस्तुएँ ज्यादा होती हैं। लोशन पोमेड, लिपस्टिक, क्रीम, फुलेल, हार, कर्णफूल आदि उपहार देते हैं।

स्पेन की सागर-मूर्ति अपेक्षाकृत सुंदर है। ऊपर का हिस्सा अनावरण, निचला भाग मछली जैसा। खुले लंबे बाल। दोनों हाथ ऊपर को उठे हुए। कमर तक झूलती हुई सीप और कौड़ियों की माला।

पुजारियों में स्त्रियों की संख्या अधिक है। ऊपर उल्लिखित उपहार-द्रव्यों के साथ लोग अपनी कामना लिखा हुआ पत्र दूर सागर गर्भ में जाकर छोड़ देते हैं और उलटकर फिर उस ओर नहीं देखते। अगर द्रव्य पानी में डूब जाता है, तो माना जाता है कि देवी ने उपहार स्वीकार कर लिया। कहीं द्रव्य पानी पर उतराते रह गए, तो भावी अनिष्ट की आशंका की जाती है। इस पूजा का सामूहिक अनुष्ठान होता है। उसदिन नावों के बेड़े तीर पर जमा होते हैं। नाव पर खास तरह के बाजे बजते रहते हैं। उन नावों से सागर गर्भ में दूर जाकर पूजा-सामग्रियाँ जल में डालकर ही नौकाएँ वेग से लौट जाती हैं।

उन देशों में समुद्र पूजा का सूत्रपात कब और कैसे हुआ, बताना कठिन है। तब इसमें संदेह नहीं कि यह बहुत दिनों से चला आ रहा है। यह भी सोचने की बात है, कि दूर-दूर के इन दो देशों में एक क़िस्म की पूजा पद्धति कैसे चली, जब कि दोनों देशों में अतलांतक महासागर का व्यवधान है और एक से दूसरे में पहुँचने के लिये कम-से-कम १५ दिनों का समय लगता है।

—हंसकुमार तिवारी

२. तमिल के तपस्वी पुत्र तिरु वी० कल्याण सुंदर मुदलियार

तमिल जनता के सेवक तिरु वी० कल्याण सुंदरम् ता० १७ ९ ५३ गुरुवार रात को साढ़े सात बजे इस दुनिया से कूचकर गए जिससे तमिल-साहित्य को बड़ा धक्का पहुँचा है।

तमिल जनता उन्हें प्यार से 'तिरु वी० क' कहकर पुकारती थी। 'तिरु वी० क' की माता का नाम था चिन्नम्माल और पिता का नाम तिरु वे० विरुड्डाचल मुदलियार था। उनके पूर्वज 'तिरुवारुर' के थे। 'तिरु वी० क' के पिता मद्रास 'रायप्पेट्टा' में जा बसे। उस समय चेंगलपट्ट जिले के पास एक झील की मरम्मत करने का काम आ पड़ा था। इसलिए वे अपने परिवार के साथ चेंगलपट्ट जिले के तालुक में 'तुल्लम' नामक गाँव में रहने लगे। यह वह गाँव है जिसके पास ही एक शिवजी का मंदिर है। वह मंदिर 'तिरुवेकाडु' के पास है और तमिल 'स्थल पुराण' में जिस का गुण गाया गया है।

'यहीं पर' तिरु वी-क० का जन्म हुआ। इनके जन्म होने के दो साल पहले ही उनके भाई उलगनाथ मुदलियार पैदा हुए थे। तब तक 'झील' की मरम्मत पूरी हो चुकी थी। फिर भी उनके पिता वहीं पर रह कर व्यापार और खेती के काम में लग गए। वे ही अपने बेटों के गुरु थे।

सात साल तक 'तिरु वी क०' 'ग्रामवासी' बने रहे। बेटों को आगे बढ़ाने और शिक्षा देने के लिए उनके पिता सपरिवार सन् १८९० में मद्रास रायपेट्टा में चले

गए। 'तिरु-वी-क' के बचपन और जवानी के दिन वहीं पर बीते। पहले-पहल उनकी पढ़ाई 'आर्यन प्राइमरी स्कूल में हुई थी। उसके बाद 'वस्ली कॉलेज' में मेट्रिक क्लास के (१८९८—१९०४) विद्यार्थी थे। वे क्लास में हर साल सबसे अव्वल रहे और पुरस्कार पाते थे। 'तिरु वी क' ने ईसाई धार्मिक ग्रंथ 'बाइबिल' का गहरा अध्ययन किया था। हर इतवार को स्कूल में होनेवाले इंजील के उपदेशों को भी सुनने जाते थे। 'यापपाणम' (सिलोन) से कदिरवल पिल्ले नामक तमिल विद्वान 'वेस्ली कॉलेज' के तमिल अध्यापक नियुक्त हुए। बहुत जल्द ही उन दोनों में मैत्री हो गई। उन दोनों को 'शैव सम्प्रदाय' पर बड़ी श्रद्धा थी। इसलिए अंगरेजी पढ़ाई से दिलचस्पी कम होने लगी।

उस जमाने में 'शैव समाज' के अन्दर 'अरुट्पा'-मरुट्पा[1] नामक झगड़ा उठा। वेदांत और सिद्धांतपर बहस जारी थी। खंडन मंडन की लहरें उठीं। इन सभी कामों में तिरु वी-क' कदिरवेल पिल्ले के विद्यार्थी की हैसियत से शरीक रहे। एक बार अध्यापक के नाम पर एक मुकदमा चला जिसमें 'तिरु वी-क' गवाही देने गए थे।

उन का विवाह सन् १९१२ में हुआ। उनकी जीवन-संगिनी का नाम कमलाम्बाल् था। उनके प्रेमभरे जीवन में एक लड़का और लड़की का जन्म हुआ था। पर बच्चे बहुत दिन तक नहीं रहे। वे चल बसे। तमिल की कवियित्री अव्वैयार ने कहा था—'पुलनैंदु म वन्द्रान्इन्न् वीर में वीरम्' याने जो पंचेंद्रियों को वश में रखकर जीतता है उसकी वीरता अनुपम है। तिरु-वी क भी इस अमर वचन के उदाहरण ही थे।

सन् १९१७ की बात है देश भर में राजनैतिक लहरें जोरों से उठीं। श्रीमती अनी बेसट और वज सुब्रह्मण्य अय्यर को तिरु-वी-क की निःस्वार्थ सेवा, ज्ञान, बोलने की कला और आम जनता की सेवा को पता चला। कुछ साल तक कॉलेज में वे 'तमिल' अध्यापक बने रहे। बाद को स्वराज आंदोलन में कूद पड़े। इन्होंने 'देश भक्त' नामक पत्रिका का संपादन अपने ऊपर ले लिया था। उस समय जहाँ-तहाँ आँधियाँ और हलचल की हिलोरें जोरावर थीं। इस मौके पर भी वे सार्वजनिक सेवा का बीड़ा ले चुके थे।

[1] अरुट्पा कृपा-याचना २ असीम भक्ति के जोर से गाना।

सन् १९२५ में जो तमिल नाडु कॉंग्रेस का जलसा हुआ था उसकी उन्होंने सदारत की थी।

तमिल भाषा की सेवा में वे सब से आगे रहे। उन्होंने तमिल में कई किताबें लिखी थीं। उनकी रचनाएँ ये हैं—

मानव-जीवन और गांधीजी, नारी की महिमा, मुरुकन या सुंदर और भीतरी प्रकाश आदि—

वे अपनी सभी रचनाओं में ऊँच-नीच की भावना का खंडन करते रहे, अपने मित्रों के साथ अछूतों के मुहल्ले में आकर सेवा करते रहे और उनके मन में भी भक्ति का बीज बोते रहे। उन्होंने नारी की स्वतन्त्रता पर भी जोर डाला था। उनकी 'नारी की महिमा' नामक पुस्तक ने नारी-जगत में खलबली-सी मचा दी थी। नारियों की उन्नति के लिए उन्होंने बड़ी सेवा की थी। इसलिए नारी जगत ने उन्हें अपना पिता समझा था।

उन्होंने ६८ साल की उम्र में एक किताब लिखी थी जिसमें मार्क्सवाद में अहिंसा और आध्यात्मिकता की कमी दिखलाया था। उन्होंने लिखा था कि गांधीवाद और मार्क्सवाद की नींव ऋषभदेव की अहिंसा से जुदा है। वे सदा साहित्य एवं समाज के कामों में लगे रहे। इस कारण वे कमजोर भी हो गए थे। ६७ साल की उम्र में उनकी आँखों की रोशनी भी कम हो गई थी। उन्हें बराबर नींद नहीं आती थी। इसका असर यह हुआ कि उनकी तंदुरुस्ती एकदम खराब हो गई। फिर भी उन्होंने कहा था कि—'अब मेरी आखों की रोशनी एकदम धीमी पड़ गई है लेकिन मुझे यह अनुभव होता है कि बाहरी आँखों ने रोशनी खो दी पर अंदर (मन) की आँखों की रोशनी और भी तेज हो गई है। इस दिशा में भी मेरी गंभीर चिंतन शक्ति की चेतना जाग उठी है।'

वे बिस्तर पर पड़े-पड़े कुछ कहा करते थे और उनके मित्र उसको लिखा करते थे। ६७ साल की उम्र में जब उनकी आँखों की रोशनी खो गई थी तब एक पुस्तक की 'रचना' हुई थी जिसका नाम 'अंधेरे में उजाला है।' उसमें बताया है कि—'मार्क्सवाद की देह में गांधीवाद को समा जाना चाहिए। जरूरत से ज्यादा रुपये जमा न करें। संसार में अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इसके लिए 'आध्यात्मिकता' की आवश्यकता है। भौतिकवाद Metera- के साथ 'आध्यात्मिकता' को मिल जाना चाहिए।'

धीरे धीरे वे बेहद कमजोर होते गए फिर भी उनकी 'विचार शक्ति' कम न हुई। अंतिम दिनों में भी उन्होंने एक रचना की जिसका नाम 'जीवन और उन्नति' है।

वे तमिल-माता के तेजस्वी और तपस्वी पुत्र थे। उनकी जुदाई से सारा 'तमिलनाड' रो रहा है। वे २६-८-५३ को सदा के लिए सो गए। अंतिम दिनों में 'देवारम्, तिरुवाचकं, स्कंदाड भूति' आदि भजन मालाओं के गीत मित्रों ने पढ़कर उन्हें सुनाए थे। उनके अंतिम दिनों में उनके मित्र साधु गणपति उनकी सेवा में लगे हुए थे।

—डॉ० राजन

३. पंजाबी-साहित्य में लोक-साहित्य की परंपरा

प्रत्येक बोली का प्रायः दो प्रकार का साहित्य होता है—लौकिक तथा साहित्यिक। साहित्यिक भाषा का उपयोग शिक्षित जनता द्वारा होता है और वह शिक्षित लोगों के ही लिखने, पढ़ने या बोलने में प्रयुक्त होती है। लौकिक भाषा दोनों वर्गों द्वारा प्रयोग में लाई जाती है। लौकिक भाषा अधिक प्रभावशाली, स्पष्ट, सरस, अभिव्यंजनात्मक एवं चलती हुई चटपटी होती है; क्योंकि उसकी जब साहित्य में अभिव्यक्ति की जाती है तो वह लोक-जीवन के अधिक समीप की वस्तु होने के कारण अपनी ही घरेलू वस्तु प्रतीत होती है। उसमें अपनापन होता है। साहित्यिक भाषा प्रौढ़ता, गांभीर्य, क्लिष्टता एवं एक विशेष वजन लिए हुए चलती है, इस कारण वह लोकजीवन से परे ही रहती है। समाज का एक संकुचित अंग ही इस भाषा का प्रयोग करता है। यद्यपि दोनों में पर्याप्त भेद है, तथापि साहित्यिक भाषा पर लौकिक भाषा का गहरा प्रभाव होता है, क्योंकि साहित्य का लेखक अपने जन्म से ही लोक-संसर्ग में आता रहता है, इस कारण उसकी कृति पर लोक प्रभाव होना स्वाभाविक ही है, किंतु लौकिक भाषा पर साहित्यिक भाषा का अधिक प्रभाव होना आवश्यक नहीं है।

पंजाबी भी अन्य प्रांतीय बोलियों के समान ही एक बोली है, जिसका विकास संस्कृत से हुआ है। इसपर कुछ विद्वानों के मतानुसार शौरसेनी का प्रभाव है[१]। कुछ विद्वान इसपर पैशाची का प्रभाव बताते हैं[२]। आर० जी० भंडारकर का भी मत है कि पैशाची का पंजाबी पर पर्याप्त प्रभाव है। यह प्रश्न अभी विवादास्पद ही है, इसका निर्णय नहीं हो पाया है। डॉ० मोहन सिंह के मतानुसार महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रभाव पंजाबी पर भी रहा बताया जाता है[३]। पंजाब के आसपास बोली जानेवाली बोलियों पर विद्वानों द्वारा पैशाची, शौरसेनी तथा महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रभाव बताया गया है। अतएव यह तो निश्चय ही है कि आसपास के वातावरण का प्रभाव पंजाबी पर भी पड़ा होगा; किंतु महाराष्ट्रीय प्राकृत का विशेष प्रभाव पंजाबी पर प्रतीत नहीं होता। शौरसेनी तथा पैशाची का समान प्रभाव पंजाबी पर रहा यह तो निश्चय है[४]।

पंजाबी की उत्पत्ति कुछ भी रही हो किंतु प्राप्त खोजों के अनुसार हम यह निश्चय रूप से कह सकते हैं कि पंजाब की लोक भाषा किसी समय संस्कृत अवश्य रही, चाहे उस समय पंजाब को 'पंजाब' नाम से न भी पुकारा गया हो[५]। वेदों का भी बहुत-सा साहित्य लोक-साहित्य माना गया है। अथर्ववेद के कुंताप-सूक्त (२० १२७ १३६) खिल या परिशिष्ट कहे गए हैं। निश्चय ही इनमें संहिताकार ने लोक-साहित्य का संकलन किया है। संग्रह करनेवाले वेदव्यास स्वयं कुरुजन पद के थे, और वहाँ के लोक-साहित्य से भलीभाँति परिचित थे। जब वे ऋषि परिवारों में प्रणीत विशिष्ट साहित्य का संग्रह कर चुके तो उनका ध्यान लोक में फैले हुए गानों पर भी गया जान पड़ता है। वे ही 'कुंताप सूक्त' हैं।[६] जनश्रुति वेदों का ही एक अंग है। यह एक निश्चित संकेत है कि यह वेदों की मौलिक वस्तु नहीं है, वरन् तत्कालीन लोक साहित्य है जिसे बाद में जोड़ दिया गया है।

लौकिक संस्कृत के पश्चात् उत्तर भारत में या पंजाब में पाली का विशेष प्रभाव रहा, जो कि तत्कालीन

१. 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया' भाग ९—ग्रियर्सन।

२ 'हिंदी भाषा तथा साहित्य का इतिहास'—श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय।

३. 'पंजाबी साहित्य दी उत्पत्ति ते विकास' (पंजाबी —परमिंदर सिंह तथा कृपाल सिंह, पृष्ठ ३५।

४ यह एक स्वतंत्र विषय है। अत यहाँ उसका निर्देश मात्र करते हुए, हम पंजाबी का निकास उक्त ही मानकर आगे बढ़ते हैं।

५ ऋग्वेद की रचना पंजाब में ही हुई थी।

६ 'जनपद' अंक २, 'गाथा और पल्हाया'—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल पृष्ठ ७०।

लौकिक भाषा ही मानी जाती है। पाली के पश्चात् प्राकृतों के विभिन्न रूप मिलते हैं, जिनमें पंजाब का प्रथम कवि गोरख मिलता है। नागार्जुन (७०२ ई०), जिसने नाथ-सम्प्रदाय का बीजारोपण किया, का पर्याप्त साहित्य अभी संभवत उपलब्ध नहीं हो पाया है। यही बात जलधर नाथ के लिए भी कही जा सकती है, जिनका मुख्य प्रदेश पंजाब का माम्हा तथा दोआब रहा है, तथा जिसके नाम पर पंजाब का केंद्र बिंदु 'जलधर' नामक नगर आज भी प्रसिद्ध है। गोरख जो कि अपने नाम के पीछे एक बड़ा रहस्य छिपाए हुए है, पंजाब के गोरखपुर, (इस नगर का नामकरण उनके ही नाम पर किया गया प्रतीत होता है) तहसील गुजरखान, जिला रावलपिंडी में पैदा हुए थे। यद्यपि वे एक विशेष मत के अनुयायी थे, तथापि वे तत्कालीन लोक समाज एवं उसके अंग अंग पर पूर्णत छा गए थे। गोरख ने अपने जीवन में जिस साहित्य की रचना की वह बताया जाता है कि घूमते फिरते की गई है, इसी कारण उनकी बोली पंजाबी नहीं हो पाई। किंतु हम यह मानने के लिए कतई तैयार नहीं। यदि कोई पंजाब निवासी महाराष्ट्र में चला जाए तो वह भले ही वहाँ जाकर २४ वर्षों के पश्चात् ऐसी हिंदुस्तानी बोलने लग जाए जिसम कुछ मराठी के शब्द भी हों, किंतु यह तो नितांत असम्भव प्रतीत होता है कि वह व्यक्ति मराठी भाषा में साहित्य रचना ही प्रारंभ कर दे। उक्त उदाहरण देकर हम यह निश्चयरूप से कह सकते हैं कि गोरख के समय में ही नहीं वरन् उससे कई सौ वर्ष बाद तक भी पंजाब की भाषा वह पंजाबी नहीं बन पाई थी जिसे आज के लोग 'पंजाबी' कह सकें। कई विद्वानों ने उस काल की भाषा को 'हिंदवी' कहा है। कुछ लोग इसे 'सधुक्कड़ी' भाषा भी कहते हैं। अब्दुल करीम ने ई० सन् १७०८ में 'निजामुल मोमनीन' में अंकित किया है—

फर्ज मसाइल फिरकादे हिंदी कर तालीम
कारन मरदा ओ मियाँ जोड़े अब्दुलकरीम

हाफिज मोइनुद्दीन 'नवीना' १२११ ई० में एक फारसी-कसीदे की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

इस अरी थवी हिंदी चीजे,
सब्मा खलक मुसल्ले सीजे
खान सादता ने फरमाया,
कसीदा शेर जमाली है।

कहा जाता है कि सोलहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम किसी राजस्थानी कवि सुंदरदास ने 'पंजाब' शब्द का उपयोग किया था। एक अन्य उल्लेख भी मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि 'पंजाबी' शब्द सबसे पहिले किसने उपयोग किया, इसे हम कहीं नहीं देख पाए हैं किंतु इसका एक संकेत अवश्य है—एडीलिंग की 'मिथरीडेटस' बर्लिन १८०६-१८१७ भाग १, पृष्ठ १७५ तथा भाग ४ पृष्ठ४८७।

कुछ भी सत्य हो, किंतु यह सत्य है एवं निश्चित है कि गोरख से लेकर गुरु नानक तक पंजाब की लोक-भाषा हिंदवी थी या 'ल हिंदी' का प्रभाव था।* इस प्रांत के साहित्यकारों ने अपनी रचनाएँ इन्हीं लोक-भाषाओं में लिखीं। गोरख अशिक्षित थे। वे ठेठ लोक भाषा में अपनी रचना करते थे, तथा घूमते फिरते हुए अपने साहित्य को प्रचारित करते थे। इसी कारण उनकी 'बानी' जन-जन के मुँह पर अठखेलियाँ करती रही जो कि आजतक भी भारत के विभिन्न भागों में नाथ-जोगियों के मुँह से रात्रि के ढले प्रहर में—मुलके तथा चरखके उन्माद में फूट पड़ती हैं। आज गोरख का नाम शताब्दियों के धूमिल पट के पीछे छिपा पड़ा है, किंतु उनके गीत जन-जन की जिह्वा पर आज भी खेलते हैं, जैसे वे. उन्हीं की बपौती हों।

कुछ लोग प्रकाशित साहित्य को लोक साहित्य नहीं मानते, वरन् उनका यह मत है कि जो साहित्य कहीं प्रकाशित हो गया, या जिसके रचनाकार का ज्ञान जनता को है वह लोक-साहित्य नहीं है। किंतु, वास्तव में लोकसाहित्य वही है जो कि लोक की जिह्वा पर सदैव अठखेलियाँ करता रहे तथा जिसमें लोक का सही नेतृत्व हो। उस साहित्य में लोक का अध्ययन हो और लोक की ही अभिव्यक्ति हो, फिर चाहे वह प्रकाशित हो या अप्रकाशित—यह आवश्यक नहीं। "शताब्दियों - पर - शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं किंतु 'रामायण' और 'महाभारत' का स्रोत भारत में नाम मात्र को भी शुष्क नहीं होता। प्रतिदिन गाँव-गाँव, घर घर उनका पाठ होता रहता है। क्या व्यापार की दूकानों पर और क्या राजदारों पर, सर्वत्र उनका समान

* From the 11th to 15th Century we have old Punjabi in which law hindi predominates'—"History of Punjabi Literature' by Dr. Mohan Singh.

भाव से आदर होता है। ये दोनों महाकवि धन्य हैं जिनके शरीर तो काल के महाप्रांतर में लुप्त हो गए हैं, पर जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर नारियों के द्वार-द्वार पर अपनी निरंतर प्रवाहमान धाराओं से शक्ति और शांति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को प्रति दिन बहाकर भारत की चित्त-भूमि को उर्वरा बनाए हुए है।"*

नाथ-जोगियों के साहित्य के पश्चात् हमारे समस्त पंजाबी-साहित्य के प्रथम कवि फरीद शकरगज आते हैं जिनका साहित्य इतना लोकप्रिय माना गया कि सिखों के पंचम गुरु श्रीअर्जुनदेवजी भी धार्मिक पुस्तक 'ग्रंथ साहब' को संकलित करते समय बाबा फरीद के साहित्य को ग्रहण करने का लोभ संवरण न कर सके। सिक्खों का तथा मुसलमानों का सदैव ही कड़ा विरोध रहा है। इस मतभेद के उपरांत भी संभवतः ऐसा कोई भी धर्मावलम्बी न होगा जो फरीद साहब की वाणी को आदर की दृष्टि से न देखता हो, और उसका पाठ प्रतिदिन प्रात काल उठकर न करता हो, तथा अपनी श्रद्धा के दो पुष्प उन्हें समर्पित न करता हो।

पंजाब में न केवल सिक्ख, वरन लगभग प्रत्येक धर्म का अनुयायी ग्रंथ साहब को आदर की दृष्टि से देखता है और वही सम्मान उसे दिया जाता है जो आर्य-समाजी वेद को, सनातन धर्मावलंबी रामायण, महाभारत या गीता को तथा मुसलमान 'कुरान' को देते हैं। 'गुरु ग्रंथ साहब' वह पहिला पजाबी ग्रंथ है जिसमें तत्कालीन लोक-साहित्य संग्रहीत है। यद्यपि गुरु अर्जुनदेव जी ने इस ग्रंथ का सकलन धार्मिक दृष्टि से ही किया था, किंतु यह ग्रंथ आद्योपांत तत्कालीन धार्मिक लोक-साहित्य से पूर्ण है। यदि हम यह भी कह दें कि लोक साहित्य सकलन की परिपाटी के आदिपुरुष गुरु अर्जुनदेव जी ही थे तो अतिशयोक्ति न होगी।

ग्रंथ साहब में लोक साहित्य के व सभी गुण विद्यामान हैं जिन्हें वर्तमानकालीन विवेचक लोक साहित्य कहते हैं, जैसे—घोड़ी, सोहले, लावाँ, बारहमाहाँ, काफियाँ, दोहडे तथा अलाहुणियाँ इत्यादि। न केवल यही, वरन् ग्रंथ साहब में प्रत्येक वाणी को गेय बनाने के लिए उन्हें राग-बद्ध कर दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे गीतों क ढग पर गाए गए हैं। ग्रंथ साहब में तत्कालीन कई प्रसिद्ध लोक-कवियों की रचनाएं संकलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन कवियों की रचनाएँ संकलन काल में अत्यधिक प्रचलित होंगी। फरीद, कबीर, नामदेव, पीपा, रामानद, रविदास, धन्ना, जयदेव तथा सूरदास जैसे प्रसिद्ध लोक-कवियों की रचनाओं को बिना भेदभाव के सकलित कर लेना गुरु अर्जुनदेव जैसे सत्साहित्यिक का ही प्रयास था। ऐसे कवियों की रचनाओं के सकलन के लिए गुरु अर्जुनदेव को न मालूम कहाँ-कहाँ जाना पड़ा होगा और न जाने कितना प्रयत्न करना पड़ा होगा। वे लोक साहित्य से कितने प्रभावित थे यह उनके इस कार्य से सिद्ध हो जाता है।

* 'प्राचीन साहित्य'—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पृष्ठ ३

नाथों के साहित्य के पश्चात हम हिंदी पंजाबी के कवि चदवरदाई को भी विस्मृत नहीं कर सकते जिन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' जैसे विस्तृत ढाई हजार पृष्ठ के ग्रथ की रचना की।[१] 'चदवरदाई' (सवत् १२२५-१२४९) के 'पृथ्वीराज रासो के आरभ में अग्निकुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति की गाथा पर लोकवार्ता की छाप दृष्टि-गोचर होती है।[२] डॉ० मोहनसिंह के मतानुसार उनकी रचना पजाबी छदों में आबद्ध है, जो उस काल के लोक में प्रचलित था।

पंजाबी के कवि फरीद शकरगज जिनपर लोक-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव था, वे यद्यपि अफगान थे और खोतवाल नामक स्थान पर पैदा हुए थे, तथापि उन्होंने अरबी या फारसी की काव्य शैली पर रचना नहीं की, वरन् तत्कालीन प्रचलित शैली 'शब्द' तथा श्लोकों में ही काव्य धारा को प्रवाहित किया। फरीद लोक में इतने पैठ गए थे कि उनकी रचनाओं को तत्कालीन समाज ने हिंदी हस्तलिपि में भी लिखा, जो कि जयपुर-जोधपुर के समीपवर्ती भागों में आज भी यत्र तत्र प्राप्त हो जाती हैं।

हिंदी-पजाबी के प्रसिद्ध लोक कवि खुसरो भी आप ही के शिष्य थे।

सन् १२५३ ई० में पटियाली नामक नगर, जिसे

१. जैसे 'कादम्बरी' के सबध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग 'बाण' के पुत्र ने पूरा किया है, वैसे ही 'रासो' के पिछले भाग का भी चद के पुत्र जल्हण द्वारा पूरा किया जाना कहा जाता है। 'आचार्य रामचद्र शुक्ल, 'हिंदी सा० का इतिहास पृष्ठ ४८

२ देखिये, आलोचना ६, 'हिंदी साहित्य पर लोक साहित्य का प्रभाव'—देवेन्द्र सत्यार्थी,' पृष्ठ ५२

वर्तमानकाल में पटियाला कहा जाता है,* में अमीर खुसरो ने जन्म ग्रहण किया। किंतु पटियाला नाम तो 'पट्टी'-वाला से पडा माना जाता है। कुछ भी सत्य हो, किंतु यह निश्चित् ही है कि वे पजाब में ही पैदा हुए। उन्होंने १२८३ से साहित्य रचना प्रारभ की। वे शत-प्रति शत लोककवि थे। उन्होंने कई लाख 'शेर' कहे बताया जाता है। खुसरो द्वारा लिखित 'बुझारतें' (पहेलियाँ) आज भी पजाब के बच्चे-बच्चे की जिह्वा पर अठखेलियाँ करती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि खुसरो ने तत्कालीन पहेलियों को परिष्कृत कर लिखा है, किंतु इस मत में कितनी सत्यता है कहना कठिन है। उनके गीत आज भी पजाबी स्त्रियाँ बडे चाव से गाती हैं। बच्चे प्रतिदिन ही रात्रि में सोने से पूर्व उनकी 'बुझारतें' सुनाकर एक दूसरे की बुद्धि की परीक्षा लेते हैं तथा प्रसन्न होते हैं।

१४६६ से १७०८ ई० के मध्य में गुरु ग्रथ साहब की रचना हुई है। यह धार्मिक पुस्तक तो लोक साहित्य से ओत प्रोत है। प्राय ऐसा कोई भी भक्त गुरु न था जो लोक साहित्य से अछूता रह पाया हो। यही कारण है कि ग्रथ साहब में सोहले, घोडियाँ, लावाँ, अलाहुणियाँ, काफियाँ, बारहमाहाँ, दोहरे, गीत, सद तथा आरती इत्यादि अधिकता से प्राप्त होते हैं।

कबीर, कमाल, शाह हुसेन, शाहशरफ, सुलतानबाहु, छज्जूभगत, दयालदास, कान्हा, बिहारी तथा नदलाल आदि पजाबी के वे कवि हैं जिनकी रचनाओं में भी लोक साहित्य का उचित समावेश मिलता है।

रोमांटिक कवियों में सर्वप्रथम दामोदर है, जिसने 'हीर' की रचना की। 'हीर' शत प्रति शत एक लोक काव्य है, जिसकी रचना दवैया छंद में हुई है। 'हीर' के अन्य भी कई लेखक हैं, जिनमें प्रमुख कवि वारस शाह है। वारस की ही 'हीर' सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। 'हीर' में स्थान-स्थान पर पजाब का लोक उभर आया है। अखाण, कहावतें, वातावरण ही नहीं, वरन् पजाब की भैंसे, घास, गाँव तथा वहाँ के प्रचलित रीति रिवाजों का चित्रण 'हीर' को लोक साहित्य के अधिक समीप ला खड़ा करता है।

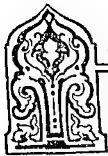
आधुनिक काल के रचनाकारों में प्रोफेसर मोहन सिंह की पुस्तकें 'सावे पत्तर' तथा 'को सुम्बड़ा' जिन्होंने पढी होंगी वे भली प्रकार कह सकते हैं कि उनकी रचनाएँ लोक-साहित्य से कितनी समीप हैं—उनकी प्रसिद्ध रचना 'अम्बी दे बूट्टे थल्ले' तथा 'कुड़ी पोठो हारदी' इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अन्य भी ऐसे कई साहित्यकार हैं जिनपर लोक-साहित्य ने अपनी छाप डाली है। 'फ़िरोज़पुर' के कवि 'तुलसी' की रचना 'मुटियोर जाण्या दूर पिया' तथा 'मक्की दी रोट्टी ते सरोंह दासाग' जिन्होंने सुनी होंगी वे भली प्रकार कह सकते हैं कि उन रचनाओं को सुनते समय वे अपने श्रवण-चक्षुओं द्वारा कहाँ विचरण कर रहे थे।

पजाब के लोक साहित्य से हिंदी-साहित्य भी अछूता न रह सका। पडित चद्रधर शर्मा गुलेरी ने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' का वातावरण बनाने के लिए पंजाबी लोक-साहित्य की ही सहायता ली। सरदार गगा सिंह 'भ्रमर' की कहानी 'तूम्बा वजदाना तार बिना' तथा कुछ अन्य कहानियों में भी उन्होंने पजाबी लोक-साहित्य का ही आँचल पकडा है।

आधुनिक युग में लोक-साहित्य-सग्रह की अभिरुचि तथा उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन साहित्य का एक विशेष एव प्रिय अग बन गया है। १८२७ ई० के लगभग बताया जाता है कि डॉ० टी० एच० थॉरएटन ने 'ए हैंडबुक ऑफ लाहौर', १८८४ ई० में आर० सी० टेम्पल ने 'लीजेंड्स आफ दी पजाब', लाहौर के एडवोकेट प० रामशरण दास ने 'पजाब दे गीत', श्री० सतराम बी० ए० ने १६२५ ई० में (सवर्द्धित सस्करण) 'पजाबी लोकगीत', १६३६ ई० में देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'गिद्धा', १६५२ ई० में अमृता प्रीतम ने 'पंजाब दे गीत' इत्यादि पुस्तकें साहित्य को दीं। सभव है और भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हों, जिनकी जानकारी प्राप्त न हो। १६५२ के मध्य में इन पक्तियों के लेखक द्वारा 'पजाब लोक साहित्य-परिषद्' की भी स्थापना की गई, जिसके सदस्यों ने यत्र तत्र घूमकर लोक-साहित्य का सग्रह एव उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया—जिनमें विशेष प्रयत्नशील हैं—ज्ञानी ज्ञान सिंहजी 'रतन', शामिर पुरुषार्थी, जितेंद्रीय लीखी, कुमारी कमलेश तथा लेखक स्वयं।

—नरेंद्र धीर

*Khusro was born at Patiali, modern Patiala, in 1253 A D He travelled to a number of places in the provinces of Lahore, Multan & Delhi in the company of Khilji kings — "History of Punjabi Literature" by Dr Mohan Sing; page 19



विचार-संचय

१. हिंदी का वास्तविक व्याकरण

आधुनिक हिंदी के गद्य का गठन बहुत कुछ अशों में पाश्चात्य—या यों कहिए अँगरेजी शैली से प्रभावित है। वाक्य विन्यास में व्याकरण तथा मुहावरे अनेकों अँगरेजी के साँचे में ढले हुए से दृष्टिगोचर होते हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है। परंतु एक शताब्दी से उच्च शिक्षण का मध्यम अँगरेजी होने के कारण उपरोक्त दोष—जिसे 'प्रभाव' कहना अधिक उपयुक्त होगा—सभी भारतीय भाषाओं में है; फिर हिंदी ही उससे अछूती किस प्रकार रह सकती थी? रही 'हिंदी व्याकरण' को अँग-रेजी के पद चिह्नों पर बनाने की बात! वास्तव में हिंदी की अधिकाश व्याकरण-विषयक पुस्तकें अगरेजी से नहीं बल्कि सस्कृत से ही आवश्यकता से अधिक प्रभावित हैं। हिंदी के वैयाकरण जब भी हिंदी भाषा का व्याकरण लिखने बैठते हैं तो वही सस्कृत के आठ कारक, वही ल कार, वही आसन्न, पूर्ण हेतु-हेतुमद्भूत आदि ज्यों-के-त्यों रख देते है, जबकि वास्तव में इनमें से अधिकांश रूप एक से हो गए हैं अथवा लुप्त हो गए हैं। जो रहे भी हैं उनसे उनके सस्कृतवाले रूप का बोध नहीं होता। इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है। वैदिक कालीन संस्कृत में रूपों का अति बाहुल्य था। तत्पश्चात् रीति-कालीन सस्कृत में से बहुत से वैदिक रूप कम हो गए। रीति-कालीन सस्कृत के पश्चात् प्राकृत भाषाओं के काल में रूपों की सख्या और भी बहुत कम हो गई, और प्राकृतों के बाद अपभ्रश काल में तो संज्ञा एव क्रिया के रूपों की सख्या इतनी कम हो गई कि अधिकाशतः तीन-तीन चार-चार कारकों एव क्रिया-रूपों के लिए एक ही रूप व्यहृत होने लगा। पहले रूपों की विभिन्नता बतलाने के लिए विभक्तियाँ जोड़ी जाती थीं अर्थात् भाषा सयोगात्मक थी, अब विभक्तियाँ झड़ गईं, और उनका बोध कराने के लिए अलग 'परसर्गों' (Post-positions) का उपयोग किया जाने लगा, अर्थात् भाषा वियोगात्मक स्टेज को प्राप्त हो गई।

भारत की सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का सूत्रपात विभिन्न प्रादेशिक अपभ्रशों से हुआ। इसलिए स्वभावतः उनके व्याकरण का निर्माण अपभ्रश व्याकरण के अनुरूप ही हुआ है। अपभ्रश का व्याकरण प्राकृत व्याकरण से भी बहुत भिन्न है, और सस्कृत व्याकरण से तो बिल्कुल दूर चला गया है। इसके अतिरिक्त सस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश तीनों की एक दूसरे से भिन्न अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं, जो विकास-क्रम के अनुसार उत्पन्न और प्रस्फुटित हुई हैं। यही बात हिंदी-भाषा के विषय में भी लागू है। हिंदी का व्याकरण अपभ्रंश के बहुत नजदीक है, परतु उसकी अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता एव अस्तित्व है। ऐसी स्थिति में हमारा हिंदी व्याकरण को सस्कृत से व्युत्पन्न मानकर उसके प्रत्येक रूप एव वाक्य-विन्यास को सस्कृत की कसौटी पर कस कर खरा-खोटा समझना कहाँ तक युक्ति-सगत हो सकता है? सस्कृत की थाती हिंदी को अवश्य प्राप्त हुई है, परतु प्राकृत एव अपभ्रश भाषाओं के हाथों निकलकर। हिंदी सस्कृत की पुत्री नहीं, प्रपौत्री है। उसमें अपनी परदादी के बहुत से गुण हैं, परतु साथ ही बहुत से अंशों में वह परदादी से इतनी भिन्न है कि दोनों का अपना-अपना बिल्कुल स्वतन्त्र अस्तित्व कायम हो गया है। अतएव यदि हमें हिंदी के वास्तविक व्याकरण का निर्माण करना है, तो उपरोक्त ऐतिहासिक दृष्टि रखते हुए केवल हिंदी के उपलब्ध रूपों से ही यह कार्य होना चाहिए; अन्यथा, यदि सस्कृत व्याकरण के ढाँचे पर हिंदी व्याकरण को 'फिट' करने का प्रयत्न किया गया तो हमें अगणित ऐसे रूपों की कल्पना करनी पड़ेगी, जो वास्तव में हिंदी में हैं ही नहीं, और अनेक ऐसे रूप छूट जायँगे जो सस्कृत में नहीं थे किंतु हिंदी में हैं।

सतोष की बात तो यह है कि इस प्रकार की गलती कोई नई नहीं है। भारत में अन्य भारतीय भाषाओं के वैयाकरणों ने तो हमारे सदृश गलती की ही है, यूरोप में भी नव्य-यूरोपीय भाषाओं के व्याकरण उक्त गलत ८।

कोण के कारण लैटिन पर आश्रित करके ही लिखे गए। परिणाम क्या हुआ, स्पष्ट है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ऑटो जेस्पर्सन (Otto Jesperson) ने अपनी पुस्तक 'भाषा —उसकी प्रकृति, विकास एवं उद्भव (Language, its Nature, Development and Origin) में इस विषय की बड़ी सुंदर आलोचना की है। उन्होंने लिखा है कि—'लैटिन एक ऐसी भाषा थी जिसका रूपबाहुल्य उसकी समृद्धि थी। इतर भाषा व्याकरणों का निर्माण करते हुए (उनके वैयाकरणों ने) लैटिन के ही भेद-प्रभेदों को बिना सोचे समझे कायम रखा, हालाँकि इन (आधुनिक) भाषाओं में लैटिन की विशेषताओं में से एक भी विद्यमान नहीं रही थी। अँगरेजी तथा डेनिश भाषाओं (के व्याकरणों) में संज्ञा शब्दों के रूप लैटिन के अनुरूप ही चलाए गए, और द्वितीया, चतुर्थी एवं पंचमी कल्पित कर ली गई, जब कि शताब्दियों से अँगरेजी एवं डेनिश में उक्त कारक रूप लुप्त हो चुके थे। सभी भाषाओं (के व्याकरणों) पर लैटिन क्रिया के काल, वाच्यादिक की भारी भरकम प्रणाली जबर्दस्ती थोप दी गई, और इस प्रकार की नागपाशों से जकड़ कर अधिकांश व्याकरणों का स्वरूप विकृत एवं बनावटी बना दिया गया। जो भेद प्रभेद वास्तव में इन भाषाओं में थे ही नहीं उनकी बलात् कल्पना कर ली गई, और ऐसे भेद प्रभेदों की, जो लैटिन में नहीं थे, परंतु इन भाषाओं में विद्यमान थे, अवगणना की गई। सभी (भाषा) व्याकरणों को इस प्रकार लैटिन के साँचे में ही ढालने के प्रयत्नों से उद्भूत अनर्थों की परंपरा अब भी पूर्णरूप से लुप्त नहीं हो पाई है। फलतः अब भी (आधुनिक भाषाओं के कई) व्याकरणों में से एक भी ऐसे नजर नहीं आते जिसमें कहीं-न-कहीं कुछ अंशों में लैटिन-परिपाटी का प्रभाव दिखलाई न पड़ता हो।'

जिस प्रकार लेटिन के ढाँचे में यूरोपीय भाषाओं का व्याकरण नहीं ढल सका, उसी प्रकार संस्कृत के ढाँचे में हिंदी का व्याकरण भी नहीं ढल सकता। इस प्रकार का प्रयास करना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के उत्तरोत्तर सिद्ध हुए विकास क्रम की ओर आँखें मूँद लेना है। हिंदी भाषा के प्रत्येक रूप की व्युत्पत्ति किसी न किसी संस्कृत रूप से ही सिद्ध करने की चेष्टा करना भाषा शास्त्र की दृष्टि से बिल्कुल अवैज्ञानिक है; क्योंकि संस्कृत और आधुनिक हिंदी के बीच में दो और भाषाओं का विकास हो चुका है, जो संस्कृत से निकली होने पर भी उससे बिल्कुल भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। उदाहरण के लिए सीता गई वाक्य में 'गई' शब्द 'गतवती' से कभी सिद्ध नहीं हो सकता। ध्वनितत्त्व की दृष्टि से 'गतवती' से 'गयवई' हो सकता है न कि 'गई'। सीधी सी बात है, गई का संबंध 'गता' से है, परंतु 'गता' एवं 'गई' के बीच में प्राकृत एवं अपभ्रंश के स्टेज भी हो आते हैं। पूरी शृंखला कुछ इस प्रकार हो सकती है— सं० गता > प्रा० गआ या गया > अप० गअ या गय+इय (अंगविस्तारक प्रत्यय) = गइय या गइअ + ई (स्त्री० प्रत्यय) = गई। उसी प्रकार 'राम ने रोटी खाई' और 'राम ने अमरूद खाया,' इन दोनों वाक्यों में 'खाई' एवं 'खाया' दोनों क्रियाएँ मूलतः संस्कृत के 'क्त' रूप 'खादित' से—खादित > प्रा० खाइओ > अप० खाइउ या खाइयउ > खाइया > खाया + ई (स्त्री० प्रत्यय) = खाई— इस प्रकार सिद्ध अवश्य होती हैं, परंतु अपभ्रंश तक आते-आते उनका कर्मणि भाव लुप्त हो जाता है, और आधुनिक हिंदी में वे साधारण कर्तरि क्रिया के रूप में ही प्रयुक्त होती हैं। कर्म के अनुसार लिंग हिंदी में कभी बदलता है, और कभी नहीं भी। लिंग के नियमों की इस गड़बड़ी या ढिलाई के चिह्न हमें अपभ्रंश में ही बहुतायत से मिलने आरंभ हो जाते हैं और हिंदी को वे अपभ्रंश की देन-स्वरूप ही मिले हैं। उपरोक्त वाक्यों को इस प्रकार भी लिखा जा सकता है—'राम ने रोटी को खाया,' 'राम ने अमरूद को खाया।'

हिंदी का अपना स्वतंत्र व्याकरण है, जो संस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश की परंपरा में होते हुए भी इन तीनों से भिन्न है उसका निर्माण यदि वैज्ञानिक दृष्टि से करना है, तो हमें हिंदी में प्रचलित प्रत्येक रूप का इतिहास देखना होगा। इस प्रकार एक 'ऐतिहासिक व्याकरण' (Historical grammar) का निर्माण होने के पश्चात् उसके आधार पर ही साधारण विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त 'वर्णनात्मक व्याकरण' (Descriptive grammar) का प्रणयन हो सकता है, अन्यथा जो व्याकरण बनेगा वह हिंदी का वास्तविक व्याकरण न होकर, इसके खिचड़ी रूप में संस्कृत का अधूरा व्याकरण मात्र होगा। हिंदी का व्याकरण लिखने का कार्य एकाध व्यक्ति

के लिए अत्यंत दुस्साध्य या असंभव-सा है। नागरी प्रचारिणी सभा, हिंदी साहित्य-सम्मेलन अथवा हिंदी-भाषी प्रांतों के विश्वविद्यालयों के रिसर्च-विभाग यदि इस दिशा में कदम उठाएँ तथा चार-पाँच दक्ष भाषाशास्त्रियों को यह कार्य सौंपें तो ही यह सांगोपांग पार पड़ सकता है। श्रद्धेय डॉ॰ बाबूराम सक्सेना का अँगरेजी में प्रकाशित 'अवधि का विकास' (The Evolution of Awadhi) इस विषय में हमारा आदर्श बनने लायक ग्रंथ है। खेद का विषय है कि हिंदी में उसका अनुवाद न होने के कारण अधिकांश हिंदी-जनता इस ग्रंथरत्न से अपरिचित ही है।

— आत्माराम जाजोदिया

२. हिंदी के दो पत्रकारों के साथ कुछ क्षण

उत्तर प्रदेश के हिंदी पत्रकारों के संबंध में कुछ सूचनाएँ प्राप्त करने के निमित्त मुझे हाल ही में काशी जाना पड़ा। बचपन से ही 'आज' संपादक पंडित बाबूराव विष्णु पराड़कर का नाम सुना करता था। काशी जाने पर बाल्य काल की चिर इच्छा बलवती हो उठी। मैंने पराड़करजी तथा पुराने संपादक पंडित लक्ष्मण नारायण गर्दे से मिलने का निश्चय किया। दैनिक 'बनारस' के संपादक श्री राजकुमार जी से मिलने से मालूम हुआ कि पराड़करजी अस्वस्थ हैं। वे प्रातःकाल केवल कुछ समय के लिए कार्यालय आते हैं। दूसरे दिन प्रातःकाल 'आज' कार्यालय पहुँचा। व्यवस्था विभाग में एक सज्जन से मिलने पर मालूम हुआ कि चंद मिनटों ही में पंडितजी कार्यालय से घर वापिस जानेवाले हैं। मैंने उन सज्जन से निवेदन किया कि मैं लखनऊ से आया हूँ, मुझे उनसे मिलने का अवसर दीजिये। कुछ क्षणों के पश्चात मुझे पंडितजी के कमरे में दाखिल होना पड़ा। हिंदी पत्रकारिता में युगांतर उपस्थित करके दैनिकत्व की प्रथम किरण लानेवाला क्या यही व्यक्ति है? कुछ क्षणों तक हतप्रभ होकर मैं खड़ा सोचता ही रहा। एक सादा कुर्ता धोती पहने हुए पुराने ऋषियों की तरह दाढ़ी रखे हुए और बनारसी संस्कृति का प्रतीक एक अँगौछा से विभूषित क्या यही पराड़कर जी हैं? फाटक पर दरवान से पूँछने पर उसने जो उत्तर दिया था वह मुझे याद आया। उसने कहा था 'का बड़के पंडित जी से मिलबऽ। पंडितजी नीचे न बैठेइलें।' तो उस दरवान के शब्दों में 'बड़के पंडितजी' क्या यही हैं? मेरी सकुचाहट देखकर साथवाले सज्जन ने कहा—'यही पंडित जी हैं'। और मैंने तुरत नमस्कार किया। पंडित जी ने कहा—देखिए, मेरी आँखों में मोतियाबिंद हो गया है, दिखाई कम पड़ता है। वृद्धावस्था के कारण कान भी कुछ कमजोर हो गए हैं। इसलिए जो कुछ कहना हो बहुत संक्षेप में और जोर से कहिए।

आरंभ में मैंने अपना परिचय दिया और मिलने का उद्देश्य बताया। सुनते ही बोले—'आप से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, पर जहाँ तक आपके उद्देश्य, पत्रकारिता के संबंध में सूचना प्राप्त करने, की बात है, मैं क्या सहायता दे सकता हूँ? मैं तो एकदम शिथिल और कमजोर हो चुका हूँ, फिर क्या सहायता दे सकूँगा? अब तो रक्तचाप से अधिक बोलना भी दुखदाई है।' मैंने कहा—'मैं इस अवस्था में आपका अधिक समय न लूँगा। फिर भी जब दर्शन के लिए आ ही गया हूँ तो कुछ पूँछने की तीव्र आकांक्षा है।'

वे बोले—'जहाँ तक सूचनाओं की बात है वह मेरे सहयोगी श्री खाडिलकर जी संपूर्ण रूप से आपको दे सकेंगे।' मैंने पहला प्रश्न किया—'आपकी रुचि पत्रकारिता की ओर कैसे हुई?' पराड़करजी ने बहुत ही नपे-तुले शब्दों में कहना शुरू किया—'मेरे मामा श्री सखाराम बँगला के पत्र हित-वार्ता' में काम करते थे। उन्हींकी प्रेरणा से मैं भी आकर्षित हुआ।' इतना कहने के बाद कुछ रुकते हुए उन्होंने फिर कहा—'मैं आप से कुछ और वार्तालाप करना चाहता हूँ पर खेद है कि बीमारी के कारण अधिक कहने में मजबूर हूँ।' मैंने फिर पूछा—'आप के पास कौन से पुराने पत्रों की फाइल है? साथ ही किन किन साहित्यिकों के पत्र आपके पास प्राप्त हैं।' 'मुझे बहुत ही दुख है'—उन्होंने उत्तर दिया—'मेरे पास कुछ पत्र थे उन्हें बक्स में रख दिया था। अभी एक सप्ताह पूर्व मालूम हुआ कि दीमक सारी की-सारी सामग्री चौपट कर चुके हैं और अब मेरे पास लिखित कोई सामग्री नहीं है।' मैंने कहा—'यद्यपि मुझे पूछना बहुत कुछ है पर ऐसी अवस्था में आपका कुछ भी समय लेना आपके ऊपर बहुत ही अन्याय होगा, फिर भी मुझे पूर्ण संतोष है कि आज मेरी ६ वर्षों की एक अभिलाषा पूरी हुई।' बड़े नम्र शब्दों में पराड़करजी ने मुसकराते हुए कहा—'आप लोगों की कृपा का ही परिणाम है। मैं क्या हूँ यह तो मैं आज भी नहीं जानता। आप लोगों की सद्भावनाओं एवं

शुभेच्छाओं के द्वारा भले ही जो कुछ बना दिया जाऊँ।' मैंने कहा—'जीवन भर सघर्ष में रत रहकर आज आप इस अवस्था में है कि आपका स्वास्थ्य अब जवाब दे रहा है, फिर भी आप कार्यालय क्यों आते हैं?' पराड़करजी ने उत्तर दिया आप ठीक कह रहे हैं काम तो कर नहीं पाता केवल संतोष के लिए आता हूँ। आता हूँ, बैठता हूँ, चला जाता हूँ। अपने इस स्थिति से विवश हूँ कि कुछ कार्य नहीं कर पाता।' मैं सोचने लगा ऐसी दशा में जब शरीर के प्रत्येक अंग शिथिल हो चुके हों, शरीर विश्राम चाहता हो, उस समय भी कर्त्तव्य के प्रति इतनी जागरूकता और मुझ जैसे सर्वथा अपरिचित युवक को तकलीफ रहते हुए भी समय देने की उदारता अनुकरणीय है। अंत में मैंने कहा—'अब आपका एक मिनिट भी मैं लेना नहीं चाहता। पर एक प्रश्न अब भी मेरे मन में मँडरा रहा है। यदि आप आज्ञा दें...।' इसी बीच में पंडितजी ने कहा—'आज्ञा की बात नहीं आप सहर्ष कहिए।' अंतिम प्रश्न किया—'आज की हिंदी पत्रकारिता के संबंध में आप की क्या धारणा है।' उन्होंने उत्तर दिया—'इसके बारे में अधिक क्या कहूँ? हिंदी पत्रकारिता का भविष्य तो उज्ज्वल होना ही चाहिए। किंतु हिंदी पत्रकारिता के भविष्य को उज्ज्वल होने के लिए कार्य और श्रम की आवश्यकता है। यदि यह होता रहा तो उज्ज्वल भविष्य निश्चित है।' मैंने उठते हुए कहा—'अब मुझे आप आज्ञा दीजिए।' पर उनकी बातों को सुनकर चौंक पड़ा। वे कह रहे थे—'अच्छा एक कृपा मेरे ऊपर कर दीजिए।' मैंने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं। कृपा की क्या बात आदेश दीजिए।' पंडित जी ने कहा—'देखिए यदि कोई बाहर हो तो उससे कह दीजिए कि मुझे यहाँ से ले चले।' मैंने कार्यालय से एक सज्जन को बुलाया और उनसे कह दिया कि पंडित जी बाहर जाना चाहते हैं। और कार्यालय की सीढ़ियों पर से उतरते हुए मैं सोचने लगा कि काश! हम लोग जो विश्वविद्यालयों की डिग्रियों का इतना दम भरते हैं ऐसे ही शिष्ट और अहंकाररहित हो सकते!

बनारस की गलियाँ तो यों ही मशहूर हैं फिर जब कोई अपरिचित उनसे जाना चाहे तो और भी कठिनाई होती है। भारतेन्दु जी के दौहित्र तथा साहित्यिक बाबू व्रजरत्न दास के द्वारा मालूम हुआ कि गर्दे जी रत्नाकर पत्थरवाली गली में रहते हैं। सुनकर उस पसोपेश में पड़ा। पर सौभाग्य से एक समय के विख्यात लिबरल दल के प्रमुख पत्र 'सूर्य' के सम्पादक पंडित जानकीशरण त्रिपाठी मिल गए जिनका मेरे ऊपर सदैव स्नेह रहता है। उन्हीं की कृपा से कई गलियाँ पार करते हुए गर्देजी के द्वार पर पहुँच गया। गर्देजी बड़े प्रेम से हमलोगों को अपने अध्ययन-कक्ष में ले गए, वहाँ मैंने देखा कि फर्श पर एक साधारण सी दरी बिछी है, उसी पर कुछ पत्र पत्रिकाएँ और पुस्तकें पड़ी हैं। भारतीय दृष्टिकोण से एक साहित्यिक का जैसा वातावरण होने की कल्पना की जा सकती है वही मैंने गर्देजी के यहाँ देखा। आरंभिक शिष्टाचार के उपरांत मैंने अपना उद्देश्य बताया और उनसे अपने काम की कुछ सूचनाएँ प्राप्त कीं। गर्देजी ने बड़े प्रेम से आश्वासन दिया कि जो कुछ सामग्री मेरे पास है मैं अवश्य उससे सहायता करूँगा।' इसके बाद मैंने उनसे निवेदन किया कि मुझे आपसे कुछ प्रश्न करने हैं।' उन्होंने हँसते हुए कहा—'यदि अधिक कठिन प्रश्न हों तो कुछ समय दीजिए, नहीं तो पूछ ही लीजिए।' मैंने हँसते हुए कहा—'नहीं बात ऐसी नहीं है। आज की हिंदी-पत्रकारिता के संबंध में आपकी क्या धारणा है।' बड़ी गंभीरता से उन्होंने उत्तर दिया—'आज की हिंदी पत्रकारिता के संबंध में कुछ लोगों को शिकायत है कि आज उसका स्तर गिर रहा है। कुछ अंशों में मैं भी इसे सही मानता हूँ। इसका कारण यह है कि आज अधिकांश पत्र पूँजीपतियों के हाथ में होते जा रहे हैं। जो भी पत्रकार उनका पुतला नहीं है उसे उन पत्रों में स्थान नहीं है। आज के पत्रकारों में भी पहले की स्पिरिट और मिशन की भावना का अभाव हो रहा है। आज इस क्षेत्र में शुद्ध पत्रकारिता की दृष्टि से बहुत कम लोग आ रहे हैं। अधिकांश लोग तो इसे एक व्यापार या पेशा बनाना चाहते हैं।' मैंने प्रश्न किया—'जिस मिशन की भावना की आप चर्चा कर रहे हैं, क्या आज देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति देखते हुए संभव है।' उन्होंने एक विश्वास के साथ उत्तर दिया—'क्यों नहीं संभव है। कोई भी पत्रकार या नागरिक यदि यह निश्चय कर ले कि वह हर काम ईमानदारी से करेगा और पैसे के लिए झूठ न लिखेगा तो इस समस्या का हल मिल सकता है और फिर मिशन की भावना बनाए रखना कठिन है ऐसा सोचने की गुंजाइश ही न रह जाय।' मैंने फिर पूछा—'आज की पत्रकारिता की वर्तमान स्थिति देखते हुए इसके भविष्य के संबंध में आप क्या

मैंने ठीक न समझा और कुछ महीनों बाद पुनः मिलने के लिए समय प्राप्त कर वापिस चला आया।

—गंगानारायण त्रिपाठी 'मनल'

३. 'अवन्तिका' का प्रथम वर्ष

किसी भी समुन्नत राष्ट्र का व्यक्तित्व उस देश से प्रकाशित होनेवाली पत्र पत्रिकाओं में प्रतिबिंबित होता है। जो राष्ट्र जितना ही समृद्ध एवं सभ्य होगा, पत्र पत्रिकाओं का वहाँ उतना ही समादर होगा।

हिंदी की आयु को दृष्टि में रखकर पत्रकारिता के क्षेत्र में आजतक उसने जितनी भी प्रगति की है उसके माध्यम से अनायास ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका निकट भविष्य सुनिश्चित आशाप्रद है। उसने अपने इस छोटे से जीवन में जो रक्त रंजित क्रांतियाँ की हैं और जिन प्राणघातक संघर्षों से वीरतापूर्वक मुठभेड़ें ली हैं उसके फलस्वरूप आज भी जिस प्रतिष्ठित पद पर वह आसीन है यद्यपि वह अपर्याप्त और असंतोषजनक ही कहा जायगा; तथापि अपने इष्ट बिंदु पर पहुँचने के लिए उसका सुविस्तृत राजमार्ग अब निष्कंटकप्राय ही है।

संप्रति हिंदी में प्रकाशित होनेवाली उच्चकोटि की कुछ पत्रिकाओं में 'अवंतिका' का अपना एक विशिष्ट स्थान है। विषय विभाजन की दृष्टि से विचार किया जाय तो दार्शनिक एवं धार्मिक पत्रिकाओं—में अदिति, कल्याण, धर्मदूत और शान्तोदय, बाल-साहित्य विषयक पत्रिकाओं में चुन्नू मुन्नू, किशोर, बालक, बाल भारती, मनमोहन, विज्ञान-विषयक पत्रिकाओं में विज्ञान, विज्ञान-प्रगति, विश्वदर्शन; सामाजिकों में अमृत, जीवन-साहित्य, सर्वोदय, लोक-संस्कृति-विषयक पत्रिकाओं में जनपद आदि, अनूदित पत्रिकाओं में विश्व-साहित्य, राष्ट्रभारती, राष्ट्रवाणी, कहानी विषयकों में माया, मनोहर कहानियाँ, दीदी, रानी, सरिता, गल्प-भारती, चित्रा, गृहिणी, कृषि एवं औद्योगिक पत्रिकाओं में उद्योग भारती, कृषक, खेतीबारी, मजदूर जगत, कृषि और पशुपालन, डाइजेस्टों में नवनीत, गुलदस्ता; शोध विषयक पत्रिकाओं में नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, संमेलन-पत्रिका, शोध पत्रिका, राजस्थान भारती, मरु भारती, साहित्य, ब्रज भारती, हिंदी अनुशीलन और सर्वाधिक रूप में प्रकाशित होनेवाली साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पत्रिकाओं में अजन्ता, अवंतिका, आजकल, आलोचना, उत्तरा, कल्पना, नईधारा नया समाज, नया जीवन, नया पथ, प्रवाह, पाटल, मानवता विक्रम, वीणा, सरस्वती और साहित्य-संदेश प्रभृति पत्रिकाओं का प्रमुख स्थान है।

उक्त सभी पत्रिकाओं पर आज हिंदी को गौरव है। हिंदी-भाषा भाषियों का स्वभावतः यह कर्तव्य हो जाता है कि अपनी राष्ट्र भाषा की बहुमुखी प्रगति के लिए पत्र-पत्रिकाओं के प्रति अपनी अभिरुचि को वे अधिकाधिक व्यापक बना कर उनकी सफलता पर अधिक ध्यान दें। ऐसा न हो कि हमारी उदासीनता 'प्रतीक' और 'हंस' प्रभृति पत्रिकाओं की भाँति हमारी इन महत्वपूर्ण पत्रिकाओं से असमय ही हमें वंचित कर दें। भाषा, भाव और अभिव्यंजना के क्षेत्र में हमारी साहित्यिक चेतना जिस नए युग का सूत्रपात करने में व्यस्त है, पत्रिकाओं का उसमें सर्वाधिक योग है।

'अवंतिका' का आविर्भाव

'अवंतिका' का निर्देश साहित्यिक एवं सांस्कृतिक विषय के अंतर्गत हुआ है। आरंभिक वर्ष की १२ फाइलों को सम्मुख रखकर असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि अपनी उद्देश्य सिद्धि में 'अवंतिका' का प्रथम वर्ष पूर्णतः सफलता के साथ बीता है। नवंबर १९५२ के संपादकीय अग्रलेख में 'अवंतिका का आविर्भाव' पर प्रकाश डालते हुए जिन महत्वपूर्ण उद्देश्यों को पाठकों के सम्मुख रखा गया था उसका पूर्णतः निर्वाह करते हुए उसका यह दूसरा वर्ष आरंभ हुआ है। 'अवंतिका' की आवश्यकता पर बल देते हुए संपादकीय में लिखा गया था 'अपने कृपालु पाठकों के सम्मुख आज हम अवंतिका—एक विविध-विषय विभूषित सचित्र मासिक-पत्रिका लेकर उपस्थित हो रहे हैं। 'अवंतिका' का आविर्भाव एक उद्देश्य को लेकर हुआ है। आविर्भाव और तिरोभाव प्रकृति के नियम हैं। प्रकृति के नियम में अपवाद नहीं होता। आविर्भाव और तिरोभाव इन दो बिंदुओं के मध्य का अवधिकाल ही 'अवंतिका' का जीवन होगा, चाहे वह दीर्घ हो या अल्प। विविध रूपों से 'अवंतिका' अपने कृपालु पाठकों का मनोरंजन तथा ज्ञानवर्धन करती रहेगी। यही इसकी सफलता है और हम यह मानते हैं कि प्रयास का ही दूसरा नाम सफलता है।'

इसी प्रसंग में राष्ट्र भाषा की कल्याण कामना करते हुए अपने मोह को इस प्रकार व्यक्त किया गया है '..... हम भी 'अवंतिका' के माध्यम से हिंदी के मानदंड को

राष्ट्रभाषा के अनुरूप बनाने के लिए प्रयत्नशील बने रहेंगे।' और अपने इस सत्प्रयत्न का स्पष्टीकरण यों किया गया है —'हिंदी के प्रति हमें ममत्व है; लेकिन हमारा ममत्व उसे राज्य सिंहासन पर आसीन होने में बाधा नहीं देगा। भारत की राष्ट्रीयवाणी के रूप में उसे राजरानी *बनाना* है और राजरानी की प्रतिष्ठा के अनुकूल भारत के विभिन्न अंचलों के अलकारों से युक्त होकर उसे राज्य सिंहासन पर बैठाना है। हमारी रानी केवल हमारी ही नहीं, भारत के विभिन्न राज्यों की भी रानी है। भारत के सविधान ने घोषणा कर दी कि हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा है; पर अभी तक हिंदी का राज्यतिलक हुआ कहाँ? सौभाग्य सुन्दरी हिंदी को *राष्ट्रभाषा की सुयोग्य राज्य-महिषी बनाना ही 'अवतिका' का आदर्श है।'*

स्तभों का विवेचन

इस सराहनीय आदर्श का पूरा निर्वाह 'अवतिका' की स्तभ-रचना में पूर्णतः चरितार्थ हुआ है। रचना-सामग्री के अतिरिक्त उसके प्रधान स्तभ हैं संपादकीय, भारतीय-वाड्मय, विचार सचय, सार सकलन, विश्व-वार्ता और पुस्तकालोचन। आरभिक स्तंभ की सपादकीय टिप्पणियों को देखने से ज्ञात होता है कि उसमे एक कर्मठ, निर्भीक और स्वार्थशून्य सपादक की भाँति राष्ट्र में घटित होनेवाली घटनाओं पर मार्मिक प्रकाश डाला जाता है, चाहे वे घटनाएँ राजनीतिक हों, सामाजिक हों अथवा सास्कृतिक हों। जन अभिरुचि को लक्ष्य में रखकर एक समर्थ स्वर में इन टिप्पणियों का महत्त्व समादरणीय है। दूसरा स्तभ 'भारतीय वाड्मय' है। वस्तुतः हिंदी को यदि राष्ट्रभाषा के उच्चासन पर अधिष्ठित करना है तो उसके लिए पहिला आवश्यकीय कर्तव्य यह है कि हिंदी की सहयोगिनी भारत की अन्य प्रातीय भाषाओं का भी उसके साथ पूरा सहयोग हो। हिंदी को सर्वागपूर्ण बनाने और उसके माध्यम से हिंदी-भाषी जनता को भारत की अन्य भाषाओं से परिचित कराने के लिए इस स्तभ का बहुत बड़ा महत्त्व है। वर्ष भर की इन १२ फाइलों में गुजराती, तमिल, असमिया, मराठी, उड़िया, तेलुगु, उर्दू और बँगला प्रभृति भारतीय भाषाओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'विचार सचय' वाले तीसरे स्तभ में विभिन्न साहित्यकारों की विचारधाराओं का उल्लेख रहता है। थोडे से शब्दों में अपने मूल्यवान समय को बचाते हुए पाठक का इससे बड़ा उपकार होता है। इससे मनोरजन के साथ-साथ पाठक का ज्ञानवर्धन भी होता है। अच्छे अच्छे साहित्यकारों के साथ की गई मुलाकातें और स्वस्थ सस्मरणों के अध्ययन से देश के साहित्यकारों की नवीनतम विचार धाराओं से अवगति होती है। साहित्य के क्षेत्र मे घटित होनेवाले नवीनतम प्रयोगों, मतवादों और उद्भावनाओं से पाठक परिचित होता है और सबसे बडा लाभ यह होता है कि हमारी सास्कृतिक चेतना को अग्रसर होने की अनुप्रेरणा मिलती है। इसी प्रकार 'सार-सकलन' वाला चौथा स्तभ भी कम महत्त्व का नहीं। भारतीय और विदेशी भाषाओं में प्रकाशित होनेवाली पत्र पत्रिकाओं से जो साररूप चुने हुए विचार इस स्तभ में उद्धृत किए जाते हैं उससे पत्र *सपादकके परिश्रम का पता तो चलता ही है, साथ ही* पत्रिका के प्रति पाठकों की उत्सुकता बढती है। पाँचवाँ 'विश्व - वार्ता' नामक स्तभ मे समय-समय पर घटित होनेवाली प्रधान प्रधान घटनाओं पर मार्मिक टिप्पणियाँ दी जाती है और 'पुस्तकालोचन'-वाले अतिम स्तभ में नवीनतम प्रकाशन और पत्र-पत्रिकाओं का विवेचन रहता है।

विद्वानों का सहयोग

'अवतिका' का आरभ नवबर १६५२ से होता है। यद्यपि सुविधानुसार उसका दूसरा वर्ष नवबर की अपेक्षा जनवरी से प्रारभ किया गया है, जैसा कि अन्य अधिकाश पत्रिकाओं का होता है। सौभाग्य की बात है कि अपने प्रथम वर्ष में ही उसने देश के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों का सहयोग प्राप्त कर लिया है। 'अवतिका' का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उसकी विषय-सामग्री प्रायः अधिकारी विद्वानों द्वारा ही लिखी गई है। इसके साथ अधिक अच्छा यह होता कि रचनाकारों की प्रसिद्धि पर अधिक विचार किए बिना रचना मात्र पर ही अधिक ध्यान रहता तो उससे पत्र की लोकप्रियता बढने के साथ साथ नए लेखकों का भी उपकार होता।

हिंदी साहित्याकाश के देदीप्यमान प्रायः सभी विद्वान 'अवन्तिका' के स्थायी लेखक हैं। हिंदी के इन लब्ध-*प्रतिष्ठ साहित्यकारों में आचार्य* हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, राहुल जी, दिनकर जी, डॉ० नगेंद्र, डा० सुधींद्र, जैनेंद्र जी, बेनीपुरी जी, आचार्य नददुलारे वाजपेयी, श्री नलिनविलोचन शर्मा, श्री जानकी

वल्लभ शास्त्री, माचवे जी, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री आरसी प्रसाद सिंह, डा० देवराज उपाध्याय, डा० रघुवीर, श्रीमती उषादेवी मित्रा, डा० रामविलास और श्रीमती शची रानी गुर्टू प्रभृति हैं।

'अवन्तिका' के लेखकों पर विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि बिना वर्गविशेष और सिद्धांत विशेष को प्राथमिकता दिए प्रायः सभी मतावलंबी विद्वानों, कवियों और कथाकारों का समान रूप से समादर किया गया है। यही कारण है कि देश के सभी विद्वानों की कल्याण कामना 'अवन्तिका' के साथ उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

विषय-सामग्री की विशेषता

'अवंतिका' की इन १२ फाइलों का सम्यक् विश्लेषण करने पर विदित होता है कि विषय-सामग्री के चयन में अन्य पत्रिकाओं की अपेक्षा उसका अपना एक वैशिष्ट्य है। उसका कारण यह है कि आदि से अंत तक उसमें एक जैसा प्रवाह, एक जैसी मौलिकता और एक जैसी व्यवस्था है। 'अवंतिका' की पाठ्य-सामग्री में किसी दलगत भावना एवं किसी एक ही विचार-परंपरा का प्रतिनिधित्व नहीं है। प्रतिस्पर्धी तथा सांप्रदायिक विचारों को बिना प्राथमिकता दिए जन अभिरुचि के मनोरंजनानुकूल सामग्री का चयन करने में ही 'अवन्तिका' का अधिक प्रयास रहा है। अपने संपादकीय अग्रलेख में इसका स्पष्टीकरण यों किया गया है कि 'दलबंदियाँ प्रजातंत्रीय राजनीति का स्वाभाविक स्वरूप है। 'अवंतिका' में राजनीति पर लेख तथा टिप्पणियाँ बराबर प्रकाशित होती रहेंगी, किंतु राजनीति प्रधान पत्रिका न होने के कारण 'अवन्तिका' दलगत भावनाओं से अपने को यथासंभव मुक्त रखने की चेष्टा करेगी।'

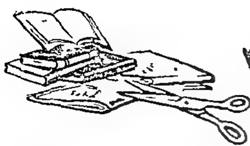
'अवंतिका' की लेख-सामग्री आद्योपांत यद्यपि सारी-की-सारी सुरुचि-पूर्ण है क्योंकि उसमें अधिकारी विद्वानों का परिश्रम है, फिर भी कुछ लेख ऐसे मौलिक हैं जिनका संकेत उल्लेखनीय है। ऐसे लेखों में डा० नगेंद्र का 'ध्वनि और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र', दिनकर का 'भविष्य के लिए लिखने की बात', और बेनीपुरी का 'पेरिस के रंगमंच' नवंबर १९५२; प्रो० जगन्नाथ प्रसाद का 'भारतीय नास्तिकवाद और कम्युनिज्म', नंददुलारे वाजपेयी का 'हिंदी में साहित्यिक अनुशीलन', गंगा प्रसाद पांडेय का 'छायावाद' और आरसी प्रसाद सिंह का 'काव्य की भूमिका', दिसम्बर, जानकी वल्लभ शास्त्री का 'रसवाद' जन० १९५३; सुमन वात्स्यायन का 'अजित केशकंबली—एक मौलिकवादी विचारक', फरवरी, प्रो० रामसुहाग सिंह का 'भारतीय काव्य-संप्रदाय : एक सर्वेक्षण', कमलनारायण झा का 'संस्कृत भाषा को मिथिला की देन' मई; डा० रामकुमार वर्मा का 'यदि मैं लिखता : प्रियप्रवास' जून; अंबाप्रसाद सुमन का 'पाश्चात्य और भारतीय काव्यशास्त्री' अगस्त, और अक्टूबर की फाइल में वासुदेवशरण अग्रवाल का तथा मन्मथनाथ गुप्त का क्रमशः 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' और 'साहित्यिक अनुप्रेरणा और प्रतिवाद' विशेषतः स्मरणीय हैं।

कविताकारों के क्षेत्र में महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, आरसी प्रसाद सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, शिवमंगल सिंह 'सुमन', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', रुद्र, सुधींद्र और नागार्जुन की कविता में एक ऐसा मोड़ है, जो पाठक को तन्मय कर देता है। इसी प्रकार 'अवंतिका' की कहानियों में मार्कण्डेय कृत 'मुंशीजी', राधाकृष्ण लिखित 'रोमांस', उषादेवी का 'प्रीतम', परदेशीकृत 'चंपा के फूल', वनराज की 'आहार और वासना', राहुलजी द्वारा लिखित महाप्रभु', घनश्याम सेठी की 'फिसलन', ब्रजकिशोरनारायण का 'पत्नी का कन्यादान' और जहूरबख्श की सभी कहानियाँ बड़ी रोचक हैं। इसके अतिरिक्त कुछ एकांकी भी अच्छे बन पड़े हैं।

अंत में पत्रिका के बाह्य सौंदर्य पर भी थोड़ा प्रकाश डाल देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। छपाई, सफाई, कागज और प्रूफ-संशोधन की दृष्टि से भी पत्रिका का कार्य सफल कहा जा सकता है। बाहरी गेट-अप बड़ा आकर्षक है। ११२ पृष्ठों की सुरुचिपूर्ण पाठ्य-सामग्री का मिलान यदि १) रु० मूल्यवाली दूसरी मासिक पत्रिकाओं से किया जाता है तब भी 'अवंतिका' के ग्राहक लाभ में हैं। इस पर भी संपादक का दावा है कि "यदि भारत की जनता ने 'अवंतिका' की सेवाओं का यथेष्ट आदर किया तो हम उसके मानदंड को ऊँचा रखने के साथ साथ उसके कलेवर को भी बढ़ाने, उसे विशेष उपयोगी तथा आकर्षक बनाने की चेष्टा में पीछे नहीं रहेंगे।'

और 'अवंतिका' के द्वितीय वर्ष के आरंभिक विशेषांक 'काव्यालोचनांक' को देखकर स्वभावतः यह धारणा होती है कि इस पत्रिका को ईश्वर दीर्घायु प्रदान करें और इसके द्वारा हिंदी की निरंतर श्री-वृद्धि होती रहे।

—वाचस्पति शास्त्री



सार-संकलन

१. कला की निरुद्देश्यता

हमारा मन तीन चीजें चाहता है और तीनों की कामना करने में वह किसी उपयोग को सामने नहीं रखता। हम सत्कर्म के लिए सत्कर्म करना और सत्य के लिए सत्य को जानना चाहते हैं। इसके सिवा, हममें एक तृषा और है और वह यह कि हम सौंदर्य को देखना चाहते हैं। अगर ये तीन प्रकार की इच्छाएँ किसी लक्ष्य या उद्देश्य से की जायँ तो फिर उनका रूप बदल जाता है। उदाहरण के लिए अगर हम यह कहें कि भलमनसहत इसलिए बरतनी चाहिए कि जिंदगी में उससे फायदा है तो फिर हमारी भलमनसहत भलमनसहत नहीं रह कर हमारे फायदे की सीढ़ी बन जाती है। इसी प्रकार अगर सत्कर्म करने में हमारा यह भाव रहे कि इससे सुयश मिलता है, तो फिर हमारा सत्कर्म सत्कर्म नहीं रह कर सुयश का साधन बन जाता है और हम पर यह दोष आसानी से लगाया जा सकता है कि हम सत्कर्म को सुयश की अपेक्षा कम मूल्यवान समझते हैं। इसी प्रकार सत्य के अनुसंधान में अगर हम सिर्फ इसलिए लगते हैं कि उससे हमें कुछ प्राप्ति होने वाली है तो स्पष्ट ही, हम सत्य को कम महत्त्व देते हैं; हमारा असली ध्येय कुछ प्राप्त करना हो जाता है।

अँगरेजी में एक कहावत चली हुई है कि सबसे अच्छी नीति सचाई है। किंतु, यह तो बात को गलत ढंग से रखना हुआ। इस कहावत से सचाई सचाई नहीं रह कर नीति बन जाती है। अगर सचाई को हम केवल सचाई के लिए नहीं चाहते, किसी और वस्तु के लोभ से चाहते हैं तो फिर कीमती चीज सचाई नहीं, वह वस्तु ही बन जाती है और ऐसा भी संभव है कि कोई आदमी सचाई में संकट देख कर बेइमानी करना शुरू कर दे जिससे उसे अपनी अभिलषित वस्तु प्राप्त होती हुई दिखाई देती है।

इसी प्रकार, यदि हम सौंदर्य को केवल सौंदर्य के लिए नहीं चाहते हैं तो सौंदर्य हम कहीं भी नहीं मिलेगा। जिस बात के लिए हम सौंदर्य को चाहते हैं, वह बात हमारी आँखों पर पट्टी लगा देगी और शुद्ध सौंदर्य के दर्शन हमारे लिए असंभव हो जायँगे। कला की कृतियों में यह नियम और भी प्रखरता से काम करता है। अगर कोई कलाकार इस उद्देश्य से कला की सृष्टि करता है कि वह अपनी कृति के द्वारा संसार का सुधार करेगा, तो उसका ध्यान संसार के सुधार पर समझना चाहिए, कला के निर्माण पर नहीं और इसीलिए कला की शुद्ध कृति को जन्म देने में वह असमर्थ रहेगा। हम सभी लोगों में केवल नैतिक वृत्ति ही नहीं, बौद्धिक एवं सौंदर्यात्मक वृत्तियाँ हैं। अतएव अगर हम सौंदर्यात्मक एवं बौद्धिक दृष्टि से सही बिंदु पर रहना चाहते हैं तो हमारी कृतियों से हमें बौद्धिक एवं सौंदर्यात्मक तृप्ति मिलनी ही चाहिए, ठीक वैसे ही, जैसे नैतिक वृत्ति के संतोष के बिना हम यह दावा नहीं कर सकते कि हम नैतिक कार्य कर रहे हैं।

संसार की महत्ता यह है कि उसमें सत्य और सुंदर, दोनों का निवास है। और जैसे हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम नैतिक दृष्टि से ठीक कार्य करें वैसे ही यह भी जरूरी है कि विश्व में छिपे हुए सत्य और सुंदर का हम पता लगाएँ। सच तो यह है कि सत्य और सुंदर का शुद्ध ज्ञान जब तक हमें नहीं होता तब तक हमारे लिए उस मानसिक स्थिति में पहुँचना ही असंभव है, जिस स्थिति में पहुँचनेवाला प्राणी गलत या अनैतिक कार्य करता ही नहीं। हमारी नैतिक प्रवृत्ति ठीक से तभी काम करती है जब उसे आत्मा की दो अन्य प्रवृत्तियों—सत्य और सुंदर—का सहयोग प्राप्त होता है। जिसने केवल सत्य के लिए सत्य का आदर करना नहीं सीखा, वह नैतिक भूमि पर बेइमानी किए बिना नहीं रहेगा।

हम सभी लोग अनायास ही यह अनुभव करते हैं कि सत्य, शिव और सुंदर में कोई न कोई अविच्छिन्न संबंध अवश्य है। जमाने से यह अनुभूति मनुष्य में चली आ रही है और जमाने से हमें यह आभास मिलता आ रहा है कि सत्य में कोई तत्व है जो मंगलमय है,

तत्व है जो सुदर है और सौंदर्य में भी कोई शक्ति है जो सत्य की प्रतिमूर्ति है।

अगर नैतिक कारणों से हम सौंदर्य को चाहने लगें तो इसका एक ही परिणाम होगा कि सौंदर्य की निर्मल अनुभूति हमारी पहुँच से परे रह जायगी। अगर अस्तगामी सूर्य को हम इस भाव से देखने लगें कि इससे हमारे चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा, तो अस्ताचल के सौंदर्य की सच्ची अनुभूति हमें नहीं मिल पायेगी। और तब उसका प्रभाव भी हमारे चरित्र पर थोड़ा ही पड़ेगा। मन की प्रत्येक क्रिया का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। यह ठीक है, किंतु मन की उन्हीं क्रियाओं को हम सौंदर्यात्मक कहते हैं जिनकी अनुभूति निरुद्देश्य की जाती है। इन क्रियाओं को अगर हम सिर्फ उन्हीं के लिए नहीं करें तो फिर हम सौंदर्य से तो वंचित होते ही हैं, सौंदर्यात्मकता से मिलनेवाले चारित्रिक प्रभाव भी हमें प्राप्त नहीं होते। सौंदर्य की अनुभूति सौंदर्य के लिए की जाय, इसकी दलीलें नैतिक भी हो सकती हैं। फिर भी नैतिक दलीलों को सामने नहीं रख कर हमें सौंदर्य की उपासना सौंदर्य के लिए ही करनी चाहिए।

जब मनुष्य सौंदर्य को प्यार करने लगता है तब वह अपने आप को प्यार करना भूल जाता है। जब तक आत्मविभोरता नहीं आती सौंदर्य की संपूर्ण अनुभूति भी तब तक हमें अप्राप्त रहती है। यही नहीं, प्रत्युत्, सौंदर्य की रचना भी आत्मविस्मृति की ही अवस्था में की जाती है। इस आत्मविस्मृति में पहुँच कर अपने आपको भूल जाने का भाव मनुष्य में स्वाभाविक है और प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इस अवस्था की कामना करता है। सौंदर्य प्रकृति या मानवकृत वस्तु का शृंगार नहीं, दोनों का अखंड अंग है।

[क्लाइव बुक कृत "द अल्टिमेट विलीफ" से]

२. धर्म और विज्ञान

उन्नीसवीं सदी में, बल्कि, उससे कुछ पूर्व से ही लोग यह मानने लगे थे कि ज्ञान और विश्वास में एक प्रकार का संघर्ष है जिसका समाधान नहीं हो सकता। उस समय के चिंतकों का यह ख्याल था कि चाहे जैसे भी हो, विश्वास के स्थान पर ज्ञान की अधिक-से-अधिक प्रतिष्ठा की जानी चाहिए; जिस विश्वास का आधार ज्ञान पर नहीं है, उसका विरोध करना आवश्यक है। उस दृष्टि से शिक्षा का परम उद्देश्य यह मान लिया गया कि मनुष्य के सामने सोचने का मार्ग उन्मुक्त रहे और मुक्त चिंतन से वह अधिक-से-अधिक ज्ञान का संचय करता जाय। स्वभावतः ही, शिक्षण संस्थाएँ इस उद्देश्य को प्रमुखता देने लगीं।

किंतु, इस बुद्धिवादी मार्ग में निष्पक्षता नहीं है। इस कथन का एकांगीपन इतना स्पष्ट है कि उसे कोई भी बुद्धिमान मनुष्य आसानी से देख सकता है।

विश्वास का सबसे अच्छा समर्थन प्रत्यक्ष अनुभव और स्वच्छ विचार है। इस स्थिति से कोई इनकार नहीं करता। प्रत्युत, इस बात पर तो हम उग्र-से-उग्र बुद्धिवादियों से भी सहमत हो जायेंगे। किंतु, जहाँ कमजोरी नजर आती है वह स्थल यह है कि जिन विश्वासों से हमारे आचरण और निर्णय बनते हैं, यह जरूरी नहीं है कि वे विश्वास केवल वैज्ञानिक पद्धति से ही विकास पाएँ। सच तो यह है कि जो है उसका ज्ञान यह बताने को काफी नहीं है कि वस्तुतः, होना क्या चाहिए। जो कुछ है उसका ज्ञान तो विज्ञान से प्राप्त करना आसान है, किंतु, सिर्फ उसने से ही हम यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते कि मानवीय उमंगों की उचित दिशा क्या होनी चाहिए। विज्ञान के साधनों ने हमारे हाथ में उस ज्ञान को रख दिया है जिसका उपयोग हम किसी उद्देश्य के लिए कर सकते हैं, लेकिन, यह उद्देश्य और उसे प्राप्त करने की उत्कट कामना हमें कहीं और से लानी होगी। और यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि हमारे अस्तित्व और हमारे कर्म का महत्व इस अंतिम लक्ष्य की भाषा में ही आँका जा सकता है। मुख्य बात यहाँ यह नहीं है कि हमारे साधन कितने हैं बल्कि यह कि उनका उपयोग किन मूल्यों की स्थापना अथवा अभिवृद्धि के लिए किया जा रहा है।

किंतु, यह नहीं समझना चाहिए कि इस उद्देश्य तथा उसके नैतिक मूल्यों के निर्धारण में बुद्धियुक्त चिंतन से कोई सहायता नहीं मिल सकती। जब व्यक्ति को यह मालूम होता है कि किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति में कोई निश्चित कार्यक्रम या साधन विशेष रूप से सहायक हो सकता है, तब वह कार्यक्रम ही एक उद्देश्य बन जाता है। ध्येय और साधन में जो पारस्परिक एकता है उसे बुद्धि स्पष्ट कर सकती है। किंतु, जीवन के मौलिक

अथवा अंतिम ध्येय क्या है, इसका पता लगाने में निरी बुद्धि हमारी बहुत थोड़ी सहायता करती है। जीवन के मौलिक ध्येय का अनुसंधान और उसे व्यक्ति के भावात्मक जीवन में क्रियाशील बनाना मेरे जानते, ये ही वे कार्य हैं जिन्हें मनुष्य के सामाजिक जीवन के भीतर धर्म संपादित करता है। और अगर कोई कहे कि जीवन के अंतिम लक्ष्य को जब बुद्धि सिद्ध नहीं कर सकती तब फिर वह किस आधार पर सच माना जाय, तो मैं यह कहूँगा कि ये लक्ष्य स्वस्थ समाज के भीतर सुदृढ़ परंपराओं में कायम रहते हैं और व्यक्ति के आचरण, इच्छा, उमंग और निर्णय पर उनका प्रभाव भी पड़ता है। ये लक्ष्य परंपराओं में मौजूद हैं और उनकी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण जुटाने की आवश्यकता नहीं है। इन ध्येयों का जन्म प्रदर्शन और प्रयोग से नहीं, बल्कि शक्तिशाली पुरुषों की अनुभूति और प्रत्यक्षीकरण यानी रिवीलेशन से होता है। इन ध्येयों को नए ढंग से सिद्ध करने की कोशिश करना बेकार है। हमें उनके स्वभाव का ज्ञान सरलता से ही प्राप्त करना चाहिए।

धर्म में उन सिद्धांतों का सारांश रहता है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी इच्छाओं का पथनिर्देशन कर सकता है। अगर आज की भाषा में कहें तो धर्म की शिक्षा यह है कि व्यक्ति का विकास उन्मुक्तता एवं जिम्मेवारी के साथ किया जाना चाहिए जिससे व्यक्ति अपनी सारी सेवाएँ मनुष्यता के लिए निवेदित कर सके। अगर इस शिक्षा के सार को हम ठीक से समझें और तब अपने आस पास की दुनिया पर नजर डालें तो हमें मालूम होगा कि वर्तमान सभ्यता बहुत बड़े खतरे से घिर गई है। राजनीति, अर्थनीति एवं राष्ट्रीय तथा अंतर-राष्ट्रीय क्षेत्रों में इस स्थिति का समाधान ढूँढा जा रहा है, जो बहुत ही उचित है। किंतु, समाधान मिलता दिखाई नहीं देता। समाधान तभी मिलेगा जब हमें अपने ध्येय का पूरा-पूरा ज्ञान हो। लक्ष्य तक जाने के लिए जब हममें आकुलता जगती है तभी हमें उसका मार्ग भी मिल जाता है।

विज्ञान विचारों की वह पद्धति है जिससे दृश्यमान जगत की सारी वस्तु के बीच हम सामंजस्य खोजते हैं। किंतु, धर्म की ऐसी कोई परिभाषा देना असंभव है। इसलिए धर्म की पहचान धार्मिक व्यक्ति के स्वभाव में की जाती है। जो धार्मिक है, उसे देखकर मुझ पर सब से पहला प्रभाव यह पड़ता है कि उसने स्वार्थपरक विचारों के स्पर्श से अपने को सर्वथा मुक्त कर लिया है और जिन विचारों, भावनाओं एवं इच्छाओं से वह लिपटा हुआ है वे विचार, भावनाएँ और इच्छाएँ व्यक्ति की सीमा का अतिक्रमण करनेवाली हैं। अब यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि वैयक्तिक बंधनों से मुक्ति का भाव ही धार्मिक मनुष्य में प्रधान है, यह बात बिलकुल गौण हो जाती है कि इस भाव का संबंध किसी ईश्वर से है या नहीं। अगर ऐसा नहीं होता तो बुद्ध और स्पिनोजा धार्मिक नहीं समझे जाते। धार्मिक मनुष्य को हम भक्त इसलिए समझते हैं कि उसने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है वह एक व्यक्ति का नहीं, प्रत्युत मनुष्य - मात्र के कल्याण का लक्ष्य है और इस ऊँचे लक्ष्य की सचाई में उसका विश्वास अडिग रहता है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म मनुष्य का वह परंपरागत प्रयत्न है जिसके द्वारा वह वैयक्तिक स्वार्थों से परे रहनेवाले इन ध्येयों और मूल्यों में विश्वास करता है तथा बराबर उन्हें दृढ़ से दृढ़तर करता जाता है। अगर धर्म और विज्ञान को हम इस परोपकारी भाव से देखें, तो दोनों के बीच किसी मत-भेद की बात ही नहीं उठेगी। क्योंकि विज्ञान तो उसी का ज्ञान हमें देता है जो वर्तमान है, जिसका अस्तित्व कायम है। असल में, होना क्या चाहिए, यह जिज्ञासा विज्ञान से बाहर की बात है। इसके प्रतिकूल धर्म मनुष्य के आदर्शवादी मूल्यों का पता लगाता है। जो तथ्य मौजूद हैं उनके पारस्परिक संबंधों की बात वह सोच नहीं सकता। धर्म और विज्ञान की इन विशेषताओं को अगर हम भली-भाँति समझ लें तो फिर दोनों के बीच संघर्ष की कोई बात ही नहीं उठती। संघर्ष इसलिए होता है कि बहुधा धार्मिक संप्रदाय यह दुराग्रह करने लगता है कि धर्मग्रंथों में जितनी भी बातें कही गई हैं वे सब की सब ठीक हैं और उनपर शंका की उँगली नहीं उठायी जानी चाहिए। ऐसे दुराग्रह का अर्थ यह है कि हम धर्म को यह अधिकार देते हैं कि वह विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप करे। यही वह जगह है जहाँ पर गैलिलियो और डारविन के साथ चर्च का झगड़ा उठा था। इसके विपरीत, विज्ञान के भी कुछ ऐसे प्रतिनिधि हुए हैं जिन्होंने विज्ञान की परिपाटी से मानव-जीवन के अंतिम उद्देश्य का पता लगाने की कोशिश की और इस प्रकार उन्हें धर्म का विरोध करने को विवश होना पड़ा।

ऊपर धर्म और विज्ञान के अलग अलग क्षेत्रों की ओर जो संकेत किया गया है वह अपनी जगह पर ठीक है। फिर भी धर्म और विज्ञान एक दूसरे पर यत्किंचित् अवलंबित हैं और दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। उदाहरणार्थ, जीवन के मौलिक ध्येय धर्म को दिखाई पड़ते हैं, किंतु, उन ध्येयों तक जानेवाले मार्गों के निर्धारण में धर्म विज्ञान से काफी सहायता ले सकता है। इसी प्रकार, विज्ञान की सृष्टि प्रधानतः वे ही लोग कर सकते हैं जिनमें सात्विक जिज्ञासा है, जो सत्य का पता लगाने और उसे समझने के लिए निश्छल मन से बेचैन हैं। और ये गुण असल में, धर्म से ही उत्पन्न होते हैं। धर्म और विज्ञान का परस्पर जो संबंध है उसे हम चित्रों में कहना चाहें तो यह कहना होगा कि धर्म के बिना विज्ञान लँगड़ा है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा।

किंतु, इतना होने पर भी एक बिंदु है जहाँ पर धर्म और विज्ञान के संघर्ष खत्म होते नहीं दिखाई देते। मनुष्यता ने अपने बचपन में देवी देवताओं की कल्पना की थी और तब आदमी यह मानने लगा कि ये देवी देवता चाहे जो कर सकते हैं। फिर इन देवी देवताओं की शक्ति को अपनी ओर लाने के लिए मनुष्य ने जादू, मंत्र और प्रार्थना का आविष्कार किया। आज धर्मों में जिस ईश्वर के संबंध की शिक्षा दी जाती है, वह ईश्वर, इन्हीं प्राथमिक देवी देवताओं का सारूप है।

यह ठीक है कि सर्वशक्तिमान, न्यायी और सर्वोपरि ईश्वर की कल्पना से मनुष्य को बहुत बड़ा आश्वासन मिलता है। और उसे जीवन के विभिन्न कार्यों में एक प्रकार का पथप्रदर्शन भी प्राप्त होता है। यह भी कि इस सरल कल्पना तक पहुँचकर व लोग भी शांति पा सकते हैं जिनके मस्तिष्क का विकास अधूरा है। किंतु, इस कल्पना में ही एक ऐसी दुर्बलता है जो इसे खत्म करने को काफी है। वह दुर्बलता यह है कि यदि ईश्वर, सचमुच ही, सर्वशक्तिमान है तो फिर संसार में जो कुछ हो रहा है वह उसीका कार्य है। इस दृष्टि से तो यही मानना पड़ेगा कि वह या तो अपने आपको दंडित करता है अथवा जीवों को उन कर्मों के लिए दंड देता है जो कर्म वास्तव में स्वयं ईश्वर के हैं।

यह वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना ऐसी है जिससे विज्ञान का मेल नहीं हो पाता। विज्ञान यह मानकर चलता है कि सारी प्रकृति कुछ नियमों के अधीन चल रही है। इन्हीं नियमों के अनुसंधान को हम विज्ञान की सफलता कहते हैं। इन्हीं नियमों के आधार पर विज्ञान प्रकृति के संबंध में भविष्य वाणियाँ करता है और जो ठीक उतरती हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि विज्ञान की भविष्यवाणी सही नहीं होती। किंतु, ऐसी असफलता का कारण यह नहीं है कि प्रकृति के सारे कार्य नियमों के अधीन नहीं चलते और विज्ञान का यह दावा ही गलत है बल्कि, यह कि विज्ञान ने उन सारी बातों का ख्याल नहीं किया जिन्हें समझे बिना भविष्यवाणी सोलह आने सत्य नहीं होगी। कार्य कारण को लेकर प्रकृति का जो अध्ययन विज्ञान ने किया है, वह इसे सिद्ध करने को यथेष्ट है कि प्रकृति नियमों के अधीन चलती है और वे नियम वही हैं जिनका ज्ञान विज्ञान को प्राप्त हो चुका है। इन नियमों से भिन्न प्रकृति का कोई और भी नियम है जो विज्ञान की पकड़ में नहीं आ सकता, ऐसा सोचना अब खाम ख्याली ही समझी जायगी। प्रकृति में जो भी घटनाएँ घटित हो रही हैं उनके भीतर प्राकृतिक नियम ही काम कर रहे हैं, मानवीय या दैवी नियम और इच्छाएँ नहीं, यह बिलकुल ठीक बात है। इस पर भी अगर वैयक्तिक ईश्वर की इच्छा को हम प्राकृतिक घटनाओं का कारण कहें तो बात बनती नहीं है। हाँ, यह ठीक है कि प्रकृति के जिन क्षेत्रों में विद्वान के पाँव अभी ठीक से नहीं जमे हैं, उनका उदाहरण देकर पुरोहित बराबर यह कह सकता है कि ये अपवाद यह सिद्ध करने को काफी हैं कि प्रकृति ईश्वर की इच्छा के अधीन है, किसी स्थूल नियम के अधीन नहीं।

किंतु, पुरोहितों की यह दलील खुद धर्म के लिए ही घातक होगी। जहाँ विज्ञान नहीं जा सकता वह अँधेरी जगह है और जो सिद्धांत अपनी सार्थकता सिद्ध करने को सदैव अंधकार की ही गवाही दिलवाएगा, उस पर से मनुष्य का विश्वास उठ जायगा। इसलिए, उचित यही है कि धर्मवादी लोग वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना को छोड़ दें, जिसका आरंभ ही मनुष्य के भय और आशा के भावों से हुआ था। इसके स्थान पर हमें उन शक्तियों को प्रतिष्ठित करना चाहिए जिनसे मनुष्य के प्रत्यक्ष जीवन में सत्य, शिव और सुंदर की प्रतिष्ठा होती है।

[आइंस्टीन के निबंध-संग्रह 'आउट आव माइ लैटर इयर्स' से]

३. कला में रूप का स्थान

कला में दो वस्तुएँ हैं; एक तो वह वस्तु जो कलाकार का कथ्य है, विवेच्य है; और दूसरी वह वस्तु जिसमें सजा कर यह कथ्य बात कही जाती है, जिसकी रेखाओं में बाँध कर मन की कल्पना का चित्र उतारा जाता है।

कला के रूप और द्रव्य के बीच विभाजन का कार्य नहीं चल सकता और अगर यह संभव भी हो तो यह कार्य करने योग्य नहीं है। वर्डस्वर्थ ने ठीक ही कहा है कि चीर कर देखने पर कला की हत्या हो जाती है।

कलाकार जब अपनी समाधि में जाता है तब उसके सामने बहुत-सी कल्पनाएँ एक साथ खड़ी हो जाती हैं; राम, रावण, बंदर, सुंदरियाँ, पेड़, पौधे, समुद्र, पहाड़, ये सभी चित्र जब मन के सामने आते हैं तो, प्रत्यक्ष ही, उनमें पारस्परिक विरोध भी होते हैं। किंतु, कला को जहाँ उसका सच्चा रूप या आकार मिल जाता है, वहाँ ये विरोध आपसे आप नष्ट हो जाते हैं और सब के-सब किसी एक ही लक्ष्य की पूर्ति करने लगते हैं। कला के रूप की लपेट में पड़ने पर असुंदर भी सुंदर बन जाता है।

रूप कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे कलाकार अपने कथ्य विषय या द्रव्य पर बाहर से लाकर उढ़ा देता है। रूप असल में, द्रव्य के भीतर निहित रहता है। और यह कहना भी ठीक नहीं है कि रूप एक कठोर आवरण है जो अपने भीतर द्रव्य को छिपाए रहता है। क्योंकि द्रव्य का जो स्वभाव है, रूप का स्वभाव उससे भिन्न नहीं हो सकता।

तीन वस्तुओं के परस्पर सामंजस्य से कला का रूप निखार पाता है। वे तीन वस्तुएँ हैं (१) युग (२) कलाकार और (३) विषय। जब सबसे प्रतिभाशाली कलाकार युग के सबसे बड़े विषय को उसके सबसे अधिक अनुकूल रूप में बाँधने लगता है तब हम विश्वकला के अत्यंत विलक्षण रूपों के दर्शन करते हैं। इलियड और रामायण, हैमलेट तथा वार एण्ड पीस ये कला की अत्यंत महान कृतियाँ हैं, क्योंकि इनमें कला के तीनों उपकरणों का मेल बहुत ऊँचे स्तर पर हुआ है। होमर और वाल्मीकि के समान टालस्टाय भी युद्ध की समस्या को लेकर चले हैं। मगर, १६ वीं सदी का कलाकार होने के कारण उन्होंने काव्य को छोड़कर उपन्यास का माध्यम अपनाया। किंतु, इन तीन उपकरणों का मेल इतना कम हो पाता है कि विश्वकाव्य की संख्या अब तक नगण्य रही है।

[न्यू रिव्यू जिल्द १३ से]

४. देश की नैतिक जलवायु

देश की जलवायु का प्रभाव मनुष्य के आकार और स्वभाव पर पड़ता है, इस बात से कोई इनकार नहीं करता; मगर, लोग भूल जाते हैं कि जिस देश में जैसी सरकार होती है वहाँ की नैतिक जलवायु भी वैसी ही हो जाती है और उसका प्रभाव व्यक्तियों के चरित्र पर अनेक रूपों में पड़ता है। प्रजातंत्र के अंदर ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जिनका चरित्र ठोस, हृदय विशाल और स्वभाव आलस्य-विहीन होता है। ऐसे लोगों में विचारों की स्वच्छता और आचरण की दृढ़ता भी देखने में आती है। जब राज्य का रूप अमीराना (Aristocratic) हो जाता है तब देश में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जिनमें गौरव होता है, जो अपना खंडन आप नहीं करते तथा जो हुकम चलाने और हुकम मानने में एक-समान पटु होते हैं। जब राज्य अराजक हो जाता है तब देश में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जिनमें वीरता और बहादुरी होती है, जो खतरा पसंद और बेखौफ होते हैं, जो रीति-रिवाजों को पाँवों के नीचे कुचलना चाहते हैं, जो हिंसात्मक वाणी और आचरण से अपने समय को आतंकित किए रहते हैं और जो विनम्रता, संतुलन एवं सहिष्णुता को पास फटकने नहीं देते। राज्य के स्वेच्छाचारी हो जाने पर भी महान चरित्रों का निर्माण होता है; क्योंकि स्वेच्छाचारी शासकों को ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो बुद्धिमान और शांत प्रकृति के हों, जिनमें कठोरता, दृढ़ता और संकल्प का प्राचुर्य हो तथा जो शासन को लोहे की कड़ाई से चला सकें।

[गेटे—'विजडम एण्ड एक्सपीरियेंस' से]

विश्व वार्ता

१. भारत

फ्रांसीसी सरकार के बारे में जो यह कहा जा रहा है कि उसका आग्रह है कि बिना जनमत संग्रह के फ्रांसीसी भारत का भारतीय गणतंत्र में विलय नहीं होना चाहिए, इस संबंध में दिल्ली के राजनीतिक क्षेत्रों का विचार है कि वह फ्रांसीसी भारत के इस लोकमत की पूर्ण उपेक्षा कर रही है कि विलय बिना जनमत-संग्रह के ही होना चाहिए। इन परिस्थितियों में फ्रांस के रुख का यह अर्थ लगाया जा रहा है कि वह इस समस्या का समाधान और टालना चाहता है।

उक्त राजनैतिक क्षेत्रों का कहना है कि ऐसा आग्रह करके फ्रांस भारत के साथ मैत्रीपूर्ण समझौते का अवसर हाथ से जाने दे रहा है। साथ ही फ्रांसीसी सरकार ने पांडीचेरी के मुदालियर पेट म्युनिसिपल काउंसिल के मेयर श्रीनंदगोपाल के साथ भारतीय नागरिकों को गिरफ्तार कर बड़ा ही अनुचित कार्य किया है। गोकि भारत-सरकार के विरोध पर ये सभी रिहा कर दिए गए हैं।

दूसरी ओर लिस्बन के एक प्रेस-समाचार से इस बात का संकेत मिलता है कि पुर्तगाली सरकार ने भारत के विरोध पत्र को अनुचित कहकर अस्वीकार कर दिया है। पुर्तगाल के विदेश मंत्रालय की हाल ही की एक विज्ञप्ति में इस बात का उल्लेख है कि गोआ के डा० गायटोंडे को यह कहने पर गिरफ्तार किया गया था कि गोआ को भारत में मिला दिया जाय। जानकार सूत्रों के अनुसार इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भारत का यह दावा ठीक है कि गोआ में सख्त राजनीतिक दमन है तथा वहाँ पर भाषण स्वतंत्रता नहीं है। इससे यह बात भी प्रमाणित होती है कि जनता की वास्तविक इच्छा को दबाया जाता है।

पुर्तगाली विज्ञप्ति में यह भी कहा गया है कि पुर्तगाल भारत के साथ गोआ के प्रश्न पर बात नहीं करना चाहता, क्योंकि वह गोआनियों को पुर्तगाली नागरिक मानता है। इस संबंध में राजनीतिक क्षेत्रों की राय है कि इस तर्क से पुर्तगाली नीति का खोखलापन प्रकट होता है। इन सूत्रों का कहना है कि स्वाधीन भारत में विदेशी बस्तियों का अब कोई स्थान नहीं।

गत २४ मार्च को भारतीय लोक सभा में श्रीनेहरू ने भारत स्थित विदेशी बस्तियों के संबंध में स्पष्ट कह दिया है कि वे आज नहीं तो कल भारतीय गणतंत्र के ही एक अंग होंगे। जो कुछ वहाँ हो रहा है और जिस प्रकार वहाँ के लोगों की राय प्रकट हो गई है, उसके बाद वहाँ मत-संग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ के मंत्रियों तथा म्युनिसिपल कमेटियों के सदस्यों ने स्वयं कह दिया है कि वर्त्तमान फ्रांसीसी शासन में ठीक तरह से जनमत संग्रह किया ही नहीं जा सकता। आपने यह भी कह दिया है कि ब्रिटिश शासन के जाने के बाद भारत के एक कोने में छोटी विदेशी हुकूमत का बना रहना भारत की शान के खिलाफ तो है ही साथ ही भारत की सुरक्षा के लिए भी एक खतरा है। किसी भी समय स्थिति बदल कर संकट पैदा हो सकता है। इसलिए स्वाधीन भारत के किसी कोने में कोई बाहरी हुकूमत बनी रहे, यह बात हिंदुस्तान बर्दाश्त नहीं कर सकता। गोआ तथा फ्रांसीसी बस्तियों के संबंध में हम शांति के साथ कदम उठाना चाहते हैं। किसी समय हो सकता है कि कोई कठोर कदम भी उठाना पड़े। पांडीचेरी में जो कुछ हुआ वह हमारी नीति की विजय है। इसका यह अर्थ नहीं कि हमने वहाँ कोई आंदोलन करवाया, पर हमारे सही तरीके पर चलने का ही परिणाम यह आंदोलन है। फ्रांसीसी सरकार मामले को जितना लंबा करेगी उसमें उसीका नुकसान है। भारत को वैसे ही अधिकार सौंप दिए जायँ और उसकी कानूनी कार्रवाई बाद में होती रहे।

आपने कहा कि हमारी वैदेशिक नीति को कुछ लोग निरपेक्षता की नीति कहते हैं, पर, यह ठीक नहीं है। हमारी

नीति स्वतंत्र और आजाद है। हम किसी के भय और दबाव से कभी किसी ओर तो कभी किसी ओर झुक नहीं सकते।

२. अमेरिका

अमरीकी प्रतिरक्षा मंत्री श्री चार्ल्स ई० विल्सन ने गत २३ मार्च को कहा कि हिन्दचीन में अमरीकी सैनिक-ट्रेनिंग सहायता की संभावनाओं पर मैंने फ्रेंच जनरल पाल एली से वार्ता की है। इस सहायता से हिंदचीन में प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) प्रणालियों को बढावा दिया जा सकेगा। अमरीकी प्रतिरक्षा-विभाग हिंदचीन को अमरीकी ट्रेनिंग-विशेषज्ञ भेजने में सहायता देने के लिए तैयार है। मैंने जिन विषयों पर फ्रेंच जनरल से वार्ता की उनमें एक उपयुक्त विषय भी था।

आपने कहा कि हिंदचीन को अधिक बी २६ बम वर्षक विमान भेजे जाने के विषय में भी विचार किया जा रहा है। मुझे आशा है, कि फ्रांसीसी इस युद्ध को जीत लेंगे। इतनी वीरता से लड़ने के लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं।

अमरीकी विदेशमंत्री श्री जान फास्टर डलेस ने भी गत २३ मार्च को कहा है कि अमेरिका उस दो वर्षीय योजना को भंग करना नहीं चाहता जिसके अनुसार हिंदचीन में कम्युनिस्टों के विरोध में निर्णयात्मक सैनिक परिणामों पर पहुँचा जा सकता है। इस योजना को एक वर्ष पूर्व कार्यान्वित किया गया था। एक प्रेस सम्मेलन में यह पूछे जाने पर कि अगले मास होनेवाले जनेवा सम्मेलन में क्या हिंदचीन में शांति स्थापना पर कोई समझौता हो सकता है? श्री डलेस ने उत्तर दिया कि यदि चीनी कम्युनिस्ट किसी भी समय सैनिक सहायता देना बंद कर दें और यह प्रदर्शित करें कि वे आक्रांता नहीं रहेंगे तो वास्तव में उस क्षेत्र में शांति-स्थापना की संभावना हो जायगी।

गत २३ मार्च की खबर है कि सात अरब राष्ट्रों ने इजरायल पर मध्य पूर्व में तनाव पैदा करने का आरोप लगाया और अमरीकी सरकार से कहा है कि किसी भी एक राष्ट्र पर किए गए आक्रमण का समूचा अरब-संसार मिलकर बदला लेगा। लेबनान के राजदूत ने सुरक्षा परिषद् में भी यह भय प्रकट किया था कि इजरायल संभवतः अरब राष्ट्रों में किसी स्थान पर चोट करेगा।

राष्ट्र संघ में अमेरिका के प्रमुख प्रतिनिधि श्री लाज ने पुनः इसे स्पष्ट किया है कि अमेरिका कम्युनिस्ट चीन को विश्व संस्था से पृथक रखने के लिए अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करने में पीछे नहीं रहेगा। मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि सुदूर-पूर्वी झगड़े के निबटारे के लिए पेकिंग सरकार को राष्ट्र-संघ में स्थान दिया जाय।

३. पाकिस्तान

पूर्वी पाकिस्तान में सरकारी मुस्लिम लीग पार्टी की जबर्दस्त हार हुई है। ३०९ स्थानों की प्रांतीय असेंबली में उसे एक दर्जन सीटें भी नहीं मिल सकीं। इसके विपरीत संयुक्त मोर्चा (यूनाइटेड फ्रंट) का प्रबल बहुमत हो गया है और संयुक्त मोर्चा के दोनों नेता श्री फजलुल हक तथा श्री सुहरावर्दी पाक अमरीकी सैनिक संधि के विरुद्ध हैं। साथ ही पूर्वी पाकिस्तान (पूर्वी बंगाल) के चुनाव में भाषा का प्रश्न सर्वोपरि था। पाकिस्तान की समूची जनसंख्या का आधे से अधिक पूर्वी बंगाल में बसता है, परंतु उनकी भाषा बंगाली उपेक्षित है। उसे राज्य भाषा नहीं माना गया। पाकिस्तानी विधान सभा में कई बार यह माँग भी की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त पाकिस्तानी बंगाल कि यह भी शिकायत है कि केंद्रीय मंत्रिमंडल, सचिवालय, गवर्नरों, राजदूतों और फौजों की नियुक्तियों में बंगालियों को जनसंख्या के अनुपात में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है।

पाकिस्तानी मुस्लिम लीग कार्यसमिति में सदस्य सागर अब्दुररब निश्तर ने गत २३ मार्च को एक सार्वजनिक सभा में कहा है कि वर्तमान शासन मुस्लिम लीग का विनाश कर रहा है। भूतपूर्व केंद्रीय उद्योग मंत्री श्री निश्तर मुस्लिम लीग के उस लाहौर प्रस्ताव की १४ वीं वर्षगाँठ मनाने के लिऐ आयोजित एक सभा में बोल रहे थे जिसमें पाकिस्तान बनाने की माग की गयी थी।

आपने बताया कि मैंने लीग के वर्त्तमान नेताओं के समक्ष दो प्रस्ताव रखे हैं। (१) केंद्र तथा प्रांतों में प्रधान मंत्रियों तथा लीग के अध्यक्षों के कार्यालय अलग किए जायँ तथा (२) पुराने और नए लीगियों का एक सम्मेलन बुलाकर मुस्लिम लीग की शक्ति बढाई जाय। मैं लीगी नेताओं को चेतावनी देता हूँ कि यदि शीघ्र कदम नहीं उठाया गया, तो खतरनाक परिणाम उत्पन्न हो जाएँगे।

आपने यह भी स्मरण दिलाया कि मुस्लिम लीग से बिना सलाह किए उस समय के गवर्नर जनरल (अक्तूबर १९५१ में) ख्वाजा नाजिमुद्दीन प्रधान मंत्री बन गए।

इसके बाद गवर्नर जनरल गुलाम मुहम्मद ने ख्वाजा नाजीमुद्दीन को बर्खास्त कर दिया जो न केवल प्रधान मंत्री थे, बल्कि पाक मुस्लिम लीग के अध्यक्ष भी थे। यदि प्रधान मन्त्री केवल प्रशासनिक व्यवस्थाओं से तथा लीग से सलाह किए बिना आ-जा सकते हैं, तो वर्त्तमान प्रधान मन्त्री श्री मुहम्मद अली के साथ भी वही नतीजा निकलेगा।

पूर्वी पाकिस्तान के राजनीतिक पर्यवेक्षकों द्वारा पाकिस्तान के केंद्रीय मन्त्रिमंडल में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तनों की भविष्यवाणी की जा रही है। मुस्लिम लीग के कई चोटी के नेताओं ने भी कराँची में मिली जुली सरकार बनाने की बातें शुरू कर दी हैं। उनका कहना है कि मतदाताओं ने पूर्वी पाकिस्तान से किसी भी मुस्लिम लीगी के केंद्र में प्रतिनिधि रहने के विरुद्ध स्पष्ट तौर पर निर्णय दिया है।

राजनीतिक पर्यवेक्षकों का विचार है कि पाक मुस्लिम लीग की कार्य समिति को केंद्रीय मन्त्रिमंडल के भविष्य निर्णय का कोई अधिकार नहीं है। यह भी कहा जाता है कि केंद्र में पूर्णतः लीगी मन्त्रिमंडल बनाये रखने से गंभीर बातें पैदा हो जायेंगी तथा पाकिस्तान के दोनों भागों में मतभेद बढ़ जायेंगे। ढाका में संयुक्त मोर्चे के मन्त्रिमंडल और काराची में मुस्लिम लीग के मन्त्रिमंडल में झगड़ा होने की भी संभावना है। संयुक्त मोर्चे के नेताओं ने संविधान में समान सीटों के फार्मूले का विरोध किया है।

४. बर्मा

ऐसा समझा जा रहा है कि बर्मी सरकार दक्षिणी-पूर्वी बर्मा में स्याम की सीमा पर युद्ध विराम क्षेत्र की स्थापना पर सहमत हो गयी है जिससे कि चीनी राष्ट्रवादी गुरिल्लों की निकासी में सुविधा हो सके। ये गुरिल्ले वे ही चीनी हैं जो चीन में कम्युनिस्टों का प्रभुत्व स्थापित होने के बाद बर्मा में भाग आए थे तथा अब बर्मा में सरकारी सैनिकों पर आक्रमण करने में करेन विद्रोहियों की सहायता कर रहे हैं।

विश्वास किया जाता है कि अधिकांश चीनी गुरिल्ले स्याम के मुख्य व्यापारिक मार्ग पर स्थित मैयावाड़ी के आसपास हैं। युद्ध विराम इसी क्षेत्र में किए जाने की संभावना है। इस योजना का सुझाव तीन देशों के संयुक्त कमीशन ने दिया था।

समाचार है कि चीन की सरकार ने बर्मा से निकासी करनेवाले गुरिल्लों पर बर्मा सेना तथा विमानों की बमबाजी का विरोध करते हुए राष्ट्र-संघ महामन्त्री को एक पत्र भेजा है जिसमें लिखा गया है कि इन हमलों के कारण निकासी का काम जारी रखना असंभव हो गया है।

५. मिस्र

मिस्र के राष्ट्रपति जनरल नजीब ने स्पष्ट कह दिया है कि मैं स्वेज नहर समस्या पर ब्रिटेन से पुनः बातचीत करने को व्यग्र नहीं हूँ। यदि ब्रिटेन अच्छी शर्तें पेश करेगा तो मैं उनको स्वीकार कर लूँगा। मैं कोई नया प्रस्ताव उपस्थित नहीं करूँगा। अतीत में अंग्रेजों ने नहर क्षेत्र में अशांति के समय मिस्री मकानों की तलाशी ली थी और मेज-कुर्सियां तोड़ दी थीं। यदि ब्रिटेन या अमेरिका में ऐसा हो तो क्या वे इसे बर्दाश्त करेंगे? स्वेज-नहर विवाद को समाप्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि अंग्रेज मिस्र की माँगों को स्वीकार कर लें।

आपने अंग्रेजों पर दोषारोपण भी किया है और कहा है कि वे पुराने समझौते के अनुसार कार्य नहीं कर रहे हैं। उन्होंने सूडान समझौते को भी कार्यान्वित नहीं किया। गत अक्तूबर मास में आंग्ल मिस्र-वार्त्ता इसलिए भंग हो गई कि मैं स्वेज नहर अड्डे को प्राप्त करने के लिए अपने निश्चय पर दृढ़ रहा।

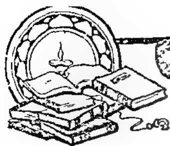
६. रूस

रूस ने मिस्र तथा अन्य अरब देशों को सूचित किया है कि यदि किसी भी देश ने पश्चिम द्वारा प्रेरित मध्यपूर्व सैनिक संधि में भाग लिया, तो रूस इसे अमैत्रीपूर्ण एवं शत्रुतापूर्ण कार्य समझेगा।

मिस्र में नए रूसी राजदूत श्री डनियल सोलोद ने मिस्री विदेश मंत्री डा० मुहम्मद फौजी को एक भेंट में मध्य-पूर्व प्रतिरक्षा संधियों के प्रति का दृष्टिकोण पुनः स्पष्ट कर दिया है।

रूस ने इससे पूर्व १९५१ में मिस्र तथा अन्य अरब देशों को सूचित किया था कि वह मध्यपूर्व प्रतिरक्षा संधियों के खिलाफ है। उस समय अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस और टर्की ने मध्य-पूर्व प्रतिरक्षा कमान का प्रस्ताव किया था। तब से लेकर जब भी अरब राष्ट्रों ने पश्चिमी राष्ट्रों के साथ प्रतिरक्षा संधि करने का यत्न किया, अरब की राजधानियों में स्थित रूसी राजदूत निरंतर सम्मेलन के दृष्टिकोण पर बल देते रहे।

— दिनेशप्रसाद सिंह



पुस्तकालोचन

राजधानी के कवि—संपादक श्री गोपालकृष्ण कौल, श्रीरामावतार त्यागी। प्रकाशक—निर्माण - प्रकाशन, दिल्ली। मूल्य ३)

इस कविता-संग्रह के अवलोकन से यह पता चलता है कि भारत की राजधानी दिल्ली में केवल देश विदेश की राजनीतिक हलचलों की ही चर्चा ही नहीं होती, बल्कि वहाँ का साहित्यिक जीवन भी काफी मुखरित बना रहता है। ६१ कवियों की रचनाएँ इस मे संग्रहीत हैं। फिर भी जैसा कि संपादकों के वक्तव्य से स्पष्ट है, कुछ कवि छूट गए हैं। इस प्रकार के संग्रह का एक विशेष महत्व है। एक एक जनपद या स्थान विशेष की साहित्यिक गति विधियों का हमें परिचय मिलता है और बहुत से अप्रसिद्ध साहित्यकारों कृतियों को प्रकाश में आने का सुयोग मिलता है। प्रस्तुत संग्रह में एक ओर जहाँ श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन, अज्ञेय, डा० नगेंद्र, उदयशंकर भट्ट, गोपाल प्रसाद व्यास और प्रभाकर माचवे जैसे सुप्रसिद्ध साहित्य कारों की रचनाओं को स्थान मिला है, वहाँ दूसरी ओर साथ-साथ बहुत से अप्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। और ये रचनाएँ भी ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर हिंदी-कविता के भविष्य के संबंध में आशा बँधती है। संग्रह के संपादक और संयोजक ने इस प्रकाशन के द्वारा एक नई दिशा का संकेत किया है जिसकी एक निजी विशेषता एवं सार्थकता है। इसके लिए वे अवश्य ही बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई बहुत सुंदर और आकर्षक हुई है।

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र

शिवालक की घाटियों में—लेखक श्री विद्यानिधि सिद्धांतालंकार। प्रकाशक, आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली ६। मूल्य ५ रुपये।

हिंदी में आरण्यक जीवन पर बहुत कम पुस्तकें हैं। वन, पर्वत और घाटियों म बसनेवाले पशु पक्षी और वृक्ष-ताल द्रुमों से हमारा परिचय नहीं के बराबर है। किंतु वन-जंगल की भी आत्मा है। उनकी वाणी है, जिसको सुनने के लिए हृदय के कान चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने वन-पर्वत की उस मूक वाणी को सुना है और वनचर जीव जंतुओं के जीवन को बहुत निकट से देखा है। इस पुस्तक में एक शिकारी की हिंसावृत्ति नहीं, एक हृदय, चित्रकार की भूमिका के प्राणस्पर्शी चित्र आपको देखने को मिलेंगे। लेखक ने शिवालक की घाटियों के एक से एक सुंदर एवं मनोरम चित्र उपस्थित किए हैं। इन चित्रों में काव्य की छटा एवं अनुभूति की बड़ी गहरी वेदना है। यहाँ पशु पक्षी, जीव-जंतु, लताद्रुम सब मानों अपनी अपनी कहानी सुना रहे हैं। इन कहानियों में एक साथ ही रोमांस, कौतुक, आनंद एवं विस्मय का अपूर्व सम्मिश्रण हुआ है। निसंदेह यह पुस्तक अपने ढंग की अनोखी है। पुस्तक के पढ़ने में उपन्यास से भी बढ़कर आनंद आता है। अच्छे कागज पर, चित्रों से सवलित यह पुस्तक सुंदर ढंग से छपी है।

—जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

आदर्श पत्र लेखन—लेखक श्री यज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली। पृष्ठ संख्या डिमाई साइज ५५०, मूल्य सजिल्द पुस्तक का ७)

लेखक के अनुसार प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य पत्र लिखने की रीति सिखलाना है। इसी उद्देश्य से लेखक ने पुस्तक को व्यवहार-रीति के अनुसार कई अंशों में बाँट दिया है और प्रत्येक अंश में नमूना स्वरूप अनेक तरह की पत्र लेखन प्रणाली उपस्थित की है।

हिंदी में इस विषय पर अनेक ग्रंथ निकल चुके हैं जिनसे आवश्यक बोध हो जाता है। फिर इतनी भारी भरकम पुस्तक की आवश्यकता मुझे नहीं प्रतीत होती। फिर जो नमूने लेखक ने उपस्थित किए हैं उन्हें पढ़कर भी कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए व्यापारिक पत्र-प्रकरण में लेखक ने एक बैरिस्टर साहब को माननीय एक दूसरे व्यक्ति को आदरणीय एक तीसरे को प्रिय भाई और चौथे को प्रिय महोदय से संबोधित किया है। लेकिन लेखक ने इस तरह का कहीं भी इशारा

नहीं किया है कि किन कारणों से इस तरह के चार भिन्न भिन्न प्रकार के संबोधन के प्रयोग किए गए।

पत्र लेखन कोई ऐसी जटिल चीज नहीं है। पत्रों का एकमात्र उद्देश्य अपने भावों और विचारों को दूसरों तक पहुँचाना रहता है। पत्रों की भाषा जितनी ही सुलझी और स्पष्ट रहेगी, पत्र उतने ही उपयुक्त होंगे।

लेकिन पत्र लेखन में यदि कहीं कला की आवश्यकता है तो ऊपर के शीर्षक में और नीचे की समाप्ति में। भिन्न भिन्न तरह के पत्रों को किस तरह आरंभ करना चाहिए और किस तरह उन्हें समाप्त करना चाहिए यह जानना अत्यंत आवश्यक है। और इस तरह का कोई निर्देश प्रस्तुत पुस्तक में नहीं है।

व्यापारिक पत्रों के बारे में लेखक ने लिखा है—'अगर पत्र की भाषा आकर्षक नहीं है तो पाठक उसे उठाकर अलग रख देगा।' इससे साफ प्रगट होता है कि लेखक को व्यापारिक जगत का कोई भी व्यवहारिक ज्ञान नहीं है। व्यवसायी पत्र की भाषा ही नहीं देखता, वह उसमें अपने मतलब की बात ढूँढता है और यही स्पष्ट और सुलझी भाषा में लिखी जानी चाहिए। प्रेमी भले ही आकर्षक भाषा की खोज करे, पर व्यापारी नहीं।

खेद है कि लोग बिना अनुभव के उन विषयों पर कलम उठाते हैं जिनका उन्हें व्यावहारिक ज्ञान नहीं रहता और ऐसी बातें लिख जाते हैं जिनका विषय से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं।

पुस्तक में अनावश्यक विषयों का आवश्यकता से अधिक समावेश है। पर आवश्यक बातों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। यह पुस्तक की बहुत बड़ी कमी है।

—छविनाथ पाडेय

यूरोपा—श्री देवशचन्द्र दास, प्रकाशक-आत्माराम एंड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली। मूल्य ३)

'यूरोपा' यूरोप भ्रमण संबंधी पुस्तक है, किंतु अन्य यात्रा-पुस्तकों से इसकी थोड़ी निजी विशेषता है कि इसमें केवल स्थान, वस्तु और विषयों का रूखा सूखा लेखा-जोखा ही नहीं है, भावुकता का कवित्व भी है, स्वप्न के अलंकार और कल्पना की रंगीनी भी है। आमतौर से विदेश को देखने की आँखों में एक उत्सुकता होती है, लेकिन इसमें एक सहज आत्मीयता की दृष्टि का स्पष्ट परिचय है। उसीका नतीजा है कि यूरोप के भौतिक वैभव के अंतराल में जो एक आत्मिक सौंदर्य का रस है, प्रेरणा का जो एक वेगवान अंत:स्रोत है, उसका दर्शन बहुत हद तक लेखक को मिला है और उस सांस्कृतिक एवं बौद्धिकता के नवीन आलोक-लोक का परिचय देने में लेखक को बहुत अंशों में सफलता मिली है।

मूल पुस्तक बँगला में लिखी गयी थी उसकी भाषा अनुकूल वाहन बन सकी होगी, किंतु अनुवाद में वह प्रवाह, वह प्राजलता और वह स्वाभाविकता नहीं रह गई है। अप्रचलित शब्दों के प्रयोग, शब्द-योजना में जाति विचार की उपेक्षा और पंक्तियों के गति-सौष्ठव की रक्षा नहीं हो सकी है। किंतु चूंकि यह प्रयास लेखक ने स्वयं किया है, इसलिए उनका खयाल नहीं भी किया जा सकता है, क्योंकि उसे सँवारने में खास कोई कठिनाई नहीं थी। एक और बाधा इसके आनंदभोग में आती है। वह है जरूरत से ज्यादा प्रसंग उत्थापना। वे प्रसंग या तो अंग्रेजी-बँगला साहित्य के या चित्र मूर्ति स्थापना-कला की परिचिति से संबंध रखते हैं। उनकी एक एक चर्चा आ गई है और आगे पीछे का कोई संकेत कहीं नहीं है। जहाँ प्रवाह में तन्मय होकर बहने का संयोग बनता है कि ऐसे प्रसंग से सहसा आनंद-स्रोत में रुकावट पड़ जाती है।

फिर भी पुस्तक में एक नई दृष्टि के दर्शन अवश्य मिलते हैं। वैचित्र्य के ऐश्वर्य में से एक रस की सृष्टि लेखक ने की है और उस रस का संचार पाठकों के मन में किया है। महायुद्ध के अनंतर यूरोप की वह समृद्धि और सौंदर्य बहुत कुछ लुप्त, परिवर्तित हुए, किंतु इन पंक्तियों में उसकी आत्मिक-सुषमा के बड़े मनोहर चित्र रह गए हैं। यात्रा वर्णन लेखक की कुशलता से साहित्य रस से संजीवित हो उठा है।

—हंसकुमार तिवारी

अनमोल साहित्यिक प्रकाशन

उपन्यास

इन्द्रधनुप	पं० छविनाथ पाण्डेय	३॥)
माँ की ममता	,,	२॥)
कैदी की पत्नी	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
मीमांसा	श्री अनूपलाल मंडल	२॥)
दर्द की तस्वीरें	,,	२)
समाज की वेदी पर	,,	१॥)
बुझने न पाय	,,	४)
वे अभागे	,,	५)
रूप-रेखा	,,	१॥)
सविता	,,	३)
साकी	,,	१॥)
बूचड़खाना	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)
लहरों के बीच	श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त	२॥)
अविरल आँसू	महंथ धनराजपुरी	५)
सरस्वती की आत्महत्या	श्री रमण	२)

कहानी

लाल तारा	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
संसार की मनोरम कहानियाँ	,,	१॥)
माटी की मूरतें	,,	१॥)
प्रतिमा	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	२॥)
रात की रानी	सुश्री उषादेवी मित्रा	२)
भीखू की टोली	सुश्री शारदा वेदालंकार	१)
हरदम आग	श्री कृष्णनन्दन सिनहा	२॥)
समानान्तर रेखाएँ	श्री राधाकृष्णप्रसाद, एम० ए०	२॥)
गौने की विदा	श्री शिवसहाय चतुर्वेदी	२)
सूरतें और सीरतें	प्रो० कपिल	१)

प्रहसन

दो घड़ी	श्री शिवपूजन सहाय	॥)
कहकहा	श्री सरयूपंडा गौड़	१)
ससुराल की होली	,,	२॥)
हँसो-हँसाओ	,,	१॥)

नाटक

अम्बपाली	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२)
तथागत	,,	१।)
वर्धमान महावीर	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)
पारिजात मंजरी	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	१॥)
संस्कृति की झलक	श्री रमण	१॥)
जय	श्री रासबिहारी लाल	२)
नवयुग का प्रभात	श्री उग्रमोहन झा	२)

यात्रा

भूमण्डल-यात्रा	श्री गोपाल नेवटिया	१॥।)
आज का जापान	भदन्त आनन्द कौसल्यायन	२॥)

प्रबन्ध-साहित्य

संस्कृत का अध्ययन	राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद	२)
आगे बढ़ो	पं० छविनाथ पाण्डेय	१॥)
जीवन की सफलता	,,	॥≈)
साहित्य-समीक्षा	प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा	२॥।)
दुग्ध-विज्ञान	श्री गंगाप्रसाद गौड़ 'नाहर'	१।)
बौद्धधर्म के उपदेश	धर्मरक्षित	२)
निर्माण के चित्र	श्री रमण	१)
प्राणों की वाणी	डॉ० रामखेलावन पाण्डेय	१॥)
सांस्कृतिक एकता	श्री रामधारी सिंह दिनकर	१॥।)

इतिहास

हमारी स्वतन्त्रता	श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३)

संकलन

गाँधी अमृतवाणी	श्री प्रभुदयाल विद्यार्थी	१॥।)
संस्कृत-लोकोक्ति-सुधा	श्री जगदम्बाशरण राय	१॥।)

जीवनी

आत्म-कथा	राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद	१२)
कार्ल मार्क्स	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	२॥)

काव्य

कैकेयी	श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'	३)
कर्ण	,,	१॥)
रश्मि-रथी	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'	५)
धूप और धुआँ	,,	२॥)
इतिहास के आँसू	,,	३)
मधुबिन्दु	श्री रामसिंहासन सहाय 'मधुर'	१)
नारायणी	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	१॥)
द्रोण	श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'	१॥)
प्रेम गीत	श्री आरसीप्रसाद सिंह	२)

संस्मरण

बापू के कदमों में — राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद — ५)

राजनीति

राजनीति-विज्ञान — प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र — ६)
भारतीय संविधान और शासन — प्रो० विमलाप्रसाद — ६।।)

नीति-शास्त्र

नीति शास्त्र — श्री क्षेमधारी सिंह — २।।)

नागरिक शास्त्र

प्राथमिक नागरिक-शास्त्र — प्रो० दिवाकर झा — ४)

आर्थिक इतिहास

भारत का आर्थिक इतिहास — प्रो० मोतीचन्द गोविल — ३)
इंगलैंड का आर्थिक इतिहास — " — २)

सामान्य विज्ञान

विश्व का विकास — माननीय श्री रामचरित्र सिंह — २।।)
विश्वज्ञान भारती — श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' — १०)

ग्राम्य साहित्य

अन्नपूर्णा के मन्दिर में — श्री शिवपूजन सहाय — १।।)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा — संपादक-मंडल — ।।≈)
गाँव स्वर्ग बन सकता है — " — ।।≈)
हमें जानना चाहिए — " — ।।≈)
किसान और मजदूर — संपादक-मंडल — ।।≈)
हमारा कर्त्तव्य — " — ।≈)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा — " — ।।)
पशुपालन और भारत का पशुधन — " — ।।)
बिहार पंचायत राज और उनके अधिकार — " — ।।)
फल तथा सब्जीसंरक्षण — श्री उमेश्वरप्रसाद वर्मा — १।।।)
फलोत्पादन — " — १।।)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना — प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव — २।।)
काव्य और कल्पना — प्रो० रामखेलावन पाण्डेय — ३।।)
निर्गुण काव्यदर्शन — प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी — ५)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ — चित्रकार—श्यामलानन्द — २)

मैथिली-साहित्य

खट्टर ककाक तरंग — प्रो० हरिमोहन झा — १।।)

बाल-साहित्य

कहानी

सप्तसोपान — प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ।।।)
नवरत्न — " — ।।।)
कथा-कहानी — " — ।।।)
सीरा की बातें — " — ।।।)
आश्चर्यजनक कहानियाँ — श्री केदारनाथमिश्र 'प्रभात' — १।)
मूर्खों की कहानियाँ — " — १।)
मनोरञ्जक कहानियाँ — " — १।)
समुद्र के मोती — " — १।)
शेर का शिकारी — श्री दयोदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' — ।।।)
लहरदार पूँछ — श्रीराधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ।।।)
नकली सिंह — " — ।।।)
ऊँचे ऊँट — " — ।।।)
साँड़ और बैंग — " — ।।।)
चोर राजा — श्री राधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ।।।)
शालिम कुमार — श्री शिवस्वरूप वर्मा — ।।।)
सीत-बसंत — " — ।।।)
हितोपदेश की कहानियाँ — श्री शशिनाथ झा — १।।)
मामाजी — " — ।।।)
रूसी जीवट की कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १।।।)
सत्तू में भैंस — सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी — ।।।)
जादू की वंशी — श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त — ।।)
जादू का थैला — श्री जगदानन्द झा — ।।।)
काजी घोड़ा — " — ।।)
कासिम का चप्पल — " — ।।)
चालाक मुर्गी — " — ।।)
सियार का न्याय — " — ।।)
चाँद का दूत — " — ।≈)

आलोचना-साहित्य की अनुपम कृतियाँ

१. मिट्टी की ओर : श्री रामधारीसिंह दिनकर

वर्तमान कविता साहित्य के संबंध में दिनकरजी के ओजस्वी भाषणों और सुचिंतित निबंधों का संग्रह हिंदी कविता की वर्तमान प्रगति को समझने के लिए इस पुस्तक से बढ़कर दूसरी कोई पुस्तक नहीं मिलेगी। इस पुस्तक की सभी रचनाएँ पढ़ने एवं मनन करने योग्य हैं। मूल्य—४)

२. दिनकर की काव्य-साधना : प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव

दिनकर साहित्य के प्रेमियों की संख्या अगणित है। यह पुस्तक उन्हीं अध्ययन के अभिलाषियों की सहायता करती है। दिनकरजी के काव्य की सभी विशेषताओं की ओर लेखक ने बहुत ही प्रभावशाली एवं रोचक ढंग से पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। मूल्य—२॥)

३. साहित्य-समीक्षा : प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा

यह पुस्तक लेखक के महत्त्वपूर्ण निबंधों का संग्रह है। साहित्य के सभी अंगों पर समुचित रूप से प्रकाश डाला गया है। फिर भी, लेखक की शैली ऐसी है कि पढ़ते ही आनंद आ जाता है। जगह-जगह तीखा व्यंग्य दो टूक उक्ति—लेखक की अपनी विशेषता है। मूल्य—२॥)

४. काव्य और कल्पना : डॉ० रामखेलावन पाण्डेय

इस पुस्तक के सभी निबंध लेखक के गंभीर अध्ययन एवं पर्याप्त विवेचन के द्योतक हैं। सभी निबंध विचारोत्तेजक हैं। हिंदी-साहित्य के पाठकों के लिए यह पुस्तक अपने ढंग की अकेली है। मूल्य—३॥)

५. निर्गुण काव्य-दर्शन : प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी

निर्गुण काव्य के संबंध में एक स्थान पर इतनी सामग्री इस पुस्तक को छोड़कर कहीं और नहीं मिलेगी। लेखक ने निर्गुण साहित्य के मूल्यांकन में केवल अध्ययन का ही सहारा नहीं लिया है, उसने काफी चिंतन के बाद इसकी सभी बारीकियों का अंकन किया है। मूल्य—५)

६. उपन्यास के मूल तत्त्व : प्रो० जयनारायण, एम० ए०

सफल उपन्यास के लिए किन किन तत्त्वों का होना आवश्यक है तथा उपन्यास लेखक को उपन्यास लिखते समय किन बातों पर ध्यान रखना चाहिए—आदि बातें इस पुस्तक में बताई गई हैं। पुस्तक उपन्यास के पाठकों के लिए ही नहीं, अपितु उपन्यास लेखकों के लिए भी पठनीय है। मूल्य—१)

७. चिंताधारा : श्री जानकीवल्लभ शास्त्री

यह पुस्तक लेखक के कई चिंतन प्रधान निबंधों का संग्रह है। सभी निबंध अध्ययनपूर्ण, सुचिंतित एवं मौलिक हैं। लेखक ने प्रभावोत्पादक एवं तार्किक ढंग से साहित्य के संबंध में अपना विचार प्रकट किया है। मूल्य—३)

८. साहित्य-विवेचन : श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र

आलोचना साहित्य में यह पुस्तक निराली है। इस पुस्तक के सभी निबंध पाठक को सोचने एवं मनन करने के लिए काफी सामग्री प्रस्तुत करते हैं। साहित्य के अध्येताओं के लिए यह पुस्तक अपने ढंग की अकेली है। मूल्य—२॥)

—— प्रकाशक ——

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

Regd No P 784 **AVANTIKA** April 1954
Annual Subs Rs 10/- This Issue Rs. 1/-



२ : अंक ५
१६५४

वार्षिक १०)
एक प्रति १)

अवन्तिका की नियमावली

संपादन-विभाग

१ अवन्तिका प्रतिमास अँगरेजी महीने की पहली तारीख को प्रकाशित हुआ करेगी ।

२ अवन्तिका में सार संकलन के अतिरिक्त केवल मौलिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जायँगी । अन्यत्र प्रकाशित या रेडियो द्वारा प्रसारित रचनाएँ अवन्तिका में प्रकाशित नहीं की जायँगी ।

३ किसी भी रचना को प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को रहेगा ।

४ अवन्तिका में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ दूसरे पत्रों को न भेजी जानी चाहिए ।

५ अवन्तिका में साहित्य, संगीत, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर उच्चकोटि के लेख प्रकाशित हुआ करेंगे ।

६ अवन्तिका में प्रकाशनार्थ भेजी जानेवाली रचनाओं की प्रतिलिपि लेखकों को अपने पास अवश्य रख लेनी चाहिए ।

७ अवन्तिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ कागज के एक ही पृष्ठ पर, यथेष्ट स्थान छोड़कर, साफ-साफ लिखी रहनी चाहिए ।

८. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं के संबंध में निश्चित रूप से यह बताना संभव नहीं है कि कौन रचना किस अंक में प्रकाशित हो सकेगी ।

९. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ, परिवर्तनार्थ पत्र पत्रिकाएँ और आलोचनार्थ पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ संपादक के नाम ३।५, आर० ब्लॉक, पटना के पते पर भेजी जानी चाहिए ।

प्रबंध-विभाग

१ अवन्तिका का वार्षिक चन्दा १०) दस रुपए और एक अंक का १) एक रुपया तथा विदेशों के लिए १५ शिलिंग है ।

२. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बनाया जाता है ।

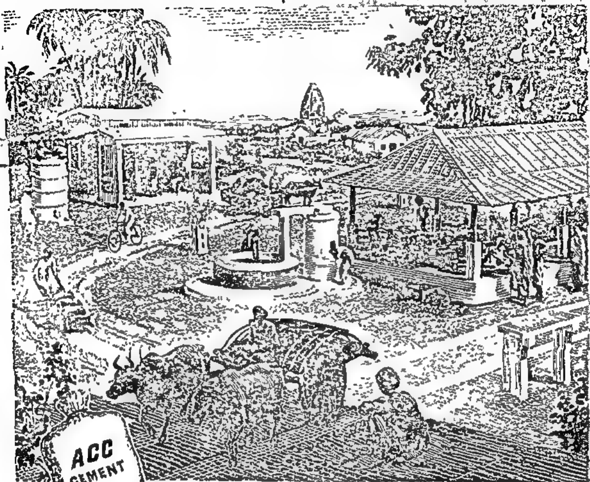
३. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है ।

४ कम से कम ५ प्रतियाँ मँगानेवालों को एजेंट नियुक्त किया जायगा ।

५. नमूने का अंक मुफ्त भेजने की प्रथा नहीं है ।

प्रकाशक

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना–४


ACC
CEMENT

वार्षिक १०)

अवन्तिका

एक प्रति १)

[विविध विषय विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

विदेश के लिए सत्रह शिलिंग

जम्मू-कश्मीर, सौराष्ट्र, हिमाचल-प्रदेश, पेप्सू तथा बिहार की सरकारों द्वारा कालेजों, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विदेश के लिए डेढ़ शिलिंग

विषय-सूची : मई, १९५४



[विविध विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

संपादक : लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वर्ष २ : खंड १] पटना, मई १९५४ ई० :: वैशाख, २०११ वि० [अंक ५ : पूर्णांक १७

संपादकीय

१. राष्ट्रभाषा हिंदी के बंगाली समर्थक

इधर हाल में श्री नगेंद्रकुमार गुहराय ने 'शनिबारेर चिठि' में राष्ट्रभाषा हिंदी के बंगाली समर्थकों के संबंध में गवेषणा-पूर्ण लेख प्रकाशित किया है। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी को राष्ट्रभाषा की मान्यता प्रदान करने के लिए भारत के अहिंदी भाषाभाषियों ने प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। हिंदी के जिन गुणों ने उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया वे आज भी प्रतिष्ठित हैं। विगत उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल के जिन मनीषियों ने हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त बताया और उसके लिए प्रयत्न किया उनमें श्री केशवचंद्र सेन, श्री राजनारायण बसु और श्री भूदेव-मुखोपाध्याय प्रमुख हैं। सौभाग्य या दुर्भाग्य की बात यह है कि उपर्युक्त तीनों महानुभावों में से एक भी राजनैतिक नेता नहीं थे। उनकी सेवाएँ देश को धर्म, समाज तथा शिक्षा के क्षेत्रों में ही प्राप्त थीं। श्री नगेंद्रकुमार गुहराय ने लिखा है—

> आजादी हासिल करने के पहले अँगरेजी की जगह किसी देशी भाषा को सर्वजनीन यानी 'लिंग्वा फ्रैंका' बनाने की जरूरत गाँधीजी ने महसूस की थी। हिंदी और उर्दू के योग से वे हिंदुस्तानी नाम की एक नई भाषा की सृष्टि के हिमायती थे। भारत-विभाजन के बाद उनकी हिंदुस्तानी को उस रूप में ग्रहण करने का प्रस्ताव गिर गया, उसकी जगह राष्ट्रभाषा की मर्यादा हिंदी को दी गई। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने तथा उसके प्रचार की चिंता गांधीजी से बहुत पहले बंगालियों के ही दिमाग में आई थी। उन्नीसवीं सदी के आठवें और नवें दशक में बंगाल के तीन वरेण्य मनीषियों ने अँगरेजी के बदले किसी भारतीय भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने और चलाने की जरूरत महसूस की थी और अनेक तरह से सोच विचार कर वे हिंदी को ही वह मर्यादा देने के पक्षपाती थे।

ब्रह्मानंद श्री केशवचंद्र सेन अपने विचारों के प्रचार के लिए 'सुलभ समाचार'-नामक एक पत्र का संपादन तथा प्रकाशन करते थे। सन् १८७४ ई० में उसके एक अंक में उन्होंने 'भारतवासियों में एकता लाने का उपाय क्या है?'—शीर्षक से एक प्रबंध लिखकर प्रकाशित किया था जिसका एक छोटा-सा अंश इस प्रकार है—

> यदि एक भाषा हुए बिना भारत की एकता संभव नहीं तो क्या उपाय है? उपाय यही है कि सारे भारत में एक भाषा का व्यवहार हो। अभी भारत में चालू जितनी

भाषाएँ हैं उनमें से हिंदी सर्वत्र प्रचलित है। इस हिंदी को ही अगर भारत की एक भाषा बनाया जाय तो यह काम शीघ्र और अनायास सम्पन्न हो।

उपर्युक्त उद्धरण में 'यह काम शीघ्र और अनायास संपन्न हो'—वाक्यांश पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इससे यह सहज ही प्रमाणित होता है कि उस समय भी हिंदी भारत की एक व्यापक भाषा थी। कहना नहीं होगा, आज हिंदी की व्यापकता उससे कहीं अधिक बढ़ गई है। आज की परिस्थिति में जबकि भारतीय संविधान में हिंदी तथा नागरी को राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि का पद प्राप्त हो गया है, फिर कोई नया विवाद उपस्थित करने का प्रश्न नहीं उठाना चाहिए। बंगाल के मनीषियों ने केवल हिंदी को ही राष्ट्रभाषा के उपयुक्त नहीं बताया, नागरी को भी राष्ट्रलिपि के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। यह बहुत दुख की बात है कि अभी हाल में ही, दो-तीन सप्ताह पहले, पश्चिम बंगाल के राजनैतिक सम्मेलन में, उत्कल के श्रीहरेकृष्ण मेहताब की अध्यक्षता में, एक प्रस्ताव इस आशय का उपस्थित किया गया कि पूर्वोत्तर भारत की राष्ट्रभाषा बँगला बनाई जाय। यह प्रस्ताव अवांछनीय ही नहीं, भारत की राष्ट्रभाषा की अखंडता पर व्याघात भी है।

श्री भूदेव मुखोपाध्याय उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बहुत दिनों तक राज्य के शिक्षा-विभाग के एक उच्च अधिकारी थे। वे बँगला के एक प्रतिष्ठित लेखक थे। उन्होंने अपने 'सामाजिक प्रबंध'-नामक ग्रंथ में, जिसकी रचना सन् १८८७ से १८८६ ई० की अवधि में हुई और सन् १८९२ ई० में प्रकाशित हुई, लिखा है—

> भारत की प्रचलित भाषाओं में हिंदी-हिंदुस्तानी ही प्रधान है और मुसलमानों के कल्याण से वह सारे देश में व्यापक है। अत: यह अनुमान किया जा सकता है कि दूर भविष्य में उसी सूत्र से सारे भारत की भाषाएँ सम्मिलित होंगी। ' ' स्वदेशी भाइयों के प्रति सदा सम्मादर दिखाना चाहिए। बंगालियों के लिए बंगाली या भारत के अन्य प्रदेशवासी विशिष्ट रूप से प्रेमभाजन हैं। हम एक पुण्यभूमि में पैदा और पालित हुए हैं, हमारे भाग्य-सूत्र का गठन परस्पर अभिन्न है—मन में इस भाव को जगाये रहना चाहिए। भारत के अधिकांश लोग हिंदी में बातचीत कर सकते हैं। अतएव भारतीय बैठकों में अँगरेजी का व्यवहार न करके हिंदी में ही बातचीत करना ठीक है। ' भारत के विभिन्न प्रांतवासी ब्राह्मण, कायस्थ, वणिकों में अपनी जाति में ही अंतरप्रांतीय विवाह चालू होने से भारतीय समाज दृढ़ संबद्ध होगा और हिंदी और अधिक प्रचलित होगी—यह सत्कार काम्य होना चाहिए।

भूदेव बाबू ने बिहार की कचहरियों में प्रचलित उर्दू-फारसी के स्थान पर हिंदी-नागरी को प्रतिष्ठित कराने में बहुत योग दिया। उनके इस प्रशंसनीय कार्य की उस समय बड़ी चर्चा हुई। हिंदी के सुधी कवि श्री अंबिकादत्त व्यास ने इसपर कविता-रचना भी की। भाषातत्त्वविद् जॉर्ज ग्रियर्सन ने भी उनकी सराहना की। आज की परिस्थिति की अपेक्षा उस समय इस काम में कहीं अधिक कठिनता तथा विरोध का भाव था। भूदेव बाबू के प्रयत्न अंततः सफल हुए। इस संबंध में हिंदी-संसार उनका ऋणी है।

श्री राजनारायण बसु भारतीय देशात्मबोध के उन्नायकों में से एक हैं। भारत के समस्त हिंदुओं को सुसंबद्ध कर एक शक्तिशाली महाजाति बनाने के लिए सन् १८८० ई० में उन्होंने अपने सुचिंतित तथा ओजस्वी विचारों को 'ओल्ड हिंदूज होप' नाम से अँगरेजी में, फिर 'वृद्ध हिंदुर आशा' नाम से बँगला में पुस्तकाकार प्रकाशित किया। उसमें महाहिंदू-समिति-नामक अखिलभारतीय प्रतिष्ठान स्थापित करने की कल्पना थी। उसकी नियमावली भी बनाई गई थी। उस पुस्तक से एक अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

> भारतवर्ष के सभी स्थानों के सदस्यगण आपस में बोलचाल और पत्राचार में हिंदी का व्यवहार करें, समिति के सदस्य सब प्रकार से इसकी चेष्टा करेंगे। आपस में इसके लिए विदेशी यानी अँगरेजी भाषा का सहारा लेना स्वदेश-प्रेमी हिंदुओं के लिए लज्जा की बात है। बंगाल या मद्रास आदि स्थानों के सदस्यों को, जहाँ की भाषा हिंदी नहीं है, हिंदी सीख लेनी चाहिए। जबतक वे हिंदी नहीं सीख लेते तबतक लाचारी अँगरेजी का सहारा लेना ही पड़ेगा। भारत के अन्य इलाकों की शाखा के सदस्य वहाँ की प्रचलित भाषा में पत्रादि लिखेंगे। स्वदेश प्रेमी और मातृभाषानुरागी व्यक्तियों का यह परम कर्तव्य है। भारत की पूरी आबादी का लेखा लेने पर यहाँ के बहुत थोड़े ही लोग अँगरेजी जाननेवाले मिलते हैं। अत: देश की प्रचलित भाषा में ही सभा की कार्यवाहियाँ उचित हैं। विभिन्न प्रदेशों के लोग आपस में हिंदी (लाचारी अँगरेजी) में पत्र-व्यवहार करेंगे।

श्री राजनारायण बसु ने हिंदू-राष्ट्रीयता की दृष्टि से

हिंदी को व्यापक बनाने पर जोर दिया। बसु महोदय ने उस समय भारतीय राष्ट्र की जो परिकल्पना की थी वह उस समय की परिस्थिति से उत्पन्न थी। उन्होंने मद्रास के लोगों से भी हिंदी सीख लेने के लिए अनुरोध किया था।

श्री गुहराय ने अपने उक्त लेख में टिप्पणी करते हुए एक स्थान पर लिखा है—

> जिन तीन बंगालियों के दिमाग में हिंदी को सर्वजनीन भाषा बनाने की कल्पना पहलेपहल आई थी वे वरेण्य व्यक्ति सम-सामयिक थे। विचारने की बात यह है कि उनके समय भी बँगला भारतीय भाषाओं में समृद्ध थी, फिर भी समग्र जाति के लाभार्थ अपनी मातृभाषा के लिए उन्होंने कोई दावा पेश नहीं किया, क्योंकि उन्हें मालूम था कि हिंदी बोलनेवालों की संख्या अन्यान्य भाषा-भाषियों से कहीं अधिक है। खास कर हिंदीभाषी हलकों के अतिरिक्त अन्य हलकों में भी हिंदी का थोड़ा-बहुत प्रचलन है।

श्री नगेंद्रकुमार गुहराय की टिप्पणी पर विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भी बंगाल के विप्लवकारी नेताओं ने, जिनमें श्री अरविंद घोष, श्री चारुचंद्र दत्त, श्री सुबोधचंद्र बसु मल्लिक आदि प्रमुख हैं, हिंदी को भारत की सामान्य भाषा के रूप में चलाने की चेष्टा की थी। उनके द्वारा गठित तथा परिचालित युगांतर-दल में हिंदी की शिक्षा अनिवार्य थी। कई स्थानों में उन्होंने हिंदी की निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध किया था। वे यह अच्छी तरह समझते थे कि हिंदी एक भारतव्यापी भाषा है और भारतव्यापी आंदोलन के लिए हिंदी भाषा को माध्यम के रूप में ग्रहण करना आवश्यक है। हम चाहते हैं कि बंगाल के पूर्व-अधिनायकों ने राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए भारतीय एकता के नाम पर जो कुछ किया उसे आज बंगाल के लोग न भूलें।

२. राष्ट्रभाषा हिंदी का सामान्य स्वरूप

विगत अप्रैल के तीसरे सप्ताह में भारतीय संसद् में राष्ट्रभाषा हिंदी के स्वरूप के संबंध में प्रकारांतर से जो प्रश्नोत्तर हुए उनसे हमारे सम्मुख एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित हो गया है। विगत २७ फरवरी १९५४ ई० को केंद्रीय शिक्षा-मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले की शिब्ली अकादमी को हिंदी का एक शब्दकोश तैयार करने के लिए ६०००० साठ हजार रु० का एक अनुदान दिया है। संसद्-सदस्य डॉ० सत्यनारायण सिंह ने लोक-सभा में ता० १८ अप्रैल को केंद्रीय शिक्षा-विभाग से इस अनुदान के संबंध में एक प्रश्न पूछा। लोक-सभा में उस दिन प्रश्नोत्तर के समय मौलाना आजाद उपस्थित नहीं थे। प्रश्न का उत्तर उनके संसदीय सचिव श्री मनमोहन दास दे रहे थे। एक पूरक प्रश्न करते हुए डॉ० सत्यनारायण सिंह ने पूछा—'क्या मैं पहलुआ से पूछ सकता हूँ कि विच-विंदी खोली में शिब्ली अकादमी का कभी जिक्र आया था?' इस पूरक प्रश्न को सुनकर संसदीय सचिव निरुत्तर हो रहे, पर सभा में इस प्रश्न की भाषा को लेकर एक सनसनी फैल गई। लोक-सभा के अध्यक्ष ने 'शांति! शांति' कहकर शांति स्थापित करने की चेष्टा की और प्रश्नकर्ता से पूछा—'आपका प्रश्न क्या है?' क्योंकि इस प्रश्न की भाषा ही ऐसी थी जिसे कोई समझ नहीं पा रहा था। अध्यक्ष के पूछने पर डॉ० सत्यनारायण सिंह ने कहा—'पहलुआ' का अर्थ होता है प्राइम मिनिस्टर या प्रधान मंत्री, 'विच-विंदी खोली' का अर्थ है सेंट्रल केबिनेट या केंद्रीय मंत्रि-मंडल! एक संस्था को साठ हजार रु० इन शब्दों को गढ़ने तथा हिंदी को शीर्षासन कराने के लिए दिए गए हैं। ये शब्द ही पंद्रह साल बाद काम में आवेंगे। मैंने सोचा, इनका इस्तेमाल कर दूँ जिससे ये आलमारियों में ही बंद पड़े न रह जायँ।

इसके बाद प्रश्नों के कार्यक्रम के अनुसार अध्यक्ष दूसरा प्रश्न उठाना ही चाहते थे कि डॉ० सत्यनारायण सिंह ने फिर अपने मूल प्रश्न के संबंध में पूरक प्रश्न पूछने की अनुमति चाही। अध्यक्ष ने अनुमति दी, किंतु अपना यह अभिमत प्रकट किया—'यह स्थान शब्द रचना पर टिप्पणी करने का नहीं है। सदस्य ऐसी भाषा बोलें जिसे हम सब समझ सकें।'

इसपर डॉ० सत्यनारायण सिंह ने कहा—'महाशय, मैं हिंदी ही बोल रहा था।' इतना कहकर डॉ० सिंह ने फिर पूछा—'क्या शिब्ली अकादमी के फिरकापरस्त होने की शोहरत है?'

इस प्रश्न को सुनकर मौलाना आजाद के संसदीय सचिव श्री मनमोहनदास अपने स्थान पर ज्यों के-त्यों बैठे ही रहे। प्रधान मंत्री नेहरू सभा भवन में उपस्थित थे। उन्होंने तुरंत उठकर कहा—'यह सवाल की शक्ल में

इसनाम है जो नामुनासिब बात है। लेकिन जवाब माँगा गया है तो मैं कहूँगा कि यह हिंदुस्तान में, और किसी क़दर एशियाई मुल्कों में मशहूर अकादमी है और इसने आजादी की तहरीक में हिस्सा लिया है।'

शिबली अकादमी द्वारा प्रस्तुत शब्दकोश की चर्चा लोक सभा में हुई और इसी सप्ताह में ता० २२ अप्रैल को राज्य परिषद् में केंद्रीय पुनर्वासमंत्री श्री अजित प्रसाद जैन से परिषद् के सदस्य श्री प्रफुल्ल भजदेव ने पुनर्वास-योजना के संबंध में एक प्रश्न पूछा—'क्या मंत्री महोदय से मैं यह जान सकता हूँ कि २८ नवंबर से, जब से यह योजना प्रकाशित की गई, उच्च कोटि के पूर्ववर्तित अयोग्य शरणार्थियों की संख्या क्या है जिन्हें अबतक सामयिक क्षतिपूर्त्ति दी गई है?'

इस प्रश्न को सुनकर पुनर्वास मंत्री श्री अजित प्रसाद जैन ने कुछ ऐसी भावभंगी दिखाई जिससे यह आभासित हुआ कि प्रश्न उनकी समझ में अच्छी तरह नहीं आ सका है। परिषद् के प्रश्नकर्त्ता सदस्य श्री भजदेव का स्वर कुछ मंद भी था, इसपर अध्यक्ष ने कहा कि यह हिंदी उनकी समझ से ऊँची है, तो, साम्यवादी नेता श्री सुंदरैया ने अध्यक्ष से पूछा कि वे हिंदी में बोल रहे हैं या कोई नई भाषा गढ़ी जा रही है? श्री भजदेव ने उत्तर दिया—'मैं संविधान द्वारा निश्चित हिंदी में बोल रहा हूँ।'

राष्ट्रभाषा हिंदी के नाम पर, उसके स्वरूप के संबंध में, अनेक प्रकार के विचार हमारे सामने हैं। प्रत्येक व्यक्ति की शैली भिन्न भिन्न होती है, पर भाषा के जिस स्वरूप पर विभिन्न शैलियाँ आधारित होंगी उसको निश्चित तथा स्थिर करने का प्रयत्न अवश्य होना चाहिए। हमारे लिए न तो शिबली अकादमी का बनाया हुआ शब्दकोश उपयोगी है और न डा० रघुवीर का। दोनों की दो दिशाएँ हैं और प्रतिकूल दिशाएँ हैं। जहाँ तक डा० रघुवीर के शब्दकोश का प्रश्न है, उन्होंने भारतीय संविधान द्वारा निर्देशित यथासंभव संस्कृत भाषा तथा उसके व्याकरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया को ही आधार माना है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कोई भी शब्द सरल या कठिन नहीं होता, शब्द की सरलता या कठिनता उसके व्यवहार या प्रयोग पर निर्भर करती है। कठिन से-कठिन माने जाने-वाले शब्द बराबर व्यवहार करने पर सरल माने जाने लगते हैं। पारिभाषिक शब्द साधारणतः नित्य के व्यवहार में नहीं आते, इस कारण जन समाज का साथ ऐसे शब्दों का परिचय घनिष्ठ नहीं रहता। खेद की बात यह नहीं है। हिंदी के अतिवादी 'दोस्त-दुश्मन' जब पारिभाषिक शब्दों के मेल में साधारण बोलचाल के शब्दों को हटा कर उनके अप्रचलित प्रतिरूपों को, चाहे वे संस्कृत से लदी हिंदी के हों या अरबी-फारसी से दबी उर्दू के, बैठाने लगते हैं तब राष्ट्रभाषा हिंदी के सामान्य स्वरूप की समस्या उठ खड़ी होती है। इस समस्या का समाधान दोनों दिशाओं के अतिवाद को छोड़ने पर ही संभव है।

३. कांग्रेस-कार्य-समिति के हिंदी संबंधी निर्णय

विगत ४ ५ अप्रैल, १९५४ ई० को नई दिल्ली में कांग्रेस-कार्य समिति की बैठकों में हिंदी संबंधी जो निर्णय हुए वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। अबतक अखिलभारतीय सेवाओं की परीक्षाओं में राष्ट्रभाषा हिंदी को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इस दिशा में कांग्रेस कार्य समिति ने निर्णय कर केंद्रीय सरकार से यह सिफारिश करने का विचार किया है कि अब अखिलभारतीय सेवाओं की परीक्षाओं में उत्तरोत्तर हिंदी तथा अन्य प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं को माध्यम के रूप में स्वीकृत किया जाय। उम्मीदवारों को यह स्वतंत्रता रहनी चाहिए कि वे उच्च परीक्षाओं में हिंदी, अँगरेजी या अन्य प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं का व्यवहार करें। जो उम्मीदवार हिंदी या किसी प्रादेशिक भाषा का व्यवहार करें उनकी परीक्षा, अलग से, अँगरेजी में भी ली जाय। यह सच है कि एक निश्चित अवधि तक अँगरेजी को छोड़ना सरल नहीं है और इसके लिए, हिंदी या प्रादेशिक भाषा के अतिरिक्त, कुछ व्यवस्था रखनी पड़ेगी।

स्कूल और कालेज की शिक्षा के माध्यम के बारे में यह सिफारिश की गई कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को अनिवार्य माना जाय, किंतु हिंदीभाषी क्षेत्र में किसी अन्य भारतीय भाषा का अध्ययन भी आवश्यक माना जाना चाहिए। भाषा के आधार पर मानी जानेवाली एकता के लिए भारतीय भाषाओं का पारस्परिक ज्ञान एक उचित दिशा का संकेत है। हिंदी के प्रति उठाये हुए विरोध के शमन का यह एक शांतिपूर्ण तथा व्यावहारिक उपाय है। यदि भारत की एक प्रादेशिक भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के बदले में अँगरेजी हमें छोड़ना पड़े तो यह बहुत सस्ता

और लाभदायक होता है। अँगरेजी एक विशिष्ट भाषा है, उसका साहित्य बहुत विकसित तथा पुष्ट है, यह एक भिन्न प्रश्न है और इस विचार से अँगरेजी भाषा तथा उसके साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना बुरा नहीं है। अँगरेजी उसी स्थिति में बुरी मानी जा सकती है जब वह हमारे ऊपर ऐच्छिक नहीं, अनिवार्य रूप से लादी जाय।

काँग्रेस-कार्य समिति ने यह भी सिफारिश की कि प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रहे, माध्यमिक स्तर की शिक्षा प्रादेशिक भाषा में दी जाय, किंतु हिंदी को इस स्तर के लिए एक अनिवार्य विषय माना जाय। विश्वविद्यालय में प्रादेशिक भाषा को ही स्थान मिलना चाहिए किंतु विद्यार्थियों को स्वेच्छा से हिंदी का अध्ययन करने की छूट रहनी चाहिए। वैज्ञानिक तथा यांत्रिक शिक्षा के लिए धीरे धीरे क्रमिक रूप से अँगरेजी से हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की ओर बढ़ना चाहिए।

अखिलभारतीय सेवाओं की परीक्षाओं तथा विभिन्न स्तर की शिक्षा के माध्यम के संबंध में काँग्रेस कार्य-समिति ने निर्णय कर केंद्रीय सरकार से सिफारिश करने का जो विचार किया है उसका हम समर्थन करते हैं और यथासंभव शीघ्र उसे कार्यरूप में परिणत होते देखना चाहते हैं।

काँग्रेस कार्य समिति ने इसी बैठक में एक और महत्त्वपूर्ण निर्णय किया है जिसकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। केंद्रीय शिक्षा मंत्री मौलाना आजाद ने सरकारी कामकाज में राष्ट्रभाषा हिंदी को प्रयुक्त करने के बारे में एक योजना प्रस्तुत की है जिसपर कार्य समिति ने अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी है। पंद्रह वर्षों की अवधि जो भारतीय संविधान में अँगरेजी के लिए रखी गई है, मौलाना आजाद की योजना में पाँच-पाँच वर्षों के तीन खंडों में बाँटी गई है। इन तीनों खंडों की अवधि में राष्ट्रभाषा हिंदी को क्रम क्रम से जितना स्थान दिया गया है वह सोलह वर्ष हिंदी को राजकाज के लिए स्वतंत्र प्रतिष्ठा देने में समर्थ नहीं हो सकेगा। इस योजना के अनुसार सोलहवें वर्ष में भी हिंदी पूरी तरह राजमहिषी नहीं बन सकेगी, परिचारिका की तरह नहीं, बल्कि अभिभाविका के रूप में अँगरेजी उसका पल्ला पकड़े ही रहेगी। इस योजना पर हमें आपत्ति है और राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रेमियों को इसका विरोध करना चाहिए।

४. अमृत बम क्या संभव नहीं ?

विगत २२ अप्रैल को टोकियो से रूटर का एक समाचार प्रकाशित हुआ है कि एक जापानी डॉक्टर प्रोफेसर मिचियो यनामोतो ने आज बताया कि सन् १९४५ ई० में हिरोशिमा पर हुई परमाणु बम-वर्षा में परमाणु-किरण से बुरी तरह घायल होनेवाले तीन व्यक्ति निराशा में बहुत शराब पीकर बिलकुल स्वस्थ हो गए हैं।

डॉ० मिचियो ने खोज के बाद यह पता लगाया है कि परमाणु-किरण से पीड़ित होनेवालों के लिए सुरापान प्रभावशाली औषध है। तीनों व्यक्तियों ने डॉक्टर को लिखा था कि वे जीवन से इतने निराश हो चुके थे कि उन्होंने अत्यधिक शराब पीना शुरू कर दिया। कुछ दिनों के बाद ही उन्होंने देखा कि उनके बालों का उड़ना, दाँतों का हिलना और उनके शरीर के छिद्र दूर हो गए।

यदि रूटर के इस समाचार में सत्यता है तो इसपर विचार करने की आवश्यकता है। जिन राष्ट्रों को लड़ाई की प्यास बेतरह सता रही है वे तरह तरह के वैज्ञानिक बम, करोड़ों-अरबों रु० खर्च कर, बनवा रहे हैं। वे राष्ट्र शायद यह नहीं जानते कि जिन विनाशकारी तथा प्रलयंकर बमों का निर्माण वे दूसरों का संहार करने के लिए कर रहे हैं उनसे उनका कल्याण भी होनेवाला नहीं है। आज के वैज्ञानिक युग में भौतिक शक्ति का कोई अंत नहीं, इसी कारण एक राष्ट्र की अपेक्षा दूसरा राष्ट्र वैज्ञानिक करिश्मे दिखलाकर संसार को संत्रस्त करने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रतियोगिता में एक ओर अमेरिका है तो दूसरी ओर रूस। अन्यान्य छोटे-बड़े राष्ट्र जो युद्ध में विजय प्राप्त करने की आशा रखते हैं या युद्ध से शांति स्थापित करने में विश्वास रखते हैं, अनेक प्रकार के वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों की तैयारी में लगे हुए हैं। वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों की यह प्रतियोगिता संसार को किस ओर लिए जा रही है, इसका पता शायद प्रलय-काल में ही लग सकेगा।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने एटम बम बनाया और गत द्वितीय महायुद्ध में जापान पर उसका प्रयोग किया। जापान ध्वस्त हो गया और युद्ध के लिए तत्काल वह फिर उठ न सका। इसका निष्कर्ष यह निकाला गया कि एटम बम या ऐसी ही शक्तिशाली बमों के आतंक से युद्ध रोका जा सकता है। यह निष्कर्ष बहुत भ्रामक है। एटम बम

की तथाकथित सफलता ने हाइड्रोजन बम बनाने पर जोर दिया। जब अमेरिका और रूस दोनों ने हाइड्रोजन बम बना लिए तब दोनों लगभग बराबर शक्तिशाली हो गए। प्रतियोगिता में सन्तुलन नहीं रखा जाता। रूस ने यह समाचार प्रकाशित कराया कि उसने हाइड्रोजन बम से भी अधिक शक्तिशाली नाइट्रोजन बम बनवा लिया है। अमेरिका के लिए भी इससे पीछे रहने की बात नहीं है। अमरिका का ताजा समाचार है कि वहाँ कोबॉल्ट बम का निर्माण किया जा चुका है। यह कोबॉल्ट बम क्या बला है, इसके बारे में भी थोड़ी जानकारी जरूरी है। दूसरे प्रकार के बमों का प्रभाव बहुत कुछ सीमित तथा मनुष्यों पर ही विशेष रूप से पड़ता है, किंतु कहा जाता है कि एक एक टन के चार सौ कोबाल्ट बम इस पृथ्वी पर के समस्त जीवधारियों का विनाश करने में समर्थ हैं। कोबॉल्ट बम के फूटने पर जो वाष्प निकलेगा वह रेडियो सक्रिय बादल का रूप धारण करेगा और हवा के झोंके से वह बादल जिधर उड़ेगा उधर कोई जीवधारी जीवित नहीं बच सकेगा। आश्चर्य की बात यह है कि समझने लायक बात होने पर भी युद्ध की तयारी में लगे राष्ट्र इसको समझने की परवाह नहीं करते। रूस या जापान पर गिराये गए कोबॉल्ट बम के रेडियो सक्रिय बादल हवा में उड़ते हुए संयुक्त राष्ट्र अमरिका तक नहीं पहुँचेंगे, इसकी क्या गारंटी है।

यह क्षति की एक सीमा है। अब यहाँ से प्रत्यावर्त्तन आवश्यक है। जहाँ एक एक मनुष्य के जीवन का मूल्य है वहाँ सारे संसार के जीवधारियों का संहार करने की तयारी करनेवाले दानव वैज्ञानिक और उनके आश्रयदाता राष्ट्र के लिए धिक्कार के अतिरिक्त दूसरा कोई दंड नहीं दिया जा सकता।

हम चाहते हैं, और हम यह समझते हैं कि संसार के प्रत्येक शांतिप्रेमी व्यक्ति की यह कामना होगी कि प्रलयंकर बमों के विनाशकारी प्रभाव से बचने के लिए ऐसे अमृत बम का भी निर्माण होना चाहिए जिससे संसार के समस्त जीवधारी जीवित बने रह सकें। विज्ञान का कोई आविष्कार मृत्यु को रोक नहीं सकता, हम ऐसा चाहते भी नहीं, किंतु संसार को अकाल-मृत्यु से बचाने के लिए विज्ञान की सेवाएँ अवश्य मिलनी चाहिए। युद्ध पिपासु राष्ट्र शायद ऐसे अमृत बम के निर्माण में दिलचस्पी न लें, किंतु भारत-जैसे शांति-कामी राष्ट्र को इस दिशा में और इस क्षेत्र में अवश्य ही आगे बढ़ना चाहिए और इसके निर्माण के लिए संसार भर के वैज्ञानिकों को भारत का निमंत्रण मिलना चाहिए। क्या विज्ञान की ऐसी सेवा दुनिया को मिल सकेगी?

५. हिंदी का प्रचार कौन करे?

एक कन्नड़भाषी हिंदी सेवक ने हिंदी का प्रचार कार्य अहिंदीभाषियों पर छोड़ देने के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण विचार काशी के दैनिक 'आज' में प्रकाशित कराये हैं। यह बात तो प्रायः मान ही ली गई है कि हिंदी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने की भावना सबसे पहले अहिंदीभाषाभाषियों के हृदय में ही उत्पन्न हुई। बंगाल तथा गुजरात के महापुरुषों ने इस कार्य में महत्त्वपूर्ण योग दिया। आज दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार का जो कुछ कार्य हो रहा है उसमें उत्तर भारत के दस-पाँच कार्यकर्त्ता भले ही सहयोग दे रहे हों, किंतु हजार हजार हिंदी प्रेमियों को हिंदी की शिक्षा देने का काम बाहर के दस-पाँच व्यक्ति नहीं कर सकते। ऐसा होना भी नहीं चाहिए। हिंदी के प्रचार में अहिंदी भाषाभाषियों ने बहुत बड़ा योग दिया है। यह उनके योगदान का ही परिणाम है कि भारत में हिंदी का इतना अधिक प्रचार हो सका।

कन्नड़भाषी हिंदी सेवक ने लिखा है—

आजकल राजभाषा हिंदी के विकास की समस्याओं पर देश में फिर से चर्चा छिड़ी है। भारत-सरकार की ओर से देश में हिंदी के विकास के लिए अबतक जो कार्य हुआ है और अब जो किया जा रहा है उसकी गतिविधि को देखते हुए बहुत-से लोगों के मन में यह शंका पैदा होने लगी है कि संविधान के निर्देशानुसार पंद्रह साल के अंदर हिंदी अँगरेजी का स्थान लेने के लिए समर्थ नहीं बन सकेगी। इस संबंध में काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की हीरक जयंती के अवसर पर आयोजित राष्ट्रभाषा प्रचार-सम्मेलन में दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए। पहला यह था कि हिंदी के विकास के कार्य का संचालन करने के लिए केंद्रीय सरकार में एक अलग मंत्रालय की रचना हो और दूसरे प्रस्ताव द्वारा अहिंदी प्रदेश के लोगों को यह आश्वासन दिया गया कि हिंदी के प्रचार से प्रादेशिक भाषाओं के पूर्ण विकास में किसी प्रकार की बाधा पड़ने नहीं पायेगी। उक्त प्रस्तावों पर जितने भाषण हुए उनमें काफी संयम था और साथ ही प्रस्तावों की भाषा भी सद्भावना-युक्त थी। निःसंदेह यह

कहा जा सकता है कि इन प्रस्तावों का देश की जनता पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

जहाँ तक राष्ट्रभाषा या राजभाषा का प्रश्न है, यह एक विचारणीय बात है कि उसका संबंध केंद्रीय या राज्य सरकार के शिक्षा विभाग के साथ किस प्रकार का होना चाहिए। राज्य सरकार साधारणतः राजभाषा का संबंध अपने नियुक्ति तथा राजनीति विभाग से रखती है जो एक प्रकार से उचित ही माना जा सकता है। राज्य-सरकार में राजभाषा का अलग विभाग बने और केंद्रीय सरकार में इसके लिए अलग मंत्रालय बने, यह प्रयत्न अवश्य होना चाहिए। केवल शिक्षा विभाग के भरोसे रहने पर इस कार्य में यथेष्ट प्रगति नहीं आ सकती। प्रादेशिक या राजभाषा के क्षेत्र पर राष्ट्रभाषा का अनुचित प्रभाव भी नहीं पड़ना चाहिए। इसपर कोई विवाद नहीं होना चाहिए। प्रत्येक प्रादेशिक या क्षेत्रीय भाषा को अपने क्षेत्र में उन्मुक्त विकास का अवसर मिलना अपेक्षित है। इससे राष्ट्रभाषा हिंदी का संवर्द्धन ही होगा, ऐसा समझना चाहिए। हिंदी के साथ किसी प्रादेशिक भाषा की प्रतियोगिता या प्रतिद्वंद्विता नहीं है, यदि किसी भाषा के साथ प्रतिद्वंद्विता है तो वह बहुत हदतक अँगरेजी के साथ ही है। कन्नड़भाषी हिंदी-सेवक ने फिर लिखा है—

> मैं एक अहिंदी भाषाभाषी और हिंदी का विद्यार्थी तथा सेवक हूँ। यहाँ पर मैं अपने कुछ विचार प्रकट करना चाहता हूँ और आशा करता हूँ कि हिंदी भाषा-भाषी मेरी धृष्टता के लिए मुझे क्षमा करेंगे।
>
> सबसे पहली बात यह है कि हिंदी के विकास के संबंध में न किसी को किसी पर संदेह प्रकट करने की जरूरत है, न किसी को किसी पर नाराज ही होना चाहिए। क्योंकि हिंदी को राजभाषा बनने का गौरव किसी बाहरी शक्ति के दबाव के कारण नहीं मिला है। यह तो भारत की महान् सांस्कृतिक परंपरा के कारण ही प्राप्त हुआ है और राष्ट्र की सारी चेतना की अदम्य शक्ति हिंदी को प्राणवान बनाती आ रही है जिसकी गति कुंठित करने की दूसरी कोई शक्ति अब दुनिया में नहीं है। हिंदी में क्या शक्ति है—यह जानना हो तो अहिंदी प्रांतों में हिंदी के प्रचार का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। अगर अहिंदी भाषी साठ साल की एक वृद्धा स्त्री मरने के पहले हिंदी की विशारद परीक्षा पास करना चाहती हो और अगर पंद्रह साल की लड़की के विवाह के लिए उसका हिंदी जानना अनिवार्य-सा हो गया हो तो इसीसे समझ लेना चाहिए कि अहिंदी प्रांतों के लोक-जीवन में हिंदी का क्या स्थान है। अत हिंदी के विकास के बारे में भय प्रकट करना राष्ट्रीय चेतना का सच्चा स्वरूप न जानना ही है।
>
> मेरे उपर्युक्त कथन का यह मतलब नहीं है कि हिंदी का विरोध कहीं नहीं हो रहा है। हिंदी विरोधी शक्तियाँ बहुत-सी हैं और समय-समय पर कई रूपों में ये सिर उठाने की कोशिश कर रही हैं। इन शक्तियों का अवश्य ही मुकाबला करना चाहिए और जल्दी उनका अंत भी कर डालना चाहिए, लेकिन इस कार्य में अत्यंत सावधानी और संयम की आवश्यकता है। इस संयुक्त मोरचे में अहिंदी भाषा-भाषी और हिंदी-भाषी अपने-अपने कार्यस्थान और अपने अपने हथियारों का स्पष्ट निर्देश कर लें,—यह आवश्यक है। हमारी अल्प बुद्धि को यह अत्यंत आवश्यक जँचता है कि राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचार और प्रसार का नेतृत्व हिंदीभाषी स्वयं न लेकर उसका श्रेय अहिंदीवालों को ही दे दें। हिंदी-प्रचार का इतिहास इसका साक्षी है कि देश में हिंदी का प्रचार अहिंदी-भाषा-भाषियों द्वारा ही चला है और ऐसा होने से ही इस कार्य में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है।

कन्नड़भाषी हिंदी-सेवक के विचार हिंदी-हित की दृष्टि से ही अभिव्यक्त किए गए हैं, इसमें संदेह की बात नहीं है। अत प्रेरणा या प्रतीति की पद्धति से जिस विषय का बोध होता है उसमें स्वाभाविक अभिरुचि का एक बड़ा गुण आ जाता है, बाहर के प्रयत्न से या अनुचित दबाव से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जो उद्देश्य को ही नष्ट कर देती है।

हिंदी-क्षेत्र के निवासियों के ऊपर उचित रीति से ही

एक दायित्व आ जाता है। यदि हिंदी के साथ भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं और उनके साहित्य का सम्मिलन कराना है, और अवश्य कराना है तो हिंदीवालों को भारत की अहिंदी भाषा सीखनी चाहिए और अहिंदी-भाषी को हिंदी भाषा सीखने के लिए उचित सुविधाएँ देनी चाहिए। इस संबंध में कन्नड़भाषी हिंदी सेवक ने अपने लेख के अंत में बहुत ही उचित कहा है—

> हिंदी के प्रति अहिंदी भाषों के लोगों की सच्ची सहानुभूति प्राप्त करने के और भी कई तरीके हो सकते हैं। हिंदी प्रदेश के शिक्षाक्रम में अहिंदी प्रदेशों की भाषा और साहित्य के अध्ययन के लिए आवश्यक प्रबंध होना चाहिए। कम-से-कम विश्वविद्यालय के शिक्षास्तर में अहिंदी प्रदेश की किसी एक भाषा का अध्ययन करना अनिवार्य होना चाहिए। ऐसी व्यवस्था से राष्ट्रीय जीवन पर गहरा और स्थायी असर पड़ेगा।
>
> और भी एक कार्य होना चाहिए। हिंदी प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों में हिंदी में उच्च शिक्षा देने की विशेष व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसे विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाय, साथ ही हरएक विश्व विद्यालय में कुछ छात्र-वृत्तियाँ देने का प्रबंध भी रहे। इस योजना से न केवल विभिन्न प्रदेशों के लोगों के सांस्कृतिक जीवन में समरसता आ जायगी, बल्कि हिंदी में राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण के लिए अनुकूल भूमि भी तैयार हो जायगी।

कन्नड़भाषी हिंदी-सेवक के विचार के अनुसार राष्ट्रभाषा हिंदी के संबंध में हमारे कर्त्तव्यों का बँटवारा कर दिया गया है। जहाँ तक हिंदी के प्रचार का प्रश्न है, यह भार अहिंदीभाषा भाषियों के ऊपर रहे और जहाँ तक हिंदी के साहित्य के विकास की बात है—इसका दायित्व हिंदी भाषी के ऊपर रहे। यह बँटवारा बहुत बुरा नहीं है, किंतु इस बँटवारे के अनुसार अपने कर्त्तव्य की निश्चित सीमा बाँधना स्वाभाविक तथा उचित नहीं है। अपनी भाषा के प्रति मोह की बात छोड़ भी दें तो अहिंदी भाषा-भाषी प्रतिभा से हिंदी साहित्य को अपरिचित रखना बुद्धिमानी की बात नहीं है। हम चाहते हैं कि अहिंदी-भाषाभाषी हिंदी के प्रचार का मुख्य दायित्व अवश्य लें और अपनी प्रतिभा से हिंदी-साहित्य को भी अधिकतर विकसित तथा गौरवान्वित करें।



अर्चना

श्री आरसीप्रसाद सिंह

साधना मेरी अमर हो!
देव! मेरी कंठ-वीणा में
तुम्हारा दिव्य स्वर हो!
साधना मेरी अमर हो!

अश्रुजल से धुल रहा
अभिमान का अंजन नयन में!
जागती है अर्चना की
ज्योति जड़-कारा गहन में!
प्रेम के अरविंद-दल पर
गूँजता मन का भ्रमर हो!
साधना मेरी अमर हो!

वेदना का सिंधु मथकर
बढ़ चले नव चेतना-रथ!
प्रिय! तुम्हारा हास कोमल
रश्मि से भर दे विजन-पथ!
हो तुम्हारी जय, विजय में
एक दिन परिणत समर हो!
साधना मेरी अमर हो!

वासना गलकर तुम्हारी
शक्ति बनती जा रही है!
मर्म की ध्वनि विश्व की
अभिव्यक्ति बनती जा रही है!
दृष्टि हो सम्मुख सदा,
शिर पर तुम्हारा अभय कर हो!
साधना मेरी अमर हो!

किस शिखर को लाँघने
जाने न, चिर-यात्री चला है?
दीप प्राणों का मधुर
उद्दाम झंझा में जला है!
एक करुणा ही तुम्हारी
मात्र सबल, विघ्नहर हो!
साधना मेरी अमर हो!

★

आधुनिक यूरोपीय उपन्यासों में कुछ नूतन प्रयोग

डॉ० देवराज उपाध्याय

यूरोपीय उपन्यास-साहित्य की गतिविधि पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह तीन युगों को पार कर अब चौथे में पदार्पण कर रहा है। दर्शन, इतिहास और नीति निबंधों से पृथक् होकर जब उपन्यासों ने स्वतन्त्ररूप से साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया और अपनी पृथक सत्ता की घोषणा की, तब से दो शताब्दियाँ बीत गईं और अब बीत गए चार युग। इस अवधि में उपन्यास को अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए न जाने कितने युद्ध करने पड़े हैं, कितनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से होकर अपने पथ का निर्माण करना पड़ा है। इसका इतिहास बड़ा ही मनोरंजक है और कितनी ही दृष्टियों से शिक्षा-प्रद भी, और वह भी बीसवीं शताब्दी के प्रबुद्ध, जागरित, बौद्धिक मानव के लिए। बीसवीं सदी के बुद्धिवादी मानव, तर्कप्रधान मानव, सब चीज को बुद्धि की पैनी छुरी से काट छाँट कर देखने वाले विश्लेषक मानव की विशिष्टता क्या है? आज हमारा युग किस बात में और किस बात को लेकर अपने पूर्ववर्ती युग से एकदम पृथक् हो गया है? इसका उत्तर है अपनी क्रियाओं का सूक्ष्म ज्ञान और उस ज्ञान की अभिव्यक्ति। पहिले के मनुष्य में भी ज्ञान था पर वह ज्ञान होता था किसी सिद्ध वस्तु का, पदार्थ का—जो हो गई है अथवा हो गया है। अतः ज्ञान भी सिद्ध होता था। उसका साहित्य में वर्णन होता था उस घटना के माध्यम से जो घटित है अथवा घट चुकी है। अतः साहित्य में वर्णनात्मकता होती थी, व्याख्या (exposition) होती थी और होता था चरित्रचित्रण। पर आज का मानव उस अवस्था को जानना चाहता है जो हो रहा है, जो होने की अवस्था में है, जो प्रवाहमान है जिसका कोई निश्चित रूप या आकार नहीं। आज का युग चूँकि उस प्रवाह को, तारतम्य को, सातत्य को ही अपने चिंतन का केंद्र बना रहा है अतः उसका साहित्य भी एक विचित्र अभूतपूर्व ढाँचे में ढलकर हमारे सामने आ रहा है।

पहले हम जी लेते थे, तत्पश्चात् उसकी अभिव्यक्ति करते थे। आज जीने के साथ ही उसकी जाँच पड़ताल तथा उसे अभिव्यक्त करने का भी हमारा प्रयत्न होता जा रहा है। पहिले हम जीवित कवि के बारे में कुछ सुनना ठीक नहीं समझते थे (जीवित कवेरार्थो न वक्तव्य)। आज भी किसी किसी विश्वविद्यालय में यह प्रथा सी है कि किसी भी लेखक या कवि पर तबतक शोध कार्य करने की अनुमति नहीं दी जाती जब तक वह तीन सौ वर्ष पुराना न हो। पर अब हम अपने सहवर्ती लेखक क्या, अपनी ही खाल उधेड़कर देखने में मजा लेने लगे हैं, काट-छाँट करने लगे हैं। हम अपने ही obituary notice लेने लग गए हैं। जोड ने अपनी मौत पर अपने बारे में लिखा। जैनेंद्र ने स्वय अपनी मौत पर लिखा। इतना ही नहीं अमेरिका में बहुत-से पुस्तकालय हैं जिनमें बड़े-बड़े लेखकों के कागज के टुकड़े, उनकी बनाई रूपरेखा की मौलिक प्रति, अव्यवस्थित रूप में लिखे गए रफ ड्राफ्ट, एक पंक्ति इधर, एक पंक्ति उधर, कटकुट किए पन्ने, पंक्तियों के बीच में अथवा हाशिए पर लिखे गए नोट्स इत्यादि को सुरक्षित रखा गया है ताकि हम लेखक के इस पक्ष को देख सकें जिसमें वह बन रहा होता है, जिसमें वह कृत्प्रत्यय का विषय न रहकर शतृ और शानच का आलम्बन होता है जिसमें वह बना बनाया लेखक या कलाकार नहीं होता पर writer in making होता है। आजकल लेखकों के द्वारा अपनी रचनाओं के संबंध में जो लंबे-लंबे वक्तव्य निकलते हैं वे एक ही बात के द्योतक हैं कि आज मानव का ध्यान नदी से अधिक उसकी तरंग की ओर, प्रवाह की ओर अधिक है। वह उस घटना का वर्णन करना चाहता है जो अभी घटित हो रही है, जिसे अंग्रेजी के कुछ शब्दों के सहारे कह सकते हैं—describe a happening while it is still happening. यूरोपीय उपन्यास आज यही कर रहा है। उसमें वाह्यनिष्ठा के स्थान पर आत्मनिष्ठता आ गई है। वह 'अस्ति' 'आसीत्' से हटकर 'सन्'

के क्षेत्र में आ गया है। एक शब्द में इन दो सौ वर्षों के यूरोपीय उपन्यास-साहित्य का इतिहास 'आसीत' से 'अस्ति' और 'अस्ति' से 'सन्' की संघर्ष की कथा है। सन् की इस विजय के लिए उसको कैसे कैसे पैंतरे बदलने पड़े हैं, कैसे कैसे हथियारों को बदलना पड़ा, कैसी कैसी मोर्चा-बंदियाँ करनी पड़ीं और किन किन मित्रों से सहायता लेनी पड़ी, किन किन रचना पद्धतियों का आश्रय लेना पड़ा है—इसपर विचार करना हमारे लिए कम कौतूहल-प्रद और ज्ञान-संवर्द्धक न होगा।

उपन्यास की वंशावली तो अंधकार में है। यह कहना कठिन है कि इसका आदि-पूर्वज कौन है। इसके जन्म मुहूर्त का भी ज्ञान निश्चित नहीं है। नहीं तो ग्रहों की गणना कर इसके भविष्य का पता लग सकता। उपन्यास के संबंध में जो परस्पर विरोधी विचार आज प्रगट किए जा रहे हैं वैसी अराजकता न हो पाती। इतना ही कहा जा सकता है कि १७ वीं शताब्दी में उपन्यास वजूद में आ गया था और १८ वीं शताब्दी में रिचार्डसन् फिलडिंग और स्टर्न के द्वारा संवर्द्धन पाकर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर चुका था। पर इतना होने पर भी कथा में इतनी शक्ति का संचार नहीं हो सका था कि वह अपने बल पर ही अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा कर सके, अपनी विशुद्ध कथा-स्वरूप के सहारे जो-कुछ निवेदन करना हो कर सके, पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाल सके, मनोविज्ञान के किसी रहस्य को बतला सके अथवा कोई संदेश या उपदेश दे सके। कथा को सदा कथाकार की अपेक्षा बनी रहती थी, जो कथा को सदा सहायता देता रहे, देखता रहे कि पाठक कथा के वातावरण तथा पात्र के महत्त्व के बारे में उचित और मनोवांछित धारणा बनाए, उसे कहीं भी भ्रम न होने पाए, पात्रों की सफलता और असफलता के आधार पर पाठकों को भ्रामक निष्कर्ष निकालने का अवसर न मिले। जहाँ कहीं इस तरह की शंका की थोड़ी भी गुंजाइश होती थी वहाँ उपन्यासकार झट से आकर स्थिति को सँभाल लेता था। संस्कृत के नाटकों के लिए यह नियम था कि प्रत्येक दृश्य में 'आसन्न-नायक' होना चाहिए अर्थात् कोई भी दृश्य ऐसा न हो जिसमें नायक किसी न किसी रूप में वर्तमान न हो। उसी तरह कहा जा सकता है, ऐसा कोई लिखित नियम भले ही न हो पर, १८ वीं शताब्दी के उपन्यासों के लिए 'आसन्न लेखकत्व' का होना एक तरह से अनिवार्य था।

इस कथन का स्पष्टीकरण प्रसिद्ध उपन्यासकार स्काट (१७७१-१८३२) के उपन्यास Heart of Midlothian के उदाहरण से हो जाएगा। स्काट से उदाहरण देने के दो उद्देश्य हैं—प्रथमतः तो यह कि यह प्रयास लब्ध-प्रतिष्ठ औपन्यासिक है, अधिक दिन नहीं बीते हैं कि वह अंगरेजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार माना जाता था। दूसरा यह कि १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक की प्रवृत्तियों का वह अच्छा प्रतिनिधित्व कर सकता है। उसकी कला को देखकर हम १८ वीं शताब्दी क्या, १९ वीं शताब्दी के प्रथम चरण के कथा साहित्य की प्रवृत्ति का अनुमान कर सकते हैं। दो बहनें हैं Effie और Jeanie। प्रथम अदम्य है, उसके रक्त में उष्णता है, उच्छृंखलता है, सामाजिक प्रतिबंधों की अनुवर्तिता उससे नहीं होती, वह एक लुटेरे को प्यार करती है। दूसरी ठीक उसके विपरीत विक्टोरियन सौजन्य की मूर्ति है—कोमल, सहृदय, समाज के नियमों की अनुवर्तिनी सभ्य नारी। Jeanie का विवाह तो खैर उच्च और कुलीन परिवार में होना ही था और यह एक बड़े मिनिस्टर की धर्मपत्नी बन जाती है। Effie का विवाह भी वैध रूप से अपने प्रेमी के साथ हो जाता है और वह समाज के निम्न स्तर से उठकर उच्च प्रतिष्ठित स्तर में प्रविष्ट भी करा दी जाती है। पर स्काट ने Effie के वैवाहिक जीवन को सुखमय नहीं बतलाया है। वे अपराधी जो थे, वे समाज के प्रति विद्रोही जो थे, पर इतना होने पर भी काजी को शहर का अंदेशा लगा ही है। स्काट को इस बात की चिंता है कि—कहीं कोई असतर्क पाठक, भोली भाली लड़की यह धारणा न बना ले कि Effie का जीवन Jeanie के शांत संतुष्ट जीवन से अधिक स्पृहणीय है। अतः वे बड़े-बड़े अक्षरों में पाठकों को सावधान कर ही देते हैं कि 'मेरी यह कथा व्यर्थ नहीं जायगी यदि वह इस सत्य को प्रगट करे कि पाप से आधिभौतिक समृद्धि भले ही प्राप्त हो जाय। पर वास्तविक सुख की प्राप्ति उससे नहीं हो सकती, कि अपराधों के दुष्परिणाम बहुत दिन बाद भी जीवित रहते हैं—और मृत व्यक्ति भूत की तरह हत्याकारी का पीछा करते हैं, और सत्पथ से चल कर, सांसारिक समृद्धि तो कदाचित् न मिले पर, सुख और शांति तो प्राप्त होती ही है।' यहाँ स्पष्ट है कि रथ को

थोड़ा इधर-उधर जाते देख औपन्यासिक के हाथ से बागडोर छीन कर, दार्शनिक ने, निबन्धकार ने, ऐतिहासिक ने अपने हाथ में ले ली है। वास्तव में बात यह है कि अंगरेजी कथा साहित्य दर्शन या इतिहास की ही शाखा है, वहीं से फूट कर निकला है। विक्टोरियन युग में, जिस युग की कथा हम कह रहे हैं स्वयं स्फूर्त जीवित कथा अंकुरित तो अवश्य हो रही थी पर लेखकों में अपने उत्तरदायित्व का झूठा गौरव भाव वर्तमान था। वे अपनी सुरुचि का प्रदर्शन करने, मानव हृदय के सूक्ष्म ज्ञान का प्रदर्शन करने, अपने साहित्यिक कौलीन्य की धाक जमाने के लोभ से अपने को मुक्त नहीं कर सकते थे। यही कारण था कि स्काट, थैकरे, मेरिडिथ, सबके उपन्यासों में इस निरधारित सामग्री का गहरा पुट है जो कथा को अपनी मौलिक शक्ति का जौहर दिखलाने का अवसर नहीं देते। परिणाम वही होता है जो अधिक मात्रा में पानी मिलाए हुए फीके और निस्वाद शरबत का होता है। यहाँ फीका और निस्वाद आज के पाठक के दृष्टिकोण से कहा जा रहा है। उस युग के पाठक के लिए तो उनमें सुस्वादुता की पराकाष्ठा ही थी। रिचार्डसन और स्काट के उपन्यासों पर सारा यूरोप पागल हो गया था। अश्वत्थामा तो चावल के सफेद घोवन को पीकर ही वैसे उन्मत्त हो गए थे जो दुग्धपान करनेवालों को भी नसीब नहीं था।

एडम बेड—जार्ज इलियट का प्रसिद्ध उपन्यास है। उसमें दो नारियां हैं, Dinah और Hetty। उस युग की औपन्यासिक योजना के अनुरूप ही नमश सज्जन और खल को दो श्रेणियों में फिट बैठनेवाली वे दो नारियां हैं। एक स्थान पर लेखिका लिखती है—'देखो तो भला इस निचित से परिधान में यह माजारी कितनी सुदर दिख रही है। इसके साथ प्रेम में पड़ जाने की मूर्खता कर बैठना किसी व्यक्ति के लिए बड़ा ही सहज है। इसके मुख और ग्रीवा पर घुँघराली चिकुरावली कितने आकर्षक रूप से छाई हुई है। आह! हटी की तरह सुदर कुमारी को पाकर मनुष्य क्या ही एक उदार पा जाता है।' इसी व्यंग भाव से लेखिका हेटी के रूप और गुण की प्रशस्ति गाती चली जाती है और अंत में चलकर Adame Bede उसके बाह्य आकर्षण पर लुब्ध हो उसके साथ विवाह के लिए स्वीकृति दे देता है। इस पर 'Adame Bede' की ओर से लेखिका कहती है—Adame Bede पर विवेकहीनता का दोषारोपण करने के पहले कृपया थोड़ा ठहरकर अपनी आत्मा से पूछें कि क्या किसी सुदरी नारी में कुरुता के निवास की कल्पना करने की प्रवृत्ति होती है? क्या आपको मुग्ध करने वाली परम सुदरी में किसी तरह बुराई दीख पड़ती है, जब तक दृढ और आँखों में आँजन करके दिखला देनेवाले प्रमाण न हों? नहीं, जो लोग कोमल फलों के प्रेमी होते हैं वे गुठली की ओर नहीं देखते। भले ही उनके दाँतों को मयकर टकराहट का सामना करना क्यों न पड़े।'

इलियट की इन पंक्तियों में तीन बातें स्पष्टरूप से परिलक्षित होती हैं—जिसे विक्टोरियन युग के उपन्यास की प्रवृत्तियाँ और साथ ही आधुनिक दृष्टि से उपन्यास-कला के तीन दोष कह सकते हैं—(१) शिक्षा या उपदेश देने की प्रवृत्ति, (२) पात्रों के साथ पक्षपात करने की, यह बतलाने की प्रवृत्ति कि पात्रों को अमुक दृष्टि से ही देखा जाय और (३) पात्रों के चरित्र की वैज्ञानिक व्याख्या करने की, यह बतलाने की प्रवृत्ति कि अमुक घटना मानव प्रकृति के सार्वभौम रूप पर प्रकाश डाल रही है। इस सबंध में यह कहा जा सकता है कि वर्णनात्मकता इस युग के कथाकारों की सबसे बड़ी त्रुटि थी। ये वर्णन तो करते थे पर इनकी कथा के पात्रों में सजीव मूर्तिमत्ता नहीं, इनमें वह शक्ति नहीं थी जो अपना परिचय स्वयं दें, अपनी कथा स्वयं कहें। इनकी ओर से लेखक को स्वयं वकालत करनी पड़ती थी। यदि कहीं मूर्तिमत्ता लाने की चेष्टा हुई भी है, उन्हें describe न कर present करने की चेष्टा हुई भी है, तो बाहर से ही, अन्दर से नहीं। पुरुष और नारी के पारस्परिक संबंध की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं, वह उसे प्रेम करे, न करे, अथवा प्रेम तो करे पर, उसे इस बात का पता न हो। यदि कोई पात्र इन तीन अवस्थाओं से गुजर रहा हो तो लेखक बड़े ही सुदर ढंग से हमें इसका परिचय देता जाएगा। पर ऐसा नहीं होगा कि वह कल्पना के सहारे पाठक के सामने एक ऐसी मूर्ति उपस्थित करे जो उसकी कल्पना को क्रियाशील कर दे। यदि लारेंस को प्रणय-दशा का चित्रण करना होगा तो वह यह नहीं कहेगा कि पात्र प्रेम कर रहा है। वह उसकी ऐंद्रिय सवेदनाओं (sensations) का सजीव चित्र उपस्थित कर देगा जिससे अनुमान असदिग्ध होगा।

आजकल मनोविज्ञान का युग है। प्रत्येक बात को मनोविज्ञान के ही मंत्र में लाकर देखने की प्रथा चल

गई है। हम मनुष्य की क्रियाओं से अधिक उन क्रियाओं को उत्पन्न करनेवाली आतरिक प्रेरणाओं को देखना अधिक पसद करने लगे हैं। पहले के उपन्यासकार भी अपनी रचनाओं में उन मूल प्रेरणाओं को दिखलाने का प्रयत्न करते थे। विशेषतः जब उनके पात्रों के व्यवहार में कोई असाधारण वैचित्र्य दृष्टिगोचर होने लगता था। किसी सकट के अवसर पर अथवा परीक्षा की घड़ियों में उनकी रुचि में अन्यथाकारिता की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती थी, तो लेखक बड़े गभीर भाव से उनके मानसिक विश्लेषण में सलग्न हो जाता था और उनके असगत विचित्र व्यापार की तर्क-सगत व्याख्या करने लगता था। कहने लगता था कि हमारे पात्रों के क्रिया-कलाप भले ही अटपटे से लगे, पर इस पर आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं। "मुनि आश्चर्य करे जनि कोई, सत सगति महिमा नहीं गोई।" हमारा उपन्यास 'सत्सगति' के स्थान पर 'मनोविज्ञान' शब्द रख देता था और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के रूप में एक लबी-चौड़ी व्याख्या प्रस्तुत कर देता था।

कल्पना कीजिये कि एक नवयुवक के हृदय में अपनी प्रेमिका के लिए प्रेम के भाव हैं। वह उसे प्यार करता है। ऐसी अवस्था में प्रेमी के प्रणय निवेदन, उसके अनुराग प्रदर्शन, कोर्टशिप की सारी प्रेमलीलाओं की सार्थकता समझ में आ सकती है, पर विराग हो जाने पर आकर्षण के स्थान पर विकर्षण हो जाने पर, घृणा के भाव जग जाने पर, भी वही प्रणय-व्यापार ही का क्रम चलते रहने की कोई अनुकूलता नहीं। यदि ऐसा है तो कहीं न कहीं हमारे व्यवहार के वाह्यनिष्ठ objective पहलू और अतर्निष्ठ (subjective) पहलू की कार्य-कारण-शृखला में टूट है। यह अवस्था या अनावस्था कहिए कभी भी प्रीतिकर नहीं। अत उपन्यासकार तुरत कूद कर स्टेज पर आ जाएगा और फर्दे जुर्म के लिए अपने पात्रों की ओर से वकालत करेगा। वह अपने पात्रों का defence counsel है। फिलर्डिंग में यह प्रवृत्ति विशेष पाई जाती है और यही प्रवृत्ति कुछ-न-कुछ Henry James तक लगी रहती है।

Bilifal जानता है कि Sophia उससे घृणा करती है और उसके हृदय में वे प्रणय के भाव न रहे, तो भी वह कोर्टशिप, प्रसगोचित प्रणयलीलाओं से विरत क्यों नहीं होता? फिलर्डिंग को एक बात की बड़ी चिंता है कि इस बात को पाठक अच्छी तरह समझ जायँ कि—सच्ची बात तो यह है कि Bilifal अंदर ही-अंदर सोफिया से विरक्त हो चुका था। उसने अपने स्वागत पर Western के सामने कितनी प्रसन्नता क्यों न प्रकट की हो पर वह सतुष्ट नहीं था। यदि वह आश्वस्त था तो इसी बात से कि उसकी प्रेमिका के हृदय में घृणा के भाव हैं। इसके कारण उसके हृदय में भी कम घृणा के भावों की प्रति-क्रिया नहीं हुई। पर यह पूछा जा सकता है कि यदि ऐसी बात थी तो उसने कोर्टशिप को क्यों नहीं समाप्त नहीं कर दिया।

'यद्यपि Mr Bilifal का स्वभाव Jones के जैसा न था और न ऐसा ही था कि जो नारी दीख जाय तो उसे निगल जाने पर तैयार हो, फिर भी उसमें पशुजनोचित वासना या क्षुधा का अभाव ही हो ऐसी बात भी न थी। साथ ही उसकी रुचि में एक विशिष्टता थी जो मनुष्य को अपनी बहुमुखी क्षुधा के तृप्त्यर्थ तदनुकूल शिकार अथवा भोजन को ढूँढने की ओर प्रवृत्त करती है, और इसीने उसे समझाया कि सोफिया का ग्रास बड़ा ही सुस्वादु होगा उसके द्वारा उसे वही तृप्ति होगी जो जिह्वा लोलुप व्यक्ति को Ortolan के मास से होती है। तिस पर भी चिंता की रेखाओं से सोफिया की सुदरता घटेगी क्या, वह और भी बढ गई, कारण की आसुओं से उसकी आखों में और भी चमक आ गई और आहों के साथ उसके वक्षस्थल में और भी प्रशस्तता आ गई। जिसने सुदरता का चर्मोत्कर्ष विपत्ति में नहीं देखा, उसने देखा ही क्या? अतः Bilifal ने इस मानवीय भोज्य सामग्री की ओर पहिले से भी अधिक तृष्णातुर दृष्टि से देखा। उसके प्रति सोफिया के हृदयगत घृणा भाव की झलक से भी उसकी तृष्णा में कोई कमी नहीं आई। उसके सौंदर्य को वह लूट लेगा इस भाव ने उसके आनद को और भी अधिक बढ़ा दिया। काम वासना के भाव को विजय के भाव का सहयोग मिला। वह शरीर जिसका उच्चारण करना भी उसके लिये असह्य या उस पर पूर्ण अधिकार पा लेने से उसके और भी उद्देश्य सिद्ध हो सकते थे। प्राप्य तृप्ति में प्रतिशोध के भावों का भी कम हाथ नहीं था। अपने प्रतिद्वद्वी उस तुच्छ Jones को सोफिया के प्रेमासन से उतार कर, वहाँ अपनी सत्ता जमाकर उसे नीचा दिखलाने के भाव ने इन अनुष्ठानों के लिए प्रेरित

किया और उसकी आनंदवृद्धि में और अतिरिक्त कारण बना।

नाटक और उपन्यास की कला में बहुत अंतर है। नाटक में व्याख्या नहीं हो सकती। वर्णन, चरित्र चित्रण का उसमें कम स्थान है। मनोविज्ञान का प्रवेश वहाँ कठिन है। कार्य व्यापार के प्रदर्शन की सीमा भी वहाँ छोटी ही है। उपन्यासों पर इनमें किन्हीं बातों का प्रतिबंध नहीं है। आपातत तो यही मालूम पड़ता है कि सारी सुविधाएँ उपन्यास के पक्ष में हैं और नाटक को अनेक प्रतिबंधों से होकर अपना मार्ग तय करना पड़ता है। यदि बाह्य सुविधाएँ ही सब कुछ हों, उन्हीं के कारण किसी साहित्यिक form की सत्ता स्वीकृत हो, तो उपन्यासों की प्रतिद्वंद्विता में नाटकों को तिनके की तरह उड़ जाना चाहिए। पर सिनेमा घरों को भरे रहनेवाले जनसमूह को देखकर कौन कह सकता है कि नाटक उपन्यासों से कम शक्तिमान है। नाटक को एक ऐसा सिद्ध मंत्र अवश्य प्राप्त है जिनके द्वारा वह अपने सारे अभाव को पूरा कर लेता है। पूरा ही नहीं करता बल्कि बाजी मार लेता है। वह मंत्र क्या है? सब सुविधाएँ रहते हुए भी उपन्यासों में वह प्रभावात्मकता क्यों नहीं आती जिस प्रभाव के वशीभूत हो जनता प्रेक्षागृहों पर लट्टू रहती है। एक मात्र कारण यह है कि नाटक में प्रत्यक्षता रहती है और उपन्यास में परोक्षता। नाटक का निवेदन प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रियों के प्रति होता है। यहाँ साक्षात् उपस्थित हो सारे कार्य-व्यापार को आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं। उपन्यास की कथा परोक्ष रूप में, Second hand रूप में हमारे सामने आती है। उपन्यास का निवेदन हमारी कल्पना के प्रति होता है, हम कथा पढ़ते हैं पर उसको हम देखते नहीं, देखती है हमारी कल्पना। माना कि मनुष्य की कल्पना विकसित होती है, पर कल्पना कल्पना ही है। वह प्रत्यक्ष की समता कर सकती है भला? कभी नहीं। बुद्धि अपने सारे अस्त्र शस्त्रों के साथ उपन्यास के पक्ष में हो पर हृदय और भाव की निर्विहता का बल नाटकों को ही प्राप्त है। दुनिया की घुड़दौड़ में अन्य देवताओं को गरुड़ के समान क्षिप्रगामी रथ प्राप्त थ पर उनने मूषक को ही लेकर गणेशजी ने उनका सामना किया, क्योंकि उनको रामनाम का बल प्राप्त था। नाटक को इसी 'रामनाम' का, इसी प्रत्यक्ष दर्शन का बल है जिसके सहारे वह उपन्यास को, किसी को भी ललकार सकता है। मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि उपन्यास इस नाटकीयता, अभिनयात्मकता को अपनी सेवा में ले, उसके गुणों को धारण करने का प्रयत्न करे, उसकी लपक-झपक थोड़ा उधार ले तो उसमें शक्ति की अभिवृद्धि नहीं होगी क्या? वह लोगों के हृदय पर अधिक प्रभाव नहीं डाल सकेगा क्या? अपने जाति के अधिकार क्षेत्र को अधिक विस्तृत नहीं कर सकेगा क्या?

हाँ, अवश्य कर सकेगा। और उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर आज तक उपन्यास कला यही करती आई है। यों तो उपन्यास-कला की स्वाभाविक प्रवृत्ति इस नाटकीयता की ओर थी और मेरिडिथ, हार्डी, इत्यादि औपन्यासिकों में इसके अंकुर दिखलाई पड़ते हैं, पर इस प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष हेनरी जेम्स के उपन्यासों में मिलता है। जेम्स ने अनेक उपन्यास लिखे, साथ ही उसने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि बाद में उसने सब उपन्यासों की भूमिका स्वयं लिखी जिसमें उसने अपनी रचना पद्धति की मीमांसा की और बतलाया कि उसकी उपन्यास कला की विशेषता क्या है? उसने बतलाया है कि उपन्यास-कला के पास एक ही अस्त्र है जिसे लेकर वह नाटकों का सामना कर सकती है और वह है उद्दीप्त तथा प्रज्वलित क्षणों vividly constituted scenes की सृष्टि, स्फुट, सूक्ष्म अभिव्यंजक, तथा महाप्राण अवसरों का निर्वाचन, चुन-चुनकर जीवन से ऐसे स्थलों का, अथवा व्यापारों का चित्रण जो पारदर्शक हों, जिनमें स्वतः प्रकाश हो, जो अपनी छाया भूत और भविष्य पर डाल सकने में समर्थ हो। वामन भगवान की तरह जमीन पर खड़ा हो, पर आकाश और पाताल को भी समेट लेने में समर्थ हो, जो कालिदास के 'हिमालयोनाम नगाधिराज' की तरह पूर्वापर की तोयनिधि को 'अवगाह्य कर पृथ्वी के मानदंड के रूप में स्थित हो। जो उपन्यास कला जीवन के 'हिमालयों' को, 'वामनावतारों' को अवतरित करने में जितनी दक्ष है वह उतनी ही नाटकीय है। घटनाएं होती हैं, व्यापार होते हैं, जिनमें प्रचंड गतिमयता होती है, जो दर्शक को स्थिर नहीं रहने देगी, आगे या पीछे झकझोर देगी। जो कर्म मांगती है रहती है भरती पहुँ कि पट से राड़' जिनके लिए विलंब असह्य है वे ही उपन्यासों में नाटकीय तत्वों का समावेश कर सकती है,

नमें ही ऐसी शक्ति होती है कि वे हमारी कल्पना को लावा देकर पाठक के सामने एक ऐसे माया जाल की टि कर दें कि पाठक न रहकर दर्शक बन जाय। वह त्यात् घटनाओं को अपनी आखों के सामने घटित होते रे, अपने को ही अभिनेता के रूप में देखे। संस्कृत-साहित्य गास्त्र का एक शब्द लें तो कह कि वहाँ 'साधारणीकरण' मिलता-जुलता वातावरण उपस्थित हो जाय।

इतना तय हो जाने के बाद अब देखना यह रह जाता है कि वे कौन से साधन हैं जिनके द्वारा उपन्यासों में इस अभिष्ट नाटकीयता को लाया जा सकता है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए J W Breach ने अपनी पुस्तक The Twentieth Century Novels में इस अभिष्ट सिद्धि के लिए चार साधनों का उल्लेख किया है—१ विषय की एकाग्रता (Single Centre of Interest) २ सीमित दृष्टिकोण (Limited point of view) ३. स्थान और समय का नविविस्तार (limitation of place and amount of time Covered) ४ कथा को घेरनेवाले दिन या लगातार एक पर एक आते रहनेवाले कुछ दिनों के घटना-व्यापार-सकुलता (length of development of the events of a Single day or of Smites of days following one another) इन चारों वस्तुओं को सत्रूप में दास्तावेस्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'अपराध और दड' के सहारे समझने में सहायता मिलेगी। इस ५५० पृष्ठों के उपन्यास में प्रथम ३६३ पृष्ठों में कथा ने नायक रासकालिनिकव का अविच्छिन्न रूप से अनुकरण किया है। पुस्तक के शेष अश भी किसी-न किसी रूप में नायक से सबद्ध है ही, उसके बारे में दूसरे पात्र वार्तालाप कर रहे हो अथवा उस स्टेज का निर्माण हो रहा हो जिसपर नायक को अपना पार्ट अदा करना हो। सारी कथा नायक की केंद्र भूमि की ओर चक्कर काट रही है। यही सस्कृत नाटकों का 'आसन्न नाटकत्व' है जिसे Single centre of interest कह सकते हैं। अब तीसरे और चौथे वस्तुओं को लीजिए—५०० पृष्ठों के भारी भरकम Crime and punishment की सारी घटनाएँ नौ दिनों की हैं और पीटसबर्ग में ही घटित होती हैं।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ऐसे उपन्यासों की धारा चली है जिसने नाटक के सकलन त्रय के सिद्धांत के पालन करने का आग्रह दिखाया है। चौथे बिंदु में जिस घटना व्यापार-सकुलता की चर्चा की गई है उसका अनुमान इससे थोडा किया जा सकता है कि 'अपराध और दड' में तीन दिन ऐसे हैं जिनके लिए क्रमश ९२, १२१, १०४ पृष्ठ दिए गए हैं, तिस पर भी यह लेखक की प्रतिभा का इन्द्रजाल है कि इस थोडी सी अवधि में घटनाओं और व्यापारों को कस-कस कर पैक करने पर भी उपन्यास-कला की प्राणभूत सजीवता, भावों के तनाव में कहीं भी अतर नहीं आने पाया है।

सुविधा के लिए जिन दो श्रेणियों के उपन्यासों की चर्चा हो रही है उन्हें स्थूल और नाटकीय कहिए। अंग्रेजी के आलोचकों ने Panomic और Dramatic कहा है। प्रथम के प्रतिनिधि होंगे Fielding, Thackrey, Dickens इत्यादि और दूसरे के Dostoveski, Tolstoy, Hery James। दोनों श्रेणियों के उपन्यासों के प्रति पाठकों का जो रुख होगा, उनके प्रति पाठकों में जो प्रतिक्रिया होगी, उनमें एक विशेष पार्थक्य होगा। एक में पाठक, मनोरजक हुआ तो निनिमेष दृष्टि से उपन्यासकार की ओर मुख कर देखेगा और उसकी बातों को ध्यान देकर सुनेगा और उसकी प्रत्यक भाव-भगिमा को दत्तचित होकर नोट करेगा। वक्ता, श्रोता, का सबध स्थापित होगा। पाठक सर्वतोभावेन उपन्यासकार में विलीन हो जायेगा, उसको आत्मसमर्पण कर देगा, उसका अपना व्यक्तित्व कुछ न रह जायेगा। पर नाटकीय उपन्यास पाठक में एक सतर्क दर्शक की प्रतिक्रिया जागरित करेगा, उसकी दृष्टि उपन्यासकार से हट कर उसकी कथा पर केंद्रित होगी जिसकी गतिविधि के निरीक्षण में वह प्रवृत्त होगा। नाटकों में क्या होता है?—यही न कि स्टेज पर अभिनय का क्रम चलता रहता है, दर्शक का नाटककार से कुछ भी सपर्क नहीं रह जाता। नाटककार तटस्थ होता है। उसे जो कुछ करना है कर दिया, उसकी प्रतिभा जो कुछ सजीवनी शक्ति ला सकती थी, उससे सवलित कर उसने पात्रों को स्टेज पर भेज दिया, उसने उनके कठस्वर में जादू फूँक दिया। अब वह निस्पृह है। पात्र स्वतत्र हैं, जैसी चाहे धारणा बाधें। यह पात्रों और दर्शकों के बीच की बात है। नाटककार का कतई इससे सबध नहीं। इसी तरह का कुछ वातावरण नाटकीय उपन्यासों में भी हो जाता है।

स्थूल और नाटकीय उपन्यासों में एक और अंतर भी उल्लेखनीय है। चूंकि स्थूल उपन्यासों में पात्रों की अधिकता होती है और कथा की अवधि भी विस्तृत होती है अत आवश्यक हो जाता है कि कथा-क्रम की शृंखला को बनाए रखने के लिए कुछ वर्षों की घटनाओं का सचूप में उल्लेख कर दिया जाय। 'चार वर्ष के बाद की बात है। इस बीच न जाने कितने परिवर्तन हो गए'—इस तरह उपन्यासकार जल्दी से सचूप में उन घटनाओं पर सरसरी नजर दौड़ाता है। स्थूल उपन्यासों में इस तरह की बात बहुत पाई जाती है और वे आज की दृष्टि से, उपन्यास शरीर पर पड़े धब्बे की तरह उसकी विद्रूपता का प्रदर्शन करते हैं। पर नाटक में दूसरे अंक का प्रारंभ इस ढंग से होगा कि किसी तरह की जोड़ ऊपर से चिपकाने की आवश्यकता नहीं रह जाती, घटना स्वमेव जुड़ जाती है। दर्शक निष्प्रयास ही छूटी घटना की सगति खोज लेता है। नाटक में केवल दृश्य होते हैं, और वे इतने सजीव होते कि अपनी स्थिति के लिए लेखक का मुंह नहीं जोहते। ठीक इसी तरह नाटकीय उपन्यासों में पृथक्-पृथक् दृश्यों की योजना होती है। सदैव कहानियों की नहीं, पर हाँ, व दृश्य नाटकीय महत्त्व से भरे-पूरे अवश्य हों। नाटकीय उपन्यासकार उस सपन्न परिवार की गृहिणी है जो अपने रुपए-पैसे का हिसाब पाच दस के नोटों से ही करती है, छोटी-मोटी रेजगारी का हिसाब नहीं रखती। वे तो खर्च हो ही गए होंगे। हाँ नोटों का हिसाब मिल जाय तो सब ठीक है।

स्थूल और नाटकीय उपन्यासों के अंतर को Gestalt मनोविज्ञान के मतानुसार समझा जा सकता है। उनका कहना है कि मानव-मस्तिष्क क्रियाशील होता है और वह पूर्ण को पहिले ही देख लेता है, विभागों का अवलोकन तो बाद में अपनी सुविधा के अनुसार हम कर लेते हैं। मानव-बुद्धि नैसर्गिक रूप से संश्लेषणात्मक होती है, विश्लेषण उस का प्रधान कार्य नहीं है। उदाहरण के लिये ∴ इस रूप म उपस्थित तीन बिंदुओं को लीजिए। मस्तिष्क की क्रियाशीलता इनको तीन बिखरे बिंदुओं के रूप में देखने का अवसर नहीं देगी। इन्हें हम एक सुसंगठित त्रिकोण के रूप में देखेंगे और बिंदुओं के बीच का रिक्त स्थान किसी रहस्यमय क्रिया के द्वारा भर जाएगा। नाटकीय उपन्यासों में दृश्यावलियाँ इसी तरह सजाई जाती हैं, और बीच की क्षति-पूर्ति के लिए लेखक निर्भर करता है दृश्यों की आंतरिक शक्ति पर, उसके Dynamism पर तथा मानव-बुद्धि की क्रियाशीलता पर। वह स्थूल उपन्यासों की तरह त्रिकोण के निर्माण के लिए अटूट रेखाएँ खींचने का प्रयत्न नहीं करता। वह कुछ ही Bold strokes देकर अपना काम निकाल लेगा।

अब तक नाटकीय उपन्यासों का जो विवेचन हुआ उसको पढ़कर एक प्रश्न का उठना स्वाभाविक है। माना कि नाटकीय उपन्यासों में महत्वपूर्ण घटनाओं और क्रियाओं का समावेश सफलता से हो सकता है, पर उससे गलत यह बाह्यनिष्ठता Objectivity का ही प्रदर्शन होगा न, महिमा तो बाह्यनिष्ठ क्रिया-कलापों, इंद्रिय-संवेद्य घटना चक्रों की ही रहेगी। अत निष्ठता Subjectivity प्रथमतः तो आ ही नहीं सकेगी और आएगी भी तो गौण रूप में। नाटक सबसे बड़ी Objective कला है। पर उपन्यास की महत्ता Subjective होने में है, अर्थात् वह हमें पात्रों के अंतर्जगत में ले जाकर वहाँ की क्रियाओं का दर्शन कराता है। नाटक अथवा नाटकीय उपन्यासों में इस आंतरिक प्रक्रिया को दिखलानेवाला साधन क्या है। इसके लिए दो ही उपाय हो सकते हैं—या तो नाटकीय पात्रों की त्वचा इतनी पारदर्शक हो, अंगूर की तरह, कि उसके अंदर प्रवाहित होनेवाले मानसिक रस को हम देखलें, नहीं तो दर्शक को X ray की किरणों की सहायता उपलब्ध कराई जाय जिसके सहारे वे आंतरिक रहस्य का पता पा सकें। यों उपन्यासों को थोड़े से लाभ के लिए नाटक के चत्र में ला छोड़ना तो उसकी अपील को या महत्त्व को अत्यंत सीमित कर देना होगा। तिस पर ऊपर की पंक्तियों में औपन्यासिक के वर्णन और उसकी व्याख्या के बारे में जो निंदात्मक बातें कही गई हैं उससे तो उपन्यास कम-से-कम आत्मनिष्ठ होने में और भी अधिक निर्बल और निस्सहाय हो गया है।

संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों के सामने भी एक बार शांत रस को लेकर ऐसा ही प्रश्न उठा है। शांत रस की अनुभूति के समय तो हृदय की सारी वृत्तियां शांत हो जाती हैं, हमारी सारी हलचलों का अंत हो जाता है, तो इस निष्क्रिय अवस्था का प्रदर्शन कैसे सम्भव हो। अत: शांत रस का नाटक वदतोव्याघात Self contradiction का नमूना है। अंत में निर्णय हुआ कि शांत रस प्रधान नाटक हो

सकते हैं। मुझे नहीं मालूम कि शान्त रस के नाटक के लिए कौन-कौन से नियम बनाए गए, पर आज Subjective Drama दिखलानेवाले उपन्यासों की गतिविधि को देखकर उनके निर्माण-सूत्रों का पता लगाया जा सकता है। मेरे जानते Subjective Drama को अभिव्यक्त करने का सबसे अच्छा माध्यम उपन्यास हो सकता है, कारण कि आत्मनिष्ठता उपन्यास की प्रकृति में है और उस पर ड्रामा की कलम लगी रहती है। यदि किसी कलाकार की प्रतिभा इस मणि-कांचन का संयोग जुटा सके तो अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण उपन्यास की रचना हो सकती है इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस परस्पर विरोधी आपाततः असाध्य साधन सी लगनेवाली बात की सिद्धि के लिए उपन्यासकारों में एक विशेष पद्धति के आश्रय-ग्रहण की प्रवृत्ति का विकास उत्तरोत्तर होता जा रहा है। यदि व्याख्या करनी ही है, Subjectivity को दिखलाना उपन्यासों में अनिवार्य ही है, विश्लेषणात्मक ढंग से अभिव्यक्त करनेवाली नजरों से ओझल जगहों को दिखलाना आवश्यक ही है, पात्रों की अंतःप्रेरणाओं का प्रदर्शन करना ही है तो विवेचन वगैरह की तरह, 'बाजारू की कारवाई' की तरह कोई बात नहीं होनी चाहिए। लेखक जो कुछ अपनी ओर से कहता है उसमें रसम-अदायगी की दक्षता होती है। व्याख्याओं के लिए अधिक अच्छा उपाय यह होगा कि पात्रों की चेतना का ही उनके लिए उपयोग किया जाय। इस बात पर जोर दिया जाय कि किसी घटना के संपर्क में आने पर पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ कैसी होती हैं, उनमें कैसे विचारों की तरंग उठती है, वे एक दूसरे के प्रति किस प्रकार सोचते हैं, और ये सब हो उन्हींके शब्दों में, लेखक के शब्दों में नहीं। लेखक जो कुछ कहता है वह कथा का अनिवार्य अंश नहीं है, वह अलग पड़ी सी चीज है, पर पात्रों की चेतना, उनकी वाणी कथा का अनिवार्य अंश है, इस तरह शब्दों में पात्रों के जीवन-व्यापार के दृश्य बहिर्जगत से हटकर अन्तर्जगत के स्टेज पर घटित होने लगते हैं।

उदाहरण लीजिए—उक्त उपन्यास में ही लेखक चाहता है कि उपन्यास की नायिका Miss Milly Theale के व्यक्तित्व की रेखाएँ अमिट अक्षरों में पाठकों के मस्तिष्क पर अंकित हो जायँ। इस तरह का पक्षपात प्रत्येक उपन्यासकार के हृदय में रहना स्वाभाविक है। वह स्विटजरलैंड में Mrs. Susan नामक अपनी एक महिला मित्र के साथ यात्रा कर रही है। Theale न्यूयार्क की निवासिनी है और Susan न्यू इंगलैंड की।

Milly Theale के Boston में अनेक मित्र थे जिनसे मित्रता की स्थापना हाल ही में हुई थी। यह ख्याल किया जाता था कि अपने परिवार में लगातार कुछ मृत्यु हो जाने के बाद उसका आना-जाना इस कारण बढ़ गया था कि उसके हृदय को कुछ शांति मिल सके, जिसका देना न्यूयार्क की शक्ति के बाहर था। न्यूयार्क में अनेक सुविधाएँ या सुख देने की क्षमता थी, पर लोगों का ख्याल था कि जीवन और मृत्यु की गंभीर परिस्थितियों से मनुष्य पर जो एक अवसाद या गंभीरता सी छा जाती है उसको न्यूनाधिक करने की क्षमता उसमें नहीं थी। हाँ, Boston में इस बात की अद्वितीय क्षमता थी और इस एक तरह से Milly को इसने इस ओर सहायता प्रदान भी किया था। उपन्यास में Milly के बारे में बहुत ही कम बातें कही गई हैं। नियमानुमोदित चरित्रचित्रण का प्रयोग किया गया है। इसके स्थान में Milly के बारे में अनेक बातों की सूचना दी जा सकती थी, पर इसे इतनी बातें ही मालूम हो सकी हैं कि वह एक सार-सूचक काले वस्त्र धारण करनेवाली कृशगात नारी थी। चेहरा या विकृत हो तो इसके में सूचनाओं का अंबार ही खड़ा कर देते। पर लेखक समझता है कि सूचना मात्र में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वे पाठकों के जीवित समक्ष स्थापित कर सकें। वे पाठकों की ऊपरी सतह को सहसा कर थोड़ा आंदोलित कर रह जाते हैं, उनमें गहराई में उतरने की क्षमता नहीं होती है। सूचनाओं की संख्या से अधिक महत्त्वपूर्ण है उनकी स्थापना का ढंग, ढंग में बांकापन हो, कला हो, तो वह संख्या की न्यूनता की क्षतिपूर्ति कर देती है, जेम्स में यह कला स्पष्ट है।

[शेषांश अगले अंक में]

रवींद्र-काव्य की विविध धाराएँ

श्री इलाचंद्र जोशी

रवींद्रनाथ की प्रतिभा ऐसी विराट, व्यापक और बहुमुखी रही है कि किसी एक निश्चित बिंदु से, एक ही बार में, एक ही दृष्टि डालने में उसके ओर छोर का ज्ञान होना उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार हिमालय की दिगंत विस्तृत हिम श्रेणियों का पूरा पर्यवेक्षण किसी एक ही स्थान पर खड़े होकर नहीं किया जा सकता। अपनी विविध रचनाओं में जीवन के किसी भी पहलू को रवींद्रनाथ ने नहीं छोड़ा है और कोई भी ऐसा दृष्टिकोण शायद ही बचा हो जिसे उन्होंने अपने विस्तृत जीवन दर्शन के संबंध में न अपनाया हो। यही कारण है कि उनकी अलग-अलग प्रकार की कविताओं में हमें जीवन के स्वरूप भी विभिन्न मिलते हैं और दृष्टिकोण भी। और इसी कारण हमें अक्सर उनके विचारों और भावों में परस्पर विरोधाभास-सा दिखाई देता है। पर वास्तव में यह भ्रम है। रवींद्रनाथ के जो भाव या विचार परस्पर विरोधी लगते हैं, वे वास्तव में एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। यह ठीक है कि स्वयं जीवन के भीतर भी प्रकट में अंतर्विरोध पाया जाता है। पर जिस प्रकार जीवन के भीतर का वह प्रकट अंतर्विरोध अपने विभिन्न रूपों के प्रस्फुटन या विस्फुटन द्वारा महाजीवन की विराट और सुसामंजस्य पूर्ण स्थिति के महालक्ष्य की ओर जीवन को निरंतर आगे बढ़ाता जाता है उसी प्रकार रवींद्रनाथ की विभिन्न कोटि की कविताओं के परस्पर-विरोधी लगनेवाले भाव या विचार भी जीवन की समग्रता के समन्वयात्मक केंद्र बिंदु की ओर अग्रसर होकर अंत में एक महारूप में मिल जाते हैं।

रवींद्रनाथ की कविताओं के प्रारंभिक पाठ में उनकी रहस्यात्मक अनुभूति ही पाठक के मन पर विशेष रूप से छाने लगती है। जिस कवि की प्रतिभा जितनी ही विराट होगी उसकी अवचेतना का लोक भी उतना ही गहन और विस्तृत होगा। इसलिए ऐसा कवि जीवन के बाहरी रूपों पर ध्यान देने के पहले युग-युगव्यापी, विकास से निरंतर बढ़ती रहनेवाली अवचेतना के अनंत प्रसारित रूप-रस-रंगमय स्वप्नलोक में विचरण और वितरण करने की ओर स्वभावतः अधिक उत्सुक होगा, रवींद्रनाथ ने बार-बार यह बात स्वीकार की है कि स्वप्न-लोक की माया उन्हें संसार से दूर रखते हुए बार-बार बरबस अपनी ओर आकर्षित करती रही है।

मोर किछु धन आछे संसारे, बाकि सब धने स्वपने
निभृत स्वपने।

(मेरा थोड़ा सा ही धन संसार में है, शेष सब स्वप्न में निहित है—निभृत, एकांत स्वप्न में।)

पागोल हइया वने-वने फिरि आपन गंधे मम
कस्तूरी मृग सम।
वक्ष हइते बाहिर हइया आपन वासना मम
फिरे मरीचिका सम।
बाहु मेलि तारे वक्षे लइने वक्षे फिरिया पाइना।
जाहा चाइ ताहा भूल करे चाइ जाहा पाइ ताहा
चाइना॥

(मैं स्वयं अपने अंतर की गंध से कस्तूरी मृग की तरह पागल होकर वन-वन में फिरता हूँ। मेरी निजी वासना मेरे अंतर से बाहर निकल कर मरीचिका की तरह भटकती रहती है। मैं दोनों हाथों को पसार कर उसे छाती से लगाना चाहता हूँ, पर जो चाहता हूँ, उसे भूल से चाहता हूँ, जो कुछ पाता हूँ उसे चाहता नहीं।)

इस तरह के सैकड़ों उदाहरण पेश किए जा सकते हैं जो अव्यक्त, अस्पष्ट, सुदूर, निविड़ रहस्यमय भाव-छाया, और निगूढ़ गोपन स्वप्नमाया की ओर कवि के स्वाभाविक आकर्षण का प्रमाण देते हैं।

एक और कविता के उदाहरण से अंतर और बाहर के संबंध में कवि की यह रहस्यात्मिका अनुभूति स्पष्ट हो जायगी। 'चित्रा' शीर्षक कविता में वह लिखते हैं—

'हे विचित्र रूपिणी, जगत में तुम कितने विचित्र रूपों में प्रकट होती हो। अमित आलोक से तुम नील गगन में उद्भासित होती रहती हो, व्याकुल युवक से

फूल-वनों में उल्लसित होती दिखाई देती हो, और चचल गमन से अपने चल-चरणों द्वारा द्युलोक और भूलोक में विलसती रहती हो। तुम्हारे मुखर नूपुर आकाश में निरतर बजते रहते हैं। तुम्हारे अलकों से निकलनेवाली गध मद-मद हवा में उडती रहती है और तुम्हारा मधुर नृत्य निखिल विश्व में न जाने कितनी मजुल रागिणियाँ जगाता रहता है।

'अतर में तुम अकेली, एकदम अकेली व्याप रही हो। वहाँ तुम मुग्ध सजल नयन मे एक स्वप्न की तरह हो, हृदय-वृत रूपी शयन म एक कमल की तरह हो, असीम चित्त गगन मे तुम चद्र के समान हो और तुम्हें घेरकर चारों ओर चिर यामिनी विराज रही है, वहाँ अकूल शाति और विपुल विरति का राज्य है, केवल एक भक्त नित्य आरती उतारता रहता है। वहाँ न काल है, न देश, केवल तुम्हारी ही अनिमेष मूर्ति स्थिर रूप मे वर्तमान है।'

यह है अतर और बाहर में व्याप्त वह मोहिनी चित्रा-माया जिसकी आराधना रवींद्रनाथ अपनी जीवनव्यापी बहुविध सर्जनात्मक साधना द्वारा निरंतर करते रहे।

चिर अनत की अमित दूरी से 'कास्मिक' किरणों की तरह आते रहनेवाले रहस्यात्मक, अस्पष्ट, अपरिस्फुट तथापि प्राणाकर्षी सकेत उन्हें निरतर अभिभूत और चमत्कृत करते हुए अपनी ओर खींचते रहे हैं—उनकी इच्छा, बुद्धि, तर्क और ज्ञान की तनिक भी परवा किए बिना ही। वह स्वय नहीं जानते कि वह आकर्षण किसका है और वह 'मौन निमत्रण' कहाँ से और क्यों आता रहता है? पर उसके उद्दाम प्रलोभन का प्रतिरोध उनके लिए बराबर बहुत ही कठिन सिद्ध हुआ है। अपनी 'सोनार तरी' नामक काव्य-सग्रह की 'निरुद्देश्य यात्रा' शीर्षक कविता में वह उस मौन, रहस्यात्मक निमत्रण देनेवाली 'अज्ञात सु दरी' को सबोधित करते हुए कहते हैं—

'हे सु दरि, मुझे और कितनी दूर लिए चलोगी? मुझे एक बार बता तो दो कि तुम्हारी सोने की तरणी किस पार जाकर टकराएगी? हे विदेशिनी, मैं जब-जब तुमसे यह प्रश्न करता हूँ, तब तब तुम केवल मीठी हँसी हँस देती हो, और मैं तनिक भी समझ नहीं पाता हूँ कि तुम्हारे मन में क्या है? तुम केवल नीरव भाव से उँगली उठाकर उस ओर सकेत करती हो जहाँ अकूल सिंधु उमड़ रहा है और दूर पश्चिम गगन के कोने में सूरज डूब रहा है। पर यह तो बताओ, कि उस ओर है क्या? यहाँ किस (रहस्यमय वस्तु) के अन्वेषण के लिए मुझे घसीटे लिए जा रही हो।

'हे अपरिचिता, मुझे बताओ कि वह जो सध्या के कूल में दिन की चिता जल रही है, जहाँ तरल अनल जल की तरह निरतर झर रहा है, अबरतल प्रतिपल पिघलता चला जा रहा है और दिक् वधू की डबडबाई आँखों में आँसू छलक छलक उठते हैं—क्या तुम्हारा आलय वहीं है, उच्छल ऊर्मियों के रूप में उमड़ते हुए सागर के पार मेघ चु बित अस्ताचल के नीचे? पर तुम फिर मेरे प्रश्न का कोई उत्तर न देकर कवल मेरी ओर (रहस्य भरी दृष्टि से) देखती हुई मद मद मुस्कराती चली जाती हो।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनत और अकूल समुद्र में सोने की तरणी पर बैठी हुई यह 'विदेशिनी माया' कवि को रूप, रस, वर्ण और गध के वैचित्र्य से पूर्ण ऐसे विविध प्रलोभनीय दृश्यों में बराबर भुलाती रही है कि जिनका प्रतिदिन के यथार्थ जीवन से, मानव मन की सहज और साधारण अनुभूतियों से कोई सबध नहीं है। यह मैं कोई नई बात नहीं बता रहा हूँ। पर रवींद्र-साहित्य को अच्छी तरह समझने के लिए इस पुरानी बात को बार-बार ध्यान में रखने की आवश्यकता है। और इससे भी अधिक ध्यान इस बात पर देने की आवश्यकता है कि 'चित्रा-माया' के इसी तीव्र और प्राय अप्रतिरोधनीय के आकर्षण की ही यह प्रतिक्रिया थी कि रवींद्र को बीच बीच में पद्य छोड़कर गद्य पर उतरना पड़ा है।

इस अनचाहे और अनबूझे आकर्षण के प्रति विद्रोह के भाव प्रारभ से ही स्वय उन्हीं की कुछ कविताओं में बीच बीच में विस्फोटात्मक रूप से व्यक्त होता रहा है। वस्तुत प्रारभ में ही अपनी सहज रहस्यात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध विद्रोह का भाव जगने लगा था। 'मरीचिका' शीर्षक कविता में वह लिखते है।—

'हे सखि, कुसुम-शयन छोड़कर बाहर चली आओ। तुम्हारे चरणों के नीचे कठोर मिट्टी बज उठे। अब कब तक एकात में बैठकर आकाश-कुसुमों के वन में स्वप्नों को बीनती रहोगी? देखो, दूर से तूफान उठता हुआ दिखाई दे रहा है, जिसके रुद्रकोप से तुम्हारा स्वप्नराज्य प्रखर अश्रु धाराओं के रूप में बह जाएगा। देवता के विद्युत् की अभिशाप शिखा तुम्हारी अँधेरी निद्रा को निर्धूम

अनल से दग्धकर डालेगी। चलो, दोनों यहाँ से (एकांत सुख साधना से) उठकर मानव-समाज के बीच में जायँ, जहाँ सभी सुख और दुःख के बीच में अपना घर बना रहे हैं। सबके हँसने रोने में समान रूप से भागी होकर संसार के संशय रूपी कराल रात्रि में निर्भय होकर रहें। सुख रूपी रौद्र मरीचिका योग्य वासस्थान नहीं है। यहाँ सब समय इस आशंका से प्राण काँपते रहते हैं कि यह तारा (प्रखर उज्ज्वल-रूप) न जाने कब विलीन हो जाय।'

इसी ढंग की एक दूसरी कविता में कवि स्वयं अपने को सम्बोधित करते हुए कहता है—'संसार में जब सभी लोग सब समय सौ सौ कर्मों में रत हैं, तब तू बाधा-बंधनहीन पलातक बालक की तरह मध्याह्न में खेत के बीच में, अकेला, उदास तरु छाया के नीचे मंद-मंद सुगंध से तरंगित क्लांत तप्त वायु में दिन भर बंशी बजाता फिरता रहा। अरे अभागे, तू आज उठ। आँखें खोलकर देख कि संसार में कहाँ आग लगी हुई है। किसका शंख जनजन को जगाने के लिए बज उठा है। सारा शून्यदल कहाँ से उठनेवाले क्रंदन से गूँज रहा है। किस अंधकार में जर्जर बंधन से जकड़ी हुई कौन अनाथिनी सहायता चाह रही है। दर्पस्फीत अपमान अपने लाख-लाख मुखों से अधमों की छाती का रक्त शोष शोषकर पान कर रहा है। स्वार्थोद्धत अविचार जनजन की वेदना का परिहास करने पर तुला है। वह देख, सामने प्राणी मूक और नतशिर से होकर खड़े हैं और सैकड़ों शताब्दियों की भावना की कहानी उनके म्लानमुखों पर अंकित हो रही है। × × × इन सब मूढ़, म्लान, मूक मुखों में भाषा देनी होगी, [redacted] सब श्रांत, शुष्क, भग्न हृदयों में आशा की वाणी ध्वनित करने की परम आवश्यकता आ पड़ी है।'

इस प्रकार की और भी बहुत-सी विद्रोहात्मक कविताओं के जो विस्फोट रवींद्र काव्य-साहित्य में हमें बीच बीच में मिलते रहते हैं वे इस बात के सूचक हैं कि कवि के प्राण 'दिन के शेष (अंत में, नीर के देश में), घूँघट काढ़ी हुई छाया की माया' में मग्न होते रहने पर भी, उसने उस माया में अपने को डुबा नहीं दिया, बल्कि वहाँ से शक्ति बटोरकर वह यथार्थ जीवन की ओर बार-बार सचेत रूप से लौटता रहा है और अपनी स्वप्न विभोर आँखों को मलता हुआ कठोर मिट्टी पर के जीवन की समस्याओं को यथार्थवादी विवेचक की दृष्टि से समझने और समझाने की चेष्टा करता रहा है। रवींद्र कथा-साहित्य कवि के इसी समय सदा पर जाग्रत और उद्बुद्ध होनेवाली यथार्थवादी दृष्टि का परिणाम है।

पर यथार्थ को अपनाने पर भी रवींद्र अपनी छायात्मक भावना और कल्पना के विलास से मुक्त नहीं हो पाए। यह ठीक है कि अपनी कहानियों और उपन्यासों में वह अपने अंतर के छायालोक की तन्मयता से बहुत कुछ उबरे हैं और यथार्थ जीवन के संघर्ष और अनुभूति तथा सामाजिक चेतना उनमें बहुत बड़ी सीमा तक जगी है, पर फिर भी वह यथार्थ पर पूर्णतः यथार्थवादी दृष्टि से विचार करने के पक्ष में कभी नहीं रहे। व्यक्त विश्व के अंतराल में निहित अव्यक्त का जो अनंत चेतनामूलक स्पंदन जीवन को आनंदानुभूति की चरम स्थिति की ओर विकसित करता हुआ चलता है उसकी अवज्ञा उन्होंने कभी नहीं की।

रवींद्रनाथ की कविता किस अंतर्वाणी को व्यक्त करने के लिए व्याकुल रही है, इस बात का परिचय हम उनकी 'आकांक्षा' शीर्षक कविता में पाते हैं। इस कविता में कवि कहता है—'आज यदि मैं किसी उपाय से अपनी प्रिया को फिर से पा लेता तो हृदय की जितनी भी (निगूढ़) बातें हैं उन सबको एक-एक करके उसके आगे रखता। × × × जीवन मरण की सुगंभीर वाणी, अरण्यमर्मर के समान मर्म की व्याकुलता, अनंत-व्यापी विराट् प्राण का रहस्य, उच्छ्वसित उच्चाशा और महत्त्व का गान, विषाद की वृहत् छाया, हृदय में रुद्ध अधीर आकांक्षा, वर्णनातीत अस्फुट बात, ये सब उसकी आत्मा की निर्जनता को विराट् मेघ छाया की तरह घेर लेते।' रवींद्र की कविता के भीतर नाना रूपों में हम इन्हीं भावों का आभास पाते हैं। विपुल जीवन और महामृत्यु (जो विकसित महाजीवन का ही प्रतिरूप है) का आनंद लूटने की प्रवृत्ति उनकी विभिन्न कविताओं में अक्सर प्रभासित होती रही है। अव्यक्त की छाया, इसी छाया की माया ने रवींद्रनाथ को मुग्ध किया है। जीवन उन्हें इसलिए प्रिय रहा है कि वह 'मृत्यु' (अर्थात् महाजीवन) की प्रगाढ़ छाया से सदा महिमान्वित है, उज्ज्वलता को उन्होंने इसलिए प्यार किया है कि वह

अंधकार (अर्थात् उज्ज्वलता की चरम स्थिति) का चिर-स्थिर स्निग्ध-शांतभाव उसे स्थायित्व प्रदान करता है। हास उन्हें इस कारण पुलकाकुल करता रहा है कि वह विषाद के श्यामल माया से घनाच्छन्न है। रूप के सौंदर्य ने उन्हें इस कारण मोहित किया है कि वह अपरूप में विलीन हो जाता है।

पूर्वोल्लिखित कविता में वह आगे चलकर लिखते हैं—'जिस प्रकार दिन के अवसान होने पर रात्रि के समीप विश्व अपने ग्रह - तारकाओं के साथ अपने विराट् रूप का प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार हास परिहास से मुक्त मेरे इस हृदय में वह (कवि की स्वर्गीया प्रिया) अन्तहीन जगत् का विस्तार देखती है। नीचे केवल कोलाहल, खेल-तमाशा और हास और विलास देखने में आती है, पर ऊपर निर्लिप्त, प्रशांत महाकाश विराजता है। प्रकट आलोक में केवल क्षणिक का खेल दिखाई देता है, पर अंधकार में मैं असीम के साथ एक रूप में वर्तमान रहता हूँ।' इस निर्जन 'अंधकार' की विपुलता का प्रतिबिंब रवींद्रनाथ की कविता में सर्वत्र वर्तमान पाया जाता है। नर-नारी के प्रेम की लीला में भी वह उसकी बाह्य उज्ज्वलता की अपेक्षा आभ्यंतरिक 'अंधकार' के सौंदर्य की ओर ही अधिक आकर्षित होते हैं। नवीना युवती का रूप-लावण्य उन्हें इसलिए आनंद देता है कि उसके अंतराल में मातृत्व की वृहत् गंभीर छाया पड़ी हुई है। 'जन्मकथा' शीर्षक कविता में माता अपने बच्चे से कहती है—यौवन में जब मेरा हृदय प्रस्फुटित हो उठा था तब तू उसमें सौरभ के समान घुला मिला हुआ था। मेरे प्रत्येक तरुण अंग के साथ अपना लावण्य और अपनी कोमलता विलीन करके तू उसमें जड़ित था।'

केवल मातृत्व में ही नहीं, जब कवि ने प्रेम को केवल विशुद्ध रसमय प्रेम के दृष्टिकोण से देखा है तब भी उसे असीम अंधकार का ही ध्यान हो आया है। 'हृदय-यमुना' शीर्षक कविता में कवि कहता है—'यदि तुम मृत्यु चाहती हो तो आओ, मेरे हृदय के अतल जल में गोते लगाओ। वह जल मृत्यु के समान नील, स्निग्ध-शांत और सुगंभीर है। उसका न कहीं तल है, न तीर। उसके अतल में न कहीं रात का अस्तित्व है न दिनका, न उसका आदि है न अंत, न कहीं वहाँ कोई गीतस्वर बजता है, न कोई और शब्द सुन पड़ता है। सब कुछ भूलकर, समस्त बंधनों से मुक्त होकर जीवन के तीर पर सब काम-काज छोड़कर चली आओ। यदि तुम मृत्यु चाहती हो तो आओ, मेरे हृदय के अतल जल में कूद पड़ो।' जीवन तथा मृत्यु को असीम अतल शून्य में एकाकार करके कवि अनंत प्रेम की अखंडता का रस निर्द्वंद्व होकर पान करना चाहता है। केवल प्रेम के रास रंग और हास-परिहास से उसकी विशाल आत्मा की असीम प्यास नहीं बुझती।

रवींद्रनाथ ने जीवन को नाना रूपों से अपनाया, इसमें संदेह नहीं, पर साथ ही मृत्यु की नग्न नृत्योल्लासमयी रंग-लीला को भी उन्होंने आनंद के साथ, अत्यंत शांत भाव से ग्रहण किया है। मृत्यु के असीम अंधकार ने उनके लिए जीवन को महाशून्य बना दिया है। 'जीवन-मरणमय सुगंभीर कथा' उन्हें इसीलिये इतनी प्रिय है। अरण्य-मर्मर के समान मर्म की जिस व्याकुलता का उल्लेख उन्होंने किया है, वह सत्ता के भीतर व्याप्त अदृश्य चेतना की व्याकुलता है। वस्तु देह है और चेतना प्राणों का स्पंदन। यह निखिल प्राण-स्पंदन उनकी कविता का एक दूसरा अंग है। प्रकृति के बाह्य जड़ रूप ने नहीं, बल्कि उसके भीतर के स्पंदन ने उन्हें विह्वल किया है। इसका निदर्शन हम 'प्राण' शीर्षक कविता में सुंदर रूप से पाते हैं। मेरे इस शरीर की प्रत्येक शिरा में प्राण की जो तरंग रात-दिन प्रवाहित हो रही है, वह विश्वदिग्विजय करती हुई नाचती रहती है। वह प्राण वसुधा के लक्ष-लक्ष तृणों में संचरित होता हुआ पुष्पों तथा पल्लवों में विकसित हो रहा है—वह जीवन तथा मृत्यु के झूले में अनंत ज्वार भाटाओं की तरह आंदोलित होता रहता है। युगयुगांतर का वह विराट स्पंदन आज मेरी नाड़ियों में नाच रहा है।'

अनंत की ओर निरंतर प्रवाहित होनेवाली इस विपुल चेतना की लास्यलीला ने इस कवि के हृदय को पुलका-कुल किया है। 'वसुंधरा' शीर्षक कविता में फिर से एक बार अभिव्यक्ति की आदिम अवस्था प्राप्त करके आरंभ से नाना रूपों में इस निखिल चेतना का रस लूटने की व्याकुलता प्रकाशित होती है। डार्विन के विकासवाद ने यह एक विचित्र आकांक्षा कवि के हृदय में पैदा की है। 'जीवन देवता' में फिर-फिर से नए-नए रूपों में इसी चेतना के मार्मिक स्पंदन से नाच उठने की लालसा व्यक्त हुई है। 'नूतन करिया लहो आरबार चिर-पुरातन मोरे'!—'मुझ चिर-पुरातन को फिर से एक बार नए रूप में निर्मित

करो।' जिस प्रकार पतझर की जीर्ण शीर्ण श्री को वसंत फिर से अपरूप आत्मा प्रदान करता है, मृत्यु के बाद नवीन जीवन का चक्र भी यही खेल खेलाता है। इस सृष्टि में चिर पुरातन, सनातन पुरुष अपनी चिर-नूतन चेतना के स्पंदन से नित्यप्रति नए-नए खेल खेलता और खेलाता जाता है। उसकी इस अनंत-कालीन क्रीड़ा में अपने प्राणों का रस निचोड़ कर सहयोग देते रहना कवि के जीवन का चरम लक्ष्य रहा है—

गलाये-गलाये वासनार - सोना
प्रतिदिन आमि करेछि रचना
तोमार क्षणिक खेलार लागिया
मूरति नितनव!

'अपनी वासना का सोना गला-गलाकर मैंने तुम्हारे क्षणिक खेल के आनंद के लिए प्रतिदिन नई नई मूर्ति का निर्माण किया है।'

हमारे प्रतिदिन की सुख-दुःखमयी अनुभूति इस 'जीवन देवता' की चेतना से स्पंदित प्राणों के प्रकंपन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मानव की वासनाओं, आशाओं, उच्छ्वासों और वेदनाओं को लेकर यह कैसा निष्ठुर खेल है। पर साथ ही कैसा मंगलमय है।'

कवि ने अपनी एक पूर्वोल्लिखित कविता में जिस 'उच्छ्वसित उच्च आशा' का उल्लेख किया है, वह जीवन को अपने क्षुद्र परिवेष्टन से अलग, विस्तृत रूप में विपुलता के साथ मिलित करने की महत्वाकांक्षा है, 'एबार फिराओ मोरे' शीर्षक कविता में भी इसी आकांक्षा का आभास मिलता है। इस कविता में कवि कहता है—'हे रंगमयी कल्पने! अब मुझे अपने रंजित कल्पना-लोक से संसार के तीर पर वापस ले चलो। मोहिनी माया के समीर से मुझे अब अधिक आंदोलित न करो।' अपनी अनंत स्वप्नमयी कल्पनाओं के बावजूद मानव के सुख दुखमय विराट संसार के प्रति रवींद्रनाथ कभी उदासीन नहीं रहे। इसी कविता में आगे चलकर कवि कहता है—'जो स्वार्थमग्न व्यक्ति बृहत जगत से विमुख है उसने जीना नहीं सीखा है। जीवन की तरंग में नाचते-नाचते निर्भय होकर चलना होगा, और सत्य को अपना ध्रुवतारा बनाना होगा। मृत्यु की कुछ भी शंका मैं नहीं करता। दुर्दिन की अश्रु-जलधारा में तक पर वहन करके अपने जीवन-वर्ल्लभ के अभिसार की यात्रा करनी होगी। कठोर वास्तविक जीवन की अनुभूतियों से पूर्णतया परिचित होकर विराट् के मिलन की महायात्रा करनी होगी। 'वर्षशेष' कविता में भी यही भाव ध्वनित होता है। बाह्य-प्रकृति में उठे हुए तूफान ने जब कवि की अंतःप्रकृति में भी झंझा उत्पन्न कर दी, तो उसके आवेग से वह जीवन को विराट् रूप में देखने और समझने के लिए विकल हो उठा—'जीवन का प्रतिपल खंड-खंड करके नष्ट होने देना अब अधिक नहीं सहा जाता।...जिस पथ से होकर अनंत जन समुदाय भीषण नीरवता के साथ चलता रहा है, उस पथ के एक किनारे पर जाकर मुझे खड़ा करो, ताकि मैं युग-युगांतर का विराट् स्वरूप देख सकूँ। बाज के समान मुझे इस गंदे दल दल से उठाकर ऊपर ले चलो और वज्र के प्रकाश में महान मृत्यु के आमने-सामने लाकर मुझे खड़ा कर दो। खंडता को उल्लंघन करके अखंडता के साथ एक प्राण होने की व्याकुलता रवींद्रनाथ की कविताओं में बार-बार व्यक्त हुई है। इसी उच्च आशा के विकास से 'महत्व का गीत' उच्छ्वसित हुआ है। यह 'महत्व का गीत' उनकी विभिन्न कविताओं में विविध रूपों से व्यक्त हुआ है। किसी में अनंत की महिमा का गान हुआ है, किसी में अपरूप के प्रति उद्दाम प्रेम अभिव्यक्त हुआ है, किसी में सनातन पुरुष से मिलने की पागल आकांक्षा सखी भाव की बेकली के रूप में प्रस्फुटित हुई है।

'बृहत् विषाद-छाया' की कल्पना कवि की अनंत व्यापी अनुभूतिशीलता के कारण उत्पन्न होती है। 'वसुंधरा' तथा 'मानसी' शीर्षक कविताओं में इस मूलगत अज्ञात विषाद की वेदना प्रस्फुटित हुई है। तीव्र अनुभूतिप्रवण कवि को सब समय ऐसा आभास होता रहता है कि सृष्टि के प्रत्येक कण से उसके हृदय का अनंतकालव्यापी अज्ञात संबंध होने पर भी वह किसी प्राकृतिक (अथवा अप्राकृतिक) विकृति के कारण सृष्टि के मूल केंद्र से च्युत सा हो गया है और रह-रहकर वह फिर से उस केंद्र को पकड़ने के लिए उद्विग्न हो उठता है।—'जब शरत् की स्निग्ध किरणें पके हुए धानों से सुनहरे खेतों के ऊपर अपना प्रकाश फैलाती है, नारिकेल-दल जब वायु में प्रकंपित होकर आलोक में तरंगित हो उठते हैं, तो हृदय में महाव्याकुलता उत्पन्न होकर उस दिन की बात याद कराती है जब मेरा मन सर्वव्यापी होकर जल में, स्थल में, अरण्य के पल्लव निलय में और आकाश की नीलिमा में एकप्राण होकर विराजा करता था।' इसी पुलक स्मृति से

विकल होकर कवि ने वसुधरा को संबोधित करते हुए कहा है—'हे मा वसुधरे! मैं तुम्हारी गोद की संतान हूँ, मुझे अपने विस्तृत अंचल के छाया तले, अपनी प्यारी गोद में फिर से ले लो।' 'मानसी' में नाना रूपों में प्रतिबिंबित होनेवाली 'आजन्म साधन धन सुंदरी, कल्पना-लता कविता' को मूर्तिमती सुंदरी कामिनी के रूप में प्राप्त करने की वेदना फूट पड़ी है। रूप रस रंग की नाना तरंगों में अपनी झिलमिली झलक दिखानेवाली कविता कवि के लिए कोरी कल्पना नहीं है—वह उसके लिए जीवित सत्य है। उसके अनेकानेक जन्मों की साधना की सिद्धि इस विचित्र कल्पना में ही स्थित है। उसे स्पर्शयोग्य रूप में न पा सकने के कारण उसका ईथर के समान प्रकंपन कवि को विषादाच्छन्न कर देता है।

'विरह की गंभीरता' वसुधरा के रूप रस गंध में विलीन होने की व्याकुलता का ही दूसरा स्वरूप है। विकास की आदिम अवस्था से अनेक रूपों में अभिव्यक्त होते हुए मानव आज अपनी वर्तमान अवस्था को पहुँचा है। इस कारण अपनी पूर्ववर्ती नाना अवस्थाओं के असंख्य संस्कार उसके अंतस्तल में अज्ञात रूप से स्थित हैं। रूप-रस-गंध के स्पंदन से वे पूर्व अवस्थाओं के गुप्त संस्कार जिन्हें कालिदास ने 'जननान्तर-सौहृदानि' के नाम से उल्लिखित किया है। अकस्मात् हृदय में उत्थित होकर एक अवर्णनीय विरह और विषाद की वेदना उत्पन्न कर देते हैं। कवि की सुप्रसिद्ध कविता 'उर्वशी' में मूल प्रकृति में निहित निष्कलुष रूप तरंग के आकस्मिक उद्वेलन के फल स्वरूप इसी विपुल विरह का आभास पाया जाता है—

'वह सुनो, हे निष्ठुरा, वधिरा, उर्वशी! तुम्हारे कारण दिग् दिगंत में क्रंदन-स्वर उत्थित हो रहा है। इस जगत का वह आदिम, पुरातन युग क्या फिर लौट आवेगा? तुम क्या फिर एक बार अतल अकूल समुद्र में भीगे हुए केशों की छटा दिखाती हुई ऊपर उठोगी? तुम्हारा वह प्रथम प्रभातवाला मौलिक रूप क्या फिर एकबार दृष्टिगोचर होगा? निखिल के नयनों की अविरल वारिधारा के वर्षण से क्या तुम्हारा सर्वांग फिर से कंपित होगा? महासागर क्या फिर एक बार अकस्मात् अपूर्व संगीत से तरंगित हो उठेगा?

'नहीं, नहीं, अब फिर वह आदिम युग लौटकर नहीं आ सकता।—उर्वशी अब अस्ताचलवासिनी हो चुकी है। इसी कारण आज धरातल में वसंत के आनंदोच्छ्वास में किसी के चिर विरह का दीर्घ श्वास न जाने क्यों तरंगित होता रहता है। पूर्णिमा की रात्रि में जब चारों ओर परिपूर्ण हास वर्तमान रहता है तब दूर की स्मृति न जाने कहाँ से व्याकुलता की वंशी बजाती है, जिसे सुनकर आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। पर फिर भी मन में आशा बनी ही रहती है।'

छाया के प्रति रवींद्रनाथ का मोह कैसा जबर्दस्त रहा है, इस का उल्लेख पहले किया जा चुका है। चूँकि विरह का पूर्वोक्त भाव आनंद की छाया है, इसीलिए कवि उसके प्रति इतना अधिक आकर्षित हुआ है।

रवींद्र की 'आकांक्षा' शीर्षक जिस कविता का अंश पहले अनुवादित किया गया है उसमें 'प्रच्छन्न हृदय-रुद्ध आकांक्षा अधीर' का भी उल्लेख है, यह अधीर आकांक्षा कवि की कविताओं में अनेकानेक रूप में व्यक्त हुई है। इस 'अधीर आकांक्षा' के मूल में है कृत्रिम सांसारिक और सामाजिक विधानों और निषेधों के बंधन से मुक्त होकर निर्द्वंद्व विचरने की लालसा—हे मतवाले! यदि तुम अपना दरवाजा तोड़कर रातोंरात अपनी पोटली खाली करके, मस्त होकर, अशुभ मुहूर्त में यात्रा आरंभ करके पोथी पत्रों के प्रति अवज्ञा दिखाकर बाहर निकल पड़ो, तो हे भ्राता! मैं तुम्हारा साथ दूँगा और उन्मत्त होकर जीवन-सागर में बह चलूँगा। × × × वर्षों तक मैं ज्ञान का कूड़ा करकट इकट्ठा करता रहा हूँ। उन्हें पैरों तले कुचलकर उनके ऊपर नृत्य करो। क्योंकि मैं जान गया हूँ कि मत्त होकर बह चलना ही ज्ञान की चरम सीमा है।' परम ज्ञानी रवींद्रनाथ के परस्पर विरोधी (किंतु एक दूसरे के पूरक) विचारों का यहाँ एक और दृष्टांत है। एक दूसरी कविता में कवि कहता है—'इस प्रकार के बंधन-ग्रस्त सभ्य जीवन से तो यह कहीं बेहतर होता कि मैं अरब देश के बद्दुओं के बीच पैदा होता। घोड़ा उन्मत्त वेग से अनंत बालुकाराशि के ऊपर दौड़ा चला जा रहा है, पैरों के नीचे आग सी जल रही है और जीवन-स्रोत अनंत शून्य में बहा जा रहा है—ऐसे वातावरण में मैं रात दिन चलता रहता हूँ।' सभ्य संसार के कृत्रिम जीवन को तिलांजलि देकर कवि अज्ञात, अप्राप्य माया की मनोहरता के पीछे पागलों की तरह दौड़ा फिरता है।

रवींद्रनाथ के समान विस्तृत और व्यापक प्रतिभा-

छपन्न व्यक्तियों की वृत्तियों को किसी एक संकीर्ण दायरे में बाँधना, उनकी सभी कविताओं पर केवल एक ही दृष्टिकोण से विचार करना उनकी प्रतिभा के साथ घोर अन्याय करना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रवींद्रनाथ ने कविता के विभिन्न रूपों, विचारों और भावों के विविध पहलुओं को अपनाया है। पर चाहे किसी भी रूप और किसी भी पहलू को उन्होंने लिया हो, यह मूल तथ्य सब समय उनके सामने रहा है कि जिस कविता की जड़ जीवन की मूल मिट्टी के भीतर न हो वह एकदम निरर्थक है। इसलिए अपनी विशुद्ध रहस्यवादी विचारधारा के भीतर भी वह घोर यथार्थ जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं और अनुभूतियों की तनिक भी अवहेलना न करके उन्हीं के बीच में 'भगवान' को खोज निकालते हैं। यह रवींद्रनाथ की निजी विशिष्टता है। नीचे उनकी दो कविताओं के अनुवादित अंश दिए जाते हैं, जिनसे मेरे उक्त कथन की सच्चाई प्रमाणित होगी—

'जहाँ सबसे 'अधम' दीन से भी दीन व्यक्तियों का निवास है वहीं तुम्हारे चरण विराजते हैं—सबके पीछे, सबके नीचे, सर्वहारा लोगों के बीच में। जब मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ तब मेरा प्रणाम बीच ही में न जाने कहाँ रुक जाता है। तुम्हारे चरण जहाँ दलितों के अपमान के बीच में आकर उतरते हैं वहाँ—सबके पीछे, सबके नीचे, सर्वहारा लोगों के मध्य में मेरा प्रणाम नहीं पहुँच पाता। × × × जहाँ तुम संगीहीन के घर में चिर-संगी बनकर रहते हो, वहाँ मेरा हृदय प्रवेश क्यों नहीं कर पाता।'

'भजन, पूजन, आराधन सब रहने दे। द्वार बंद करके देवालय के कोने में तू अंधकार में अपने मन के भीतर छिप देवता के ध्यान में मग्न है? आँखें खोल और देख, तेरे देवता घर में नहीं हैं। वह वहाँ है जहाँ किसान मिट्टी खोद रहा है, जहाँ बारहों मास मजूर एड़ी-चोटी का पसीना एक करके पत्थर तोड़ रहा है। तेरे भगवान कड़ी धूप में और घोर वर्षा में उन लोगों का साथ दे रहे हैं। उनके दोनों हाथों में मिट्टी लगी हुई है। उन्हीं की तरह अपने पवित्र वस्त्रों को त्यागकर धूल के बीच में चला आ! तू मुक्ति खोजता है? अरे पागल, मुक्ति है कहाँ? स्वयं भगवान सृष्टि का बंधन पहनकर सबके साथ समान भाव से बँधे हुए हैं।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि रवींद्रनाथ की कविताओं में रहस्यवाद का स्वर प्रधान होने पर भी साधारण जीवन की सहज अनुभूति की अभिव्यंजना में तनिक भी कमी नहीं आने पाई है। अपनी विराट अवचेतना के अपार स्वप्न-सागर में पूर्णतया निमग्न रहने पर भी रवींद्रनाथ का चेता-रूप अपने मस्तक को बराबर उस सागर के ऊपर हिमालय की तरह उन्नत किए रहा। और फलस्वरूप उस सागर से जुड़ी श्यामला विपुला धरती का जो ठोस तथापि स्निग्ध-सरस रूप है उसके प्रतिदिन के प्रतिपल के जीवन-स्पंदन में भी निरंतर सम्मिलित होता रहा—

श्यामला विपुला ए धरार पाने
चेये देखि आमि मुग्ध नयाने,
समस्त प्राण केन जे के जाने
भरे आसे आँखि जल,

बहु मानवेर प्रेम दिये ढाका,
बहु दिवसेर सुखे-दुखे आँका,
लक्ष युगेर संगीत माखा
सुंदर धरातल।

'श्यामला, विपुला इस वसुधरा की ओर मैं जब मुग्ध आँखों से देखता हूँ, तब मेरे समस्त प्राण, जाने क्यों आँसू-जल से भीग उठते हैं। यह सुंदर धरातल असंख्य मानवों के प्रेम से रंजित, असंख्य दिवसों के सुख-दुख से अंकित और लाख लाख युगों के संगीत से स्पंदित है।'

अवचेतना में डूबने के साथ ही उसके ऊपर उठा हुआ कवि का वह चेता रूप केवल धरती के युग-युग के जीवन की धड़कन का ही अनुभव अपनी नाड़ियों में नहीं करता रहा, बल्कि ऊपर नीलाकाश के आर-पार छाए हुए विराट् विश्व के प्रति नक्षत्र और प्रति ग्रह के अणु-अणु में युग युग तक बजनेवाले अनाहत नीरव नाद का श्रवण भी अपने दिव्य कर्णों में करता रहा।

रवींद्रनाथ की प्रतिभा जैसी ही विराट थी वैसी ही गहरी भी, वैसी ही बहुमुखी थी वैसी ही विचित्र रूपिणी भी। ऐसी अमर आत्मा का आविर्भाव शताब्दियों में एक बार होता है। विश्व साहित्य के इतिहास में केवल एक व्यक्ति से उनकी बाहरी तुलना किसी हद तक की जा सकती है। वह है गेटे। गेटे की प्रतिभा भी

बहुरूपिणी थी। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, चित्रकला, भौतिक और रसायन विज्ञान, जीवतत्त्व, वनस्पति शास्त्र आदि नाना विषयों पर उसने अत्यंत महत्त्वपूर्ण मौलिक रचनाएँ की हैं और उसकी प्रत्येक रचना अपने ढंग की अद्वितीय है। रवींद्रनाथ विशद वैचित्र्य में उससे कुछ भी पीछे नहीं रहे हैं, पर साथ ही एक ऐसी विशिष्टता उनमें रही है जो गेटे में नहीं पाई जाती थी। दोनों मनीषियों की कलात्मक उपासना सर्वतोमुखी रही है, पर साथ ही दोनों की उपासना के ढंगों में महान अंतर है। गेटे ने कलात्मक सौंदर्य के बाह्य उपकरणों को अपनाकर जीवन के प्रांगण में प्रवेश करना चाहा है, पर रवींद्रनाथ ने जीवन के मूल उपकरणों को विकसित करके उन्हें सत्य, शिव और सुंदर के साथ एकरूप करने का प्रयास किया है। गेटे का संबंध जीवन से वहीं तक था जहाँ तक उसके कलात्मक आदर्शों से वह (जीवन) मेल खाता हो। जहाँ मेल नहीं खाता था वहाँ वह जीवन के संबंध में एकदम उदासीन था। पर रवींद्रनाथ के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। उन्होंने जीवन के तुच्छ-से-तुच्छ पहलू को भी कभी अवज्ञा की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि जीवन की प्रत्येक तुच्छता को त्याग तथा प्रेम द्वारा महीयान् करके उसे सुंदर और मंगलमय रूप प्रदान करना उनकी काव्य-कला का प्रधान लक्ष्य था।

रवींद्रनाथ के संबंध में हमारे साहित्य-जगत् में तरह तरह की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे यहाँ ऐसे आलोचकों या साहित्य प्रेमियों की संख्या नगण्य है जिन्होंने उस विराट् कवि की विस्तृत रचनाओं का अध्ययन पूर्णरूप से किया होगा। उस अपरिमेय साहित्य राशि का पूर्ण अध्ययन मनन करने का धैर्य सबमें नहीं हो सकता। अँगरेजी में अनुवादित कुछ इनी गिनी पुस्तकों को सरसरी तौर पर पढकर यदि कोई यह कहने का दावा करे कि हमने रवींद्र साहित्य का परिचय पा लिया है तो यह बात बौने के इस कथन के समान होगी कि उसने चंद्रमा को पकड लिया है। अंत में मैं स्वयं भी अपने लेख के संबंध में कालिदास के शब्दों में कहना चाहता हूँ—

क्व सूर्य-प्रभवा प्रतिभा क्व चाल्पविषया मतिः।

'आत्महत्या'—एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ० जयगोपाल वर्मा, एम० ए०, डि० फिल्०

कदाचित् हमारे समाज का सबसे अभागा प्राणी एक अपराधी ही होता है। अपराध एक ऐसा कार्य है, जिसको कोई अच्छा नहीं समझता। प्रत्येक व्यक्ति उसकी आलोचना करता है तथा उसे वर्जित समझता है। इस कारण समाज सुधारकों तथा मनोवैज्ञानिकों के संमुख यह एक अत्यंत रोचक तथा महत्त्वपूर्ण समस्या है।

मनुष्य के मन में बहुत-सी कामनाएँ ऐसी होती हैं, जिनको वह पूर्ण करना चाहता है, किंतु जो सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं होतीं, समाज के व्यवहार के तथा नैतिकता के अपने ही नियम होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को उन्हीं नियमों के अनुसार कार्य करके उनको दृढ बनाना पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति विशेष के व्यवहार तथा उसकी प्रतिक्रियाएँ सामाजिक नियमों के अनुकूल नहीं होतीं तो वह व्यक्ति समाज के विरुद्ध समझा जाता है। उसके आचरण उसे अपराध की ओर प्रवृत्त करते हैं। इस प्रकार मनुष्य की इच्छाओं तथा अभिलाषाओं और सामाजिक मार्गों के बीच उचित संतुलन का अभाव समाज में होनेवाले बहुत-से अपराधों के प्रति उत्तरदायी होता है।

हमारे समाज में आत्महत्या करना एक बहुत बडा पाप तथा अपराध समझा जाता है। बहुधा हम समाचार-पत्रों में पढते हैं कि किसी स्त्री अथवा पुरुष ने आत्महत्या कर ली। और, उसका कारण होता है उस व्यक्ति के जीवन की कुछ विशेष अभिलाषाएँ तथा उनकी पूर्ति में बाधक अनेक प्रतिकूल परिस्थितियाँ। इस कारण एक आत्महत्या करनेवाले व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन अत्यंत मनोरंजक होगा।

जो व्यक्ति आत्महत्या करता है, उसके हृदय में अपार दुख भरा होता है। अपने को वह ऐसी विषम परिस्थितियों

में घिरा हुआ पाता है, जिनसे निकलने की—आत्महत्या के अतिरिक्त अन्य कोई राह उसे नहीं सूझती। उदाहरण के लिए एक ऐसे व्यक्ति को ले लीजिए, जिसके पास से, अपना कहने को जो कुछ था, सब चला गया है, यहाँ तक कि अपने परिवार के व्यक्ति भी नहीं बचे। उस मनुष्य के मन की भावनाएँ कैसी होंगी—यह जानना अत्यन्त कठिन है। उसका जीवन भार-स्वरूप हो जायगा। जीने की कोई चाह उसके मन में न रह जायगी और वह अपने जीवन का अंत कर देना चाहेगा।

आत्महत्या करने की दूसरी परिस्थिति असफल प्रेम के कारण उत्पन्न होती है। समाज में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायँगे, जबकि किसी लड़के अथवा लड़की ने अपने प्रिय की प्राप्ति न होने पर, प्रेम में निराश होकर, अपने प्राण दे दिए।

कभी कभी मनुष्य बहुत गहरा धक्का लगाने के कारण भी आत्महत्या कर बैठता है, जिससे कि उसके जीवन की समस्त आशाएँ चूर हो गई हों। व्यापार में अचानक हानि हो जाना अथवा किसी उच्च पद या सम्मान से वंचित हो जाना भी इसके कारण हैं।

जो व्यक्ति आत्महत्या करता है, उसके सम्मुख शेक्सपीयर के 'हैमलेट' की भाँति, 'रहें अथवा न रहें' (To be or not to be)—दो में से एक राह अपनाने का प्रश्न आ जाता है। दोनों ही मार्ग उसके लिए दुःखदायी हैं। किंतु इन्हीं दोनों में से किसी एक को उसे अपनाना है। यदि वह जीवित रहता है तो उसका जीवन दुखी तथा असहनीय कष्टों से भरा रहता है। यदि वह इस जीवन का अंत कर देने की बात सोचता है, तो उसे आगे आनेवाले जीवन का विचार आता है। ऐसे क्षण भी आते हैं, जबकि मनुष्य का साहस उसका साथ छोड़ने लगता है। आत्महत्या के विचार से ही उसका शरीर सिहर उठता है। किंतु जब दुख तथा यातनाएँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं तब वह अपने जीवन का अंत कर देता है।

इसके अतिरिक्त ऐसी बहुत-सी अन्य बातें भी हैं, जो कि आत्महत्या करने के लिए उत्तेजित करती हैं। अंक-गणना देखने से ज्ञात होता है कि अविवाहित व्यक्तियों की अपेक्षा विवाहित व्यक्तियों की संख्या ही आत्महत्या करनेवालों में अधिक होती है। इसके अतिरिक्त उन्माद लिए हुए व्यक्तियों की आत्महत्या की संख्या सबसे अधिक बढ़ जाती है। आत्महत्या करने की इस भावना पर उनकी जीविका का भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

बहुधा बेकारी तथा बुरी आर्थिक अवस्था बहुत-से अपराधों के लिए उत्तरदायी होती हैं, विशेष कर आत्महत्या के लिए। जब मनुष्य के पास जीवन यापन का कोई साधन नहीं होता तब जीवन उसके लिए एक कठिन प्रश्न बन जाता है। इसी तरह यदि कोई उचित काम नहीं मिलता है तो उसका असंतोष बढ़ता जाता है, और जब वह असंतोष चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब मनुष्य आत्महत्या करके उसका अंत कर देता है। इसी प्रकार जब पेट भरने के लिए भोजन भी नहीं मिलता तब आत्महत्या की संख्या बढ़ जाती है। युद्ध के समय जबकि काम की कमी नहीं रहती और बेकारी की समस्या बहुत-कुछ सुलझ जाती है, तब आत्महत्या की संख्या भी कम जाती है।

एक ऐसे व्यक्ति के प्रति हमारे क्या विचार होने चाहिए, जिसने कि आत्महत्या कर ली है? क्या उसके इस कार्य को वीरता का एक कार्य समझ लेना चाहिए, अथवा उसको ऐसी मानसिक अवस्था का फल समझना चाहिए, जिससे वह जीवन से बिलकुल हार मान गया हो। आत्महत्या को कोई भी कभी उचित कार्य नहीं मान सकता, क्योंकि ऐसा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यक्ति में अपनी परिस्थितियों का सामना करने का साहस नहीं है, और, वह अपने-आपसे तथा जिस वातावरण में वह रहता है, उससे पूर्णतया असंतुष्ट है। किंतु ऐसे व्यक्ति को हमारी सहानुभूति का पात्र होना चाहिए। उसकी यह समस्या एक मनोवैज्ञानिक को सुलझानी चाहिए। एक व्यक्ति जो कि सफलतापूर्वक आत्महत्या कर लेता है, दूसरों की पहुँच के बाहर हो जाता है। और वह व्यक्ति, जो आत्महत्या की चेष्टा करता है, किंतु असफल होता है; वह दंड का भागी होता है।

ऐसे व्यक्ति को दंड मिलना चाहिए अथवा नहीं, यह एक दूसरा ही प्रश्न है; जो कि हमारे विषय के अंतर्गत नहीं आता। किंतु हम यह कह सकते हैं कि ऐसे व्यक्ति को पूर्णतया समझना नितांत आवश्यक है। ऐसे मनुष्य के व्यक्तित्व तथा उसकी परिस्थितियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अत्यंत वांछनीय है। बहुधा हमें

यह ज्ञात होता है कि किसी आत्महत्या करनेवाले का स्वय उतना दोष नहीं था, और उसके इस कार्य को सरलतापूर्वक रोका जा सकता था। ऐसे अपराधी को दया तथा सहानुभूतिपूर्वक, उचित रीति से समझाना, अपराधी तथा समाज—दोनों ही के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। यह बहुत हद तक सभव है कि उचित देखभाल के द्वारा हम एक व्यक्ति को आत्महत्या करने से रोक सकते हैं।

यदि हम कुछ उदाहरण लें तो अपने विचार को और भी स्पष्ट कर सकेंगे। पहला उदाहरण सागर-विश्वविद्यालय के एक छात्र का है। अपराधी एक होस्टल का रहनेवाला था। उसने अपने को कमरे में लटकाकर आत्महत्या कर ली। किसी को सदेह भी न था कि वह आत्महत्या-जैसा जघन्य कार्य करेगा। यह भी मालूम हुआ है कि उसके बड़े भाइयों में से एक ने इसी प्रकार आत्महत्या की थी। वह भी रावर्टसन कॉलेज, जबलपुर का एक छात्र ही था।

प्रेस के द्वारा हमें यह भी सूचना मिली है कि उसकी जेब में एक चिट थी, जिससे पता चलता है कि उसे स्वय ही यह नहीं मालूम था कि वह आत्महत्या क्यों कर रहा है। आत्महत्या का कारण न तो उस व्यक्ति को ही ज्ञात था और न किसी अन्य व्यक्ति को ही। नियमानुसार पुलिस ने उस छात्र का शव पोस्टमार्टम के लिए अपने अधिकार में ले लिया।

मनोवैज्ञानिक सिद्धात के अनुसार इस विषय में पोस्ट-मार्टम परीक्षा नहीं, वरन् अपराधी के व्यक्तित्व के विषय में छानबीन करने की आवश्यकता है। एक ही परिवार के दो भाइयों ने स्वय कोई कारण न जानते हुए भी आत्महत्या कर ली। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उनके हृदय में एक सुप्त आकांक्षा थी जो कि समय पाकर अत्यत बलवती हो उठी तथा जिसने उनको आत्महत्या के लिए प्रेरित किया।

यदि उस परिवार के जीवित व्यक्तियों को एक मनोवैज्ञानिक चिकित्सक के अध्ययन के अतर्गत कर दिया जाय, तो व्यवहार का यह अनौचित्य रोका जा सकता है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सक उन बातों को मालूम करने में समर्थ हो सकेगा, जिनका कि समाज में प्रचलित नैतिकता के नियमों से सघर्ष हो जाता है। यदि अच्छी तरह अध्ययन कर लिया जाय तो उस परिवार के अन्य व्यक्ति, जिनके मन में आत्महत्या की प्रवृत्ति वर्तमान है, इस निंदनीय कार्य से रोके जा सकेंगे। शव के पोस्टमार्टम से केवल यह ज्ञात हो सकेगा कि उस व्यक्ति ने विष खाया है अथवा नहीं। इससे अपराधी के व्यक्तित्व को समझने में कोई सहायता नहीं मिलेगी।

दूसरा उदाहरण एक युवती का है, जिसने कुएँ में गिरकर आत्महत्या करने की चेष्टा की। वह विवाह के पश्चात् भी अपने माता पिता के साथ ही रहती थी। जब कभी उसके पति के घर जाने का प्रश्न उठता था, वह उसके लिए कभी तैयार नहीं होती थी। वह कहती थी कि उसका पति तथा उसके परिवार के अन्य व्यक्ति उसके साथ बड़ा बुरा व्यवहार करते हैं। जब उसका श्वसुर उसे लिवाने के लिए आया, और उसे ले चलने को बहुत आग्रह करने लगा तब वह स्त्री कुएँ में कूद पड़ी। यह बात शीघ्र ही सबको ज्ञात हो गई, और वह कुएँ में से निकाल ली गई।

भारत के ग्रामीण परिवारों में हमें ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। उस स्त्री के पति के घरवालों का बर्ताव उसके प्रति इतना कटु था कि आत्महत्या के अतिरिक्त, छुटकारे का अन्य कोई उपाय उसकी समझ में नहीं आया। यहाँ पर आत्महत्या करनेवाली युवती का उतना अपराध नहीं है, जितना कि उसके पति के परिवार-वालों का। कहने का तात्पर्य यह है कि इसका कारण बहुत कुछ बाह्य है। यदि आपस में स्नेह उत्पन्न करने की तथा एक दूसरे को ठीक से समझने की चेष्टा की जाय, तो यह कारण दूर किया जा सकता है।



जुंग फ्राऊ : नई दुलहिन

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

भारत का स्वर्ग कश्मीर है, यूरोप का स्वर्ग स्वीजरलैंड। कश्मीर हिमालय की गोद में है किंतु हिमालय की सबसे ऊँची चोटी उससे दूर है। आल्प्स यूरोप का हिमालय है। उसकी सबसे ऊँची चोटी ही नहीं, सबसे खूबसूरत चोटी भी स्वीजरलैंड में ही है। इसीलिए स्वीजरलैंड की महिमा और भी बढ़ जाती है।

जैसी वह खूबसूरत चोटी, वैसा ही उसका मोहक नाम जुंग फ्राऊ—नई दुलहिन। किंतु इस नाम पर आश्चर्य चकित होने की आवश्यकता नहीं। हमारे हिमालय की एक चोटी कंचनजंघा है—यानी जिसकी जाँघ सोने की हो।

यूरोप यात्रा में यदि आपने जुंग फ्राऊ को नहीं देखा, तो समझिए, यात्रा अधूरी ही रही।

जब पिछले साल आया था, चारों ओर बादल ही बादल छाए हुए थे। बर्न (स्वीजरलैंड की राजधानी) में भाई सत्यनारायण के साथ कई दिनों तक ठहरा, किंतु आकाश साफ नहीं हुआ। उनकी मोटर से थून तक आया, इंटर लाकेन की झील की शुरुआत देखी, वहीं से पहाड़ी चोटियों की झाँकियाँ लीं और लौट गया।

क्या इस बार बिना जुंग फ्राऊ देखे मैं लौट सकता था? कल अलग से झाँकी ली, आज उसका गाढ़ालिंगन करके लौटा हूँ। अभी तक सारे शरीर में रोमांच है।

भोर में इंटर लाकेन से हमारी गाड़ी चली। ज्योंही गाड़ी पहाड़ियों के बीच पहुँची, मन प्राण तृप्त होने लगे।

ये झुरमुटें, ये चकमक फूल, ये उछलते नाले, ये लंबे लंबे पेड़, ये गगनचुंबी चोटियाँ। हाँ, हाँ, गगनचुंबी चोटियाँ! अरे, वहाँ देखिए, उस चोटी पर से यह धुआँ धुआँ सा क्या झर रहा है? धुआँ का स्वभाव है ऊपर उठना, यह नीचे क्यों झर रहा है? समझे? यह धुआँ नहीं है। वहाँ से एक झरना झर रहा है। उसका पानी छोटे छोटे कणों में विभक्त हो, यहाँ से धुआँ धुआँ-सा दीख रहा है।

और यह भी झरना ही है, जिसे आप उस पहाड़ी से चाँदी की चमचम लकीर सी नीचे की ओर आते देख रहे हैं। लगता है, गली हुई चाँदी घड़िया से छलक रही हो।

नीचे ये फूल—कितने रंग के, कितने आकार के। किसीने इन्हें रोपा है? किसी ने इन्हें सींचा है? ठेठ प्रकृति की देन हैं ये। उसी के आँचल से इनके बीज झरे, उसीकी नमी ने इन्हें पहाड़ फोड़कर जमने को बाध्य किया, उसीकी कृपा वृष्टि ने इन्हें सींचा, बढ़ाया। जो तुच्छ बीज कण थे, वे सुंदर पुष्प के रूप में प्रस्फुटित हुए। आप इनके रंग गिन सकेंगे? गिनिए—लाल, बैंगनी, नीला, पीला, गुलाबी, बसंती। कहाँ तक गिनिएगा? अधिक-से-अधिक दस रंगों का आप नाम ले सकते हैं। किंतु क्या रंग इतने ही हैं? वे फूल ठठाकर आपकी भाषा की असमर्थता पर हँस रहे हैं।



जुंग फ्राऊ की ऊँची चोटी

रंगों की क्या बात? क्या आप सभी फूलों को नाम ही दे पाए हैं।

यह लीजिए, यह गाडी एक स्टेशन पर रुकी। यह स्टेशन है या खिलौना घर! काठ के ही बने हैं ये—किंतु कई रंग के काठ लगाकर इनकी शोभा कैसी अद्भुत कर दी गई है। पीले काठ का घर, लाल काठ की खिडकियाँ। घर के चारों ओर फूलों के गमले। खिड़कियों पर भी फूलों के गमले।



युग फ्राऊ का एक मनोरम झरना

एक बडा पहाडी नाला है। दूध-सा सफेद पानी उछलता हुआ बह रहा है। फेन की तरह झाग उगल रहे हैं। हमारी रेलगाडी इसी नाले का अनुसरण कर रही है। कभी नाला छिप जाता है कभी प्रकट होता है, कभी बाएँ पड जाता है, कभी दाहिने हो जाता है। इंजीनियर चतुर था—प्रकृति के बनाए रास्तों का सदुपयोग क्यों न करे?

गाड़ी धीरे धीरे जा रही है, ऊपर चढ रही है न। लेकिन, अपने दाहिने तो देखिए। वह भी तो गाडी ही है—अरे, नीचे से ऊपर इस तरह जा रही है जैसे केंचुआ ससर रहा हो। कहीं इंजिन फेल कर गई तो। धडाम से गिर पडेगी—कहाँ गिर पडेगी? इस खड्ड में क्या उसका नामनिशान भी ढूँढा जा सकेगा?

किंतु आप चिंता न कीजिए। इंजिन फेल होने पर भी यह गिर नहीं सकेगी। वह इंजीनियर आप से भी होशियार था—जिसने यह असाध्य साधन संभव किया।

दूसरा स्टेशन, तीसरा स्टेशन। यहाँ गाडी अधिक देर तक रुकेगी। कुछ लोग उतर रहे हैं और उस होटल की ओर बढ रहे हैं। होटल की बगल में वह क्या लिखा है? आखें तो धोखा नहीं दे रहीं? लिखा है 'बाजार'। भारत का बाजार इस स्वीजरलैंड में! इस पहाडी में, इस जंगल में हमारा बाजार? यह शब्द यहाँ कैसे आया—कौन लाया? अपने पर अभिमान हो रहा है, अपनी भाषा पर अभिमान हो रहा है। 'बाजार' का अर्थ यहाँ है वह दूकान, जहाँ आनंद प्रसाधन की सब तरह की चीजें प्राप्त हो जायँ।

गाडी चली और अब लीजिए, आखों के सामने बरफ ही-बरफ! उजली बरफ, चमकती बरफ। क्या खाली आखों से आप उसे देख सकते हैं—यदि सूरज की रोशनी उसपर पडती हो? ज्योंही उस चमकती बरफ की राशि पर नजर पडती है, आप से आप आखें मुँद जाती हैं। इसीलिए तो कल ही रंगीन चश्मा खरीद लिया। गाढे नीले चश्मे के बावजूद बरफ कैसी चमकती दिखाई पडती है।

लीजिए, यह सुरंग शुरू हुई। अब बरफ और सुरंग, सुरंग और बरफ—कैसी आख मिचौनी!

और, यह स्टेशन और यह आखिरी सुरंग। यह सुरंग—इंजीनियरिंग का एक अद्भुत कौशल। स्वीस इंजीनियरों ने इसका निर्माण कर संसार में अपना रोब जमाया है।

युग फ्राउ की अपूर्व शोभा की चर्चा सारे यूरोप में थी, कुछ साहसी पर्वतारोही वहाँ पहुँच भी सके थे। किंतु वह शोभा सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो सकती है, इसकी कल्पना भी नहीं की जाती थी।

१८६३ में जुरिख का प्रसिद्ध स्वीस इंजीनियर अदाल्फ ग्वेयर जेलर इस ओर अपनी बेटी के साथ गर्मियों की छुट्टी बिताने आया था। एक दिन वह घाटियों के बीच टहल रहा था कि उसकी दृष्टि युंग फ्राऊ पर पड़ी और वह विस्मय विमुग्ध होकर उसे देखता रह गया। उसी समय उसने मन ही मन निर्णय कर लिया—वह ऐसे रेल पथ का निर्माण करेगा, जिससे युंग फ्राऊ के दामन तक मानव आसानी से पहुँच सके। २६ अगस्त के भोर में उसने ऐसा निश्चय किया और उसी रात में इसके लिए उसने इस पथ का एक खाका भी बना लिया।

उन्नीस वर्षों तक वह लगातार काम करता रहा। रास्ते ढूँढ़, सड़कें बनाईं, पुल बनाए, सुरंगें बनाईं और १ ली अगस्त, १६१२ को युंग फ्राऊ तक रेल ले जाने में वह समर्थ हो सका।

युंग फ्राऊ का यह अंतिम स्टेशन ११,३४० फुट की ऊँचाई पर है। यह स्टेशन पहाड़ के नीचे ही है, उसके ऊपर तो बरफ की अनंत राशि पड़ी है। स्टेशन से लिफ्ट के द्वारा ऊपर पहुँचा जाता है।

यह गाड़ी बिजली द्वारा चलाई जाती है। युंग फ्राऊ के निकट के दो झरनों से ही बिजली पैदा की जाती है। रेल नीचे से ऊपर की ओर सरकती है। जब कभी बिजली फेल हो जाय, तब भी गाड़ी नीचे की ओर नहीं खिसक सके, वहीं की वहीं रह, इसके लिए इंजिन में ऐसी तरकीबें लगा दी गई हैं कि वहाँ भी बिजली बनती रह। गाड़ी के पहियों में इस प्रकार के ब्रेक भी लगे हैं कि वह जहाँ की-तहाँ खड़ी रह।

स्टेशन पर पहुँचते ही यात्रियों की उमंग का क्या कहना? लड़कियों की क्या बात, बूढ़ियाँ तक नाचने और गाने लगीं। हमलोग दर्शकों की उमंग से स्टेशन में घुसे। पहाड़ के भीतर यह स्टेशन है, किंतु बिजली द्वारा रोशनी और हवा का ऐसा प्रबंध है कि लगता है, यह साधारण स्टेशन ही हो।

स्टेशन के छोर पर एक बरामदा है, जिसपर खड़े होकर आप युंग फ्राऊ को देख सकते हैं। हम तेजी से वहाँ पहुँचे और आँखों पर रंगीन चश्मा लगाकर देखने लगे। वहाँ दूरबीनें भी हैं। हमने उनका भी उपयोग किया।

किंतु, नीचे से, दूरबीन लगाकर देखने पर भी वह मजा कहाँ? झट लिफ्ट से मैं ऊपर चला, और लीजिए, मैं बरफ पर खड़ा हूँ।

हाँ, जिंदगी में पहली बार मैं बरफ पर खड़ा था। मैंने समझा था, जमी हुई बर्फ होगी, पैर फिसलते होंगे। किंतु नहीं, वहाँ बरफ के नन्हे-नन्हे टुकड़े हैं, बड़े मुलायम। उनपर पैर रखकर चलिए, तो खूब घासवाला जमीन पर चलने का आनंद आता है। जिस तरह घास वाली जमीन में पगडंडी बनी होती है, वहाँ भी पगडंडियाँ थीं। मैं एक पगडंडी को पकड़कर दौड़ा। इच्छा होती थी, यहाँ वहाँ दौड़ता रहूँ। किंतु एक अनुभवी व्यक्ति ने कहा—अरे, जरा सम्हलकर। बर्फ के नीचे कहीं-कहीं पोपली जगहें हो सकती हैं, वहाँ पैर पड़े कि आप धँसे। कौन निकाल सकता है?

तो भी इच्छा होती थी, दौड़ता ही रहूँ। ऐसी शुभ्र, शीतल, सुंदर, बेदाग जगह में ब्रह्म पाना भी क्या कम सौभाग्य की बात हो सकती है? यह जानता ही था, बर्फ में जो गड़ जाते हैं, उनका शरीर कभी सड़ता नहीं। सैकड़ों, हजारों वर्षों के बाद भी वह वैसे का वैसा बना रहता है। जहाँ सड़न है, बदबू है, पिल्लू हैं, आग है, लपट है, झुलस है—वैसी जगहों में मरने की अपेक्षा इस बरफ की राशि में अनंत समाधि पाना कहीं सुंदर है, सुरुचिपूर्ण है!

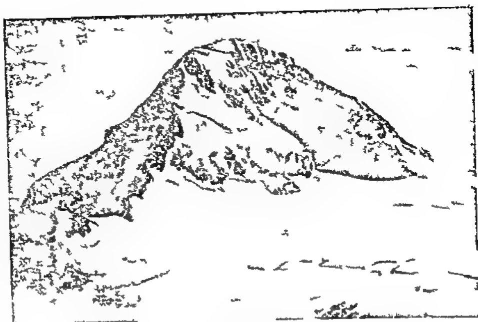
तोभी जीने की वैसी लालसा! सँभलकर, पैर बचा कर आगे बढ़ा और वहाँ पहुँचा, जहाँ एक ऊँची चबूतरानुमा जगह पर स्वीजरलैंड का झंडा लहरा रहा था। वहाँ से आप चारों ओर का पूरा दृश्य भरपूर देख सकते हैं।

झंडे के नीचे खड़ा हूँ। एक ओर युंग फ्राऊ है और दूसरी ओर मौंच। मौंच लगता है, ऊँचाई में बड़ा है। किंतु बात ऐसी नहीं है, जहाँ खड़ा हूँ, वहाँ से मौंच निकट है, युंग फ्राऊ दूर। मौंच को भाई कहिए, युंग फ्राऊ को बहन। बहन बड़ी है—१३६७० फुट, भाई छोटा है—१३४६५ फुट। और यह बात भी है ही कि भाई से बहन कहीं अधिक खूबसूरत है। बहनें खूबसूरत होती ही हैं—आकर्षण का केंद्र, प्यार का केंद्र!

सामने मुँह करके एकटक युंग फ्राऊ—यूरोप की इस नवेली दुलहिन को देख रहा हूँ। वह अपनी पूरी शान के साथ खड़ी है—शुभ्र, श्वेत। सूर्य की किरणों से उसका सारा शरीर चमचम कर रहा है। लगता है, वह

अभी हँस पड़ेगी, अट्टहास कर उठेगी। उसके रोम रोम खिल खिला रहे हैं, इतना तो अनुभव कर ही रहा हूँ।

बहुत दिन हुए, कलागुरु अवनींद्रनाथ ठाकुर का एक चित्र देखा था—एक ऐसे ही बरफ के स्तूप के सामने एक ऋषि खड़े हैं और उनके मुँह से अचानक निकल पड़ा है—कस्मै देवाय हविषा विधेम।



मोंच की ऊँची चोटी

हाँ, ऐसी जगहों में बुद्धि में यह संदेह पैदा हो जाता है कि पूजनीय—अर्चनीय क्या है? प्रकृति का यह शाश्वत सौंदर्य या पुरुष का वह पराक्रम जो इस सौंदर्य को सुलभ बना देता है?

ऊपर यह युंग फ्राऊ है, नीचे वह स्टेशन है। हमारे हविर् का पात्र कौन है?—पुरुष या प्रकृति!

किंतु, क्या यहाँ अधिक तर्क वितर्क भी किया जा सकता है? अजी देखिए, देखिए, पुरुष का पराक्रम बार-बार देखने को मिलेगा, किंतु प्रकृति का ऐसा सौंदर्य तो विरले ही प्राप्त होता है।

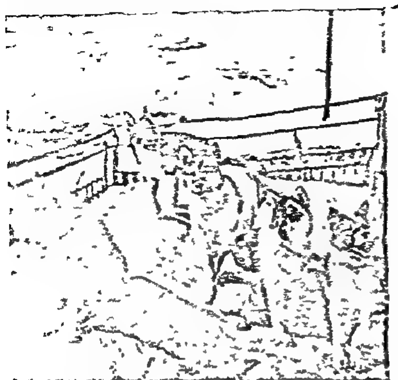
इस झंड के नीचे खड़ा होकर एक ओर दृष्टि डालिए, तो तेरह मील तक फैली वह ग्लेसियर हिमानी दीख पड़ेगी, जो यूरोप की सबसे बड़ी ग्लेसियर है। तेरह मीलों तक फैली बरफ की एक लंबी, सुहानी चादर—दपदप, चमचम! दूसरी ओर, कुछ दूर तक बरफ-बरफ, फिर एक भारी खड्ड, और उसके परे हरे भरे जंगल। यदि आप सामने की वेधशाला पर चढ़ जायँ, तो वहाँ से दूरबीन द्वारा आप वह काला जंगल (ब्लैक फारेस्ट) देख सकेंगे जो जर्मनी तक फैला हुआ है, और जहाँ १६१४ के युद्ध में जर्मन सेना को पराजय-पत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा था।

पाकेट से 'गाइड-बुक' निकालकर चारों ओर की चोटियों, ग्लेसियरों, घाटियों को पहचानना चाहता हूँ, किंतु इसमें जो समय लगता है, वह सारे मजे को किरकिरा कर डालता है। क्या सौंदर्य के उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि नाम धाम की भी पूरी जानकारी कर ली जाय?

एक ओर युंग फ्राऊ, एक ओर मोंच। एक ओर यह ग्लेसियर, दूसरी ओर वह हरा भरा जंगल। आसमान में बादल के गाले उड़ रहे हैं, व कभी कभी इन पहाड़ियों की चोटियाँ चूमते से नजर आ रहे हैं। अरे, 'गाइड बुक' जेब में रखिए। देखिए, आँखों को तृप्त कीजिए। फिर उछलिए, कूदिए, बरफ के टुकड़े उठाकर फेंकिए। देखिए, आपकी भुजा की ताकत की पहुँच कहाँ तक है? फिर, जाड़ा है तो क्या, बरफ के कुछ टुकड़े मुँह में रखिए, हँसिए, हँसाइए, चित्र खींचिए, खिंचाइए।

जाड़ा लग रहा है, आप ठिठुर रहे हैं। अपनी गरम पोशाक और ऊनी मोजे के अतिरिक्त आप नीचे से खास इसीके लिए बनाए लबादे और जूते पहन आए हैं, तो भी आप काँप रहे हैं। नीचे चलिए, कुछ पीजिए, कुछ खाइए, गरमाइए।

किंतु उसके पहले जरा इस बरफ महल को भी देख लीजिए। बरफ को काटकर यह बरफ महल बनाया गया है। बरफ की ही छत, बरफ की ही गच! बरफ की गलियारी



भूलती हुई, एक मोटे डोर के सहारे, आगे बढ़ती जा रही है। अब क्या अपने को रोका जा सकता था? झट एक डुबवा कुर्सी पर मैं देशपांडे के साथ बैठ गया, और देखिए, देखते देखते यह छू मंतर!

आप क्रमश ऊपर जा रहे हैं। ज्यों ज्यों ऊपर जाते हैं त्यों त्यों पहाड़ियों के सौंदर्य से आँखें निहाल हो रही हैं। अभी वर्षा हुई थी, यह वरदान हो गया। प्रकृति जैसे अभी स्नान करके शृंगार कर रही हो। हाँ, संध्या भी होने जा रही है न? बर्फीली चोटियों पर सोने का पानी फिर रहा है जैसे।

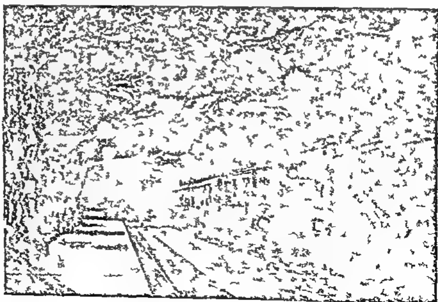
अरे, यह क्या? उधर दाहिनी ओर देखिए, वे क्या हैं? ओहो। कई इंद्रधनुष एक साथ उग गए हैं। एक के ऊपर एक। यों तो जोड़ा इंद्रधनुष मैंने कई बार एक साथ उगे देखा है। किंतु यहाँ तो कई इंद्रधनुष—कोई इधर, कोई उधर, कोई एक दूसरे को काटता हुआ। यह कैसे हुआ? यह बादल और सूर्य किरणों की आँखमिचौनी का करिश्मा है, जो भिन्न भिन्न घाटियों की पृष्ठभूमि में उन्हें भिन्न भिन्न आकार ग्रहण करा रहा है, हाँ, सब के सब सतरंगी। कितना देखूँ, कितनी आँखों से देखूँ—सुंदर, अतिसुंदर!

एक रस्से के सहारे हम ऊपर की ओर जा रहे हैं, दूसरे रस्से के सहारे कुछ लोग नीचे आ रहे हैं। आनेवाले जब हमारे निकट पहुँचते हैं, हाथ हिलाने लगते हैं और 'चियर यू' कहने लगते हैं। एक लड़की ने तो अभी कमाल ही किया है। बार-बार अपने हाथ को होठ पर ले जाती, फिर उसे हिलाती। यह क्या बात? देशपांडे पुराने खिलाड़ी ठहरे, उन्होंने वैसा ही किया। लड़की ठहाका मारकर हँस पड़ी। ओहो, दूर दूर से यह चुंबन का कैसा आदान प्रदान! दो बच्चे आ रहे, वे तो ऐसे उछल रहे हैं कि लगता है, कुर्सी पर से नीचे जा गिरेंगे।

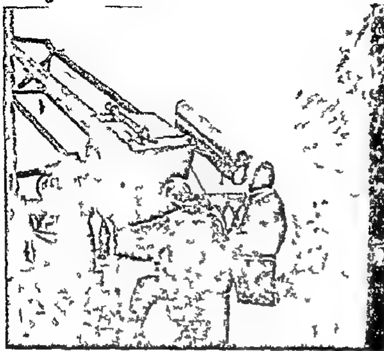
पहाड़ की चोटी तक पहुँचने में तीन स्टेशन पड़ते हैं। स्टेशन पर पहुँचकर हमारी कुर्सी एक छावनी के भीतर घुस जाती है, वहाँ टिकट देखे जाते हैं, फिर एक झटके के साथ कुर्सी आगे बढ़ती है।

लीजिए, यह अंतिम स्टेशन है। और हमलोग आज के अंतिम यात्री भी हैं। सूरज डूबने जा रहा है। दिनभर का ही यह कारबार है। स्टेशन पर एक रेस्तराँ है, यहाँ खाइए पीजिए। इधर उधर घूमघाम कर खुली आँखों से सब देखिए। फिर यह बड़ी दूरबीन लगी है। उसके चारों ओर निशान बने हैं कि कौन सी चोटी स्थिर है, कितनी दूर पर है, कितनी ऊँची है। यूरोप की सभी राजधानियों की दिशाएँ और दूरियाँ भी यहाँ निर्दिष्ट हैं। कुछ पैसे देकर दूरबीन से भी देख लीजिए।

हम जब ऊपर जा रहे थे, नजर ऊपर थी, अब नीचे जा रहे हैं, तो नीचे देख रहे हैं। नीचे के पेड़ पौधे कितने सुहावने लगते हैं। इन पेड़ों को देखिए, लंबे-लंबे। पत्ते कितने छितनार। ज्यों-ज्यों पेड़ बढ़ते हैं, नीचे की टहनियाँ अपने आप झड़ती जाती हैं। घासों में तरह तरह के फूल। लगता था—रंग बिरंगी छींट की लंबी चादर किसीने बिछा दी हो। हमारे नीचे जो लोग जा रहे हैं वे भी हमें देखकर हाथ हिलाते हैं। पगडंडी पर जाती हुई वह युवती किस उमंग से हाथ हिला रही है—ओहो, फूली



युग फ्राऊ का पहाड़ी स्टेशन



युग फ्राऊ की वेधशाला

क्यारियां, पीछे साग सब्जियाँ। गाड़ी के एक डब्बे में कुछ बच्चे चढ़े थे। इस सुहाने समा का प्रभाव उनपर भी पड़ा है क्या ? वे किस तरह शोर मचा रहे हैं, गा रहे हैं चिल्ला रहे हैं।

युंगफ्राऊ—कितना आकर्षण है इस नई दुलहिन में। हमारे डब्बे में ब्राजिल के, आस्ट्रिया के, जर्मनी के, स्पेन के लोग थे, जिनका पता हमें अनायास लगा। न जाने, इसी ट्रेन से कितने देशों के लोग आ रहे होंगे। मर्द हैं, औरतें हैं, बच्चे हैं। वह ब्राजिल की लड़की शीलाजी को ग्राड़ी को किस तरह गौर से घूर रही है। वह जर्मन युवक अपनी टूटी फूटी अँगरेजी में शिवाजी से बातें कर रहा है।

हुई कदंब की डाली जैसे हवा के झोंके पर बेतहाशा हिल रही हो।

जब हम नीचे के स्टेशन पर पहुँचे, एक आदमी ने हाथ उठाया। हमने भी हाथ उठा दिए। जब नीचे आया, उसने कहा—मैंने आपका फोटो लिया है। यदि पाँच फ्रैंक दीजिए, तो इसकी तीन तीन कापियां हम आपके देश में भेज देंगे।' कहीं ठग तो नहीं रहा ? क्या हुआ, यदि पाँच फ्रैंक में इनकी ईमानदारी की जाँच हो गई। पैसे दे दिए (और जबतक बंबई पहुँचूं, हमारे फोटो पहुंच चुके थे)।

फिर ट्रेन। गाड़ी नीचे की ओर, जैसे फिसलती हुई जा रही हो। दोनों ओर पहाड़ियाँ। पहाड़ियों में छोटी छोटी बस्तियाँ छिटपुट। काठ के ही घर। घरों के आगे फूल की

झुटपुटे के वक्त हम इंटरलाकेन पहुंचे। सोचा, एक बार उस फूल की घड़ी को फिर देख लूँ। उस बगीचे में पहुँचा। रोशनी का ऐसा सुंदर प्रबंध कि सारा बगीचा चकमक कर रहा। कुंजों में प्रेम का आदान प्रदान चल रहा है। उस मकान से संगीत की मधुर धारा फूट रही है। फूल की घड़ी की फूल की सूइयाँ आठ पर आती हैं—घड़ी से सलग्न खिलौने का चपरासी घड़ियाल पर चोट देता है। गिनिए—एक दो तीन चार।

[लेखक की 'उड़ते चलो, उड़ते चलो' नामक अप्रकाशित पुस्तक का एक अंश]



स्वर्ग से चिट्ठी

श्री वृंदावनलाल वर्मा

(१)

बात लगभग ६६० ई० की है। राजा जयपाल का राज्य था जो सरहिंद से काबुल के उत्तर पश्चिम लमगान तक और कश्मीर से मुलतान तक फैला हुआ था। राजधानी भटिंडा थी। राज्य भर में तरह-तरह के वर्ग और जाति के लोग बसते थे—हिंदू, तुर्क, पठान, धक्कर इत्यादि। ब्राह्मण और अब्राह्मण में नहीं पटती थी। कश्मीर में ही नहीं, राज्य के सभी प्रांतों में।

राजा का प्रधान मंत्री अब्राह्मण था—बहुत चतुर। चालाक इतना कि दूर दूर तक के देशों के लोग समझते थे कि राज्यभर में उसकी योग्यता की टक्कर का कोई दूसरा नहीं। यह मंत्री बडी दृढता और सावधानी के साथ शासन चलाता था। राजा जयपाल की उस पर अटूट श्रद्धा थी।

राजा को सपनों, छींकों, दाएँ-बाएँ अंगों की फडकनों, रमल और फलित ज्योतिष में अटूट विश्वास था। फिर भी जयपाल वीर और पराक्रमी था।

अब्राह्मण मंत्री इन विश्वासों की बात में तटस्थ होते हुए भी उन लोगों के विरुद्ध था जो राजा के वहम को इन विश्वासों के झंझटों में फँसाए रखते थे। इस नीति के कारण अनेक प्रभावशाली ब्राह्मणों से उसका घोर मन-मुटाव हो गया था।

उन ब्राह्मणों के एक समूह ने एक दिन राजा से मंत्री की अनेक शिकायतें कीं, पर राजा अपने मंत्री के काम और ईमानदारी पर इतना मुग्ध था कि उसने शिकायतों को टाल दिया।

(२)

राजा को उस रात सोने के पहले बहुत बेचैनी रही। करवटें बदलते-बदलते मुश्किल से नींद आई। जब आई तब तरह-तरह के बुरे सपने देखे। देर से सोकर उठा। आँखें मलते ही देखा कि एक चिट्ठी उसके पलंग के पास ही रखी हुई है। आँखें और भी मलीं। जब साफ साफ दिखने लगा तब चिट्ठी पढी। अक्षर उसके स्वर्गीय पिता के अक्षरों से मिलते थे। चिट्ठी में लिखा था—'मैं जहाँ हूँ उसकी सुंदरता की कोई सीमा नहीं। बडे आनंद में हूँ। समाचार मिलते रहते हैं कि राज्य का प्रबंध बहुत अच्छा है। इसमें हाथ किसी का भी हो, नाम तो तुम्हारा ही है। उस लोक में जो कुछ करके मैं यहाँ स्वर्ग में आया हूँ, उसके कारण देवताओं ने मुझे कई काम सौंप रखे हैं। इन्हें करना पडता है, करता रहता हूँ, पर कभी-कभी बडी उलझनें सिर पर आ जाती हैं, और मेरे आनंद में कमी आने लगती है। बस, यही एक कष्ट है। इस कष्ट को दूर करने का उपाय केवल तुम्हारे हाथ में है। तुम अपने प्रधान मंत्री को जितनी जल्दी हो सके, भेज दो।

राजा ने चिट्ठी को कई बार पढा। अपने स्वर्गीय पिता के हस्ताक्षर पहचानने में कठिनाई नहीं हुई।

राजा ने प्रधान मंत्री को बुलाकर अपने बुरे सपनों की बात कह सुनाई।

मंत्री अंधविश्वासी नहीं था, परंतु राजा के अंध विश्वासों का विरोधी भी न था।

बोला—'महाराज! सपने झूठे निकलते हैं। पर हाँ, कभी-कभी सच्चे भी पड जाते हैं।'

राजा अनमना तो था ही, उसे यह बहस, छोटी-सी होने पर भी, अच्छी नहीं लगी।

राजा ने रिसियाहट में वह पत्र निकालकर मंत्री के हाथ में दे दिया।

मंत्री ने पत्र पढ लिया और सिर नीचा करके चुप रहा।

'अब?'—राजा के मुँह से निकला।

मंत्री ने नम्रतापूर्वक कहा—'जो आज्ञा हो।'

राजा के मानों बंद दरवाजे खुल गए। बोला—'मेरे स्वर्गीय पिता तुम्हारे स्वामी थे। उन्हींकी कृपा और आशिष से तुम इतने बढे। उनकी आज्ञा का पालन करना ही होगा। स्वर्ग जाने के लिए कबतक तैयार हो सकोगे? चाहता हूँ कि जितनी जल्दी हो सके, चल दो। पिताजी बाट जोहते होंगे।'

मंत्री को सोचने में कुछ क्षण लगे।

'बहुत देर हो गई है। मेरा कर्तव्य है ...'—राजा बात पूरी नहीं कर सके।

मन्त्री ने उत्तर दिया—'मैं तो इसी घड़ी जाने के लिए हामी भर देता, परन्तु बहुत-कुछ जरूरी राजकाज हैं, घर का भी कुछ प्रबंध करना है, किसीका कुछ पावना है, किसी को कुछ देना है, थोड़ा-सा दान पुण्य भी कर लेना चाहता हूँ जो आगे काम देगा। फिर पूरी शांति के साथ चल दूँगा। इसके लिए महाराज, मुझे एक महीने की मुहलत देने की कृपा करें।'

राजा ने एक महीने का समय मन्त्री को दे दिया। मन्त्री का एक भवन भटिंडा नगर के बाहर था। उसमें एक बड़ा उद्यान था। फल फूल के तरह तरह के वृक्ष थे। उसने बहुत-से वृक्षों को कटवा दिया। अपने भवन से लगाकर काफी दूर तक एक लंबा सकरा कमरा बहुत से मजदूर लगवाकर बनवा डाला। लोग मन्त्री से डरने लगे। समझते थे कि मन्त्री पागल हो गया है। जानते थे कि महीने के अंत में वह सदा के लिए चला जायगा। अनेक दुखी भी थे, परन्तु कर क्या सकते थे?

(३)

महीने का अंत आकर रहा। मन्त्री राजा जयपाल के सामने ठीक समय पर जा खड़ा हुआ। बोला—'महाराज, मैं इसी घड़ी स्वर्ग की यात्रा के लिए तैयार हूँ।'

राजा मन्त्री के आज्ञा-पालन पर प्रसन्न हुआ। उसे विश्वास हो गया कि अब आगे बुरे सपने देखने को नहीं मिलेंगे।

उस ब्राह्मण समूह के हर्ष का तो कुछ ठिकाना ही न था जिसने एक महीने पहले राजा से मंत्री की शिकायतें की थीं।

मन्त्री ने अपने दाह के लिए स्थान सुझाया—स्थान उसके उद्यान के बाहर था जिसके बहुत से पेड़ कटवाकर उसने एक लंबा सकरा कमरा बनवाया था। दाह कुछ दूरी पर होने को था जहाँ मंत्री ने एक गड्ढा खुदवा लिया था। दाह के लिए उद्यान के कटे पेड़ों की लकड़ियाँ उस गड्ढे के पास इकट्ठी की गई थीं। राजा दाह के स्थान तक मंत्री को पहुँचाने के लिए गया।

गड्ढे में उतरने के पहले मंत्री ने विनय की—'मेरे ऊपर लक्कड़ फेंककर न पटक जायँ। गड्ढे को लकड़ियों से पाटकर चिता बना ली जाय और अग्नि-संस्कार किया जाय। एक पत्र मुझे स्वर्गीय महाराज के नाम अपने हाथ का लिखा दे दें कि 'आपकी आज्ञा के अनुसार अपने मन्त्री को सेवा में भेज रहा हूँ। आगे क्या करूँ, इस विषय का आदेश भेजने की कृपा करें। मैं बाट देखूँगा।'

राजा ने मान लिया। उस तरह का पत्र भी लिखकर दे दिया। मन्त्री गड्ढे में जा बैठा। गड्ढे को हौले से पाट दिया गया। फिर उसके ऊपर ढेरों लकड़ियाँ रख दी गई।

लोगों ने कहा कि मन्त्री ने अपने उद्यान के इतने पेड़ इसी मतलब से कटवाए थे, कटी हुई लकड़ी का एक भी टुकड़ा पड़ा न रहने पावे, नहीं तो मन्त्री की आत्मा को शांति नहीं मिलेगी। ऐसा ही किया गया। चिता में आग लगा दी गई। जब वह चारों ओर से धायँ धायँ कर जल उठी तभी राजा और उसके साथवाले वहाँ से हटे। राजा को अपने मन्त्री की कर्मण्यता पर संतोष था, विरोधियों को बहुत हर्ष और कुछ लोगों को मन ही-मन बड़ा दुख।

(४)

मन्त्री मूर्ख नहीं था। वह जानता था कि स्वर्ग से चिट्ठियाँ नहीं आतीं और यह सारा षड्यंत्र उस वर्ग के ब्राह्मणों का है जो उसके घोर शत्रु हो गए थे। उस दिन राजा के पास से लौटते ही उसने पेड़ कटवाना, कमरे बनवाना और सुरंग खुदवाना आरंभ कर दिया था। उसके हाथ में बहुत से ऐसे लोग थे जो अपना सिर चाहे कटवा देते, पर यह रहस्य न खोलते।

जैसे ही दाहवाला गड्ढा पाटा गया और चिता में आग लगाई गई, मन्त्री धीरे धीरे खिसककर सुरंग में रेंग गया और रात होते होते अपने भवन में पहुँच गया। चार महीने तक मंत्री उस भवन में बिलकुल गुप्तरूप से रहा। उस भवन से कोई हवा तक नहीं फूटी कि वहाँ क्या है और क्या हो रहा है।

इन चार महीनों में जयपाल के राज्य भर में गड़बड़ी उठ खड़ी हुई। काबुल से लेकर कश्मीर तक उपद्रवों की भरमार हो पड़ी। भटिंडा के उत्तर और निकट पश्चिम में भी कहीं कोई झगड़ा, कहीं कोई झंझट। राजा को न दिन में चैन, न रात में नींद। कभी भाग्य को कोसता और कभी ज्योतिषियों और रमल फेंकनेवालों को। बुरे सपनों की तो बाढ़ सी आ गई। नया मंत्री जिसने पुराने की 'स्वर्गयात्रा' पर राज्य की बागडोर सँभाली थी, सिवा सिर खुजलाने और राजा को बहलाने के और कर ही क्या सकता था।

जनता की जीवट सामंतों ने समेट ली थी। वह अँधेरे में ठोकरें खा रही थी और सामंत अपनी-अपनी परिधि बढ़ाने के लालच में एक-दूसरे को नोचने-खसोटने पर जुट पड़े थे। दूसरी ओर अंध-विश्वास इन सभी को अलग डँसे जा रहा था। ठिकाने से सँभाल करनेवाला कोई नहीं दिखाई पड़ता था!

उन चार महीनों की समाप्ति पर एक रात जब राजा जयपाल को फूलों की सेज में भी काँटे चुभ रहे थे तब उसके ड्योढ़ीवान ने विनती की,—'स्वर्ग से महाराज के पुराने मन्त्रीजी लौट आए हैं और दर्शन करना चाहते हैं।'

राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ।

मंत्री ने आकर नम्रता-पूर्वक प्रणाम किया, और एक पत्र उसके हाथ में देते हुए कहा—

'स्वर्गीय महाराज ने पत्र भेजा है।'

राजा ने पत्र पढ़ा। पत्र स्वर्गीय राजा के-जैसे ही अक्षरों में था।

पत्र में लिखा था—

'......तुमने बहुत अच्छा किया जो मेरी आज्ञा पालकर प्रधान मंत्री को मेरी सेवा में भेजा। अब मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हारे राज्य की तरह-तरह की गड़बड़ी के समाचार मिले हैं। बिना इस मंत्री के राज्य चौपट हो जायगा—किया-कराया सब व्यर्थ जायगा। यही राज्य की दशा को सुधारकर प्रजा को सुख और शांति देगा। मेरी आत्मा की शांति के लिए इन ब्राह्मणों की अनिवार्य आवश्यकता है जिनकी खटपट इस प्रधान मन्त्री से रही है। यह और वे एक ही ठौर पर नहीं रह सकते। इसलिए उन्हें तुरत मेरे पास भेज दो।'

राजा विचार-मग्न हो गया। मन्त्री सिर झुकाए खड़ा रहा।

अंत में राजा ने कहा—'स्वर्गीय पिताजी की आज्ञा मेरे सिर-माथे। तुम फिर से प्रधान मन्त्री के पद को सँभालो। उन ब्राह्मणों को मैं तुरत पिताजी के पास स्वर्ग भेजता हूँ।'

प्रधान मन्त्री ने अपना पद फिर से अपने हाथ में लिया। वे ब्राह्मण सब-के-सब पकड़े गए।

राजा ने उनके जला देने का आदेश दिया।

परंतु प्रधान मंत्री इसके परिणाम को जानता था।

उसने राजा को समझा-बुझाकर दूसरे निर्णय पर पहुँचाया।

उन सबको देश-निकाले की आज्ञा दी गई।

मन्त्री ने राजा से विनय की—'ये देश से बाहर होने के बाद अपने-आप सीधे स्वर्गीय महाराज की सेवा में पहुँच जायँगे।



पहली पहेली

श्री विश्वमोहनकुमार सिंह

वह दिन, वह सन्ध्या
जब धरती पर बाती और आकाश में तारे
जगमगा उठे थे;
मैंने उसे देख लिया, उसने भी मुझे देख लिया,
धरती वही थी, आकाश वही था,
बाग, बगीचे, सड़क भी वही थे,
किंतु मेरी दुनिया बदल गई,
हृदय आनंद से नाच उठा, उन्मत्त-सा उमड़ पड़ा,
मैं कहता रह गया—अधीर न हो, अधीर न हो,
किंतु सृष्टि-चितेरा की कूची की तरह
मेरी आँखें चित्रित करने लगीं
मेरे मानस-पटल पर, मेरे हृदय-पटल पर
चित्रों की शृंखला अविरल धारा की तरह
एक-से-एक सुंदर, एक-से-एक विचित्र,
उस मुखड़े को,
प्रथम मिलन पर, एक झाँकी में ही
जिसे देख लिया था मैंने
उस दिन, उस सन्ध्या को
जब धरती पर बाती और आकाश में तारे
जगमगा उठे थे।

कुछ बातें हुईं, हम विदा भी हुए,
हम आए भी, और गए भी;
किंतु अब आना क्या और जाना क्या?
जागो तो वही मुखड़ा, सोओ तो वही मुखड़ा,
पढ़ो, लिखो, देखो तो वही मुखड़ा,
कृष्ण की वंशी की तरह, प्रह्लाद के राम की तरह
जीवन में प्राणवायु
अंधकार प्रकाश नीलिमा की तरह
वह रम गई
मेरे अहं में।

हेमंत बीता, शीत बीता,
पेड़-पत्ते जग उठे,
आम में मंजर महमहाने लगे,
कटहल ने अपने मधुर सौरभ से हृदय को मत्त
कर दिया;
किंतु मैं सोचता, झिझकता, अपने-आप कहता—
ये आम के मंजर नहीं,
ये कटहल के कोमल दल नहीं,
यह सौरभ, यह उल्लास, यह मादकता
मैंने तो पहले कभी नहीं देखी;
फिर क्या देखी? कहाँ देखी?
इतना सौरभ, इतना उल्लास, इतनी मादकता
उस दिन, उस सन्ध्या को
जब धरती पर बाती और आकाश में तारे
जगमगा उठे थे;
उसके पूर्व आम में मंजर थे, पर सौरभ कहाँ?
कटहल में दल थे, पर मादकता कहाँ?
पेड़ों में पत्ते थे, पर जगना कहाँ, जगमगाना कहाँ?

दरवाजे पर खड़ी थी
और झाँकता था यौवन उसके अंग-प्रत्यंग से
किसी की राह में; किसकी राह में?
शनैः-शनैः पग धरता, चुपके-चुपके
मैं आ गया पीछे से,
देखा उसकी केशराशि को,
भूले हुए ख्वाब की तरह लटकती चोटी को,
उसके शरीर-सौष्ठव को,
उसकी ग्रीवा, कटि, चिबुक को,
उसकी सरकती साड़ी को
जो छिपाए बैठी थी अपने अन्तर्गत
लालसा का अतुल ऐश्वर्य;

मेरी भावना-तंत्री बज उठी,
शायद बजकर कह रही थी—
मैं आ गया, फिर आ गया,
आया था कई बार, फिर आ गया
खिंचकर दीपशिखा की ओर पतंग की तरह,
मुझे जला तो सही,
रुला तो सही, हँसा तो सही,
तड़पा, खिझा, झुलसा तो सही,
देवि, सुंदरि······
एक स्पंदन······वह मुड़ गई,
देखा—हाथ में थाल, थाल मे कुंकुम,
आँखें रस-सिक्त भीनी लज्जा से दबी,
वह मुस्कराई, बोली—
एक कोकिल-कंठस्वर से,
कुंकुम लेती हुई—लगा दूँ ?
उत्तर क्या था, क्या देता ?
प्यासे को पानी मिला,
कुंकुम बाल-रवि की तरह मेरे ललाट पर
चमक उठा,
और चमक उठी माटी की मेरी काया ।

वह खड़ी रही,
हाथ में थाल, थाल मे कुंकुम,
आँखें रस और लज्जा से उमड़ती-झिझकती,
मैंने देखा उस रूप-गंगा को
कलकल कर बहती हुई;
हृदय तरंगित हो उठा उत्साह से,
इच्छा हुई तनिक स्पर्श तो कर लूँ,
जन्म-जन्मांतर की आस तो मिटा लूँ,
किंतु उसकी कोमलता और शुचिता से भय खा
खड़ा रहा उपकूल पर;
रूप-गंगा बह रही थी छलछल कर,
मैं खड़ा-का-खड़ा रहा उपकूल पर;
हिम्मत कर पूछा—
यह बाल-रवि जो तुम मेरे ललाट पर देखती हो
यह तो तेरी अँगुलियों की कृति है न ?
क्या यह कभी मिट सकेगा, अगोचर हो सकेगा ?
क्या यहाँ कभी दिन का अवसान हो सकेगा ?
अब तो निरंतर प्रकाश-ही-प्रकाश है;
बोलो, तनिक बोलो—
क्या मेरे कान तुम्हारे शब्द सुन सकेंगे ?
शायद इस नीरवता के संगीत को मैं न सुन पा
रहा हूँ;

बोलो, कुछ बोलो, आँखें उठाओ,
वह खड़ी रही,
हाथ में थाल, थाल थरथरा उठा,
मैंने प्रकंपित हाथों से उसकी ठुड्डी दबा दी,
वह मानो स्वप्न से जग गई,
उसने आँखें उठा देखा,
किंतु मेरी आँखे झिप गईं;
अब न वह सुंदरी थी, न थाल था,
था मेरे ललाट पर कुछ लाल रंग
और एक अनिर्वचनीय स्पर्शानुभूति ।
भयभीत, स्तंभित, रोमांचित
खोजा मैंने उस प्यार-मूर्ति को,
मूर्ति न थी, छाया भी न थी, थी एक रुलानेवाली
याद

पूर्वजन्म के आभास-सी;
पाया था मैंने, जाना था मैंने, अब है कहाँ ?
क्या मेरे स्पर्श से घायल हो
छिपा लिया उसने अपने को दिगंत में
जहाँ किसी का भी पता मिलता नहीं ?
शायद मेरी अँगुलियों ने सौजन्य की मर्यादा तोड़ दी
आवेश में आ, ठुड्डी को छू, गालों का दबा,
तृषित दृष्टि से देख कामुकता से भरी ?
अँधेरा छा गया मेरे संमुख,
घूम गया सिर पृथ्वी की तरह;
पूछा था—क्या मेरे ललाट पर अंकित
बाल-रवि का अवसान हो सकेगा ?

देखा था उस क्षणिक कोमल स्पर्श में
अजस्र अमर अनंत की घड़ियाँ,
पर देखते-देखते
हो गया अवसान मेरे भाग्य का,
मेरे सुनहले स्वर्गीय स्वप्नों का ।

× × ×

चंद्र-भौम-बुध-गुरु, शुक्र-शनि
वार काटे नहीं कटते थे,
घड़ियाँ युग हुई, क्षण उत्तुंग पहाड़-सा
गगन से बातें करता अड़ा जमा था
मानों उसे चलना ही न हो;
आखिर फिर रवि आया, बाल-रवि की याद ने
झकझोर दी मेरी आत्मा को;
प्रात, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, संध्या
फिर वही
धरती पर बाती और आकाश में तारे जगमगाने
लगे,
मैं खोया-सा, भूला-सा, सृष्टि-संहार-मिलन-सा
पहुँच गया उसी तरुणी के पास,
जहाँ वह आसन पर बैठी बुन रही थी अँगुलियों से,
पिरो रही थी आँखों से
ऊन के लच्छे-के-लच्छे;
किसी की दुनिया उजड़ रही थी, किसी की बस
रही थी;
उसने कहा—बैठो, कहाँ थे इतने दिनों तक,
श्यामा, श्यामा, अरी ! इधर आ
और ला कुछ खाने को
अतिथि एक आए हैं,
श्यामा ने अ...पहुँचो ले तश्तरी में
कई गोल-गोल कुरकुरे बिस्कुट,
सेब के कई कतरे भी थे और एक प्याला गर्म-गर्म
चाय ।

देखने लगा, पीने लगा,
कुछ पता नहीं, पीता था या देखता था;

देखता था उसकी कली-सी झुकी नीची दृष्टि को,
उसकी धुंधली रेशम-सी पतली भौंहों को,
उसके हल्के गुलाबी प्रशस्त ललाट को,
उसके कृष्ण केशों के उपवन के बीच
सीधी पगडंडी-सी बनी उसकी माँग को;
चुस्की लेता था गर्म-गर्म चाय, मीठा सुस्वादु;
जब तोड़ता था धीरे-धीरे दाँतो से दबा
उस बिस्कुट को,
आश्चर्य-चकित हो देखने लगता था
उस ऐश्वर्य-भरी प्यार की दुनिया को;
मैं न था, वह न थी,
थी हास-भरी, दुलार-भरी, उल्लास-भरी
मधुमास की एक अनुपम आभा ।

पीते क्यों नहीं—कहा उस बाला ने—
पीते क्यों नहीं, देखते क्या हो ?
क्या कुछ और चीनी मँगा दूँ ?
इन सेब के कतरों को भी तो खाओ,
मैं अच्छी नहीं, लेकिन कुछ खाओ तो सही ।
सुनता था, सुन रहा था कुछ शब्द ध्वनित थे
मेरे कानों के पर्दों पर
विचित्र माधुर्य-भरे, किसी सुनसान निर्झरिणी के
कलकल-से,
एक अलौकिक अकथनीय संगीत-से;
कहा—खा तो रहा हूँ, पी तो रहा हूँ—
कहना चाहता था—पी तो रहा हूँ देखने-
कहने को चाय,
किंतु पी रहा हूँ तेरी सुहावनी आँखें
और व्याकुल हो रहा हूँ पीने को
तेरे अंतस्तल में छिपा तेरा प्यार ।
पिलाओगी, पिला सकोगी ?
किंतु केवल कहा मैंने—
कितनी अच्छी बनी है चाय,
क्या जादू डाला इसमें तुमने ।

फिर चुस्कियाँ ली मैंने, सेब के कतरे खाए,
बिस्कुट की बची छोटी टुकडी को उठाकर डाल
लिया मुँह में,
तश्तरी खाली हुई
औ' खाली हुई हरे प्लैस्टिक की बनी प्याली भी।

कुछ अधीर था, अजीब अस्थिरता थी,
आँधी-पानी आने के समान थे हृदय में,
वह बाला नवजात विधि-सी बैठी
सृष्टि कर रही थी अँगुलियो से,
ऊन के लच्छे-लच्छे द्वारा
बहुत तेजी से, कही भूल का नाम न था,
एक इमारत उठ रही थी देखते-देखते;
अनायास मेरी दृष्टि पडी उसकी चूड़ियो पर
कबूतर की गर्दन के रग भरे
गोल-गोल चमकीले चित्रकार की सुंदर रेखा-सी
आवृत किए थी वे उसकी कलाई को
और घूमती खनखनाती बल खाती
नचा रही थी मेरी दुनिया को, भावना को;
मै न था, वह न थी,
थी मेरे सामने प्यार की एक अलौकिक मूर्ति,
एक रहस्यमयी शक्ति
जो पराभूत किए जा रही थी
मुझे अपने अबाध अगाध धार में,
एक क्षण के लिए ऊपर उठा
आँखें खुली होश में आया,
देखा—बाला बैठी बुन रही थी
रक्ताभ ऊन से और पान-सा बनता आ रहा था
उस स्वेटर पर,
शायद यह किसी के दिल को
सजने-सॅजोने का
एक मुग्ध प्रयास था;
हाथ मारा, पैर भी हिलाया
उस अविच्छिन्न अपरिमित धार पर उतराने के लिए,
धर दबोचा एक प्रलयकर लहर ने
और फिर मेरा कहीं पता न था;
डूबते ने तिनके का सहारा लिया,
पकड ली उसकी कबूतररंगी चूडियो को
और घुमाने लगा शनै-शनै
मानो वह हिलोरें ले रहा हो स्वर्गगगा में
और विचर रहा हो सगीत-वायुयान पर।
अँगुलियाँ रुकी, सृष्टि रुकी
औ' रुकी उस अद्भुत इमारत का बनना-बनाना;
उसकी एक स्निग्ध तीक्ष्ण दृष्टि ने
मुझे आबाद-बरबाद कर दिया।
मैं न था, वह न थी,
थे मेरे होठ उसके होठो पर;
दुनिया न थी, आसमान न था,
वाती न थी, तारे भी न थे,
वायु भी न थी,
था किसी अज्ञात देश से आता
असख्य सरसिजो का सौंदर्य लिए,
अगणित पुष्पो का सुवास लिए,
सहस्र-सहस्र पेरिस-हेलेन, रोमियो-जुलियट,
शाहजहाँ-मुमताज, ट्रिस्टम-इसुयेल्ट,
छलबल कुशल कृष्ण-गोपियो का कामोल्लास लिए
एक स्पदन, एक भाव,
एक मूर्च्छना,
एक अकथनीय आनद-वेदना।

× × ×

धीरे-धीरे जा रहा था रास्ता नापता,
इच्छा थी जीभर रो लूँ,
आँसू न थे आते एक बूँद भी,
जीवन उचाट-सा, दीर्घ निदाघ-सा
व्याकुल कर रहा था पग-पग पर,
क्यो हुआ उतावला ? स्पर्श कर लिया
धधकते स्वर्ण-सी चमकती उसकी कलाई को;
आँखो-आँखो का स्पर्श ही तो यथेष्ट था;
किंतु

मैं कह नहीं सकता क्या हुआ ?
जा गिरे मेरे अधर उसके अधरों पर,
चुंबक-से लिपट गए,
भौंरा रज-सपन्न उमड़े विलसते फूलों में
गंधमत्त रसमत्त काममत्त
भूल गया अपने अस्तित्व को,
भूल गया उसके अस्तित्व को,
यह एक अद्भुत उन्मत्त मिलन था,
इसी एक क्षण में निहित था
चिरंतन की कल्पनातीत घड़ियाँ।
फिर
क्या यह क्षण मिल सकेगा
और ये चिरंतन की कल्पनातीत घड़ियाँ !
इसी एक क्षण में गँवा दिया मैंने
अपने सारे जन्म-जन्मांतर के धरोहर;
और
धरती नापता जा रहा हूँ
एक भिखारी-सा,
सहस्र विच्छू-डंक से आक्रांत
एक पीड़ित-सा।
अब न मिल सकेगा
आँखों-आँखों का स्पर्श, न कबूतरँगी चूड़ियों की झलक;
शायद मेरी छाया ही भगा देगी उसे,
शायद मेरी याद ही रुला देगी उसे,
अस्थान अकस्मात् आहत-सा
विकल हो कह उठेगी वह अपने मन में—
बुरा हुआ, बुरी है सारी दुनिया,
क्या समझा था उसने मुझे ?
कोई देख जो लेता उस मिलन को !
हा हंत ! लुटा दिया मैंने क्षण के एक क्षण में
अपने सारे जीवन को, चिरंतन को,
अपने सारे सुखों को, कृतियों को,
अपने सारे स्वप्नों, कामनाओं को;
रह गई सिर्फ एक
निराशा की अजर, अमर लकीर !
मरोड़ दिया, मसल दिया एक झटके में मैंने
उस कोमल कली को,
उस प्यार की सुलगती दीप्ति को
जो एक दिन अपनी पूर्ण आभा से
प्रकाशित सुरभित करती
मेरे अंतर की दुनिया !
फिर यही तो भूल की मैंने
सौजन्य में देखा प्यार की लपटें,
कोमलता में देखा कामुकता की लहरें,
और खो बैठा हूँ अपना सारा ऐश्वर्य !
केवल एक लालसा रह गई दिल में—
मैं उसके दिल में बसा रहूँ !
फूल-सा नहीं, कंटक-सा ही सही !
केवल एक आशा रह गई दिल में—
बस गया हूँ उसके जीवन में !
फूल-सा नहीं, कंटक-सा ही सही !
भुला न सकेगी वह जीवन में
इस क्षणिक मिलन को
सुख-स्वप्न-सा नहीं, मर्मांतक वेदना-सी ही सही।
× ×
सोचता था, भूलूँगा, भुलाऊँगा,
भुला न सका उसे मैं;
दिनमान कटता न कटे।
घर वीरान-सा, मृगतृष्णा-सा,
जीवन भार-सा था लगता;
रह-रहकर आती थी याद—
एक कोमल चितवन,
होठों की एक मिठास,
एक अकथनीय किसलय-स्पर्श;
फिर सताती थी मेरी कल्पना—
पा न सकूँगा फिर कभी
वह कोमल चितवन,

वह होठों की मिठास,
वह अकथनीय अनुभूति-सा किसलय-स्पर्श !

पागल हो उठा, गोधूलि की वेला थी,
तारों से भी सुदर वेला रागो में
गमगम कर, जगमग कर,
भर दिए सुर से मेरी हृत्तत्री को,
पुलकित हो गया मन मयूर-सा
और रही सही चेतना
आशा किंवा निराशा की
जाती रही ।

चल पडा, पहुँचा, देखा—वातायन से लग
तरुणी निहार रही थी चद्र-रश्मियो को;
बालो की एक क्षीण धारा कपोल-भाग पर
हिलोरें ले रही थी,
दोनो उरोज अजता-चित्रो-से उमडे
ढीठ नारी के नारीत्व का
मूक शब्दो में परिचय दे रहे थे,
कटि की सुघर वक्रता और नितब के चढ़ाव
ललकार थे किसी कुशल चित्रकार के लिए ।
वह अपनी शोभा ही के भार दबी सी
विचलित शकुतला-सी
आश्रम की सस्कृति लिए, प्रकृति की विभा लिए,
सोच रही थी क्या किसी दुष्यत को ?
अथवा भाव विभोर हो
कल्पना लिए कालिदास की
निमज्जित हो रही थी सौंदर्य-जल-प्रपात में ।
आनन सागर-सा गभीर
चद्र-तारो से प्रक्षालित
उषा के स्निग्ध कोमल करो से रजित,
बादलो से उमडते बाल
अमावस्या-से चमकते बाल
उतर आई थी मानो पृथ्वी पर
प्रकृति प्रात-सध्या साथ लिए ।

मैं पार्श्व में खडा निहार रहा था
इस विचित्र सामजस्य को,
इस अलौकिक दृश्य को
या देख रहा था उनमें
मैं अपनी ही आत्मा का प्रतिबिंब ।

साहस न हुआ, बोलकर कहूँ—
मैं आ गया हूँ फिर भी
तेरे समुख तेरे रूप का पुजारी
एक चितवन का वरदान पाने ।
मेरे रुखडे निश्वास से रगड खा
पीछे की ओर देखा उस कोमलागी ने,
मेरी आँखें झिप गईं, खडा रहा
फाँसी के तख्ते पर चढा बदी-सा,
अब तांत कसे, अब प्राणात हो ।

किंतु अहोभाग्य !
न तांत कसा, न हुआ मेरा प्राणात !
शब्द पडे कानो में धीरे से लडखडाते,
निर्झरिणी का प्रच्छन्न सगीत लिए—
'आओ, चलो, बैठो',
फाँसी के तख्ते पर चढा, वा
चिता की धू-धू करती लपटो में लिपटा
उठ बैठा मैं
जीवन का एक विशद, शीतल, निर्मल उच्छ्वास
लेकर ।

श्यामा, श्यामा, अरी ! इधर आ
और ला कुछ खाने-पीने को
एक अतिथि आए हैं ।
एक दुखद स्वप्न से पीडित मानस
धीरे धीरे घर की परिचित वस्तुओ को परख
पा लेता है अपना वास्तविक जीवन ।
मैं भी 'श्यामा, श्यामा' चिर-परिचित शब्दो को
सुन,
तश्तरी में भरे राजभोग-पुज देख,

प्याली से निकलती नाचती थिरकती
कलित पंजनी बजाती भापरेख
खींच लाए वे दिन, वही सध्या, वही राग
जब धरती पर बाती और आकाश में तारे
जगमगा उठे थे ।
और प्रत्याभासित हो गई थी मेरी दुनिया ।

नजर पड़ी उसकी चूड़ियों पर,
रिस्टवाच से सुसज्जित उसकी कलाई पर,
साढ़े सात बज रहे थे ।
सोचा—यह आध घंटा मेरा गुजरा किस प्रकार
बातों-बातों में—शनैः शनैः अनायास
पहुँच गया पुनः मँझधार में,
हिलोरें ले रही थी वीचियाँ
उस रूप-गंगा में—
सृष्टि के प्रभात-सा—
यौवन के उन्माद-सा—
मिल गए दो अणु एक उद्रेक में
न विवेक में, न अविवेक में ।

जब लौटा, कुछ क्षणों के बाद
थे मेरे होठों पर उसके होठों के पीयूष-कण,
मेरे गाल पर उसके गाल के दबाव
और मेरी आँखों में उसकी आँखों की सजल ज्योति ।

अब जा रहा था न रास्ता नापता धीरे-धीरे
उड़ रहा था अब विजय की पँखड़ियों पर,
थिरक रहा था
कल्पना-आशा-उमंग-उल्लास के अभूतपूर्व ताल पर ।

× × ×

अब अमावस्या की रात भी
चाँदनी से छनी प्रभात थी
जब वह पास थी;
पतझड़ का कहीं नाम न था,
हमेशा ही फूलों से हँसता मधुमास था,
जब उसका पार्श्व था;
सघन सूखी डालों से भरा,
काँटों, कुशों, विषबेलों से लदा
वन, उसके निश्वास से
नंदन-कानन को था लजाता;
उषा-आशा के प्रतीक-सी,
जलद-कल्पना के उभाड़-सी
नदियाँ जीवन के प्रवाह-सी
सध्या सोना-सुगंध-मिलन-सी
आती थी, मुझे छू जाती थी,
जब वह मेरे निकट बैठ
आँखों में आँख डालती, हाथों में हाथ डालती;
अब क्या था, कुछ न था, सब था
जब वह पास थी;
फूलों से सुवास की तरह,
सूर्य से प्रकाश की तरह,
भक्त से भगवान की तरह
दूर, कहीं दूर रहकर भी
वह मेरे पास थी,
हमेशा ही साथ थी,
निर्जन भी मुखरित था किसी दिव्य संगीत से,
आकाश भी चमत्कृत था किसी अज्ञेय गीति से,
रक्त भी बह उठा था धमनियों में
एक विचित्र शक्ति से, गति से;
वह एक अद्भुत अनुभूति थी,
ब्रह्म की ! अनंग की !
एक कवि की !
एक नन्ही-सी कली को देख,
जीवन की पहली पहेली को देख !!

जैनेंद्र का 'व्यतीत'

कुमारी आनंदी परमेश्वरन्

जैनेंद्र पहले विचारक हैं या कहानीकार? कथा-कहानियाँ लिखने के पहले उनमें विचारों का उतार-चढ़ाव होता है या किसी अनुभूति की कोई मार्मिक चोट होती है? दूसरे शब्दों में उनकी सृष्टियाँ चिंतन की गहराई से उद्भूत हैं या दृष्टि की पैनी धार के द्वारा, व्यक्ति व्यक्ति के अंतरतम की छानबीन से?

अपनी कृतियों के भीतर से जब जैनेंद्र हमसे बोलते हैं तब उनकी वाणी की प्रभावोत्पादकता, गंभीरता और विचित्रता से प्रभावित होते हुए भी, हम अपने मन में रह-रहकर उठनेवाले उपर्युक्त प्रश्नों का निराकरण कर नहीं पाते। मानव-जीवन और मानव-मन को लेकर वे विचारते हैं या उनके वैचारिक भँवर में जीवन और मन फँसते हैं—यह कहना कठिन है। क्योंकि जीवन में घटनाएँ घटती रहती हैं और मन में तदनुरूप अल्प या अधिक परिमाण में उनकी प्रतिक्रियाएँ भी होती रहती हैं। किंतु जैनेंद्र के विचार-प्रवाह में घटनाओं का आघात उतना तीव्र नहीं है जितना कि मन की प्रतिक्रियाओं का। इसका मुख्य कारण यह है कि घटनाओं के पहले भी उनका विचार-क्रम जारी है और पीछे भी। हाँ, घटनाओं के संपर्क से चिंतन की गति कुछ तीव्र अवश्य हो जाती है।

तात्पर्य यह कि जैनेंद्र के पात्र उनके विचार-प्रसूत ही लगते हैं। पात्रों की सृष्टि के बाद उनकी चरित्र-विचित्रता और विशेषता के कारण कोई विचार-सूत्र निकलता हो—इसका बहुत-कम आभास होता है। उनकी नवीन कृति 'व्यतीत' भी इसी दुविधा और दोराहे पर पाठक को ले जाकर असमंजस में डाल देती है।

भावी पर कोई विचार करे तो वह 'चिंतन' न होकर चिंता ही कहलाता है; क्योंकि उसमें दूरदर्शिता चाहे जितनी हो, उसपर अनायास ही विश्वास कर बैठना मन को स्वीकार नहीं। उलटे वह भूत की तुला पर भावी को तौलना चाहता है। फलतः वह 'व्यतीत' की ओर दौड़ता है—भविष्य के निर्धारण के लिए ही नहीं, वर्तमान के विश्लेषण के लिए भी।

'व्यतीत' का जयंत भी व्यतीत के दर्पण में अपने-आपको देख रहा है—कुतूहल, आश्चर्य या निश्चितता के साथ नहीं, अपितु एक ऐसी विरक्ति, सचाई और तटस्थता के साथ कि जयंत उसे अपना आत्मीय कहकर भी उससे आश्चर्यपूर्ण ढंग से अनासक्त है।

तो क्या 'व्यतीत' एक आपबीती है? 'शेखर' की तरह उसे जीवनी की कोटि में क्या हम परिगणित कर सकते हैं?

जयंत अपने पूर्वाश्रम की खिड़कियाँ अपने लिए और हमारे लिए भी खोल देता है; किंतु पैंतालीस वर्ष के इस संन्यासी जयंत का गठन व्यतीत की किन-किन घटनाओं से हुआ और उसकी आज की हालत के लिए वे सब कहाँ तक उत्तरदायी हैं—इसका उत्तर आपको खोजे न मिलेगा। कारण, जयंत को अपने बीते जीवन से कोई शिकायत नहीं है, कोई पछतावा नहीं है। किसी घटना-विशेष पर, किसी व्यक्ति-विशेष पर, दोष लगाकर, अपनी जलन मिटाने के लिए वह अतीत को खोलकर नहीं बैठा है। एक तटस्थ वैज्ञानिक की भाँति वह अपने बीते जीवन का विश्लेषण करता जा रहा है। उसमें किसी प्रकार का मोह नहीं है, ममता नहीं है, कोई आग्रह नहीं है, अनुरोध नहीं है, कहीं उलाहना भी नहीं है। अपने ही जीवन के प्रति जयत की यह निर्वेद-युक्त मनोवृत्ति क्या आश्चर्यपूर्ण नहीं है?

अतीत की स्मृतियाँ दुःखदायी हों या सुखदायी, रसोद्रेक करने की शक्ति रखती हैं—ऐसा समझा जाता है और अनुभव भी किया जाता है। किंतु जयंत में यह आत्मविस्मृति भी तो नहीं है।

तो क्या वह अपने व्यतीत जीवन से कोई बड़ा भारी सत्य खोज निकालना चाहता है? शायद, बात यही है। लेकिन इसके लिए वह विशेष तत्पर नहीं जान पड़ता।

फिर उसने टटोलकर पाया क्या? विगत जीवन-यात्रा का पुन चिंतन-मनन उसे किस नई मंजिल तक पहुँचा सका?

उस जमाने में वह एक कवि था। किंतु कवि की भावुकता, आवेश और उन्माद को दिखाने का, कविताओं को छोड़कर, उसे वास्तविक जीवन में अवसर ही नहीं मिल पाया या अवसर पाकर भी उसने उसका उपयोग नहीं किया। हृदय की कोमल भावनाओं के इस हनन से वह विदीर्ण नहीं हुआ, आर्द्र भी नहीं हुआ, बल्कि जड़वत् हो गया। उसके जीवन की किसी भी घटना में इतनी शक्ति नहीं थी, उसके जीवन से टकरानेवाले किसी भी व्यक्ति में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि उसकी जड़ीभूत आत्मा में फिर एक बार, एक सिहरन ही सही, पैदा कर सके। वह कट गया संसार से, अपनानेवालों से, स्वयं अपने से भी। फिर भी उसका हृदय दहला नहीं, मानों उसके पास हृदय नाम की कोई वस्तु ही न हो, और वह केवल मस्तिष्क-मात्र रखता हो। आश्चर्य होता है न? हमें ही क्यों, जयंत की ही विचार शृंखलाओं को देखिए, व्यतीत की घटनाओं की एक-एक कड़ी से यह शृंखला जुड़ जाती है और अपने बंधन में निर्ममतापूर्वक हमको भी कसती बाँधती चलती है।

प्रथम कड़ी कुछ इस तरह की है—

'लगता है, यह कहीं मेरा अपना गर्व तो नहीं था। तब से अबतक की जिंदगी को एक हठ की कर्कशता ही तो थामे रही है? जिसको दृढ़ता समझा जाता है, वह कहीं भीतर की रिक्तता तो नहीं है? मेरी स्वावलंबिता निरी स्वरति तो नहीं है? अपने बल पर रहता आया हूँ, जो बना, बनता आया हूँ, अनेक को स्पर्श में लेकर और अनेक के स्पर्श में आकर अस्पृष्ट ही रहता गया हूँ, अपने को बाँटा नहीं, पूरी तरह संयुक्त जो रखा है, सो यह निपट अहं का अवलेप तो नहीं है?'

संसार से अपने विच्छेद के कारण की तहतक पहुँचकर जयंत जब उपर्युक्त रूप में अपने से प्रश्न करता है तब इसका प्रत्युत्तर नहीं, बल्कि प्रतिध्वनि ही मानों उसके व्यतीत जीवन में गूँज उठती है।

वास्तविक जीवन में जयंत-जैसे व्यक्ति हमें विरले ही देखने को मिले। जयंत जिस सचाई के साथ अपने वास्तविक रूप को हमारे सामने रख देता है, वैसा करने का साहस, वैसी संभावना वास्तविक जीवन में कभी होती ही नहीं। साधारणतया, मनुष्य में अहं की भावना कुछ अधिक ही होती है। किंतु सामाजिक परिस्थितियाँ, पाबंदियाँ और मनुष्य के हृदय की कमजोरियाँ अहं को उभरने से रोके रखती हैं। लेकिन, कभी-कभी मनुष्य का अहंकार इनके विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। पर वह आवेश क्षणिक ही होता है, ज्वार उठकर शांत हो जाता है; क्योंकि मनुष्य की कोई अलग सत्ता समाज में है ही नहीं। वह समष्टि में ही सुखी रहता है। यदि उसके अधिकार में दूसरे रहते हों तो उसे भी दूसरों के अधिकार को महत्त्व देना चाहिए। दूसरों को बाँधने के लिए रस्सी को स्वयं भी बँधना पड़ता है।

लेकिन जयंत ने इस रहस्य को बड़ी देर से पहचाना। 'क्यों कहीं इसे (जीवन को) देकर कभी खो नहीं सका। ताकि कुछ पा जाता और यों भटकता न फिरता।'—जब उसको यह सत्य मालूम हुआ तबतक तो उसका जीवन लुट चुका था।

यह बात नहीं कि जयंत के जीवन-काल में, 'देकर खो सकने' का अवसर ही नहीं आया हो। यह अवश्य है, जहाँ उसने 'देकर खो जाने' की कल्पना कर रखी थी, वह वस्तु जब दुनिया की दृष्टि से खो गई तब वह इस 'देकर खो जाने' से सदा के लिए उदासीन हो गया। उलटे अपने अहं को इस तरह पुष्ट करता गया कि आखिर न देने योग्य रहा, न पाने योग्य।

अनिता का अधिकारपूर्ण प्रेम, चंद्री का पत्नी-जैसा ममत्व, सुमिता का यौवनकालीन उन्माद—अपने को इन सबका बलात् शिकार बनाते हुए भी, कुछ हदतक इन सबको अपनी ओर से प्रोत्साहित करते हुए भी, इनमें से किसी के आगे वह अपने को समर्पित न कर सका। क्यों।

घटनाक्रम में मन की किस बलवती प्रेरणा ने इन सबको ठुकरा दिया;—वह स्वयं नहीं जानता।

'अब कुछ मेरी ठीक समझ में नहीं आता। एक पढ़ना होता है, हुनर सीखना, विज्ञान सीखना होता है, चीजों को समझना गुनना होता है। इसमें से दुनिया के काम-काज चला करते हैं और बहुत सी तरक्कियाँ होती हैं। मगर एक दूसरी चीज भी होती है जिसका काम-धाम में शुमार नहीं है। कहते हैं, लोग इस दूसरी चीज से बनते,

नहीं, बिगड़ते हैं। यह मन जो है, धोखा दिया करता है, फुसलाता रहता है और उसकी एक बेर सुनी कि फिर कहीं का नहीं छोड़ता। लेकिन मुझे मालूम नहीं है। शायद ठीक ही हो। शायद ये चीजें उलटी हों। एक धर्म हो, दूसरा पाप हो, एक साधना हो, दूसरी वासना हो, एक शिखर की ओर ले जाती हो, दूसरी पाताल की ओर। कहता हू, मैं कह नहीं सकता।'

जयंत ने न कोई धर्म निबाहा, न कोई पाप करने का साहस ही उसमें था—वह कार्य जिसे दुनिया ने पाप की कोटि में रख छोड़ा है—वैसा पाप उसने कोई नहीं किया। किसी कठोर साधना की धुन में उसने तन-मन एक किया हो—वैसा भी नहीं हुआ। उद्दीस पार्थिक वासना का दास भी उसे कहते न बनता। 'न घर का न घाट का' वाले कथन के अनुसार न उसके हृदय की कोई प्यास बुझी, न अपने क्रियाशील मस्तिष्क की भूख को ही वह तृप्त कर पाया। अहं जो उसका इतना तीव्र था।

फलतः जयंत का जीवन स्वयं उसके लिए एक भूल-भुलैया बन गया जहाँ से निकलने की संभावना यदि पहले कुछ थी तो पीछे वह भी न रही। उस उलझन को हम क्या करें। स्वयं वह भी इसे सुलझाने का असफल प्रयत्न करता है। और उसी का फल है 'व्यतीत' का सारा चिंतन।

यही कारण है कि जैनेंद्र का वैचित्र्य-पूर्ण व्यक्ति जयंत साधारण बुद्धि और हृदय रखनेवाले व्यावहारिक पाठक की पकड़ में आ नहीं पाता—एक पहेली बनकर रह जाता है।

जयंत के साथ घटनेवाली निराली घटनाएँ वास्तविक जीवन से मेल न खाती हों—उसके जीवन से संबंध जोड़नेवाली अनिता, चंद्री, कपिला, सुमिता आदि में सीता, सावित्री और दमयंती के पत्नी आदर्श से संस्कृत हम मर्यादावादियों को एक अस्वाभाविक अनोखापन, एक अनुचित साहस और अनभीष्ट व्यवहार खटके, किंतु उस झुंझलाहट में हमें यह न भूलना चाहिए कि 'व्यतीत' की घटनाएँ उतना महत्त्व नहीं रखतीं जितना कि जयंत की ओर से किया गया उनका विश्लेषण। यह पहले ही कहा जा चुका है कि घटनाओं के आधार विचार हैं या विचारों के आधार पर ही घटनाओं का प्रणयन हुआ है—इसका विभाजन करना यहाँ कठिन है।

घटनाएँ विचारों को जन्म देती हैं अवश्य, किंतु विचारों का सूत्र क्या घटना पर ही अवलंबित है? घटनाओं के संबंध में जयंत विचारता है—

'पर होनहार होकर रहता है, जाने कैसे उसके ताने-बाने बुनते हैं। आदमी घटनाओं में से होता है और उन घटनाओं के सूत्र किस अलक्ष्य में से आते हैं कि पता ही नहीं चलता।' जैनेंद्र के विचार सूत्र के संबंध में भी यही बात लागू हो सकती है।

चूँकि 'व्यतीत' की रचना शैली आत्मकथा के रूप में है और विचार-बहुल है, इसलिए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि जयंत के व्यक्तित्व में ही लेखक के निजी व्यक्तित्व का आरोप कर लिया जाय। 'अज्ञेय' की विस्तृत भूमिका के बावजूद भी जैसे 'शेखर' में उनको आरोपित करके ही आलोचक गण चैन लेते हैं। यह दुविधा इसलिए होती है कि 'शेखर' और 'जयंत'-जैसे व्यक्ति और उनसे जुड़ी घटनाएँ सार्वजनीन नहीं होतीं। उनके स्थान पर जब पाठक अपने को बिठाने में असमर्थ होते हैं तब लेखक को ही खींच लाकर अपनी कल्पना की तृप्ति कर लेते हैं।

स्त्री-जाति के प्रति ऐसे व्यक्तियों का विचित्र और बक्र व्यवहार एक दूसरा शूल है जो कि आलोचकों और पाठकों के मन तथा दृष्टि में एक सा चुभता है। ये स्वाभाविक और व्यावहारिक रूप में प्रेम नहीं करते, घृणा भी नहीं करते। इसलिए इनके प्रच्छन्न और अधिकतर संयत तथा इसी कारण विचाररूप में कटु और तीखे नारी-प्रेम या घृणा को भोग लिप्सा का नाम दिया जाता है।

पराई हो या अपनी, किसी भी नारी के प्रति अपने सच्चे विचारों को कोई भी प्रकट रूप में कहेगा ही नहीं। कायेन, वाचा तो वह शिष्टता और सभ्यता का आवरण ओढ़े रह सकता है, लेकिन मनसा की कौन कहे?

सुंदर वस्तुओं के प्रति मनुष्य का आकर्षण अनादि काल से रहा है और स्त्रियों के प्रति, जो कि 'सुंदर' की कोटि में ही शुमार की जाती हैं—उसका कौतूहल स्वाभाविक ही समझा जाता है। और, इसी प्रकार स्त्रियों का

पुरुषों के प्रति भी हो सकता है—केवल एक पुरुष के प्रति ही नहीं।

जैनेंद्र का जयंत भी इस आकर्षण से वंचित नहीं रहा। वह आकृष्ट किया गया अधिक। अनिता, सुमिता, बुधिया, चंद्री, कपिला—सब उसे आकृष्ट करती हैं। उसके अनमनापन के बावजूद भी वे उसकी ओर खिंचती हैं। जाने या अनजाने, लेखक यह सिद्ध करता है कि नारी में यह आकर्षण प्रबलता—खिंचने की अपेक्षा खींचने की मनोवृत्ति अधिक होती है। अपने रूप से, धन से और प्रेम के बल से वह आकृष्ट कर अधिकार चलाना चाहती है। इस प्रयोग में जहाँ वह विफल रही, वहीं उसका अहं भी जगा।

जयंत के जीवन में बलात् योग देनेवाली (क्योंकि आकर्षण को मन में स्वीकार करते हुए भी जयंत अपनी ओर से उसके प्रदर्शन में असफल है) अनिता और चंद्री का यही रूप हमें देखने को मिलता है। इनके प्रति जयंत की कर्कशता और क्रूरता को ध्यान में रखते हुए भी, नारी का यह विद्रोह, हमारे भारतीय समाज के लिए नवीन वस्तु है। अपना सब कुछ समर्पित कर एकमात्र पति को, वह हृदयहीन ही क्यों न हो, सर्वेश्वर समझनेवाली वह सती-साध्वी स्त्री अब नहीं रही। विवाह तो नारी आज भी करती है, किसी पुरुष के साथ आजीवन अपना योग देने का व्रत वह आज भी लेती है, किंतु वह केवल एक समझौता है। अनिता और चंद्री का वैवाहिक जीवन भी इसी प्रकार का है। किंतु ऐसी परिस्थितियाँ पैदा होने के लिए स्वयं स्त्रियाँ ही कहाँ तक उत्तरदायी हैं? जयंत के शब्दों में—

'अपने संबंध में मैं कोई सम्मति नहीं दे सकता। तोभी जान पड़ता है, मुझमें पौरुष कम है, नहीं तो स्त्रियाँ मुझसे ऐसे क्यों व्यवहार करती हैं जैसे बच्चे मोम से?'

क्या वास्तविकता भी यही है?

किंतु जयंत के व्यक्तित्व की खूबी यह रही कि मोम की तरह ढला जाकर भी वह कभी पिघला नहीं। किसी से भी नहीं, यहाँ तक कि अनिता से भी नहीं, जिसके संबंध में वह एक बार विचारता है—

'जीवन के उन्माद को अपने भीतर जब से अनुभव किया, उसी दिन से मान लिया कि मुझे अनिता ही है।'

उस अनिता को भी वह कभी स्वीकार नहीं करता। उसके इस व्यवहार को आप भोग लिप्सा कहेंगे?

लेकिन जयंत ने आखिर चाहा क्या? वह चाहता क्या था? शायद यह प्रश्न ही इतने बड़े विचार विमर्श के बाद अनुचित लगे और इससे भी अधिक अनुचित इसका उत्तर।

परंतु यह प्रश्न आलोचना के क्षेत्र में अवश्य आता है, क्योंकि उपन्यासकार का उद्देश्य क्या है—इसे पाठक जानना चाहता है। क्या जैनेंद्र जयंत का मनोविश्लेषण मात्र चाहते हैं? वैसे अपने साहित्य सिद्धांतों में सामाजिक श्रेय की बात जैनेंद्रजी बहुत करते हैं। 'व्यतीत' से वह कैसे साध्य होता है—यह मेरी समझ में नहीं आता।



वेश्या की बेटी

[एकांकी]

श्री नरेंद्रनारायण लाल

पात्र-परिचय

हनीफा	...	...	वेश्या की बेटी
खाँ साहब	...	...	एक रईस
उस्ताद, रहमान, सुलेमान	...	...	साजिंदे

[एक हसीन बैक ग्राउंड पर्दा; कमरे का दृश्य। मंच के बीच में एक अच्छी किस्म का कालीन बिछा हुआ है। एक तरफ बीच में एक मसनद और दूसरी ओर भी एक मसनद। बगल में तबले, सारंगी, हारमोनियम आदि साज करीने से रखे हुए हैं। बीच में पानदान रखा हुआ है और पीकदान कालीन से अलग रखा हुआ है। मामूली पोशाक में एक युवती का प्रवेश। युवती पहले मंच पर उदास मुद्रा में एक-दो बार टहलती है और फिर बैठती हुई सारंगी के तारों पर अपनी उँगलियाँ फेर देती है जिससे एक बेढंगी सी आवाज होती है। नेपथ्य से एक बूढ़ी औरत की आवाज आती है।]

बूढ़ी औरत— नेपथ्य से)—हनीफा! ओ हनीफा!!

युवती—(दर्शक की ओर)—जब देखो, हनीफा-हनीफा की रट! नाक में दम कर दिया है इसने! (बगल में चेहरा घुमाकर)—क्या है, अम्मी!

बूढ़ी औरत—(नेपथ्य से)—अरी, कोकिन की डिबिया कहाँ रख दी!

हनीफा—(चिढ़कर दर्शक की ओर)—बस, अम्मी को तो कोकिन और अफीम से ही वास्ता है। (चेहरा घुमाकर)—तुम्हारे बिस्तरे पर है, अम्मी!

बूढ़ी औरत—(नेपथ्य से)—तुम वहाँ क्या कर रही हो? अरी, चार बजने को आए! 'आज महफिल न होगी क्या?

हनीफा—(दोनों हाथ उठाकर)—हाय अल्ला! मैं तो तंग आ गई इस महफिल से! रोज महफिल! रोज नाचना-गाना! रोज बाबुओं को झूठी मुस्कान से खुश करना! क्या जिंदगी है?

बूढ़ी औरत—(नेपथ्य से) जल्दी करो, बेटी! आज खाँ साहब आनेवाले हैं।

हनीफा—(उठकर उदास मुद्रा में दर्शक की ओर) खाँ साहब आनेवाले हैं. तो मुझे क्या पड़ी है, अम्मी! तुम फिक्र किया करो उनकी; क्योंकि तुम्हारी कोकिन और अफीम उन्हीं की मेहरबानी से चलती हैं। और मैं? मैं क्यों उनकी फिक्र करने लगी? मुझे तो उनकी सूरत से नफरत है। (रुककर) मेरी तरह की तो उन्हें पोतियाँ होंगी। लेकिन फिर भी जाने क्यों, वह शैतान का बच्चा मुझे बरबाद करने पर तुल गया है! (वह परेशान हो टहलती है। एक कोने में रुककर) या मेरे मौला! आखिर कौन-से मेरे गुनाह पर तूने मुझे यह जिल्लत की जिंदगी दी? मुझे क्या पता कि मेरी अम्मी इंसान की शकल में हैवान है! (सोचते हुए) नहीं-नहीं, मुझे माफ कर दे मेरे खुदा! मैं अपनी पाक अम्मी को गाली दे बैठी। उस गरीब का क्या कुसूर है इसमें? बाबुओं के आगे अगर मैं गाऊँगी नहीं, नाचूँगी नहीं, तो फिर पाँच आदमियों की परवरिश क्योंकर चलेगी? (साइड पर्दे से एक अधेड़ आदमी हनीफा की बातें सुन रहा है; दर्शक उसे देख रहे हैं। चुस्त पायजामा, खालता कुरता, जरीदार बंडी और सिर पर पल्ले की टोपी है।)

आगन्तुक—(प्रवेश कर) तुम्हारा खयाल बहुत ही अच्छा है, हनीफा!

हनीफ़ा—(चौंककर) कौन-सा ख्याल, उस्तादजी?

उस्ताद—यही कि पाँच आदमियों के लिए तुम्हारा नाचना और गाना जरूरी है।

हनीफ़ा—(आह खींचकर) क्या करूँ उस्तादजी?

उस्ताद—आज तुम बहुत परीशान सी नजर आती हो, खैरियत तो है?

हनीफ़ा—(उस्ताद के प्रश्न से उसकी आँखों में आँसू आ जाते हैं लेकिन आँसू रोककर) उस्ताद जी (बोलते बोलते उसका कंठ भर आता है और आँसू ढुलक जाते हैं।)

उस्ताद—(हनीफा की हालत देख) क्यों बेटी, तुम बहुत ही घबराई मालूम होती हो?

हनीफ़ा—(चकित हो) आपने मुझे बेटी कहा, उस्तादजी?

उस्ताद—हाँ। लेकिन इसमें ताज्जुब की कौनसी बात है?

हनीफा—लेकिन, पहले तो कभी आपने मुझे बेटी नहीं कहा?

उस्ताद—तुम्हारी आखों में आज मैंने पहली दफा आँसू देखा है मैं इसे बरदाश्त नहीं कर सकता, बेटी।

हनीफ़ा—लेकिन मुझे तो बरदाश्त करना ही है, उस्तादजी। (आवेश में आकर) आप ही बताइए, क्या आपको मैं छोड़ दूँ? क्या अम्मी को छोड़ दूँ? (गम्भीर हो) उस्तादजी! मैं भी चाहती हूँ एक शरीफ औरत की जिंदगी बिताना।

उस्ताद—तो क्या तुम शरीफ नहीं हो?

हनीफ़ा—(गम्भीर हो)—शरीफ तो हूँ, लेकिन हुस्न के बाजार में बैठ वाली वेश्या की बेटी को जमाना क्या शरीफ समझता है, उस्तादजी?

उस्ताद—तो क्या हुस्न के बाजार में बैठने से ही औरत रजील हो जाती है।

हनीफ़ा—(ठंढी आह खींचकर)—दुनिया तो यही कहती है।

बूढ़ी औरत—(नेपथ्य से)—हनीफा!

हनीफ़ा—(रुककर)—क्या है, अम्मी?

बूढ़ी औरत—(नेपथ्य से)—अभी तक तुम तैयार नहीं हुई?

हनीफ़ा—अभी फौरन तैयार हो जाती हूँ, अम्मी। (उस्ताद से) उस्तादजी! तबतक आप साज मिलाएँ, मैं अभी आती हूँ। (जाती है।)

उस्ताद—(जोर से)—यही, जरा रहमान और सुलेमान को भेज देना।

रहमान और सुलेमान—(प्रवेश कर)—क्या हुक्म है, उस्तादजी?

उस्ताद—(कुछ रुखाई से) तुम लोग तो हमेशा अफ़ीम के नशे में ही पड़े रहते हो। कुछ फ़िक्र भी है कि महफिल होगी या नहीं?

रहमान—महफिल तो रोज होती है, उस्तादजी! आज कुछ नई चीज तो नहीं होनेवाली है।

उस्ताद—अजी क्यों! खाँ साहब आज की महफिल में तशरीफ लायेंगे?

रहमान—आज कई रोज पर खाँ साहब आ रहे हैं।

सुलेमान—(खुश हो)—वाह तब तो कल पुलाव और कलिया पर हाथ जरूर फिरेगा।

उस्ताद—(चिढ़कर)—तुम्हें तो हमेशा पुलाव और कलिया की ही फिक्र रहती है।

सुलेमान—कितने दिन हो गए पुलाव और कलिया खाये, उस्तादजी!

उस्ताद—(बिगड़कर)—छोड़ो बकवास, जल्दी साज मिलाओ।

(उस्ताद तबले लेता है, रहमान सारंगी सम्हालता है और सुलेमान हारमोनियम की पटरियों पर उँगलियाँ फेरता है। और दो तीन मिनट में ही सभी साज एक साथ सुर में सुर मिलाकर झनझना उठते हैं। इसी समय करीब पचास साल के एक व्यक्ति का चुस्त पायजामा और शेरवानी पहने प्रवेश। एक तरफ वह खड़ा है। उसके आने की खबर नहीं होती है।)

आगन्तुक—आहा, कैसी सुरीली तान है।

उस्ताद—(चौंककर तबले छोड़ कर खड़ा हो)—खाँ साहब! आदाब अर्ज है! तशरीफ रखिए।

खाँ साहब—(फ़र्श पर बैठते हुए)—आदाब अर्ज है। हनीफा कहाँ है, उस्तादजी?

उस्ताद—आती ही होगी। (सुलेमान से)—सुलेमान! ज़रा देखो तो हनीफ़ा को।

हनीफा—(सुलेमान उठा ही था कि एकाएक प्रवेश कर)—लीजिए, मैं खुद ही आ गई, उस्तादजी! (खाँ साहब से)—कनीज़ आदाब बजाती है, हुजूर! सलाम करती है।)

खाँ साहब—(खुश हो, हनीफ़ा से)—खुश रहो, हनीफा! खुदा बरक़रार रखे तुम्हारी जवानी और खूबसूरती को! सच मानो, जब मैं तुम्हें देखता हूँ तब अपने बुढ़ापे को भी भूल जाता हूँ, और ऐसा एहसास होता है, मानो, मेरी ज़िंदगी के हजार साल अभी बाक़ी हैं!

उस्ताद—हुजूर बहुत ठीक फरमाते हैं; मेरा हनीफ़ा के हुस्न के आगे चाँद भी शरमा जाता है।

हनीफ़ा—(कुपित हो)—उस्तादजी! साज मिल गए न!

उस्ताद—हाँ

हनीफ़ा तो फिर महफ़िल शुरू हो। पहले हुजूर को एक ग़ज़ल सुनाऊँगी।

खाँ साहब—इतनी जल्दी क्या है, हनीफा! आज तुमसे दो चार बातें करके ही चला जाऊँगा।

हनीफा—और महफ़िल?

खाँ साहब—होगी किसी दूसरे दिन!

उस्ताद—(रहमान और सुलेमान से)—तुमलोग जाओ, आज महफ़िल नहीं होगी।

हनीफा—(क्षुब्ध हो) उस्तादजी!

उस्ताद—(हनीफा के मनोगत भाव समझकर भी विवश हो) हाँ, हनीफा! आज महफ़िल नहीं होगी।

(उस्ताद, रहमान और सुलेमान का जाना)

खाँ साहब—हनीफा, तुम महफ़िल के लिए इतना ज़ोर क्यों देती हो?

हनीफा—महफ़िल न करूँगी तो पाँच प्राणियों की परवरिश कैसे चलेगी?

खाँ साहब—नहीं, मैं इसे बरदाश्त नहीं कर सकता।

हनीफा—लेकिन मुझे तो बरदाश्त करना ही है, खाँ साहब!

खाँ साहब—अगर एक दिन महफ़िल न होगी तो क्या आसमान टूट पड़ेगा तुमपर?

हनीफा—आसमान टूटेगा या नहीं, इसे मैं नहीं जानती। लेकिन अम्मी के लिए अफ़ीम कहाँ से आयेगी? उस्तादजी शराब नहीं मिलने से मेरी नाक में दम कर देंगे, और उधर रहमान और सुलेमान पान-बीड़ी नहीं मिलने से अलग भल्लाएँगे!

खाँ साहब बस, इतनी-सी बात के लिए तुम्हारा महफ़िल करना जरूरी है?

हनीफा—(टहलते हुए रुककर) आपके लिए यह इतनी-सी बात हो सकती है, लेकिन मेरे लिए तो यह बिलकुल पहाड़ है!

खाँ साहब (कहकहा) हनीफा, इस पहाड़ को मैं (चुटकियाँ बजाते हुए) चुटकियों में मसल दूँगा।

हनीफा आपका मतलब मैंने समझा नहीं।

खाँ साहब—तुम्हें कुछ फिक्र करने की जरूरत नहीं; आज से तुम्हारा सारा खर्च मैं चलाऊँगा।

हनीफा—(चिढ़कर व्यंग्यात्मक ढंग से) किस काम पर इतना बड़ा इनाम मिल रहा है हुजूर से?

खाँ साहब—(उठकर) तुम समझती क्यों नहीं, हनीफा? क्या तुम काम करने के लिए ही पैदा हुई हो?

हनीफा—(व्यंग्यात्मक ढंग से) जी नहीं, सिर्फ पलंग तोड़ने के लिए ही पैदा हुई हूँ! (गंभीर हो) और खाँ साहब! शायद खुदा ने मुझे इसीलिए वेश्या की बेटी बनाया! (रुककर) लेकिन खाँ साहब! मैं हराम के पैसों पर जीनेवाली नहीं। मैं नाचती हूँ, गाती हूँ तो मुझे पैसे मिलते हैं। मुझे अपने नाच और गानों पर नाज है; जबतक ये मेरे पास हैं, मुझे किसी की मदद नहीं चाहिए।

खाँ साहब—तुमने मुझे गलत समझा, हनीफा! मेरा मतलब यह न था कि तुम हराम के पैसों पर पलो। (रुकते हुए) और फिर तुम मुझे पराया ही क्यों समझती हो? मैं तुम्हारा और मेरी दौलत तुम्हारी!

हनीफा—(अट्टहास कर) क्या कहने हैं हुजूर के!

खाँ साहब—(चकित हो) तुम हँस क्यों रही हो, हनीफा?

हनीफा—हुजूर की बात से।

खाँ साहब कौन ऐसी बात मैंने कह दी?

हनीफा—इस कोठे पर जो भी आते हैं, यही कहते हैं; लेकिन इसका वजन मैं खूब जानती हूँ।

खाँ साहब—(एकाएक जेब से एक पर्स निकाल हनीफा की ओर बढ़ाते हुए) लो, हनीफा ! इसे रख लो।

हनीफा—क्या है इसमें ?

खाँ साहब—पाँच सौ रुपए। कल आऊँगा तो पाँच हजार और लेता आऊँगा।

हनीफा—(गंभीर हो) मेरी महफिल का चार्ज है कुल पचीस रुपए। अगर आप पचीस दें तो फिर महफिल शुरू कर दूँ।

खाँ साहब—मैंने कहा न कि आज महफिल न होगी।

हनीफा तो ये रुपए आपको ही मुबारक हों। मुझे भीख नहीं चाहिए।

खाँ साहब—हनीफा, तुम तो नाहक बिगड़ बैठती हो। तुम मेरा मतलब कुछ समझती नहीं।

हनीफा—नहीं समझती हूँ तो आप ही समझा दीजिए।

खाँ साहब—तुम बहुत ही भोली हो, हनीफ। बस, एक बार 'हाँ' कह दो।

हनीफा—(उत्सुक हो) किस चीज के लिए 'हाँ' कह दूँ ?

खाँ साहब —खुदा की कसम, तुम्हारे आने से मेरे घर की रौनक बढ़ जायगी। (अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरता है)

हनीफा—(गंभीर हो) तो आपका मतलब है कि मैं आपके घर में ही रहूँ ?

खाँ साहब—(खुश हो) हाँ, हनीफा।

हनीफा—और अम्मी तथा वालिदे मुँह में मिट्टी लगाएँगे ?

खाँ साहब—नहीं, मैं उनका खर्च चलाऊँगा।

हनीफा—हुजूर का खयाल तो बहुत ही अच्छा है, लेकिन हुजूर के साहबजादे मुझसे शादी करने को तैयार हो जायँगे ?

खाँ साहब—(त्योरी बदलकर) मेरे साहबजादे की इसमें कौन सी बात है, हनीफा ? शादी मैं करूँगा।

हनीफा—(अट्टहास कर) आप मुझसे शादी करेंगे, खाँ साहब ?

खाँ साहब—(परेशान हो) तुम हँस रही हो, हनीफा ?

हनीफा—जी, आपकी एक टाँग तो कब्र में है और उसपर मिजाज है शादी का ? (गंभीर हो) खाँ साहब। आप मुझे वेश्या की बेटी समझ मेरा मजाक उड़ा रहे हैं ? क्या वेश्या के घर जन्म लेने से ही मैं रजील हो गई ? क्या वेश्या एक इंसान नहीं ? क्या वेश्या की बेटी एक शरीफ औरत की जिंदगी बिताने की हकदार नहीं ?

खाँ साहब—वेश्या और इज्जत ! (यह कह जोर से हँसता है) रोज मनचले बाबुओं के आगे नाचती और गाती हो, फिर इज्जत की बात करती हो ?

हनीफा – (क्रोधित हो) क्या नाचना और गाना इज्जत के खिलाफ है ?

खाँ साहब—हाँ।

हनीफा—नहीं। नाचना और गाना तो पाक चीज है; इसे लोग 'कला' कहते हैं, और कला की मदद से दो पैसे इज्जत से कमा लेना कोई गुनाह नहीं। (रुकते हुए) लेकिन·· लेकिन अपनी जवानी को आपकी जईफी के साथ बाँध देना सरासर जुल्म है; यह इन्सानियत के नाम पर एक धब्बा है, खाँ साहब।

खाँ साहब—(क्रुद्ध हो)—जानती हो, हनीफा। तुम किससे टक्कर ले रही हो ?

हनीफा –(दृढ़ हो)—जानती हूँ। जानती हूँ, खाँ साहब से—शहर के नामी-गरामी रईस से—मैं टक्कर ले रही हूँ। और यह भी जानती हूँ कि सरकार और लोकशाही की नजर में बड़े ही इज्जतदार खाँ साहब से टक्कर ले रही हूँ।

खाँ साहब—(गरजते हुए)—तुम आग से खेल रही हो, हनीफा ।

हनीफा - (क्रुद्ध हो)—और आप शेरनी को जगा रहे हैं, खाँ साहब।

खाँ साहब—आज तुम्हें मैं अपने काबू में करके ही रहूँगा। देखता हूँ, कौन तुम्हें बचाता है। (यह कह वह हनीफा की ओर बढ़ता है।)

हनीफा—(गरजकर)—खबरदार, जो आपने मेरे बदन पर हाथ लगाया।

खाँ साहब—(जरा रुककर)—क्या कर लोगी तुम ?

हनीफा—(कमर से खंजर निकाल)—देख रहे हैं, खाँ साहब। यह वह खंजर है जिससे मैं इस जिंदगी से छुटकारा पाना चाहती थी। लेकिन···लेकिन अब ऐसा मालूम होता है कि पहले इससे आपके साथ निपटना होगा।

खाँ साहब—(खंजर देख, भयभीत हो, रुककर)—तो तुम मेरा खून कर दोगी, हनीफा ?

हनीफा—यदि आप मुझे मजबूर कर देंगे।

खाँ साहब—(हनीफा की ओर बढ़ते हुए)—तुम्हारे हाथ में खंजर अच्छा नहीं लगता।

हनीफा—(गरजकर)—खाँ साहब! (लेकिन खाँ साहब उसे पकड़ लेता है, पर तुरत ही झुकके दे वह खाँ साहब से अलग होती है और खाँ साहब के पेट में खंजर भोंक देती है। खाँ साहब के कपड़े के नीचे से लाल रंग की धारा बहने लगती है।)

खाँ साहब—(पेट धरे हुए लड़खड़ाकर)—तुम···ने···सच-मुच···मेरा···खून···कर···दिया, हनीफा!

(बोलते-बोलते खाँ साहब का गिरना।)

हनीफा—(अट्टहास कर) सचमुच मैंने आपका खून कर दिया! (विक्षिप्त सी जोर से हँसती है। और हँसते हुए)—हा हा-हा! सचमुच मैंने आपका खून कर दिया है! (हँसती जाती है।) अम्मी! उस्तादजी!! मैंने खाँ साहब का खून कर दिया! (हँसती है और फिर एक बार खून से सने खंजर को देख) सचमुच मैंने खून कर दिया। (और जोर से हँसती है; पर्दा गिरता है।)

भोर और साँझ

श्री चंद्रकांत सिंह

जैसा भोर, वैसी साँझ !
जिंदगी लगती कि होती जा रही है बाँझ !
नूपुरों का स्वर नहीं
चल पास आता
याद में कोई नहीं
पलकें बिछाता
तोप सी बिगती हृदय की अर्चना की झाँझ !
उर्वशी-से अगिन सपने
कर रहे चीत्कार
भूल में किसने किया है
कब किसी को प्यार ?
बढ़ रहा विद्रोह पल-पल दूर सीमा लाँघ !
पर-कटे खग के सरीखा
आज का इंसान
नाचघर में वृत्त है पर—
डाल कर भगवान्
कबतलक लड़ता रहे वह, मृत्यु को सिर बाँध !
जैसा भोर, वैसी साँझ !

★

अँगरेजी साहित्य में प्रतीकवाद

प्रो० दामोदर झा, एम० ए०

'प्रतीकवाद' हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में छायावाद के अभिन्न अंग के रूप में प्रविष्ट हुआ। छायावादी कविता का युग तो कब न समाप्त हो चुका, बल्कि छायावाद की प्रतिक्रिया-जनित प्रगतिशील आंदोलन भी अपने कट्टर रूप को छोड़कर नया विकसित कलेवर धारण कर रहा है। फिर भी प्रतीकवाद 'छायावाद' के जीर्ण शीर्ण पल्ले को छोड़कर प्रयोगवाद के रूप में जीवित है। आधुनिक हिंदी साहित्य के आंदोलनों का मूल स्रोत पाश्चात्य साहित्यिक तथा कला-संबंधी आंदोलन हैं, जिनका परिचय हिंदी के लेखकों को प्रधानतः अँगरेजी साहित्य के माध्यम से हुआ है। अतः प्रस्तुत निबंध में अँगरेजी साहित्य में प्रतीकवाद के क्रम-विकास का विवेचन संक्षेप में किया जा रहा है। वस्तुतः वर्तमान युग में विश्व में जितनी भी साहित्यिक धाराएँ हैं, उनमें प्रतीकवाद अत्यधिक प्रगूढ़ तथा जटिल साहित्यिक सिद्धांत है। प्रतीकवाद का विवेचन आधुनिक साहित्य की सर्वाधिक शक्तिशाली धारा का विवेचन है। प्रतीकवाद में आधुनिक साहित्य की विशिष्टता तथा अयथार्थता—दोनों ही समान रूप से अंतर्निहित हैं।

अँगरेजी साहित्य में भी, प्रतीकवाद मूलरूप में नहीं आया। प्रतीकवाद 'प्रतीक' नहीं, फ्रेंच साहित्यिक आंदोलन की उपज है। सच तो यह है कि अँगरेजी साहित्य में प्रतीकवाद एक स्वस्थ आंदोलन के रूप में कभी नहीं पनपा। वस्तुतः अँगरेजी साहित्य में साहित्य के सिद्धांत को लेकर कभी कोई आंदोलन वैसा प्रचंड रूप न धारण कर सका, जिसके अनेक उदाहरण फ्रेंच साहित्य में भरे पड़े हैं। फ्रेंच साहित्य में भी जितनी सरगर्मी और जोश खरोश के साथ 'प्रतीकवादी आंदोलन' की लड़ाई लड़ी गई, उतनी और किसी की नहीं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि फ्रेंच साहित्य की मूल धारा के साथ 'प्रतीकवाद' की आत्मा का मेल नहीं खाता, जबकि प्रतीकवाद अँगरेजी साहित्य के लिए कोई सर्वथा नवीन वस्तु नहीं था। फ्रेंच के साहित्य पंडितों ने अँगरेजी लेखकों से प्रेरणा प्राप्त कर प्रतीकवाद का जन्म दिया, उसका संस्कार किया; संघर्ष और साधना से परिपुष्ट कर उसे बड़ा किया। प्रतीकवाद अँगरेजी साहित्यिकों के समक्ष प्रस्तुत हुआ विकसित रूप में। अतः अँगरेजी के कवियों तथा लेखकों को प्रतीकवाद का स्वरूप कुछ-कुछ पहचाना सा, आत्मीय-सा प्रतीत हुआ। यही कारण है कि अँगरेजी साहित्य में प्रतीकवाद को लेकर वह संगठित संघर्ष नहीं करना पड़ा, जो फ्रेंच साहित्य के इतिहास में एक लंबे अरसे तक चलता रहा। अँगरेजी साहित्य की—अँगरेज जाति की सबसे बड़ी विशेषता रही है विजातीय पदार्थों को अपने मूलरूप में आत्मसात् कर लेने की असाधारण क्षमता। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतीकवाद, एक तो अँगरेजी साहित्यिकों के लिए पूर्णतः विजातीय साहित्यिक सिद्धांत न था, साथ ही अँगरेजी कवियों तथा लेखकों ने फ्रेंच प्रतीकवाद का रूपांतर इस परिमाण में किया कि 'प्रतीकवाद' 'व्यक्तिगत-प्रतीकवाद' के रूप में परिवर्तित हो गया।

'प्रतीकवाद' के मूल स्वरूप को समझने के लिए हमें यूरोपीय साहित्य की दो प्रधान शाखाओं—रोमांटिक धारा तथा क्लासिक धारा—के दार्शनिक तत्वों से अवगत होना आवश्यक है। रोमांटिक आंदोलन का दार्शनिक आधार 'व्यक्ति' का समाजतंत्र के प्रति विद्रोह है। यूरोप के इतिहास में १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी में गणित तथा भौतिक विज्ञान में अत्यधिक विकास हुआ। विज्ञान के नए-नए भौतिकवादी सिद्धांत विश्व को एक परम सिद्धांत की परिधि में बाँध रहे थे।

न्यूटन का आकर्षण-सिद्धांत इस नियम-परिबद्धता की दिशा में एक निश्चित कदम था। साहित्य के क्षेत्र में इस वैज्ञानिक चिंतन-प्रणाली की अभिव्यक्ति 'क्लासिक सिद्धांत' के रूप में हुई, जिसका प्रस्फुटन अँगरेजी साहित्य में अँगरेजी कवि पोप के परिमार्जित, परिष्कृत कपलेट

(दोहों) में तथा स्विफ्ट के असाधारण संयमित सरल गद्यमय वाक्यों में हुआ। फ्रेंच साहित्य में इसका चरम रूप पार्नो-दल के कवियों और रेसीन के नियम-बद्ध नाटकों में मिलता है। इस नियम-बद्धता के विरुद्ध जो सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया हुई, वह रोमांटिक धारा के रूप में प्रस्फुटित हुई। इस रोमांटिक आंदोलन के दार्शनिक तत्त्व की अभिव्यक्ति रूसो के व्यक्तिवाद में हुई। रूसो का व्यक्तिवाद १८ वीं शताब्दी की भौतिकवादी संस्कृति के प्रति खुला विद्रोह था। राजनीति के क्षेत्र में यही गणतंत्र के रूप में, अर्थशास्त्र के क्षेत्र में 'लैसेजफेयर' के सिद्धांत के रूप में, दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद के रूप में तथा साहित्य के क्षेत्र में *रोमांटिक धारा* के रूप में विकसित हुआ। अँगरेज़ी साहित्य में रोमांटिक भावधारा कोई नूतन सिद्धांत नहीं था; उसका पूर्वाभास और भी स्वाभाविक रूप में शेक्सपियर के नाटकों तथा मिल्टन के महाकाव्य में मिल चुका था। फ्रेंच साहित्य में रोमांटिक धारा एक झंझावात के रूप में आई और फ्रेंच शास्त्रीय वृक्ष को एक प्रबल वेग से आघात कर रह गई। ड्यूमा, ह्यूगो की कृतियों में रोमांटिक भावधारा का अत्यधिक उद्वेलित रूप दिखाई पड़ता है। पर याद रखना होगा कि ह्यूगो की कृतियों में भी वह भाव विह्वलता तथा तीव्रता नहीं है, जो हमें शेली, कीट्स तथा बायरन की कविताओं मे मिलती है। १९ वीं शताब्दी के मध्य होते होते इस रोमांटिक स्वच्छंदता तथा उच्छृंखलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी।

डार्विन तथा स्पेंसर के सिद्धांतों ने एक बार फिर बौद्धिक चेतनता तथा सार्वभौम नियम-बद्धता की ओर मानव-मनोविज्ञान को प्रेरित किया। मानव एक स्वतंत्र प्राणी न होकर 'एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला' के प्रयोग के रूप में चित्रित होने लगा। समाज की विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति के घात प्रतिघात का निर्वैयक्तिक चित्रण ही साहित्य का प्रयोजन प्रतीत होने लगा। अँगरेज़ी साहित्य में यह 'वस्तुवाद' टेनीसन तथा ब्राउनिंग की कविताओं तथा थैकरे के उपन्यासों में परिलक्षित होता है। यूरोप में यह द्वितीय वस्तुवादी अथवा प्रकृतिवादी चेतना की अभिव्यक्ति फ्लवेयर के मैडमबवरी, जोला के 'नाना' और इब्सन के नाटकों में हुई। इसी वैज्ञानिक चिंतनधारा—'प्रकृतिवाद'—के विरुद्ध प्रतिक्रिया-जनित जो रोमांटिक आंदोलन प्रारंभ हुआ, उसी का नाम 'प्रतीकवाद' है।

साहित्य के क्षेत्र में १९ वीं शताब्दी का यह द्वितीय रोमांटिक आंदोलन, जिसे फ्रांस में प्रतीकवाद के नाम से संबोधित किया गया, प्रथम रोमांटिक भावधारा की पुनरावृत्तिमात्र नहीं। कोई भी आंदोलन अपने विगत रूपों से सार तत्त्व ग्रहण करता हुआ नए रूप में प्रकट होता है। उसका पुनर्जन्म होता है अपने समस्त पूर्वजन्मों के संस्कार के साथ। अतः १९ वीं शताब्दी के अंतिम चरण में जिस प्रतीकवाद का स्वागत अँगरेजो के महान सिद्धांत-समीक्षकों ने किया और जिसका अमिट प्रभाव इट्स, इलियट तथा जॉयस की कृतियों में विभिन्न रूपों में परिलक्षित हुआ, *वह अँगरेज़ी साहित्य में आया—फ्रेंच बौद्धिक, विश्लेषणा*त्मक तथा परिष्कृत चेतना से संयुक्त होकर। यह प्रतीकवाद साहित्य का एक अत्यंत ही निगूढ़, जटिल, कल्पना-तत्त्व तथा बौद्धिक तत्त्व से समन्वित सिद्धांत है।

'प्रतीकवाद' साधारण प्रतीक से भिन्न वस्तु है। साधारण अर्थ में *'प्रतीक' प्रायः सभी काव्य में वर्तमान है। भारतीय* काव्य में 'हंस', 'कमल' आदि प्रतीकों का एक निश्चित, परंपरागत अर्थ में प्रयोग होता आया है। प्रतीकवादियों के प्रतीक उन कवियों के वैयक्तिक अनुभूतियों तथा भावों के प्रच्छन्न रूप होते हैं। अतः प्रतीकवादियों के प्रतीकों में अस्पष्टता तथा दुरूहता का होना अनिवार्य है। प्रतीकवादियों के प्रतीक को समझने के लिए आचार्यों द्वारा काव्यगत सिद्धांत को समझना आवश्यक है। अँगरेज़ी साहित्य में प्रतीकवाद के सबसे बड़े आचार्य अमेरिकन लेखक सर एडगर एलन पो हैं। इसका कुछ-कुछ आभास इमरसन के काव्य में भी मिलता है। फ्रांस में प्रतीकवाद के सिद्धांतों की गहरी छानबीन बड़ी ही लगन और उत्साह के साथ बॉडीलेयर (Baudelaire), मेलार्मो (Mellarma), वालरी (Valery) आदि साहित्य-समीक्षकों द्वारा की गई। इस निबंध में प्रतीकवाद के विभिन्न आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत जटिल साहित्यिक सिद्धांतों की विवेचना न कर, उसकी कतिपय सर्वमान्य धारणाओं की समीक्षा की जा रही है। प्रतीकवाद के अनुसार काव्य एक अत्यंत ही तीव्र वैयक्तिक अनुभूति है। हमारा प्रत्येक भाव, प्रत्येक संवेदन, प्रत्येक क्षण, एक दूसरे से भिन्न है। प्रत्येक अनुभूति की अपनी निजी सत्ता,

अपना पृथक् अस्तित्व है। कवि उस विशिष्ट अनुभूति की जीर्ण शीर्ण रूढ़िगत भाषा और उपमा के माध्यम से पाठकों के हृदय का स्पंदित नहीं कर सकता। कवि अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के हेतु नूतन भाषा, उपमा तथा प्रतीकों का सृजन करता है। काव्यानुभूति इतनी तीव्र तथा अतींद्रिय होती है कि उसकी बाह्याभिव्यक्ति संभव नहीं। अतः कवि चित्रों के गुंफन के माध्यम से अपने अतींद्रिय अनुभूतियों का आभास देता है। चित्रों की भरमार तथा मिश्रण प्रतीकवाद की सबसे बड़ी विशेषता है। कवि जान बूझकर उपमाओं के अद्भुत मिश्रण से अपने सजीव तथा निजी व्यक्तित्व का आभास देता है। प्रतीकवादी कवि की धारणा है कि वह अपनी अनुभूतियों की केवल झलक ही दिखा सकता है, शब्दों तथा चित्रों के माध्यम से पूर्णाभिव्यक्ति संभव नहीं। जहाँ तक काव्यगत अतींद्रियता का प्रश्न है, यह कोई नूतन सिद्धांत नहीं। रोमांटिक कवियों की भी यही धारणा थी। अंगरेजी कवि शेली के अनुसार काव्य इंद्रियेतर सौंदर्य का प्रत्यक्षी करण है। प्रसिद्ध समीक्षक कालरिज की सम्मति भी इसी तरह की है। कालरिज की प्रसिद्ध कविता 'कुबला खाँ' इस दृष्टि से प्रतीकवादी कविता होती है।

अतः जहाँ तक काव्यगत अनुभूति का प्रश्न है, रोमांटिक विचारधारा और प्रतीकवादी विचारधारा में बहुत-कुछ समानता है। अंतर है एकमात्र विशेष जोर का। प्रतीकवाद रोमांटिक व्यक्तिवाद का चरम रूप है। वस्तुतः प्रतीकवाद की निजी चीज है चित्रों की भीड़भाड़, उपमाओं का बहुसाध्य चित्रण तथा नए-नए शब्दों का सृजन। एक अर्थ में प्रतीकवाद 'कला कला के लिए है' सिद्धांत का ही विकसित रूप है। फ्रेंच समीक्षक फ्लबेयर तथा अंगरेजी सौंदर्यवादी पेटर के अनुसार प्रत्येक भाव के लिए एक निश्चित शब्द अपेक्षित है। कलाकार का कर्त्तव्य उस भाव के अनुरूप यथार्थ शब्द की खोज करना है। प्रतीकवाद—सौंदर्यवाद—के इस सिद्धांत का कि प्रत्येक भाव के लिए एक यथार्थ शब्द है, अंशतः स्वीकृत करता है। वह सौंदर्यवाद के इस तथ्य को स्वीकार कर लेता है कि भाव के लिए विशिष्ट शब्द की आवश्यकता है, पर वह इससे आगे बढ़ जाता है। उसके अनुसार कवि की अनुभूति की पूर्णाभिव्यक्ति संभव नहीं; अतः कवि का एकमात्र की विशिष्टता की आभासात्मक अभिव्यक्ति के हेतु नई-नई उपमाओं तथा चित्रों का सृजन करना है। यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि प्रतीकवादी उपमाओं तथा चित्रों का मूल्य 'प्रतीकात्मक संकेत' के अतिरिक्त नहीं है। इन प्रतीकों के गुंफन से संगीत की स्वर लहरी-जैसी-अस्पष्ट, अबोधगम्य, पर तीव्र तरंग का उद्रेक होता है, जिसके संस्पर्श से पाठकों का हृदय आलोड़ित होने लगता है। प्रतीकवाद के आचार्य एडगर एलन पो के अनुसार काव्य का उद्देश्य संगीतात्मक, अस्पष्ट, पर तीव्र भावानुभूति का सृजन पाठकों के हृदय-स्थल में करना है। अंगरेजी काव्य के लिए यह सिद्धांत कोई नूतन नहीं है। शेक्सपियर के नाटकों, एलिजाबेथ-काल के नाटककारों के काव्य-नाटकों एवं तथाकथित मेटाफिजी-कल कवियों की कविताओं में उपमाओं के अद्भुत मिश्रण तथा चित्रों की प्रतीकात्मक सम्मिश्रण की भरमार है। इनके काव्य में प्रतीकवाद के मूल तत्त्वों—चित्रों के मिश्रण, उपमाओं के प्रसंग विच्छिन्न प्रयोगों—बौद्धिक विलास तथा कल्पना—की उड़ान के समन्वय का स्वस्थ रूप में समावेश है। उदाहरणार्थ, १७ वीं शताब्दी के अंगरेजी कवि जार्ज हरबर्ट की प्रसिद्ध कविता है 'वरचु'। इसमें गुलाब का वर्णन इस प्रकार प्रतीकात्मक रूप में किया गया है—

'Sweet rose, whose hue angric and brave
Bids the rash gazer wipe his eye'

उपर्युक्त पंक्तियों में गुलाब के रंग की उपमा 'क्रोधी' तथा 'वीर' से दी गई है। यहाँ पर उपमाओं का प्रयोग प्रसंग से विच्छिन्न होकर हुआ है। क्रुद्ध होने पर चेहरे का रंग लाल हो जाता है। वीर-उत्तेजना का प्रभाव भी रक्त-संचार के कारण लाल के रूप में ही दृष्टिगोचर होता है। अतः उपर्युक्त पंक्तियों में 'क्रुद्ध' तथा 'वीर' प्रतीकात्मक उपमा के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय पंक्ति में रंग की प्रगाढ़ता का संकेत चकाचौंध से मिलता है। बाह्य रूप में 'वीर', 'क्रुद्ध' तथा 'चकाचौंध' की लाल धर्म से समानता नहीं है, पर सूक्ष्म विवेचन करने पर गुलाब के फूल के प्रगाढ़ लाल रंग का तीव्र आभास इन शब्दों के जरिये हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतीकवादी तथ्य—उपमाओं का मिश्रण तथा प्रसंग-विच्छिन्न प्रयोग—अंगरेजी साहित्य के लिए सर्वथा नवीन प्रयोग नहीं था। यही कारण है कि अंगरेजी कवि टी॰ एस॰ इलियट के काव्य में फ्रेंच

प्रतीकवाद का जितना प्रभाव पड़ा है, उससे कम शक्स पियरोत्तर कवियों का नहीं। फिर भी आधुनिक प्रतीक वाद एजिलावेथ तथा मेटाफिजीकल प्रतीकवाद की पुनरावृत्तिमात्र नहीं। उसका परिष्करण फ्रेंच प्रतीक-वादियों द्वारा हुआ है। यद्यपि टी० एस० इलियट के काव्य में एलिजावेथ-युग के कवियों का प्रभाव अत्यधिक मात्रा म पडा है तथापि उसके काव्यों में प्रतीकवादी प्रणाली का स्वर एलिजावेथ युगीन स्वर से भिन्न है, उसके काव्य स्वर में एलिजावेथ-युगीन सगीत तथा फ्रेंच सगीत-लह का पूर्णरूपेण विलयन हुआ है।

अँगरेजी साहित्य में प्रतीकवाद का आधुनिक स्वरूप टी० एस० इलियट, डब्ल्यू० वी० इट्स तथा जेम्स जॉयस की कृतियों में मिलता है। इन तीनों महान् लेखकों की निजी विशेषताएँ हैं, अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, प्रतीकवाद के स्वरूप में भी विभिन्नता है, वल्कि प्रतीकवाद अपने रूढ़िगत स्वरूप को छोडकर नए वादों के साथ सम-न्वयात्मक सबध स्थापित करता है। अँगरेजी साहित्य के इन तीनों कलाकारों की कृतियों में ही प्रतीकवाद के उत्थान तथा ह्रास के लक्षण निहित हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि टी० एस० इलियट के काव्य में शेक्सपियरोत्तर कवियों तथा १६ वीं शताब्दी के फ्रेंच प्रतीक-वादियों का अत्यधिक प्रभाव पडा है। इन दोनों साहित्यिक धाराओं का सगम इलियट के काव्य में अद्भुत रूप में होता है और दोनों धाराएँ अपने अपने रूप को छोड एक विकसित, पर जटिल धारा का रूप धारण कर लती हैं। इलियट ने स्वय फ्रेंच प्रतीकवादी कलाकारों—कारबीयर तथा लाफारगूँ के प्रति अपना आभार स्पष्ट शब्दों में स्वीकृत किया है। कारबीयर यक्ष्मा रोग से पीड़ित था। उसकी मृत्यु ३० वर्ष की अल्पायु में हुई। समाज से वहिष्कृत वह विकृत मानव-जैसा जीवन व्यतीत करता था। दिन व्यतीत होता निद्रा देवी की आराधना में और रात भर काफी-घरों—होटलों में चक्कर मारता तथा सुवह सुवह होटलों से निक लनेवाली वेश्याओं का स्वागत करता। समाज से वहिष्कृत, यक्ष्मा के कीटाणुओं से चिर ग्रस्त, साहित्य मर्मज्ञों से उपेक्षित, शारीरिक कुरूपता से सजग कारबीयर ने ऐसे काव्य का सृजन किया है, जिसमें घरेलूपन है, वोलचाल का प्रवाह है, गँवारूपन है, प्रवल वेग से तमाचे-जैसा विषम काव्यत्व है, रोमाटिक व्यक्तित्व का चिर-प्रदर्शन है, और इन व्यग्यपूर्ण चित्रों के बीच से अकस्मात् फूट पड़ता है आर्तनाद का स्वर। कारबीयर से अधिक टी० एस० इलियट के काव्य में लाफारगूँ का प्रभाव लक्षित होता है। लाफारगूँ भी क्षय रोग से ग्रस्त था। उसकी मृत्यु २७ वर्ष की अवस्था में हुई। लाफारगूँ का काव्य विषाद, व्यग्य, नूतन प्रतीक तथा दार्शनिक अवोधगम्यता का अजायबघर है। फ्रेंच प्रतीकवादियों की दो प्रधान शाखाएँ हैं—उदात्त क्लासिक शाखा जिसका नेता मेलार्मो था तथा वोलचाल—व्यग्यात्मक शाखा जिसके आचार्य कारबीयर तथा लाफारगूँ थे। इलियट के काव्य में कारबीयर तथा लाफारगूँ की वोलचाल की प्रणाली, व्यग्यात्मक स्वर, अवोधगम्यता तथा १७ वीं शताब्दी के अँगरेजी कवियों के कल्पना विलास और बौद्धिक चेतना के अद्भुत सम्मिश्रण का समन्वयात्मक स्वर सुनाई पड़ता है, जो उसके काव्य में सगीत जैसी अस्थिरता, पर तीव्रता उत्पन्न कर देता है जिसके स्पदन से पाठकों का हृदय आलोडित होने लगता है और सच्चा काव्य, इलियट क शब्दों में, बौद्धिक स्तर को छूने के पूर्व हृदय को स्पदित कर देता है। इलियट के काव्य की एक दूसरी विशेषता जो प्रतीकवाद की भी सर्वमान्य विशेषता है, वह है अतींद्रिय तथा भौतिक दुनिया का अत सबध। कवि अपने अतींद्रिय जगत् से भौतिक जगत् में, उदात्त स्तर से गँवारू वोलचाल के स्तर में, इस तरह अकस्मात् तथा शीघ्रता से प्रवेश करता है कि पाठकों को अनजाने थप्पड खाने-जैसा अनुभव होता है।

इस निबध में इलियट के सभी काव्यों का दिग्दर्शन कराना सभव नहीं। यहा पर उसकी सुप्रसिद्ध रचना 'द वेस्ट लैंड'—'निर्जन देश' की प्रणाली, उसकी खूवियों तथा कमियों का विवेचन प्रतीकवादी साहित्य की दृष्टि से किया जा रहा है। 'द वेस्ट लैंड' इलियट की सुप्रसिद्ध तथा प्रतिनिधित्व करनेवाली कविता है तथा अँगरेजी साहित्य में युगांतरकारी हलचल पैदा करनेवाली। इलियट की प्रतीकवादी प्रणाली का पूर्ण तथा विकसित रूप इस काव्य में परिलक्षित होता है। यह ४०३ पक्तियों की कविता है तथा इसमें कवि ने सात पृष्ठों का नोट दिया है। पैंतीस लखकों की कृतियों से सकेत तथा उदाहरण लिए गए हैं। सबसे अधिक शक्सपियर तथा दाते की स्वर ध्वनि तथा सकेत हैं। अनेक लोकगीतों तथा छ भाषाओं से उद्धरण लिए गए हैं। सस्कृत का भी उद्धरण है। 'द वेस्ट लैंड'

का कवि दो दुनिया में साथ ही रहता है—एक है मध्य युगीन गाथाओं, लोककथाओं और पौराणिक रूपकों की दुनिया, दूसरी है आधुनिक युद्धोत्तर दुनिया। मध्ययुगीन विश्वास तथा आधुनिक सदेहवाद, कल्पना विलास तथा बौद्धिक विदग्धता, उदात्त संकेत तथा बोलचाल के गँवारूपन, अतींद्रिय भाव जगत् तथा मौतिक संकेतों की जटिल सूक्ष्म काव्यात्मक अनुभव को कवि व्यक्त करता है ऐसी भाषा में, ऐसे प्रतीकों में जिसे वह इनसाइक्लोपेडिक ज्ञान के सहारे, विभिन्न भाषाओं—आधुनिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं, मानसिक लाइब्रेरी तथा बोलचाल के शब्दों से खोज-खोजकर उसमें चमत्कार तथा प्राण फूँकर सृजन करता है। स्वभावतः ही इस प्रकार के काव्य में दुरूहता तथा अबोधगम्यता के दोष आ जायँगे। 'द वेस्ट-लैंड' का शीर्षक भी प्रतीकात्मक है। यह 'होलीग्रेल' की पौराणिक गाथा से लिया गया है। 'निर्जन देश' ऐसा देश है जिसका अधिपति एक नपुंसक राजा है जिसकी भूमि ऊसर है, जहाँ पर पेड़ पौधे उगते नहीं, जहाँ के पुरुष सृजन शक्तिहीन हैं, जहाँ की स्त्रियाँ बाँझ हैं। यह तो मध्ययुगीन पौराणिक प्रतीक हुआ, पर साथ ही 'वेस्ट लैंड' आधुनिक युद्धोत्तर सदेहवाद तथा उच्छृंखलतावाद के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह आधुनिक मानव की सदेहात्मक, अराजात्मक, जटिल, मोहरहित, विषादपूर्ण चेतना का निर्वैयक्तिक, व्यंग्यात्मक प्रतीक है। अब हम इलियट की प्रतीकात्मक प्रणाली का विश्लेषण 'द वेस्ट लैंड' के सुप्रसिद्ध उद्धरण से करेंगे—

1. Above the antique mantel was displayed 2 As though a window gave upon the sylvan scene 3 The change of Philomel, by the barbarous king 4 So rudely forced, yet there the nightingale 5. Filled all the desert with inviolable voice. 6 And still she cried, and still the world pursues 7. 'Jug, Jug to dirty ears.'

उपर्युक्त पद्य लंदन की एक कोठरी का वर्णन है जिसका भावार्थ यह है—'पुरानी अग्निपीठिका के ऊपर फीलोमिला के परिवर्तन के चित्र को देखता है। कवि की कल्पना दौड़ पड़ती है। यह चित्र उसे मिल्टन के 'पेरेडाइज लास्ट' में पार्थिव स्वर्ग की खिड़की के सामने प्रतीत होता है। और कवि अपनी अवस्था का, उस चित्र में वर्णित राजा ट्रियस द्वारा कौमार्य भ्रष्ट फीलोमिला की तीव्र ग्लानि के समान अनुभव करता है। यह लंदन शहर की कोठरी की अनुभूति कौमार्य भ्रष्ट फीलोमिला की अनुभूति के समान है। फिर भी उस पार्थिव स्वर्ग में नाइटिंगेल का गाना था। जिह्वा काटने के उपरांत भी चिड़िया विषादपूर्ण स्वर में पार्थिव स्वर्ग में अपना गाना जारी रखती है। और, आज भी वह गाती है और लोगों को 'जुग-जुग' शब्द सुनाई पड़ता है।' इस पद्य को समझने के लिए तीन चीजों का ज्ञान होना आवश्यक है—फीलोमिला-गाथा, मिल्टन काव्य की पंक्ति तथा प्राचीन लोकगीत। फीलोमिला की ओविड द्वारा वर्णित गाथा संक्षेप में इस प्रकार है—प्राक्नी तथा फीलोमिला दो बहनें थीं। प्राक्नी का विवाह ग्रीक के राजा ट्रायस के साथ हुआ। कुछ समय के पश्चात् राजा अपनी पत्नी से असंतुष्ट हो गया। पत्नी की बीमारी के बहाने उसने फीलोमिला को बुलाया। फिर अवसर पाकर उसने फीलोमिला का कौमार्य बलपूर्वक नष्ट कर दिया तथा उसकी जिह्वा काट ली। फीलोमिला ने अपनी दर्दनाक कहानी मकड़ी का जाल बुनकर अपनी बहन को बतला दिया। प्राक्नी क्रुद्ध होकर अपने पुत्र की हत्या कर, मांस के रूप में पति को भोजन करा, फीलोमिला के साथ भाग गई। राजा ने उन दोनों का पीछा किया। ग्रीक देवता ने दया करके तीनों को पक्षी के रूप में परिवर्तित कर दिया। फीलोमिला नाइटिंगेल हो गई। पद्य की दूसरी पंक्ति में 'the sylvan scene' है। कवि ने स्वयं नोट में लिखा है कि यह मिल्टन के पैराडाइज लास्ट से लिया गया है। साथ ही प्राचीन लोकगीतों में पक्षी के गान को 'जुग-जुग' शब्द से पुकारा जाता था। अतः आज की जनता को—लंदन शहर की कृत्रिम सभ्यता में रहनेवाली जनता को—नाइटिंगेल का गाना 'जुग-जुग' के समान प्रतीत होता है। अतः उपर्युक्त पद्य में कवि ग्रीक गाथा, मध्ययुग तथा मिल्टन काव्य-संकेत—इन तीनों का प्रयोग लंदन की एक कोठरी के वर्णन में करता है। इन तीनों दुनिया का समन्वयात्मक स्वर आधुनिक चेतना के विरुद्ध है। कवि व्यंग्यात्मक स्वर में निर्वैयक्तिकता के साथ अपने युग के विषाद, गँवारूपन तथा कृत्रिमता की तीव्रानुभूति की अभिव्यक्ति केवल सात पंक्तियों में करता है। ग्रीक गाथा

की दुनिया से आधुनिक दुनिया में प्रवेश अकस्मात् एक झटके के साथ होता है। घरेलूपन कोठरी का सबंध होता है कल्पना-जनित ग्रीक गाथा से, मिल्टन के महाकाव्य से तथा मध्ययुगीन लोकगीत से। ये सब मिलकर कवि की तीव्रानुभूति की झलक देते हैं, उसका सकेत करते हैं। फिर भी इलियट के चित्र में मेटा फिजीक्ल कवि-जैसा बाहुल्य नहीं है। प्रत्येक चित्र यथार्थ तथा प्रौढ है—फ्रेंच परिष्करण से शुद्ध होकर।

इलियट काव्य के सौंदर्य तथा प्रतीकवाद की देन तथा कमी को समझने के लिए उपर्युक्त पद्य का और भी अधिक विश्लेषण आवश्यक है। उपर्युक्त पद्य को काव्य की कसौटी पर जाँचने से पता चलता है कि इसमें सफल काव्य के अधिकाश उपादान वर्त्तमान हैं। सफल काव्य की सर्वमान्य कसौटी है काव्यानुभूति की सचाई। इसमें सदेह नहीं कि उपर्युक्त उद्धरण में इलियट अपनी तीव्रानुभूति के प्रति ईमानदार है। वह अपनी अनुभूति को सपूर्णता से मनोविज्ञान की सभी गुत्थियों के साथ व्यक्त करने की चेष्टा करता है, चूँकि अनुभूति की पूर्णाभिव्यक्ति सभव नहीं। लदन शहर की कृत्रिम कोठरी की दम घोटने वाली एकातता, निर्जनता तथा खोखलापन की अभिव्यक्ति वह केवल सकेतों—प्रतीकों के माध्यम से करता है। प्रतीक वादी साहित्य का यह तथ्य है और यह प्रत्येक श्रेष्ठ काव्य का भी सिद्धात है कि कलाकार का धर्म वस्तु का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करना नहीं है; बल्कि सकेतमात्र कर देना है। प्रतीकवाद का यह सिद्धात भारतीय साहित्य के ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों के मत से बहुत-कुछ मिलता है। टी० एस० इलियट की निजी देन है अपनी काव्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए नए प्रतीकों—नए चित्रों का माध्यम। वह प्रतिभा और विशाल ज्ञान के सहारे नए प्रतीकों में भावावेश की एकता सयोजित करता है। पर यहीं पर इलियट-काव्य की दुरूहता तथा प्रतीकवादी सहित्य की कमी स्पष्ट हो जाती है। इलियट ने अपनी समीक्षा-पुस्तक 'द सेक्रेड वुड' में काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है—Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion, it is not the impression of personality, but an escape from personality. But, of course, only those who have personality and emotion know what it means to want to escape from them.

अर्थात्—'काव्य चित्त क्षोभ की उच्छृखलता नहीं है, वरन् इससे मुक्ति है, यह आत्माभिव्यक्ति नहीं, बल्कि निर्वैयक्तिकता है। लेकिन वस्तुतः जिनमें व्यक्तित्व तथा आवेग है, वे ही जानते हैं कि उनसे मुक्ति का क्या अर्थ है। इलियट के अनुसार काव्य में बौद्धिकता तथा निर्वैयक्तिकता का होना अनिवार्य है। इलियट ने कभी भावना की निरर्थकता सिद्ध नहीं की है, बल्कि उसके काव्य में, अनेक स्थलों पर, जिनमें उपर्युक्त उद्धरण भी शामिल है, भावावेग तथा बौद्धिक चेतना का सम्यक् समन्वय हुआ है। पर भय यह है कि यह आशंका स्वय इलियट तथा पाउड के काव्य के अध्ययन से तथा प्रतीकवादी काव्य में सामान्य रूप से दृढ हो जाती है कि इस तरह के काव्य में बौद्धिक चेतना का महत्त्व अपेक्षाकृत इतना अधिक हो जाता है कि कविता बुद्धि विलास के कारण अत्यत ही दुरूह, अस्पष्ट एव दुर्बोध हो जाती है तथा सस्कृत और हिंदी के कवियों की कूटोक्तियों की तरह इने-गिने पाठकों के लिए पाडित्य की कसौटी हो जाती है। यही कारण है कि २० वी शताब्दी के तृतीय दशक में प्रतीकवादी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारभ हुई। इलियट का प्रभाव आडेन स्पेंडर तथा डेलेविस की कविताओं में स्पष्ट है, पर यह प्रभाव अधिकाशतः टेकनिक तथा शब्द चयन पर पड़ा है। जहाँतक काव्यगत वस्तु का सबंध है, इन कवियों पर सोवियट रूस के समाजवादी यथार्थवाद के सिद्धातों की गहरी छाप है। समाजवादी यथार्थवाद साहित्य के क्षेत्र में १६ वीं शताब्दी के प्रतीकवाद, यथार्थवाद और रहस्यवाद की चुनौती के रूप में आया है। आधुनिक प्रगतिशील आदोलन समाजवादी यथार्थवाद का ही रूपातर है। यह काव्य को प्रतीकों के ताने बाने से छुडाकर जीवन के मैदान में ला खड़ा करता है, जहाँ पर दैन्य, विषाद, सघर्ष और आलोक है। प्रतीकवादी कलाकार साहित्य को विशाल जन समुदाय से विच्छिन्न कर, अपने मन की गुत्थियों से जकड, प्रतीकों के ऐंद्रजालिक दुनिया में उड़ा ले जाता है, जिसकी रगीन किरणों से साधारण पाठक चकाचौंध हो जाता है। लेखक तथा पाठक के बीच की यह खाई ही प्रतीकवाद के पतन का कारण है प्रतीकवादी काव्य में साधारणतः तथा इलियट-काव्य में विशेषत श्रेष्ठ काव्य के ये अधिकाश उपादान वर्त्तमान हैं—

काव्यानुभूति की तीव्रता, काव्यगत सचाई तथा भाषा का सकेतात्मक प्रयोग, लेकिन श्रेष्ठ काव्य का अनिवार्य उपादान भाव की सरलता का सर्वथा अभाव है, जो कविता को सर्वग्राह्य बनाती है, जीवन के अधिक से अधिक रूपों के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करती है तथा कवि और पाठक के बीच की खाई को दूर कर, विशाल जन-समुदाय के हृदय को स्पंदित कर, काव्य को केवल जीवन का चित्र ही नहीं बनाती, वरन् जीवन को स्वस्थ तथा आलोकित भी करती है।

अब हम अँगरेजी साहित्य के दो महारथियों—डब्ल्यू० बी० इट्स तथा जेम्स जायस—की कृतियों का प्रतीकवाद की दृष्टि से विवेचन करेंगे, जिनमें प्रतीकवाद अपने मूलरूप का अन्य रूपों के साथ संश्लेषण स्थापित करता है। इट्स के काव्य में फ्रेंच प्रतीकवाद का प्रभाव अमिट है। प्रारम्भिक काल में इट्स प्रतीकवादी सिद्धांत का एक प्रबल समर्थक था, लेकिन उसकी निजी विशेषता प्रतीकवाद के कवि से भी अधिक आयरलैंड के सांस्कृतिक कवि के रूप में है। इट्स प्रारम्भिक काल में स्वप्नलोक का कवि है, उसके काव्य की नगरी में परियों का वास है, चिर-वसंत की अलौकिक छटा है, उसके पेड़-पौधे सतत फलों से लदे रहते हैं उस नगरी की रानी नागरिकों के मध्य नृत्य करती है, वहाँ की निर्झरिणी में सतत मदिरा प्रवाहित होती है। इट्स की कल्पना का लोक 'यथार्थ दुनिया' से बहुत दूर है जिसमें जीवन के आर्त्तनाद का स्वर नहीं सुनाई पड़ता, दुःख और दैन्य के चित्र भी नहीं दीख पड़ते। इट्स की पौराणिक गाथाओं तथा प्रारम्भिक कविताओं के नायक इस दुनिया से पलायन कर कल्पना तथा रा०र की स्वप्निल स्निग्ध दुनिया में रहते हैं। लेकिन यहाँ यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि प्रारंभिक काल में भी इट्स के प्रतीक आयरलैंड की प्राचीन गाथाओं अथवा धूमिल प्राकृतिक सौंदर्य से ही लिए गए हैं तथा उस काल में भी इट्स में जीवन-संघर्ष की गहरी अनुभूति वर्तमान है। इट्स की प्रारंभिक रचनाओं के उद्धृत प्रतीकात्मक उदाहरण दिए जाते हैं—

The lake Isle of Innisfree

I will arise and go now, and go to Innisfree
And a small cabin build there, of clay and wattles made,
Nine bean rows will I have there, a hive for the honey bee.
And live alone in the bee loud glade.
And I shall have same peace there, for peace comes dropping slow.
Dropping from the veils of the morning to where the cricket sings.
There midnight's all a glimmers, and noon a purple glow.
And evening full of the linnet's wings.
I will arise and go now, for always night and day
I hear lake water lopping with low sounds by the shore
While I stand on the roadway or on the pavement grey.
I heart it in the deep heart's lore

उपर्युक्त कविता में कवि कल्पनालोक के इनिसफ्री द्वीप में जाने को कटिबद्ध है जिसमें मिट्टी तथा सरपत से निर्मित एक छोटी झोपड़ी में सेम लताओं के मध्य, मधु-मक्खी के छत्ता के समीप, मक्खियों के गुंजन के बीच, वह अकेला रहेगा। उस द्वीप में झींगुर के कलरव के साथ शांतिदायिनी उष:काल का आगमन होता है, अर्द्धरात्रि की निस्तब्ध निर्जनता रहती है, दुपहरिया का नील लोहित आलोक रहता है तथा संध्याकाल में लिनेट पक्षी का मधुर गान होता है। कवि उद्यत है इस लोक में जाने के लिए, चूँकि दिन रात जबकि वह सड़क पर अथवा भूरी पगडंडियों पर खड़ा रहता है, सतत कूल-चुंबित सरोवर की मंद स्वर-लहरी अपने हृदय के अंतस्तल में सुनता रहता है। इसमें कवि प्रतीकों के सहारे इस यथार्थ दुनिया के कोलाहल से सुदूर मानवलोक का सृजन करता है, पर इनिसफ्री एक साथ ही स्वप्नलोक, कल्पना-लोक, प्रकृति लोक, रहस्य लोक तथा आयरलैंड की आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतीक बन जाता है। श्रेष्ठ काव्य में एक साथ ही स्तर पर स्तर रहते हैं, जो प्रत्येक वर्ग के पाठकों के रागात्मक पट पर प्रघात करते हैं। उपर्युक्त कविता के प्रतीक में विविधता है। साथ ही कवि जीवन के कोलाहल से, कृत्रिम सभ्यता की प्राण हीनता की तीव्रानुभूति से पूर्णतया परिचित है, जिनसे वह पलायन करता है। 'रोड वे' तथा 'पे पेवमेंट' आधुनिक सभ्यता के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। अत: प्रारंभिक रचनाओं में भी इट्स के काव्य में

जीवन के कटु अनुभवों की पूर्णतया उपेक्षा नहीं है। इट्स के प्रौढ काव्य में क्रांतिकारी परिवर्त्तन लक्षित होता है। प्रतीकवाद, रहस्यवाद, आत्मवाद तथा पेटर और टैगोर के प्रभावों से क्रमशः मुक्त होते हुए इट्स ने ऐसी काव्य-शैली का निर्माण किया है, जिसमें प्रतीकवाद और स्थूलवाद, आदर्श और यथार्थ, सरलता तथा संकेतात्मकता का सफल सामंजस्य हुआ है। १६२८ में प्रकाशित 'द टावर' की कविताओं में पहले की अपेक्षा अधिक सरलता, हास्य, निरपेक्षता और जीवन सामीप्य दृष्टिगोचर होता है। फ्रेंच प्रतीकवाद से पूर्णतया मुक्त न होने पर भी, इट्स का प्रौढ प्रतीकवाद, आयरलैंड के राष्ट्रीयतावाद से इस तरह प्रभावित हुआ कि प्रतीकवाद अपने अंतर्राष्ट्रीय रूप को छोड़कर राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है। यह फ्रेंच प्रतीकवाद के (प्रतीक का नहीं) ह्रास का लक्षण है।

जेम्स जॉयस की कृतियों में प्रतीकवाद का पतन पूर्णरूप से हो जाता है। उसकी अत्यधिक प्रशंसित तथा विवेचित कृति यूलिसिस में प्रतीकवाद यथार्थवाद के साथ जिसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इसका आविर्भाव हुआ, सामंजस्य स्थापित कर लेता है। यूलिसिस आधुनिक उपन्यास है, *जिसके संबंध में अँगरेजी साहित्य में जितना* विवेचन हुआ, उतना बहुत ही कम कृतियों के संबंध में हुआ है। २४ घंटों के घटना चक्रों तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का लगभग एक हजार पृष्ठों की पुस्तक में वर्णन कर जेम्स जॉयस ने उपन्यास-जगत् में एक हलचल पैदा कर दी। वस्तुत प्रतीकवाद की तरह जॉयस यूलिसिस में दो दुनिया में—ग्रीक दुनिया और आधुनिक दुनिया में—एक साथ ही रहता है। होमर की आडेसी के साथ आधुनिक यथार्थवादी मनोविज्ञान का सामंजस्य स्थापित किया गया है। इसमें प्रतीकवाद की विजय हुई है अथवा पराजय—यह विवादास्पद विषय हो सकता है, लेकिन इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि यूलिसिस का प्रतीकात्मक यथार्थवाद कोरी कलाकारिता के रूप में पुस्तकालय की शोभा बढ़ा रहा है। यूलिसिस की प्रशंसा होती है, पर उसके प्रति साधारण पाठकों का मोह जाता रहा है।

अत. आधुनिक अँगरेजी साहित्य में प्रतीकवाद का पतन हो चुका है। प्रतीकवाद 'पलायनवाद' का ही रूपांतर रहा। यथार्थवाद की वैज्ञानिक बाह्य स्थूलता के प्रति प्रतीकवाद विद्रोह था। यह प्रतिक्रिया अपने चरम रूप में प्रतीकों तथा सूक्ष्मताओं के इस स्तर में पहुँच गई कि प्रतीकवादी कविता का क्षेत्र कतिपय बुद्धिजीवियों तक ही सीमित रह गया और विशाल जीवन के सुख दु ख से काव्य विच्छिन्न होता नजर आया। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का आभास आडेन, स्पेंडर और लेडिविस की कविताओं म स्पष्ट है। *यह विद्रोह काव्य के सिद्धांत के रूप में प्रकट नहीं* हुआ है, चूँकि आडेन, स्पेंडर तथा इस युग के कवियों पर प्रतीकवादी युग के कवियों का प्रभाव है। एक और कारण यह है कि साहित्यिक प्रतिक्रिया को सबल तथा प्रभावोत्पादक रूप में अभिव्यक्त करने की शक्ति विशेष प्रतिभा संपन्न कलाकार में ही होती है। इस युगांतरकारी प्रतिभा का अभाव आडेन-स्पेंडर डेविस युग के कवियों में है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रतीकवाद का बीज एलिजावेथ काल के कवियों में तथा १७ वीं शताब्दी के कवियों में वर्त्तमान था। इसमें सैद्धांतिक विवेचन का श्रीगणेश पो, इमरसन प्रभृति अमरिकन साहित्यिकों के द्वारा हुआ। इसका पूर्ण स्फुटन मेलार्मो, लाफारगूँ, वालो-प्रभृति फ्रेंच कलाकारों ने किया। आधुनिक अँगरेजी साहित्य में फ्रांस से होता हुआ यह प्रतीकवाद इलियट, इट्स तथा जॉयस की कृतियों में चमककर विलीन होता हुआ हमारे हिंदी साहित्य में छायावादी युग के उपादान के रूप में अवतरित हुआ तथा छायावाद के नाश होने पर अब प्रयोगवाद के नाम से चोला बदलकर जीवित होने का क्षीण दुर्बल प्रयास कर रहा है।



गोस्वामी तुलसीदास और उनकी जीवनियाँ

श्री गोकुलानंद सहाय

गोस्वामी तुलसीदासजी की अनेक जीवनियाँ उपलब्ध हैं; पर उनमें सामंजस्य नहीं है। सभी पुस्तकों में उनकी जीवनियों के संबंध में भिन्न भिन्न प्रकार की बातें पाई जाती हैं। जन्म स्थान, जन्म-संवत्, ससुराल, पिता, ससुर, पत्नी और उनकी जाति इत्यादि को लेकर विचित्रतापूर्ण अंतर और मतभेद पाए जाते हैं।

उनके सभी जीवनी लेखकों ने उन्हें ब्राह्मण बताया है, परंतु यह अबतक निर्णीत नहीं हो सका है कि वह कौन ब्राह्मण थे? फिर पिता, ससुर और स्त्री की बात ही क्या? जन्म-संवत्, जन्म-स्थान और श्वसुरालय भी इसी प्रकार अनिश्चित रह जाते हैं। इसी तरह यह विषय भी स्वयं संदिग्ध हो जाता है कि यथार्थ में उनके कोई गुरु भी थे या नहीं? ऐसी स्थिति में केवल 'अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग' की ही बात चरितार्थ होती है।

उनके स्वकथित जीवन चित्रण तो एक ऐसी समस्या तथा परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि उनके विवाह का होना भी असंभव सिद्ध होता है। इसी प्रकार उनकी मृत्यु के तथाकथित ब्योरे और उनके स्वकथन के अनुशीलन से ऐसी जटिल समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं कि उनकी मृत्यु विषयक विवरण भी संदिग्ध हो जाता है। अतः ऐसी विषमताओं तथा मतभेदों के रहते हुए भी, बिना किसी प्रकाट्य प्रमाण के, उनके स्व-कथित घटनाओं एवं बातों की उपेक्षा कर, केवल अनुमान तथा तर्क के बल पर क्या यह घोषित करना सर्वमान्य हो सकता है कि अमुक जीवन वृत्तांत ही सही है?

श्री बाबा बेनीमाधवदास - कृत मूल 'गोसाईं' - चरित' और श्री बाबा रघुबरदास-कृत 'तुलसी चरित'—यही दो गोस्वामीजी की अर्वाचीन और प्रामाणिक जीवनियाँ समझी जाती हैं।

इन जीवनियों में उन लेखकों के तथाकथित संबंध रहने पर भी उन पुस्तकों में वर्णित उनके जीवन-वृत्तांत में पारस्परिक विभिन्नता है। साथ ही गोस्वामीजी ने विनय पत्रिका, कवितावली, हनुमान - बाहुक और रामचरितमानस में अपने संबंध में जो कुछ लिखा है उससे भी उक्त पुस्तकों का कोई मेल नहीं।

उन दोनों पुस्तकों में इतनी विभिन्नता रहने पर भी उनके नाम का यथेष्ट प्रचार हुआ; क्योंकि दोनों पर लेखक के रूप में एक एक महात्मा के नाम की छाप है। भारतीय जनता की अनन्य श्रद्धा महात्माओं के प्रति रहती आई है और उनकी तथ्य-रहित बातें भी वेदवाक्य-सदृश होती रही हैं।

यह प्रसिद्ध है कि संवत् १६८० में गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में हुई थी। कहा जाता है कि ज्योतिष-शास्त्रगत रुद्रविंशति तथा मीनस्थ शनि के योग उस समय विद्यमान थे जिनके अनिष्ट फल के कारण काशी में महामारी अथवा प्लेग का भयंकर प्रकोप फैला था और गोस्वामीजी की मृत्यु उसी रोग से हुई थी। यह कथन भी शंका-रहित नहीं है, क्योंकि इतिहास से ऐसा पता नहीं चलता है और न 'तुजुक जहाँगीरी' में ही काशी में भीषण प्लेग होने का उल्लेख है। संवत् १६८०-५७=सन् १६२३ ई० में जहाँगीर भारत का सम्राट् था। उसके शासन-काल में महामारी अथवा प्लेग का प्रकोप काशी में भी हुआ था, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह असंभव सा प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी-जैसे संत की मृत्यु भी ऐसे रोग से हुई हो। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन योगों के अनिष्ट फल-जनित महामारी रोग को गोस्वामीजी की मृत्यु का कारण बताया जाता है, उन दोनों योगों की स्थिति संवत् १६८० में थी ही नहीं। रुद्रविंशति योग संवत् १६७४-७५ में ही समाप्त हो चुका था। संवत् १६८० में ब्रह्मविंशति योग चल रहा था और शनि कर्क राशि में ही था, न कि मीन में; क्योंकि संवत् १६६६-७१ में ही वह मीनराशि-गत रह चुका था। श्री बाबा बेनीमाधवदास-कृत मूल 'गोसाईं'-चरित' के आधार पर १६८० को उनका मृत्यु-संवत् मानते हुए भी

उसमें उद्धृत 'सावन श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर' को न मानकर उनका मृत्यु दिवस श्रावण शुक्ला सप्तमी को ही प्रतिवर्ष मनाया जाता है, जो मूल 'गोसाईं चरित' में उनकी जन्म-तिथि बताई गई है—'श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धर्‌यो शरीर।' अतः संवत् १६८० में उनकी मृत्यु हुई थी, यह संदिग्ध ही है।

काशी उनका मृत्यु स्थान बताया गया है, पर यह कथन तो और भी संदेहास्पद है, क्योंकि संत तुलसीदासजी की मृत्यु अयोध्या में न हो, जहाँ मरने पर श्रीराम के धाम की प्राप्ति होती, आश्चर्य का विषय है।

गोसाईं जी ने भी लिखा है कि काशी में मरने से स्वतः मुक्ति मिलती है। किंतु यह कदापि संभव नहीं कि जन्म मरण के दुसह दुःख के भय से उन्होंने अपने इष्टदेव राम के धाम की उपेक्षा कर काशी की मुक्ति का ही स्वागत किया हो, यद्यपि यह स्वयं सिद्ध है कि 'काशी मरण' हेतु वे काशी सेवन भी कर रहे थे, जिसका उल्लेख विनय पत्रिका, कवितावली और हनुमान-बाहुक में है। द्वैत और अद्वैत सिद्धांत गत मुक्ति की व्याख्या में भी समानता नहीं है। भक्त प्रणाली के अनुसार मुक्ति चार प्रकार की है—(१) सामीप्य, (२) सारूप्य, (३) सायुज्य और (४) सालोक्य। परंतु अद्वैतवादी की मुक्ति अखंड है। उपर्युक्त चारों में से किसी प्रकार की मुक्ति प्राप्त करने पर भी भक्त और भगवान दोनों की स्थिति बनी रहती है। ज्ञानी मायारहित होकर स्वयं सच्चिदानंद-घन में लीन हो जाते हैं, न कि परमानंद का वे उपभोग करते रहते हैं। 'काशी मरण' से ज्ञान की प्राप्ति होती है, न कि परम पद की, जो भक्त का ही एकमात्र लक्ष्य है। ऐसी अवस्था में द्वैतवादी भक्त शिरोमणि तुलसीदासजी की आकांक्षा पूर्ति नहीं होती, बल्कि ब्रह्मज्ञानी परमहंस महात्मा तुलसीदास की ही होती है।

महात्मा तुलसीदास सर्वदा भजन पूजन करते थे। वे अपने भगवान से क्षण भर भी दूर नहीं रहना चाहते थे। वियोग की क्षणिक भावना से भी वे उद्विग्न हो जाते थे। इससे बचने के लिए वे अपने इष्टदेव के ही धाम की प्राप्ति के हेतु प्रयत्नशील रहा करते थे जिसे पाकर वे कृतकृत्य हो जाते। उन्हें और किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं रह जाती, क्योंकि वहाँ अपने इष्टदेव का निर्विघ्न तथा निरंतर भजन और सेवन करने का अवसर जो उन्हें प्राप्त हो जाता। साथ ही उनका अस्तित्व भी सुरक्षित रह जाता। और इसीसे उन्हें प्राप्त होती वह मुक्ति जिसके अधिकारी भक्त होते हैं, न कि 'काशी-मरणान् मुक्ति' जो उससे पूर्णतः भिन्न है, साथ ही लक्ष्य विरुद्ध भी। अतः गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में हुई—ऐसा कहने से यही बोध होता है कि उन्हें ज्ञानियों की गति प्राप्त हुई, न कि अपने इष्टदेव राम का धाम प्राप्त हुआ। जिस किसी भाग्यवान को श्रीराम का धाम प्राप्त होता है उसकी द्वैतभावना वहाँ भी बद्धत विद्यमान रहती है। सूक्ष्म शरीर वहाँ भले ही नहीं रहे, पर भाव शरीर तो बना ही रहता है, क्योंकि जीव और ईश्वर दोनों अनादि और अनंत बताए गए हैं। परंतु काशी में मरने पर केवल जरा-जन्म के चक्कर से ही मुक्ति नहीं मिलती है, बल्कि जीवात्मा का भी अंत हो जाता है और द्वैत भाव की इतिश्री भी, क्योंकि अद्वैतवाद में जीव और ईश्वर का द्वंद्व भाव तो है नहीं, वहाँ तो 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' की टेक है। अतः भक्त के लिए काशी-मरण आकर्षक नहीं है, क्योंकि उससे उनका अपना अस्तित्व लुप्त हो जाता है। ऐसी दशा में उपास्य और उपासक—दोनों ही विलीन हो जाते हैं। फिर किसकी भक्ति कौन करता है? उत्पत्ति और संहार क्रम के शेष हो जाने पर भाव शरीर की उपलब्धि भी असंभव है, साथ ही इष्टधाम की प्राप्ति भी। इसलिए भक्त तुलसीदासजी की मृत्यु काशी में हुई—यह एक संदेहजनक विषय हो जाता है।

श्री बाबा वेनीमाधवदासजी या श्री बाबा रघुवर दासजी अथवा कौन-कौन उनके मृत्यु काल में उपस्थित थे—इसका उल्लेख भी कहीं प्राप्त नहीं होता है और न किसी आप्त का ही ऐसा कथन मिलता है कि उनके सामने अमुक स्थान, संवत्, मास और तिथि में अमुक कारण से गोस्वामीजी की मृत्यु हुई थी। फलतः उनके मृत्यु विषयक प्रचलित कथन से केवल 'अटकल पच्चे डेढ सौ' की कहावत ही चरितार्थ होती है। ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी के काशी-सेवन के स्वकथित उल्लेख के आधार पर ही यह अनुमान किया गया कि उनकी मृत्यु काशी में हुई और संवत् १६८० का काल्पनिक ब्योरा देकर एक गाथा रची गई, जो सर्वप्रथम मूल 'गोसाईं-चरित' में उद्धृत की गई और उस पुस्तक की

प्राचीनता तथा सत्यता को दृढ़ बनाकर उसे प्रमाणित सिद्ध करने के लिए लेखक के रूप में किसी महात्मा के काल्पनिक नाम की झूठी छाप से वह विभूषित भी की गई।

मूल जीवनी के व्यवस्थापकों एवं रचयिताओं का चाहे जो भी उद्देश्य रहा हो—किसी स्थान, जाति और सम्प्रदाय की मर्यादा या शोभा-वृद्धि करना अथवा अपने बौद्धिक आविष्कार तथा विद्वत्ता के चमत्कार का ही प्रदर्शन करना या धन-प्राप्ति का ही साधन बनाना अथवा और जो कुछ भी, पर येन का योड़ा बेकार नहीं चलता है। उपयोग वृत्तांतों से परिपूर्ण जीवनियों की सृष्टि भी अकारण नहीं हुई है।

जन्मकाल से ही उनके जीवन की गति ऐसी टेढ़ी मेढ़ी रही है कि वे स्वयं भी अपने जन्म-संवत्, जाति, जन्म-स्थान और पिता के नाम से अनभिज्ञ रहे। अस्तु, इन बातों का उल्लेख करना उनके लिए स्वतः असंभव था और संत-परंपरागत संबंधी प्रथा का अनुसरण करना तो दूर था ही। ऐसा समझना न्यायसंगत नहीं है कि उन्होंने इन बातों को जान बूझकर ही छिपा रखा। उनके सभी विचारों में मौलिकता थी और उनके ढंग भी निराले ही थे। वे रूढ़िवादी नहीं, किंतु युग प्रवर्त्तक थे। अतएव अपने विषय में जो कुछ भी उल्लेख उन्होंने किया है उसके ढंग भी न्यारे ही हैं। क्योंकि उनकी आत्मकथा में उन वृत्तांतों का अभाव पाया जाता है, जिनका वर्णन साधारणतः सभी जीवनियों में रहता है। कारण, उनके अभाव में जीवनियों का मंतव्य यथार्थ में स्पष्ट भी नहीं होता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि संत जनों ने अपनी आत्म प्रशंसारूप दोषों से बचने के लिए अथवा विगत जीवन की विस्मृत भावनाओं के सजग होने की आशंका के कारण आत्मकथा लिखने की प्रथा जब रखी ही नहीं तब गोस्वामीजी ने भी संत प्रथा का अनुसरण किया होगा न कि उल्लंघन। सारांश यह है कि उनका कथन इन्हीं दो कारणों से और जो भी समझा जाय, पर उनकी आत्मकथा नहीं समझा जा सकता।

आत्मकथा का लिखना संत-परंपरागत प्रथा के विरुद्ध भले ही हो परन्तु वह गोस्वामीजी का उद्देश्य तथा सनातन रीति के अनुकूल ही। इसके अतिरिक्त यह गोस्वामीजी महर्षि वाल्मीकि के अवतार माने जाते हैं, तब यह भी संभव है कि अपने पूर्वजन्म-संस्कार-गत प्रेरणा के अनुसार उन्हें चलना ही था और वे चले भी।

> वाल्मीकि नारद घटजोनी।
> निज-निज मुखनि कही निज होनी॥

इसीलिए गोस्वामीजी ने भी अपने बचपन से लेकर वृद्धावस्था-पर्यंत की उन सभी घटनाओं का उल्लेख किया है जिनकी उन्हें जानकारी थी। विनय-पत्रिका, कवितावली और हनुमान बाहुक में ये वर्णित हैं जिनका निचोड़ रामचरित-मानस में रखकर उन्होंने इस प्रकार उपसंहार किया—

> जौं अपने अवगुन सब कहऊँ।
> बाढ़ई कथा पार नहीं लहऊँ॥
> ताते मैं अति अलप बखाने।
> थोरे महु जानिहहिं सयाने॥

इन चौपाइयों से स्पष्ट है कि उन्होंने जिन वृत्तांतों का उल्लेख उपर्युक्त तीन पुस्तकों में किया था, उन्हें विषयांतर होने के कारण संक्षेप में ही रखकर केवल अनुभवी बुध जनों को संकेत करके कहा कि यहाँ पर इतना ही पर्याप्त है।

उनके स्वकथन में उनके जन्म-संवत्, जाति, जन्मस्थान और पिता के नाम वर्णित नहीं हैं। दूसरे, उन काल्पनिक जीवनियों पर तथाकथित महात्माओं के नाम की छाप का ही चमत्कार है, जो आज वे सभी को वशीभूत किए हुई हैं। क्योंकि भोले भाले भारतीयों की सर्वप्रिय मनोवृत्तियों का अनुपयुक्त लाभ उठाने की यही सुलभ युक्ति थी, जिसका प्रयोग किए बिना उन काल्पनिक वृत्तांतों के प्रभाव इतने टिकाऊ भी नहीं हो सकते थे। यह उसी कौशलपूर्ण प्रबंध का फल है कि उनके स्वकथन के समक्ष भी बाल-ब्रह्मचारी संत तुलसी के विवाह होने की कथा भी प्रचलित हो गई और एक काल्पनिक रत्नावली के नाम से उनकी तथाकथित पत्नी का नामकरण भी हो गया, यद्यपि मूल 'गोसाईं-चरित' तथा 'तुलसी-चरित' से भी यह ज्ञात नहीं होता है कि उनकी पत्नी का नाम रत्नावली था। और, 'राजापुर' को उनका जन्मस्थान कहना भी इसी प्रकार उचित नहीं है।

अपने समय के जिस काँटे को जहाँ चाहा, वहाँ हटाकर रख दिया—जानता कौन है? परंतु संत तुलसीदासजी तो थे युग-प्रवर्तक तथा देश हितकारी, न कि किसी एक स्थान,

कुल, समाज अथवा व्यक्ति की धरोहर। इसीलिए उनका चित्रण मनमाने ढंग से नहीं किया जा सकता है। गोस्वामीजी-विषयक उन्हीं बातों को विश्वस्त तथा प्रामाणिक माना जा सकता है जिनका सामंजस्य चाहे उनके स्वकथित वृत्तातों से हो अथवा जिनका समर्थन स्वय उन्होंने ही किया हो। सूत्र अथवा पात्र कितने ही विश्वस्त तथा प्रतिभा-शाली क्यों न हों, पर गोस्वामीजी के स्वकथन के समक्ष उनके विरोधात्मक कथन का कोई महत्त्व नहीं हो सकता है। विशेष कर उस समय जब उनके स्वकथित वृत्तात उपलब्ध हैं। उनके जन्म के साधारण ब्योरे के बिना भी उनके स्वकथित वृत्तातों से मानव-समाज जितना लाभ उठा सकता है, उनके सबंधी किसी काल्पनिक ब्योरे तथा वृत्तातों के द्वारा उसका चौसठवाँ अश भी प्राप्त होना सभव नहीं है। जो स्वय प्रत्यक्ष है, उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। देश अथवा समाज ने उनके तथाकथित व्यक्तित्व से कितना लाभ उठाया है—यह सोचने की बात हो जाती है। यह स्पष्ट है कि उनकी रचनाओं का उलट-फेर तथा मनमाना सशोधन या प्रकाशन करके व्यक्तिगत ख्याति अथवा आर्थिक लाभ अनेक को हुआ और हो भी रहा है, पर गोस्वामीजी का क्या उद्देश्य था—इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर यदि अनुसरण किया गया होता तो भारत कब न रामराज्य का प्रासाद बन गया होता। उनके महान उद्देश्य का यथार्थ बोध उनके स्वविषयक निज कथन के मनन करने से ही हो सकता है; न कि उनकी प्रचलित जीवनियों के काल्पनिक वृत्तातों के पठन-पाठन तथा प्रचार से।

मानसिक वृत्तियों में उलट फेर होने से ही कर्मेंद्रियों की गति में स्वत· विषमता उत्पन्न होती है जिनके निर्धारण और नियत्रण द्वारा ही मानव सस्कार में एक अपूर्व ज्योति उत्पन्न हो जाती है। यह तत्त्व मानव सस्कार में एक अनुपम स्थान रखता है। उपर्युक्त उदाहरण से व्यक्त जीव जो अनुकरणीय स्थान प्राप्त कर सकता है, क्या जाति-गौरव, कुल मर्यादा या समाज उत्कर्ष से अलकृत जीवनियाँ कभी उसे पा भी सकती हैं? क्योंकि जन-समुदाय के सामने व्यक्तिगत कार्य्य का ही श्रेय है, न कि उसके कुल, जाति या समाज का।

बाल्यकाल से ही पारिवारिक सपर्क से दूर तथा अन-भिज्ञ रहने के कारण आत्मीयता का भाव ऐसे परित्यक्त के हृदय में हो—यह सभव नहीं। हाँ, जिनके सपर्क म वह समय समय पर आता रहता है, उनके प्रति उसे थोड़ा-बहुत आकर्षण अवश्य हो जाता है, पर वह भी स्थायी नहीं रहता है। फलतः ऐसे व्यक्ति की दृष्टि में न ससार का कोई महत्त्व रहता है और न वह उसके किसी बधन या अनुशासन के अधीन ही हो सकता है। आसक्ति भी जबतक मानव सस्कार में व्याप्त रहती है, तबतक आवागमन से वह मुक्त नहीं हो सकता है, चाहे ससार उसे जो भी उपाधि देता रहे—महासिद्ध, योगी, ब्रह्मज्ञानी या परमहस ही क्यों न कहे। पर, वह वश है क्या नहीं—इसे वह स्वयं भली-भाँति समझता है और उससे मुक्त होने के लिए वह सदा प्रयत्नशील भी रहता है। द्वैतभाव अथवा बुद्धि संचार के जितने भी उपादान उसके सस्कार म किसी भी रूप में शेष रह जाते हैं, सभी को वह जिस प्रकार भी हो, निर्मूल करके ही स्थिर होता है। मुमुक्षु के लिए न मोह है, न भय और न सकोच ही। फिर निज प्रशसा के प्रति मोह तथा निज निंदा के प्रति विद्वेष उसे क्यों हो?

ससार उसे अशिष्ट अथवा अनुभव शून्य भले ही कहे, पर वह अपने मार्ग से उन रोड़ों को हटाकर ही रहता है, जिनके ससर्ग से उसके इष्ट-साधन में बाधा पहुँचती है। उसकी वाणी अथवा करनी का आशय समझने में ससार भले ही भूल करे, पर वह अपने साधना पथ से विचलित नहीं होता है। यदि परपरागत परिपाटी के ही विरुद्ध अथवा शास्त्रगत अनुशासन के ही विपरीत उसके वचन और कर्म क्यों न दीख पड़ें, पर वह अपने सकल्प से नहीं डिगता है, वह तो अपने सस्कारगत सचित विकारों का उन्मूलन कर अपने को निर्लिप्त बना डालता है। अतः वह अपने गुण और दोष—दोनों का ही नि सकोच बखान कर देता है, न कि एक का विस्तार करता और दूसरे को छिपा रखता है। गोस्वामीजी की यही अवस्था थी जब उन्होंने अपनी आत्मकथा का श्रीगणेश किया था। इसी परिस्थिति में उन्होंने अपने सभी गुण-दोषों को नि सकोच व्यक्त कर डाला था, फिर निज प्रशसा का प्रश्न ही कहाँ उठता है, कि उस दोष से बचने के लिए वे सत-परपरागत परिपाटी का अनुसरण करते, खास कर जब ऋषि-परपरागत प्रथा विद्यमान थी, जिसका अनुसरण कर उन्होंने अपने जीवन-वृत्तात का उल्लेख किया।

ऐसे तो कर्मजनित सस्कार से ही जीव के बार-

बार जन्म होते रहते हैं, पर अवतारी पुरुषों अथवा ऋषियों के जन्म का कोई विशेष हेतु रहता है, जिस कारण उनके आचार-विचार की असाधारण गति हो जाती है। उनके किसी भी कार्य के ढंग में साधारणता नहीं पाई जाती है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे जान बूझकर विपरीत पथ का अनुसरण करते हैं। उनके लिए अनुसरण करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि उनकी जीवन घटनाओं के संचार में काल और परिस्थिति की समान प्रधानता रहती है, जिनका नियमन उनकी आंतरिक प्रेरणा द्वारा ही होता रहता है। ऐसी अवस्था में गोस्वामीजी के व्यक्तिगत कार्य का अंकन उन्हें कुल-परंपरागत प्रथा के अधीन रखकर नहीं किया जा सकता है। उनकी सद्योजात अवस्था की घटना पर ही दृष्टिपात करें। उस समय पारिवारिक बंधन से मुक्त होने का उनका कोई निजी प्रयास नहीं था और न मानवता ने ही सद्योजात संतान के परित्याग का ऐसा कोई आदर्श ही रख छोड़ा था। पर हुआ वही, जो काल और परिस्थिति के असाधारण संयोग के अधीन था। वे हठात् अपने माता-पिता के द्वारा ही तज दिए गए। फिर जब विधि के विधान में ही उनके लिए किसी कुल या समाज का बंधन नहीं था तब एक बंधन से परित्यक्त हो दूसरे का आलिंगन वे करने ही क्यों जाते?

यथार्थ में गोस्वामीजी का जन्म हुआ था या वे स्वयं प्रकट हुए थे, यह भी एक सोचने की बात है। ऐसी परिस्थिति में यह कहा जाय कि वे 'भारत भू हितकारी' के रूप में प्रकट हुए थे, तोभी अत्युक्ति नहीं होगी।

भए प्रकट कृपाला दीन-दयाला।
भारत - भू - हितकारी।

जिनके जन्म का हेतु ही महान हो, जिनके जीवन की घटनाएँ ही विचित्र हों और जो स्वयं सद्योजात अवस्था से ही असाधारण परिस्थिति में पड़े हों, उनके जीवन-वृत्तांत के बोध करने का साधन उनके पास हो ही क्या सकता है? और कैसे वे साधारण ढंग से उन तथाकथित वृत्तांतों को उद्धृत कर डालते जिनकी घटनाओं से उनका कोई संबंध ही नहीं था और जो स्वयं ही संशयात्मक हैं? इसपर भी गोस्वामीजी की प्रचलित जीवनियों को विश्वस्त माना जाय? क्या यही न्यायसंगत है?

उनके स्वकथित वृत्तांत ही उनकी वास्तविक आत्म-कथा है, जिसके द्वारा उनके पार्थिव परिचय भी बहुत अंश में प्राप्त होते हैं, बशर्ते कि उनके शब्दों का अनर्थ नहीं किया जाय और न उनके भावों का ही गला घोंटा जाय।

गोस्वामीजी के स्वकथित जीवन वृत्तांतों को एक ओर और महात्मा गाँधी की आत्मकथा को दूसरी ओर रखकर तुलना करने पर यही पता चलता है कि दोनों ही आत्म-कथाओं की वर्णन-शैली का ढंग एक ही है। जिस प्रकार निःसंकोच होकर गोस्वामीजी ने अपने दोष और गुण-दोनों को ही व्यक्त किया है, उसी प्रकार महात्मा गाँधी ने भी अपनी आत्मकथा में ऐसे ऐसे स्वविषयक विवरणों का उल्लेख किया है, जिनका प्रकाशन शिष्ट, सभ्य और सुशिक्षित समाज की मर्यादा सीमा के अंतर्गत नहीं हो सकता।

गोस्वामीजी की तथाकथित अतिप्राचीन जीवनियों के नामधारी महात्मा लेखकों को वास्तव में उनसे कोई संबंध था अथवा उन काल्पनिक जीवनियों की महत्ता बढ़ाने के लिए ही उनके संबंध की गाथा रची गई है? यह प्रश्न इसलिए उठता है कि उनके उद्धृत वृत्तांतों का गोस्वामीजी के स्वकथन से सामंजस्य नहीं है। इससे तो यही ज्ञात होता है कि जीवनियों के रचना-काल तक भी उन्हें इस बात का पता नहीं चल सका था कि गोस्वामीजी ने अपने विषय में अपनी किसी पुस्तक में कुछ उल्लेख भी किया है या नहीं, और उनकी जाति, कुल इत्यादि का परिचय पाना तो उनके लिए दूर ही था। साथ ही यह भी संभव है कि स्वार्थ-साधन के लिए जान-बूझकर ही उन वृत्तांतों की उपेक्षा की गई हो। ऐसी अवस्था में यही निष्कर्ष निकलता है कि उनकी रचनाओं की विश्वव्यापकता से प्रभावित हो अनेक द्वार उनके लिए खुलते गए, क्योंकि उनके कथनानुसार उनके जीवन में, उनकी अति दीन हीन अवस्था में, जब वे असन-वसन-विहीन द्वार द्वार अपनी दीनता कहकर चने के चार दानों के लिए बिललाते फिरते थे, उनसे कोई बात तक नहीं करता था। यहाँ तक कि उनकी छाया से भी सब घबराते थे।

हाहा करि दीनता कही द्वार-द्वार
बार-बार परी न छार मुँह बायो।
असन-बसन बिनु बावरो
जहँ - तहँ उठि धायो॥

—विनयपत्रिका, भजन २७६

बारेते ललात - बिललात द्वार - द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को ।

—कवितावली, उ० मा० ७६

ऐसी दशा में उन जीवनी लेखकों को न उनमे कोई सबध अथवा सपर्क हो सकता था और न उन सब बातों का ही पता जिनका वर्णन उनकी जीवनियों में किया गया है।

जीवनी-लेखकों ने तो मनमानी गाथा रचकर उनके जन्म-सवत्, स्थान और उनके पिता तथा पत्नी के भिन्न भिन्न ब्योरे दे डाले, पर 'एक हर्रा, घर-घर खोंखी' की भाँति तुलसी भी एक ही थे। किसका साथ दें, किसका नहीं? भिन्न भिन्न लेखकों के मानस भवन का समय, स्थान और कुल के भेद से वे चक्कर ही लगाते रहे। फलत: किसी स्थान में वे स्थिर भी नहीं हो सके। गोस्वामीजी को जहाँ जिसका मन हुआ, सबद्ध करता गया। जबतक वे जीवित रहे, सभी उनकी जाति और गोत्र इत्यादि से अनभिज्ञ रहे। निदान, उनके देहावसान के शताब्दियों बाद अनेक का परिचय उनके सबंधी के रूप में दिया जाने लगा, पर काश, कम-से कम मानवता का भी परिचय कोई उन्हें उस समय दिया होता जब वे दारुण दरिद्रता के कारण अपनी क्षुधाग्नि की शाति के लिए भटकते फिरते थे।

एक जिज्ञासु के नाते ही मैंने अपनी शकाएँ तथा विचार व्यक्त किए हैं। विद्वानों तथा सुधी साधकों से भी मैं विनम्र अनुरोध करता हूँ कि कुछ इस प्रकार के अनुसधान किए जायँ जिनसे ऐसी शकाएँ फिर कभी उठने ही नहीं पावें और यह भी निश्चय हो जाय कि सत्य क्या है?

गीत

श्री मदनलाल नकफोफा

प्यार तुम्हारा मुक्ति और बधन दोनों है!

नील-नयन के आँगन में सपनो का मेला लगता,
दुनिया सोती मनमारे पर दीप अकेला जगता,
सुधि को गले लगाएं, लौ यह कांप-कांप कर कहती,
स्नेह तुम्हारा मृत्यु और जीवन दोनो है!

नित फूलो के अधरो की मुसकान ओस से धुलती,
यह काँटो की सेज कि जिसपर नीद कली की खुलती,
मन की इस लाचारी पर ममता की शीतल छाया,
प्रेम तुम्हारा पीडा और जलन दोनो है!

साँस-साँस पर मरते-जीते जग को देख चुके तुम,
फूल-शूल पर चलते ये दो पग जो देख चुके तुम,
बचपन को अपने दुर्बल कधो पर ढोनेवाला,
दान तुम्हारा जरा और यौवन दोनो है!

नयनो में पानी दे तुमने आग लगाई उर में,
मन-वीणा के तार मिलाये सुख-दुख के दो सुर में,
दे असीम विस्तार सहारा दिया तुनुक-तिनके का,
इन गीतो में दर्द और कपन दोनो हैं!

★

भारतीय आदिवासी

प्रो० ललिताप्रसाद विद्यार्थी

हममें से अधिकांश अपनी सभ्यता की भूल भुलैया में उलझे रहते हैं। कभी सोचते भी नहीं कि भारत में ऐसी भी आदिम जातियाँ निवास करती हैं जो किसी तरह जंगल झाड़ियों, पहाड़ कंदराओं, दुर्गम नदी की तलहटियों, पर्वत की अस्वस्थ घाटियों तथा मरुभूमियों में किसी तरह अपना जीवन यापन करती हैं। आजकल जब दलित, पीड़ित, शोषित एवं सदियों से सोये भारतीय आदिवासियों ने अंगड़ाई ली है, देश के राजनीतिक एवं आर्थिक निर्माण में वे भाग लेने लगे हैं और खुलकर अपने अधिकारों की माँग करने लगे हैं, तब कहीं हमारी तंद्रा टूटी है, हमारी आँखें उनकी समस्याओं की ओर गई हैं और आज उनके उत्थान एवं विकास की योजना और चर्चा चलने लगी है।

कहना न होगा कि भारत में आदिवासी जातियों की एक बड़ी संख्या बसती है। उनकी आबादी के प्रमाणित आँकड़े प्रस्तुत करना अभी संभव नहीं। वस्तुतः अनेक कठिनाइयों के कारण जन गणना में उनके ठीक ठीक आँकड़े नहीं इकट्ठे किए जा सके हैं। १९३१ की जन-गणना के आँकड़े के अनुसार भारतीय आदिवासी की कुल आबादी २, २०, ००, ००० है। १९४१ की जन-गणना के आँकड़े प्रस्तुत करना और भी निरर्थक है। कारण, कुछ हरिजन की आबादी भी आदिवासी की श्रेणी में गिन ली गई है। भारतीय नृतत्त्व - विशेषज्ञों के अनुमान के अनुसार भारत के आदिवासियों की आबादी अब ढाई से तीन करोड़ के बीच में होगी। भारत के विभाजन से इनकी संख्या में लगभग १० लाख की कमी आई होगी।

भारतीय आदिवासियों की इस बड़ी संख्या को कितने दृष्टिकोणों से वर्गीकरण किया गया है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो अपने आदिकालीन वासस्थानों में बसी हैं और जिन्होंने अपने जीवन के मौलिक रूपों एवं जड़ों को दृढ़ता से पकड़ रखा है। (२) अन्य जातियों ने यद्यपि अपने आपको गत्यात्मक संस्कृतियों के प्रभावों के अनुकूल बना लिया है एवं हलों द्वारा खेती एवं गाँवों में निवास करना आरंभ कर दिया है तथापि उन्होंने अपने जीवन के मानदंडों, गीतों और नृत्यों को सुरक्षित रखा है। उन्होंने एक प्रकार की सजगता तो विकसित कर ली है, पर अभी वे जीवन की नई दशाओं के अनुकूल अपने को बनाने में या अधिक सुविधाजनक क्षेत्रों में जा बसने के लिए तैयार नहीं। (३) साथ ही कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं जो या तो नागरिक या अर्धनागरिक क्षेत्रों में जा बसी हैं या जिन्हें औद्योगिक जीवन के उन केंद्रों के आसपास रहने को विवश होना पड़ा है जो उन आदिवासी क्षेत्रों में अपना कुरूप मस्तक उठा चुके हैं, जहाँ खानों और खनिज पदार्थों का समृद्ध भंडार है। सड़कों और रेलों के जाल बिछ जाने के फलस्वरूप उनके प्रदेशों तक आवागमन सुगम हो जाने से उनकी सुरक्षा पर आक्रमण हो चुका है। सभ्यता के अंधाधुंध संपर्क के कारण उनकी मान्यताएँ, उनके रीति-रिवाज, उनके आचार विचार में आमूल परिवर्तन हो गया है। उनको ठीक ही 'संस्कृत आदिवासी जातियाँ कहा जाता है और आदिवासी जनसंख्या का एक बड़ा भाग आज इसी श्रेणी के अंतर्गत आता है।

वंश परंपरा और भाषा की दृष्टि से भी भारत के आदिवासी कितनी ही श्रेणियों में रखे जाते हैं। केंद्रीय भाग के आदिवासी 'प्रोटो आस्ट्रेलायड' वर्ग के हैं, उत्तर पूर्व के आदिवासी 'मंगोलायड' वंश के हैं और दक्षिण भारत के आदिवासियों में 'निग्रीटो' का मिश्रण है। परंतु विस्तार में इनका वर्गीकरण इतना सरल नहीं है। डा० बी० एस० गुहा ने इनके कितने भेद उपभेद बतलाए हैं जिनकी चर्चा करना यहाँ अनुपयुक्त जँचता है। इसके अलावा कितने नृतत्त्व-शास्त्रज्ञों ने अपना अपना मत इस विषय पर प्रकट किया है और अपना वर्गीकरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। डा० मोरंट और डा० मजुमदार ने भारतीय आबादी में 'निग्रीटो' मिश्रण पर संदेह प्रकट किया है। डा० मजुमदार तो 'प्रोटो आस्ट्रेलायड' को 'इंडो आस्ट्रेलियन' की संज्ञा देना विशेष उपयुक्त समझते हैं।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि भारत के आदिवासियों ने विभिन्न भाषा परिवारों की भाषाओं को अपनाया है। मुंडा भाषा जो आस्ट्रिक परिवार की भाषा है, बिहार और बंगाल के आदिवासियों द्वारा बोली जाती है। दक्षिण भारत में पाई जानेवाली 'आस्ट्रिक' परिवार की भाषा पर द्रविड परिवार की भाषा का प्रभाव पड़ा है। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा में रहनेवाले आदिवासियों की भाषा में तिब्बत-बर्मी भाषा और कहीं कहीं मान खमेर अथवा 'आस्ट्रिक' भाषा का मिश्रण है। भारत में मुंडा भाषा का प्रसार बहुत अधिक था और भारत की प्रस्तरयुगीन संस्कृति को मुंडा जाति द्वारा ही रूप मिला था और उसीके द्वारा उसका विकास भी हुआ था।

डा० बी० एस० गुहा ने भारतीय आदिवासियों को मोटे तौर पर तीन भौगोलिक क्षेत्रों में वर्गीकरण कर उनकी संस्कृति का सुंदर वर्णन किया है। उनके वर्ग ये हैं—उत्तर पूर्वी, दक्षिणी और केंद्रीय।

उत्तर पूर्वी वर्ग में करीब ३० लाख आदिवासी बसे हुए हैं। ये लोग हिमालय की तराई तथा आसाम राज्य की तराई से सटे हुए भागों में फैले हैं। हिमालय की तराई में बसी जन जातियों में सिक्किम की लेपचा जनजाति प्रमुख है। इस जन-जाति का सविस्तर वर्णन गोरर ने किया है। उसने बतलाया है कि इस जाति में ईर्ष्या, स्पर्धा, असतोष और संघर्ष इत्यादि का चिह्न लेशमात्र भी नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त सुरमा घाटी को ब्रह्मपुत्र से विलग करनेवाले केंद्रीय आसाम के भीतरी प्रदेश में रामा, मेंचा, काछारी, मिकिर, गारो और खासी जन जातियों के घर हैं। प्रशासन की दृष्टि से इन्हें विभिन्न इकाइयों में वर्गीकृत किया गया है। इन प्रदेशों तथा इनमें बसी जन-जातियों के बारे में अधिकृत ज्ञान बहुत कम है। इस प्रदेश में, सुवनश्री नदी के पश्चिम में आका, दाफला और मीरी जन जातियाँ बसी हुई हैं। सुवनश्री के ऊपरी प्रदेश में अप्पातनी जन जाति तथा दिहोंग के दोनों किनारों पर अबोर वर्ग की मियो, पगी और परम आदि जन जातियाँ फैली हुई हैं। मिश्मी, चूलीकाटा, बेलेजिया, तामती, सिंगफू आदि अन्य प्रमुख जन-जातियाँ भी इसी प्रदेश की हैं। पूर्व में तीरप नदी, दक्षिण में मणिपुर और पश्चिम में रेंगमा पहाड़ियों के मध्य का प्रदेश नागा जन-जाति का घर है। भारतीय नागाओं में रंग पान, को-यक, सेमा, अगामी, पिमतसु ग, चग और रेंग्मा प्रसिद्ध हैं। केंद्रीय वर्ग के आदिवासी विंध्याचल सतपुरा, महादेव मेकल और अजंता की तलहटियों, हैदराबाद के जंगलों और उत्तर-पश्चिम में अरावली पर्वत तक फैले हैं। नर्मदा और गोदावरी के मध्यवर्ती पहाड़ी प्रदेश में सबसे अधिक आदिवासी विद्यमान हैं। केंद्रीय वर्ग के पूर्वी भाग में राजमहल जिले की सरवा, गडवा और बोंदो, उड़ीसा की पहाड़ियों की कोंद्र और खाड़िया, सिंहभूमि और मानभूमि की हो छोटानागपुर प्रदेश की संथाल, उराँव, मुंडा, बिरहोड, टमरिया जन-जातियाँ प्रमुख हैं। केंद्रीय पर्वतीय प्रदेश के पश्चिमी और मध्यवर्ती भाग में मुख्यतः कोल, गोंड और भील के घर हैं। बैगा जन-जाति प्रायः रीवा के आसपास ही दिखाई देती है। बस्तर राज्य की मुरिया और मारिया जन जाति भी उल्लेखनीय है।

भारत के आदिवासियों का तीसरा प्रधान वर्ग कृष्णा नदी के दक्षिण में १६°उ० अक्षांश के नीचे फैला हुआ है। इसमें नल्लामलाई पहाड़ियों की चेंचू, नीलगिरि पहाड़ियों की टोडा, बडगा और कोटा, वायनाड की पनियन, ईरुला और कुरुम्बा, त्रावनकोर कोचीन की पहाड़ियों की काडर, काणीकर, मालवदन, माला और कुरावन जन-जातियाँ प्रमुख हैं। ये यद्यपि एक वृहत् प्रदेश में फैली हुई हैं तथापि अधिकतर पहाड़ियों और भारत के दक्षिण पश्चिमी छोर के वनों में ही केंद्रित हैं। इन तीन वृहत् क्षेत्रों के अतिरिक्त भी देश के कितने हिस्सों में अल्पसंख्यक जन-जातियाँ निवास करती हैं। अंडमन और निकोबार की जन जातियाँ भी भारतीय आदिवासियों की वंश परंपरा की हैं।

यद्यपि इन तीनों वर्गों में कुछ समान तत्त्व विद्यमान हैं तथापि जाति, भाषा तथा सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्तर की दृष्टि से तीनों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। यदि दक्षिणी वर्ग में नीग्रो और निग्रीटो का मिश्रण है तो केंद्रीय वर्ग में 'आस्ट्रलायड' की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं और उत्तर-पूर्वी जन जातियों में 'मंगोलायड' की विशेषताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। दक्षिणी वर्ग के त्रावनकोर कोचीन की पहाड़ियों की कादर और वायनाड की ईरुला तथा पनियन जन जातियाँ भारत के प्राचीनतम आदिवासी हैं। इनके अत्यधिक घुँघराले बाल 'नीग्रो' विशेषता के द्योतक हैं। आरंभ में ये लोग सभ्यता की बिलकुल प्रारंभिक अवस्था में रहते थे, खेती-बारी से बिलकुल अपरिचित थे और वनों के

कद मूल तथा शिकार पर गुजारा करते थे। वृक्षों की छाल के वस्त्र पहनते थे और घर्षण से अग्नि उत्पन्न करते थे। सत्ता का स्रोत गाँव का मुखिया होता था और वही आपसी झगड़े निपटाता था। नीलगिरि का टोडा चरागाहोंवाली जाति है, पर उसका ढाँचा औरों से भिन्न है जिसकी विशेषताओं के अंतर्गत बहुपति प्रथा तथा महिष पूजा है। नीलगिरि पर्वतमाला की कुछ जन जातियों में मधुमक्खी-पालन और मधु संग्रह अब भी लाभदायक उद्योग माना जाता है।

केंद्रीय वर्ग की जन-जातियाँ कुछ अधिक संस्कृत हैं और प्राचीन काल से ही खेती-बारी से परिचित हैं। इनके घर सुंदर होते हैं। ये लकड़ी पर नक्काशी करना, टोकरी बनाना आदि शिल्प जानते हैं और इनका सामाजिक जीवन अधिक उन्नत और व्यवस्थित है। संथाल जैसी सभ्य जातियों में तो प्रगनायत, धीरी इत्यादि द्वारा न्याय का उचित प्रबंध होता है। इन वर्गों की जन जातियों के सामाजिक जीवन में धुमकुड़िया का विशेष स्थान है। यहाँ कुँवारे लड़कों को रखकर प्रशिक्षण दिया जाता है। बस्तर प्रदेश की मुरिया जाति में 'घोटुल' के अंदर लड़के लड़कियाँ दोनों रखे जाते हैं। इन जन जातियों में लोकनृत्य और गीत बहुत प्रिय हैं और इनके बीच लोकनृत्य और गीतों का पर्याप्त विकास हुआ है। ये जन जातियाँ अन्य भारतीयों के संपर्क में अधिक आई और अनेक भारतीय विचार तथा धार्मिक संस्कार इन्होंने अपना लिए। ये गाय, भैंस, बैल, सूअर, भेंड, मुर्गा आदि पालते हैं। य बोंगा मतावलंबी हैं और तरह-तरह के उत्सव मनाते हैं।

उत्तर पूर्वी वर्ग की जन जातियों म स्त्रियाँ प्रमुख होती हैं। गारो और खासी जन-जाति में स्त्रियों को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त है। बाहरी क्षेत्र में बसी जन जातियों की जातीय व्यवस्था कुछ युद्धकालीन ढंग पर है। गाँव पहाड़ियों की चोटियों पर बसाए जाते हैं और चारों ओर बाँस आदि गाड़कर पूरी तरह सुरक्षित कर लिए जाते हैं। इन जन जातियों में खेती और शिल्प की भी कुछ प्रगति हुई है। अगर जन जाति ने वस्त्र उद्योग में काफी उन्नति की है और उनके बनाए हुए कालीन की अच्छी माँग है।

भारतीय आदिवासी-संस्कृति के इस संक्षिप्त परिचय के बाद अब प्रश्न यह उठता है कि भारतीय राष्ट्र के निर्माण में इन ढाई-तीन करोड़ आदिवासियों का क्या स्थान है और इनकी उन्नति किस तरह करना श्रेयस्कर एवं हितकर होगा? यह बहुत महत्त्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न है। बात यह है कि अधाधुंध सांस्कृतिक संपर्क में आने के कारण दुनिया की कितनी जन जातियाँ मिट चुकीं और कितनी वर्षों से सामाजिक अव्यवस्था की ज्वाला में तिल तिल कर जल रही हैं। उदाहरणार्थ, टसमानिया के सात हजार आदिवासी १८५४ ई० के आते-आते १२० की संख्या में शेष रह गए और फिर कुछ दिनों के बाद वह जाति सदा के लिए मिट गई। मेलनेसिया, पोलीनेशिया, न्यूजीलेंड, अमेरिका और अफ्रिका की कितनी ही जन-जातियाँ इस तरह के संपर्क के कारण मटियामेट हो रही हैं। हमारे देश में इस तरह के संपर्क का इतिहास वैसा ही है। टोडा, कोरवा आदि जन जातियों की संख्या दिनों दिन घटती जा रही है। कितनी जन-जातियों के विद्रोह—मलपहाड़िया १७७२, हो १८३१, खोंड १८४६, संथाल १८५५, इसी संपर्क के विरोध में अँगरेजों के प्रति दर्शाए गए थे। कहना न होगा कि बीमारी, कुरीति, सामाजिक अव्यवस्था, राजनीतिक ईर्ष्या इत्यादि इसी अनियंत्रित संपर्क की देन हैं।

तो, प्रश्न उठता है कि क्या जन-जातियों को दूसरी संस्कृति के संपर्क से हमेशा बचाया जाय? इस प्रश्न पर मानव शास्त्रों और विचारकों की भिन्न भिन्न सम्मतियाँ हैं। परंतु इस वाद विवाद में पड़े बिना, यह स्पष्ट है कि संस्कृति का विकास आदान प्रदान द्वारा ही हो सकता है। संपर्क से हानि पहुँचने की संभावना वहाँ होती है जहाँ अकस्मात् और अधाधुंध संपर्क किया जाता है। न पृथक्करण से ही काम चलेगा और न अधाधुंध तथा अनियंत्रित संपर्क ही लाभदायक सिद्ध होगा। यदि हम आदिवासी संस्कृति को बचाए रखना चाहते हैं तो ऐसी नीति को अपनाना होगा जिससे आदिवासी अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण रखते हुए भावी राष्ट्र के उपयोगी अंग बन सकें। इस पुनीत कार्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार सतर्कतापूर्वक प्रत्येक पहलू पर विचार कर कदम रखे। उसे चाहिए कि नृतत्त्व-शास्त्रों की सम्मति लेकर प्रत्येक जन-जाति के लिए अलग अलग योजना बनाकर आदिवासी कल्याण के कार्य को आगे बढ़ावे।

अखंड तांडव

श्री मधुकर गंगाधर

जेठ का महीना था और भरी-पूरी दोपहरी। रघु बाबू के द्वार पर आकर हरखू चीखने लगा—महावीर बाबा भला करें। भूखे को कुछ दो, बाबू!

सारी दुनिया की भूख उस समय उस अस्थि-चर्मावशेष में हाहाकार कर रही थी। संपूर्ण मानवता की दीनता दो धँसी धँसी आँखों में उतर रही थी और जमाने भर की आशा अन्न के चंद दाने की तमन्ना लिए बूढ़े मानव के नन्हे-से कलेजे को धुकधुका रही थी। रघु बाबू खड़ाऊँ खटखटाते नीचे आए, जैसे कभी कभी ब्रह्माजी नरक का निरीक्षण करने जाते हैं। उनकी आँखों के कोर घृणा से दब गए, अधरों पर वक्रता छा गई और उपेक्षित-सा स्वर निकला—तुम फिर आए?

'बाबूजी! बाबू······जी!'—हरखू ने घिघियाकर कहा और दोनों हाथ जोड़ लिए। उसकी आँखों से आँसू बह चले, पोपले मुँह से लार गिरने लगा।

रतनपुर में ऐसा शायद ही कोई रहा हो, जो हरखू को न पहचानता हो। उसके बाल पक गए थे और सिर मुड़ा हुआ था—जैसे कब्र से निकाली गई खोपड़ी पर चूने का लेप कर दिया गया हो। चार महीने हुए, रामदीन भगत ने एक फटी हुई कमीज दी थी, जो मैल से रँगकर काली हो चुकी थी और आज भी हरखू की रक्षा कर रही थी। और, इधर हाल मे ही अखिलेश बाबू ने एक गंजी दी थी। बेचारा हरखू गंजी और कमीज के मूल्य और प्रतिष्ठा के रहस्य को न जानता था। इसलिए गंजी को अधिक स्वस्थ और साफ देखकर कमीज के ऊपर ही स्थान दे डाला। कटि से लिपटा हुआ जर्जर कौपीन! पैर मुर्गे के पैर-जैसे सूखे और नंगे! कंधे से लिपटी हुई सहस्र-छिद्र झोली! एक अरहर की छड़ी के सहारे चला करता वह। उसके भाल पर जमाने की गहरी, न मिटनेवाली लकीर थी, कोटरों-सी धँसी आँखों मे दीनता का अथाह सागर था और पोपले मुँह में दुआओं की झड़ी। महीने में तीन-तीन बार वह रतनपुर के प्रत्येक द्वार पर घूम जाता था और किसी तरह दो-चार दाने अन्न के उसे मिल ही जाते थे।

रघु बाबू ने उसे अपने आगे संपूर्ण निर्लज्जता के साथ खड़ा देखा। उन्हें गुस्सा आ गया। उन्होंने सोचा—'कितने पाजी होते हैं भिखमंगे? दम नहीं लेने देते।' उनकी आँखों में लालिमा छा गई। रोब गाँठते हुए कहा—'रोज-रोज कितना दिया जाय? नाकों दम कर रखा है।'

हरखू के पोपले मुँह पर हँसी दौड़ गई—निर्लज्ज, बेशर्म, बेहया। वह हँसी—जो मान-अपमान से परे, दीनता का पर्याय बन जाती है। आँखों से पतली-सी धारा प्रवाहित हो गई—एक मूक, तरल कहानी की निष्फल अभिव्यंजना-सी। पल भर अधर काँपते रहे—जैसे मोरी के गंदे काले पानी में कीड़े रेंगते हैं।

'बाबूजी?'—उसने कहा और तरुण रघु बाबू के चरणों पर झुक गया, जैसे किसी सशक्त पुरुष के हाथों का दबाव पाकर धनुष टूटकर झुक जाता है। बूढ़े की उस बेहया मुस्कान से धरती का कोना-कोना काँप उठा और रघु बाबू ने तड़पकर कहा—'तू मानेगा नहीं, बूढ़ा?' और खड़ाऊँ खटखटाते चले गए अंतःपुर की ओर। हरखू बैठा रह गया—उस विशाल, सुंदर और स्वच्छ दहलीज के आगे। उसकी आँखों में अंधकार के वृत्त घूमने लगे, जिसमें अतीत के न मालूम कितने चिराग जल उठे।

एक क्षण बाद, रघु बाबू की पत्नी आईं और हरखू के आगे फेंककर चली गईं चार पैसे—पीतल की एक एकन्नी। हरखू उनकी गोद के फूल-से गोरे बच्चे को देख रहा था। ईश्वर ने उसे भी एक दिन ऐसा ही बच्चा दिया था—फूल-सा कोमल, चाँद सा सुंदर, भावनाओं की सजीव प्रतिमा, आशाओं का अक्षय भंडार। लेकिन क्या हरखू की आशाओं के भव्य अंकुर में दो फूल लगे? लगे तो अवश्य, किंतु हरखू के भाग्य की तृपा न शांत हो सकी। एक दिन ऐसा भी आया था कि हरखू का एकमात्र पुत्र बुधना आँगन में गुलाब-सी हँसती बहू ले

आया। उसके अंतर में आनंद का सागर उमड़ पड़ा था। बुधना को वह कितना प्यार करता था?... हरखू अधिक न सोच सका। उसकी चेतना लुप्त होने लगी, कलेजे की धड़कन बंद गई। लेकिन हरखू उस क्षण को—उस निर्मम दिन को न भूल सका।

माघ का महीना था और दुनिया कुहरे से ढकी हुई थी। हरखू आँगन में अँगीठी के आगे बैठा चिलम पर आग चढ़ा रहा था। कई शाम का वह भूखा था और भूख के बारे में ही सोच रहा था कि बुधना घर से बाहर निकला। वह सामने आकर खड़ा हो गया। इस प्रकार वह कभी न खड़ा हुआ था। एक पल उसके अधर काँपते रहे और उसने टूटे, मगर कर्कश स्वर में कहा—'चुपचाप बैठकर खाते हो। अब घर में धोंधा भी नहीं रहा! मजूरी मिलती नहीं और मालिक ने कर्ज देने से साफ इकार कर दिया। मैं अपना भी पेट नहीं भर सकता, तुम्हें कैसे खिलाऊँ। अब अपना रास्ता देखो।' और वह तेजी से पुन. घर के भीतर घुस गया।

स्वाभिमानी हरखू का सिर जोर से घूम गया था उस दिन। सारी पृथ्वी एक बार चक्कर लगा गई थी आँखों के आगे। जिस अपरिसीम कल्पना को बुधना के सहारे टिका रखा था—गिरकर चूर हो गई। पहले तो उसे अपने बेटा पर बड़ा दुख हुआ। किंतु धीरे धीरे हरखू ने क्षमा कर दिया उसे। जब मजदूरी नहीं मिलती और मालिक ने कर्ज देने से साफ इकार कर दिया, तब बुधना क्या करे? और, चुपचाप कंधे से झोली लटका दुनिया की विशाल छाती पर दया की भीख माँगने निकल पड़ा वह। आज भी, उस बूढ़े का नन्हा सा धड़कता हुआ दिल, छोटे छोटे मुलसे अधर दुनिया के हर जवान बेटे को दुआएँ देते हैं और हर मालिक पर बुदबुदाने लगते हैं—एक अव्यक्त, करुणा-पूरित उपेक्षा के मंत्र।

हरखू के आगे एक एकन्नी गिरी थी—पीतल की मटमैली एकन्नी। और उसके पेट में दुनिया भर की भूख थी। हरखू को लगा कि वह पीली एकन्नी मुस्करा रही है और हरखू के अधरों पर भी वही यातनापूर्ण, वेदना मुस्कान थिरक उठी।

हरखू वहाँ से उठकर दूसरे द्वार पर पहुँचा। किंतु, उसके साथ ही एक मदारीवाला भी वहाँ पहुँच गया। लोग चारों ओर से टूट पड़े। कालर और चूनरी, टोपी और धुँघरू पहने उस बंदर की जोड़ी को घेर लिया बच्चों ने, जवानों ने और बूढ़ों ने। हँसी का झरना झर पड़ा, खुशी का फव्वारा फूट पड़ा। मदारी ने डमरू डुगडुगाया—डिम डिमा, डिम डिमा, डिम डिम डिम, डिम। और, दोनों बंदर नाचने लगे। समाँ बँध गया। वाह! वाह! क्या नाचे ये बंदर। नन्हे नन्हे रोयेंदार पैर कितने अभ्यस्त हो गए हैं। वे ताण्डव-नृत्य की किसी गत पर नाच रहे थे—पर शंकर के नाच सा विनाशकारी नहीं, मंगलमय, भावना-जन्य, कौतूहलपूर्ण!

मदारी ने गमछा बिछा दिया। बंदरों ने बाबुओं को सलामी दी और पैसे बरसने लगे। मदारी के गमछे पर दो तीन रुपए के पैसे झर गए। हरखू की आँखों में पीतल की मटमैली एकन्नी नाच उठी। वह बुदबुदाया—'बंदरों के नाच पर दुअन्नी और चवन्नी का हिसाब नहीं, पर बूढ़े मानव के माँगने पर रोटी का एक टुकड़ा भी नहीं!' वह पुनः बुदबुदाया—'काश! बंदरों की चौथाई भी भूखे बूढ़े को मिल जाता?' लेकिन उस कोलाहल में उसकी सुननेवाला कौन था?

उस समय दिन के एक बज रहे थे। हरखू सोच रहा था कि मुट्ठी भर दाने कैसे प्राप्त किए जायँ। बिना लोगों को खुश किए शायद दो दाने देनेवाला कोई नहीं। सत्तर वर्ष का झुर्राकाय बूढ़ा मुट्ठी भर अन्न के लिए योजनाएँ बना रहा है, मगर रास्ता नहीं सूझ रहा है। बिना तेल दिए, जंग लगी मशीन के समान उसके ज्ञान-तंतु चरमरा उठते हैं और वह बल-पूर्वक रोटी के लिए सोचने लगता है।

अपने लड़खड़ाते शरीर को उसने छड़ी का सहारा दिया। उस समय मदारी पैसे की गठरी को जेब में रख रहा था और बाबुओं से निवेदन कर रहा था—'तनिक, पानी पी लूँ सरकार। फिर तो नाच-गान होता ही रहेगा।' मदारी कुँए की ओर बढ़ा और लोग भी इधर उधर जाने लगे। हरखू को लगा कि सारी दुनिया उससे किनारा-कशी कर रही है, आँख बचाकर भाग जाना चाहती है। फिर कौन उसे अन्न के दो दाने देगा?

हरखू की आत्मा रो उठी। अपनी चेतना की अंतिम पुकार में उसने लोगों को संबोधित कर कहा—'बाबूजी! मैं भी नाचता हूँ। मुझे पैसे नहीं चाहिए, केवल मुट्ठी भर अन्न दो, दो कनवाँ सत्त दो, रोटी का एक टुकड़ा दो,

सड़ा गला, बासी, कैसा भी दो, बाबू !' और, नाच देखने-वाली लग्गी-जैसे सूखे नगे पाँव उसी तांडव के सम पर थिरकने लगे। हाथ भाव-भंगिमा दिखाने में तल्लीन हो गए। डमरू न था उसे, पोपले मुँह से ताल देने लगा—

दिंग-दिंगा, दिंग-दिंगा दिंग दिंग-दिग, दिंगा !

पोपले मुँह की लाल-लोलुप जिह्वा कभी बाहर आती, कभी भीतर जाती। भीख की झोली शिव की मुंडमाल-सी आगे-पीछे, दाँयें-बाँयें झूमने लगी। त्रिशूल के समान अरहर की छड़ी भाव प्रदर्शित करने लगी। और उसके शरीर में अपूर्व नशा छा गया—जितना नशा स्वयं शकर भगवान को भी, सारी दुनिया का विष पी लेने पर भी, न लगा होगा।

लोगों में नई लहर दौड़ गई। सभी दौड़ आए, घेर लिया हरखू को। वह बदरवाला भी आया और आई वह बदर की जोड़ी भी रगीन चूनरी में लिपटी,—अनाथ, बूढ़े, गुदरी से लिपटे भूखे मानव का नाच देखने। बच्चों को, बूढ़ों को, जवानों को बहार मिली। वे आपस में बातें करने लगे—'बदरों से अच्छा नाच लेता है, बुड्ढा।' किसी ने कहा—'कमर तो देखो ! गजब कर रहा है।' 'हां'—दूसरे ने कहा—'आँखें भी मार देता है।'

और, बूढ़ा हरखू नाच रहा था। इतना तन्मय होकर कभी शकर ने भी नृत्य नहीं किया होगा। क्योंकि शकर के नृत्य में प्रभुत्व की आभा और विनाश की लपटें हुआ करती हैं, लेकिन हरखू के नृत्य में रोटी की सुमधुर कल्पना किलोल कर रही थी। नाच में रंग चढ़ता गया, जैसे बूढ़े के शरीर में जवानी घुसती गई। लोग वाह वाही देते गए। हरखू निर्लिप्त, बेसुध नाचता गया, नाचता गया और एक बार लड़खड़ा उठा ''' !

अब न सँभल सका हरखू, वह विशाल जन-समुदाय के बीच बूढ़ा बंदर-सा तिलमिलाकर गिर गया। हाथ-पाँव दो बार हिले और फिर शात हो गए। मगर उस समय भी जेठ मास की तीखी धूप उसकी ठठरी पर नाच रही थी, और आज भी दिशाओं में उस त्रिकालदर्शी शिव के तांडव नृत्य की झंकार गूँज रही है।

गीत

श्री अनंतकुमार 'पाषाण'

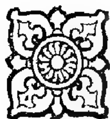
मैं जाग रहा सूनेपन में—
मुझको लगता, है खड़ी हुई
नीरवता गहरे कानन में !

नीरवता रखती मंद चरण
आती कपाट तक रणन-रणन,
गुंजित होता सुर क्वणन-क्वणन,
गुंजन नर्तित-चिंतित मन में !

थोड़ी-सी झाँकी, शरमाती
वह तनिक ओट में हो जाती,
फिर हौले - हौले कुछ गाती
वह राग मिला मन-गुंजन में !

फिर भीतर आ फैला आंचल
ढँक देती मेरे नयन चपल,
नीरवता चूम मुझे चंचल
फिर छिपती नीरव द्रुमगण में !





भारतीय वाङ्मय

१ बँगला

क्लासिक्स और प्रगति

मुखपत्र में श्री शुभेंद्र घोष ने आज के प्रगति साहित्य की नई भाव धारा को मद्दनजर रखते हुए क्लासिक्स की अतरात्मा और यथार्थ साहित्य के प्राण का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। क्लासिक्स के नाम पर हमारी धारणा में कवियों के कुछ पुराने कृतित्व भर ही रह गए हैं, किंतु कवि किसी धारा का हो अगर वह सत्ता की गहराई तक, वैयक्तिक सीमा के सँकरे दायरे से उदारता तक जा सकता है, तो उसकी रचना में भी क्लासिक्स की उज्ज्वल अंतरात्मा प्रतिबिंबित हो सकती है। लेखक का कहना है—क्लासिक्स से केवल उस प्राचीन साहित्य का ही बोध नहीं होता, जिसका रस-आवेदन अभी तक अक्षुण्ण है, आज का साहित्य भी उस दायरे में आता है। आज एक हवा बह गई है कि जीवन के सभी व्यापारों में हम ऊपर ही-ऊपर तैरने के आदी हो गए हैं, उसकी गहराई में जाने या उसकी गंभीरता का अनुभव करने में हमें डर-सा लगता है। मत और पथ का प्रश्न *साहित्य के लिए महत्त्व नहीं रखता। उससे मूल जिज्ञासा* यही होनी चाहिए कि उसने सत्ता को प्रकार का अवसर दिया है या नहीं, जीवन की अतल गहराई में डूबने का सुयोग देता है या नहीं। हमारे प्रगतिशील साहित्यकारों को एक बुरा रोग लग गया है। वह रोग है, अपनी संस्कृति के लिए अश्रद्धा। यह रोग विदेशी शासन काल में उनकी नियंत्रित शिक्षा के कारण लग गया था और आज भी वह रोग गया नहीं है। मालदा आम के पेड़ में मालदा फलाने की ही कामना होनी चाहिए। फजली उसम फले भी, तो वह वांछनीय नहीं। रूस की आत्मिक भूख और भारत की आत्मा की भूख में भेद अनिवार्य है। सो, जातीय संस्कृति का अनादर एक मारात्मक व्याधि है, जिससे मुक्ति पाना अनिवार्य है।

यूरोप में क्लासिक्स का अभिप्राय आमतौर से ग्रीक और लेटिन साहित्य होता है। प्राचीन ग्रीक साहित्य का उद्भव नगर राष्ट्र के युग में हुआ था और उसके बाद उसीके संस्पर्श से रोम साम्राज्य के अंतर्गत लेटिन साहित्य का गढ उठा था—ऐतिहासिक जिसे प्राचीन सभ्यता कहते हैं, उसीके चरम उत्कर्ष के काल में। जैव जीवन-यात्रा की चरम उत्कर्षता के साथ मनुष्य की परम आत्मिक स्फूर्ति का भी अभ्युदय हुआ था। उस प्राचीन ग्रीक सभ्यता के कवि थे—होमर-एस्काइलस और प्राचीन रोम सभ्यता के लैटिन कवि हुए—वर्जिल सिसेरो। सेंट ऑगस्टिन के बाद १४ वीं सदी तक यूरोप पर धार्मिक जड़ता का घना आवरण उतर आया था। इस समय ग्रीक और लेटिन साहित्य दब सा गया था। १४ वीं सदी से उनके पुनरुज्जीवन के साथ यूरोप के जातीय साहित्य का उत्कर्ष शुरू हुआ।

भारत में क्लासिक्स से प्रधानतया संस्कृत-साहित्य समझा जाता है। यूरोपीय संस्कृति को पुष्ट करनेवाले उस साहित्य से भारतीय मानस के लिए संस्कृति का दान अधिक व्यापक रहा है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के श्रेष्ठ अवदान धर्मग्रंथों के अंतर्गत हैं। एक ओर तो उन्होंने साहित्य-रस का परिवेशन किया है, दूसरी ओर वे आत्मिक साधना के आधार बने हैं। हमारी संस्कृति की यह विशेषता रही है कि हमने जीवन की सब प्रकार की स्फूर्तियों को आत्मिक साधना का अंग माना है। रामायण-महाभारत के अवलंबन से भारतीय आत्मा का चिरंतन रस प्रवाहित होता रहा है। इन प्राचीन काव्यों के बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये व्यास-वाल्मीकि या होमर की सृष्टि हैं। इसमें लोक गाथा के गायकों की कल्पना और अभीप्सा मिलकर इसकी कथा और कलेवर की इस रूप में पुष्टि हुई है। वास्तव में ये लोकचित्त के दान हैं। *इनके अतिरिक्त कालिदास आदि की निरुपम* सृष्टि में भी हम उदारता पाते हैं।

साहित्य और प्रगति

'*वसुधार स्वप्न' पत्रिका में श्री रत्नलाल सान्याल* ने साहित्य और प्रगति की आज जो बंगला में धूम मची हुई

है, इसपर एक छोटा सा सुचिंतित लेख लिखा है। बँगला में आज जैसा भी, जो भी साहित्य प्रकाश में आ रहा है, सबपर प्रगतिशीलता की मुहर लगी हुई होती है। अगर वह मुहर मारी हुई न हो, तो आज के बाजार में वह साहित्य अचल है, कहिए, साहित्य ही नहीं है। जिसमें भावप्रवणता, कल्पना, मन का माधुर्य हो, ऐसा सब साहित्य बुर्जुआ कोटि का है।

साहित्य का अर्थ ही गतिशील है जिसमें गति न हो, उसे साहित्य ही नहीं कहा जा सकता। कभी संस्कृत साहित्य में भी यह गति थी, जब उसे लोगों का आदर मिला, पंडितों ने उसकी कद्र की। जिसमें गति हो, उसे ही प्रगतिशील कहेंगे। जो साहित्य जीवन को आगे की ओर ले जाता है, उसे प्रगतिशील साहित्य की आख्या मिलनी चाहिए। ऐसे साहित्य को जीवन का प्रतिफलन कह सकते हैं, वास्तव चेतना का नया रूपायन कह सकते हैं। साहित्य में युग की परिछाईं पड़ती है और उसका वास्तविक विचार उसी पर से होना भी चाहिए। युग और जीवन जब साहित्य का उपजीव्य है, तब वास्तव की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन वास्तवता के मानी नंगी वास्तवता नहीं, लेखक की निजस्वता, स्वतंत्र चिंतन, निरपेक्ष प्रतिभा, मननशीलता की भी कीमत कुछ कम नहीं, क्योंकि वास्तव सत्य और साहित्य सत्य में अंतर है। साहित्य में वास्तविकता किस हदतक हो, इसका कोई उपयुक्त तराजू नहीं। शरच्चंद्र ने कहा है, कला मनुष्य की सृष्टि है, वह प्रकृति नहीं है। दैनिक समाचारपत्रों में आए दिन अनेक रोमांचकारी घटनाएँ छपती हैं, मगर क्या वे साहित्य हैं? चरित्र की सृष्टि क्या इतनी सहज बात है। संसार में किसी अजीब-सी चीज को जान लेना ही साहित्य का उपकरण नहीं। मैं कह सकता हूँ कि मेरे चरित्रों का निर्माण किस तरह हुआ है। मैं यथार्थ अभिज्ञता की उपेक्षा नहीं करता, किंतु वास्तव और अवास्तव के सम्मिश्रण में कितनी वेदना, कितनी सहानुभूति और हृदय का कितना लहू मिलाकर वे चरित्र उत्पन्न किए गए हैं, वह और कोई नहीं, मैं जानता हूँ।

प्रगतिशीलता के नाम पर आज साहित्य की लाञ्छना शुरू हुई है। समाज के नाम पर संस्कार, जीवन के नाम पर वस्तुवाद, वास्तवता के नाम पर अश्लीलता—ये आज साहित्य को कहाँ लिए जा रहे हैं, कोई नहीं जानता। इसीलिए दुखित होकर रवींद्रनाथ ने कहा था, रूस में शिल्प और साहित्य को राष्ट्र शक्ति की गुलामी में लगाया गया है। राष्ट्र जो चाहता है, वह चाहे अर्थनैतिक समानाधिकार हो, चाहे दूसरे राज्यों को हड़पकर आत्म शक्ति का विस्तार हो—कला को उसी की अनुगति पर नियुक्त किया गया है। जहाँ व्यक्तित्व की समाधि पर समष्टिवाद का गढ़ उठता है, साहित्य वहाँ राष्ट्र का एक यंत्र होता है, लेखक वहाँ व्यक्ति सत्ताहीन महज एक यंत्री होता है—वहाँ क्या 'प्रगति' सुनने में एक प्रहसन सी नहीं लगती?

—हंसकुमार तिवारी

२. तेलुगु

पद-साहित्य के प्रमुख कवि

तेलुगु साहित्य के इतिहास में पद-साहित्य का उद्‌गम कब से आरंभ हुआ, निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। परन्तु प्राप्त साहित्य के आधार पर ताल्लपाक अन्नमाचार्यजी ही पद-साहित्य के प्रथम कवि प्रमाणित होते हैं।

अन्नमाचार्य नंदवर वैदिक ब्राह्मण वंश में सन् १४२४ ई० में पैदा हुए। कहा जाता है कि अन्नमाचार्यजी श्री वेंकटेश्वरजी के नंदक खड्ग के अंशावतार थे। इनके रचित संकीर्तनों और दूसरे आधारों से यह साफ प्रकट होता है कि अन्नमाचार्यजी ने अपने जीवन में अधिकांश समय तिरुमलै में ही बिताया। उन दिनों आप भक्तिरस पूर्ण पद गा गाकर भगवान के सामने सुनाते थे और तन्मय हो जाते थे। इन्होंने सूरदास की भाँति हजारों पद रचे थे। इनमें पंद्रह हजार पद सुरक्षित हैं। ये उच्च कोटि के भक्त थे। इसीलिए इनकी शृंगारिक रचना में नैसर्गिक मधुरिमा है, भद्दी वासना नहीं। ये संस्कृत के उद्भट पंडित थे। संगीत के पारदर्शी थे। इनकी भाषा शैली विचित्र है। इन्होंने अपने पदों में बोलचाल की भाषा का बेधड़क इस्तेमाल किया था। भाषा की कड़ी शृंखलाओं में जकड़कर इनकी वाणी अवरुद्ध होना नहीं चाहती थी। अतएव अन्नमाचार्यजी की वाणी सहज रूप में निकली। इससे जनता में भक्ति का भाव बढ़ा और उसको भी भगवान की मधुर लीलाओं का मधुर स्वाद मिलने लगा। कहा जाता है कि अन्नमाचार्यजी की रचना 'शृंगारमंजरी' सुनकर भगवान वेंकटेश्वर केवल संतुष्ट ही नहीं हुए, परन्तु नौजवान भी बने—

जगति नी शृंगार सकीर्तनमुल
कगपडि मचि प्रायमु वाड नर्चिति

अर्थात्—'तुम्हारे शृंगारिक पदों को सुनकर मैं नौजवान बना।' इनके पदों से यह लक्षित होता है कि इनके समय में इनके पदों का प्रचार यहाँतक बढ़ा कि कुछ लोग इनके पदों का नीरस अनुकरण करने लगे। कहाँ भक्त के हृदय की भाव विह्वल वाणी, और कहाँ इन तुकबंदी जोड़नेवाले कवियों की फीकी आवाज। अन्नमाचार्यजी की महत्ता तथा विशेषता इस बात में अधिक है कि ये पहले पहल तेलुगु साहित्य के क्षेत्र में पद-साहित्य की गंगा बहानेवाले भगीरथ थे। तुलसीदास की भाँति इन्होंने कुछ पदों की रचना संस्कृत में भी की थी।

भक्तिमय मधुर जीवन बिताकर अन्नमाचार्यजी सन् १५०६ फाल्गुन कृष्ण द्वादशी को परमधाम सिधारे।

पद साहित्य का अच्छा विकास पुनः दक्षिण के नायक राजाओं के समय में हुआ था। इस काल के प्रमुख पद रचयिता स्वनामधन्य क्षेत्रय्य थे। इनका जन्मस्थान कृष्णा जिले का 'मुव्वपुरि' था। मुव्वपुरि अथवा 'मोव्व' में आज भी इनके वंशज वर्तमान हैं। कहा जाता है कि भ्रमणशील होकर कई क्षेत्रों का दर्शन करने से इनका नाम 'क्षेत्रय्य' पड़ा था। ये कुछ समय तक तंजूर के प्रसिद्ध रघुनाथ रायलु की सभा में उपस्थित थे। इनका जन्म सन् १६०० ई० के आसपास हुआ होगा। यौवन की प्रथम वेला में क्षेत्रय्य एक मदमस्त शृंगारजीवी जान पड़ते हैं। इन्होंने अनेक पद तंजूर तथा मदुरा के नायक राजाओं पर लिखे। इन पदों में उत्तान शृंगार की चरम सीमा प्राप्त है। एक बार अपने गाँव की देवदासी ने इनसे प्रार्थना की—'आप आजतक राजाओं पर शृंगारी पद लिखते आए। परन्तु मंदिर में विराजमान मेरे परम-प्रिय भगवान श्रीगोपाल पर पद लिखें तो मैं हर्षित होऊँ।' उसी समय क्षेत्रय्यजी का मन भी गोपाल के चरण-कमलों में आश्रय ले चुका था और ये लगातार कई पद गोपाल-देव पर लिख चुके थे। इनके सारे पद शृंगार भक्ति अथवा मधुरा भक्ति के ज्वलंत उदाहरण हैं। वस्तुतः पद साहित्य संगीत प्रधान होता है। अतः पदकर्ता में साहित्य एवं संगीत का उत्तम ज्ञान एक साथ अपेक्षित है। क्षेत्रय्य के पदों की विशेषता यह है कि इनमें संगीत और साहित्य का अतुल संयोग है ही, साथ ही नाट्य के लिए भी वह अत्यंत उपयुक्त है। इस प्रकार क्षेत्रय्य के पदों में संगीत साहित्य और नाट्य की त्रिवेणी बह रही है। 'मोव्व' के निकट कूचिपूडि नामक एक गाँव है। इस गाँव के ब्राह्मण अद्यावधि क्षेत्रय्य के पदों का अभिनय और नाट्य करके जीविका निर्वाह करते हैं। 'भरत-नाट्य' में ये ग्रामवासी अत्यंत कुशल थे और हैं।

क्षेत्रय्य की भाषा मधुर तथा सरस है। तेलुगु-साहित्य के इतिहास में पद-साहित्य की भाषा कुछ विलक्षण रहती है। पदों में शिष्टों की 'व्यावहारिक भाषा' प्रयोग की जाती है। अन्नमाचार्य से लेकर त्यागराजु तक ने इसी परंपरा का अनुसरण किया है। अतः पदों की भाषा में व्याकरण के कड़े नियमों का पालन नहीं हो सकता है। क्षेत्रय्य के पदों की भाषा अन्नमय की भाषा शैली से अधिक मँजी हुई है। भाषा की परम सुंदरता त्यागराजु के पद साहित्य में उपलब्ध है।

त्यागराजु के पूर्वज सन् १६०० ई० के आसपास अपनी जन्मभूमि 'काकर्ल' को छोड़कर सुदूर दक्षिण के तिरुवायूरु नामक गाँव में आ बसे। इनके प्रपितामह पंचनद ब्रह्म थे। पंचनद ब्रह्म के पुत्र गिरिराज ब्रह्म थे। गिरिराज ब्रह्म के पुत्र राम ब्रह्म ही त्यागराजु के पिता थे। राम ब्रह्म भी श्रीरामचंद्रजी के बड़े भक्त तथा संस्कृत के भारी पंडित थे। त्यागराजु के दो बड़े भाई थे। दोनों छोटे दिल के थे। ज्येष्ठ भाई का नाम जप्येश था। जप्येश ऐहिक सुखों के लिए लालायित थे। इनके विपरीत त्यागराजु साधु प्रकृति के थे। पिता के मरणानंतर पारिवारिक दरिद्रता के कारण जप्येश हमेशा त्यागराजु पर नाराज हो उठते थे। उनकी चाह थी कि त्यागराजु गान विद्या का प्रदर्शन कर परिवार का पालन-पोषण करें। परन्तु त्यागराजु की अंतश्चेतना इसके प्रतिकूल थी। ये सदा भगवान के गुण गान और ध्यान में अपना समय बिताते थे। प्रतिदिन श्रीराम-पंचायतन की पूजा करते थे। एक समय तंजूर के तत्कालीन राजा शरभोजी ने इनकी गान विद्या की प्रशंसा सुनकर इन्हें अपने दरबार में आश्रय देने के लिए बुला भेजा। इस आह्वान को इन्होंने साफ इनकार कर दिया। कहते हैं कि इसपर जप्येश ने रूठकर 'राम पंचायतन' को कावेरी नदी की मँझधार में फेंक दिया। त्यागराजु ने अनशन करके कई भक्ति-पूर्ण पद लिखे एवं गाए। यह भी कहा जाता है कि भगवान श्रीरामचंद्रजी ने स्वप्न में दर्शन

देकर पंचायतन के प्राप्ति स्थान की सूचना दी। इस प्रकार खोई हुई मूर्ति की पुनः प्राप्ति हुई।

कर्णाटक संगीत को अपने पदों के द्वारा इन महानुभाव ने एक परिष्कृत सुंदर रूपरेखा दी। आज इनके पद दाक्षिणात्य संगीतरूपी सुंदर महल के प्रधान स्तंभ हैं। कहते हैं, महर्षि वाल्मीकि की देखा देखी इन्होंने चौबीस हजार पद गाए। परंतु आजकल लगभग साढ़े छः सौ पद ही प्राप्त हैं।

महान् भक्त त्यागराजु की मृत्यु सन् १८४७ ई० में हुई। त्यागराजु के पदों की विशेषता इस बात में है कि इनकी भाषा शैली सुकुमार तथा हार्दिक भावों से गुंफित है। तेलुगु के भक्त-कवि पोतन्न ने भक्ति के मधुर प्रवाह को पद साहित्य में बहाया तो त्यागराजु ने गान-प्रधान पद साहित्य में। दोनों की मनोवृत्तियों में थोड़ा सा भी अंतर नहीं है। दोनों प्रधानतया दास्य भाव से भगवान की आराधना करते थे। अतः त्यागराजु के पदों में विनयशीलता और भगवान के वैभव का सुषमापूर्ण वर्णन प्राप्त है। अन्नमय्य, क्षेत्रय्य और त्यागराजु तेलुगु के पद साहित्य के वृहत्त्रयी हैं। हृदय की भक्ति-विह्वलता और भाषा की चारुता पर ध्यान दें तो त्यागराजु का स्थान सर्वोपरि है। वास्तव में दक्षिण भारत के गायक अधिकांश में त्यागराजु के पद ही गाते हैं। भक्ति और पद साहित्य में चोली दामन का साथ दृष्टिगोचर होता है। दूसरी देश भाषाओं के साहित्य के अनुशीलन से भी यह विषय प्रमाणित होता है।

—हनुमच्छास्त्री 'अयाचित'

३. पंजाबी

अमृता प्रीतम

अमृता प्रीतम पंजाब की कवयित्री हैं। पंजाब के दो तीन प्रमुख कवियों में आप अन्यतम हैं। धनीराम चातृक, मोहन सिंह और अमृता प्रीतम—आधुनिक पंजाबी काव्य-धारा के ये तीनों प्रतिनिधि कवि अब हिंदी संसार के लिए अपरिचित नहीं रह गए। इनकी अनेक रचनाओं के हिंदी रूपांतर पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। परंतु अधिकस्य अधिक फलम्।

इधर अमृता प्रीतम के उपन्यासों का भी अनुवाद हिंदी में प्रकाशित हुआ। एक उपन्यास आपका मराठी में भी अनूदित हुआ है। कुछ रचनाएँ अँगरेजी में भी आई हैं।

आयु ३५ की है। पति सर्दार ... रण व्यापारी हैं। प्रचलित अर्थों में ... हुए भी उन्हें मैंने अच्छा खासा ... अमृता की अविराम साहित्य साधना ... उदाराशय जीवन-संगी का भारी हाथ है।

अमृता प्रीतम दो बच्चों की मां हैं। उनका गृहजीवन सरल, स्निग्ध और आडंबरहीन है। नई दिल्ली के एक उपनगर (८। २० वेस्ट पटेलनगर) में उनका अपना कॉटेज है। इसीमें वे रहती हैं। अधिकांश समय परिवार-पोषण और साहित्य निर्माण में व्यतीत होता है। सामाजिक मेल मिलाप और साहित्यिक सांस्कृतिक आंदोलनों में भी आपका कुछ वक्त जाता ही है।

अमृता प्रीतम की प्रतिभा १९३५ में ही पंजाबी जनता के समक्ष आ गई। पिता संस्कृत हिंदी उर्दू फारसी के भी अच्छे जानकार थे। व्रजभाषा में कविताएँ लिखते थे। पीछे अपनी मातृभाषा (पंजाबी) में ही लिखने लगे। गद्य-पद्य दोनों में उनकी गति अबाध थी। संत और सूफी प्रकृति के मनुष्य थे। अमृत और छोटी ही थीं कि मां का देहांत हो गया। पिता ने ही पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया। काव्य-रचना भी उन्होंने सिखाई थी, प्रकाश में भी वही ले आए।

पिछले १६ वर्षों में अमृता प्रीतम की २०-२२ पुस्तकें पंजाबी में प्रकाशित हुई हैं। काव्य-संग्रहों की संख्या १२ है, बाकी उपन्यास, आलोचना, लोकगीत विवेचन और नाटक आदि की किताबें होंगी।

आधुनिक पंजाबी में पहलेपहल धनीराम चातृक ने ही धरती की धड़कन सुनी और सफलतापूर्वक उसे छंदों में उतार दिया। चातृक की परंपरा को प्रोफेसर मोहन सिंह काफी आगे ले आए। मोहनसिंह के बाद अमृता प्रीतम का ही नाम इस प्रसंग में लिया जाता है।

प्रकाश और अंधकार का संघर्ष अब भी चल रहा है। परंतु मानव कभी आशाहीन नहीं हो सकता। उसे अपने भविष्य की उज्ज्वलता के प्रति अपार आस्था है। अमृता प्रीतम एक जगह कहती हैं—

इस दीवे दी कालिख विचो चानण छणदा ऐदा।
वजे वी राहीआं नूं राह दस्सण इस दीवे दीआ सेधा।।
(इस दिए की ममी से
आलोक छनता आ रहा

(दए को लौ दिखाती
आज भी पथ राहियों को'')

विघ्न-बाधाओं के पहाड़ ढाह गिरानेवाली मानवता के प्रति अमृता प्रीतम का विश्वास अटूट है।

यहाँ मैं उनकी दो छोटी रचनाओं का अनुवाद दे रहा हूँ। आगे उनकी अन्यान्य रचनाओं से भी 'अवंतिका' के पाठक यथासमय परिचित होंगे—

समरन करती हूँ, प्रणाम करती हूँ
मैं चूमती हूँ इसके पैर !
हम हैं देश के, देश है हमारा
कौन होते हैं गैर ?
जिए मेरा देश !
नाचें झीलें, झरने गावें
धरती है हमारी मा
आबाद हैं इसके खेत
स्वर्ग-जैसी है छाँह
जिए मेरा देश !
जिए धरती, जिएँ कमसिया
जिए इसकी शान !
हम हैं इसके, यह है हमारी
हमारा है हिंदुस्तान !
जिए मेरा देश !

× × ×

दो आँसू ढुलक पड़े रे !
दो आँसू तेरी आँखों में
दो आँसू मेरी आँखों में
गई सुबह गई, गई शाम गई
अब दिए जल पड़े रे !
दो आँसू ढुलक पड़े रे !
तेरे आँसुओं की कसम तुझको
मेरे आँसुओं की कसम मुझको
तू याद करे, मैं याद करूँ
अंगारे दमक पड़े रे !
दो आँसू ढुलक पड़े रे !
तूने भी लाख रोके आँसू
मैंने भी लाख रोके आँसू
तेरे चेहरे पर, मेरे चेहरे पर
अब (फिर भी तो) दिखने लग गए रे !
दो आँसू ढुलक पड़े रे !

—नागार्जुन



विचार-संचय

१. क्या तुलसी सूर से प्रभावित न थे ?

महाकवि सूर और भारतीकंठ तुलसी की जन्म-मरण तिथियों में विद्वानों का एक मत न होते हुए भी यह सभी स्वीकार करते हैं कि सूरदास तुलसीदासजी के पूर्ववर्ती कवि हैं। हिंदी-साहित्य के इतिहास लेखकों में से बहुसंख्यक विद्वान यह मानते हैं कि महात्मा सूरदास का जन्म-संवत् १५४० वि० और गोलोकवास-संवत् १६२० वि० है। कवि शिरोमणि तुलसीदास का जन्म-संवत् १५५४ वि० में और साकेत-प्रस्थान संवत् १६८० वि० में माना जाता है। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि महात्मा सूर के देहावसान के समय तुलसीदासजी की आयु ६६ वर्ष की थी तुलसीदासजी ने अपनी 'गीतावली' की रचना अपनी आयु के ६८-६६ वें वर्ष में ही की थी। इसका समर्थन डा० माताप्रसाद गुप्त भी करते हैं।

महात्मा तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' के पश्चात् ही गीतावली को रचा था। स्वयं तुलसीदासजी 'मानस' में लिखते हैं कि राम की कथा - रामचरितमानस—का रचना-काल संवत् १६३१ वि० है—'संवत् सोलह सौ इकतीसा। करहुँ कृपा हरि-पद धरि सीसा॥' जिस समय तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का आरंभ हुआ उससे दस वर्ष पूर्व महाकवि सूर गोलोक को प्रस्थान कर चुके थे।

ब्रज-साहित्य एवं ब्रज भूमि के अनुसंधानात्मक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी संवत् १६२० के आस पास मथुरा आए थे और ब्रज भूमि निवासी महाकवि सूर से उनकी भेंट भी हुई थी। मथुरा में श्रीकृष्ण की मूर्ति के दर्शन करने के समय मनों तुलसी का यह दोहा अत वाक्य के रूप में आज भी बहुत प्रसिद्ध है—

कहा कहों छवि आजु की भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवें, धनुष बाण लेउ हाथ॥

सूर तुलसी भेंट के समय सूरदास वृद्ध थे और तुलसीदास युवक। सूरसागर की रचना 'सूर-सारावली' से भी पहले हुई थी, क्योंकि सूरदास 'सूरसारावली' को 'सूरसागर' का सार[१] बताते हैं। 'सूरसारावली' की रचना के समय महाकवि सूर ६७ वर्ष के थे।[२]

महात्मा सूरदास की भक्ति एवं कवित्व का परिचय प्राप्त करके तुलसीदासजी ने अवश्य ही 'सूरसागर' के पदों को सुना और पढ़ा होगा। इतना ही नहीं, तुलसीदासजी महात्मा सूर के काव्य कौशल तथा भगवल्लीला-वर्णन की माधुरी से भी अवश्य प्रभावित हुए हैं। यह बात 'सूरसागर' और तुलसी के 'रामचरितमानस' एवं 'गीतावली' आदि ग्रंथों से स्पष्ट हो जाती है। तुलसीदासजी की लेखनी से 'कृष्ण-गीतावली का' लिखा जाना पूर्णरूपेण सिद्ध कर देता है कि सूर के कृष्ण ही तुलसी के आराध्यदेव बन गए हैं।

सूरदास और तुलसीदास के पदों और छंदों में भाव-साम्य के साथ साथ शब्द-साम्य यह सिद्ध कर देता है कि तुलसी अपने पूर्ववर्ती कवि महात्मा सूर से पूर्णतः प्रभावित हैं। यहाँ सूरसागर और गीतावली के पदों में शब्द-साम्य देखिए और कारण पर विचार कीजिए—

आँगन खेलें नँद के नंदा।
जदुकुल-कुमुद-सुखद-चारु चंदा॥
संग-संग बल-मोहन सोहैं।
सिसु-भूषन भुव को मन मोहैं॥
तन-दुति मोर-चंद जिमि झलके।
उमँगि उमँगि अँग-अँग छवि छलकै॥
(ना० प्र० सभा, 'सूरसागर', दशम स्कंध, पद सं० ११७)

आँगन खेलत आनँद-कंद।
रघुकुल-कुमुद-सुखद चारु चंद॥
सानुज भरत-लखन सँग सोहैं।
सिसु-भूषन भूषित मन मोहैं॥
तन-दुति मोर-चंद जिमि झलकै।
मनहुँ उमँगि अँग-अँग छवि छलकै॥
—(गीतावली, बालकांड, पद-संख्या २८)

१ ताकौ सार सूरसारावलि गावत अति आनन्द—(सूरसारावली)
२ गुरुप्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रबीन।
—(सूरसारावली)

उक्त दोनों उद्धरणों का अवलोकन करने पर विदित होता है कि चार पाँच शब्दों को छोड़कर शेष शब्द ज्यों के-त्यों मिलते हैं। सूर ने जहाँ नंद, जदुकुल, बल-मोहन आदि शब्द लिखे हैं वहाँ तुलसी ने उनके स्थान पर केवल आनद, रघुकुल, भरत-लखन आदि लिख दिए हैं। वात्सल्य के धरातल पर रस की धार एक ही वह रही है। यदि गंभीर दृष्टि से यहाँ अवलोकन और अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि तुलसी के राम-लक्ष्मण भी कृष्ण-बलराम की भाँति ही मयूरचंद्रिकाओं-जैसे सुशोभित हैं। नंद-नंदन कृष्ण ने तो सदैव मोर की चंद्रिकाओं से अपने सिर की शोभा बढ़ाई ही है। भक्तिकाल से लेकर रीतिकाल तक प्रायः सभी कवियों ने कृष्ण को मोर-मुकुट पहनाया है। अतः कृष्ण की शरीर कांति के लिए मयूर-चंद्रिका को उपमानरूप में प्रस्तुत करना महाकवि सूर को उचित ही है और स्वाभाविक भी, किंतु जब तुलसी राम की उन द्युति को मोरचंद-सी झलकाते हैं तब स्पष्टतः प्रकट हो जाता है कि तुलसी अपनी वाणी में नहीं, वरन् सूर की शब्दावली में बोल रहे हैं। तुलसी जब अपने मनोराज्य में स्थित होकर भाव-सुरसरि बहाते हैं तब वे राम के शरीर को प्रायः नील कमल के समान ही बताते हैं, जैसे—

नव कंज लोचन कंज मुख-कर कंज पद कंजारुणम्।
—(रामचरितमानस)

महाकवि सूर ने अपने 'सागर' के दशम स्कंध में हरि की बाल छवि का वर्णन जिन शब्दों में किया है उनको ही तुलसी ने 'गीतावली' में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है—

हरिजू की बाल-छवि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज-सोभा-हरनि।
भुज भुजंग, सरोज नैननि, बदन बिधु जित लरनि।
रहे बिवरनि सलिल नभ, उपमा अपर दुरि डरनि।
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषनि भरनि।
मनहुँ सुभग-सिंगार-सिसु-तरु फर्‌यो अद्‌भुत फरनि।
चलत पद प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज-संपुट-सुभग-छवि भरि लेत उर जनु धरनि॥
पुन्य-फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नँद-घरनि।
सूर प्रभु की उर बसी किलकनि ललित लरखरनि॥
—(सूरसागर, दशम स्कंध, पद-सं० १०६)

दो-तीन शब्दों का परिवर्तन करके बिल्कुल उपर्युक्त पद को ही तुलसीदासजी ने अपनी 'गीतावली' में लिखा है। देखिए—

रघुबर-बाल-छवि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा-हरनि।
बसी मानहुँ चरन कमलनि अरुनता तजि तरनि।
रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुन करनि।
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरति भूषन भरनि।
जनु सुभग-सिंगार-सिसु-तरु फर्‌यो है अद्‌भुत फरनि।
भुजन-भुजग सरोजनयननि बदन बिधु जित्यो लरनि।
रहे कुहरनि सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि।
लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।
जलज-संपुट सुछवि भरि-भरि धरनि जनु उर धरनि।
पुन्य-फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि दसरथ-घरनि।
बसति तुलसी-हृदय प्रभु किलकनि ललित लर-
खरनि॥
—(गीतावली, बालकांड, पद-संख्या २४)

दो-तीन चरणों के व्यतिक्रम को छोड़कर गीतावली का प्रायः संपूर्ण पद ही 'सूर-सागर' के पद से मिल जाता है। हम इस शब्द-साम्य के कारण पर विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी सूरदासजी की बालछवि-वर्णन शैली से इतने प्रभावित हुए होंगे कि वे अपने प्रभु मर्यादापुरुषोत्तम राम की बाल-लीला के वर्णन में उसी शब्दावली के ग्रहण करने का लोभ संवरण न कर सके होंगे।

इतना ही नहीं, 'सूर-सागर' के दशम स्कंध का पद १५१ भी 'गीतावली' की पद-संख्या ३० से पूरा पूरा साम्य रखता है। दोनों के पदों पर दृष्टि पात कीजिए—

चुटकी बजावति नचावति जसोदा रानी,
बाल-केलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि-किलकि हँसै, द्वै-द्वै दँतुरिया लसैं,
सूरदास मन बसैं तोतरे बचन वर॥
—(सूरसागर, दशम स्कंध, पद १५१)

चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता,
बाल-केलि गावति मल्हावति सुप्रेम-भर।

किलकि-किलकि हँसें द्वै-द्वै दँतुरियाँ लसें,
तुलसी के मन बसें तोतरे वचन वरे।
—(गीतावली, पद ३०)

महाकवि सूर के शब्दों में बटाऊ राम लक्ष्मण के विषय में ग्राम-वधुएँ जिस प्रकार सीताजी से प्रश्न करती हैं और सीताजी जिस प्रकार उत्तर देती हैं, ठीक उसी प्रकार के भावों और भाषा-शैली में तुलसी की ग्राम-वधुएँ भी वार्तालाप करती हैं—

कहि धौ सखी बटाऊ को हैं ?
अदभुत वधू लिए सँग डोलत देखत त्रिभुवन मोहैं।
× × ×
इनमें को पतिआहिं तुम्हारे पुरजनि पूछें धाइ।
राजिवनैन मैन की मूरति सैननि दियो बताइ।
—(सूरसागर)

'रामचरितमानस' में इसी भाव को तुलसी निम्नांकित शब्दावली में व्यक्त करते हैं—

कोटि मनोज लजावनहारे। सुमुखि कहहु को
अहहिं तुम्हारे।
× × ×
खंजन मंजु तिरीछे नयनन। निज पति कहेउ
तिनहिं सिय सयनन।
—(रामचरितमानस)

सूरसागर और बरवैरामायण में भी भाव के साथ-साथ कुछ शब्द भी मिल जाते हैं—

देखि री हरि के चंचल नैन।
राजिवदल, इंदीवर, सतदल, कमल, कुसेसय जात।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विकसत, ये विकसत दिनरात।
—(सूरसागर)

सिय-मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसिदिन यह विगसाइ।
—(बरवै रामायण)

सूर के हरि के नयन और तुलसी की सीता का मुख कमल से बढ़कर हैं। दोनों की उक्तियाँ व्यतिरेक अलंकार के सुंदर उदाहरण हैं। अंतर केवल इतना है कि जहाँ सूर ने अनेक प्रकार के कमल गिनाए हैं वहाँ तुलसी ने केवल शरद-कमल से ही काम निकाल लिया है। दृष्टिकोण तथा कथन प्रणाली दोनों की एक ही है।

हम देखते हैं कि तुलसी ने राम की बालछवि के वर्णन में प्रायः उन्हीं उपमानों और शब्दों का प्रयोग किया है, जिनको सूर ने अपने 'सूर-सागर' में लिखा है। इसका मूल कारण यही है कि भक्तों की दुनिया में भगवान् की लीला भक्ति के लिए अपना-पराया कुछ नहीं होता। जिन शब्दों के सुमन सूर अपने नटवर-नागर पर चढ़ा सकते हैं उन्हीं से तुलसी भी अपने मर्यादा-पुरुषोत्तम की पाद पूजा कर सकते हैं। भगवान् की अर्चना एवं वंदना में भावों का अर्घ्य अवश्य दिया जाना चाहिए। अर्घ्य ही भक्तों का सर्वस्व है। वह अर्घ्य किसका है और कैसा है, इसका विवेचन भक्तों के यहाँ नहीं। भगवान् के चरणों में अपने को निछावर करनेवाले भक्तों के हृदयों में भावार्घ्य के अपने-पराये का अंतर नहीं होता। सूर और तुलसी दोनों ही पहले भक्त हैं, फिर कवि हैं। अतः उनके अर्घ्य का जल भी एक है।

भक्तों की आत्मा भगवान् के लीला वर्णन में ही परमानंद प्राप्त करती है। उस आत्मविभोरता में उन्हें 'अयं निजः परो वेति' का भेद नहीं दीखता। भक्तों के लिए तो भक्तिरूपी संपूर्ण वसुधा ही कुटुंब है। इसी कारण दोनों भक्त कवियों की कविताओं में भाव-साम्य और शब्द-साम्य पाया जाता है। यदि केवल कवि नाते ही दोनों को परखें तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तुलसी अपने पूर्ववर्ती कवि महात्मा सूर से अवश्य प्रभावित हैं।

—श्यामसाद सुमन

२. अमृता वाणी

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमो वाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवता वाचममृतामात्मनः कलाम्॥

यह उत्तररामचरित का मंगल-श्लोक है। महाकवि भवभूति ने अपने पूर्व-कवियों से अमृता वाणी के लिए प्रार्थना की है। पर अमृता वाणी कौन है ? क्या पाश्चात्य जगत् की आधुनिक विज्ञानमयी वाणी अमृता है। नहीं; वह तो मृता है। उसकी आयु अत्यल्प है। वह देखते देखते स्वयं मर जायगी—दुनिया को मार बैठेगी। इतिहास इसका प्रमाण है—जब-जब वैज्ञानिक उन्नति हुई तब तब संसार का अहित हुआ। रामायण-काल में, जबकि पानी पर पत्थर तैराये जाते थे, लंका का प्रलय हुआ; और महाभारत-काल में, जबकि

शर से सेतु बाँधा जाता था, भारत का विजय हुआ। इसलिए विज्ञानमयी वाणी को अमृता नहीं कह सकते हैं। तब अमृता वाणी कौन है? इसी के उत्तर में आगे कहा गया है—'आत्मन कलाम्।' जो वाणी आत्म-कला है, वही अमृता है, उसी के पान करने से मानव अमर हो सकता है, होता आया है और आगे भी होता रहेगा। जिस वाणी से आत्म-कला को सम्बन्ध नहीं, जो वाणी आध्यात्मिक नहीं, वह क्षणभंगुर है। उससे दुनिया का कुछ होने जानेवाला नहीं। आकाश में उड़ने से अगर अमरता मिलती तो पक्षी कब न अमर हो गए रहते, पानी में डुबकियाँ लगाने से यदि अमरत्व प्राप्त होता तो मछलियों और कछुओं को कब न अमरता मिल गई रहती। संहारिका शक्ति से भी इसकी प्राप्ति नहीं होती, नहीं तो हिंस्र व्याघ्र सिंहादि की गणना अमरों की श्रेणी में हो जाती। इसके लिए केवल एक ही उपाय है—वि-न्देम देवता वाचम ममृतात्मन कलाम्।

यद्यपि अमृता वाणी की कुछ बूँदें समय-समय पर यत्र-तत्र सर्वत्र गिरीं तथापि वे मरुभूमि की तप्त बालुकाराशि में गिरे जलबिंदु के समान क्षण स्थायी हुई। उनका उत्स सूख गया। प्रवाह बंद हो गया। वहाँ के निवासियों को याद भी न रहा कि वाणी भी अमृता हो सकती है। वे भौतिकवाद के शिकंजे में इस तरह कस गए कि 'आत्मन-कलाम्' की ओर से उनका ध्यान बिलकुल उचट गया। वे भौतिक सुख के लिए लालायित हो उठे। इंद्रिय निग्रह के स्थान पर इंद्रिय-परिग्रह का बोलबाला शुरू हो गया। तरह तरह के सुख-साधन जुटाये जाने लगे। हवा, पानी और बिजली पर अधिकार किया गया। फिर भी 'आत्म कला' के अभाव में सन्तोष नहीं हुआ। देश देश पर चढ़ाइयाँ होने लगीं, जल, स्थल और आकाश—तीनों रौंद डाले गए, मृत्यु खुलकर खेलने लगी, मानवता कराह उठी। भौतिकवाद ताण्डव कर उठा। एक हाथ में एटमबम और दूसरे में हाइड्रोजन बम लिए वह आज संसार को निगलने वाला ही है। सब त्रस्त हैं, भयभीत हैं, उसके चंगुल से निकलने को छटपटा रहे हैं, पर निकल नहीं सकते। हाय! कैसा दुखद दृश्य है?

पर, इसके लिए हमें घबराने की आवश्यकता नहीं। हमारे घर में युगों से सँजोई हुई अमृता वाणी वर्तमान है। भले ही दूसरों के संसर्ग-साहचर्य से हम उसे भुला बैठे हैं, उससे पराङ्मुख हो गए हैं, पर वह हमें भुला नहीं सकती। हमसे पराङ्मुख नहीं हो सकती। वह जननी की तरह आज भी हमें गोद में लेने को तैयार है, कामधेनु की तरह अहरहः पय पान कराकर हमें हृष्ट पुष्ट करने को उद्यत है। उद्यत ही नहीं,—जिन ढूँढा तिन पाइयाँ। रामकृष्ण, विवेकानंद, अरविंद आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। और क्या, इस युग के दो महामानवों-मार्क्स और गांधी-में प्रथम भौतिकवादी यूरोप की देन हैं तो द्वितीय अध्यात्मवादी भारत की उपज हैं। आज भी भारत की तटस्थ-नीति इसी आत्म-कला की सुस्पष्ट अरुण किरण है जो दो प्रचंड मार्तण्डों—रूस और अमरिका—के बीच शीतांशु की तरह अपनी प्रभा फैला रही है। यदि भारत की यह पुरातन प्रभा आज नेहरू के द्वारा न बिखरती तो दुनिया कब न अणुबम के चपेट में पड़कर ध्वस्त हो गई रहती।

यही आत्मकला वाणी का चरम-परम प्रवाह अनादि काल से ही प्रवहमान है। हमारे पूर्वपुरुष उसमें डुबकियाँ लेते थे, गोता लगाते थे, इसलिए वे सुखी थे, ताप-संताप से दूर थे, पर हमने उसे भुला दिया और मरकत के धोखे काँच को अपना लिया, इसीलिए आज हमारी आँखें चौंधिया गई।

जब संसार अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ था, कहीं भी विद्या के आलोक की झलक दिखाई नहीं पड़ती थी, आज के सभ्य कहे जानेवाले पाश्चात्य मनुज पशुवत् जंगलों में भटकते फिरते थे, तभी—आज से हजारों वर्ष पूर्व—इस भारत भूमि में उस दिव्य वाणी का विकास हुआ था जिसे देखकर आज के बड़े-बड़े विद्वान् भी क्षुब्ध तथा आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर ने इसी अमृता वाणी को लक्ष्य करके कहा था—'आज से हजारों वर्ष पूर्व ही भारतीयों का साहित्य जितना समुन्नत, जितना पूर्ण हो चुका था, उतना आज नहीं, हजारों वर्ष बाद भी यूरोप का साहित्य पूर्ण तथा समुन्नत नहीं होगा।' वैदिक युग से आरंभ कर, ब्राह्मण-युग, जैन-युग और बौद्ध युग होते हुए, मुसलमानी आक्रमण के पूर्वतक, यहाँ अमृता वाणी का अनुशीलन अबाध गति से जारी था। कहीं भी अपूर्णता अथवा अपरिपक्वता परिलक्षित नहीं होती।

यह अमृता वाणी चार भागों में विभक्त है। वे चारों क्रमशः वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के नाम

से प्रसिद्ध हैं। यही चारों अपौरुषेय शास्त्र शास्त्र प्रणेता महर्षियों के आधार-स्तंभ हैं। इनसे अंतरंग और बहिरंग रूप में दो धाराएँ प्रस्फुटित हुईं। अतरंग धारा षडंग और बहिरंग धारा षड्दर्शन के नाम से अभिहित हैं। आंतर और बाह्य विषय के प्रतिपादन करने से ही संज्ञा द्वैध हुआ; नहीं तो दोनों एक ही उत्स से निकले हुए दो निर्झर हैं। ये षडंग और षड्दर्शन भारतीय सभ्यता के प्रकाशक प्रदीप हैं। इसी प्रदीप्त प्रकाश को फैलाती हुई हमारी सभ्यता आज भी विशाल वटवृक्ष के समान, विदेशियों के कुठाराघात से प्रताडित होने पर भी, अपनी शीतल-सुखद छाया से भारत को ही नहीं, अपितु समस्त भूमडल को आश्रय देती हुई लहलहा रही है। दुनिया टकटकी लगाए इसी की ओर देख रही है। अस्तु।

वेद मंत्र अत्यंत गुरु तथा गंभीर है। उसका यथार्थ ज्ञान जनसाधारण के लिए कठिन ही नहीं, कठिनतर है। इसीलिए महर्षियों ने षडंग का निर्माण किया, जो क्रमशः शिक्षा, छंद, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्पसूत्र कहलाते हैं। शिक्षा में स्वर विज्ञान का अपूर्व समावेश है। इसमें त्रिस्वर—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तथा सप्तस्वर—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद का विस्तृत वर्णन है। छंद में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती नाम के सात वैदिक छंदों का विस्तृत विवेचन है। ये वैदिक छंद ही लौकिक छंदों के उत्स हैं। व्याकरण में शब्दों की व्युत्पत्ति है। इसके अनेक आचार्य हो गए हैं, किंतु पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि प्रमुख हैं। निरुक्त में वैदिक मंत्रों के अर्थ किए गए हैं। ज्योतिष की तीन शाखाएँ हैं—गणित, फलित और सिद्धांत। इसके भी कई आचार्य हैं, किंतु वराहमिहिर और भास्कराचार्य सबमें मुख्य हैं। अंतिम अंग कल्पसूत्र है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक के बाद इसीका स्थान है। इसके तीन भाग हैं—श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र। श्रौतसूत्र में याज्ञिक नियमों का, धर्मसूत्र में सामाजिक नियमों का और गृह्यसूत्र में गार्हस्थ्य नियमों का वर्णन है।

महर्षियों ने षडंग के साथ ही षड्दर्शन का भी प्रणयन किया। ये षड्दर्शन महर्षियों की बहुत बड़ी देन हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान इस समय कला-कौशल आदि में हमसे बहुत आगे बढ़ गए हैं तथापि हमारे दर्शनशास्त्र के आगे उनकी एक न चली। फलतः मारकर उन्होंने इसके आगे घुटने टेक दिए।

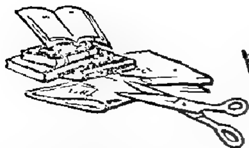
ये दर्शन छः हैं। पहला दर्शन सांख्य है। इसके आचार्य कपिल हैं। दूसरा योग है। इसके आचार्य पतंजलि हैं। तीसरा वैशेषिक है। इसके आचार्य कणाद हैं। चौथा न्याय है। इसके आचार्य गौतम हैं। पाँचवाँ पूर्व-मीमांसा है। इसके आचार्य जैमिनि हैं। छठा उत्तर-मीमांसा (वेदांत) है। इसके आचार्य व्यास हैं। संप्रदाय भेद से इसके भी छः भेद हैं।

जन्म मरण रूप दुख से छुटकारा पाकर ज्ञान द्वारा शाश्वत सुख प्राप्त करना ही हमारे छहों दर्शन का उद्देश्य है। जिस प्रकार किसी एक ही स्थान को जाने के लिए अनेक मार्ग होते हैं और लोग अपने-अपने मनोनुकूल मार्ग का अवलंबन कर उस स्थान पर पहुँचते हैं, मार्ग भेद से स्थान-भेद नहीं होता, उसी प्रकार षड्दर्शन भी छः मार्ग हैं जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं; किंतु शाश्वत सुख-प्राप्तिरूप उद्देश्य एक ही है। उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है।

प्रकृतिमनुरामः। अब आइए, देखिए अपनी अमृत-प्रस्रविणी वाणी की विशालता, और उसके चिर शीतल प्रवाह में अवगाहन करके अपने को लौकिक आधि व्याधि से मुक्त कर मुक्तकंठ से गाइए—विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।

—शशिनाथ झा





सार-संकलन

१. भारत की सर्वजनीन भाषा

देश की स्वाधीनता के बाद यहाँ की विभिन्न भाषाओं में से हिंदी को राष्ट्रभाषा चुन लिया गया है। स्वाधीनता के पहले राष्ट्रभाषा या स्टेट लैंग्वेज का कोई सवाल ही नहीं था। किंतु किसी भी देश में जहाँ कई भाषाएँ प्रचलित हों, किसी एक को सर्वजनीन भाषा या लिंग्वा फ्रैंका चुन लेने का प्रश्न पराधीनता में भी उठा करता है। क्योंकि वैसी दशा में सर्वजनीन भाषा के निश्चय और उसके व्यापक प्रचार के बिना जातीय एकता कायम नहीं हो सकती और एकता के बिना राष्ट्रीय प्रगति में बाधा होती है। खास कर पराधीन जाति में स्वदेश-बोध की जाग्रति देशी भाषा के माध्यम से ही सहज साध्य होती है।

आजादी हासिल करने के पहले अँगरेजी की जगह किसी देशी भाषा को सर्वजनीन यानी लिंग्वा फ्रैंका बनाने की जरूरत गांधीजी ने महसूस की थी। हिंदी और उर्दू के योग से वे हिंदुस्तानी नाम की नई भाषा की सृष्टि के हिमायती थे। भारत विभाजन के बाद उनकी हिंदुस्तानी को उस रूप में ग्रहण करने का प्रस्ताव गिर गया, उसकी जगह राष्ट्रभाषा की मर्यादा हिंदी को दी गई। हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने तथा उसके प्रचार की चिंता गांधीजी से बहुत पहले बंगालियों के ही दिमाग में आई थी। उन्नीसवीं सदी के आठवें और नवें दशक में बंगाल के तीन वरेण्य मनीषियों ने अँगरेजी के बदले किसी भारतीय भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने और चलाने की जरूरत महसूस की थी और अनेक तरह से सोच विचार करके वे हिंदी को ही यह मर्यादा देने के पक्षपाती थे। ये तीन मनीषी थे ब्रह्मानंद केशवचंद्र सेन, राजनारायण बसु और भूदेव मुखोपाध्याय। इन तीनों में से कोई भी राजनीतिक नेता नहीं थे। पहले थे धर्म-प्रचारक और समाज-सस्कारक तथा दूसरे और तीसरे थे शिक्षाव्रती। केशवचंद्र सेन ने 'सुलभ समाचार' में जिसके वे संपादक थे, १८७४ ई० के ५ चैत वाले अंक में एक सुचिंतित प्रबंध लिखा था, जिसका शीर्षक था—भारतवासियों में एकता लाने का उपाय क्या है? उसका एक अंश यों था—

"जबतक भारत में एक भाषा नहीं होगी तबतक एकता नहीं कायम हो सकती। एकमात्र संस्कृत जबतक आर्यों की मातृभाषा रही तबतक फूट की नौबत नहीं आई। कालक्रम से आर्यगण काले चमड़ेवाले यानी आदिम भारतवासियों से मिलकर वर्णसंकर हुए, जनसंख्या बढ़ने लगी और इस तरह आर्य सारे भारत में फैल गए। उनकी और आदिम भारतवासियों की भाषा की मिलावट से विकृत भाषा तैयार हो गई। इसीलिए सभी भाषाओं में संस्कृत के चिह्न मौजूद मिलते हैं। इस भाषा के चलते ही दलबंदियों की सृष्टि हुई। जो अपनी भाषा को उत्कृष्ट मानते हैं, वे उनको अपने से निकृष्ट समझते हैं, जिनकी भाषा अपेक्षाकृत निकृष्ट है। भारत में अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं जिनमें बँगला, हिंदी, उर्दू, उड़िया, पंजाबी, द्राविड़ी, कर्णाटी, मराठी आदि प्रमुख हैं। संस्कृत अब प्रचलित नहीं है, वह अब मृत भाषा है। जो कई प्रचलित भाषाएँ हैं, उनमें से एक-एक भाषा एक-एक प्रदेश की है। कहीं एक ही प्रांत में दो भाषाएँ और कहीं दो प्रदेश में एक भाषा चलती है। जिस प्रांत से जिस प्रांत की भाषा नहीं मिलती, उन दो प्रांतों में आपस में मेल नहीं है। अपनी भाषा के गुण गाते हुए कोई औरों की भाषा की निंदा करते हैं। इसीसे यह जहर फैला है। दूसरी ही भाषा की केवल निंदा नहीं होती, एक ही भाषा के उच्चारण भेद के हिसाब से बड़ाई शिकायत होती है। खुद बँगला भाषा ही इसका उदाहरण है। × × ×

"यदि एक भाषा हुए बिना भारत की एकता संभव नहीं तो क्या उपाय है? उपाय यही है कि सारे भारत में एक भाषा का व्यवहार हो। अभी भारत में चालू जितनी भाषाएँ हैं उनमें से हिंदी सर्वत्र प्रचलित है। इस हिंदी को ही अगर भारत की एक भाषा बनाया जाय, तो यह काम शीघ्र और अनायास संपन्न हो।"—(योगेंद्रनाथगुप्त-संपादित 'केशवचंद्र और राष्ट्रभाषा' से उद्धृत।)

भूदेव मुखोपाध्याय बँगला गद्य के एक श्रेष्ठ लेखक थे। उनकी गद्य-कृतियों से बंग साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। धर्मनिष्ठ, स्वदेशभक्त, समाज हितैषी और चिंता-नायक के रूप में वे बंगालियों में स्मरणीय हैं। आजादी के प्राय: साठ साल पहले हिंदी को भारत की सर्वजनीन भाषा चुनने के पक्ष में उन्होंने जो युक्तिपूर्ण और सुचिंतित विचार व्यक्त किए थे, वे नीचे दिए जाते हैं—

"भारत की प्रचलित भाषाओं में हिंदी हिंदुस्तानी ही प्रधान है और मुसलमानों के कल्याण से वह सारे देश में व्यापक है। लिहाजा यह अनुमान किया जा सकता है कि दूर भविष्य में उसी के सूत्र से सारे भारत की भाषाएँ संमिलित होंगी। × × ×

"स्वदेश भाइयों के प्रति सदा समादर दिखाना चाहिए। *बंगालियों के लिए बंगाली या भारत के अन्य* प्रदेशवासी विशिष्ट रूप से प्रेम भाजन हैं। हम एक पुण्यभूमि में पैदा और पालित हुए हैं। हमारे अंत:करण का गठन परस्पर अभिन्न है—मन में इस भाव को जगाए रहना चाहिए। भारत के अधिकांश लोग हिंदी में बातचीत कर सकते हैं। अतएव भारतीय बैठकों में अंगरेजी का व्यवहार न करके हिंदी में ही बातचीत करना ठीक है। ××

"भारत के विभिन्न प्रांतवासी ब्राह्मण, कायस्थ, वणिकों में अपनी जाति में ही अंतरप्रांतीय विवाह चालू होने से भारतीय समाज दृढ़ संबद्ध होगा, और हिंदी और अधिक प्रचलित होगी—यह संस्कार काम्य होना चाहिए।"

ऊपर का उदाहरण भूदेव लिखित -'सामाजिक प्रबंध' से दिया गया है। इस ग्रंथ के निबंध सन् १८८७ से १८८६ की अवधि में लिखे गए थे और ग्रंथरूप में ये १८६२ में पहली बार प्रकाशित हुए।

बिहार की अदालतों में उर्दू की जगह हिंदी का प्रचलन, भूदेव बाबू का इस दिशा में उल्लेख-योग्य कार्य है। वे बंगाल सरकार के शिक्षा विभाग के एक उच्चाधिकारी थे। उस समय बंगाल, बिहार, छोटानागपुर और उड़ीसा को मिलाकर एक प्रदेश गठित था, जिसका शासन-भार एक छोटे लाट पर था। सन् १८७६ में भूदेव बाबू बिहार सर्कल के विद्यालय परिदर्शक नियुक्त हुए थे। बिहार के वासी हिंदीभाषी थे, फिर भी वहाँ की अदालतों में उर्दू चालू थी। इससे हिंदी भाषा और साहित्य की गति अवरुद्ध है—यह सोचकर वे इसके प्रतिकार की चेष्टा में लग गए। उस समय प्रादेशिक शासक सर ऐश्लि इडेन थे। भूदेव बाबू ने उन्हें बताया, बंगाल की अदालतों में फारसी के बदले बँगला चलाने से उसकी सिर्फ मर्यादा ही नहीं बढ़ी, उस भाषा और उसके साहित्य की तेजी से तरक्की हुई। अगर इसी तरह बिहार की अदालतों में उर्दू की जगह हिंदी चालू कर दी जाय तो उसकी और उसके साहित्य की उन्नति बड़ी जल्दी हो।

छोटे लाट साहब ने उनके प्रस्ताव की गुरुता और युक्तिमत्ता समझी। हिंदी बनाम उर्दू पर लोकमत-संग्रह करने के लिए जिलों को परिपत्र भेजने का उन्होंने आदेश दिया। देशहित के इस काम में उन्हें विरोधों का सामना करना पड़ा था। बिहार के मुसलमान और कायस्थ इस प्रस्ताव के विरोध में खड़े हुए। ब्राह्मण, भूमिहार, क्षत्रिय, कुरमी, ग्वाले आदि आम तौर से उर्दू नहीं सीखा करते, इसलिए अदालती लिखापढ़ी का काम उर्दूदाँ मुसलमान और कायस्थ के हाथों था। इससे उनकी आमदनी भी खासी थी। देवनागरी के प्रचलन से उनका यह एकाधिपत्य खतरे में था और रोजी के मामले में भी उन्हें प्रतिद्वंद्विता में पड़ना पड़ता। मुसलमानों की ओर से एक आपत्ति उठाई गई कि उर्दू की जो लिपि है, वह उनके कुरानशरीफ की लिपि है और नागरी हिंदुओं के धर्मग्रंथ वेद की लिपि है। ऐसे में उर्दू के बदले नागरी को चलाना अन्याय और असंगत होगा। भूदेव बाबू ने कागज-पत्तर से यह प्रमाणित कर दिखाया कि बिहार के मुसलमानों के यहाँ खिरिश्ते में सारा कारोबार कायथी हरूफ में ही होता है। इससे मुसलमानों की आपत्ति का खंडन हो गया—

छोटे लाट सर इडेन से हिंदी के बारे में उनकी जो बातें हुई थीं, उसका विवरण भूदेव बाबू के पुत्र मुकुंददेव-मुखोपाध्याय-लिखित भूदेव-चरित में है। यहाँ उनके मंतव्य का अंश हम देते हैं।

"देखिए, बंगाली हिंदू बँगला, अँगरेजी और संस्कृत पढ़ा करते हैं, बंगाली मुसलमान बँगला, अँगरेजी और अरबी पढ़ते हैं। इस तरह हर के लिए मातृभाषा, राज-भाषा और धर्म की भाषा पढ़ना ही संगत है, परंतु बिहारी बालकों को उर्दू या फारसी पढ़ने को मजबूर किया जाता है। उनकी ऐसी विडंबना आखिर क्यों? पहले के मुस्लिम राजाओं ने हिंदी को यों विकृत किया था और

विदेश से फारसी को मँगाया था। इस हिसाब से तो इंगलैंड में नार्मन विजेताओं की फारसी और सैक्सन विजेताओं की जर्मन भाषा को आज भी अक्षुण्ण रखना उचित होता। और, इस देश में किसी सुदूर भविष्यत् में (संसार में कुछ भी चिरस्थायी नहीं है) अँगरेजी राज्य का अंत हो जाने के बाद भी बिहारी बालकों को हिंदी, उर्दू, संस्कृत तथा दूसरी किसी राजभाषा के साथ अँगरेजी भी पढ़नी पड़ेगी। बिहार और पच्छिम के हिंदुओं के साथ ही यह विडंबना है। किसी और देश में भी कभी ऐसा होते आपने सुना है?

"इडेन साहब सचाई और स्पष्टवादिता का आदर करते थे। उन्होंने हँसकर कहा—सचमुच ही यह असंगत है। किसी बालक के लिए तीन ही भाषाओं का बोझ बहुत है।"

भूदेव बाबू की कोशिशें बेकार नहीं गईं। बिहार की अदालतों में हिंदी आई। इससे बिहार का अशेष लाभ हुआ तथा हिंदी भाषा और साहित्य की प्रगति का पथ सहज और प्रशस्त हुआ। बिहार के लोग उनके इस लोक-हितकारी कार्य को भूले नहीं। अदालतों में हिंदी-प्रवेश के ३२ साल बाद सन् १९१४ में बाँकीपुर के मुंशी रघुवरदयाल मुख्तार प्रभृति कुछ विशिष्ट लोगों ने कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए 'भूदेव-हिंदी-मेडल फंड' स्थापित करने की चेष्टा की। वह चेष्टा सफल भी हुई। संस्थापकों ने स्वयं अर्थ देकर और चंदा जमा कर फंड की स्थापना की और प्रस्ताव के मुताबिक बिहार-सरकार ने उसका संचालन-भार लिया। पटने के जिलाधीश और जिला स्कूल-निरीक्षक पदेन उस फंड के संचालक हुआ करते हैं। फंड की आमदनी से हर साल एक नागरी-अंकित रौप्य पदक और कुछ पुस्तकों का पुरस्कार दिया जाता है। जो छात्र बिहार की प्रवेशिका परीक्षा में हिंदी रचना में सबसे ज्यादा अंक लाता है, उसे ही यह पुरस्कार दिया जाता है। इस सफलता से भूदेव बाबू के संबंध में कई हिंदी गीत लिखित और प्रचारित हुए थे। प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् ग्रियर्सन साहब के भोजपुरी-व्याकरण में ऐसे दो गीत संकलित हैं। 'भूदेव-चरित' से हम यहाँ एक गीत उद्धृत कर रहे हैं—

'नागरी अक्षर कचहरियों में चलित होने के
विषय में सरकार की प्रशंसा'

धन्य - धन्य गवर्मेंट, प्रजा - सुखदायी।
यवनी को दूर करि, नागरी चलाई॥
'भुवनदेव' करि पुकार, लाट निकट जाई।
परजा दुख दूर करी, यावनी दुराई॥
नाना विध जाल होत, यावनी में राई।
परजागन हरख होत, विद्या निज पाई॥
धन्य बुद्धि, धनि विचार, धनि अंतर भाई।
करि नियाव हिंद बीच, हिंदीहि चलाई॥
परजा नित सुयश गाय, अंबिका मनाई।
जबलो शशि सूर्य रहे, राज रहे नाईं॥

(यह रचना पं० अंबिकादत्त व्यास का है। अर्थ देना बेकार होगा।)

राजनारायण बसु भारतीय देशात्मबोध के आदि उन्नायकों में से हैं। समग्र भारत के हिंदुओं को समबद्ध कर एक शक्तिशाली महाजाति बनाने के लिए सन् १८८० में उन्होंने एक सुचिंतित परिकल्पना प्रस्तुत की। पहले वह 'ओल्ड हिंदूज होप' के नाम से अँगरेजी में प्रकाशित हुई। फिर कुछ ही दिनों बाद वह 'वृद्ध हिंदूर आशा' के नाम से बँगला में छपी। भारत के धर्मवत्सल एवं स्वजाति हितैषी व्यक्तियों तथा प्रधान समाचारपत्रों ने उसकी प्रशंसा की थी। उस पुस्तिका में 'महा हिंदू-समिति' नामक अखिल-भारतीय प्रतिष्ठान कायम करने की परिकल्पना है और उनके सुचारु संचालन के नियमादि हैं। लेखक ने यह भी इच्छा उसमें दिखाई थी कि भारत के मुसलमान भी उसी के अनुरूप प्रतिष्ठान अपनी उन्नति के लिए स्थापित करें। क्योंकि इस प्रकार भारत की दो प्रधान जातियाँ अपनी-अपनी संस्थाओं से बाद में देश और जाति के साधन में लग सकेंगी। 'महा हिंदू-समिति' के विधान में ऐसा निर्देश है कि निखिल भारत के हिंदुओं को एक में आबद्ध करने के लिए हिंदी को सर्वजनीन भाषा मानकर उसके व्यापक प्रचार की व्यवस्था करनी होगी। 'वृद्ध हिंदू की आशा' से इस संबंध में उद्धरण यहाँ दिया जा रहा है—

"भारतवर्ष के सभी स्थानों के सदस्यगण आपस में बोलचाल और पत्राचार में हिंदी का व्यवहार करें, समिति के सदस्य सब प्रकार से इसकी चेष्टा करेंगे। आपस में इसके लिए विदेशी यानी अँगरेजी भाषा का सहारा लेना स्वदेश प्रेमी हिंदुओं के लिए लज्जा की बात है। बंगाल या मद्रास आदि स्थानों के सदस्यों को, जहाँ की भाषा

हिंदी नहीं है, हिंदी सीख लेनी चाहिए। जबतक वे हिंदी नहीं सीख लेते, तबतक लाचारी अँगरेजी का सहारा लेना ही पड़ेगा। भारत के अन्य इलकों की शाखा के सदस्य वहाँ की प्रचलित भाषा में पत्रादि लिखेंगे। स्वदेश-प्रेमी और मातृभाषानुरागी व्यक्तियों का यह परम कर्त्तव्य है। भारत की पूरी आबादी का लेखा लेने पर यहाँ के बहुत थोड़े ही लोग अँगरेजी जाननेवाले मिलते हैं, अत देश की प्रचलित भाषा में ही सभा की कार्यवाहियाँ उचित हैं। विभिन्न प्रदेशों के लोग आपस में हिंदी (लाचारी अँगरेजी) मे पत्र-व्यवहार करेंगे।"

यह उद्धरण सभा के विधान की १७ वीं विधि का है। एक दूसरी विधि म ऐसा कहा गया है कि 'महाहिंदू समिति का जो वार्षिक महाधिवेशन होगा, उसमें हिंदी का प्रयोग होगा।' ३० वीं विधि में ऐसा निर्देश है—'महासभा के कार्य हिंदी में सपादित होंगे। इसका भरोसा है कि मद्रास के जो सदस्यगण हिंदी नहीं जानते हैं, वे सभा में योगदान देने के लिए हिंदी सीख लेंगे।'

जिन तीन बगालियों के दिमाग में हिंदी को सर्वजनीन भाषा बनाने की कल्पना पहलेपहल आई थी, वे वरेण्य व्यक्ति समसामयिक थे। विचारने की बात यह है कि उनके समय में भी बँगला भारतीय भाषाओं में समृद्ध थी, फिर भी समग्र जाति के लाभार्थ अपनी मातृभाषा के लिए उन्होंने कोई दावा नहीं पेश किया था। क्योंकि उन्हे मालूम था कि हिंदी बोलनेवालों की सख्या अन्यान्य भाषाभाषियों से कहीं अधिक है। खास कर हिंदीभाषी इलाकों के अतिरिक्त अन्य इलकों में भी हिंदी का थोड़ा बहुत प्रचलन है।

हिंदी के लिए ऐसे विचार व्यक्त होने के कोई २५-३० साल बाद, बीसवीं सदी के पहले दशक के मध्य, स्वदेशी आदोलन के युग में बंगाल के विप्लवियों ने हिंदी को भारत की सर्वजनीन भाषा के रूप में चलाने की चेष्टा की थी। अरविंद घोष, चारुचद्र दत्त, सुबोधचद्र वसु, मल्लिक-प्रभृति प्रमुख अधिनायकों द्वारा गठित-परिचालित युगातर विप्लवी दल इसमें अग्रणी था। विप्लव के अग्निमत्र से दीक्षित तरुण कर्मियों की शिक्षा में हिंदी अनिवार्य थी। उस दल के मुखपत्र साप्ताहिक 'युगातर' के परिचालकों ने सर्व-साधारण] में हिंदी-प्रचार के लिए अपने कार्यालय में हिंदी शिक्षण केंद्र खोला था। वहाँ नि शुल्क शिक्षा की उपयुक्त व्यवस्था थी। उस समय 'युगातर' में इस आशय का विज्ञापन छपा था कि युगातर के परिचालकों ने नि शुल्क हिंदी शिक्षण की व्यवस्था की है। हिंदी भारत की 'लिंग्वा फ्रैंका' यानी सर्वजनीन भाषा है, सुतरा इसे सीख लेने पर मा के नाम के प्रचारक सारे देश म सहूलियत से प्रचार-कार्य र्र सकेंगे। बम के मामले में अरविंद घोष और उनके भाइयों के माणिकतल्लावाले भवन तथा अन्य स्थानों की तलाशी ली गई थी। उसमें जो सारी चीजें पुलिस के हाथ आई थीं तथा अदालत में नजीर के तौर पर पेश की गई थीं, उनमें से एक में विप्लवी कर्मियों के शिक्षणीय विषयों की तालिका भी थी। तालिका के विषयों में हिंदी भी अन्यतम थी। ऊपर युगातर के जिस अक में विज्ञापन का उल्लेख आया है, वह अक भी सरकारी पक्ष से अदालत में पेश किया गया था। तलाशी में हिंदी शिक्षा की कुछ प्राथमिक पुस्तकें भी पाई गई थीं, जो प्रमाणस्वरूप दाखिल की गई थीं। अलीपुर के सेशन जज मि० बीच-क्रुफ्ट की राय में 'युगातर' की विज्ञप्ति और सपादकीय की जो आलोचना की गई थी, उसका थोड़ा-सा अंश यहाँ दिया जाता है—

There is also a paragraph in the same number for teaching Hindi without fees The reason is given that Hindi ▪ the lingua franca of India, and a knowledge of it will enable preachers of the Mother's name to travel all over India preaching In this paragraph is the passage —People whose country has been sold to others, whose king has so ordered that if brother did not cut brother's throat, it would be hard to earn ▪ living Such ▪ people would not be united even if they possessed one language ' In this connection it may be noted that two Hindi Primers a Hindi Reader, and a Hindi Grammar were found at Gopi Mohan Dutta s home I do not desire to lay too much stress on this but it ▪ an instance of the teaching of the Yugantar being followed In exhibit XXVI found in the garden, Hindi ▪ also mentioned as ▪ subject to be studied '

भारत विख्यात देशनायक अरविंद भी हिंदी को 'साधारण भाषा' के रूप में ग्रहण करके जातीय ऐक्य की बाधा को दूर करने की बात कह गए हैं—यह भारत के आजाद होने से चालीस साल पहले की बात है। अपनी पत्रिका 'धर्म' में उन्होंने 'देश और जातीयता'-शीर्षक

निबंध में यह मतव्य प्रकट किया है। जातीय ऐक्य की बाधा क्या है और किस प्रकार उसे दूर कर एकता कायम की जा सकती है, उसके बारे में आपने लिखा है—

" हमलोगों ने भी बग भग के समय बगमाता के दर्शन किए थे। वह दर्शन अखड दर्शन था, अतएव इस प्रदेश की एकता और उन्नति अवश्यभावी है। किंतु भारत-माता का अखड मूर्ति अभी प्रकट नहीं हुई है। काग्रेस में जिन नाना स्तवों में हम भारत माता की वदना करते थे, वह कल्पित है, अँगरेजों की सहचरी और प्रिय वाणी म्लेच्छ की वेश भूषा में वह माया है, वह हमलोगों की मा नहीं है। प्रकृत मा उसके अतराल में गहरे अस्पष्ट आलोक में हमारे मन प्राण को आकर्षित करती थीं। जिस दिन उनकी अखड मूर्ति के दर्शन होंगे, हम रूप लावण्य से मुग्ध हो जायँगे, उनकी सेवा में जीवन बलिदान करने को हम पागल हो उठेंगे, उस दिन बाधा दूर हो जायगी, भारत की एकता, स्वाधीनता और उन्नति सहज साध्य होगी। भाषाभेद से अब वह बाधा नहीं रहेगी। हम अपनी अपनी मातृ-भाषाओं की उन्नति करते हुए भी साधारण भाषा की जगह हिंदी को अपनाकर उस बाधा को दूर करेंगे। हिंदू-मुसलमान विभेद की उपयुक्त मीमांसा की उद्भावना हम कर सकेंगे। मातृदर्शन के अभाव से ही बाधा दूर करने की हममें बलवती इच्छा नहीं पैदा हो रही है और इसी से बाधा दूर होने के बजाय विरोध ही बढ़ता जा रहा है। किंतु अखड स्वरूप के दर्शन चाहिए, अगर हिंदुओं की मा, हिंदू-जातीयता की प्रतिष्ठा के लिए मातृ-दर्शन की आकांक्षा करें, तो फिर उसी पुराने भ्रम में पड़े रहेंगे, जातीयता के पूर्ण विकास से हम वचित रहेंगे।"

—('शनिवारेर चिठि' में श्रीनगेंद्रकुमार गुहराय का लेख)

५. विज्ञान और समाज : आइन्स्टीन के विचार

मानवीय व्यापारों पर विज्ञान ने दो प्रकार के प्रभाव डाले हैं। एक प्रभाव से सबका परिचय है। वह यह है कि विज्ञान से ऐसे साधन निकलते हैं जिनसे मनुष्य के अस्तित्व का रूप परिवर्तित होता है। किंतु, दूसरा प्रभाव अदृश्य है, पर बहुत-कुछ शिक्षण के समान है जिससे मनुष्य के सोचने के ढंग में परिवर्तन आता है।

विज्ञान का व्यावहारिक परिणाम यह है कि उसके आविष्कारों के चलते —वाष्प-यत्र, रेल, बिजली की शक्ति, तारवर्की, रेडियो, मोटर, वायुयान, डिनेमाइट आदि के कारण मनुष्य के जीवन में समृद्धि आई है। उसकी सुविधाएँ बहुत बढ़ गई हैं। किंतु, इन्हीं वरदानों के कारण मानव-जीवन में उलझनें भी पैदा हुई हैं। फिर जीव विज्ञान और औषधि विज्ञान के भी आविष्कार हैं जिनसे मनुष्यों का बहुत कल्याण हुआ है। विशेषत, ये आविष्कार मूल्यवान हैं जिनसे मनुष्य की पीड़ाएँ घटती हैं और जिनसे मनुष्य अपनी खाद्य-सामग्रियों को सड़ने से बचाकर बहुत दिनों तक जमा रख सकता है। विज्ञान के इन आविष्कारों के पूर्व मनुष्य को सिर्फ जीने के लिए भी अपरिमित श्रम करना पड़ता था। किंतु, अब यह श्रम बहुत घट गया है। दास प्रथा के निर्मूलन के पीछे विज्ञान का हाथ है, यह सत्य हमें आसानी से दिखाई पड़ सकता है।

यह तो हुआ एक पक्ष। प्रश्न का दूसरा पक्ष यह है कि टेकनालाजी (यानी व्यवहार में आए हुए विज्ञान) के कारण मनुष्य के सामने कुछ अत्यत गभीर समस्याएँ भी खड़ी हो गई हैं जिनके समुचित समाधान पर ही यह बात निर्भर करती है कि मनुष्य-जाति आगे भी बच सकेगी या नहीं। इन समस्याओं का मूल रूप यह है कि समाज में वे सस्थाएँ और वे परपराएँ कैसे कायम की जायँ जिनके अभाव में विज्ञान के ये साधन मनुष्य-जाति को निश्चित रूप से विनाश के गर्त में ढकेल देनेवाले हैं।

जिस दुनिया में आर्थिक ढाँचे असंगठित हैं वहाँ अगर उत्पादन के काम यत्रों के द्वारा करवाए जायँ तो इसका यह परिणाम होगा कि बहुत सारे लोग बेकार हो जायँगे, उत्पादन के काम के लिए उनकी आवश्यकता नहीं रह जायगी और जीवन की आर्थिक प्रगति से उनका कोई संबंध नहीं रह जायगा। फलस्वरूप, इन बेकारों में खरीदने की शक्ति का अभाव हो जायगा और मनुष्य की श्रम शक्ति का समाज में कोई मूल्य नहीं रह जायगा। दूसरी ओर, उत्पादन के वैज्ञानिक यत्रों पर प्रभुत्व पूँजीपतियों का होगा और यह एक मामूली अनुभव की बात है कि सरकार जितनी भी रोक लगाए, यत्रों के स्वामी उन रोकों से पूरी तरह नहीं बँध पायेंगे। आज इन सबके दृष्टात ससार के समक्ष उपस्थित हैं और मनुष्य जाति इस सघर्ष में फँसी हुई है कि इन नए साधनों के अनुकूल स्थिति कैसे उत्पन्न की जाय। अगर वर्तमान पीढ़ी इस

स्थिति को उत्पन्न करने में समर्थ होती है तो मनुष्य जाति की समस्याओं का समाधान मिल जाता है और वास्तविक स्वातंत्र्य उसके वश में आ जाता है; अगर नहीं तो मनुष्यता के सामने विनाश की आशंका टँगी हुई है।

टेक्नालाजी ने दूरी को भी बहुत कम कर दिया है और उसने संहार के ऐसे ऐसे भयंकर साधन उत्पन्न कर दिए हैं कि उनसे विश्व की शांति और सुरक्षा ही नहीं, मनुष्य-जाति का अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया है। जो स्थिति मौजूद है उसकी एक ही माँग है कि पूरी पृथ्वी किसी एक न्यायाधीश या सरकार की अधीनता स्वीकार करे। किंतु, इस आदर्श के साथ देशों की राष्ट्रीय परंपराओं का खुला विरोध है। यहाँ भी हम एक ऐसी स्थिति और संघर्ष में फँसे हुए हैं जिनके समाधान पर हमारी किस्मत का दारोमदार है।

मनुष्यता के सामने तीसरा खतरा यह है कि यातायात के द्रुत साधनों, छापे की सुविधाओं और रेडियो के प्रचार पर सभी देशों में एक एक केंद्रीय सत्ता का अधिकार है तथा इस केंद्रीय सत्ता के पास मार-काट के भयानक शस्त्रास्त्र भी हैं। परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की आत्मा और शरीर, दोनों ही केंद्रीय सत्ताओं के अधीन हो गए हैं। आधुनिक युग के अत्याचारों और उनके विनाशकारी परिणामों को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान की सफलताओं का उपयोग मानवता के कल्याण के लिए कितना कम किया जा सका है। इस खतरे का भी एक ही हल है और उस हल को अंतर्राष्ट्रीय होना चाहिए। दुर्भाग्य की बात है कि इस समाधान के पहले जिस मनोवैज्ञानिक नींव की आवश्यकता है, अभीतक वह नींव भी नहीं डाली गई है।

हाँ, विज्ञान का एक मंगलमय प्रभाव अवश्य पड़ा है और वह बौद्धिक प्रभाव है। विज्ञान के उत्थान से पूर्व का मनुष्य प्रकृति के भीतर छिपे हुए नियमों को नहीं जानता था, बल्कि प्रकृति की प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप करने में उसे भय होता था कि कहीं अदृश्य शक्तियाँ नाराज न हो जायँ। किंतु, अब मनुष्य इस अंधविश्वास की व्यर्थता को समझ गया है और वह मानने लगा है कि प्राकृतिक नियम सार्वभौम हैं एवं मनुष्य के विचारों का भरोसा किया जा सकता है।

[आइन्स्टीन के निबंध-संग्रह आउट आव माय लेटर इयर्स]



विश्व वार्ता

१. भारत

भारत शांति का समर्थक है और किसी भी मूल्य पर विश्व शांति की स्थापना करने के लिए वह सचेष्ट एवं प्रयत्नशील है। कोरिया में भारत ने जो कुछ किया है वह निश्चय ही एक आदर्श और उसकी सचाई एवं ईमानदारी का ज्वलंत प्रमाण है।

हिंदचीन की स्थिति भी विश्व शांति की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसीलिए गत २४ अप्रैल को भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में कहा कि जेनेवा में महान राष्ट्रों का जो सम्मेलन होने जा रहा है उसकी विषय सूची में हिंदचीन में युद्ध-स्थगन के प्रश्न को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जहाँ तक युद्ध-स्थगन करनेवाले दलों का प्रश्न है, उनमें वे ही सम्मिलित हों, जो वस्तुतः हिंदचीन के युद्ध में भाग ले रहे हैं। और, वे दल हैं-फ्रांस और उसके तीन संयुक्त राज्य तथा वीतमिन। साथ ही जेनेवा-सम्मेलन को इस बात का निर्णय एवं निश्चित घोषणा करनी चाहिए कि हिंदचीन के युद्ध की समाप्ति तथा उसकी समस्या के समाधान के लिए हिंदचीन से फ्रांसीसी प्रभुसत्ता हटाकर उसे पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की जायगी। फ्रांस को चाहिए कि वह हिंदचीन को स्वाधीनता का वचन दे।

श्री नेहरू ने यह भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि बड़े राष्ट्रों को इस बात का निश्चित समझौता करना चाहिए कि वे हिंदचीन के युद्ध में किसी भी दल को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहायता नहीं करेंगे और न हिंदचीन के युद्ध में हस्तक्षेप करेंगे। जेनेवा-सम्मेलन में इस प्रश्न पर अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और लाल चीन को समझौता करना चाहिए।

श्री नेहरू के उपर्युक्त सुझाव से यह स्पष्ट है कि हिंद चीन की समस्या के समाधान के लिए भारत ने जो भी सुझाव रखे हैं वे सर्वथा व्यावहारिक हैं। उनसे समस्या का समाधान हो सकता है—इसकी संभावना को झुठलाया नहीं जा सकता। हिंदचीन का युद्ध मूलतः उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादियों के जागरण का प्रतीक है। बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप से ही यह समस्या इतनी गंभीर होती जा रही है। राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेनेवालों की भावना पर आघात पहुँचाकर इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। इसीलिए श्री नेहरू ने सुझाव के रूप में यह भी कह दिया है कि हिंदचीन के युद्ध में फ्रांस को अमेरिकाने सहायता पहुँचाई और वियतमिनों को भी चीन की सहायता की बात सुनी जाती है। इस प्रकार बाहरी हस्तक्षेप के कारण बात बढ़ गई और देखते-ही देखते तिल का ताड़ हो गया।

२. पाकिस्तान

भाषा के प्रश्न पर पाकिस्तानी सरकार जितनी संकीर्ण होती जा रही है उतना ही यह आंदोलन व्यापक होता जा रहा है। एक ओर पाकिस्तानी सरकार भाषा के विवाद पर शांतिभंग होने की आशंका से कराची की पुलिस को सावधान करती है तो दूसरी ओर जनता की माँग सरकार की नीति के विरुद्ध जोर पकड़ती जा रही है। कई समाचारपत्रों और समाचार एजेंसियों के कार्यालयों को पुलिस का संरक्षण दिया गया है, क्योंकि दो दिनों में ही एक उर्दू-समर्थक पत्र और एक सिंधी-समर्थक पत्र पर सामूहिक आक्रमण हो गए। साथ ही मुस्लिम लीग के केंद्रीय विधायक दल के निर्णय के विरुद्ध प्रतिवादों का तांता बँध गया और पाकिस्तानी पार्लियामेंट के अहाते में पत्थर बरसाए गए तथा उर्दू के समर्थन में जोरदार प्रदर्शन किए गए।

कराची - प्रांतीय मुस्लिम लीग की ओर से एक सार्वजनिक सभा भी हुई जिसमें यह माँग की गई कि केवल उर्दू को ही पाकिस्तान की राजभाषा मानी जाय। इस सभा में भी बहुत-से उर्दू समर्थक नारे बुलंद किए गए।

इसके अतिरिक्त कराची के सिंधी नागरिकों की एक सार्वजनिक सभा में यह माँग की गई कि सिंधी को पाकिस्तान की एक राजभाषा मानी जानी चाहिए। इसी बीच पाकिस्तान के प्रधान मंत्री श्री मोहम्मद अली और मौलवी अब्दुल हक के बीच भाषा-समस्या के संबंध में वार्ता चल रही थी। साथ ही पूर्व बंगाल के शासक-दल—संयुक्त मोर्चे ने यह माँग पेश की है कि बंगला को पाकिस्तान की राजभाषाओं में अन्यतम स्थान दिया जाय।

३. कश्मीर

जम्मू-कश्मीर - संविधान-सभा के अध्यक्ष श्री गुलाम मोहम्मद सादिक ने अखिलभारतीय मुस्लिम सम्मेलन के अवसर पर स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया है कि कश्मीर भारत का अंग बन चुका है और बना ही रहेगा। विदेशी राष्ट्रों से सैनिक सहायता लेकर कश्मीर में युद्ध प्रारंभ करने की पाकिस्तान की धमकियों से डरकर कश्मीर के लोग अपना निर्णय कदापि नहीं बदल सकते। वे भारत के साथ ही डूबेंगे या उबरेंगे।

आपने कहा कि पाकिस्तानी पार्लियामेंट में भूतपूर्व उद्योग मंत्री सरदार अब्दुररब निश्तर ने कश्मीर में फिर लड़ाई जारी करने की जो बातें कही हैं वे कुछ और नहीं, शासक-दल की चालबाजी है जिससे वह अपनी उन बदनामियों पर पर्दा डालना चाह रहा है जो पूर्व बंगाल के चुनाव में उसकी शर्मनाक हार और देश की अन्य घटनाओं के कारण साफ दिखलाई पड़ रही हैं। कश्मीर को पश्चिमी राष्ट्रों के गुट की ओर झुकाने के लिए आंग्ल-अमेरिकी गुट ने पाकिस्तान के द्वारा सभी प्रकार के राजनीतिक दबाव डालने की भरपूर कोशिश की। षड्यंत्रकारियों ने स्वतंत्र कश्मीर के भी नारे लगाये, पर कश्मीर के लोगों ने अपनी स्वतंत्र जनतांत्रिक इच्छा और नीति से बाहरी राष्ट्रों के हस्तक्षेप को ठुकरा दिया; चूँकि पिछले कुछ वर्षों में राज्य में किए गए राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सुधारों से वे पूर्णतः संतुष्ट हैं। वास्तव में कश्मीर - समस्या का जन्म ही आंग्ल-अमेरिकी गुट की साम्राज्यवादी साजिशों का परिणाम है। चूँकि एशिया से इन विदेशी राष्ट्रों को हट जाना पड़ा और पड़ रहा है, इसलिए यहाँ फिर से अपने पैर जमाने का दाँव-पेंच खेलना उन्होंने शुरू कर दिया है।

कश्मीर के प्रधान मंत्री बख्शी गुलाम मोहम्मद ने भी इस अवसर पर जोरदार शब्दों में कहा कि भारतीय संविधान में देश के नागरिकों को पूरे अधिकारों की गारंटी दी गई है। इसलिए भारतीय मुसलमान अपनी किसी कठिनाई के लिए कोई शिकायत पेश नहीं करें; बल्कि इस संविधान से संरक्षण प्राप्त कर अपने अधिकारों का उपयोग करें। भारत में नागरिकों को बराबरी का अधिकार प्राप्त है। पाकिस्तान में नागरिकों को ये अधिकार नहीं दिए गए हैं। भारत में प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह जिस जाति और धर्म का हो, समानाधिकार का उपयोग कर सकता है। भारत-सरकार की नीति बदली नहीं जा सकती और हमारे नेता एवं प्रतिनिधि देश का उचित नेतृत्व कर रहे हैं। भारतीय मुसलमानों को चाहिए कि वे अपनी समस्याओं के प्रति साम्प्रदायिक दृष्टिकोण नहीं अपनायें। विभाजन के बाद भारत बहुत आगे बढ़ चुका है और देश में पूरी साम्प्रदायिक एकता स्थापित हो चुकी है। यदि ऐसी स्थिति में भारतीय मुसलमान साम्प्रदायिकतापूर्ण दृष्टि से अपनी समस्याओं को देखने लगेंगे तो १९४७ की पुनरावृत्ति हो सकती है। भारतीय नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे देश के हितों की रक्षा में अपना सर्वस्व अर्पित कर दें।

४. अमेरिका

भारतीय प्रधान मंत्री श्री नेहरू की परराष्ट्र-नीति से इधर उन राष्ट्रों में बौखलाहट उत्पन्न हो गई है जो अपनी कपट-नीति के द्वारा विश्व की स्वतंत्रता को अपने साम्राज्यवादी पंजों में ले लेना चाहते हैं। साथ ही भारत को अपनी ईमानदारी और सचाई के मार्ग से विचलित करने के लिए तरह तरह के हथकंडे काम में ला रहे हैं।

अभी - अभी २४ अप्रैल को अमेरिकी सीनेट की विनियोग-समिति ने भारत को दी जानेवाली अमेरिकी सहायता की पद्धति की आलोचना की है और समिति के अध्यक्ष सिनेटर स्टाइल्स ब्रिजेस ने तो यहाँतक कह डाला है कि भारतीय प्रधान मंत्री श्री नेहरू की जो हाल में कार्रवाइयाँ हुई हैं उनसे दोनों राष्ट्रों के बीच सद्भावना बढ़ने की संभावना नहीं है। सिनेटर ब्रिजेस ने श्री नेहरू के द्वारा इस बात के विरोध किए जाने का जिक्र किया जिसमें उन्होंने फ्रांसीसी सिपाहियों को अमेरिकी हवाई

जहाज द्वारा भारत होकर हिंदचीन ले जाने का विरोध किया था। श्री नेहरू की इस घोषणा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि एशिया के अन्य देशों—जैसे सऊदी अरब, पाकिस्तान, स्याम, आस्ट्रेलिया, फिलीपाईन्स, फारमोसा और जापान—पर आक्रमण हुआ तो श्री नेहरू कैसा रुख अख्तियार करेंगे।

गत २४ अप्रैल की एक खबर में बताया गया है कि अमेरिकी विमान हिंद-चीन के लिए फ्रांसीसी छतरी सेना की कुमक को लेकर कराची से गुजरे। उन्हें कराची में तेल लेने की सुविधा दी गई। अमेरिकी सरकार के अनुरोध पर ही पाकिस्तान-सरकार ने ये सुविधाएँ दी थीं।

सरकारी अफसरों ने सैनिकों के इस गुप्त संचालन के संबंध में कुछ भी टीका करने से इंकार किया; किंतु अधिकारी सूत्रों द्वारा बताया गया कि इस सैन्य-संचालन का कार्य पूरा हो गया है और अब फ्रांसीसी सेना कराची होकर नहीं जायगी। पेरिस से प्राप्त एक समाचार में बताया गया है कि अमेरिकी विमानों द्वारा ले जाई गई फ्रांसीसी छतरी सेना के ८२० सैनिक सेगाँव पहुँच गए। लंका-सरकार की एक विज्ञप्ति में बताया गया है कि उसने फ्रांसीसी छतरी सेना को हिंदचीन ले जानेवाले अमेरिकी विमानों को लंका से होकर गुजरने की अनुमति दे दी। गत २३ अप्रैल की रात का समाचार है कि सात अमेरिकी विमान कोलंबो से २० मील [redacted] नेगोम्बो के हवाई अड्डे पर पहुँचे। इनमें पाँच विमान वियतमिन्ह द्वारा घिरे हुए डीन-बीन फू के लिए रवाना हो चुके हैं और दो बाद में रवाना होंगे।

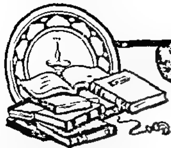
५. रूस

१. सोवियत समाचार-एजेंसी 'तास' ने बताया है कि रूस के उपनिवेश मन्त्री श्री आंद्रे ग्रोम्योको ने गत २३ अप्रैल को मास्को स्थित आस्ट्रेलियन दूत को एक पत्र दिया जिसमें भूतपूर्व रूसी दूत श्री ब्लाडी मीर पेट्रोव को आस्ट्रेलिया में शरण देने की आस्ट्रेलिया-सरकार की कार्रवाई का प्रतिवाद किया गया है। गत २३ अप्रैल को ही रूसी सरकार ने यह भी घोषित किया कि पेट्रोव के मामले के परिणामस्वरूप उसने आस्ट्रेलिया स्थित अपने राजदूत और उनके दूतावास के अन्य सभी कर्मचारियों को रूस लौट जाने का आदेश दिया है।

रूस के पत्र में यह आरोप लगाया गया है कि आस्ट्रेलिया ने श्री ब्लाडी मीर पेट्रोव को जो आस्ट्रेलिया में सोवियत गुप्तचर-विभाग के भूतपूर्व एजेंट थे, अपने यहाँ शरण दी है और उनकी पत्नी को, जबकि वे विमान द्वारा रूस वापस आ रही थीं, जबर्दस्ती रोक लिया है। [redacted] में रूस के इन आरोपों को फिर दुहराया गया है कि श्री पेट्रोव ने रूस की सपत्ति चुराकर उसका गबन किया है। उसमें यह भी माँग की गई है कि आस्ट्रेलिया श्री पेट्रोव को एक मुजरिम के रूप में सौंप दे।

—श्री दिनेशप्रसाद सिंह, बी० ए०, आनर्स





पुस्तकालोचन

मधु—लेखक—श्रीयज्ञदत्त शर्मा, प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ० १४५, छपाई सुंदर, गेटअप आकर्षक, सजिल्द पुस्तक का मूल्य—३)

प्रस्तुत पुस्तक उपन्यास है। इसकी नायिका मधु पहाड़ी अंचल की लड़की है जो धोखे से वेश्यावृत्ति में प्रवृत्त की जाती है। अपने पेशे से ऊबकर वह एक दिन भाग जाती है उसी पहाड़ी अंचल में—जहाँ उसे राजन नामक युवक से भेंट हो जाती है। राजन एकाकी है और संगीत से लोगों की तृप्ति करता रहता है। मधु से भेंट होने से पहले तक उसके जीवन का कोई उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। दोनों में प्रेम हो जाता है, लेकिन मधु राजन-से सरल युवक को ठगना नहीं चाहती। वह भाग आती है और फिर अपनी वृत्ति में प्रविष्ट हो जाती है, लेकिन इस बार वेश्यावृत्ति में क्रांति मचाने के उद्देश्य से। राजन भी अब सुधारक बन जाता है और एक दिन दिल्ली—मधु के यहाँ—आता है और दोनों की शादी हो जाती है।

यही पुस्तक की कथावस्तु है। पुस्तक के बारे में कुछ लिखते समय बड़े असमंजस में पड़ जाना पड़ता है, क्योंकि इस पुस्तक की भूमिका एक डाक्टर (एम० ए० डी० लिट०, एम० बी० बी एस० नहीं) ने लिखी है और भूमिका में आपने बड़े तपाक से फर्माया है—

'इस नए उपन्यास में श्री यज्ञदत्त ने समाज के एक और महत्त्वपूर्ण पहलू को—वेश्यावृत्ति और उसके व्यवसायीकरण तथा मानवीय दुर्गुणों एवं गुणों को एक नए अंदाज से उभारा है।'

इस वाक्य से हिंदी के एक डी० लिट० ने पुस्तक पर जबर्दस्त मुहर लगा दी है। इसलिए इसके खिलाफ कलम उठाना मेरे समान अ-डाक्टर और अ-एम० ए० के लिए धृष्टता ही होगी। लेकिन वास्तविकता यह है कि हमारे अधिकांश उपन्यास-लेखक अनुभव शून्य होते हैं और अपने कमरे में बैठकर हर वस्तु की मनगढ़त कल्पना कर लेते हैं, नहीं तो वास्तविक जगत् में न तो आजतक क्रांति मचाने-वाली कोई वेश्या ही पैदा हुई और न समाज के किसी व्यक्ति ने उनके उद्धार की ओर ध्यान ही दिया!

वेश्यावृत्ति में औरतें क्यों प्रविष्ट होती हैं। इसके कारणों की समीक्षा लेखक ने पृष्ठ ७५ में इस तरह की है—

शीला—समाज का यह पतन क्यों?

राजन—यह पतन निर्धनता के कारण है। जितनी शीघ्रता के साथ भारत में जनसंख्या की वृद्धि हुई, उतनी प्रगति के साथ उत्पादन के साधनों की वृद्धि न हो सकी। सरकार विदेशी थी, जिसने सर्वदा अपने ही स्वार्थ पर दृष्टि रखी। भारत की जनता के लिए कोई ऐसी योजना नहीं बनाई जिससे जनता को कोई काम मिल सके और देश की दरिद्रता दूर हो। समाज की इस गिरी हुई दशा से कुछ लोगों ने यहाँ तक स्वार्थ-सिद्धि पर पग रखा कि उन्होंने रुपयों से मनुष्य को खरीदना ही आरंभ कर दिया। मनुष्य की शक्तियों को तो खरीदा ही जाता था, मनुष्य के शरीर को भी खरीदा जाने लगा।

जिन लोगों को भारत में वेश्यावृत्ति के प्रसार का थोड़ा भी ज्ञान है, व लेखक की इस थोथी दलील को पढ़कर हँसे बिना नहीं रहेंगे। कमरे में बैठकर किसी वस्तु की कल्पना करने का यही परिणाम होता है। लेखक को इतना तो मालूम होना ही चाहिए था कि निर्धनता के कारण वेश्याएँ नहीं बनतीं। वेश्याएँ बनती हैं भारतीय समाज की संकीर्ण और संकुचित मनोवृत्ति के कारण, बाल विवाह की कुप्रथा और विधवा विवाह के प्रचलित न होने के कारण।

वस्तु विषय का चित्रण अस्वाभाविक ढंग से हुआ है और इस दृष्टि से पुस्तक निर्जीव है। लेकिन पुस्तक की भाषा सजीव है। उसमें ओज है, प्रवाह है। लेखक कवि भी प्रतीत होते हैं, लेकिन उपन्यास में इस तरह कविताएँ भर देना सफल उपन्यास-लेखक का लक्षण नहीं है।

पृष्ठ-संख्या की दृष्टि से पुस्तक का मूल्य बहुत अधिक है।

—छविनाथ पांडेय

बदलता युग—कवि श्री महेंद्र भटनागर, प्रकाशक—श्री दीनानाथ कुकडीपो, खजूरी बाजार, इंदौर, मूल्य १॥)

कवि की गीतिमत्ता से पहचान रही है, किंतु प्रस्तुत पुस्तक में उसकी वीणा में कैसे नए तार लगे हैं और नई झंकार जागी है। 'आमुख' में कवि ने कविता की मनोभूमि के बारे में स्वय कहा है कि इसकी अधिकांश कविताएँ भारत के राष्ट्रीय इतिहास से संबंध रखती हैं। यह इतिहास मेरे युग का है; जिसमें घटनेवाली अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं तथा परिवर्तनों के प्रति मेरा कवि विशेषरूप से जागरूक है।

संग्रह में जो ४२ कविताएँ हैं, उनमें से अधिकांश अकाल, विद्रोह, दंगे, साम्प्रदायिकता के जहर से संबंध रखती हैं। इसीलिए कवि की चिर परिचित गीत माधुरी के बजाय इसमें ओज का तीखा स्वर, क्रंदन, हाहाकार और विनाश का लेखा-जोखा है। छंदों का नियोजन भी उसके अनुकूल नहीं, जो संगीत की सृष्टि करता है। इसमें विश्वास की सशक्तता का आभास अवश्य है। जब कवि कहता है—

गिर नहीं सकती कभी विश्वास की दीवार !

तो, उसकी आशा के भविष्य के प्रति प्राणों की सबल आस्था और दृढ आत्मबल का परिचय मिलता है।

देश में विषमता ने जिस कारुणिक विभीषिका की सृष्टि की है, मनुष्य का भविष्य जैसा अस्थिर और अंधकारमय हो उठा है; समाज में स्नेह की शृंखला का अभाव और अभावों की आँधी से उसकी हिलती हुई नींव की जो दुराशा सामने है, उन अनंत समस्याओं ने कवि के प्राणों को झकझोरा है। और वह कहता है—

हरा युग यों करुण है, आज वाणी में नहीं बँधती
नहीं बँधती, विषम हूँ साधना स्वर में नहीं सधती।

वाणी में वह चाहे नहीं बँधे, स्वर में वह चाहे नहीं सधे, पर कवि की अंतरात्मा में यह आशा और विश्वास है कि निराशा का यह अँधेरा, विषमता का यह अनाचार एक दिन दम तोड़ देगा।

महेंद्रजी के दो और कविता-संग्रह इसके पहले निकल चुके हैं और हमारे अपने ख्याल में उनकी उस धारा में उनकी निजत्वता की छाप अधिक थी। छोटे-छोटे गीतों में कवि की कुशलता ज्यादा निखार पा सकी है। भाषा में प्रवाह, सादगी और प्रसाद गुण की इनकी विशेषता प्रस्तुत संग्रह में भी है।

—हंसकुमार तिवारी

मानस की रामकथा—लेखक—श्री परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद, मू० ३॥)

यह 'रामचरितमानस' का एक व्यापक अध्ययन है, जिसमें रामकथा के उद्भव और विकास पर बड़े विस्तार और शोध की सामग्रियों से प्रकाश डाला गया है। पुस्तक दो खंडों में विभाजित है। पहले खंड में तुलसी की जीवनी, कथा शैली और आदर्श विवेचन, रामकथा की परंपरा आदि विषयों पर बड़े विस्तार से लिखा गया है और दूसरे में मूल पाठ, कथा प्रसंग तथा व्यवहृत शब्दावली के अर्थ हैं।

पहले खंड का तीसरा परिच्छेद, जिसमें रामकथा की व्यापकता का दिग्दर्शन कराया गया है, सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। भारत के श्रेष्ठ साहित्य और भाषाओं में उसका क्या रूप है, इतना ही नहीं, बल्कि चीन, तिब्बत, इंडोनेशिया, स्याम, बर्मा, खोतान आदि में इसकी व्यापकता किस रूप में रही है, यह भी दिखाने की चेष्टा की गई है। यों वाल्मीकि के समय से रामकथा की एक परंपरा चली आ रही है और अपनी-अपनी रसदक्षता के अनुसार प्रत्येक कवि ने उस कथा पर अपनी कल्पना और मान्यता का रंग चढाया है। उदाहरण के तौर पर वाल्मीकि और तुलसी के राम का स्वरूप देखा जा सकता है। वाल्मीकि के युग में व्यक्तित्व की महत्ता मूल्यवान थी, फलस्वरूप आदर्श का मापदंड भी उसी के अनुरूप था। वाल्मीकि के राम स्वाभाविकता की सीमा तोड़कर भगवान नहीं बन सके, किंतु तुलसी ने आदर्श पुरुषोत्तम को ईश्वरत्व की उच्चता पर उन्नीत कर दिया। इसके लिए तत्कालीन सामाजिक पृष्ठभूमि और पारिपार्श्विक अवस्था भी जिम्मेदार है।

रामायण महाकाव्य के कवि अनेक हुए, पर इसे खास किसी कवि की कृति कहना शायद चरम सत्य भी न हो। उस कथा के अनेक प्रसंग पहले से ही लोक-जीवन में प्रचलित थे। ऐसा पता चलता है कि वाल्मीकि से पूर्व भी यह आख्यान भारत में प्रचलित था। जो कथा उत्तर भारत में प्रचलित थी, उससे बहुत संभव, रावण का कोई योग-सूत्र नहीं [illegible] और दक्षिण के

कथा-सूत्र के चरितनायक रावण ही थे। ऐसे में यही लगता है कि वाल्मीकि से पहले ही उत्तर-दक्षिण भारत की ये गीति गाथाएँ एक सूत्र में गूँथी गई थीं। इस संबंध में प्रकाश डालनेवाली पुस्तकें कई विभिन्न भाषाओं में निकल चुकी हैं और हिंदी में फादर बुल्के की किताब भी काफी तथ्यपूर्ण है। प्रस्तुत पुस्तक में इसपर जो अध्याय है, वह पठनीय है। चतुर्वेदीजी की स्वाध्याय शीलता के अनुरूप ही यह पुस्तक बड़े काम की है। इसमें तथ्य और तत्त्व का बड़ा ही सुंदर समावेश है।

—हंसकुमार तिवारी

प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास—लेखक—रांगेय राघव, एम० ए० पी-एच० डी०, प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, देहली ६, मूल्य १२)

डिमाई अठपेजी ५१८ पृष्ठों की उपर्युक्त पुस्तक में अतिप्राचीन काल से लेकर मौर्य-काल तक की भारतीय परंपराओं के क्रमबद्ध इतिहास का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गई है। उपसंहार तथा परिशिष्टों के अतिरिक्त पुस्तक में कुल दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्रागैतिहासिक काल पर विवेचन किया गया है, जबकि लेखक के मतानुसार भारत भूमि पर हब्शी और निषाद-जातियों का यत्र-तत्र निवास था। दूसरे अध्याय को आग्नेय युग की संज्ञा दी गई, जबकि यहाँ कोल, मुंडा, खासी आदि आस्ट्रिक जातियों का बोलबाला था। तीसरे अध्याय में द्रविड़-युग पर विवेचन किया गया है और उस युग को पूर्वप्राचीन काल की संज्ञा दी गई है। मोअन-जो-दड़ो के भग्नावशेषों में अवलक्षित सिंधु घाटी की सभ्यता इसी द्रविड़-युग की मानी गई है।

चौथे और पाँचवें अध्याय में प्राचीन भारतीय परंपरा के जिस युग का वर्णन किया गया है, उसे देवयुग की संज्ञा मिली है—किरात-देव असुर युग और देव असुर किरात युग। लेखक के कथनानुसार द्रविड़-युग की समाप्ति के बाद उत्तर भारत में यक्ष, नाग आदि जातियों की सभ्यता विकसित हो चुकी थी और पश्चिमोत्तर सीमा पर देव तथा असुर जातियों के लोग अपनी-अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए परस्पर संघर्ष में व्यस्त थे। पुराणों में वर्णित देवासुर संग्राम को इसी युग की घटना माना गया है। जब देवों ने यक्ष, नाग आदि किरात जातियों की सहायता से असुरों को परास्त किया तब देव जाति के लोगों ने हिमालय की तराइयों में कश्मीर से लेकर असम तक अपने प्रभाव को प्रतिष्ठित कर दिया और जिस काल में ऐसा हुआ उस काल को, लेखक के कथनानुसार, देव असुर-किरात युग की संज्ञा मिलनी चाहिए। इस युग का समय ई० पू० ३५०० तक माना गया है।

६ठे अध्याय में सत्ययुग की घटनाओं का वर्णन है। ई० पू० ३१०० से ई० पू० २७०० के समय को सत्ययुग माना गया है। जो देव-युग में देवता थे, वही सत्ययुग में आर्य कहलाए। देव अर्ध-सभ्य या बर्बर थे और आर्य सभ्य। देव मातृ सत्तात्मक समाज से पितृ-सत्तात्मक समाज की ओर अग्रसर हो रहे थे और आर्य पितृ सत्तात्मक समाज के संस्थापक हुए। देव आदि साम्यवाद को त्यागने की चेष्टा में थे, आर्य आदि साम्यवाद को तिलांजलि देकर दास-प्रथा को अपना चुके थे। देवों और आर्यों में यही भेद बताया गया है, इस पुस्तक में।

शेष चार अध्यायों को क्रमश त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग तथा गण नास्तिक-युग की संज्ञा दी गई है। ई० पू० २७०० से ई० पू० २२०० तक को त्रेतायुग और ई० पू० २२०० से ई० पू० १७०० तक को द्वापरयुग माना गया है। पश्चात् मौर्ययुग तक के काल को दो भागों में विभक्त कर एक को कलियुग तथा एक को गण नास्तिक युग कहा गया है।

पुस्तक में सत्ययुग के पूर्व जो काल विभाजन दरसाया गया है, उसमें ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है। देव-युग एक कल्पनामात्र ही है। हाँ, सत्ययुग, त्रेतायुग तथा द्वापरयुग के काल निर्णय में लेखक ने पर्याप्त परिश्रम किया है। प्राचीन आर्य राजवंशों की जो तालिका पार्जिटर ने दी है, उसीका आधार लेकर यह काल निर्णय किया गया है। यदि लेखक को पं० हरिमंगल मिश्र तथा डा० देवसहाय त्रिवेद की राजवंशों की तालिकाओं को देखने का अवसर मिलता तो संभवत उनका काल विभाजन और भी अधिक स्पष्ट होता। यद्यपि पुस्तक के अंत में १३६ आधार ग्रंथों की एक लंबी तालिका दी गई है तथापि फुटनोटों से पता चलता है कि अधिकांशत पार्जिटर आदि विदेशी लेखकों के अँगरेजी भाषा में लिखे गए ग्रंथों पर ही पुस्तक आधार भूत है। यदि वैदिक तथा संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर इस तरह की पुस्तक प्रस्तुत की जाती तो हमारा विश्वास है कि इसका कुछ और ही रूप रहता।

कम से-कम सांस्कृतिक दृष्टि से। साथ ही, लोक परंपराओं का गंभीर अध्ययन भी पुस्तक की मौलिकता में चार चाँद लगा देता। यों, लोक परंपराओं के संबंध में विदेशी लेखक पर सर्वथा निर्भर रहने के कारण कहीं-कहीं निर्मूल बातें भी प्रस्तुत पुस्तक में आ गई हैं। उदाहरण के लिए, पृष्ठ ६४ में कहा गया है कि 'भागलपुर में गुनुर देवी की पूजा होती है।' लेकिन इस कथन में सत्यता का निपट अभाव है। लोक परंपराओं के मौलिक अध्ययन से 'यक्ष' के संबंध में भी संभवतः लेखक की धारणा बदल जा सकती थी।

जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भारत की प्राचीन संस्कृति तथा समाज के विकास का दिग्दर्शन करने वाला, हिंदी भाषा में यह पहला ही ग्रंथ है। पं० हरिमंगल मिश्र का 'प्राचीन भारत' केवल राजवंशों का क्रमिक इतिहास है। श्री डांगे ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया है, मगर उनकी पुस्तक अँगरेजी में है और उस पर मार्क्सवादी विकासवाद की छाप है। प्रस्तुत पुस्तक यद्यपि विकासवादी दृष्टिकोण से लिखा गया है तथापि इसमें भारतीयता के निर्वाह की भरपूर चेष्टा की गई है। यों तो यह विषय ही ऐसा है, जिसमें विवाद का होना स्वाभाविक ही है। युग का विभाजन ही इसका कम विवादास्पद नहीं है। देव-युग के विवेचन में कल्पनाओं से ही काम लिया गया है।

पुस्तक की भाषा से हमें बड़ी निराशा हुई। यों तो विज्ञान, भूगोल, इतिहास आदि साहित्येतर विषयों के अधिकांश लेखक प्रायः भाषा के विशेषज्ञ नहीं होते और उनकी पुस्तकों में भाषा की अशुद्धियाँ खटकनेवाली होती हैं, लेकिन प्रस्तुत पुस्तक के लेखक में यह बात लागू नहीं होनी चाहिए थी, क्योंकि श्री रांगेय राघव हिंदी भाषा तथा साहित्य के भी विद्वान् माने जाते हैं। फिर भी, पुस्तक में सौ से अधिक ऐसे वाक्य मिलते हैं, जो भाषा की दृष्टि से अशुद्ध कहे जा सकते हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ उन वाक्यों को उद्धृत करना कठिन है। पुस्तक का प्रकाशन भी, जैसा चाहिए, वैसा नहीं हो सका है, कहीं-कहीं प्रूफ की भद्दी भूलें बेतरह खटक उठती हैं। भूमिका के पृष्ठ 'ज' की पहली पंक्ति में छप गया है '...२०० ई० पू० नंदा का समय निकलता है।' २०० ई० पू० की जगह २२०० ई० पू० होना चाहिए। इतिहास में इस तरह की भूलें अक्षम्य हैं। फुटनोटों में भी 'वही-वही' की भरमार पाठकों के दिल में पग-पग पर भ्रम पैदा करती रहती है। गेट अप का फुवड़ापन भी क्षोभ-जनक है। इतने बड़े ग्रंथ का गेट अप मजबूत तथा आकर्षक होना चाहिए था। —सुरेश्वर पाठक

धरती और आकाश—लेखक—श्री जीवनराम अग्रवाल 'जीवन'; प्रकाशक—मानसरोवर, गया, प्राप्तिस्थान—श्री जीवन, धनबाद, पृष्ठ-संख्या ७२, मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक श्री जीवन की कविताओं का संग्रह है। जैसा पुस्तक के नाम से ही जाहिर है कि कवि ने कल्पना और वास्तविकता को ध्यान में रखकर ही इन दर्दभरे गीतों की रचना की है। कवि के शब्दों में—'मेरा भाई मुझसे नाता तोड़कर चला गया—दूर, बहुत दूर।

प्यारा भाई तोड़ रहा दम
नियति - चक्र पर नाच रहा यम
मेरे घर में मातम, तेरे घर में बजती है शहनाई !

...उसी समय से अपने गम को भुलाने के लिए कला की आराधना करता आ रहा हूँ।'

कवि ने जीवन को कविता में उतारने की कोशिश की है। देश की गरीबी, शोषण और उत्पीड़न की व्यथा को कवि ने अपने गीतों में उड़ेलने की कोशिश की है। उसने दिवाली की जगमगाती ज्योति में भूखे नंगे बच्चों को तड़पते देखा है।

नन्ही बिलखाती रोटी को
मुन्ना बिलख रहा है भूखे
मा की छाती में आँधी है
आँखों के सागर हैं सूखे।

इतना ही नहीं, इस पूँजीवादी समाज की घड़ियाली आँसूवाली मनोवृत्ति से भी वह परिचित है।

दुख में देता साथ न कोई
करता सीधी बात न कोई
देख हमारे आँसू, ताली दे-दे सारा जग किलकारे।

कवियों ने जन-जीवन को वाणी देने का प्रयत्न किया है और उसे भाषा भी उसके अनुरूप ही मिली है। पुस्तक सुंदर और पठनीय है।

—राधावल्लभ

संस्मरण

बापू के कदमों में — राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद — ५)

राजनीति

राजनीति-विज्ञान — प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र — ६)
भारतीय संविधान और शासन — प्रो० विमलप्रसाद — ६॥)

नीति-शास्त्र

नीति शास्त्र — श्री क्षेमधारी सिंह — २॥)

नागरिक शास्त्र

प्राथमिक नागरिक शास्त्र — प्रो० दिवाकर झा — ४)

आर्थिक इतिहास

भारत का आर्थिक इतिहास — प्रो० मोतीचन्द गोयल — ३)
इंगलैंड का आर्थिक इतिहास — " — २)

सामान्य विज्ञान

विश्व का विकास — माननीय श्री रामचरित्र सिंह — २॥)
विश्वज्ञान भारती — श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' — १०)

ग्राम्य साहित्य

अन्नपूर्णा के मन्दिर में — श्री शिवपूजन सहाय — १॥)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा — संपादक-मंडल — ॥=)
गाँव स्वर्ग बन सकता है — " — ॥=)
हमें जानना चाहिए — " — ॥=)
किसान और मजदूर — संपादक मंडल — ॥=)
हमारा कर्त्तव्य — " — ।=)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा — " — ॥)
पशुपालन और भारत का पशुधन — " — ॥)
बिहार पंचायत राज और उसके अधिकार — " — ॥)
फल तथा सब्जीसंरक्षण — श्री उमेश्वरप्रसाद वर्मा — १॥)
फलोत्पादन — " — १॥)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना — प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव — २॥)
काव्य और कल्पना — प्रो० रामखेलावन पाण्डेय — ३॥)
निर्गुण काव्यदर्शन — प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी — ५)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ — चित्रकार—श्यामलानन्द — २)

मैथिली-साहित्य

रङ्गर कक्काक तरंग — प्रो० हरिमोहन झा — १॥)

बाल-साहित्य

कहानी

सप्तसोपान — पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी' — ॥)
नवरत्न — " — ॥)
कथा-कहानी — " — ॥)
सोरठ की बातें — " — ॥)
आश्चर्यजनक कहानियाँ — श्री केदारनाथमिश्र 'प्रभात' — १)
मूर्खों की कहानियाँ — " — १)
मनोरंजक कहानियाँ — " — १)
समुद्र के मोती — " — १)
शेर का शिकारी — श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' — ॥)
लहरदार पूँछ — श्रीराधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ॥)
नकली सिंह — " — ॥)
ऊँचे ऊँट — " — ॥)
मर्द और बैंग — " — ॥)
चोर राजा — श्री राधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० — ॥)
वालिम कुमार — श्री शिवस्वरूप वर्मा — ॥)
सीत-वसंत — " — ॥)
हितोपदेश की कहानियाँ — श्री शशिनाथ झा — १॥)
मामाजी — " — ॥)
रूसी जीवन की कहानियाँ — श्री सुरेश्वर पाठक — १॥)
सच में भैंस — सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी — ॥)
जादू की वंशी — श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त — ॥)
जादू का थैला — श्री जगदानन्द झा — ॥)
काजी घोड़ा — " — ॥)
कासिम का चप्पल — " — ॥)
चालाक मुर्गी — " — ॥)
सियार का न्याय — " — ॥)
चाँद का दूत — " — ।=)

दादा का ढोल श्री जगदानन्द झा ।=)
गधे की सूझ " ।=)
समझदार मेढ़क " ।=)
बेटे हों तो ऐसे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ॥।)
बेटियाँ हों तो ऐसी " ॥।)
अनोखा संसार " ॥=)
रोचक कहानियाँ श्री सुरेश्वर पाठक १।)
राजकुमारी का ब्याह श्री दयाभानु 'अलख' १)
अनाखे देश में श्री गिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग' ॥।)
किनक्राग " ॥।)
सोने का कीड़ा " ॥।)
रिप वान विंकिल " ॥।)
जंगल बोलता है " १)
घरौंदा श्री गोविन्दशरण, एम० ए० १॥)

पौराणिक कहानी

उपदेश की कहानियाँ श्री अनूपलाल मण्डल —भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=); भाग, ३ ॥=); भाग, ४ ॥=)
इनके चरण-चिह्नों पर श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ॥।)
माँ के सपूत श्री शिवपूजन सहाय ॥―)

भौगोलिक कहानी

अपना देश श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-।=,भाग २-॥)

चित्रित कहानियाँ

गोल गपोड़े श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' ॥।)
ताक धिनाधिन " ॥।)

चित्रित लोरियाँ

आ री निंदिया श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' ॥।)
हँसी खुशी " ॥।)

ऐतिहासिक कहानी

रत्नाकर श्री शशिनाथ झा १)
अष्टदल (दो भाग) प्रत्येक भाग " ।=)
संक्षिप्त रामायणकथा श्री नागार्जुन १॥)
बाल महाभारत श्री चन्द्रमाराय शर्मा १)
चित्तौड़ का साका श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ॥।)

अमर कथाएँ श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=), भाग, ३ ।=), भाग, ४ ।≡)
हम इनकी संतान हैं श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
दो भाग, प्रत्येक भाग ॥―)

सामान्य ज्ञान

छात्र-जीवन श्री फूलदेवसहाय वर्मा १।)
क्यों और कैसे ? श्री जगदानन्द झा १॥)
प्रकृति पर विजय श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-॥=)
भाग २-॥=)॥

यात्रा-वर्णन

सिन्दबाद की समुद्र-यात्रा श्री जगदानन्द झा १)
पृथ्वी पर विजय श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-॥―)॥
भाग २-॥=)
विचित्र यात्रा श्री तारकेश्वर प्रसाद वर्मा १)

कविता

मिर्च का मजा श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' ॥।)
पेड़ू पाँड़े श्री ब्रजकिशोर 'नारायण' ॥।)
खट्टे हैं अगूर श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' ॥।)
वीर बालक श्री गंगाप्रसाद 'कौशल' १

उपन्यास

आदमी प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ॥
देशद्रोही प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ॥

रेखाचित्र

कुछ सच्चे सपने प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ॥=

जीवनी

चाणक्य श्री मथुराप्रसाद दीक्षित ।=
अशोक श्री वीरेन्द्र नारायण ।=
शिवाजी " ।=
लोकमान्य तिलक श्री शुकदेव राय ॥
लाला लाजपतराय " ॥
हिन्दी के प्राचीन कवि " ॥

Regd. No. P. 784
Annual Subs. Rs. 10/-

AVANTIKA

May 1954
This Issue Rs. 1/-

अवन्तिका के प्रथम वर्ष

को

फाइल मँगाकर लाभ उठायें

१. अवन्तिका के प्रथम वर्ष की फाइल या जिल्दा में हमारे कार्यालय में उपलब्ध है। जिन सज्जनों को अपने पुस्तकालय या संग्रहालय के लिए इन जिल्दों की जरूरत हो वे मनिआर्डर से १२) बारह रुपये भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर ये जिल्दें मँगवा सकते हैं। प्रथम वर्ष की फाइल में जिन लेखकों और कवियों की रचनाएँ आपको पढ़ने के लिए मिलेंगी उनमें से कुछ के नाम ये हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि निराला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

२. अवन्तिका का वार्षिक चंदा १०) दस रुपये, और एक अंक का १) रुपया है।

३. अवन्तिका का वर्षारम्भ जनवरी से होता है।

४. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बना जा सकता है।

५. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

६. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; अन्यथा पत्रोत्तर भेजने में विलंब होगा।

७. नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता।

—प्रकाशक—

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४



अवन्तिका की नियमावली

संपादन-विभाग

१ अवन्तिका प्रतिमास अँगरेजी महीने की पहली तारीख को प्रकाशित हुआ करेगी।

२. अवन्तिका में सार संकलन के अतिरिक्त केवल मौलिक रचनाएँ ही प्रकाशित की जायँगी। अन्यत्र प्रकाशित या रेडियो द्वारा प्रसारित रचनाएँ अवन्तिका में प्रकाशित नहीं की जायँगी।

३. किसी भी रचना को प्रकाशित करने या न करने, उसे घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को रहेगा।

४. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ भेजी गई रचनाएँ दूसरे पत्रों को न भेजी जानी चाहिए।

५. अवन्तिका में साहित्य, संगीत, संस्कृति, राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि विषयों पर उच्चकोटि के लेख प्रकाशित हुआ करेंगे।

६. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ भेजी जानेवाली रचनाओं की प्रतिलिपि लेखकों को अपने पास अवश्य रख लेनी चाहिए।

७. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ कागज के एक ही पृष्ठ पर, यथेष्ट स्थान छोड़कर, साफ साफ लिखी रहनी चाहिए।

८. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ आई हुई रचनाओं के संबंध में निश्चित रूप से यह बताना संभव नहीं है कि कौन रचना किस अंक में प्रकाशित हो सकेगी।

९. अवन्तिका में प्रकाशनार्थ रचनाएँ, परिवर्तनार्थ पत्र-पत्रिकाएँ और आलोचनार्थ पुस्तकों की दो-दो प्रतियाँ संपादक के नाम ३१५, आर० ब्लॉक, पटना के पते पर भेजी जानी चाहिए।

प्रबंध-विभाग

१ अवन्तिका का वार्षिक चन्दा १०) दस रुपए और एक अंक का १) एक रुपया तथा विदेशों के लिए १७ शिलिंग है।

२. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बनाया जाता है।

३ अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

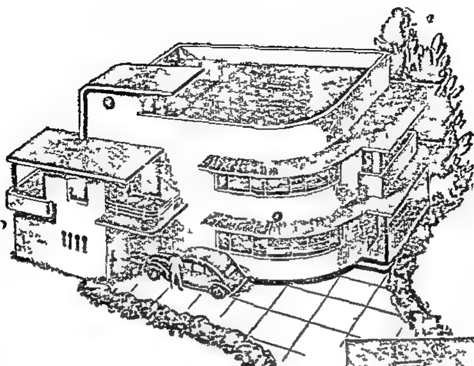
४ कम-से कम ५ प्रतियाँ मँगानेवाले को एजेंट नियुक्त किया जायगा।

५. नमूने का अंक मुफ्त भेजने की प्रथा नहीं है।

—प्रकाशक—

श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४

मुद्रक —श्रीदेवेश्वर लाल, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड,




आप नहीं जान सकते
कि आप क्या खो रहे हैं जब तक
आप यह सिगरेट न पीयें।
तीन पीढ़ियों से मशहूर

वार्षिक
१०)

एक प्रति
१)

अवन्तिका

[विविध विषय विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

विदेश के लिए सोलह शिलिंग

जम्मू कश्मीर, सौराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश, पसू तथा बिहार की सरकारों द्वारा कॉलेजों, स्कूलों एवं पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

विदेश के लिए डेढ़ शिलिंग

विषय सूची : जून, १९५४



[विविध विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका]

संपादक : लक्ष्मीनारायण सुधांशु

वर्ष २ : खंड १] पटना, जून १९५४ ई० :: ज्येष्ठ, २०११ वि० [अंक ६ : पूर्णांक १८

संपादकीय

१. साहित्यकार-संसद् की गति-विधि

पिछले कुछ दिनों में प्रयाग-स्थित साहित्यकार संसद् की गति-विधि के संबंध में कई वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं। इसमें संदेह नहीं कि जिस पुनीत उद्देश्य को लेकर हिंदी की यशस्विनी कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने संसद् की स्थापना की उसका पालन विधिपूर्वक नहीं किया जा रहा है। इसके साथ ही यह भी सच है कि हिंदी के साहित्यिकों के हृदय में संसद् के प्रति कोई आकर्षण पैदा नहीं हो सका। इस बात पर बराबर आपत्ति प्रकट की गई कि साहित्यिकों के एक दल विशेष को ही संसद् का आशीर्वाद प्राप्त है। संसद् की अंतरंग व्यवस्था की पूरी जानकारी हमें नहीं है, किंतु उसके बारे में समाचारपत्रों में जितनी बातें प्रकाशित हुई हैं वे अनायास ही हमारे ध्यान को आकर्षित करती हैं। संसद् की व्यवस्था समुचित रीति से नहीं की जा रही है, ऐसी हमारी धारणा है। श्री किशोरीदास वाजपेयी जी ने इधर संसद् के संबंध में 'साहित्यिक छीछालेदार' शीर्षक से जो वक्तव्य प्रकाशित किया है उसका कुछ अंश हम उद्धृत करते हैं—

'साहित्यकार-संसद्—यह संस्था दो-चार सज्जनों ने किसी विशेष उद्देश्य से खड़ी की है और साहित्यकारों के नाम से पैसा इकट्ठा किया जाता है। जनतंत्रीय पद्धति का नाम नहीं। मालूम नहीं, संस्था का संगठन किस विधि से हुआ और रुपया कहाँ कैसे जाता है! केवल 'निराला' जी का लेकर ही बतंगड़ बढ़ रहा है! ऐसा जान पड़ता है कि 'निराला' जी के अतिरिक्त और कोई साधक साहित्य के क्षेत्र में है ही नहीं, जो कि संकट में पड़ा दिन काट रहा हो! नाम छिपाने की जरूरत क्या है! सरकार कभी न कहेगी कि तुम उन साहित्यकारों के नाम छिपाओ जिनकी सेवा की जाय। तुम उस सेवा को 'सहायता' या 'मदद' कहते क्यों हो? वैसे साधकों का 'समान' करो। वह 'सहायता' नहीं, समान है। प्रतिवर्ष दस पाँच या दो-चार, जितने साहित्यिकों का समान 'पत्र पुष्प' द्वारा करना हो, खूब गा बजाकर, एक विशेष उत्सव में करो। दयनीयता मत प्रकट करो। क्या 'संसद्' बताएगी कि किन साहित्यकारों का समान अबतक उसने किया है? 'संकटग्रस्त' की जगह 'तपस्याजर्जर' कहिए, किस-किस तपस्वी का समान हुआ है?

'यह ठीक है कि 'निराला' जी की सेवा सुश्रूषा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए, परंतु इसके साथ ही उन

साहित्य साधकों की उपेक्षा न कर देनी चाहिए जिन्होंने रंगीला जीवन न बिताकर साहित्य के किसी क्षेत्र में सफल तपस्या की है जो शराब पी पीकर कभी पागल ना नहीं हुए हैं पर चिंतन और चिंता में झुलसते हुए साहित्यिक मठों के द्वारा प्रदत्त तिरस्कार—गरल पीकर भी जो अमर हैं ऐसे साहित्यकार अपना 'दल' नहीं बनाते कि लोग विज्ञापन करें । ऐसे लौहमग्रही साधक कबीर की परंपरा अपनाए हुए स्त्री-बच्चों को रोटी कमाकर देते हैं, पृथक् मजदूरी करके ! और फिर लोक को साहित्य रस देते हैं ! वे अपनी औरत को घर से निकाल कर औरों के साथ विहार नहीं करते, एक के जीते जी दूसरी नहीं रख लेते । वे साधक द्विवेदीजी की तरह अपनी ग्रामीण पत्नी को भी लक्ष्मी समझते हैं और इसलिए लक्ष्मी इनसे चिढ़ी रहती है । ऐसे साधक हैं, जिन्होंने हिंदी का वह काम किया है कि जो आजतक बड़ी बड़ी संस्थाओं से भी न हो सका ! और ऐसे साधक अपने बच्चों को सूखी रोटी देने के लिए भी चिंतित हैं ! इन्हें कोई पूछता नहीं ! क्या मैं 'संसद्' से तथा महादेवी जी से पूछ सकता हूँ कि साहित्यकार' के माने केवल 'कवि' है क्या ? और 'कवि' के माने भी किसी वाद विशेष के ही कवि हैं क्या ? और 'वाद विशेष के कवि' जनों का प्रतिनिधित्व भी क्या एक ही व्यक्ति पर निर्भर है ? कवि ही 'संसद्' के अधिकारी, वे ही उपभोक्ता, वे ही विधान-सभा के तथा संसद् के सदस्य, सब कुछ वे ही । फिर, कठोर गंभीर साहित्य का निर्माण कौन करे ? क्यों करे ? इसकी जरूरत नहीं क्या ? तब फिर क्यों लेक्चर फटकारा जाता है कि गंभीर साहित्य बनना चाहिए।'

वाजपेयी जी ने संसद् के संबंध में तथ्य रूप से जो कुछ कहा है उससे हमारा मतभेद नहीं, किंतु उनके कहने का ढंग बहुत तीखा और कड़ुआ है। कहीं-कहीं आवेश में आकर उन्होंने शालीनता का भी अतिक्रमण कर दिया है। इस प्रकार से किसी समस्या का समाधान संभव नहीं है। वाद-विवाद को वितंडावाद के स्तर पर ले जाना वाजपेयी जी के लिए शोभनीय नहीं माना जा सकता। वाजपेयी जी हिंदी के एक विद्वान् तथा सम्मान्य साहित्यिक हैं और जहाँ तक हमारा परिचय है, हम जानते हैं कि वाजपेयी जी के हृदय में अपने अर्थ दुर्बल सहयोगी साहित्यिकों के लिए दर्द है और वे चाहते हैं और उचित ही है कि सरकार या जनता से साहित्यिकों के नाम पर धन प्राप्त हो उससे अभावग्रस्त सभी साहित्यिकों का समान भाव से सम्मान किया जाय। जहाँ तक वाजपेयी जी के इस विचार के समर्थन का प्रश्न है, हम समझते हैं, इससे शायद किसी को मतभेद नहीं होना चाहिए। किंतु हमें इस बात से दुख है कि वाजपेयी जी ने अपने व्यंग्यपूर्ण वक्तव्य में निरालाजी तथा महादेवी जी के संबंध में सज्जनोचित व्यवहार नहीं किया। इसकी प्रतिक्रिया हमें समाधान की ओर नहीं ले जा सकती। यदि साहित्यकार-संसद् की व्यवस्था ठीक नहीं है तो उसके लिए रचनात्मक सुझाव उपस्थित करना चाहिए और उसकी गलतियों की ओर संस्था की संचालिका का ध्यान आकर्षित कर सुधार के उपाय बताने चाहिए। वाजपेयी जी ने अपने क्षुब्ध हृदय पर विजय पाने की शायद चेष्टा नहीं की। हम वाजपेयी जी से ऐसी उमीद रखते हैं कि वे साहित्यकार संसद् में आवश्यक सुधार के लिए साहित्यिकों के सम्मुख अपने विचार रखें। यदि साहित्यकार संसद् वस्तुतः साहित्यिकों की सार्वजनिक संस्था है तो उनके विचारों से संस्था को अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

महादेवीजी ने साहित्यकार-संसद् की स्थापना सन् १९४५ ई० की वसंत-पंचमी के दिन की और उसके विज्ञापित उद्देश्यों में हिंदी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यकारों में संपर्क और सहयोग की स्थापना, उनके हितों की रक्षा, साहित्यग्रंथों का प्रकाशन, साहित्यकारों के एकत्र होने के लिए एक साहित्य कला-केंद्र की स्थापना, कापीराइट एक्ट संबंधी नियमों में संशोधन की माँग, अशक्त साहित्यकारों की सहायता की व्यवस्था आदि मुख्य विषय रखे गए। संसद् की ओर से इलाहाबाद में गंगातट पर एक साहित्यिक कला केंद्र स्थापित किया गया, जिसमें साहित्यकारों के ठहरने और सम्मेलन आदि की व्यवस्था है। सन् १९५१ ई० में २० फरवरी को राष्ट्रपति राजेंद्रप्रसाद जी द्वारा उक्त केंद्र का उद्घाटन समारोह भी संपन्न किया गया। ये सब काम एक उचित दिशा में अच्छे उद्देश्य को सम्मुख रखकर किए गए हैं। महादेवीजी ने साहित्यकार संसद् को प्रतिष्ठित करने में काफी अध्यवसाय से काम किया है जिसकी हम प्रशंसा करते हैं। हमें खेद इस बात का है कि जिस संस्था को प्रतिष्ठित करने में महादेवी जी ने इतना परिश्रम किया उसकी प्रतिष्ठा साहित्यिकों के बीच में नहीं हो सकी। इसका कारण चाहे जो कुछ हो, सबसे पहले हमारी दृष्टि महादेवी जी पर ही पड़ती है और हम ...र ही कहना चाहते हैं कि

साहित्यकार संसद् को यदि वे एक जीवित तथा सर्वप्रिय संस्था के रूप में *संचालित करना चाहती हैं तो* उन्हें अपनी कार्य प्रणाली में परिवर्त्तन करना पड़ेगा। जो संस्था साहित्यिकों की सेवा के लिए ही स्थापित की गई हो और *उस संस्था से अधिकांश साहित्यिकों का* विरोध हो तो मानना पड़ेगा कि मूल में ही कहीं गलती है जिसका सुधार, संस्था के विकास तथा उपयोग की दृष्टि से, बहुत *आवश्यक है।*

निराला जी की अस्वस्थता या कुछ लोगों के विचार के अनुसार, उनकी 'रक्षाहीनता' के कारण इस संबंध में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गई है। निरालाजी के स्वास्थ्य को सुधारने के लिए और उनकी आर्थिक सहायता के लिए सरकार तथा हिंदी-प्रेमी जनता से कई बार अपील की जा चुकी है। *इसका परिणाम बहुत संतोषजनक* नहीं हुआ। जिन लोगों ने निरालाजी की आर्थिक सहायता करने के बारे में लिखा उन्होंने 'महामानव' निरालाजी के *रगढंग का ऐसा अद्भुत वर्णन उपस्थित किया जिससे उनके* प्रति सहानुभूति के बदले विशेषतः आश्चर्य ही हुआ। निरालाजी को पैसे की कोई ममता नहीं है, वे किसी से *कुछ माँगना पसंद नहीं करते, जब जो कुछ कहीं से उन्हें* प्राप्त होता है तब वे किसी को दान कर देते हैं। जाड़े में ठिठुरते देख कर किसी सज्जन ने उन्हें एक रजाई दी तो उन्होंने झट उसे दूसरे को दान कर दिया। जब कभी कोई उनसे मिलने आया तब पड़ोस के हलवाई की दुकानों से वे अतिथियों का सत्कार करते। रूपया हाथ में आते ही जो हलवाई अपना जितना बाकी बताता उससे अधिक ही उसे मिलता। किसी ने उनकी सेवा के लिए नौकर रखवा दिया तो वे *उस नौकर को* रिक्शा पर चढ़ाकर उसके अपने मालिक के घर पहुँचा आते। यह स्थिति साधारण नहीं मानी जा सकती। निरालाजी के प्रति *उचित सम्मान का भाव रखते हुए हमें यह बाध्य होकर* कहना पड़ता है कि उन्हें आर्थिक सहायता की कोई आवश्यकता नहीं, उनकी देखभाल के लिए ही किसी की जरूरत महसूस की जा सकती है। *स्वयं* महादेवीजी ने निरालाजी के संबंध में जो वक्तव्य दिया है उसके कुछ अंशों को हम पाठकों की जानकारी के लिए उद्धृत करते हैं—

'*वाणी के वरद पुत्र श्री निरालाजी का जीवन हिंदी जगत की मूल्यवान् धरोहर है, अतः उसके संबंध में सबकी* चिंता स्वाभाविक ही कही जायगी, परंतु स्नेह मधुर चिंता का वैयक्तिक विवाद में परिणत हो जाना न किसी पक्ष के लिए श्रेय है न प्रेय, विशेषतः अशोभन और अनर्गल अभि-*योग जिस वातावरण की सृष्टि करते हैं उसमें* साधारण साहित्यकार भी अस्त-व्यस्त हो उठे तो आश्चर्य नहीं। निरालाजी तो असाधारण संवेदनाशील साहित्य साधक हैं, कहीं हमारे विवादों का मूल्य उन्हें अपने मानसिक स्वास्थ्य से न चुकाना पड़े, इसी आशंका ने मुझे मौन रहने पर बाध्य किया था। सरकारी सहायता के संबंध में गोपनीयता का आदेश भी एक कारण था।

'जिस युग में हम सब साहित्य-क्षेत्र में आए वह स्नेह और विश्वास को ही संघर्ष पथ का संबल मानता था। हम सभी परस्पर ऐसे कोमल मानवीय संबंधों में बँधे हुए हैं जो दुर्भाव की आँच में झुलस जाते हैं।

'निरालाजी मेरे निकट अग्रज से कम नहीं रहे हैं। सन् '४२ में जब उनका स्वास्थ्य चिंताजनक होने लगा तब मैंने ही हिंदी जगत का ध्यान उस ओर आकर्षित किया *था। लेखक के लिए आर्थिक सुविधा की चर्चा भी* उसी संबंध में आरंभ हुई थी जिसका अनेक लेखकों ने उस समय स्वागत नहीं किया, पर आज तो अर्थ ऐसा देवता बन गया है जिसके निकट जीवन के संस्कार और मूल्य चढ़ाकर निःस्व होने में भी हम नहीं हिचकते।

'निराला जी की चिकित्सा की अच्छी व्यवस्था हो, उनको मानसिक शांति के अनुकूल वातावरण मिले, [illegible] *संबंध में दो मत नहीं हो सकते। साधन भी दोहरे हैं,* एक आर्थिक और दूसरा स्नेह सेवा का वातावरण।

निरालाजी की अर्थव्यवस्था और साहित्यकार संसद् को लेकर अनेक प्रकार के भ्रम फैलाए जा रहे हैं। मैं सन् '४२ से ४६ तक की चर्चा नहीं करूँगी जब निरालाजी अधिक अस्वस्थ थे और कहीं से कोई आय न थी, तब जो सेवा बन पड़ी वह आत्म विज्ञापन में अपनी *पवित्रता खो देगी।*'

भविष्य में निरालाजी के लिए अर्थ-व्यवस्था तथा उनकी सेवा शुश्रूषा के लिए क्या प्रबंध होना चाहिए, इसके बारे में महादेवीजी ने अपना जो विचार प्रकट किया है वह, हमारी समझ में, बहुत उचित तथा मर्यादा-पूर्ण है। लिखा है—

'साहित्यकार संसद् किसी साहित्यकार के नाम पर दान या चंदा माँगना साहित्यकार का अपमान समझती है। निरालाजी के लिए ऐसा *कार्य न हमने किया है, न* करने का विचार है।

'अब भविष्य में निरालाजी की चिकित्सा के साधन निम्न हैं—

'उत्तरप्रदेश-सरकार से १००) रुपया प्रतिमास मिलने का आश्वासन प्राप्त हो चुका है। भारत-सरकार ने भी १००) रुपया प्रतिमास देने का आश्वासन दिया है।

'इसके अतिरिक्त प्रकाशकों से भी निरालाजी को पुस्तकों की रायल्टी समय-समय पर प्राप्त होती रहेगी।

'वैधानिक स्थिति यह है कि निरालाजी को अपनी रॉयल्टी तथा अन्य धन का स्वामित्व प्राप्त है, उनकी स्वीकृति के अभाव में उनके अर्थ की व्यवस्था कठिन होगी, पर उनके पुत्र चि० रामकृष्ण किसी सीमा तक इसमें सहायक हो सकते हैं। अब तक मेरा या साहित्यकार-संसद् का कार्य डाकघर के समान था जिसे एक की प्रेषित वस्तु दूसरे तक पहुँचाना रहता है।

'अब मैंने इस अप्रिय कर्त्तव्य का निर्वाह न करने का निर्णय किया है, अतः दूसरी व्यवस्था की आवश्यकता होगी।

'रही स्नेह-सेवा-संबंधी कठिनाई सो उसका निर्णय धनागमन से नहीं हो सकेगा।

'व्यक्तिगत भृत्य रखना निरालाजी के सिद्धान्त के विरुद्ध है। मैंने अनेक बार उनकी सेवा के लिए नौकर नियुक्त किए, पर निरालाजी उन्हें सिरों पर घुमाकर वहीं छोड़ गए। मेरे विचार में सरकारी, अर्द्धसरकारी समिति भी वातावरण न बदल सकेगी। सम्भावना यही है कि निरालाजी अधिक उत्तेजित हो उठें। दूर रहकर ही ऐसी समिति अर्थ की व्यवस्था कर सके तो अच्छा है।

सेवा का भार चि० रामकृष्ण ग्रहण करें तो निराला जी के भक्त और शुभेच्छु अधिक आश्वस्त हो सकेंगे। सबके प्रति असीम उदार और ममतामय निरालाजी अपने आत्मज के प्रति स्नेहशील हों, या अपने पौत्र पौत्री के लिए मूर्त आशीर्वाद हों तो अस्वाभाविक न कहा जायगा। उन्हें मन से स्वस्थ रखने के लिए स्नेह के कोमल रेशमी तन्तु ही समर्थ हैं, ऐसा मेरा अनुभव है। हमारे हाथ में निराला का सम्मान सुरक्षित रह सके, ऐसी इच्छा स्वाभाविक है।'

महादेवीजी के उपर्युक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि निराला जी के लिए धन-संग्रह की आवश्यकता नहीं। सरकार से जो सहायता मिलने वाली है और निराला जी की अपनी पुस्तकों की रायल्टी में जो रकम मिलेगी वह उनके लिए पर्याप्त है।

निराला जी के अतिरिक्त संसद् के आय व्यय के संबंध में भी बार-बार चर्चा उठाई गई है। बड़ी प्रतीक्षा के बाद महादेवीजी ने फरवरी १९५५ ई० में मार्च १९५३ ई० तक का आय-व्यय, ऑडिटर की टिप्पणी के साथ प्रकाशित कर दिया है। सार्वजनिक संस्था का आय व्यय, वार्षिक विवरण के साथ, प्रतिवर्ष नियमानुसार प्रकाशित होना चाहिए। सात-आठ वर्षों के आय-व्यय को, एक साथ संक्षिप्त रूप में प्रकाशित करना, उचित नहीं माना जा सकता। इसमें गलतफहमियों के लिए बड़ी गुंजाइश रहती है। इस अवधि की आय में १,३८,६७८-८-९ एक लाख अड़तीस हजार नौ सौ अठहत्तर रुपया आठ आना नौ पाई है और व्यय में १,७५,८२१-३-५ एक लाख पचहत्तर हजार आठ सौ इक्कीस रुपया तीन आना पाँच पाई है। इस प्रकार इस अवधि में आय से ३६,८४२-१०-८ छत्तीस हजार आठ सौ बयालीस रुपया दस आना आठ पाई अधिक व्यय हुआ है। इतनी बड़ी रकम कहाँ से आई, किसका बाकी है या किससे ऋण लिया गया, इसका कोई उल्लेख न तो प्रकाशित आय-व्यय में है और न 'चार्टर्ड एकाउटेंट्स' की टिप्पणी में। यदि संसद् की प्रधान मन्त्रिणी महादेवीजी ने इतनी रकम अपनी ओर से खर्च की है तो उसका उल्लेख हिसाब में रहना चाहिए। सात-आठ वर्षों की अवधि में लेखक-सहायता-निधि में कुल १७,४३१-१४-० सत्रह हजार चार सौ इकतीस रुपया चौदह आना खर्च हुआ है। यह रकम बहुत थोड़ी है, किन्तु आय के मद में इसका उल्लेख नहीं है कि इस निधि की राशि कितनी है।

आय-व्यय का जो विवरण प्रकाशित किया गया है वह बिलकुल संतोषजनक नहीं है। मालूम पड़ता है कि बार बार के आक्षेपों से ऊबकर संसद् की प्रधान मंत्रिणी महादेवी जी ने 'जी० पी० जायसवाल एंड कंपनी, चार्टर्ड एकाउटेंट्स' को अपना कानूनी साक्षी बनाकर आठ वर्षों के आय व्यय को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रकाशित कर दिया है। ऐसा नहीं होना चाहिए। साहित्यकार-संसद् महादेवीजी की साधना की संस्था है। उसके प्रति हमारा ममत्व स्वाभाविक है, किंतु जिस संस्था को वे सार्वजनिक प्रतिष्ठा देना चाहती हैं उसके लिए उनका कार्य-कलाप, हिसाब-किताब भी व्यावहारिक तथा सार्वजनिक होना चाहिए, इससे हमें संतोष होगा।

२. श्री फजलुल हक और पाकिस्तान

पूर्वी पाकिस्तान के पिछले सार्वजनिक चुनाव में मुस्लिम लीग की करारी हार के कारण जो परिस्थिति उत्पन्न हुई उसने केंद्रीय पाकिस्तान सरकार की परेशानी बहुत अधिक

बढ़ गई है। हक-सुहरावर्दी के संयुक्त मोर्चे ने मुस्लिम लीग की मिट्टी पलीद कर दी। केंद्रीय पाकिस्तान-सरकार के प्रधान मंत्री श्री मोहम्मद अली के समुख 'साँप छुछुंदर' की समस्या उठ खड़ी हो गई है। पूर्वी पाकिस्तान की ओर से हक ने राज्याधिकार के संबंध में स्पष्ट रूप से कहा है कि केंद्रीय सरकार के साथ पूर्वी पाकिस्तान का संबंध केवल प्रतिरक्षा, मुद्रा तथा परराष्ट्र का ही रहेगा। पूर्वी पाकिस्तान स्वायत्त शासित इकाई के रूप में ही केंद्रीय पाकिस्तान के साथ जुड़ा रह सकता है। अंतरंग व्यवस्था में पूर्वी पाकिस्तान को पूरी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। इसमें यदि कुछ विरोध होगा तो पूर्वी पाकिस्तान संघर्ष के लिए तैयार है।

ता० ३ अप्रैल को श्री फजलुल हक ने ८२ वर्ष की अवस्था में पूर्वी पाकिस्तान सरकार के मुख्य मंत्रित्व का शपथ ग्रहण बँगला भाषा में किया। राज्यभाषा तथा राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर पाकिस्तान के दोनों क्षेत्रों में बहुत द्वंद्व चल रहा है। अभी हाल में पाकिस्तान की संविधान सभा ने उर्दू और बंगला दोनों को पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा स्वीकृत कर लिया है, किंतु इसके बाद भी समस्या सुलझी नहीं है। कायदे आजम जिन्ना ने ढाका की एक सार्वजनिक सभा में स्पष्ट रूप से कह दिया था कि पाकिस्तान की एक मात्र भाषा उर्दू होगी। सभा में इसका विरोध हुआ और इस कारण जिन्ना ने उस समय इस प्रश्न पर अधिक जोर नहीं दिया। पर उर्दू को पाकिस्तान की एक मात्र भाषा बनाने के लिए प्रयत्न शिथिल नहीं किए गए। बँगाला को फारसी लिपि में लिखने की कोशिश की गई। उसमें अरबी फारसी के शब्द ठूँसे जाने लगे। बँगला के समर्थकों को पाकिस्तान का दुश्मन और भारत का एजेंट कहा गया। बँगला के समर्थक दैनिक पत्र—पाकिस्तान आबजर्वर—पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इतना होने पर भी पूर्वी पाकिस्तान ने अपनी बँगला भाषा के स्वाभाविक मोह का त्याग नहीं किया। २१ फरवरी १९५२ ई० को ढाका में भाषा के प्रश्न को लेकर बड़ा संघर्ष हुआ। बहुत उपद्रव हुए। हजारों की संख्या में बँगला भाषा के समर्थकों को नजरबंद किया गया, जेल की सजा दी गई, कुछ शहीद भी हुए। इसका परिणाम वही हुआ जो दमन की प्रतिक्रिया से होता है, पूर्वी पाकिस्तान का प्रायः सारा शिक्षित समाज उर्दू भाषा को लादनेवाली मुस्लिम लीगी सरकार का विरोधी हो गया। हक-सुहरावर्दी के संयुक्त मोर्चे को विगत चुनाव में इससे अत्यधिक राजनैतिक लाभ हुआ। तत्कालीन मुख्य मंत्री हक ने, २१ फरवरी १९५२ ई० की स्मृति में, २१ फरवरी को, प्रति वर्ष के लिए, सार्वजनिक छुट्टी घोषित कर दी थी। 'पाकिस्तान आबजर्वर' पर लगे हुए प्रतिबंध को उठा लिया था। बँगला भाषा के समर्थकों में जो नजरबंद थे या जेलों में सजा भुगत रहे थे उनको रिहा कर दिया गया था और अब उनकी क्षति-पूर्ति की व्यवस्था भी पूर्वी पाकिस्तान-सरकार की ओर से की जा रही थी।

बँगला-उर्दू का विवाद अबतक समाप्त नहीं हुआ है। यह एक संयोग की बात हुई कि जिस दिन हक-मंत्रिमंडल के दस नए मंत्रियों ने बँगला भाषा में शपथ ग्रहण किया ठीक उसी दिन नारायणगंज के निकट आदमजी जूट मिल्स के मजदूरों में भीषण हृदयद्रावक हत्याकांड हो गया। उसके समाचार के लिए हम 'आज' के संवाददाता के पत्र को ही उद्धृत करना उचित समझते हैं—

> पूर्वी पाकिस्तान की सीमा से, २० मई। गत १५ मई को प्रातः १० बजे पाकिस्तान के इतिहास में प्रांतीयता के दानव ने जैसा नंगा नाच दिखाया, वैसा आजतक कभी देखने को नहीं मिला था। बँगला भाषाभाषी और उर्दू-वालों ने एक दूसरे पर इस बेरहमी से छुरे चलाए कि दुनिया से इंसानियत कूच करती दिखायी पड़ी। नारायणगंज से ५ मील दूर स्थित आदमजी जूट मिल्स के मजदूरों में यह दंगा यद्यपि शनिवार को हुआ तथापि उनमें कई सप्ताह पहले से ही तनावनी दृष्टिगोचर हो रही थी। बिहारी और पंजाबी मजदूरों के प्रति बंगाली मजदूरों में घृणा तथा असंतोष तो था ही, स्वार्थवश लोगों ने इस आग को भड़का-कर अपना उल्लू सीधा करना चाहा। किंतु उनके इस प्रयास से जो भीषण कत्लेआम हुआ उससे वे स्वयं घबड़ा गए हैं। आग को हवा देकर भड़कानेवाले भी यह न समझ सके थे कि इतना खूँख्वार दंगा हो जायगा। इस दंगे में कितने आदमी मारे गये, यह बताना आसान नहीं है। फिर भी जब ढाका का दैनिक

'पाकिस्तान आबजर्वर' समाचार देता है कि ५०० लाशें मिलीं, तब यह मान लेना पड़ता है कि मृत व्यक्तियों की संख्या इससे कहीं अधिक है। मिलवालों ने लाशें जलाई हैं और वजनदार चीजों के साथ कितनी ही लाशें नदी तथा तालाबों में भी फेंकी गई हैं। इसलिए लोगों का यह अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता कि दंगे में मारे गए आदमियों की संख्या १००० से अधिक है। जूट के एक दलाल ने घटनास्थल से कलकत्ता आने पर बताया कि—

'दंगा कितना खूँखार रहा, यह इसीसे मालूम होता है कि घायलों की संख्या मरनेवालों से बहुत कम रही। मासूम बच्चों के ऊपर भी रहम नहीं किया गया। स्त्रियों को बेपर्द कर मारा गया और हर जगह शैतानियत अपनी गन्दी-से-गंदी सूरत में मौजूद थी। एक जगह एक तीन वर्ष की बच्ची का गला मरोड़ दिया गया है, तो दूसरी जगह एक दस वर्ष के खूबसूरत बच्चे के पेट को तेज छूरे से फाड़ दिया गया है। हताहतों में बंगालियों की संख्या ही अधिक है।'

उपर्युक्त समाचार पर टिप्पणी करना व्यर्थ है। इस दंगे के बारे में तरह-तरह के दूसरे कारण भी बताए जाते हैं, किंतु इतना स्पष्ट है कि यह झगड़ा बंगाली (पूर्वी बंगाली) और गैर बंगाली के बीच हुआ। आदमजी जूट मिल्स के अधिकारियों के पास जो बंदूकें थीं उनका काफी उपयोग इस दंगे में किया गया। सौ से अधिक व्यक्ति बंदूकों की गोलियों से हताहत हुए हैं। इस पागलपन के लिए किसको जिम्मेवार ठहराया जाय!

श्रीफजलुल हक की नीति सदैव परिवर्तनशील रही है जैसा कि साधारणत, राजनीतिज्ञों की हुआ करती है। हक मुस्लिम लीग के दरवाजे से आए-गए मुस्लिम नेता हैं। जिन्ना के दिवंगत होने के बाद उनके अनुयायियों में मुगल बादशाहों की तरह अनवरत महत्त्वाकांक्षा जगी जिसके कारण पारस्परिक एकता नष्ट हुई। एक दूसरे के कंधे पर जबरदस्ती चढ़े उतरे, गोली के घाट तक उतारे गए। हक के बारे में, पिछले चुनाव के समय, 'कायदे आजम' जिन्ना की बहन 'मदर-ए मिल्लत' फातिमा ने मैमनसिंह जिले के एक छोटे से रेलवे स्टेशन पर एक छात्र के यह पूछने पर कि यदि फजलुलहक को अधिकार मिलेगा तो क्या वह पाकिस्तान को नष्ट कर देगा, जो उत्तर दिया उसकी सत्यता प्रकट है। फातिमा ने कहा—

'यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि फजलुल हक ने पाकिस्तान न बनने देने के लिए अपनी ओर से भरसक कोशिश की। हक-सुहरावर्दी जिन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं उनकी विजय का अर्थ है उन शक्तियों को अपनी कार्रवाई के लिए खुलकर मौका देना जो पूर्वी पाकिस्तान का अंत कर इसको पश्चिम बंगाल से मिलाने के पक्ष में हैं।'

'मदर ए-मिल्लत' फातिमा ने पहले कुछ दिन बात कही थी उसको अभी हाल में, फजलुल हक कलकत्ते के एक स्वागत समारोह में चरितार्थ कर दिखाया इस समाचार के लिए साप्ताहिक 'योगी' की एक कतरन हम अपने पाठकों के अवलोकनार्थ उपस्थित करते हैं—

'पूर्व बंगाल के मुख्य मंत्री ए० के० फजलुल हक चिकित्सा कराने के लिए कलकत्ता आये हैं। पश्चिमी बंगाल के अधिकारियों से मिलकर दोनों बंगाल में आवागमन और पारस्परिक संबंध को सुधारने के लिए वे प्रयत्नशील हैं। कलकत्ते में अपने सम्मान में किए गए आयोजन में भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि वे भारत के विभाजन में विश्वास नहीं करते तथा अखंड भारत आज भी एक देश के रूप में अपनी सम्पूर्णता के साथ विद्यमान है।

'श्री शरच्चन्द्र वसु तथा नेताजी के साथ अपने संपर्क की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा 'मुझे भारत के इन दो सपूतों की निःस्वार्थ देश-सेवा से प्रेरणा प्राप्त हुई है। हमलोगों का उद्देश्य एक है और हम उसी ओर बढ़ रहे हैं। जब हमारा उद्देश्य एक है तब यह कहना व्यर्थ है कि मैं बंगाली हूँ, कोई बिहारी है, कोई पाकिस्तानी और कोई और कुछ है। जिन लोगों ने भारत का विभाजन कराया, उन्हें मैं भारत का शत्रु मानता हूँ। सच्ची बात तो यह

है कि पाकिस्तान का कुछ अर्थ नहीं है। यह लोगों को भ्रम में डालने का बहाना है।'

फजलुल हक ने अपने जीवन के पिछले संस्मरणों को याद कर भावावेश में जो कुछ कह दिया उसका, कुछ देर के बाद, प्रतिकार भी किया। हक ने होश में आकर फिर कहा—

'देश का विभाजन अब विचार की बात नहीं रही, यह एक घटना हो गई जिसे हर आदमी जानता है। मैं निश्चय ही किसी मुस्लिम लीगी से एक अच्छा पाकिस्तानी हूँ।'

हक के मुँह से पहले जो बात निकली पाकिस्तान में उसकी बड़ी बुरी प्रतिक्रिया हुई। केंद्रीय पाकिस्तान के मुस्लिमलीगी शासक क्रोध से तिलमिला उठे। मई के अंतिम दिनों में अभी अपने मंत्रिमंडल के कुछ सहयोगियों के साथ हक ने केंद्रीय पाकिस्तान सरकार के प्रधान मंत्री श्री मोहम्मद अली तथा उनके साथियों के साथ जो बातचीत की वह सौहार्दपूर्ण नहीं हुई। उसमें बड़ी कटुता आई। एक बार उत्तेजित होकर हकने अली से कह दिया—

'प्रत्येक बार जब हम आपसे मिलते हैं तब आप हमारे देश प्रेम में संदेह करते हैं। यदि आप ऐसा ही करते रहेंगे तो आपके साथ बातें करना व्यर्थ है।'

पाकिस्तान के गवर्नर जेनरल गुलाम मोहम्मद और प्रधान मंत्री मोहम्मद अली ने वस्तुत यह समझ लिया कि पूर्वी पाकिस्तान के मुख्य मंत्री फजलुल हक के साथ बातें करना व्यर्थ है। गवर्नर जेनरल ने पाकिस्तान के अस्थायी संविधान के अनुच्छेद ९२ (क) के अनुसार हक मंत्रिमंडल को भंगकर गवर्नर के शासन को परिचालित करने की घोषणा की और चौधरी खलिकुज्जमा के स्थान पर पाकिस्तान के प्रतिरक्षा सचिव मेजर जेनरल इस्कंदर मिर्जा को पूर्वी पाकिस्तान का गवर्नर नियुक्त किया। फजलुल हक ढाका वापस आकर अपने घर में एक प्रकार से मिलिटरी के पहरे में नजरबंद हुए। राज्य भर में हक मंत्रिमंडल के प्रमुख समर्थकों की गिरफ्तारियाँ हुईं। प्रमुख नगरों में मिलिटरी तथा पुलिस के मिल जुले सशस्त्र सैनिकों के पहरे बैठा दिए गए हैं। इतना करते हुए पाकिस्तान के प्रधान मंत्री मोहम्मद अली ने रेडियो पर अपने राष्ट्र के नाम संदेश देते हुए अपने लंबे भाषण में जो कुछ कहा वह उनके भाषण के अंतिम अंश से स्पष्ट है।

'मैं श्री फजलुल हक और उनके बहुतेरे वक्तव्यों को अपने देश-वासियों के चिंतन तथा विचार के लिए छोड़ता हूँ। मुझे इसमें संदेह नहीं है कि उनका निर्णय यही होगा कि श्री फजलुल हक पाकिस्तान के देशघातक हैं। मैं कहता हूँ कि वह पूर्व बंगाल के लिए भी देशघातक हैं, क्योंकि कोई होश रखनेवाला व्यक्ति यह कल्पना नहीं कर सकता कि स्वतंत्र पूर्वी बंगाल उतनी देर तक भी कायम रह सकेगा जितनी देर हैदराबाद रहा था।'

पूर्वी पाकिस्तान में आग लग गई है। उसकी लपटें कितनी दूर तक फैलती हैं और किन किन को भस्म कर सकती हैं, यह भविष्य के गर्भ में वेदना विकल है।

३. नेपाल और भारत के संबंध में कटुता

२८ मई १९५४ ई० को काठमांडू से 'प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया' ने जो समाचार भेजा है वह नेपाल और भारत के संबंध में आई हुई अनावश्यक कटुता को स्पष्ट करता है। आरम्भ से ही नेपाल और भारत का पारस्परिक संबंध बहुत ही सौहार्दपूर्ण तथा मधुर रहा है, किंतु बीच बीच में विदेशी कूटनीतिज्ञों ने अपनी चालबाजियों से इस संबंध को विषाक्त बनाने की बड़ी चेष्टा की है।

२८ मई के अपराह्न में नेपाल के काठमांडू स्थित गोचर हवाई मैदान पर भारतीय लोक सभा के ६ सदस्य भारत की मैत्री का संदेश लेकर हवाई जहाज से उतरे। उनके स्वागत के लिए भारतीय राजदूत श्री गोखले तथा नेपाल के संसदीय मंत्री श्रीभद्रकाली मिश्र आदि उपस्थित थे। त्रिचंद्र राजकीय कॉलेज के एक अध्यापक श्री यादवप्रसाद पंत ने अपने कुछ विद्यार्थियों तथा अन्य लोगों के साथ वहाँ जाकर काले झंडे दिखाए और भारत विरोधी नारे लगाए। भारतीय लोक सभा के सदस्यों के स्वागत में आई हुई मोटरों पर पत्थर भी फेंके। भारत विरोधी नारे लगानेवाले नेपाली छात्र तथा छात्राओं के लिए जीप गाड़ियों का भी प्रबंध था। यह व्यवस्था इस बात की ओर संकेत करता है कि इस भारत विरोधी प्रदर्शन में नेपाल-सरकार के कुछ उच्च अधिकारियों का भी हाथ रहा है, अन्यथा

प्रदर्शनकारियों के लिए न ऐसी व्यवस्था हो सकती थी और न त्रिचंद्र राजकीय कॉलेज के अध्यापक भारत-विरोधी प्रदर्शन का नेतृत्व कर सकते थे। यह एक स्थिति है जिस पर नेपाल और भारत को अपने संबंध के बारे में गंभीरता-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

भारत ने नेपाल की प्रजातांत्रिक सार्वभौम सत्ता को केवल स्वीकृत ही नहीं किया है, बल्कि उसकी प्राप्ति में सक्रिय सहयोग भी दिया है। विदेशी कूटनीतिज्ञों के भुलावे में पड़कर यदि नेपाल ने भारत के सहयोग को अस्वीकार किया तो इससे नेपाल की ही हानि होगी। जिस समय नेपाल के महाराज राणाशाही से तंग आकर भारतीय दूतावास में शरणागत हुए थे और वहाँ से चुपचाप भारतीय हवाई जहाज से भागकर नई दिल्ली में भारत सरकार के अतिथि बने थे उस समय नेपाल की राजधानी काठमांडू में जो कुछ होता था उसमें अमेरिकी कूटनीतिज्ञों का बहुत बड़ा हाथ था। आज भी वह हाथ बहुत स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है।

तीन चार सप्ताह पहले की बात है। भारतीय लोक-सभा के उपाध्यक्ष श्री अनंत शयनम् आयंगर ने बंबई की एक सभा में भाषण करते हुए यह सुझाव रखा था कि सुरक्षा की दृष्टि से नेपाल, भूटान और सिक्किम का भारत के साथ अधिक सहयोग रहना चाहिए। समाचारपत्रों में भूल से यह प्रकाशित हो गया कि आयंगर ने उपर्युक्त तीनों देशों को भारत में मिल जाने की सलाह दी है। भ्रमात्मक समाचार के प्रकाशित होते ही आयंगर ने इसका खंडन किया और अपने सुझाव को फिर स्पष्ट रूप से प्रकाशित कराया, किंतु इससे नेपाल सरकार को शायद संतोष नहीं हुआ। नेपाल रेडियो और सरकारी गोरखा पत्र ने इस समाचार को बहुत प्रचारित कर नेपाल और भारत के संबंध को विषाक्त बनाने की बड़ी चेष्टा की। यह बड़ी दुखद बात है कि नेपाल सरकार के प्रचार यंत्र ऐसे भ्रमात्मक समाचार को प्रचारित करने में सक्रिय भाग लेते हैं। यह एक शिष्टाचार की बात है कि ऐसे समाचार की सत्यता या अन्यथा के बारे में नेपाल-सरकार भारत सरकार से एक बार पूछ लेती। दोनों देशों में पारस्परिक सौहार्द्य संबंध है। यह काम थोड़ी देर में ही सरलता से किया जा सकता था, किंतु नेपाल-सरकार ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी।

नेपाल-सरकार के प्रधान मंत्री श्री मातृकाप्रसाद कोइराला तथा परराष्ट्र मंत्री श्री दिल्लीरमण रेग्मी ने भारतीय लोक-सभा के सदस्यों के प्रति हुए अशिष्ट व्यवहार पर, खेद प्रकट करते हुए, वक्तव्य दिए हैं। उनके ये वक्तव्य घटना के बहुत बाद — लगभग छत्तीस घंटे के बाद प्रकाशित हुए हैं। उनके ये भाव हार्दिक हो सकते हैं, किंतु उन्होंने यदि थोड़ी-सी सावधानी पहले रखी होती तो इस प्रकार खेद प्रकाशित करने का अवसर ही नहीं आता। आयंगर के तथाकथित वक्तव्य के विरोध में जो प्रतिक्रिया नेपाल में हुई उसके शमन के लिए भी, नेपाल के परराष्ट्र मंत्री ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया था, परंतु उनके राजकीय प्रचार-यंत्र ने उसको उतना महत्त्व नहीं दिया जितना भारत के विरुद्ध कही जानेवाली बातों को तूल दिया। क्या यह स्थिति अर्थ गर्भित नहीं मानी जा सकती?

नेपाल का शासन-सूत्र अभी जिस रूप में और जिस हाथ में है वह यथेष्ट शक्तिशाली नहीं है। पिछले तीन-चार वर्षों के भीतर वहाँ जितने शासकीय परिवर्तन हुए हैं और निकट भविष्य में होनेवाले हैं वे अनायास इस बात की सूचना देते हैं कि नेपाल सरकार किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई है, बिना अभिभावक के उसका काम नहीं चल सकता। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका छद्म रूप से नेपाल को भारत विरोधी बनाकर अपने प्रभाव में लाना चाहता है। नेपाल भारत का एक पड़ोसी बंधु है और भारत अपनी ओर से नेपाल के साथ सद्भावपूर्ण मैत्री रखना चाहता है। अमेरिका को यह संबंध सह्य नहीं है। क्या नेपाल के शासक वृंद को इतनी सुबुद्धि है कि वे सच्चे मित्र की पहचान कर सकें!

नग्नता

श्री रामधारी सिंह दिनकर

एक नग्नता वह थी जब भू के पहले नर-नारी
सहज नग्न थे; किंतु, नग्न होने का ज्ञान नहीं था,
दोनों के सब अंग खुले थे, सब समान सुंदर थे,
इस अवयव पर अधिक और उस पर कम ध्यान नहीं था।

नयन देर तक नहीं किसी द्रुम के समीप रुकते थे
विचरण करते हुए देह की उर्वरी फुलवारी में,
नारी को नर में रहस्य तब तक न भास पाया था,
नहीं जगा था नर का त्यों ही कौतूहल नारी में।

तब कहते हैं, दृष्टि पुरुष की मूल भरे उपवन को,
किसी-किसी क्यारी में रमने लगी चेतना खोकर;
जहाँ-जहाँ वह गड़ी, लगी लगने गुदगुदी त्वचा में,
आखिर जाग पड़ी नारी लज्जा से आकुल होकर।

लज्जा प्रथम शील नारी का, शीलमयी सकुचायी
पत्तों से आवृत कर तन को, करतल से लोचन को;
दृग मूंदे-मूंदे ही सभ्रममयी सहम कर बोली,—
प्रियतम, तुम भी किसी भाँति आवृत कर लो निज तन को।

तब से ही सौंदर्य आवरण में छिपता आया है,
तब से ही लज्जा का हम आदर करते आए हैं,
खो न जाय वह ज्योति कहीं जो वसनों में बसती है,
इस विचार से खुली नग्नता से डरते आए हैं।

एक नग्नता यह भी है जब तन तो नग्न नहीं है,
लेकिन, मन है विकल आवरण से बाहर आने को;
लज्जा वसनों में अनेक वातायन खोज रही है,
देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखलाने को।

वल्कल भी थे अलम्; किंतु अब नहीं पूर्ण अंबर भी,
लज्जा का शुभ कवच, न जानें, मन है याकि वसन है।
हृदय नग्न तो सात पटों के भी आवरण वृथा हैं,
वसन व्यर्थ यदि भली भाँति आवृत भीतर का मन है॥

★

ज्ञान के विभिन्न स्वरूप

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, एम० ए०, पी-एच० डी०

किसी भी वस्तु या विषय के संबंध में मन या आत्मा की भावना ही 'ज्ञान' है। बोध, जानकारी और प्रतीति इसी 'ज्ञान' के पर्याय हैं। ज्ञान प्राप्त करने की उत्कंठा संसार में सभी व्यक्तियों को सदैव रही है और रहेगी, परन्तु ज्ञान क्या है, कैसा है, इसके संदर्भ में दो विचारकों का मतैक्य कठिनाई से होगा। भारतवर्ष एक धार्मिक भावना-प्रधान देश रहा है। यहाँ तत्त्व विचारक और दार्शनिकों की सदैव प्रचुरता रही है। इसीलिये भारतीय दर्शन या भारतीय साहित्य में 'ज्ञान' के विषय में इतने अधिक प्रकार के मत मिलते हैं कि पाठक के लिए ये एक समस्या का रूप धारण कर लेते हैं। वह घने जंगल में मार्ग भूले हुए पथिक के समान सोचने लगता है कि इनमें से 'ज्ञान' के विषय में कौन सबसे सुगम और सरल मत है।

भारतीय दर्शन के न्याय-शास्त्र में 'ज्ञान' की बड़ी व्यापक और गंभीर विवेचना की गई। विभिन्न आचार्यों ने ज्ञान के स्वरूप, परिभाषा तथा आवश्यक तत्त्वों का सविस्तर उल्लेख किया है। न्याय शास्त्र का तत्त्व-विचार सामान्यतया उसके प्रमाण विचार पर आधारित है। उसके अनुसार 'यथार्थ ज्ञान' को प्राप्त करने के चार उपाय हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

न्याय-शास्त्र में 'ज्ञान'

न्याय शास्त्र के मत से वस्तुओं की अभिव्यक्ति ही ज्ञान या बुद्धि है। ज्ञान अपने विषयों को प्रकाशित करता है। ज्ञान सामान्यतया दो प्रकार का होता है। प्रथम है 'प्रमा' या 'प्रमिति ज्ञान' और द्वितीय है 'अप्रमा ज्ञान'। प्रमा का अर्थ ज्ञान होता है। यथार्थ में इसके चार भेद हैं जिनका ऊपर उल्लेख हो गया है। अप्रमा मिथ्या ज्ञान को कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं—स्मृति, संशय, भ्रम, तथा तर्क। 'प्रमा' का आधार यथार्थ अनुभव है। 'प्रमा' में संशयात्मक ज्ञान के लिए स्थान नहीं है। प्रमा में संदेह के लिए अवकाश नहीं है। तर्क, स्मृति या भ्रम को प्रमा के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता है। ज्ञान सत्य तभी है जब वह अपने विषय या रूप को सत्य या यथार्थ रूप में व्यक्त कर सके, अन्यथा वह असत्य है। यथार्थ ज्ञान की कसौटी यह है कि किसी वस्तु के ज्ञान के माध्यम से यदि हम उस वस्तु के संबंध में कोई प्रयोग करें और वह सत्य या सफल हो तो उसे यथार्थ ज्ञान समझना चाहिए। 'मिथ्या ज्ञान' विफल हो जाता है। उन्हें 'प्रवृत्ति सामर्थ्य' और 'प्रवृत्ति विसंवाद' भी कहा गया है। प्रमा का अर्थ ही ज्ञान है। 'प्रत्यक्ष प्रमा' वह असंदिग्ध अनुभव है जो इंद्रिय संस्पर्श-जन्य है; साथ ही यथार्थ भी। भ्रमात्मक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्षों के अनेक भेद हैं जिनमें 'लौकिक प्रत्यक्ष' और 'अलौकिक प्रत्यक्ष' विशेष उल्लेखनीय हैं। वस्तु के साथ इंद्रिय का स्पर्श 'लौकिक प्रत्यक्ष' है। 'लौकिक' के दो प्रकार हैं—प्रथम बाह्य तथा द्वितीय मानस। कुछ आचार्यों ने इसके ६ प्रकार माने हैं—चाक्षुष, श्रौत, स्पर्शन, रासन, घ्राणज, एवं मानस। 'लौकिक' के उपर्युक्त ६ प्रकार को आचार्यों ने ज्ञान के ६ करण संज्ञा भी प्रदान की है। इन ६ करणों का संकेत ६ भौतिक इंद्रियों की ओर है। ये सभी उस भौतिक तत्त्व द्वारा विनिर्मित हैं जिसका गुण विशेष उन्हें सरलता से ज्ञात हो जाता है। अलौकिक के तीन भेद हैं—सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज। 'सामान्य' लक्षण को अलौकिक के अंतर्गत रखने का कारण है कि यह साधारण या लौकिक प्रत्यक्ष से पृथक अस्तित्व रखता है। 'ज्ञान' लक्षण के द्वारा एक इंद्रिय अन्य इंद्रियों के ज्ञान का अनुभव कर सकता है जो सामान्य रूप से संभव नहीं है। 'योगज' अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा भूत-भविष्य, अप्रस्तुत सभी वस्तुओं की अनुभूति साक्षात् हो जाती है। यह शक्ति अलौकिक है, अतएव योग द्वारा ही अर्जित हो सकती है। यह अविनाशशील शक्ति है।

'प्रत्यक्ष ज्ञान' के पश्चात् 'अनुमान ज्ञान' का स्थान है। 'अनुमान' का अर्थ होता है 'पश्चात् ज्ञान'। 'अनुमान ज्ञान' उसे कहते हैं जो किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् आता

है। आचार्य ब्रजेंद्रनाथ शील के मतानुसार 'अनुमान में प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं, प्रत्युत किसी लिंग के द्वारा इस निश्चय पर पहुँचा जाता है कि अमुक वस्तु में अमुक गुण विद्यमान है'। 'हेतु' और 'साध्य' के मध्य में जो व्यापक संबंध रहता है उसी के माध्यम से अनुमान होता है। 'प्रस्तुत संबंध' को 'व्याप्ति' भी कहा गया है। अनुमान में पक्ष और साध्य के स्थापित किए हुए संबंध के लिए दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम आवश्यक बात है हेतु और पक्ष का संबंध तथा द्वितीय है हेतु और साध्य का व्याप्ति संबंध। 'अनुमान' के तीन भेद हैं—१. पूर्ववत् २. शेषवत् और ३ सामान्यतोदृष्ट अनुमान।

अब 'उपमान' ज्ञान को लीजिए। न्याय-शास्त्र में उपमान' को तृतीय प्रमाण माना गया है। उपमान संज्ञा और संज्ञि के संबंध का ज्ञान कराता है। यही तो नाम और नामी के संबंधों का आभास देता है। इसमें परिचित वस्तु के साथ ज्ञातव्य वस्तु के सादृश्यों का ज्ञान प्राप्त होना अपेक्षित है। चार्वाक उपमान को प्रमाण नहीं मानता है। बौद्ध विचारक इसे मान्यता देते हैं, पर पृथक रूप से नहीं। वैशेषिकों और सांख्य आचार्यों के मत से यह अनुमान का ही एक प्रकार है। वेदांती और मीमांसक इसका कुछ भिन्न अर्थ करते हैं, यद्यपि वे इसे एक स्वतंत्र प्रमाण मानते अवश्य हैं।

न्याय के मत से ज्ञान का चौथा प्रमाण 'शब्द' है। वाक्यों और शब्दों से प्राप्त ज्ञान को ही 'शब्द' कहते हैं। सभी 'शब्द' ज्ञान हों, ऐसा नहीं है, अतः शब्द तभी प्रमाण हो सकता है जब इसके माध्यम से यथार्थ ज्ञान गृहीत हो सके।

मीमांसा-दर्शन में 'ज्ञान'

मीमांसा दर्शन अन्य दर्शनों की भाँति दो प्रकार के ज्ञान—प्रत्यक्ष और परोक्ष—को मान्यता देता है। उसके अनुसार वही यथार्थ ज्ञान है जिसके आधार पर कोई नवीन बात ज्ञात की जा सके। प्रत्यक्ष का विषय सत् पदार्थ ही हो सकता है। आत्मा को उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान तभी हो सकता है जब इस प्रकार के विषय का किसी इंद्रिय के साथ संपर्क होता है। 'सविशेष ज्ञान' को 'सविकल्प प्रत्यक्ष' कहा गया है। प्रत्यक्ष के आधार पर ही नाम रूपात्मक जगत का सत्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

मीमांसा में परोक्ष ज्ञान के पाँच साधन या प्रमाण माने गए हैं—अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। न्याय के समान मीमांसा भी उपमान को स्वतंत्र प्रमाण मानती है। अन्य प्रमाणों की भाँति 'शब्द प्रमाण' भी 'ज्ञान' का साधन और 'ज्ञान' की यथार्थता का प्रमाण है। दृष्टार्थ के स्पष्टीकरण के लिए अदृष्टार्थ की कल्पना, जिसके बिना दृष्टार्थ की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अर्थापत्ति वह कल्पना है जिसके द्वारा कोई अन्यथा असाध्य विषय सिद्ध हो जाता है। 'अर्थापत्ति' दो प्रकार की है—'दृष्टार्थापत्ति' और 'श्रुतार्थापत्ति'। अनुपलब्धि - किसी वस्तु या विषय के अभाव का साक्षात ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा होता है।

पर्याप्त सामग्री के आधार पर अर्जित ज्ञान निश्चयात्मक और विश्वास जनक होता है। विश्वस्त कारणों के द्वारा सार्थक ज्ञान की प्राप्ति होती है और स्पष्ट वाक्य के द्वारा शब्द ज्ञान प्राप्त होता है। अनुमान केवल वहीं होता है जहाँ हेतु पर्याप्त होता है। सच तो यह है कि ज्ञान की प्रामाणिकता उस ज्ञान से संबद्ध सामग्री में ही सन्निहित रहता है। सत्य स्वतः प्रकाशमान और ज्ञान है। ज्ञान विश्वास का संस्थापक समष्टि, चैतन्य का प्रतीक है।

न्याय के आचार्यों का मत है कि ज्ञान की प्रामाणिकता उस ज्ञान से संबद्ध कारण - सामग्री के अतिरिक्त बाह्य कारणों से विकसित होता है। प्रत्येक ज्ञान सत्य है, उसमें असत्यता के लिए कोई भी अवकाश नहीं है।

गीता में 'ज्ञान'

श्रीमद्भगवद्गीता में 'ज्ञान दर्शन' पर योगेश्वर श्री कृष्ण का मत अत्यधिक विचारणीय विषय है। गीता के अनुसार भगवान के निर्गुण निराकार तत्त्व का जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्य-सहित 'यथार्थ ज्ञान' है, उसे ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार उनके सगुण, निराकार और दिव्य साकार तत्त्व के लीला रहस्य, गुण, महत्त्व और प्रभाव सहित 'यथार्थ ज्ञान' का नाम 'विज्ञान' है। वे समस्त ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति में साधन रूप हैं। ज्ञान और विज्ञान के द्वारा ही ब्रह्म के समग्र स्वरूप की भली भाँति उपलब्धि हो जाती है। यह विश्व ब्रह्मांड तो समग्र रूप का एक क्षुद्र सा अंश मात्र है। जब मानव को ब्रह्म के समग्र रूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसे शेष कुछ नहीं जानना रह जाता है।

ज्ञान तेऽहं सविज्ञान मिद वक्ष्याम्यशेषत ।
यज्ज्ञात्वा नह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (७-२)

गीता में द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा 'ज्ञान यज्ञ' को अधिक महत्त्व दिया गया है। इससे यावन्मात्र संपूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं।[1] ज्ञान के बिना जन्म मरण के कर्म बंधन से मुक्ति संभव नहीं है।[2] ज्ञान के द्वारा ही मानव समस्त भूतों का निःशेषभाव से सर्वप्रथम अपने में और तदनंतर ब्रह्म में देखता है।[3] ज्ञान एक नौका है जो निस्संदेह संसार सागर पार करने में सहायता देती है।[4] जिसमें ज्ञान का उदय हो जाता है उस एकत्वदर्शी पुरुष को कौन सा शोक और कौन सा मोह हो सकता है?[5] ज्ञान प्रज्वलित अग्नि के सदृश्य संपूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है।[6] सच तो यह है कि इस संसार में ज्ञान के सदृश्य पवित्र करनेवाला तत्त्व निस्संदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्धांत करण हुआ मानव अपने आप ही आत्मा में पा लेता है। जप तप योग-दान व्रत आदि सभी ज्ञान के साधन हैं। ये ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ (४-३८)

ज्ञान केवल श्रद्धावान को ही प्राप्त होता है। जितेंद्रिय तथा साधन-परायण को भी ज्ञान समान रूप से शीघ्र प्राप्त होता है।[7]

उपनिषदों में 'ज्ञान'

उपनिषदों में ज्ञान के स्वरूप की प्रचुर व्याख्या विभिन्न दृष्टियों से हुई है। मुंडकोपनिषद् में ब्रह्म को ही ज्ञान का स्रोत माना गया है। कहा गया है कि उसका ज्ञान हो जाने से मानव सर्वज्ञानी बन जाता है।

य सर्वज्ञ सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्म पुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित ॥

मनोमय प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्द रूपममृतं यद्विभाति ॥ (२-२७)

तथा

यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्य पाप विधूय
निरञ्जन परम साम्यमुपैति ॥ (३-१-३)

स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपनिषद् में ज्ञान ब्रह्म प्राप्ति का साधन माना गया है। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए निम्नलिखित उद्धरण पठनीय होगा—

तेनभौ कुरुतो यश्चैतदेव वदे यश्चन वेद,
नाना तु विद्या चा विद्या च यदेव विद्यया करोति।
श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तर भवतीति,
स्वल्वेतस्यैवाक्षर स्योप व्याख्यान भवति ॥
(१-१-१०)

'प्राण के लिए स्वाहा। व्यान, अपान, समान, उदान के लिए स्वाहा। जो इसके बिना अग्नि करता है वह अंगारों को छोड़कर मानो भस्म में ही होम करता है, इसे ऐसा जानकर अग्नि होम करता है उसके सभी पाप उसी तरह दूर हो जाते हैं जैसे सरकंडे आग में डालने पर शेष हो जाते हैं, इसलिए ऐसे ज्ञानवाला चाहे चांडाल को जूठा ही क्यों न दे वह वैश्वानर आत्मा में आहुति देता है।'

विद्या और अविद्या दो भिन्न भिन्न है, किंतु जिस कर्म को आदमी विद्या ज्ञान के साथ श्रद्धा और उपनिषद् के साथ करता है वह ज्यादा मजबूत होता है।

केनोपनिषद् में आत्म ज्ञान ही सार माना गया है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा प्रेत्यास्माल्लोकाद-
मृताभवन्ति ॥ (२-५)

माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार अज्ञान की निवृत्ति ही आत्म ज्ञान है।

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैत तद्वदात्मविनिश्चयं ॥

१ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४—३३)
२ गीता (४ ३४)
३ गीता, ४ ३५
४ गीता, ४ ३६
५ ईशावास्योपनिषद्, ७
६ गीता ४ ३७
७ श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ४ ३९

आचार्य मधुसूदन सरस्वती के मत से ज्ञान देह का धर्म नहीं है।

विकारिण परिच्छिन्नत्वेनानात्मत्वापत्तेः।
स्वेनैव स्वस्य ग्रहणे कर्तृकर्मभावविरोधाद्
दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः,
भेदेनाभेदेन वा धर्मिधर्म भावानुपपत्तेश्च।
(सिद्धातबिंदु, पृष्ठ ५७)

'ज्ञान' नित्य है। नित्यत्व की सिद्धि के हेतु अनित्यत्व पक्ष में दोष रहता है।

महर्षि कणाद के अनुसार विद्या और ज्ञान एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। दोनों ही प्रकाश के प्रतीक हैं। ये अधकार में प्रकाश प्रसारित करते हैं। ज्ञान सत्य है। अविद्या या मिथ्या ज्ञान इद्रियों के असत्य साक्षात्कार या असाक्षात्कार के कारण उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति इद्रियों के सत्य या शुद्ध सस्कारों के साथ किए हुए साक्षात्कार के कारण समुत्पन्न होता है।

बौद्ध-दर्शन में 'ज्ञान'

वेदात द्वारा प्रतिपादित और समर्थित ज्ञान बौद्ध-दर्शन में 'विज्ञान' के रूप में प्रसिद्ध और प्रचलित हुआ। यही विज्ञान-दर्शन आगे चलकर एक बहुत बड़े वाद विवाद का वाहक बन गया। सत्य यह है कि बौद्ध-दर्शन का 'योगाचार' मत अपने आध्यात्मिक सिद्धांतों के कारण विज्ञानवाद के रूप में प्रकट हुआ। इस योगाचार का जन्म माध्यमिक विचार दर्शन के आचार्यों के प्रतिवाद के रूप में हुआ। इस विचार धारा में बुद्धि को सत्य माना गया है, क्योंकि बुद्धि ही सत् और असत् के भेद को उपस्थित करके कल्याणकारी सत्य के प्रति महत्त्व निर्धारित करती है। विज्ञान में चित्त, मन और बुद्धि समाहित है, अतएव प्रस्तुत सप्रदाय में विज्ञान को केवल सत्य-पदार्थ की मान्यता प्रदान की गई है। विज्ञानवाद के मूल में ही बौद्ध धर्म के विकास और जनप्रियता के सिद्धात निहित हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने विज्ञान को परमार्थ सिद्ध कर दिया है। इस विज्ञानवाद के प्रतिपादक एक-से-एक उच्च कोटि के आचार्य हुए हैं। इन्होंने उसके दार्शनिक पक्ष की समीक्षा बडे व्यापक और गभीर रूप से की है। मैत्रेय नाथ इस दर्शन के प्रथम व्याख्याता थे। मैत्रेयनाथ ने इस विषय पर संस्कृत में अनेक ग्रंथों की रचना की। तिब्बत, चीन और भोट देश के दार्शनिकों ने इनके मत का सविस्तर विवेचन किया है। विज्ञानवाद के सर्वोत्कृष्ट आचार्य असंग को इन्हीं की कृपा से इस विषय पर लिखने की प्रेरणा मिली थी। इनके पाँच ग्रंथों–महायान सूत्रालकार, धर्मधर्मता विभग, महायान उत्तर तंत्र, मध्यात विभग, अभिसंयालकारकारि–का जहाँ तहाँ उल्लेख पाया जाता है। इनके बाद असग हुए हैं। समय है चौथी सदी। विज्ञानवाद के ये सबसे बडे आचार्य थे। महायान संपरिग्रह, प्रकरण आर्यावाचा, योगाचार, भूमिशास्त्र, महायान सूत्रालकार, आदि, इनके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। आचार्य वसुबंधु असग के अनुज थे। इन्होंने सद्धर्म पुडरीक की टीका महापरिनिर्वाण सूत्र की टीका, वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता की टीका, विंशति की मात्रतासिद्धि आदि ग्रंथों की रचनाकर विज्ञानवाद की प्रतिष्ठा बढाई। आचार्य स्थिरमति आचार्य वसुबन्धु के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के ग्रथों की टीका करके विज्ञानवाद के विषय में प्रचलित भ्राति को दूर करने का भगीरथ प्रयत्न किया। इन्होंने सात ग्रथों की रचना की। इनके बाद आचार्य दिङ्नाग उल्लेखनीय हैं। ये तर्क के विशेषज्ञ थे। प्रमाण-समुच्चय, वृत्तिन्याय प्रवेश, हेतुचक्रहमँरु, प्रमाण शास्त्र, न्याय-प्रवेश इनके ग्रथ है। शंकर स्वामी, धर्मपाल धर्म कीर्ति आदि अन्य आचार्यों ने बडे यत्न और विद्वत्ता के साथ विज्ञान-वाद की प्रतिष्ठा और प्रचार के लिए अनेक तर्कपूर्ण ग्रंथों की रचना की।

'सौत्रातिक मत' में बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान के माध्यम से अनुमेय मानी गई है। बाह्यार्थ की प्रतीति के अनंतर ही उसकी सत्ता अनुभूत होती है। ज्ञान से इन समस्त बाह्य पदार्थों की अनुभूति और स्थिति का परिज्ञान होता है। विज्ञानवादी के मतानुसार यदि बाह्य जगत की समस्त सत्ता की स्थिति ज्ञान के कारण या आधार पर है तो ज्ञान ही सबसे महत्त्वपूर्ण सत्ता है। यही एकमेव परमार्थ है। प्रत्येक बाह्य वस्तु अपने रूप, रग, आकार को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है परतु यदि वही अणु रूप में सामने आए तो उसका ज्ञान हमें सभव नहीं हो सकता है। साथ ही यदि वह अनेक अणुओं द्वारा निर्मित है तो भी उसका ज्ञान सभव नहीं है। अत बाह्यार्थ सत्ता निस्सार है इसी लिए विज्ञान के अतिरिक्त अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है, और विज्ञानवादी विशुद्ध रूप से प्रत्ययवादी है। वह

मौलिक पदार्थों की स्थिति नहीं मानता। विज्ञान को अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए किसी भी आलंबन की आवश्यकता नहीं है। विज्ञानवादी की दृष्टि में माध्यमिकों द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं है। लंकावतार सूत्र में विज्ञान की सत्ता का समर्थन करते हुए कहा गया है कि चित्त की ही प्रवृत्ति और विमुक्ति होती है। चित्त के अतिरिक्त दूसरी वस्तु न उत्पन्न होती है, न निरुद्ध। चित्त ही श्रेष्ठ तत्त्व है।

चित्तं वर्तते चित्तं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव, निरुध्यते॥

यह चित्त चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण चित्त कहलाता, मनन करने के कारण मन और बाह्य पदार्थों की स्थिति ग्रहण करने के कारणभूत बनने से वह विज्ञान कहलाता है—

चित्तं मनश्च विज्ञानम् संज्ञा वैकल्पवर्जिता.॥
विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः॥

चित्त ही एकमेव सत्य पदार्थ है। जगत मान, विमान और अभाव से रहित है। सत्य यदि कुछ भी है तो चित्त ही। चित्त के पर्यायवाची हैं तथता, निर्वाण, शून्यता, धर्मधातु आदि। वह एकाकार है। जगत का उद्गम है। चित्त के त्रिविध रूप हैं—'ग्राह्य', 'विषय' और 'ग्राहक'। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अथवा ग्राहक, ग्राह्य या ग्रहण देखने में तीन हैं पर उनकी स्थिति एकाकार बुद्धि या विज्ञान है। कहा गया है कि योगाचारी विज्ञानाद्वैतवादी हैं।

विज्ञान की आठ अवस्थाएँ—प्रभेद—मानी गई हैं। ये प्रभेद इस प्रकार हैं—१ चक्षुर्विज्ञान २ श्रोत्र विज्ञान ३ घ्राण विज्ञान, ४ जिह्वा विज्ञान, ५ काय विज्ञान ६ मनोविज्ञान, ७. क्लिष्ट मनोविज्ञान, ८. आलय विज्ञान। अब इन पर पृथक्-पृथक् विचार कीजिए। इनमें प्रथम सात को प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं, ये आलय विज्ञान में उत्पन्न हैं।

१ सर्वप्रथम है चक्षु विज्ञान। चक्षु के माध्यम से प्राप्त ज्ञान चक्षुर्विज्ञान है। इसके तीन आश्रय हैं—प्रथम चक्षु, द्वितीय मन, तृतीय रूप, इन्द्रिय, मन तथा समस्त विश्व का बीज। चक्षुर्विज्ञान के तीन विषय हैं—वर्ण, संस्थान और विज्ञप्ति। इसके छः कर्म हैं—अविकल्पात्मकी, स्वलक्षण, वर्तमान काल, एक क्षण, इष्ट एवं शुद्ध तथा अशुद्ध मन के विज्ञान कर्म के उत्थान।

२. द्वितीय मनोविज्ञान है। यह विज्ञान का छठा भेद है। मन, चित्त तथा विज्ञान इसके स्वरूप हैं। सम्पूर्ण बीजों को धारण करनेवाला जो आलय विज्ञान है वही चित्त है, मन वह है जो अविद्या, अभिमान, अपने को कर्त्ता मानना तथा विषय की तृष्णा इन चार क्लेशों से युक्त रहता है। विज्ञान वह है जो स्व आलंबन की क्रिया में उपस्थित होता है। मनोविज्ञान का आश्रय स्वयं मन है। यह समानान्तर आश्रय है, क्योंकि श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होनेवाले विज्ञान के अनन्तर यही इन विज्ञानों का आश्रय बनता है। इसीलिए मनको 'समानान्तर आश्रय' कहते हैं। 'बीज आश्रय' तो स्वयं आलय विज्ञान ही है।

३. क्लिष्ट मनोविज्ञान—यह सातवाँ मनोविज्ञान है। यह मनोविज्ञान सांख्य दर्शन के अहंकार से बहुत साम्य रखता है।

४. आलय विज्ञान—सार रूप में आलय विज्ञान का अभिप्राय वह तत्त्व होता है जिसके अन्दर संसार के समस्त धर्मों के बीज सन्निहित रहते हैं और उत्पन्न एवं विलीन हो जाते हैं। यह विज्ञान समस्त धर्मों का निष्कर्ष और हेतु रूप है। यही सब धर्मों का कारण भी है। यह आत्मा का प्रतिनिधि है। यह प्रत्येक व्यक्ति में वर्तमान है और अभीष्ट चैतन्य का प्रतीक है।

इस्लाम दर्शन में 'ज्ञान'

इस्लाम-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य अबू याकूब किंदी (८७० ई०) के अनुसार चौथी नफ्स (विज्ञान) को जीव अपना काम मानता है, किंतु दूसरी नफ्स (जीव की अर्हत् क्षमता) को ही प्रथम नफ्स (ईश्वर) की देन नहीं मानता, बल्कि उस अर्हत् क्षमता और जीव की कार्य-क्षमता (तीसरी नफ्स) के रूप में परिणत करना भी वह प्रथम नफ्स का ही काम मानता है। इस तरह तीसरी नफ्स कार्य-क्षमता भी जीव की अपनी नहीं, बल्कि ऊपर से भेजी हुई चीज है। इस प्रकार किंदी के मत से ज्ञान का उद्गम ईश्वर है, जीव नहीं। इस्लाम धर्म में जीव को कहीं भी ज्ञान का स्रोत होने का श्रेय नहीं दिया गया है। किंदी की ज्ञान-विषयक धारणा सिकन्दर अफ्रोदीसियस से प्रभावित है। इन दोनों की विचार-धारा के आधार हैं यूनान के दार्शनिक प्लेटो और अरिस्टाटल। फिर भी उसमें मौलिकता का अभाव नहीं है। किंदी के अनुसार

ज्ञान को प्राप्त करनेवाली शक्ति है—मन की नित्य-कल्पना। वह विज्ञानवादी है उसके अनुसार विज्ञान नित्य कूटस्थ नहीं होता। धर्मकीर्त्ति के समान किंदी का भी मत है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान और विषय या ज्ञेय दोनों ही एक हैं और इस प्रकार मन के माध्यम से ज्ञात पदार्थ प्रथम विज्ञान ही है। किंदी के बाद दार्शनिक फारबी उल्लेखनीय है। फारबी भी ज्ञान को मानव साधन कहकर ईश्वर-प्रदत्त मानता है। उसके मत से ज्ञान सभी में विद्यमान है, यहाँ तक कि शिशु के जीव में भी वह वर्तमान है, यह दूसरी बात है कि वह सुसुप्तावस्था में बना रहता है। आगे चल कर इन्द्रियों और कल्पना शक्ति में चेतना के समाविष्ट होते ही वह ज्ञान प्राप्त करने लगता है। देवात्माएँ भी अपनी सत्ता के लिए मूल विज्ञान या ब्रह्म पर निर्भर हैं। विचारक गजाली के अनुसार दर्शन ही सामान्य का ज्ञान है। ज्ञान बुद्धि गम्य है। ज्ञान चिंतन के द्वारा प्राप्त होता है। इब्न खल्दून (१३३२ ई०) के मत से जीव स्वभावतः ज्ञान विहीन है, परन्तु यह शक्ति स्वयं उत्पन्न होती है। मनन के द्वारा प्रायः एक विचार विद्युतवत् कौंध जाता है और यही विचार उसे सत्य के दर्शन करा देता है, यही ज्ञान है। तर्क ज्ञान के विकास में बाधक है।

योरपीय दार्शनिकों में लाइबनिट्ज (१६४६ ई०) के मत से आत्मा के अंतर्गत ही द्रव्य भाव, सत्ता, साम्य, कारण, प्रत्यक्ष परिणामादि समस्त ज्ञान विद्यमान हैं। ज्ञान के लिए आत्मा इन्द्रियों का मुँह नहीं ताकती। बुद्धि सगत ज्ञान की स्थिति है। कुछ सिद्धांतों को स्वय मान लेने पर ही सभव हो सकती है। कांट (१७२४ ई०) का मत है कि वास्तविक ज्ञान सार्वभौमिकता और मानव जाति के लिए अनिवार्य होता है। इन्द्रियाँ ज्ञान की उत्पादक हैं और मन उनको क्रमबद्ध करता है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग का प्रधान स्थान है। ह्यूम का कथन है कि मानव केवल साक्षात् मात्र है। वह किसी चीज का पूर्ण ज्ञान नहीं रखता है। ज्ञान केवल वाह्य या ऊपर-ऊपर की वस्तु है। उसके आधार पर कोई वास्तविकता नहीं स्थापित हो सकती है। विलियम जेम्स (१८४२ ई०) का विचार है कि ज्ञान एक साधन है, वह जीवन के लिए है, जीवन ज्ञान के लिए है। सच्चा ज्ञान या विचार वह है जिसे हम पचा सकें, यथार्थ प्रमाणित कर सकें और जिसकी परीक्षा कर सकें।

मार्क्स-दर्शन में 'ज्ञान'

विगत पृष्ठों से स्पष्ट है कि उपर्युक्त विचारकों-दार्शनिकों की दृष्टि में ज्ञान के प्रति भिन्न भिन्न धारणा रही है। अब आज के अत्यधिक लोकप्रिय मार्क्स दर्शन मे ज्ञान की रूप-रेखा का परीक्षण कर लेना असगत न होगा। भौतिकवाद ज्ञान की समस्या का विवेचन या विश्लेषण मानवता के ऐतिहासिक विकास से पृथक रहकर करता है। इसी कारण वह ज्ञान के समाजिक आधार का उचित मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं प्रतीत होता। मार्क्स दर्शन में उत्पादन क्रिया को आधारभूत व्यावहारिक क्रिया निर्धारित किया गया है। ज्ञान के हेतु मानव को प्रमुख रूप से भौतिक उत्पादनों का अवलंबन ग्रहण करना पड़ता है। क्रमशः मानव प्रकृति के नियमों, स्वभाव तथा मानव और प्रकृति के सबंधों को समझने में समर्थ होता है। मार्क्सवादी की दृष्टि में ज्ञान को उत्पादन क्रिया से भिन्न नहीं किया जा सकता। मानव के ज्ञान विकास का यही आधारभूत स्रोत है। वर्ग-सघर्ष के विभिन्न विचार धाराओं ने उत्पादन क्रिया और मानव के ज्ञान पर बड़ा गभीर प्रभाव डाला है। मानव समाज में उत्पादन-क्रिया निम्नतर स्तर से उच्चतम स्तर तक क्रमशः विकसित होती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य का ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। समाज के विकासमान इतिहास के सबध में मानव समाज की एक बोधगम्य ऐतिहासिक समझ एव समाज विषयक ज्ञान का एक विज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाना ही मार्क्सवादी विज्ञान है। इस दर्शन का मत है कि मानव का केवल समाजिक व्यवहार ही हमारे चारों ओर फैले हुए ससार के सबध में मानव ज्ञान की सही कसौटी हो सकती है। लेनिन के मतानुसार 'व्यवहार ज्ञान से ऊँचा है'। कारण, कि इसमें केवल विश्व-व्यापी होने का ही नहीं, वरन् तात्कालिक वास्तविक होने का भी गुण है। सामाजिक व्यवहार के माध्यम से सत्य का मूल्यांकन सरलता से किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मार्क्सवाद को व्यवहार-ज्ञान का उत्पादन माना गया है। अतएव ज्ञान के विकास की प्रक्रिया समझ लेना आवश्यक है। ज्ञान की सर्वप्रथम अवस्था में मानव समाज सपूर्ण धारणाएँ निर्मित करने और तर्क के अनुरूप परिणाम निर्धारित करने के योग्य नहीं होते। समाजिक व्यवहार की निरंतरता लोगों के व्यवहार में उन वस्तुओं की अनेक तरह की पुनरावृत्ति

प्रकट करती है जो उनकी इन्द्रियों के संपर्क में आती हैं और उनपर अपनी छाप छोड़ जाती है। और इस तरह मानव-मस्तिष्क में एक कुदान होती है, ज्ञान की प्रक्रिया में एक धारणा उत्पन्न हो जाती है। धारणा, निर्णय और परिणाम की अवस्थाओं के मध्य में ही एक और अवस्था है जिसे बौद्धिक ज्ञान की अवस्था कहा गया है। ज्ञान का प्रमुखतम लक्ष्य है विचार द्वारा संवेदना के माध्यम से बाह्य रूप में वर्तमान समस्त भावनाओं एवं वस्तुओं के अंतर्विरोधों की व्यापक और गंभीर व्याख्या करना। साथ ही विचारक को तार्किक ज्ञान के निकट तक पहुँचा देना।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद का मत है कि ज्ञान की प्रक्रिया में दो अवस्थाओं का मुख्य लक्ष्य है कि निम्न अवस्थाओं में ज्ञान से संवेदनाएँ प्रकट होती हैं और उच्च अवस्था में ज्ञान तर्क में अभिव्यक्त होता है; जब कि प्रत्येक अवस्था ज्ञान की एक ही प्रक्रिया की अवस्था या स्तर हैं। ज्ञान के लिए उस वस्तु या व्यक्ति के संपर्क की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में उसका व्यवहार या जीवन उस वस्तु की परिस्थितियों में प्रकट हुए बिना असंभव है। ज्ञान के लिए परिवर्तनीय वास्तविकता में भाग लेना अनिवार्य है। ज्ञान का प्रश्न विज्ञान की समस्या है जो किंचित मात्र असत्यता या प्रवचना स्वीकार नहीं करता है। यथार्थ ज्ञान का स्रोत या उद्गम है प्रत्यक्ष अनुभव। समस्त वस्तुओं का अनुभव करना भी मानव के लिए बड़ा कठिन है अतएव ज्ञान का बहुत बड़ा भाग परोक्ष अनुभव के भी आश्रित है। अतएव मार्क्सवाद में ज्ञान के दो भाग माने गए हैं। प्रथम है प्रत्यक्ष अनुभव और द्वितीय है परोक्ष अनुभव। एक का परोक्ष अनुभव दूसरे के लिए प्रत्यक्ष अनुभव बन सकता है। ज्ञान तात्कालिक अनुभव का अंग है। इसीलिए कहा जाता है कि विज्ञान का विकास मानव की शारीरिक इंद्रियों के बाह्य स्थित विश्व की संवेदना में रहता है। दर्शन शास्त्र के इतिहास में ऐसे अनेक विचार मिलते हैं जो केवल बुद्धि की सत्यता को स्वीकार करते हैं और अनुभव की सत्यता को निस्सार मानते हैं। उनके आधार पर केवल बुद्धि ही विश्वसनीय है, संवेदना का अनुभव नहीं; परंतु सत्य तो यह है कि बौद्धिक विश्वसनीयता का भी-मूल्य केवल संवेदना से ही होता है। ज्ञान के लिए बौद्धिक विश्वसनीयता और संवेदना की आवश्यकता अपने-अपने स्थान पर पृथक-पृथक होती है।

सिद्ध-साहित्य में 'ज्ञान'

सिद्ध-कवियों की ज्ञान-विषयक धारणा बहुत-कुछ बौद्ध-दर्शन में प्रतिपादित 'विज्ञानवाद' से साम्य रखती है। इन कवियों में से अनेक महायान के आदर्शों के उपासक थे और शेष बौद्धधर्म से समुत्पन्न अन्य संप्रदायों के मानने वाले थे। बौद्धों की वही विचार-धारा इनके दार्शनिक चिंतन में लहरें ले रही हैं। जीवन के व्यावहारिक और साधनात्मक दोनों ही पक्षों में ये उन्हीं आदर्शों के परिपोषक थे; फिर भी मौलिकता और स्वतंत्र चिंतन का कहीं अभाव नहीं है। नवीं शताब्दी का कवि लुईपा रहस्यवाद पर विचार व्यक्त करता हुआ विज्ञान के संबंध में कहता है—

भाव ण होइ अभाव ण जाइ।
अइस संबोहे को पतिआइ॥
लुई भणइ बढ़! दुलख विणाणा।
तिधातुए विलइ ऊहु लागेना॥
जाहिर वण्ण चिन्ह रुअ ण जाणी।
सो कइसे आगम वैएं बखाणी॥
(हिंदी-काव्य धारा, श्री राहुल, पृष्ठ १३८)

प्रत्यक्ष है कि इस उद्धरण में कवि ने विज्ञान को परम तत्व का पर्याय-सा माना है। नवीं शताब्दी के कुक्कुरीपा ने विज्ञान को ज्ञान का पर्याय माना है। उसके मत से ज्यों ज्यों ज्ञान या विज्ञान प्राप्त होता है त्यों त्यों माया या अंधकार दूर होता जाता है। पूर्ण विज्ञान प्राप्त हो जाने पर कवि के शब्दों में ही—

मूलन खलि बाप संधारा॥
हँउ निरासी खमन भतारी।
मोहोर विगोआ कहण न जाई।
फिटल गो माए! अंतउडि चाहि।
जा एथु चाहम सो एथु नाहि।
पहिल विआण मोर वासना पूडा।
नाडि विआरते सेव बापुडा।
जाण जौवण मोर भइले से पूरा।
मूलन खलि वाप संघारा॥
भणथि कुक्कुरीपाए भवथिरा।
जो एथु बूझइ सो एथु वीरा॥
(हिंदी-काव्य-धारा, श्री राहुल, पृष्ठ १४४)

योगींदु कवि (सं० १००० वि०) की ज्ञान विषयक धारणा उनके ज्ञान, समाधि के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है—

जो जाया झाणग्गिएँ, कम्मकलंक डहेवि ।
णिच्च-णिरंजण-णाणमय ते परमप्प णवेवि ॥
ते हउँ-वंदउँ सिद्ध गण अच्छहिं जे वि हवंत ।
परम-समाहि महग्गियएं, कम्मिंधणइं हुणंत ॥
(हिंदी-काव्य धारा, श्री राहुल, पृष्ठ २४०)

यहाँ कवि ने नित्य निरंजन को ज्ञानमय माना है। इसी विचार का पोषण निम्नलिखित पंक्तियों में भी हुआ है—

जे दिट्ठे तुट्टंति लहु, कम्मइं पुव्व कियाइं ।
सो परु जाणहि जोइया, देहि वसंतु ण काइं ॥
देहा देवलि जो वसइ, देउ अणाइ-अणन्तु ।
केवल णाण-फुरंत तणु सो परमप्पु णिभंतु ॥
(वही, पृष्ठ २४४)

तथा—

देउण देउले णवि सिलए, णवि लिप्पइ णवि चित्ति
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ
मुक्खु जि झायहिं सव्व ॥
मुत्ति विहूणउ णाणमउ, परमाणन्द-सहाउ ।
णियमि जोइय अप्पु मुणि, णिच्चु णिरंजण भाउ ॥
(वही, पृष्ठ २४६)

जहाँ एक ओर कवि योगींदु ने ज्ञान को परमानंद माना है वहाँ दूसरी ओर वह ज्ञान को मुक्ति का साधन भी मानता है। कवि के ही शब्दों में—

तित्थहं तित्थु भमन्तहं, मूढहं मोक्खु ण होइ ॥
णाण विवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ ॥
चेल्ला-चेल्ली पुत्थियहिं, तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिं लज्जइ णाणियउ, बंधहँ हेउ मुणंतु ॥
(वही, पृष्ठ २४८)

मुनिराम सिंह (समय संवत् १८०० वि०) भी योगींदु की भाँति निरंजन को 'वण्ण विहूणउ' कहने के साथ ज्ञानमय मानते हैं—

वण्ण विहूणउ णाणमउ, जो भावइ सब्भाउ ।
संतु णिरंजणु सो जि सिउ तिहि किज्जइ अणुराउ ॥
(वही, पृष्ठ २५४)

जिन दत्त सूरी (समय ११०० ई०) के मत से गुरु के चरणों के पुण्य से ही मनुष्य मधुरूपी शुद्ध ज्ञान का पान करता हुआ अमर होता है। यहाँ पर भी कवि ने ज्ञान को मुक्ति का साधन माना है।

तसु पयपंकउ पुन्निहिं पाविउ जेण भमरु ।
सुद्ध नाण महु गाणु करतउ हुइ अमरु ॥
सत्थु हुंतु सो जाणइ, सत्थपसत्थ सहि ।
कहि अणु वमु उवमिज्जइ केण समाण सहि ॥
(वही, पृष्ठ ३५०-३५४)

धार्मिक सिद्धांतों का मनन और अध्ययन भी कवि ज्ञानार्जन में सहायक मानता है।

इय जिणदत्तुवएसु जि निसुणहि ।
पढहि गुणहि परियाणवि जि कुणहि ।
ते निव्वाणु रमणि सहु विलसहि ।
वलिउ न संसारिण सहु मिलिसहि ॥
(वही, पृष्ठ ३५६)

नाथ-साहित्य में 'ज्ञान'

नाथ संप्रदाय में 'ज्ञान' शब्द कई प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से भी वे कहीं कहीं सिद्ध और जैन कवियों की परंपराओं से प्रभावित प्रतीत होते हैं। नाथ-संप्रदाय में ज्ञान कभी ब्रह्म के अर्थ में ग्रहण किया गया है, कभी ब्रह्म प्राप्ति के साधन के रूप में व्यक्त हुआ है, कभी उस चरम सत्य के रूप में जो अंधकार में प्रकाश का संचार करता है, कभी वह भव-सागर से उत्तीर्ण होने में सहायक नौका के रूप में ग्रहीत हुआ है और कभी बौद्धों के 'विज्ञानवाद' का अभिप्राय संप्रेषित करने के हेतु में। इन विभिन्न दृष्टियों से 'ज्ञान' शब्द बहुरंगी भावों को लेकर पाठकों के समक्ष व्यक्त हुआ है। नाथ साहित्य में कुछ स्थानों पर यह शब्द आत्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। शुद्ध आत्मा ब्रह्म का अंग मानी गई है। इस दृष्टि से ज्ञान ब्रह्म का ही स्वरूप सिद्ध होता है।

नाथ-साहित्य के युगप्रवर्तक कवि तथा नाथ दर्शन के आचार्य गुरु गोरखनाथ के काव्य में भी ज्ञान इन्हीं उपर्युक्त दृष्टिकोणों में प्रयुक्त हुआ है। गोरखनाथ के मत से ज्ञान और गुरु, ये दो तूंबे हैं तथा चेतन इच्छा तँबूरे की डाँडी है। प्रस्तुत तँबूरे पर कसे हुए उन्मना अवस्था के तार बज उठे, तृष्णा खंडित हो उठी और बाल-कुमारी

माया से सद्गुरु ने निरंद सहज स्थापित करा दिया। इस प्रकार माया का मद और भ्रम दूर हो गया।[1] ज्ञान और ब्रह्म स्वयंभू हैं। बिना बीज के उनकी उत्पत्ति हुई। ज्ञान निराधार है, वह बिना आकाश का चन्द्र है, बिना ब्रह्माण्ड का सूर्य है, बिना मैदान का युद्ध है। इस परमार्थ के ज्ञाता के शरीर में ही ज्ञान का विकास होता है।[2] ज्ञान प्रकाश पुंज है।[3] ब्रह्म ही ज्ञान है। दृढ़ आसन पर बैठकर उस ज्ञान रूपी ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए।[4] ज्ञान बाण के सदृश है जो गुरुदेव के द्वारा मन में मारे जाते ही समस्त भ्रमों को विनष्ट कर देता है।[5] ज्ञान का उदय जीवन में बड़ी साधना के अनन्तर होता है। यही बाण का बिंधना है। इस ज्ञानोदय के होते ही माया शक्तिहीन हो जाती है।[6]

इसी प्रकार गोरख-साहित्य में ज्ञान के विषय में सविस्तर विवेचना की गई है।

इसके अनन्तर अब हम संत-साहित्य में ज्ञान के विषय में संतों की धारणा और मत का विवेचन करेंगे।

संत-मत में 'ज्ञान'

ज्ञान के विषय में संतों का मत विचारणीय है। संत साहित्य के कबीर, दादू, रैदास, सुन्दरदास, दरिया साहब (बिहारवाले), दरिया साहब (मारवाड़वाले), दूलन दास, चरनदास, सहजोबाई, दयाबाई, गरीबदास, धरमदास, यारी साहब, बुल्ला साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब और पलटू साहब आदि कवियों ने ज्ञान की परिभाषा आवश्यक तत्त्व, स्वरूप, प्रभाव और ज्ञान के पर्याय आदि पर सविस्तर अपने विचारों को प्रकट किया है। इन कवियों में से कतिपय परंपरागत विचार धारा से प्रभावित हैं और कतिपय स्वतंत्र चिंतन के आधार पर ज्ञान विषयक अपनी विचार धारा को व्यक्त करते हैं। संतों ने ज्ञान के तीन प्रकारों का सामान्यतया उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम है आत्म ज्ञान या ब्रह्मज्ञान द्वितीय है बाचक ज्ञान और तृतीय है पुस्तक ज्ञान। इनमें से अंतिम ज्ञान की उन्होंने बड़े विस्तार के साथ आलोचना की है। पुस्तक ज्ञान को व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से वे हेय समझते हैं। उनकी दृष्टि से आत्म ज्ञान ही मानव के लिए सबसे उपयोगी और साथ ही कल्याणकारी है।

कबीरदास के समय में ज्ञान के विषय में अनेक भ्रांत धारणाएँ प्रचलित थीं। एक इसी विषय को लेकर तत्का लीन विचारकों में भाँति भाँति की भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई थीं। जिस प्रकार अनेक नेत्र विहीन व्यक्ति हाथी के विविध अंगों का स्पर्श करते हुए उसी को पृथक् पृथक् हाथी मान लेते हैं ठीक उसी प्रकार ज्ञान के विषय में विचित्र विचार फैले हुए थे। कवि की बाणी में ही उसका मत पढ़िए।—

ज्यों आंधरे को हाथिया, सब काहू को ज्ञान।
अपनी-अपनी कहत हैं काको धरिये ध्यान॥
ज्ञानी से कहिए कहा, कहत कबीर लजाय।
अंध आगे नाचते, कला अकारथ जाय।
ज्ञानी मूल गवाइया, आप भये करता।
ताते संसारी भला, जो सदा रहे डरता॥*

वस्तुतः कबीर के अनुसार ज्ञान वही है जो हमारे हृदय में, मस्तिष्क में, चित्त से निम्न प्रवृत्तियों, कलुषित भावनाओं और सभी वासनाओं को हटा कर हममें वह ज्योति जाग्रत कर दे जो अंधकार में प्रकाश का संचार करती है, जो ब्रह्म का स्वरूप प्रदर्शित कर देती है, जो जीवन को माया की परिधि से ऊपर उठा देती है। वही ज्ञान है जो आत्म ज्ञान, ब्रह्म ज्ञान करा सके। संत कवि दादू के अनुसार ज्ञान की परिभाषा निम्नलिखित है—

तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादू को ज्ञान॥[2]

१ ग्यान गुरु दाक तूवा अम्हार, मनसा चेतनि डाडी।
उनमनी ताडी बाजन लागी, यहि विधि तृष्णा षांडी॥
(गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, पृष्ठ १०६)

२ सुणौ पंडित ब्रह्म गियान, गोरष बोलै जाण सुजान॥
बीज बिन निषजै मूल बिन बिरषा, पान फूल बिन फलिया।
बाझ केरा बालुडा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया
गगन बिन चन्द्रमा ब्रह्मांड बिन सूर, भूझ बिन रचिया थान।
य परमारथ ज नर जाणै, ता घटि परम गियान॥
(गोरखबानी, डा० बड़थ्वाल, पृष्ठ १०८)

३ वही, पृष्ठ ११४

४ आसन दिढ़ करि धरौ धियान, अह निस सुमिरौ ब्रह्म गियान॥
(वही, पृष्ठ १२४)

५ वही, पृष्ठ १२६

६ वही, [illegible] १२६

* संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४४

२ संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९१। ६

दरिया साहब (बिहारवाले) के अनुसार वही ज्ञान है जो मन को परिष्कृत और शुद्ध करता है।

ज्ञान होई तो मन को चीन्है,
ज्ञान बिना मन करता।
साढे तीन में बुद्धि भुलानी,
वो अविगत नहीं मरता ॥[1]

कबीर, दादू और दरिया साहब (बिहारवाले) की ज्ञान-परिभाषा की तुलना मे गुलाल साहब की निम्नलिखित परिभाषा अधिक स्पष्ट और विस्तृत है—

प्रेम परतीत धरि सुरति सो निरति करि,
याही है ज्ञान सतगुरु पावै ।।
न तो धोखा धधा लिए कपट हारे हिए,
मेरा अरु तोर ते जन्म जावै ।।
नाम सो रीति नहिं साध सो प्रीति नहिं,
धोखा लिए ज्ञान भरि जन्म धावै ।
कहैं गुलाल यह वचन सांचो सुनी,
यही है सत्त जो कोऊ पावै ।।[2]

गुलाल साहब के मत से निर्गुन ब्रह्म का ध्यान ही सच्चा ज्ञान है—

यह प्रताप जब होवे हो, होइ संत सुजान।
बिनु हरि कृपा न पावै हो, मत अवरन आन ।।
कह गुलाल यह निर्गुन हो, संतन मत ज्ञान।
जो यह पदहिं विचारे हो, सोइ है भगवान।।[3]

प्रायः सभी सत कवियों का विश्वास है कि ज्ञान बडे भाग्य और उद्प्रयत्नों से प्राप्त होता है। ससार में विरले ही ऐसे व्यक्ति हैं जो साधना करते हुए ज्ञान के अर्जन में सफलीभूत होते हैं। ज्ञान का मार्ग कठिन है, फिर भी दु:साध्य नहीं है। उस पर बड़ी सतर्कता के साथ आगे बढना चाहिए। इस ज्ञान का स्रोत है सद्गुरु जो मनुष्य को दिव्य दृष्टि प्रदान कर देता है। बिना गुरु के ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है, यह ध्रुव सत्य है। ज्ञान का प्रसाद उसी की कृपा पर निर्भर है। गुरु ही ज्ञान का मार्ग प्रदर्शित करता है। गुरु की कृपा के बिना प्राप्त ज्ञान निस्सार और थोथा है। बिना गुरु के पथ-प्रदर्शन के साधक जीवन पर्यंत साधना-पथ पर भटका करता है। गुरु की प्रसन्नता से वह क्षण मात्र में ज्ञान प्राप्त कर लेता है और जीवन सफल हो जाता है। कबीर दास[1], दादू[2], सुन्दरदास[3], सहजोबाई[4], दयाबाई[5], चरनदास[6], गरीब दास[7], मीखा साहब[8], पलटू साहब[9], धरमदास[10], और गुलाब साहब[11], इसी मत के पोषक हैं। इन सभी कवियों ने भिन्न शैली मे नए-नए रूपकों, उपमाओं और दृष्टान्तों के द्वारा इस बात को अनेक प्रकार से कहने का प्रयत्न किया है।

सतों की दृष्टि में ज्ञान का बड़ा महत्त्वपूर्ण और चमत्कारी प्रभाव होता है। बिना ज्ञान के मानव निरंतर विविध योनियों में भटकता हुआ आवागमन के बंधन में भ्रमता रहता है। अज्ञान और माया का घनिष्ठ सबध है। अज्ञान भी माया से ही उत्पन्न होता है। ज्ञान माया और अज्ञान दोनों का ही नाशक है। जैसे रवि के प्रकाश से कुहरा छँट जाता है ठीक उसी प्रकार ज्ञान की ज्योति समस्त अंधकार को विनष्ट कर देती है। बुल्ला साहब के शब्दों में—

ज्ञान ध्यान बसि भयो मोर।
तन से भागे सबहि चोर।।
दसो दिसा में भयो सोर।
बुल्ला सेवक प्रभू तोर ।।[12]

यही भाव गुलाल साहब ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

१ दरिया साहब के चुने हुए शब्द १० । २
२ गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ १०६ । ६
३ वही, पृष्ठ १३० । १३

१ कबीर ग्रथावली, सद्गुरु को अग
२ दादू दयाल की बानी, भाग १, सद्गुरु को अंग
३ सुन्दर ग्रथावली, भाग २, सद्गुरु को अग
४ सतबाणी सग्रह, भाग १, पृष्ठ १५४।३
५ वही, पृष्ठ १६७।५
६ भक्ति सागर, सद्गुरु को अग
७ गरीबदास की बानी, ५३।४६
८ सतबानी सग्रह, भाग १, पृष्ठ २०७।१
९ वही, पृष्ठ २१६।४
१० धरमदास की बानी, पृष्ठ ३४
११ गुलाल साहब की बानी, १२३।१
१२ बुल्ला साहब का शब्द-सागर ११।५

ज्ञान उद्योत करि हृदय गुरु वचन धरि
जोग संग्राम के खेत आवै ।[१]

बुल्ला और गुलाल साहब से सहमत होकर दयाबाई[२] और धनी धर्म दास[३] ने भी ज्ञान को प्रकाश प्रतीक माना है। सहजोबाई ने ज्ञान को सत्य और असत्य को परख की कसौटी माना है।[४] मारवाड़वाले दरिया साहब को नाम के संयोग से ही ज्ञान प्राप्त होता है।[५] गुलाल साहब के मत से ज्ञान समदृष्टि और सत्य का दाता है। ज्ञानी संसार में सभी जीवों को समान भाव से देखता है—

ज्ञान करो मन बाँधि के लगन लगाइया।
निरखि रहो तह नाम तत्त ठहराइया॥
जुग-जुग अचल अपार परम पद पाइया।
कह गुलाल सम दृष्टि तबहि नर पाइया॥[६]

रैदास ज्ञानोदय से समस्त कर्मों का विनाश मानते हैं।[७] गरीबदास ज्ञान के बिना समस्त साधना, आचार विचार, और तपस्या-दानादि व्यर्थ मानते हैं—

ज्ञान विचार न ऊपजै क्या मुख बोलै राम।
सख बजावे बादई रटे न निरगुन नाम॥
ज्ञान विचार विवेक बिन क्यो दम तोरै स्वान।
क्या होत हरि नाम सू जो दिल ना विस्वास॥
ज्ञान विचार विवेक बिन क्यो भौंकत है स्वान।
दस योजन जल में रहै भीजत ना पाखान॥[८]

ज्ञान के महत्त्व और उपयोगिता को व्यक्त करने के लिए कवियों ने उसे अनेक विशेषणों से अलंकृत किया है तथा लौकिक पदार्थों के साथ उसकी उपमा देकर अधिक बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। संत कवि दादू उसकी तुलना अग्नि से करते हैं। जैसे अग्नि समस्त विकारशील और विनाशशील तत्त्वों को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान भी।[१] संत कवि केशवदास[२], यारी साहब[३], सुंदरदास[४] धरमदास[५] दरिया साहब (बिहारवाले)[६] कबीर[७] आदि ने ज्ञान को दीपक की संज्ञा दी है। इसी प्रकार कबीर ने उसको अनहदनाद[८], खड्ग[९], हाथी[१०], रत्न की कोठरी[११] और आँधी[१२] की संज्ञा प्रदान की है। सुंदरदास उसकी उपमा अनमोल खजाने से देते हैं।[१३] दरिया साहब (मारवाड़वाले) ने उसे केवट[१४] और बिहारवाले ने उसे घोड़ा[१५] माना है जो भवसागर से उतरने में सहायता देता है। दयाबाई ज्ञान को सूरज[१६], गरीबदास कामान[१७] गलीचा[१८] हिंडोरा[१९] और सागर,[२०] भीखा साहब उसे रत्न खान,[२१] पलटू साहब उसे घोड़ा,[२२] तरकस,[२३] तुलसी साहब उसे सूप मानते हैं जो सार सार को ग्रहण कर लेने के हर प्रकार समर्थ है,[२४] धरनी दास ने ज्ञान को कैंची,[२५] बाण[२६] और मन रूपी हाथी पर नियंत्रण रखने का

१. गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ १०६।७
२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, १८७।२
दृष्टव्य दयाबाई की बानी १३।२
३ संत-बानी संग्रह भाग २, ४२।१
४. वही, भाग १, १६३।६
५. वही, १२७।६
६. गुलाल साहब की बानी, ७३।५६
७ संत बानी संग्रह, भाग २, ३४
८ गरीबदास की बानी, ६३।१

१. संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ८२।६
२. केशवदास की अमीघूंट, ६।८
३. यारी साहब की रत्नावली, ३।६
४. संत बानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १२५।२
५. संत बानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ ४२।१
६ दरिया साहब की बानी, पृष्ठ ४०।१
७. संत बानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५।७
८ संत बानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ७।३
९. वही, पृष्ठ २८।६
१०. वही, पृष्ठ ४५।७
११ वही, पृष्ठ ४६।२०
१२. वही, पृष्ठ ४०
१३ वही, पृष्ठ १०६।८
१४ वही, पृष्ठ १२१।५
१५ दरिया साहब की बानी, पृष्ठ २८।५
१६ संत बानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १७६।३
१७. वही, पृष्ठ १८१।३
१८ वही, पृष्ठ १८६।२६
१९. संत बानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १६६।१
२०. गरीबदास की बानी, पृष्ठ ६५।१
२१. संत बानी संग्रह, भाग १, २०६।६
२२ वही, २१७
२३. वही, २१७
२४ वही, २३७
२५. धरनी दास की बानी, पृष्ठ ३।५
२६ वही, पृष्ठ ३३।६

अंकुश,[1] गुल्ला साहब ने ज्ञान को रत्न,[2] और सागर[3] तरकश[4] की विशेषताओं से युक्त माना है।

ज्ञान की उत्पत्ति के संबंध में कवियों के मत कुछ कम रोचक नहीं हैं। इस विषय पर उनमें पर्याप्त मतभेद प्रतीत होता है। बिहारवाले दरिया साहब का मत है कि ज्ञान का उद्रेक अनुभव से होता है।[5] सुंदर दास जी दरिया साहब से सहमत हैं।[6] लेकिन चरन दास का विचार कुछ और है। वे ज्ञान का विकास प्रेम से मानते हैं।[7] दूलन दास का मत है कि धैर्य पूर्ण साधना के बिना ज्ञान का उद्गम नहीं हो सकता है।[8] तुलसी साहब का कथन निम्नलिखित पंक्तियों में पठनीय है—

सतन की साखी सभी,
देत जुगन जुग ज्ञान।
सत संग करके बूझ लें,
करत सभी परमान ॥[9]

१ वही, पृष्ठ १६।६
२ गुल्ला साहब की बानी, पृष्ठ ११।१४
३ वही पृष्ठ १२।३
४ वही पृष्ठ १६।८
५ दरिया साहब बिहारवाले की बानी, पृष्ठ २२।३२
६ संत बानी संग्रह भाग २ पृष्ठ ११६।२
७ वही, भाग १, पृष्ठ १४४।१
८ वही, पृष्ठ १३७।१
९ वही, पृष्ठ २३०।१

और पलटू साहब का कथन है कि संत-संगति ही ज्ञान का उद्गम स्थल है।[1]

ज्ञान के विकास के लिए कुछ आवश्यक तत्व या गुण हुआ करते हैं। संत दादू कहते हैं कि "भाई। ज्ञान के विषय में बड़ी बड़ी बातें न करो। मेरी समझ में तो मति, बुद्धि विवेक, विचार के बिना 'तृणत्र खादन्नपिजीवमान' मनुष्य का जन्म निस्सार है और जिसमें ये सब बातें हैं वही ज्ञानी है।"[2] इसी प्रकार तुलसी साहब भी ज्ञान के लिए भाव, भक्ति, मनन को आवश्यक मानते हैं।[3]

विगत पृष्ठों के अध्ययन से संतों की ज्ञान-विषयक धारणा स्पष्ट हो जाती है। साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि परंपरागत विचारधारा से कहाँ तक प्रभावित और पृथक हैं। परन्तु इन सभी मनस्वी विचारक, उदार-चेता संत कवियों की बातों को संत यारी साहब ने इन कतिपय शब्दों में कितनी सुंदरता के साथ व्यक्त कर दिया है। संतों के ज्ञान के विषय में इतना अधिक यदि पढ़ने का अवकाश न हो तो, यारी साहब की केवल निम्नलिखित पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी—

निरगुन चुनरी निर्बान, कोउ ओढ़ै संत सुजान।
हद बेहद के बाहर यारी, संतन को उत्तम ज्ञान ॥[4]

१ संत बानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २१४।१
२ वही पृष्ठ ८०।२
३ वही, पृष्ठ २२६
४ यारी साहब की रत्नावली, पृष्ठ २।२



साहित्य में अश्लीलता

प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र

साहित्य एवं कला में अश्लीलता के प्रश्न को लेकर प्रत्येक देश में समय समय पर वाग्वितंडा उठ खड़ी हुई है और फिर शांत हो गई है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि इस वाद विवाद का सदा के लिए अंत हो गया है। आज के सभ्य मनुष्य के सामने भी यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना हुआ है और आए दिन हम सुनते रहते हैं कि अमुक पुस्तक अश्लील साहित्य कह कर सरकार द्वारा जब्त कर ली गई है। साहित्य और कला में क्या श्लील है और क्या अश्लील इस प्रश्न का संबंध बहुत कुछ मनुष्य के प्रचलित नीति नियमों से है। और नीति नियम युग युग में बदलते रहते हैं इसलिए अश्लीलता का मानदंड भी सदा एक नहीं रहता। किंतु जिस युग में हम बात कर रहे हैं उसमें भी साहित्य और कला में अश्लीलता के प्रश्न को लेकर कम तर्क वितर्क नहीं हुए हैं, हालांकि उनका परिणाम कुछ भी नहीं हुआ है। समय-समय पर अश्लील साहित्य के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है और आंदोलन भी किया जाता है। अश्लील साहित्य का प्रकाशन एवं प्रचार बंद करने के लिए सरकार से यह आग्रह किया जाता है कि वह कठोर व्यवस्था का अवलंबन करे।

सरकार के हाथ में इसके लिए क्षमता रहनी चाहिए या नहीं इस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है। साहित्य एवं शिल्प में किस हद तक अश्लीलता सहनीय हो सकती है यह एक जटिल नैतिक समस्या है। क्या श्लील है और क्या अश्लील इस संबंध में कोई ऐसा मौलिक सिद्धांत भी नहीं है जिसके आधार पर साहित्य का श्लील एवं अश्लील इन दो भागों में विभाजन किया जाय। कानून की पुस्तकों में हत्या, चोरी, राजद्रोह आदि अपराधों की परिभाषा की गई है जिससे उन अपराधों के संबंध में एक निर्दिष्ट धारणा बनाई जा सकती है। किंतु अश्लीलता की कोई परिभाषा किसी कानूनी पुस्तक में नहीं की गई है।

सन १९२० ई० में अश्लील पुस्तकों की खरीद-बिक्री और प्रचार बंद करने के लिए जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन में अनेक देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। सम्मेलन का उद्देश्य था साहित्य का एक नैतिक मानदंड सुनिश्चित करके उसकी घोषणा करना। ग्रीस देश के प्रतिनिधि ने कहा कि इस प्रकार की कोई घोषणा करने के पूर्व अश्लीलता की एक परिभाषा हो जानी चाहिए। इस पर ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने आपत्ति करते हुए कहा कि अश्लीलता की कोई निर्दिष्ट परिभाषा नहीं हो सकती। इंगलैंड के कानून की किताब में अश्लीलता की कोई परिभाषा नहीं की गई है। अतः सम्मेलन में यही निश्चय हुआ कि अश्लीलता की कोई परिभाषा नहीं हो सकती।

सेंसर प्रथा शताब्दियों से प्रचलित चली आती है। इस प्रथा द्वारा मनुष्य के मनोभावों के स्वच्छंद प्रकाश पर अंकुश लगाया गया है। मध्य युग में जब धर्माचार्यों एवं धर्म पुरोहितों की समाज में प्रधानता थी सेंसर प्रथा का प्रयोग ईश्वर द्रोह एवं धर्म द्रोह के विरुद्ध किया जाता था। इसके बाद जब राष्ट्र की प्रधानता हुई तब ईश्वर-द्रोह और धर्म द्रोह की अपेक्षा राजद्रोह बड़ा अपराध माना गया और उसके दमन के लिए सेंसर-प्रथा का प्रयोग किया गया। औद्योगिक उन्नति एवं वैज्ञानिक आविष्कार की प्रगति बनी रहे इसके लिए यौन जीवन की पवित्रता पर दृष्टी रखी जाने लगी और ऐसे साहित्य एवं कला के प्रकाशन पर सेंसर की सजग दृष्टी रहने लगी जिससे नैतिक चरित्र के शिथिल होने की संभावना हो। वर्तमान युग विभिन्न मतवादों का युग है। मनोविश्लेषण विज्ञान ने यौन जीवन के संबंध में कुछ ऐसे रहस्यों का उद्घाटन किया है जिनसे हमारी परंपरागत नैतिक धारणाओं पर निष्ठुर आघात पहुँचा है। राजनीतिक क्षेत्र में शासक वर्ग के मतवाद के विरुद्ध किसी स्वाधीन मतवाद का प्रचार वांछनीय नहीं समझा जाता। नात्सी जर्मनी और फासिस्ट इटली में साहित्य एवं संस्कृति के विरुद्ध जो अभियान चलाया गया था वह मात्र असहिष्णुता के कारण। इसी प्रकार आज अमेरिका में कम्युनिस्ट

ाहित्य का जो दमन किया जा रहा है उसका कारण अश्लीलता नहीं है।

अश्लीलता के संबंध में कोई मानदंड स्थिर करना इसलिए कठिन हो जाता है कि एक देश में जो पुस्तक अश्लील समझी जाती है वह दूसरे देश में नहीं। इतना ही नहीं बल्कि एक समय में एक देश में जो साहित्य अश्लील समझकर गर्हित ठहराया गया वही दूसरे समय में उसी देश में सत् एवं श्रेष्ठ साहित्य के रूप में अभिनंदित हुआ। 'दि वेल ऑफ लोनलिनेस' नामक पुस्तक का प्रचार इंगलैंड में निषिद्ध कर दिया गया किंतु अमेरिका में उसके विरुद्ध कोई व्यवस्था नहीं की गई। 'मादम बॉवरी' नामक सुप्रसिद्ध उपन्यास किसी समय अश्लील समझ कर निषिद्ध कर दिया गया था। लेखक पर अश्लील साहित्य की रचना का अभियोग लगाया गया था और अदालत में उसका विचार हुआ था। जेम्स ज्वायस का 'इउलिसस' उपन्यास अश्लील बता कर न्यूयार्क की अदालत द्वारा जब्त कर लिया गया। २० वर्षों तक यह उपन्यास अश्लील साहित्य के रूप में ही परिचित रहा। अब तो इसकी गणना विश्व के श्रेष्ठ साहित्य में होने लगी है। न्यूयार्क में ग्रीक नाटक 'सेफो' का अभिनय इसलिए बंद कर दिया गया कि एक दृश्य में एक पुरुष को नायिका को गोद में उठाकर सीढ़ियों से ऊपर चढ़ते दिखलाया गया है। मार्क ट्वेन के 'टाम सेयर' ग्रंथ पर यह अभियोग लगाया गया था कि इससे बच्चों का नैतिक चरित्र दूषित हो सकता है। आस्कर वाइल्ड के 'डोलियन ग्रे' शार्लट ब्रांटी के 'जेन आयर', नेथेनियल हथर्न के 'स्कारलेट लेटर' जार्ज एलियट के 'एडम बीड', हार्डी के 'टेस' और 'जूड' बर्नार्डशा के 'मिसेज वैरन्स प्रोफेशन' आदि पुस्तकों को लेकर भी अश्लीलता का प्रश्न उठा था। अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन के कविता संग्रह 'लीव्स ऑफ ग्रास' के विरुद्ध अश्लीलता का अभियोग लगाया गया था और इसके लिए उन्हें सरकारी नौकरी से अलग होना पड़ा था। किंतु पूर्व की अवस्था की तुलना में आज की अवस्था में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। साहित्य में नैतिक शुचिता का आदर्श आधुनिक मनोविश्लेषण विज्ञान, जीव विज्ञान एवं यौन विज्ञान के कारण द्रुत गति से परिवर्तित हो रहा है। हैवलाक एलिस का 'साइकोलॉजी ऑफ सेक्स' आज एक मान्य ग्रंथ के रूप में बड़े चाव से पढ़ा जाता है। कोयसलर रेमार्क, हेमिंग्वे, समरसेट मॉम आदि वर्तमान समय के जितने श्रेष्ठ लेखक हैं उन सब की कृतियों में प्रचुर मात्रा में यौन जीवन की अनुभूतियों के चित्र अंकित हुए हैं। अमेरिका के डॉ० किन्स वहाँ के तरुण-तरुणियों के यौन-जीवन के संबंध में जो सब विवरण प्रकाशित कर रहे हैं उनका बहुत प्रचार हो रहा है। इन सब विवरणों में नर नारियों के यौन-जीवन संबंधी आचरण की जिस रूप में व्याख्या की गई है उसे पढ़ कर बड़े से बड़े यथार्थवादी भी नाक भौं सिकोड़े बिना नहीं रह सकते। आज के वस्तुवादी साहित्य में समग्र जीवन को लेकर आलोचना की जाती है।

इसलिए जीवन की सब से तीव्रतम अनुभूति यौनानुभूति को वर्जित कर के साहित्य किस प्रकार चल सकता है? जीवन में सद् और असद्, पाप और पुण्य, सुनीति एवं दुर्नीति सब के लिए स्थान है, और इनको लेकर ही जीवन है, इसलिए जिस साहित्य में समग्र जीवन का चित्रांकण होगा वहाँ ये सब आयेंगे ही। केवल साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं नाटक, सिनेमा, चित्रकला, मूर्तिकला, फोटोग्राफी सब में यह परिवर्तन देखा जा रहा है। इन सब में आज जीवन की वास्तविकता का चित्रण हो रहा है। कला में यदि जीवन की अभिव्यक्ति होती है तो पहले जीवन को नैतिक दृष्टि से शुचि एवं शुद्ध बनाना पड़ेगा। किंतु कठिनाई तो यह है कि नैतिकता का भी कोई सर्वसम्मत मानदंड अभी तक स्थिर नहीं हो सका है। वर्तमान युग के नीति शास्त्र में सब विषयों की खुल कर आलोचना की जाती है। जीवन का कोई भी विषय गोपनीय नहीं माना जाता।

इस संबंध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि प्राचीन काल के ऐसे कितने ही साहित्य हैं जो आज के नैतिक शुचिता के समर्थकों की दृष्टि में अश्लील समझे जाते हैं। विद्यालयों के छात्रों के लिए उनका पढ़ना वर्जित है। पाठ्यक्रम में उन सब अंशों को सम्मिलित नहीं किया जाता जो आज अश्लील समझे जाते हैं। कालिदास, विद्यापति, जयदेव आदि के काव्यों में इस प्रकार के तथाकथित अश्लील अंश अनेक हैं। हिंदी के कवियों में सूर, विहारी, देव, मतिराम, पद्माकर, और भारतेंदु हरिश्चंद्र भी इस तथाकथित अश्लीलता से नहीं बचे हैं। किंतु प्राचीन काल में कभी किसी ने इन सब कवियों के विरुद्ध अश्लीलता का

भियोग नहीं लगाया। मिल्टन ने लिखा है कि प्राचीन ल में एक मात्र अश्लीलता के अभियोग पर कभी ई पुस्तक राज्य द्वारा जब्त नहीं की गई। प्लेटो का थन था कि होमर कवि की रचनावली बच्चों के हाथ में हीं पड़नी चाहिए। किंतु, फिर भी अश्लीलता के अभि- ग पर पुस्तक जब्त करने की बात किसी ने नहीं कही।

अब हम अश्लीलता संबंधी कानून पर विचार करें। ह पहले ही कहा जा चुका है कि अंगरेजी कानून में श्लीलता की कोई परिभाषा नहीं की गई है। इसलिए यायाधीशों को अश्लीलता के अभियोग में कानून की टि से विचार करने में अपनी विवेक-बुद्धि से ही काम लेना ड़ता था। सन १८६८ ई० में न्यायाधीश कॉकबर्न ने अश्लीलता के संबंध में एक व्यवस्था (रूलिंग) दी। वह व्यवस्था थी—'मेरे विचार से अश्लीलता की कसौटी यह हो सकती है कि जिस विषय वस्तु पर अश्लीलता का दोषारोपण किया जाता है उसकी प्रवृत्ति उन लोगों को हीन और दूषित करने की है या नहीं जिनके मन इस प्रकार के अनैतिक प्रभाव से बहिर्भूत नहीं हैं, और जिनके हाथों में इस प्रकार के प्रकाशन के पड़ने की संभावना है।'[१] अश्लीलता के संबंध में भारतीय कानून भी बहुत-कुछ ब्रिटिश कानून जैसा ही है। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि किसी अश्लील पुस्तक का रखना अपराध नहीं है। अश्लील पुस्तक का वितरण या विक्रय अपराध समझा जाता है।

किसी पुस्तक की विषय वस्तु किसी व्यक्ति विशेष या अपरिणत वयस्क बालक-बालिकाओं के लिए नैतिक दृष्टि से हानिकारक सिद्ध हो सकती है केवल इसी आधार पर यदि उसका प्रचार बंद कर दिया जाय तो यह अन्याय होगा। कारण महाभारत, बाइबिल, संस्कृत के काव्य और नाटक, गीत गोविंद तथा वैष्णव कवियों की पदावली में ऐसे कितने ही स्थल हैं जो उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार अश्लील समझे जायँगे और जिनको पढ़ने से मन के विकारग्रस्त होने की संभावना हो सकती है। चिकित्सा-शास्त्र और यौनविज्ञान-संबंधी ग्रंथ भी इसके अंदर आ जायँगे। किंतु आज कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि चिकित्सा शास्त्र या यौनविज्ञान-संबंधी ग्रंथों का प्रचार निषिद्ध कर दिया जाय। हैवलक एलिस के यौनविज्ञान विषयक ग्रंथ आज कितने मूल्यवान समझे जाते हैं। उनसे हमारी ज्ञान-परिधि कितनी विस्तृत हुई है।

१९४८ ई० में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के पेनसिलवेनिया राज्य सरकार के विरुद्ध एक मामला चला था जिसका प्रतिपक्षी गर्डनर नामक एक व्यक्ति था। मामले का विचारणीय विषय था साहित्य में अश्लीलता। न्यायाधीश कर्टिस बकने जो निर्णय दिया था उसमें उन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था कि अश्लीलता के अपराध में किसी पुस्तक का प्रचार निषिद्ध न करके उसे जनमत के ऊपर छोड़ देना चाहिए। यदि जनमत का सामना करती हुई वह पुस्तक टिक सकेगी तो उसके अश्लीलता दोष का निराकरण हो जायगा।

जिन पाँच पुस्तकों के संबंध में अश्लीलता का अभि-योग लाया गया था उन पर राय देते हुए न्यायाधीश बक ने लिखा था कि इन पुस्तकों के पढ़ने से हीन प्रवृत्ति को उत्तेजना नहीं मिलती। इसके विपरीत मानव-जीवन के शोचनीय परिणाम के संबंध में भयभीत हो जाना पड़ता है। किसी उपन्यास में यदि यह दिखाया जाता है कि एक दुर्निवार अधशक्ति द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य किस प्रकार अधःपतन की ओर क्रमशः बढ़ता जाता है तो इस चित्रण से पाठकों को मानव मन की दुर्बलता के ऊपर दया आती है। किसी पुस्तक के नैतिक मानदंड की परीक्षा करने की एक प्रणाली यह हो सकती है कि उसे हम अपने परिवार की नवयुवतियों के हाथ में निस्संकोच दे सकते हैं या नहीं। बक ने उपर्युक्त पुस्तकों के संबंध में कहा है कि इन पुस्तकों को बिना किसी संकोच या द्विधा के अपने परिवार की लड़कियों को पढ़ने के लिए दे सकते हैं। इन पुस्तकों को जो लोग पढ़ेंगे वे बच्चे नहीं हैं। जीवन के रहस्यों का उन्हें ज्ञान है। और यदि इन सब बातों का उन्हें पहले से कोई ज्ञान नहीं हो तो इसके लिए उनके अभिभावक उत्तरदाई हैं। प्रत्येक अभिभावक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह बालक-बालिकाओं को इस प्रकार की शिक्षा दे जिससे वे जीवन के रहस्यों को अच्छी तरह जान जायँ। उनके लिए कुछ भी गोपनीय नहीं रहना चाहिए। अपने घर में रहकर अपने अभिभावकों से यदि वे इन सब बातों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं करेंगे

१. आई थिंक द टेस्ट आफ आब्सिनिटी [illegible] दिस, वदर द टेंडेंसी आफ द मैटर चार्ज्ड ऐज आब्सिनीटी इज टू डिप्रेव एंड करप्ट दोज हूज माइंड्स आर ओपन टू सच इम्मोरल इन्फ्लुएंसेस एंड इन टू हूज हैंड्स ए पब्लिकेशन आफ दिस सार्ट मे फाल।

तो फलतः किशोर जिन तथ्यों का अनुभव प्राप्त करेंगे उनका परिणाम उनके मन और शरीर की स्वस्थता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। आज के युग में प्रत्येक विषय की, चाहे वह कितना ही गोपनीय क्यों न हो, वैज्ञानिक प्रणाली से आलोचना की जाती है। नर-नारी का यौन संबंध अब कोई ऐसा विषय नहीं समझा जाता जिस पर सदा के लिए एक रहस्य का आवरण पड़ा रहे और कभी खुलकर इस की विवेचना न हो। इसके विपरीत इसे सहजातवृत्ति के रूप में ग्रहण किया जाता है और इसके साथ किसी प्रकार की अनुचित भावना का संपर्क नहीं माना जाता। इसलिए सब कुछ का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जो लोग अपने नैतिक आचरण को शुचि एवं शुद्ध बनाए रखते हैं वे अवश्य ही प्रशंसा के पात्र हैं। अज्ञानता में रहकर चरित्र की रक्षा कबतक की जा सकती है? यहाँ तो पग-पग पर पतन का भय बना रहेगा। न्यायाधीश वल्ब का मन्तव्य है कि जीवन का ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसकी आलोचना दंडनीय मानी जाय। हाँ, यह देखना अवश्य होगा कि आलोचक का उद्देश्य क्या है और आलोचना करने में उसने किस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। गुप्त-से-गुप्त विषय की आलोचना भी शिष्ट एवं सुरुचिपूर्ण भाषा में की जा सकती है जिसका प्रभाव पाठकों के मन पर बुरा नहीं पड़ सकता। जिन सब पुस्तकों का उद्देश्य केवल गंदगी का प्रचार करना होता है, जो लेखक या प्रकाशक व्यावसायिक लाभ की दृष्टि से कामोत्तेजनापूर्ण अश्लील साहित्य का प्रकाशन करते हैं और पाठकों की रुचि को विकृत बनाने में सहायक होते हैं केवल उनका ही साहित्य अश्लील समझा जाना चाहिए। वल्ब के अनुसार वही साहित्य अश्लील और दंडनीय समझा जाना चाहिए जिस का मुख्य उद्देश्य और परिणाम रुचि मूलक प्रलोभन हो—अर्थात् जिसमें जान-बूझकर यौन वासना को सफल रूप से उत्तेजित किया गया हो। पुस्तक का उद्देश्य क्या है इस पर अधिक जोर न देकर इस बात पर जोर देना चाहिए कि पाठकों के मन पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा, जबतक यह सिद्ध न हो जाय तबतक वह साहित्य अश्लील होने के कारण दंडनीय नहीं समझा जा सकता।

किन्तु कठिनाई तो यह है कि किसी अश्लील पुस्तक को पढ़कर पाठक के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, उसकी प्रतिक्रिया किस रूप में हुई और कहाँ तक उसकी रुचि भ्रष्ट हुई इसका पता किस तरह चलेगा? और किस पुस्तक का प्रभाव सब पाठकों के मन पर समान रूप में पड़े इसका भी तो कोई निश्चयता नहीं। यह भी तो संभव है कि एक सबल चरित्र एवं सुदृढ मनवाले पाठक के मन पर किसी अश्लील पुस्तक का कुछ भी प्रभाव न पड़े जब कि एक दुर्बल चरित्रवाले के मन पर उसका विपरीत प्रभाव पड़े।

कतिपय विशिष्ट मनीषियों का यह भी विचार है कि अश्लीलता के विरुद्ध किसी प्रकार का कानून नहीं होना चाहिए। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिस पुस्तक को अश्लीलता के अभियोग पर निषिद्ध कर दिया जाता है उसे पढ़ने के लिए लोगों की उत्कंठा अति तीव्र हो उठती है। इस प्रकार के अश्लील साहित्य को लोग छिपकर पढ़ने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार अश्लील साहित्य को निषिद्ध ठहराने का परिणाम सर्वथा विपरीत होता है। यह ठीक है कि जो पुस्तक किसी प्रकार भी साहित्य की संज्ञा के अंदर नहीं आती और जिसमें अश्लीलता के सिवा और कुछ भी नहीं है उसका प्रचार अवश्य बंद कर देना चाहिए। किंतु जहाँ सच्चे अर्थ में रस साहित्य की सृष्टि की गई है और जीवन का एक परिपूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है वहाँ अश्लीलता के विरुद्ध खड्गहस्त होने से काम नहीं चल सकता। इस प्रकार के साहित्य में अश्लीलता को अनिवार्य समझकर ग्रहण करना ही होगा। यही कारण है कि संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ साहित्य एवं शिल्पकला की वस्तुओं में किसी न किसी रूप में तथाकथित अश्लीलता का अंश अवश्य पाया जाता है। फिर भी उनके पठन-पाठन से साहित्य रस पिपासु जनों का नैतिक अधः पतन हुआ हो ऐसा कोई नहीं कह सकता। साहित्य-स्रष्टा या कलाकार जिस समय किसी रसवस्तु की सृष्टि करने में तन्मय हो जाता है उस समय वह किसी बाह्य बंधन को मान कर नहीं चलता। अपनी कृति को एक सर्वांग सुंदर रूप देने के लिए उसे अभिव्यंजना की पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए। श्रेष्ठ साहित्य एवं शिल्प की सृष्टि तभी संभव हो सकती है जब कि उस पर किसी प्रकार का राजनीतिक अथवा सामाजिक अंकुश न हो। शिल्पकला के राज्य में पूर्ण स्वाधीनता अभीष्ट है। यहाँ

साधारण लौकिक दृष्टि से अच्छे बुरे का विचार नहीं हो सकता। जहाँ कलाकार को कानून के बंधन और राजशक्ति का भय मान कर कला की सृष्टि करनी पड़ती है वहाँ कला की मृत्यु हो जाती है। यदि कलाकार की यह स्वाधीनता नहीं होती तो हमें कालिदास और शेक्सपीयर के साहित्य और अजन्ता एलोरा की गुफाओं के चित्र कलात्मक सौंदर्य के चरम निदर्शन के रूप में प्राप्त नहीं होते।

अस्तु, साहित्य का विचार एक मात्र जनमत के न्यायालय में ही होना चाहिए। यदि किसी पुस्तक का साहित्यिक मूल्य नहीं होगा तो केवल अश्लीलता के बल पर चाहे वह कितनी ही लोभनीय क्यों न हो वह बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। सचेतन सुधी समाज स्वतः उसका वर्जन कर देगा। कुरुचिपूर्ण पुस्तकों की आयु कुछ ही समय तक रह सकती है। बाद में उसका विलोप होना अवश्यम्भावी है।

तूफान : श्री गंगाप्रसाद पांडेय

है मुझे तूफान की पहचान !
क्षितिज की अँगड़ाइयों से उठ रहा तूफान !!
घिर रही काली घटाएँ
ज्यों मनुज की भावनाएँ
जो पड़ी थी कभी थीं पा गईं वरदान !
उमड़ता है जलधि - बल-
ज्यों शोषितों की अतल कोमल-
साध से ही कर रहा युग प्रलय का आह्वान !
देख लो हँसता गगन
मँडती धरा, कँपता पवन
दश दिशाओं ने लिया तमतोम का परिधान !
यह विषम बल उत्पात
दिन का दहन उल्कापात
ढहता समय-हिमगिरिराज गाता ध्वंस ही का गान !
फट रहा आकाश
धरती धूल का आभास
नित नव क्रांति का परिणाम अभिनव सृष्टि का वरदान !
यह न कोई थोर
इसको कवि-हृदय में ठौर
डरते मनुजता के मोद पशुबल से बने बलवान !
तुम रचो नव भोर
समता से किरण की डोर-
बाँधे विश्व-जीवन साथ जन-जन का नया अभियान !
ऐसा यह नया तूफान !

☆

बिखरे दाने

श्री श्रीराम शर्मा 'राम'

श्रीमती रमाकांत ने एक दिन अपने पति को झकझोरकर कहा—'बताइये, इस संघर्ष का क्या अर्थ है कि आदमी ही आदमी का पतन करे! आदमी आदमी से ही अपना स्वार्थ पूरा करे! यह अच्छा है क्या?'

बाबू रमाकांत उस समय अपने मस्तिष्क से कुछ काम लेने के मूड में नहीं थे। दिन भर कचहरी में मवक्किलों से माथा पच्ची करनेवाला आदमी भला उस सुहावनी सन्ध्या के समय, जब शराब के दो पैग चढ़ चुका हो, तो अपनी उस सुंदर और सलोनी पत्नी से कुछ मनोरंजन की बातें सुनने के अतिरिक्त, देश तथा विश्व की समस्याओं में उलझने के लिए तैयार नहीं रहता। लेकिन पत्नी ने प्रश्नात्मक ढंग से बात कही, तो रमाबाबू सिगरेट का कश खींचते हुए, धुंधले हो आए अंतरिक्ष पर आँखें डाल कर बोले—'बात का उत्तर तो तुमने स्वयं ही पा लिया, कमला रानी!' उन्होंने कहा—'लेकिन प्रश्न यह हो सकता है कि स्वार्थ क्यों है?...यह संघर्ष क्यों?' कमला ने कहा—'इस विषय में मेरा मत यह है कि ब्रह्मा ने जब इस विश्व की रचना की, तो निस्सन्देह, उसके मन में संघर्ष की भावना भी निहित होगी।' उसी समय रमाकांत ने अपनी दृष्टि पत्नी की सुंदर आँखों पर टिका दी और कहा—'और यह संघर्ष ही तो जीवन है...मृत्यु ही जीवन! यह न हो, तो मनुष्य नहीं...मनुष्यता नहीं!'

इतना सुनकर, कमला किंचित क्षुब्ध हो गई। जिस संघर्ष की बात उसने की, वह कदाचित उसके पति ने नहीं समझी। उसने आँखें तरेर कर पति की ओर देखा और मुंह दूसरी ओर कर लिया।

किंतु उसी प्रसंग में रमाकांत ने फिर कहा—'इस जीवन का दूसरा नाम संघर्ष है। जिस ममता और त्याग की भावना में मानव का विकास हुआ है, उसी के पास ही—एक किनारे युद्ध का भी जन्म हुआ है। स्पर्धा, राग द्वेष और अहंकार भी वहीं पर प्रस्फुटित हुआ है! मानव का स्वभाव यह नहीं कि वह रेंगता रहे,— मनुष्य पसंद नहीं करता कि वह दूसरों की कृपा का दास बना रहे।' और फिर वह बोले—'कमला देवी, जिस विश्व में आज हम बैठे हैं तुम सोचती हो कि इसका निर्माण एक दिन यों ही हो गया था। नहीं, इस रूप में आने के लिए, इंसान को इस रूप में देखने के लिए—असंख्य इंसानों का संहार हुआ। इंसान के बलिदान की बड़ी लंबी कहानी है।' यह कहते हुए रमाबाबू ने गहरी सांस खींची और हाथ की सिगरेट फेंक दी। उन्होंने अपनी बात फिर आरंभ की—'जिन आत्म बलिदानों की कहानी तुम नित्य सुनती-पढ़ती हो, ऊपर से देखने में वह अवश्य ही स्वार्थ के संघर्ष की कहानी लगती है, परंतु यदि हम उन बलिदानों और असंख्य युद्धों की आत्मा में प्रवेश करें तो पाएँगे, उन्हीं से विश्व का सृजन और पतन हुआ है! 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का विकार भी उसी संघर्ष से प्राप्त हुआ है।'

कमला के मन की बात अब भी स्थिर थी। जिस 'स्वार्थ' की बात उसने उठाई, वह हल नहीं हुई! कदाचित इसीसे, वह पति की आखों की ओर देखती हुई बोली—'मैं नहीं समझी''''कुछ भी समझ नहीं सकी। तुमने तो बड़ा लेक्चर दे दिया। मेरी बात छोटी थी। केवल व्यक्ति व्यक्ति के स्वार्थ की बात!'

रमा बाबू ने जैसे चौंक कर कहा—'तुम नहीं समझी। मेरी बात भी उसी पर आधारित थी। एक व्यक्ति की बात ही समाज में प्रचारित होती है। देश में फैलती है। संघर्ष की पृष्ठभूमि हमारे स्वार्थ पर ही आधारित है।'

कमला ने कहा—'लेकिन यह पाप है। इसके कारण ही व्यक्ति और समाज सदा त्रस्त रहा है। छिन्न भिन्न होता रहा है।'

रमाबाबू ने इतना सुना, तो हँसने की इच्छा लेकर भी अपने को मौन रखा। कदाचित उन्होंने कमला की बात को स्वीकार कर लिया। पति को शांत देखकर कमला ने कहा—'क्या मैंने गलत कहा? हमारे बीच

पैसा ही है जिसने आदमी के अस्तित्व को बिगाड़ दिया है। इसके कारण ही व्यक्ति व्यक्ति से दूर हो गया है। हमारे घर का नौकर क्या हमारे बराबर आकर बैठ सकता है? भंगी का पेशा करनेवाला क्या हमारे समक्ष हो सकता है? मगर मैं कहती हूँ यह क्यों? केवल इसलिए कि हमारे पास पैसा है, शिक्षा है, ऊँची जाति का खिताब है। और वह फिर कुछ देर रुककर बोली—'समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र इन दोनों का यह सिद्धांत है कि जब व्यक्ति एक ओर अकेला अपना विकास नहीं कर सकता, तो अर्थ सिद्धि का हेतु भी एक व्यक्ति नहीं बन सकता है। यह सब सामूहिक योजना है। फिर क्यों शक्ति का दुरुपयोग किया जाता है? निर्बल क्यों सताया जाता है? गरीब क्यों दबाया जाता है? उत्पत्ति का वह भी साधन है—केंद्र है। मैं कहती हूँ यह अमानुषिकता है; बलात्कार है!'

उस समय रमा बाबू ने देखा कि बात कहते कहते कमला का मुँह रक्त वर्ण हो गया है। मानो उसके दिल का दर्द आखों में उतर आया। इसीसे, उन्होंने स्वयं गंभीर होकर कहा—'यह तुमने ठीक कहा है। कार्ल मार्क्स ने भी यही कहा था।'

कमला बोली—'और क्या यह सत्य नहीं कि पुरुष अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए ही तर्क-वितर्क द्वारा धर्म का जाल फैलाता है। जनता को फाँसता है···दुर्बल का खून···।'

सुनकर बरबस ही, रमाबाबू पीड़ित हो गए, तिलमिला गए, फिर एक दूसरी सिगरेट सुलगाकर, उसका बहुत सा धुआँ ऊपर को छोड़ते हुए बोले—'ओह!' और फिर कहा—'कमलारानी, भला इसका भी कोई अंत है। सत्य कहीं और है।' रमाबाबू ने दृष्टि आकाश की ओर उठाई और कहा—'तुम जिस भावना-भरे व्यक्ति की बात करती हो, वह भी तो एक जानवर है···अपनी आवश्यकताओं का क्रीतदास। तालाब की बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों से ही अपना पेट भरती हैं। ऐसे और भी हैं, जो जानवर का ही भक्षण करके अपनी उदर-पूर्ति करते हैं।' इतना कहकर वे फिर आग्रह-भाव से बोले—'एक आदमी अगर दूसरे आदमी का शोषण करे, अपने स्वार्थ के लिए किसी को ठगे, तो बुरा क्या है। जो ऊँचा है, वह नीचेवालों पर शासन करता है। और यह भी तो बात है कि जो नीचे पड़ा है, वह ऊपरवालों को किसी न किसी घात प्रतिघात की क्रिया के द्वारा नीचे पटक देने की कल्पना करता है। और इसीके लिए जीवन भर संघर्ष करता है। अवसर पाता है, तो अपने शिकार का वध भी कर देता है।'

कमला ने बात सुन ली। बात उसके पेट में उतर कर तिरोहित हो गई। किंतु निश्चय ही, उसे संतोष नहीं हुआ। इतना उसने अवश्य समझ लिया कि जो समस्या है, वह नहीं बदलेगी। वह चलेगी। निदान, जब अपनी बात समाप्त करके रमाबाबू मुसकराए, तो उत्तर में स्वयं कमला ने भी अपनी तरल आँखों को इस प्रकार उनकी ओर उठाया मानो उसे किनारा नहीं मिला है। उसकी समस्या का हल नहीं दीख पड़ा।

रमाकांत ने कहा—'आज का मौसम सुंदर है। गर्मी भी कम है।'

सुनकर, कमलाने जैसे अनजाने ही अपनी आँखों में हँस दिया।

फिर उसने सकुचा कर अपनी आखों को फेर लिया।

रमाबाबू ने फिर कहा—'आज का दिन वैसे भी अच्छा रहा। महीने में जितनी कमाई होती है, उसकी आधी तो आज ही प्राप्त कर ली।'

सुनते ही, कमला ने अपनी आँखें उठाकर कहा—'और मेरी वह धानी रंग की साड़ी ·हाथ का कंगन···'

'हाँ, हाँ, वह मैं इसी मास बनवा दूँगा। कल ही सुनार से बात करूँगा। इसी सप्ताह साड़ी भी ला दूँगा।'

कमला ने तब और अधिक उल्लासपूर्ण स्वर में कहा—'और देखते हो, पड़ोसी बैरिस्टर साहब ने कैसी सुंदर गाड़ी खरीदी है।' और फिर कहने लगी—'वह गाड़ी तो बड़ी है पर हम छोटी लेंगे। जब कहीं घूमने जाते हैं, तो मिलने-वालों को मोटर में बैठे देख, अच्छा थोड़े ही लगता है। सचमुच अपने में उस समय ·हीनता का भाव जाग जाता है।'

यह प्रसंग सचमुच ही, रमाबाबू के अनुरूप था, क्योंकि उस जीवन को पाकर उन्हें जहाँ अधिक से-अधिक रुपया उपार्जित करने का शौक था, वहाँ भव्य और सुंदर दीखनेवाला वातावरण भी उन्हें प्रिय था, परंतु कठिनाई यह थी कि राजा-महाराजाओं के तुल्य आमोद प्रमोद की उमंगों के साथ, रुपए का अधिक खर्च भी उन्हें पसंद नहीं था। इस बात का कमला को भी पता था। छोटा बर्तन था, उसे बड़ा नहीं किया जा सकता। रमा बाबू के

पिता निर्धन थे। छात्रवृत्ति पाकर उन्होंने शिक्षा पाई। इसलिए रमाकान्त उदार तो थे, परन्तु किसी को कुछ देना नहीं चाहते थे। वह वकील बने, तो बड़े घर की बेटी से उनका सम्बन्ध हो गया। भाग्य की बात कि वकालत का काम भी चल निकला। थोड़े ही समय में रमाबाबू ने यथेष्ट सफलता पाई, रुपया भी प्राप्त किया। उस समय, जब कमला ने मोटर की बात चलाई, तो उन्होंने कहा—'सच मुच, मेरे मन में भी यही लालसा है। मैंने मोटर डीलर्स से कहा भी है।'

कमला ने हर्षित होकर कहा—'जब मोटर खरीदिएगा तो मैं उसी में बैठकर अपने घर जल्दी आ जा सकूँगी। जमींदारी का काम भी देख आया करूँगी।'

रमाबाबू ने हँसकर कहा—'पर देवीजी, रुपया बहुत लगता है।'

कमला ने जैसे चिढ़कर कहा—'बस, यही बात है तुम्हारी। मैं कहती हूँ, रुपया तो आता और जाता है। जिन्दगी सलामत रहे, रुपया आगे-आगे चलता रहेगा।'

इस प्रसंग पर रमाबाबू प्रसन्न थे, वे कुर्सी से उठ खड़े हुए। और कमला को देखकर बोले—'तुम्हारे लिए मैं सब-कुछ करूँगा, रानी! रुपया क्या, कहो तो, आसमान के तारे भी तोड़ लाऊँ।'

कमला ने सुना, तो अपना सिर झुका लिया। उसने अपना कोई मत नहीं दिया।

किन्तु रमाबाबू बोले—'तुम्हें पाकर ही, मैंने जीवन पाया है। तुम्हारी इन आँखों में ही विष और अमृत·'

कमला ने अपनी दृष्टि उठाई और एकाएक कहा—'बस, बस, तुम्हें यही सूझता है। यही कहना अच्छा लगता है।'

लेकिन, रमाबाबू तो शराब की खुमारी में थे। उस समय मौसम भी सुहावना था। सो सचमुच ही, उन्हें लगा कि कमला की उन मादक आँखों में उनका प्राण उलझा हुआ था। तुरन्त ही उन्होंने कमला को पकड़ लिया। अपनी बाहों में समेट लिया। जैसे वह एक ऐसी विभूति थी, जिसे छोड़कर फिर नहीं पाया जा सकता था। अतएव, उस कमना को अपने हृदय के गहनतम अंधकार में छिपा लेने का भाव भी निरी चंचलता के साथ उनमें आ गया।

और यह सच ही था कि कमला सुन्दर थी—गुलाब की मादक कली-जैसी।

× × ×

इस प्रकार समय तेजी के साथ जा रहा था। दिन आता, चला जाता। एक दिन आया कि कमला और रमाबाबू में तृष्णा तो रह गई, परन्तु उनकी शक्ति नष्ट हो गई। रमाबाबू ने अपने उस समस्त जीवन में जिस सफलता के साथ धन उपार्जित किया था, उससे केवल उन्हीं को सन्तोष हुआ हो, सो बात नहीं, उनकी धर्मपत्नी कमला को भी हर्ष और अभिमान प्राप्त हुआ था। किंतु जीवन की वे उठती हुई भावनाएँ अब सूख गई थीं।

जीवन पथ के उतार पर आकर बाबू रमाकांत को लगा कि आगे का पथ जटिल है। अब तक चौरस रास्ता था, लेकिन अब टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी है। काँटे और खड्ड भी दिखाई देते हैं, उस पथ पर। अब उन्हें दीखा कि नारी और धन का भोग करना ही, मानो सत्य नहीं, शिव नहीं, सुन्दर नहीं। रमाबाबू के अंतर में उस समय जो इच्छा जागरित हुई, वह ऐसी थी, जो धन से नहीं खरीदी जा सकती व्यक्तियों में बाँटी भी नहीं जा सकती। रमाबाबू को यश की कामना थी। जीवनो परान्त उनका भी इतिहास बने, घर के बाहर समाज उन्हें याद करे—ऐसी एक अमर लालसा वह अवश्य ही पूरी करना चाहते थे।

लेकिन उस लालसा की कल्पना मधुर तो थी, पर प्राप्य नहीं। क्योंकि वह माँगती थी त्याग, सहानुभूति और प्रेम। सो इन तत्वों का तो रमाबाबू में सर्वथा अभाव था। उनकी छाती के नीचे जो दम्भ और स्वार्थ भाव एकत्र था, निश्चय ही वह कठोर था, सरल नहीं बन सका था। व्यक्ति के रूप में, समाज के उस जीर्ण-पथ पर जब वह गम्भीरतापूर्वक सोचते, तो पाते कि धन और यश दो धाराएँ अवश्य हैं, परन्तु दोनों का उद्गम-स्थान एक ही है। वह स्वीकार करते कि धन आता ही तब है कि जब व्यक्ति का यश बढ़ जाता है। व्यक्ति प्रसिद्ध हो जाता है। और प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए धन परमावश्यक है। लेकिन समाज कायर है और हीन भी, वह जिस याचनापूर्ण दृष्टि से धनवानों का धन देखता है, उसमें ईर्ष्या है और जलन है। कदाचित इसीलिये रमा बाबू का अपना यह निजी मत था कि पैसा मुफ्त में

किसी को नहीं देना चाहिए। 'सहानुभूति' जिस शब्दकोष से निकला हुआ शब्द है, उसकी यह तो परिभाषा नहीं कि पैसा कमाओ और लुटा दो।

निस्संदेह, रमा बाबू ने इस समस्या पर—समाज की हीन और दयनीय अवस्था पर अनेक दृष्टिकोणों से विचार किया था। शहर में बैठकर मवक्किलों से रुपया लेते हुए भी सोचा और अपनी जमींदारी में किसानों से लगान लेते हुए भी। सभी जगह उन्हें लगा कि व्यक्ति ही व्यक्ति से दूर है। व्यक्ति ही व्यक्ति को ठगता है। क्योंकि जब मवक्किल उनके पास आता और मुकद्दमा जीतने की आकांक्षा लेकर मेहनताना देते समय दाँत निपोरता, तब रमाबाबू को लगता कि यह व्यक्ति उन्हें ठगता है। और उनका विश्वास था, ईमानदार कचहरी में नहीं आता। जिसके पास स्वार्थ और दंभ नहीं, वह कानून का सहारा नहीं लेता, वह कानून के विरुद्ध चलकर जीतने का साहस नहीं करता। इसी प्रकार गाँव में प्रत्येक फसल पर किसान लोग उन्हें रुपया देते हुए हाथ जोड़ते, पैरों पड़ते। वे कहते—'सरकार, इस बार फसल नहीं हुई'''बीज की लागत भी वसूल नहीं हुई!' तो, उस अवसर पर भी, रमाबाबू को बरबस हँसी आती, कभी झुंझलाहट भी। क्योंकि उन्हें लगता कि अब यह व्यक्ति सहानुभूति की ओट में शिकार करना चाहता है। मुझे ठगता है। यह जिह्वा और शब्द-कला का प्रदर्शन करता है। शब्दों का जाल बिछाकर व्यक्ति के अंतर का कोमल पदार्थ छीन लेना चाहता है,—दुष्ट! संभवतः यही कारण था कि वे अपने व्यवसाय के दोनों स्थलों पर लोगों को फटकार देते थे। वह पूरा पैसा लेते थे। फलस्वरूप वे संगदिल थे; कठोर और हृदय-हीन भी समझे जाते थे।

जो हो, इस व्यक्ति-समाज में, जिसकी टेढ़ी-मेढ़ी पग-डण्डियाँ थीं, रामाबाबू को उन पर चलना नहीं था, उनका रास्ता साफ और चौरस था। उन्हें यह भी रुचिकर नहीं था कि यह अपना समाज, ये नर-नारियाँ पुरानी लकीर के फकीर बने रहें। उन्होंने अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन किया और शहर में रहने के नाते ऊँचे दर्जे के व्यक्तियों का सान्निध्य पाया। तो, उन्हें अपने समाज की उस जीर्ण और मटमैली अवस्था को देख कर, लगता कि यह समाज मर क्यों नहीं जाता, इसका अंत क्यों नहीं हो जाता! सब पशु हैं। हमें नया समाज चाहिए। नई भावना और नई प्रगति का मंत्र चाहिए।

एक दिन यही प्रश्न उन्होंने कमला के सामने रखा। सुनकर उसने कहा—'सभी तो ठगते हैं···सभी मूर्ख बनाना चाहते हैं।'—फिर बोली—'हमारे यहाँ आनेवाली इस कहारिन को ही देखो न, बर्तन मांजने का काम करती है और जरा कहीं-कुछ कह दो, तो आँख दिखाती है, कहती है, कामपसन्द न हो तो और रख लो, मेरा हिसाब कर दो।'

सुनकर रमा बाबू ने कहा—हूँ।

कमला फिर बोली—पेट भर गया है न; जेवर पहनती है, पान चबाती है। बर्तन मांजती हुई भी चारों ओर आँखें मटका कर घूरती है—चुड़ैल!

रमाबाबू ने मुसकरा कर कहा—सच!

कमला और अधिक विद्रूप बनकर बोली—'मैं कहती हूँ इन लोगों का दिमाग बिगड़ गया है। अब अच्छा खाने को मिलने लगा है न।'

रमाबाबू ने अपनी बात रोक ली। मत नहीं दिया। उसी दिन गाँव की जमींदारी से समाचार मिला कि फसल अच्छी नहीं हुई है। किसान इस बार भी पूरा रुपया न दे सकेंगे। रमाबाबू सोच में पड़ गए—कौन-सा उपाय करें कि रुपया पूरा मिल जाय।

उसी समय कमला ने कहा—'वैसे मेरे मन में यह बात है कि सभी अंधेरे में हैं। सचाई से दूर हैं।'

रमाबाबू ने कहा—'तुम्हारा मतलब?'

कमला बोली—'पाप का दरिया ऊपर से गिरता है। पाप नीचे से नहीं उपजता। समाज की भ्रष्टता का जन्म बड़े महलों से हुआ है, झोपड़ियों से नहीं।'—वह बोली—'कहने को मैं अभी कहारिन की बात कहती थी। परन्तु उसने जो कुछ सीखा, हमारे घरों से सीखा है—पाप करना भी यहीं से सीखा है।'

किंतु रमाबाबू ने उसकी बात अनसुनी करते हुए कहा—'जो अकर्मण्य हैं, मूर्ख हैं, वही लोग धनवानों को कोसते हैं। मैं गाँव जाकर किसानों के घर नीलाम करा दूँगा।'

कमला ने विरक्त भाव से मुसकराया—'बलवान सभी कुछ कर सकता है। परन्तु पाप का सृजन ही अधिक करता है।'

रमाबाबू ने खीझकर कहा—'तुम्हें नहीं पता! घी टेढ़ी उँगलियों से ही निकलता है।'

अंत में रमाबाबू कमला सहित गाँव में पहुँचे। उन्होंने किसानों से लगान माँगा। किसी को पिटवाया। किसी को धमकाया। किंतु रुपया तो किसानों के पास था नहीं। अतएव, कोई रमाबाबू के पैरों पर गिरता और कोई कमला के। कमला देखती कि गाँव का उन नारियों के परिधान भी पूर्ण नहीं, यथेष्ट नहीं। बच्चे जैसे जर्जर। मानों वे सभी मूक। सभी विपण्ण। उस अवस्था को देख, कमला के अंतर में कोलाहल उठा—हाय! हाय! इन्हीं को बेईमान कहा जाता है! इन्हीं की मेहनत से दुनिया अपना पेट भरती है और इनके पेट पर पत्थर बाँधा जाता है • राम राम॥

अगले दिन जब रमाबाबू और कमला सवेरे जंगल की वायु लेने गए, तो देखा एक खेत में कुछ नारियाँ अन्न के दाने चुग रही थीं। देखकर, कमला ने प्रश्न किया—'ये क्या कर रही हैं?'

रमाबाबू ने कहा—'खेत कटने पर कुछ अन्न के दाने गिरते हैं, वही चुने जा रहे हैं।' फिर बोले—'यहाँ गरीबी तो है। पर अन्न का सदुपयोग भी है। अभाव की पूर्ति तो किसी न किसी प्रकार हो ही जाती है।' थोड़ी देर रुक कर रमाबाबू ने फिर कहना आरंभ किया—'इस देश में एक कणाद ऋषि थे, वे इसी प्रकार खेतों का अन्न चुग कर उदर पूर्ति करते थे।'

एकाएक जैसे चौंककर, कमला ने कहा—'ये भी ऋषि हैं। गाँव के सभी लोग तपस्वी हैं। इन्हें शहरवालों ने गंदे और निकम्मे बना दिए हैं।' यह कहते हुए कमला को आवेश आ गया। उसका खून कुपित हो उठा। पित्त भी भड़का। तभी उसे खून की उल्टी हुई। वह खेत की मेंड़ पर बैठ गई। किंतु यह देख, रमाबाबू के पैरों की जमीन खिसक गई। कुछ औरतों की सहायता से कमला वापिस लौटी। वह बिस्तर पर पड़ गई। एकांत था। पति पास ही था। डाक्टर दवा देकर लौट गया था। तभी कमला ने कहा—'मैं अब जाऊँगी। तुम्हारा साथ छोड़ दूँगी। टूटी हो गई हूँ। अब कब तक रह सकूँगी? माना, तो एक बात कहूँ। यह जमीन किसानों को लौटा दो। रुपया भी बाँट दो। तुमने जीवन के भोग तो भोग लिए, अब खेत के दानों के समान अपने-आप को भी बाँट दो • सभी ओर बिखेर दो।

किंतु कुछ दिनों के बाद कमला अच्छी हो गई और स्वयं रमाबाबू बीमार पड़ गए।

उन्होंने अब अब तक जमीन का अधिकार तो नहीं छोड़ा, हाँ, अपना शरीर छोड़ दिया। एकाएक उनका हृदय चलते चलते रुक गया। श्मशानघाट से जब उनकी अस्थियाँ चुनकर लाई गई, तब वे विसर्जन से पूर्व कमला के सामने रखी गईं,। कमला उसे देखकर एकाएक चीख उठी। उसने सम्बंधियों सहित, गाँववालों को सुनाकर कहा—'हमारा कुछ नहीं है यहा हमारा कुछ नहीं।'

एक वृद्ध किसान आगे बढ़ा और बोला—'सबको तो सभी कुछ है। जो कुछ हम भोगते हैं, उसे सबको भोगने का अधिकार है।'

कमला ने उस वृद्ध की ओर देखा। उसके श्वेत बालों को देखा, और अपना अधिकार-पत्र उस वृद्ध की ओर बढ़ा कर कहा—'बाबाजी, आपने सच कहा, जो कुछ हमने पाया और भोगा, उसे दूसरे भी पाना चाहते हैं। और उन्हें पाना भी चाहिए। आज से जमीन मेरी नहीं। उन्हीं की है, जो इसे जोतते हैं।

वृद्ध ने कमला की ओर देखा। जरा मुसकराया। और साधुवाद दिया।

कमला ने कहा—'खेत के बिखरे दानों के समान ये अस्थियाँ भी हैं उस मनुष्य की, जो मुसकराता था, हँसता था और ममता मोह का व्यापार करता था, भोग और स्वार्थ ही जिसके जीवन का लक्ष्य था।' उसने दुखित होकर कहा—'बाबा' इन अस्थियों को आशीष दो। भगवान से कहो, ये जहाँ हों, सुखी हों, अलमस्त हों।'

बाबा गंभीर हो गया। उसने कहा—'हाँ, भगवान उनका भला करे। अन्न के दानों के समान वे फिर इस धरती पर पैदा हों। लोगों का भला करें।'—और कमला को इस बात का पता था कि उसके पति के क्रूर स्वभाव के कारण ही, उस वृद्ध का सर्वस्व छीन लिया गया था ••उसका एक बेटा अब भी जेल में पड़ा था•••'

रुक्मिणी देवी और उनका कला-क्षेत्र

श्री रामधारीसिंह दिनकर

थियोसाफी और ब्रह्मसमाज के विषय में सामान्य धारणा यह है कि ये धर्म उन वर्गों के हैं जिनके पास न तो विद्या का अभाव है और न धन का। किंतु, अपना देश तो अविद्या और निर्धनता का आगार ठहरा। इसलिए, थियोसाफी और ब्रह्मसमाज के केंद्रों में जाने पर शिष्टता, स्वच्छता और सुकुमारता की चाहे जितनी भी अनुभूति हो, किंतु मन के किसी कोने में यह बात रह जाती है कि यहाँ भारतवर्ष नहीं है और अगर है तो यह वह भारत है जो अपने कपड़े रोज धुलवा सकता है और जिसे अध्यात्म की रंगीनियों में विहार करने का पूरा अवकाश है।

रुक्मिणीजी थियोसाफिस्ट हैं और थियोसाफी के प्रधान केंद्र अड्यार (मद्रास) में रहती हैं। इसलिए, मैं यह अनुमान करके किंचित् उदासीन रहता था कि उनका कलाक्षेत्र भी धनिक-सम्प्रदाय का क्षेत्र होगा और भारत की आत्मा से उसका भी पूरा मेल नहीं होगा। किंतु, पिछले ६ अप्रिल को जब मैं कला क्षेत्र पहुँचा, मुझे यह जानकर सानंद विस्मय हुआ कि कलाक्षेत्र के संबंध में मेरा अनुमान गलत था।

कलाक्षेत्र का वातावरण रेशमी नहीं, सूती है। यहाँ भारत की निर्धन काया ही कला की साधना में लगी हुई है। कलाक्षेत्र में प्रवेश करते ही आप पर यह प्रभाव पड़ता है कि जो लोग यहाँ हैं, वे पलायनवादी नहीं हैं; वे सुख से जीवन बिताने को यहाँ एकत्र नहीं हुए हैं, प्रत्युत्, उनका ध्येय उच्च जीवन की खोज है। जब देश की परम्पराएँ एक के बाद एक विलुप्त होती जा रही हैं, तब यहाँ कुछ लोग हैं जो नृत्य, गीत और कुछ थोड़े-से कुटीर उद्योग के द्वारा भारत की प्राचीन संस्कृति के एक भाग को बचा रखने का उद्योग कर रहे हैं।

नीचे फैली हुई मुट्ठी भर बालू और धूल; मगर इसी रेत में हरियाली से लदे हुए शाखाओं की पंक्तियाँ और जहाँ-तहाँ मंडपाकार के छोटे छोटे कुटीर जिनकी दीवारें फटे बाँसों की जाफरी से बनी हैं और जिनके छप्पर नारियल के पत्तों से छाए हुए हैं। अलबत्ते, कुटीरों के भीतर की फर्श सीमेंट से जरूर बनी है जिससे कि ये झोपड़े भी स्वच्छ और सुखद दीखते हैं। यही है कलाक्षेत्र का बाहरी ढाँचा, वर्त्तमान भारत के समान ही निर्धन और मलिन। किंतु, इस ढाँचे के भीतर ऊँचे संकल्प की जो ज्योति जलती है वह इसकी निर्धनता को नगण्य और मलिनता को दूर कर देती है। इन्हीं झोपड़ों में कहीं तो संगीत के आचार्य और कहीं नृत्य के आचार्य रहते हैं, इन्हीं झोपड़ों में वे लोग हैं जो यूनिवर्सिटियों की चमकदार डिग्रियाँ हासिल करके भी धन कमाने को नहीं गए, बल्कि, कोई और ऊँचा काम करने को यहाँ चले आए; इन्हीं झोपड़ों में पीटर और नान्सी रहते हैं जो अमेरिका के हैं। किंतु, अब भारतीय लिबास में कलाक्षेत्र में वास कर रहे हैं। केवल लुंगी और चादर लपेटे हुए पीटर की लंबी, पुष्ट और सुघीर मूर्ति ऐसी लगती है, मानो, कोई वैदिक आर्य युवक किसी संग्रहालय से निकल कर यहाँ आ गया हो और नान्सी भी साड़ी और झुलले में खूब जेब देती है। इन्हीं झोपड़ों में कहीं विविध वय के बच्चों की पाठशालाएँ चलती हैं; इन्हीं झोपड़ों में कहीं शिक्षक तैयार किए जाते हैं; इन्हीं झोपड़ों में रेशमी साड़ी बनाने का काम चलता है और इन्हीं झोपड़ों में युवतियाँ और युवक कठोर अध्यवसाय के साथ भरत नाट्यम् और कथाकली की नृत्त साधना में लीन हैं। तड़क-भड़क का कहीं नाम नहीं; न तो कोलाहल है और न हाहाकारी प्रचार। तब भी समुद्र के कूल पर बसे हुए इस नवीन तपोवन में भारत की आत्मा अपनी सनातनता की रक्षा पत्ते ओढ़कर कर रही है। कच्चे धागों का यह ताना-बाना आसानी से टूट सकता है, किंतु, इन्हीं धागों से भारत का गौरव बुना जा रहा है। और तब भी राष्ट्रीय सरकार का ध्यान इस बात की ओर नहीं जा रहा है कि



तपस्विनी पार्वती की मुद्रा में रुक्मिणी देवी



बाईं ओर—वीणावादक श्री [illegible] म्बशिव ए्यर
दाईं ओर—संगीतमार्तण्ड श्री सुरेशाचार्य।



राधा की मुद्रा में रुक्मिणी देवी



कृष्ण की मुद्रा में रुक्मिणी देवी



माँ और बेटा



कृष्ण को खोजती हुई राधा की मुद्रा में रुक्मिणी देवी



एक विशिष्ट भंगिमा में रुक्मणी देवी

गोधूलि की गोद में चलनेवाले कच्चे धागों के इस उद्योग की कुछ थोड़ी हिफाजत ही कर दें।

सब से पहले रुक्मिणी देवी ने मेरा परिचय मैसूर के संगीत मार्तण्ड श्री के० वासुदेवाचार्य से करवाया। आचार्य केवल संगीत के ही नहीं, संस्कृत साहित्य के भी आचार्य हैं। उनकी अवस्था अब कोई नब्बे साल की है। किसी प्रकार हिंदी भी बोल लेते हैं। इस अवस्था में भी संगीत उनके कंठ से बलिष्ठता के साथ निकलता है और इस अवस्था में भी वे नए शिष्य तैयार करते जा रहे हैं। राष्ट्रपति ने जिन कलाकारों का संमान अभी हाल में किया है, उनमें श्री वासुदेवाचार्य का अन्यतम स्थान है। मैं उनके दर्शन से गद्गद् हो गया। औपचारिक बातों के सिलसिले में मुझे और कुछ नहीं सूझा तो मैं ने यह पूछ दिया कि इतनी उम्र हो जाने पर भी आपका स्वर अभी तक कैसे कायम है। आचार्य हँसे नहीं। उन्होंने बड़ी ही सहजता के साथ अपनी उँगली ऊपर को उठाई और बोले—'सब उसकी कृपा है।'

तब रुक्मिणी जी मुझे कलाक्षेत्र के प्रिंसिपल श्री करायकुडी साम्बशिव ऐय्यर की कुटी में ले गई। हम लोग जब पहुँचे, श्री ऐय्यर एक चौकी पर नंगे बदन लेटे हुए थे और हाथों से कुछ संकेत करते जाते थे। पास ही दूसरी चौकी पर एक युवती वीणा की साधना कर रही थी। श्री साम्बशिव इन दिनों दक्षिण भारत के सर्वश्रेष्ठ वीणा वादक हैं। वह युवती उनकी पुत्री थी जिसे वे वीणा की शिक्षा दे रहे थे। रुक्मिणी जी ने कहा कि श्री ऐय्यर की पुत्री ने वीणा की अच्छी तैयारी की है। इस पर मैंने कन्या के लिए सद्भावना प्रकट की। श्री साम्बशिव ने तमिल में कहा—हां, जहां तक देने की बात है, मैंने इसे यथेष्ट शिक्षा दी है। किंतु, उँगलियों में प्राण तो भगवान की प्ररणा से आते हैं।

बिहार में मैथिल पंडितों में जो श्रद्धेय व्यक्ति होते हैं, श्री साम्बशिव मुझे ठीक उन्हीं के समान लगे। सिर्फ धोती और तौलिया लपेटे हुए कला की साधना में रत ये ब्राह्मण भारत की आत्मा के सच्चे प्रहरी हैं।

मैंने रुक्मिणी जी से पूछा—आपने इतने बड़े बड़े आचार्यों को कैसे जुटा लिया और कहां से इनका पालन करती हैं।

वे बोलीं—पैसा तो माँग चाँग कर ही लाना होता है और दूँगी भी मैं इन्हें क्या? बस, कृपा करके यहाँ चले आए हैं और संस्थाएँ अच्छा वेतन दे कर बुलाना चाहती हैं तब भी यहाँ से जाने का नाम नहीं लेते। शायद, कला-क्षेत्र का वातावरण इन्हें संतुष्ट रखता है।

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं कथाकली का शिक्षण देखने को गया। कलाक्षेत्र में इस नृत्य के आचार्य श्री चंदू पन्निकर हैं जिनकी अवस्था पैंसठ से कम नहीं होगी। वे आज-कल एक नवयुवक को तैयार कर रहे हैं। इस नवयुवक ने कल्याण सौगंधिक नामक कथा का नृत्य किया। कथा यह है कि हनुमानजी अपने बुढ़ापे में हिमालय की घाटी में कहीं पड़े थे। इतने में उधर से भीम आ निकले। भीम की भीम मूर्ति देख कर मृग भाग चले, सिंह और व्याघ्र भय के मारे कन्दराओं में छिपने लगे और गजराजों को कायाकल्प हो गया। स्वयं हनुमानजी को भी साश्चर्य भय होने लगा कि यह दूसरा महावीर कौन है। इतनी सी बात को उस नवयुवक ने आध घंटे में दिखलाया। स्वयं तो मैं इतना ही समझ सका कि यह नृत्य अत्यंत कठिन और श्रमसाध्य है तथा इसमें योग और व्यायाम दोनों का गहरा पुट है। किंतु, पास बैठे हुए श्री चिंतामणि त्रिलोककर (प्रिंसिपल, असटेल ट्रेनिंग सेंटर) मुझे पद-पद पर समझाते जाते थे कि यह हस्त (हाथ से बताई गई मुद्रा) सिंहवाचक है, यह गजवाचक, यह आश्चर्यवाचक और यह आनंदवाचक इत्यादि। त्रिलोककर जी ने बताया कि कथाकली नृत्य आर्यों से भी प्राचीन है। जब आर्य आए, यह नृत्य पूर्ण रूप से यहाँ विकसित था और आर्यों ने इसे स्वीकार कर लिया। भरत के नाट्य सूत्र इसपर बाद को उतारे गए। जैसे भाषा में शब्द होते हैं, वैसे ही कथाकली नृत्य में हस्त यानी मुद्राएँ हैं। इन्हीं मुद्राओं के द्वारा लंबी लंबी पौराणिक कथाएँ मूक भाषा में कही जाती हैं। परिपाटी कुछ-कुछ गीत-गोविंद जैसी है। जैसे जयदेव ने प्रत्येक पद के पहले एक श्लोक में उसकी भूमिका दी है, वैसे ही इस नृत्य में भी एक श्लोक भूमिका के रूप में पहले आता है और तब पद गाए जाते हैं। नाचनेवाला गान में भाग नहीं लेता। जो भाव गाया जाता है उसे वह मूक मुद्राओं में प्रदर्शित करता है। कथाकली के पद मलयालम् में होते हैं, किंतु इन पदों में संस्कृत और मलयालम् का ऐसा सघन मिश्रण होता है कि सहसा यह कहना कठिन हो जाता है कि पद

संस्कृत में है या मलयालम् में। इस मिश्रित शैली को मणिप्रवाल शैली कहते हैं अर्थात् मणियों और प्रवालों को एक ही सूत्र में गुम्फित करनेवाली शैली।

दूसरे मंडप में जाकर भरत-नाट्यम् की साधना भी देखी। यहाँ तीन लड़कियाँ अभ्यास कर रही थीं। कथाकली के समक्ष भरत-नाट्यम् कुछ कोमल और शायद आसान भी है। परिश्रम तो इसमें भी है, किंतु कथाकली जितना नहीं। इसमें भी मुद्राओं का ही महत्त्व है। लेकिन, मुझे ऐसा लगा, मानों, हाथ से बनाई जानेवाली मुद्राएँ कथाकली में ही बहुत अधिक हैं। भरत-नाट्यम् में नेत्र संकेत, आकृति के हाव और अभिनय ही प्रधान हैं। त्रिलोककर जी ने बताया कि कथाकली पुल्लिंग और भरत-नाट्यम् स्त्रीलिंग है, क्योंकि कथाकली में नारी का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं और भरत-नाट्यम् में पुरुष का अभिनय भी नारी ही। रुक्मिणीजी भरत-नाट्यम् की ही साधिका हैं। प्रत्युत, उन्होंने इस नृत्य में इतनी नई रचनाएँ की हैं कि आज का भरत-नाट्यम् उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है।

कलाक्षेत्र में भारत के सभी भागों के शिक्षार्थी हैं और ये सब मिल कर जिस संस्कृति का क्षीर पीते हैं वह संस्कृत से भली भाँति पोषित और पवित्र है। गान में संस्कृत, नृत्य में संस्कृत, प्रार्थना में संस्कृत, मलयालम् भाषा में संस्कृत, यहाँ तक कि मांटेसेरी पाठशाला में दो से सात साल के बच्चों के जो अनेक समवेत गान सुने वे भी सब-के-सब संस्कृत में अथवा संस्कृत से भरे हुए थे। कलाक्षेत्र में भारतीयता अपने पूरे उत्कर्ष पर है और उसके वातावरण में थोड़ी देर तक घूमने पर भी मन अचानक तपोवन की कल्पना में लग जाता है। कलाक्षेत्र में मेरा मन मेरे जीवन के पन्ने उलटने लगा, पार्लमेंट, यूनिवर्सिटी, सेक्रेटेरियेट और कचहरी, सर्वत्र दुर्गंध ही दुर्गंध। जी हाँ, यूनिवर्सिटी जैसी पवित्र चीज भी बिहार में दुर्गंधपूर्ण है। तब क्या हो? हृदय का कायर मन कुछ सोच नहीं पाता और इकबाल की इस पंक्ति पर सारी उमंग चूर-चूर हो जाती है कि—'वनाश जिसकी है वह जिंदगी नहीं मिलती।'

शरीर से मैं रुक्मिणी जी के साथ घूम रहा था, लेकिन मन मेरा किसी अतल गहराई में निमग्न था। अचानक मैं चौंक उठा—'कला की तैयारी नहीं होती, कला की ओर मनुष्य सोच-समझ कर नहीं जाता। प्रत्येक कलाकार अपनी कला को, अपने जीवन के मिशन को पहले से ही निर्धारित पाता है, मानों यह उसकी किस्मत हो, मानों यह उसका निर्दिष्ट भाग्यलेख हो जिसे छोड़कर कहीं अन्यत्र भागने में वह असमर्थ है।'

रुक्मिणी जी बोलीं—'आप ठीक कहते हैं। यह पूर्व-निर्दिष्ट चीज होती है। इच्छा करने और योजना बनाने से आदमी कलाकार नहीं होता। वास्तव में, यह मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास है। मैं बचपन से ही कलामयी प्रवृत्ति की थी, किंतु, मेरी आसक्ति संगीत और कविता पर थी। नृत्य मुझमें संगीत के माध्यम से आया। संगीत के जरिए मैं विश्वविख्यात नर्तकी अन्ना पैवलोवा के संपर्क में आई और उन्होंने ही मुझे नृत्य सीखने की प्रेरणा दी। इस प्रकार, अपनी अभिव्यक्ति खोजते-खोजते मैं भारतीय नृत्य में चली आई।'

बातों बातों में रुक्मिणी जी आत्मचरित कहने की मुद्रा में आ गई और मैं उन्हें बढ़ावा देता गया। अतएव वे बोलती गई —'नृत्य को आध्यात्मिक बनाने की जरूरत नहीं होती। नृत्य तो आध्यात्मिक है ही। भरत-नाट्यम् के कलाकारों ने नृत्य को कुछ स्थूल वासनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बना दिया था यद्यपि, अच्छाइयाँ उसमें तब भी थीं। मुझे तो कुछ करना नहीं पड़ा। मैंने सिर्फ गंदगी को हटाकर जो सोना था उसे उठा लिया।'

उन्होंने यह भी कहा कि—'नृत्य रचने में मुझे पहले नृत्य के द्रव्य की प्रेरणा होती है, पहले उसके भाव आते हैं जिससे यह अनुमान होता है कि यह नृत्य किस प्रकार का होगा। तब मैं उसकी अभिव्यक्ति के लिए मुद्राएँ ठीक करती हूँ और इस प्रकार नृत्य तैयार हो जाता है।'

पाश्चात्य देशों का अनुभव बताते हुए उन्होंने कहा—'अपनी पार्टी को लेकर मैं कभी यूरोप नहीं गई। वहाँ तो मैंने सिर्फ वैयक्तिक प्रदर्शन ही दिए हैं और वह भी सिर्फ यूनिवर्सिटी और म्युजियम में उपयोग के लिए। कला का प्रेम पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही विश्वों में है। फर्क सिर्फ यह है कि भारत में कला का सच्चा प्रेम अशिक्षितों और ग्रामवासियों में है और पश्चिमी देशों में वह सारी जनता में व्याप्त है। पश्चिम के पढ़े लिखे लोग यह अनुभव करते हैं कि अगर सौंदर्य का आनंद लेने की शक्ति उनमें नहीं है तो उनका जीवन अधूरा और अपूर्ण है। किंतु, अपने देश में सौंदर्यानुभूति की योग्यता को लोग आवश्यक गुण नहीं

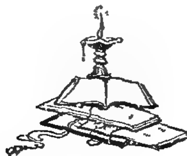
मानते। इन लोगों के सामने मैंने बहुत बार नृत्य किया और नृत्य उन्हें पसंद भी आया, लेकिन मुझे लगता है, ये दर्शक अच्छे और बुरे का भेद नहीं कर पाते। अच्छे और बुरे का भेद तो प्राय दक्षिण की ग्रामवासिनी जनता ही कर पाती है। वैसे नृत्य देखने का शौक अपने देश में कम नहीं है।'

नृत्य और कविता की तुलना करते हुए वे बोलीं—'नृत्य भी तो क्रिया की कविता ही है। मेरे जानते तो सभी कलाएँ एक हैं क्योंकि उनका उद्गम एक है, उनका उत्स और उत्पत्तिस्थान एक है। भरत के नाट्यशास्त्र में कहा गया है, कविता वाणी के रूप में आत्मा की भाषा है। यह भी एक प्रकार का अभिनय ही है जिसे हम वाचिक कहेंगे। कविता के बिना गीत नहीं, गीत के बिना नृत्य नहीं। इसलिए, ये सब आपस में सबद्ध हैं। चित्रकला और मूर्तिकला को लीजिए। दोनों में नृत्य की समानता है। मूर्ति तो पुजीभूत नृत्य ही है। एक समय था जब मूर्तिकार नर्तकों की नकल करते थे, आज ऐसा है कि नृत्यकार ही मूर्तियों से प्रेरणा लेते हैं।'

रुक्मिणी जी का विचार है कि 'भारतीय नृत्य पुरुष और स्त्री दोनों को शोभा दे सकता है, प्रत्युत, नृत्य में सफलता यहाँ दोनों वर्गों के लोगों को मिली है। फिर भी नृत्य में नारी और नर, दोनों की कुछ अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। दुःख की बात यह है कि आज कल पुरुष नारियों का अनुकरण करने लगते हैं जिससे उनकी अपनी विशेषता लुप्त हो जाती है।'

कला आत्मोत्सर्ग है, कला आत्मदान है। जिसे अपनी रक्षा करनी हो, अपनी गृहस्थी की रक्षा करनी हो, कला शायद, उसके लिए नहीं है। सोचते सोचते महादेवी की याद आई, पत की याद आई, निराला की याद आई। इनमें से किसी की गृहस्थी तो भगवान ने छीन ली, किसी ने अपनी गृहस्थी बसाई ही नहीं और किसी ने उजाड़ दी। इसीलिए, कला की देवी ने इन्हें औरों की अपेक्षा कुछ अधिक सामीप्य दिया। कला की आखिरी चढ़ाई सबसे कठिन होती है। यहाँ कृपणता से मृत्यु और पूर्ण बलिदान से जीवन मिलता है। किंतु, बलिदान किसके लिए? क्या देश की दुर्दशा में सुधार लाने के लिए? क्या इस सिद्धात को प्रबल बनाने के लिए कि कला सर्वहारा के हाथ की तलवार है? अथवा धन और यश की मात्रा बढाने के लिए? नहीं। बलिदान इसलिए कि मन को विश्वास हो जाय कि वह पूर्ण रूप से न्योछावर हो चुका है, कि वह निःशेष है, कि उसके पास बचाने की अब कोई चीज नहीं है। सगीत वह जिस पर अपना आत्मदेव रीझ जाय, कविता वह जिसे पाकर कवि भीतर ही भीतर स्वयं निहाल हो जाय, और नृत्य वह कि नाचनेवाली समझे, उसे कोई देख नहीं रहा है, वह अपने हृदय के मंदिर म कपाट बंद कर आप नाच रही है।

और रुक्मिणी जी कह रही थीं—'नृत्य मेरी भक्ति है, नृत्य मेरी आराधना है, मैं जनता के बीच भी केवल अपने इष्ट के आगे नाचती हूँ। नृत्य एक चेतना है जिसके आने पर मांसपेशियाँ अदृश्य हो जाती हैं, शरीर उस भाव को व्यक्त करने में जल जाता है जो आत्मा के देवता का भाव है। नृत्य के समय नर्तकी का शरीर कविता की पंक्ति बन जाता है, वीणा की रागिनी बन जाता है, हृदय का उच्छ्वास बन जाता है। शरीर अक्षर समूह है जिसके द्वारा नृत्य अपना छंद लिखता है।'



परिहार और प्रगतिवाद

श्री घनश्याम सेठी

इन दिनों यह फैशन-सा हो गया है कि साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करते हुए प्रायः लेखक और आलोचक प्रणय, रोमांस, आदि को परिहार (एस्केपइज्म) की संज्ञा देकर उससे अपनी अरुचि प्रगट करते हैं। व्यक्तिगत तौर पर साहित्य के तथाकथित प्रगतिवादी दृष्टिकोण से मुझे भी बहुत हद तक इत्तफाक है।

बात यह है कि सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और अखबारों की सुर्खियों से संबंधित विषयों पर लिखनेवाले प्रगतिवादी समझे जाते हैं। चाहे वे स्वयं उक्त विषयों के इतिहास, परंपरा, और महत्त्व से अपरिचित ही क्यों न हों। किंतु इनका मात्र नाम ले लेने भर से ही उनका काम चल जाता है। उर्दू के प्रसिद्ध लेखक श्री कृष्णचंद्र ने बंबई में बैठ कर तेलंगाना के संबंध में एक उपन्यास लिख मारा, यद्यपि स्वयं उन्होंने ही स्वीकार किया है कि तेलंगाना कांड से उनका दूर का भी संबंध नहीं है। इलाहाबाद में बैठकर कोरिया पर कहानियाँ लिखी जा रही हैं, कविताएं कही जा रही हैं।

आप दैनिक जीवन के ही एक दो उदाहरण देखिए। एक व्यक्ति जो दिन भर कड़ा श्रम करके भी पेट भरने में असमर्थ रहता है, यदि किसी दिन जीवन की इस कठोरता को कम करने के लिए, काम पर जाने के बजाय चंडूखाने में चला जाय तो उसे 'एस्केपीस्ट' समझा जायगा। एक भलामानुस यदि अपने कार्यक्षेत्र में, बहुत ईमानदारी से काम करने पर भी तरक्की न पा सके, और एक बेईमान को तरक्की मिलते देखकर हरि-स्मरण में लग जायँ, तो उसका यह कर्म, निराशावादी और प्रतिक्रियावादी समझा जायगा। अब प्रश्न यह है कि इस बात का निर्णय कौन करेगा कि किस सामाजिक स्थिति में कौन सी बातें प्रतिक्रियावादी थीं और कौन सी प्रगतिवादी।

यदि साहित्य जीवन के लिए है; और जीवन का दर्पण है, तो आवश्यक है कि वह जीवन के प्रत्येक पहलू का प्रतिनिधित्व करे। रोमांस और प्रेम जीवन का ही अंग है। मानव का अच्छा खासा समय इस में व्यतीत होता है। हर वर्ग के लोगों में रोमांस और प्रेम एक वास्तविकता बन कर आता है। यौवन की बहार व्यक्ति के सामाजिक स्तर को नहीं देखती—भठियारे के बच्चे और भूमिदार के लड़के पर समान रूप से आती है। दोनों की मानसिक वृत्तियाँ भिन्न भिन्न हैं, वातावरण भिन्न भिन्न हैं। परंतु यहाँ कौन दो व्यक्ति ऐसे हैं, जो सब तरह से समान हों। एक ही मसला भिन्न भिन्न युगों में, भिन्न भिन्न वर्गों में, भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में, भिन्न-भिन्न रूप को प्राप्त हुआ है। और सच है, परिस्थितियाँ हर किसी पर अपना प्रभाव अवश्य छोड़ती हैं। यदि यथार्थवादी साहित्यिकों के जीवन का अध्ययन किया जाय, तो ज्ञात होगा, कि उन में से अधिकतर ने ऐसी परिस्थितियों में जन्म लिया जहाँ उन्हें सुविधा, रोमाँस, स्नेह—सब कुछ मिला। खुद अपने निजी जीवन में उन्होंने रोमांस लड़ाया। परंतु उन्होंने सामाजिक संघर्ष में भी एक साहित्यिक के नाते भाग लिया है। इसके प्रतिकूल कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें अत्यंत घिनौने वातावरण में रहना पड़ा, परंतु इन में से अधिकांश रोमानी कवि अथवा कथाकार या उपन्यास लेखक सफल सिद्ध हुए। और कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने राजनीति में भाग लिया, क्रांतियों को बल दिया, परंतु साहित्य में एक 'एस्केपीस्ट' के रूप में हमारे सम्मुख रहे। साहित्यिक कृतियों द्वारा वे जीवन भर, मानव को जीवन से, जीवन की कठोर वास्तविकताओं से दूर भागने का संदेश देते रहे। विलियम मारिस ने अपने युग में बड़ी सरगरमी से और नियमित रूप से सोशलिस्ट आंदोलनों में योग-दान दिया। परंतु उसके जीवन का समूचा रचनात्मक साहित्य परम अवधि का परिहार दिखाता है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि जोश मलीहाबादी ने जीवन नवाबों के ठाट से व्यतीत किया है, परन्तु वह उर्दू के प्रगतिशील साहित्यकारों (जो कम्युनिस्ट पार्टी के प्रापेगेंडा साहित्य को ही

प्रगतिशील साहित्य समझते हैं) के मुखिया भी रह चुके हैं। उर्दू के प्रसिद्ध कवि अख्तर शीरानी को जीवन भर ठर्रे की शराब पीनी पड़ी, परतु उन क रोमांटिक साहित्य का मुकाबिला कोई नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि साहित्य के मापदंड और स्तर से साहित्यकार के जीवन के स्तर का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हम यह नहीं कह सकते कि प्रणय पत्रिकाएँ लिखनेवाले साहित्यिक सम्पन्नता के बोझ तले दबे हुए हैं और उन के दिमाग पर पैसे की चर्बी चढ़ी हुई है, या यह, कि तथाकथित प्रगतिशील साहित्यकारों की हड्डियाँ बाहर को निकली हुई हैं।

प्रगतिशील लेखकों और कवियों का कथन है कि वे जीवन के आवश्यक मसलों पर प्रकाश डालते हैं। उन के निकट साहित्य के रचनात्मक और तुलनात्मक विषय वर्तमान सामाजिक बुराइयाँ, आर्थिक असमानता और राजनैतिक संघर्ष होते हैं। साहित्यकार का कर्त्तव्य है कि वह निम्नवर्ग को ऊपर उठने की प्रेरणा दे। क्योंकि राष्ट्र की और मनुष्यता की भलाई इसी में है कि दफ्तरों में काम करनेवाले हजारों क्लर्कों, मिलों में काम करनेवाले लाखों मजदूरों और कड़ी धूप और जान लेवा जाड़ों में हल चलानेवाले करोड़ों कृषकों को, उनके अधिकारों का आभास कराया जाय। उन में राजनैतिक चेतना और शऊर पैदा किया जाय। वर्तमान युग में ये मसल बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, और इन्हें सुलझाना देश, राष्ट्र और जनता का कल्याण करना है। परतु कितने लेखक हैं जो इन उलझनों को भली भाँति समझते भी हैं? और आखिर यह प्रयास और संघर्ष साहित्य में ही और फिर विशेषकर कविता में ही क्यों हो? क्यों न सीधे-सादे गद्य में विज्ञप्तियाँ प्रकाशित की जाय, पैम्फलट बाँटे जायँ, ट्रेड यूनियनें बना कर मजदूरों को एक प्लेटफॉर्म पर संगठित किया जाय, एक ऐसा स्कूल खोला जाय जहाँ कार्यकर्त्ताओं को दस बारह माह तक ट्रेनिंग दी जाए। यदि ठंढे दिल से विचार किया जाय, तो ये ही हैं वे राहें जिन पर चलकर जनता का मानसिक स्तर ऊँचा किया जा सकता है।

यदि मैं वह सब मान भी लूँ जो हमारे प्रगतिशील लेखक और कवि कहते हैं, तो आप ही कहिए कि क्या प्रगतिशील कवियों का काव्य मजदूर, कृषक और साधारण क्लर्क समझ सकते हैं? इसके लिए तो अधिकांश ग्रेजुएटों को भी वर्ष दो वर्ष प्रगतिशीलता की तालीम लेनी होगी। इन काव्य-रचनाओं का देश की नब्बे प्रतिशत जनता से कोई संबंध नहीं है। प्रथम, यहाँ पढ़े लिखे हैं ही कितने, और फिर उन में भी साहित्यानुरागी बिल्कुल थोड़े हैं। यह साहित्य दो-तीन प्रतिशत लोगों को गरमाता है, उनके विवेक को झकझोरता है, परंतु ये दो-तीन प्रतिशत लोग स्वयं ही इतने बुद्धिमान हैं कि इस के बिना भी सोच समझ सकते हैं। आखिर इनके लिए इतने श्रम की क्या आवश्यकता है? प्रगतिशीलता तो यह है कि नब्बे प्रतिशत के लिए लिखिए, और अपना सदेश उन तक पहुँचाइए, जो अपना हस्ताक्षर भी करना नहीं जानते उनकी भाषा में उन तक अपनी बात पहुँचाइए। पंजाब में हैं तो पंजाबी में लिखिये, बंगाल में हैं तो बंगाली में लिखिए, आसाम में हैं तो असमिया में लिखिए और कश्मीर में हैं तो कश्मीरी में लिखिए। भारी-भरकम संस्कृत में कविता करना और यह समझना कि इससे क्रांति जन्म लेगी, बौने के चाँद छूने के समान है। क्यों न हम जन-साधारण के स्तर पर आकर लिखें। एक और रास्ता है कि हम अपने जन साधारण को इस स्तर तक ऊपर ले आएँ कि वह प्रगतिशील साहित्य को समझ सके, इसका मूल्यांकन कर सके। इसलिए देखना यह है कि कहीं साहित्य में प्रगतिशीलता स्वयं ही एक परिहार (एस्केप) तो नहीं है? निश्चय ही वर्तमान रूप में वह एक परिहार मात्र है क्योंकि हमारे प्रगतिशील कवि भारी-भरकम भाषा में दो-तीन प्रतिशत के लिए लिख रहे हैं और जन साधारण तक अपनी आवाज पहुँचाने की राह ही नहीं अपना रहे हैं।

मानव व्यक्तित्व के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, चिंतनपूर्ण एवं कोमल पहलू हैं। एक स्वस्थ जीवन के लिए इन सब पहलुओं की तृप्ति अनिवार्य है। इस तृप्ति के अभाव में जीवन रसहीन ही नहीं, अर्थहीन भी हो जाता है। जीवित रहने के लिए रोटी, कपड़ा और मकान अत्यावश्यक है। हममें से अधिकांश का जीवन इसी चक्कर तक सीमित रहता है और इसी में समाप्त भी हो जाता है। निश्चय ही इसका उत्तरदायित्व हमारे समाज पर है। किंतु मानव अपने

जीवन के अन्य पहलुओं के तकाजे को पूरा करने के लिए अन्य रास्तों को अपनाता है। और यह स्पष्ट है कि इसका कोई सबध वर्गों से नहीं है। और न ये बातें बुर्जुआ-दर्शन की उत्पत्ति हैं। प्रायः धनवानों, और सम्पन्नता के बोझ से दबे अमीरों का जीवन इस दृष्टिकोण से खोखला, रसहीन, अर्थहीन और भूखा है। ये लोग भौतिकवाद और अनात्मवाद के अनुयायी हैं। इनके जीवन में अवज्ञा और परिहार तो नाम-मात्र को भी नहीं। ये प्रकृति, प्रणय, और प्रेम के मूल्य से भी अपरिचित हैं। इन लोगों को यदि आप नैतिकता, रोमांस, और प्रकृति की सुषमा से परिचित करा दें तो क्या मानव-जीवन की भलाई न होगी?

साहित्य का वर्गीकरण अमीरी और गरीबी के आधार पर करनेवाले भूल करते हैं। साहित्यकार या तो हर वर्ग से सबध रखता है या किसी वर्ग से भी सबध नहीं रखता। साहित्य किसी की सम्पत्ति नहीं। साहित्य में विभिन्न वर्गों के संघर्ष को दिखाया जा सकता है, परन्तु साहित्य के विषय में इस गैर-जिम्मेदारी से बात करना कि अमुक विषय पर लिखना बुर्जुआ-दर्शन का तकाजा है, और अमुक विषयों पर लिखना प्रगतिशील साहित्यिक का धर्म है—अपने सकीर्ण दृष्टिकोण, अज्ञानता और थोथेपन का प्रदर्शन करना है। प्रायः साहित्यिक रात को कहानियां सुनते हैं, पहेलियों से दिल बहलाते हैं, फिल्मी रेकार्डों से लुत्फ उठाते हैं, या संगीत को अपना साथी बनाते हैं; तो क्या सब साहित्यिक पूंजीपति हैं? क्या हम सब बुर्जुआ समाज से संबंधित हैं? पंजाब में मैंने प्रायः देखा है कि गाड़ीवान बैलों को सुनसान राहों पर हांकते हुए 'माहिया'[१] की कोई कड़ी अथवा 'हीर'[२] की कोई पंक्ति इस दर्द-भरे अंदाज में गाते हैं कि उनके दिल की आवाज सारे वातावरण में देर तक कांपती रहती है। वे गीत राहियों की आत्मा के तारों को भी हिला देते हैं, क्योंकि ये प्रणय-गीत हैं, रोमांस से भरे-पुरे हैं, इसलिए क्या हम समझ लें कि इन्हें गानेवाले भूमिपति हैं? रोमांस, प्रेम, और प्रकृति के प्रति स्नेह तो मानव को नैसर्गिक रूप से मिला है। हम क्यों इन वस्तुओं को अमीरों की जायदाद समझ लें? मैंने देखा है, निर्धन मांझी की स्त्री जब नदी के गँदले जल में अपने बालक को स्नान कराती है तो बालक के बिखरे हुए स्वरूप में खो जाती है। निर्धन स्त्री और यह कलाकारों-सा आभास! मैं तो यह समझता हूँ कि इन में से अधिकांश का जीवन इन्हीं नियामतों के दम से है, नहीं तो दैनिक जीवन की कड़वी यथार्थताएँ इतनी तल्ख हैं कि हम आत्म हत्या कर लें—जीवन से दूर भाग जायें। मानव में मनुष्यता की भावना, सौंदर्यपूजन की भावना, वर्गों के संघर्ष से ऊँची है। जो वस्तु वर्गों को जन्म देती है, वह रुपया है, हवस है, लालसा है और है सत्ता की भूख। ये ही वस्तुएँ मानव को मनुष्यता से परे अन्याय की ओर ले जाती हैं। हम पवित्र वस्तुओं को इन गलत चीजों के साथ मिला देने पर क्यों अड़े हुए हैं? ऐसे समन्वय में तो हमारे प्रगतिशील लेखक विश्वास नहीं रखते—फिर यह हठ क्यों? रोमानी, कलापूर्ण और भावमय साहित्य का बहिष्कार करने को वे क्यों कह रहे हैं? ऐसे साहित्यकारों को पूंजीपतियों का एजेंट क्यों कहा जाता है? उन की रचनाओं पर आलोचना करते हुए पराजयवाद, पुनरुत्थानवाद, अरविंदवाद, अवसादवाद, सकीर्णतावाद-जैसे शब्दों का आश्रय क्यों लिया जाता है?

मैं यह कहना चाहता हूं कि साहित्य हमारे रचनात्मक और भावनात्मक पहलुओं की तृप्ति के लिए है। इस का विषय जो कुछ भी हो, यह बाद की बात है। साहित्य एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव से उत्पन्न होता है। रचनात्मक प्रतिभा जिस वस्तु में खो जाय या जो वस्तु इसको पकड़ ले, उसे साहित्य भावमय ढंग से व्यक्त कर देता है। एक कलाकार जब किसी वस्तु से प्रभावित होता है, एक फूल से, एक बाला से या एक मजदूर से तो वह विषय उसके मस्तिष्क को पकड़ लेता है। वह उस के सबध में सोचने को विवश हो जाता है। यहां तक कि उसके इर्द-गिर्द इससे संबंधित बहुत-कुछ एकत्रित होता रहता है। और तब वह इसे शब्दों में व्यक्त कर देता है। चित्रकार हो तो रंगों में और स्वरकार हो तो स्वर-लहरियों में। इसे हम कलाकार की 'क्रीएटिव फैकल्टी' कहते हैं। इस से यह सिद्ध होता है कि कवि विवश होकर लिखता है, अपने को विवश करके नहीं लिखता।

अब यह विचारधारा आम हो गई है कि रोमानी साहित्य और छायावादी, एवं पुनरुत्थानवादी साहित्य का जीवन से कोई सबध नहीं है। बात यथार्थतः यह है कि काव्य एक मनोगत, अंतस्थ और आंतरिक भावना है। इसमें बाहर की वस्तुओं का समावेश करना एक बड़े कलाकार के वश का काम है। प्रत्येक कवि इस को नहीं निभा सकता। कहानी, स्केच, नाटक, आदि गद्य में तो

—२ पंजाब के प्रेम रस में डूबे हुए लोक गीत।

ऐसे विषय पनप सकते हैं। इन विषयों का वास्तविक स्रोत भी यहीं तक है। परतु काव्य में ऐसा करना बड़ी साधना का काम है। सामाजिक और राजनैतिक कविताओं का जीवन से सबध रहना तो स्पष्ट है। रोमानी और दर्शनात्मक कविताओं में भी यह सबंध प्रत्यक्ष मालूम नहीं होता, परतु है अवश्य। आवश्यकता केवल थोड़ी-सी हमदर्दी के साथ गौर करने की है। बच्चन की 'प्रणय पत्रिका' नरेन्द्र शर्मा के गीत और प्रभाकर माचवे की रुबाइयाँ बिना अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि के कोई खास लुत्फ नहीं देंगी। और साहित्य को सही तौर पर समझने का ढंग भी तो यही है। मेरा तो यह दावा है कि उस सामाजिक वातावरण से अभिज्ञ होने पर ही, जिस में उपर्युक्त कवियों ने काव्य रचना की है, कोई भी आलोचक निम्नलिखित—बातें ढूँढ सकता है।

(१) इस समाज में प्रेम करना पाप समझा जाता है।

(२) प्रेमिका को पाना प्रायः सभव नहीं होता।

(३) कवि वर्तमान सामाजिक ढाचे को नहीं पसद करता। वह इस से दूर भाग जाना चाहता है।

(४) प्रेम दु ख का कारण है।

लुत्फ की बात तो यह है कि बच्चन की 'प्रणय-पत्रिका' भी सामाजिक लूट खसोट पर शोक प्रकट करती है, यद्यपि बच्चन एक पलायनवादी हैं। परतु उपर्युक्त मसले भी तो समाज के जीवन से सबधित हैं। प्रेम का दु ख क्या समाज का दु ख नहीं है? क्या सृष्टि के विकास का मसला, मृत्यु, आत्मा और परमात्मा का मसला जीवन के महत्वपूर्ण तकाजे नहीं हैं? व्यक्ति ऐसे मसलों पर सोच विचार किए बिना पूर्ण हो ही नहीं सकता। नरेन्द्र शर्मा ने 'लाल रूस है ढाल साथियों' जैसी सु दर प्रोपेगंडा कृति की रचना की है, परतु जीवन की उपर्युक्त गुत्थियों से भी वह उलझे हैं। फिर भी प्रगतिवादियों ने उनके दूसरे रूप की खिल्ली उड़ाई, कहा—वह बुर्जुआ होगए, प्रतिक्रियावादी हो गए, निराशावादी हो गए, अरविंदवादी हो गए, पराजयवादी हो गए। और न जाने 'हंस' और 'नया साहित्य' के पृष्ठों में उन पर अमृतराय, नवकिशोर मित्तल और रांगेय राघव ने कितनी कीचड़ उछाली। परतु यह एक कठोर सत्य है कि ऐसे मसलों पर गौर करना अनिवार्य है। *हम में से* प्राय. ऐसे होंगे, जो ट्रेड यूनियन अथवा कम्युनिस्ट पार्टी में काम करने के *पश्चात् भी अपने* इन पहलुओं को जीवित पायेंगे और इन की तस्कीन और तृप्ति आवश्यक समझेंगे।

असल में बात यह है कि साहित्य में विषय का कोई विशेष महत्व नहीं होता। आवश्यकता केवल ठीक और सही प्रगतिशील दृष्टिकोण की है, जो विषय में जान डाल देता है। साहित्यिक के व्यक्तित्व से ही उसके साहित्य का मूल्य भी बढता - घटता है। आप फुटबाल पर एक अच्छी कविता की रचना कर सकते हैं, जो बाहरी तौर पर एक मामूली विषय प्रतीत होता है। यदि आप यह कह कि फुटबाल एक साधारण व्यक्ति के लिए अलामत है, जिसे बीस-बाईस घराने के लोग ठोकरें मार-मारकर घायल करने में प्रयत्नशील हैं तो निश्चय ही आपकी कविता एक नवीन वस्तु समझी जायगी। परतु यदि आप यह कह कर ही बस कर दें, कि फुट बाल गोल होता है, और उस के भीतर हवा भरी रहती है तो फुटबॉल का उत्कृष्ट खिलाडी भी शायद इस कविता को पढ़ना गवारा न करे। इसी प्रकार मजदूर पर, किसान पर, निम्नवर्ग के सघर्षों पर, पूँजीवाद पर अच्छी कविताएँ भी कही गई हैं और अत्यत भौंडी भी। प्रश्न तो यह है कि आप प्रकट करें कि यह वस्तु क्या है और ऐसी क्यों है। और जो कुछ आप कह रहे हैं वह वर्तमान शासन व्यवस्था में क्या महत्त्व रखता है? परतु आज का प्रगतिशील कवि जो समाज के सामने है और जो साहित्य के सामने है—दोनों की अवज्ञा करता है। आज कल तो यह फैशन हो गया है कि कविता में किसी वर्तमान दुर्घटना का उल्लेख हो तो वह अच्छी है, नहीं तो बुरी। यह काव्य की परख का स्तर है। आपकी कविता में शरणार्थियों, पू जीवाद, गाधी टोपी, तेलंगाना हत्याकाड, राजनैतिक लूट खसोट, हड़ताल, स्टालिन, लालरूस, माउ से तु ग, अमरिकन साम्राज्यवाद आदि शब्दों का प्रयोग हो जाय, तो निस्सदेह आप की गणना प्रथम कोटि के प्रगतिशील कवियों में होगी। इन साहित्यिकों के निकट कविता का मूल्य, उसमें भरे गए शब्दों पर आधारित है। कविता की ईकाई, टेकनीक, प्रयोग, प्रयोग की गहराई, महत्त्व, और व्याकरण पर ध्यान देने का कष्ट कौन उठाए।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि इस समय सामाजिक और आर्थिक उलझनें बहुत भयकर रूप धारण कर चुकी हैं। परतु यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है कि साहित्यकार केवल इन्हीं

घटनाओं पर लिखे ? वह और बातों से भी प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। यदि कोई स्पष्ट दृष्टिकोण हो और यह भी ज्ञात हो कि अमुक दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि क्या है तो फिर साहित्यिकों से उत्कृष्ट रचना की आशा की जा सकती है। परन्तु हमारे साहित्यकारों के पास इतना समय कहाँ ? वर्तमान घटनाओं पर लिखने में एक सुविधा रहती है, मवाद तो आपके सामने होता है, आवश्यकता होती है कुछ शब्दों और कुछ पंक्तियों को समबद्ध करने की। इस से काम चल जाता है। कविता में किसी स्थल पर यदि यह कह दिया 'यह असमय की रागिनी है', 'निकलने को है अब लाल सितारा' आदि, तो 'वाह वाह के लिए' पर्याप्त है। ये दो चार पेटेंट बातें हैं। इन साहित्यकारों के पास बना बनाया प्रोग्राम होता है। उदाहरणतया लखनऊ फायरिंग पर एक कविता, गांधीजी की समाधि पर दूसरी, श्री अशोक महता की गिरफ्तारी पर तीसरी, कश्मीर पर चौथी और फिर पाकिस्तान के संविधान पर पांचवी।

यह बार बार दुहराई हुई बात है कि यदि हमारा पुराना साहित्य निराशावादी, अरविंदवादी, रहस्यवादी, और छायावादी है तो उसके अध्ययन से कोई लाभ नहीं। हम अपने घरों में, पाठशालाओं में पुरानी कृतियों का अध्ययन करते हैं। किंतु अब उनका अध्ययन बंद कर देना चाहिए, क्योंकि वर्तमान काल में वह हमारा पथ प्रदर्शन नहीं कर सकती। परन्तु आज अधिकांश जिम्मेदार लोग आधुनिक पत्रिकाओं और लेखकों को उस श्रद्धा से नहीं पढ़ते जिस श्रद्धा से व कालिदास, शेक्सपीयर, फिरदौसी, टैगोर, शेख सादी, और मिल्टन को पढ़ते हैं। आखिर इसमें भी कोई बात होगी ? निश्चय ही साहित्य समय और स्थान के बंधन से आजाद है; किंतु हमारे प्रगतिशील लेखक इसे सामयिक बनाना चाहते हैं। जो रचना इन बंधनों में बंध जाती है वह बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। इसलिए प्रगतिशील लेखकों को चाहिए कि वे सभी विषयों पर ईमानदारी से सोचें और साहित्य में उन्हें यथोचित स्थान दें। इस दृष्टिकोण में गंभीरता, गहराई और विशालता आ जाने की संभावना है, और इससे ही ऐसे रचनात्मक साहित्य सृजन की भी आशा है जो मनुष्यता के तमाम पहलुओं की प्यास बुझा सके।

दर्शन　　:　　प्रोफेसर महेंद्र भटनागर

मन दर्शन करने से बंधन में बँध जाता है !

यह दर्शन सपने में भी कर
देता सोए उर को चंचल,
लखकर शशि - सी नव आभा
आँखें पड़ती हैं फिसल-फिसल;
नयनों का घूँघट गिर जाता, मन भर आता है !
मन दर्शन करने से बंधन में बँध जाता है !!

यह दर्शन केवल क्षण भर का
बिखरा हँसता मोती शबनम,
बन जाता है त्योहार सजल
पीड़ामय सिसकी का मातम;
इसका वेग प्रखर आँधी से होड़ लगाता है !
मन दर्शन करने से बंधन में बँध जाता है !!

यह दर्शन उज्ज्वल स्मृति में हो
देता प्रतर का तार हिला,
नीरस जीवन के उपवन में
देता है अनगिन फूल खिला,
इसका कंपन मीठा-मीठा गीत सुनाता है !
मन दर्शन करने से बंधन में बँध जाता है !!

यह दर्शन प्रतिदिन-प्रतिक्षण का
लगता न कभी उर को भारी,
दिन में सोना, निशि में चाँदी
की सजती रहती फुलवारी,
यह नयनों का जीवन सार्थक, पूर्ण बनाता है !
मन दर्शन करने से बंधन में बँध जाता है !!

यह दर्शन मूक लकीरों का
बरसा देता सावन का घन,
गहरे काले तम के पट पर
खिंच जाती बिजली की तड़पन;
इसका आना उर घाटी में ज्योति जगाता है !
मन दर्शन करने से बंधन में बँध जाता है !!

कला के संबंध में विभिन्न सिद्धांत

श्री श्रीकांत शास्त्री

कला क्या है? मानना होगा कि जीवन की अभिव्यक्ति का नाम ही कला है। अतएव कला जीवन अथवा जगत संबंधी अनेकानेक समस्याओं से अपने को पृथक नहीं रख सकती। वैसी स्थिति में जब कि दुनिया बड़ी तेजी के साथ बदलती चली जा रही है और जीवन अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है, कला जड़ होकर नहीं रह सकती। इसी कारण कलात्मक अभिव्यक्ति में युग विशेष की छाप होना अनिवार्य सा है। क्योंकि मात्र भावों का उद्रेक ही कला नहीं होती है। जीवन की विविध समस्याओं के साथ-साथ उनके समाधानों की व्यंजना भी कला का धर्म है। इस अर्थ में जीवन की समग्रता का विवांकण सच्ची कला की कसौटी है। जीवन से पृथक होकर कला अमरता की सांस नहीं ले सकती—वह तो मुमूर्षु हो जायगी। 'कला कला के लिए' का सिद्धांत आज कोई मतलब नहीं रखता। इस अर्थ में कि कला कलाकारों के जीवन की प्रतिच्छाया होती है, सच्ची कला वही है जो जीवन को सही माने में चित्रित कर सके और *मानवीय संवेगों* (*ह्यूमन फिलींग्स एण्ड इमोशंस*) को रंजित कर सके। खासकर काव्य तो भावों की वस्तु ही होता है। भावों से शून्य काव्य जीवित नहीं रह सकता—क्योंकि सरसता ही उसकी आत्मा होती है—लक्षण ग्रंथों में 'रसो वैस:' कहा गया है। व्यवहारिक विज्ञान (प्रैक्टिकल सायंस) और कला में जो मौलिक विभेद दीखता है, वह यही है कि कला का संबंध भावों (इमोशंस) से होता है और *विज्ञान का व्यवहारों से*।

कला के मूल में सौंदर्य की भावना होती है। सौंदर्यानुभूति हुए विना कला पनप नहीं सकती। सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री उन्ट ने माना है कि सौन्दर्याभिव्यक्ति की प्रवृत्ति मानव मात्र में है। सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, बच्चे-बूढ़े सभी में सौंदर्य-बोध की समान मात्रा पाई जाती है। मनुष्य न केवल सौंदर्याभिव्यक्ति की चेष्टा ही करता प्रत्युत् वह *सौंदर्य सृष्टि भी करता है*। *सौंदर्य* को अपने अंदर उतार देने की चेष्टा ही तो कला होती है।

कला और कांट

कला के संबंध में विचारकों ने अनेक सिद्धांत प्रतिपादित किए हैं—और विभिन्न व्याख्याओं द्वारा कला की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की है। कला के संबंध में जो पहला सिद्धांत आता है, वह दार्शनिक कांट का है। कांट ने खेल का सिद्धांत (प्ले थियूरी) निरूपित किया। कांट का कहना है कि आदिम मानवों की क्रिडाओं में कला का बीज पाया जाता है। जर्मनी के कवि शीलर ने आगे चलकर इस सिद्धांत पर अधिक काम किया। कांट के सिद्धांत के अनुसार सभी कलाएँ खेल से ही विकसित होती हैं। प्रारंभ में खेलों का विकास कला के रूप में हुआ। विकास के दौरान में मनुष्य में कला की भावना आई। कांट कहता है कि खेल मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति (सर्पलस इनर्जी) का परिणाम है। जो शक्ति मनुष्य के पास बची रहती है, उसे वह खेलों में लगाता है। यह बीज विकसित और सुसंस्कृत मानवों में कला के उत्स का काम करता है।

नीत्से का सिद्धांत

दूसरा सिद्धांत नीत्से ने आरंभ किया, जिसको आगे चलकर फ्रायड ने विकसित किया। नीत्से का कथन है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कला को ढूंढता है और वह (इल्यूजन्स) के द्वारा इसे पूरी करता है।

कला और टाल्सटॉय

कला के संबंध में लियो टाल्सटॉय का एक सिद्धांत है, जो (इमोशनलिस्टिक थियूरी) कहलाता है। इस सिद्धांत के अनुसार माना गया है कि मनुष्य के अंदर कोई एक अज्ञात शक्ति रहती है (टाल्सटॉय ने इसे ईश्वरीय शक्ति माना था)। जब बाह्य वस्तुओं की छाया मनुष्य के मन पर पड़ती है तो जो विक्षोभ होता है, वही कला को जन्म देता है। इस सिद्धांत के माननेवालों का मत है कि आवेगों की प्रेषणीयता (कौम्यूनिकेबलिटी ऑफ इमोशंस) ही कला को जन्म देती है। टाल्सटॉय ने कला में नैतिकता का भी पुट लाया था।

'हिडोनॉस्टिक थियूरी' भी कला के संबंध में प्रचलित है। इसमें कला की खास वस्तु सौंदर्य माना गया है। सौंदर्य का निर्माण आनंद के लिए होता है। इसलिए, इस सिद्धांत के अनुसार कला का मूल तत्व आनंद है—(क्रीएशन ऑफ बियूटी इज द एम आफ आर्टिस्ट) सौंदर्य वस्तु में नहीं है, वह तो मनुष्य के मन में है। वस्तु को प्रधानता न देकर मन को प्रधानता दी गई है। इस सिद्धांत के अनुसार आनंद को मन के भावों का आरोपण (प्रोजेक्शन) माना जाता है। आनंद को दो मार्गों में—शारीरिक आनंद और आत्मिक आनंद (फिसिकल प्लेजर एंड एस्थेटिक प्लेजर) में बाँटा गया है, आत्मिक आनंद स्थायी होता है और शारीरिक आनंद क्षणिक। शारीरिक आनंद में मनुष्य अपने 'स्व' में कैद रहता है, किंतु आत्मिक आनंद में वह 'स्व' और 'पर' की सीमाओं को तोड़कर ऊपर उठा हुआ होता है। कला का संबंध आत्मिक आनंद से है। इस सिद्धांत में उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) को माना गया है। कलाकार अपने व्यक्तिगत आनंद को सामाजिक बना देता है।

कला और क्रोसे

कला के बारे में इटली का प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक क्रोसे ने भी अपना एक सिद्धांत रखा है। इस सिद्धांत का समर्थन बर्गसाँ भी करता है। वह है—'थियूरी ऑफ इन्ट्यूशन एंड टेकनिक'। दोनों ही विचारकों ने 'नौलेज' और 'इन्ट्यूशन' नाम से मन के दो हिस्से किए हैं। 'इन्ट्यूशन' का वस्तु जगत से कोई संबंध नहीं होता। क्रोसे ने इन्ट्यूशन को ही कला का प्राण माना है। कबीर, तुलसी आदि संतों ने शुद्ध 'इन्ट्यूशन' के बल पर काव्य रचना की है।

कला और रस्किन

रस्किन ने भी कला के संबंध में एक सिद्धांत प्रतिपादित किया है। इसको उपयोगितावाद (इन्स्ट्रूमेंटलिस्ट थियूरी) कह सकते हैं। रस्किन का मत है कि कला का उद्देश्य जीवन के उच्चादर्शों की पूर्णता होनी चाहिए। रस्किन के अनुसार कला स्वयं साध्य नहीं, साधन है। वह समाज में फैली हुई विकृतियों के निवारण के लिए कला का उपयोग करने के पक्ष में था। इस तरह कला के संबंध में उसकी दृष्टि शुद्ध उपयोगिता की थी।

काडविल के सिद्धांत

प्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक काडविल के अनुसार गण अवस्था (ट्राइबल स्टेज) में आवेग समूह (क्लेक्टीव इमोशंस) ही कला का आधार था। काडविल का सिद्धांत है कि कला को जन-जीवन के संपर्क में आना चाहिए। काडविल ने मानवतावादी व्याख्या को अपना कर जीवन के साथ कला का तादात्म्य बताया है। अन्य मार्क्सवादी विचारकों ने कला के मनोवैज्ञानिक पक्ष को त्याग दिया है। 'आर्ट एंड सोसाइटी' नामक पुस्तक में हर्बर्ट रीड ने मनोविश्लेषण (साइकोअनलिसिस) और मार्क्सवादी ढंग पर कला का विवेचन किया है। पश्चिम में इधर टी॰ एस॰ इलियट के 'विचित्रतावाद' का काफी प्रचार है। इस सिद्धांत को छोड़नेवाले मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित लोग हैं। इन लोगों के अनुसार व्यक्ति का स्थान गौण है, समाज ही प्रधान है। साहित्य से 'मैं' को निकाल कर 'हम' की प्रतिष्ठापना पर इनका जोर है। इसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति की अब 'हीरो' के रूप में अवतारणा नहीं की जाती, बल्कि सारा समाज ही 'हीरो' के रूप में अवतरित होता है।

कला और फ्रायड

मनोविश्लेषण शास्त्र के आचार्य फ्रायड के अनुसार कला में दमन (रिप्रेशन) का बड़ा हाथ है। फ्रायड के अनुसार यौन प्रवृति आरंभ काल से ही होती है, जो निरोध के कारण तृप्त नहीं हो सकती—और अतृप्त वासना व्यक्ति के उपचेतन मन (सबकॉन्सस माइंड) में चली जाती है। चेतन मन दमित वासनाओं को बाहर करता है—कला, काव्य, स्वप्न, उन्माद, दिवा स्वप्न आदि के रूप में दमित वासनाएँ अपनी अभिव्यक्ति ढूँढती हैं। कला का विकास सब्लीमेशन (उन्नयन) के द्वारा होता है।

फ्रायड के अनुसार सच्ची कला वही है जो दमित भावनाओं को व्यक्त करती है। फ्रायड की मान्यता है कि कलाकारों की प्रतिभा उनकी 'एबनारम-लिटी' है। सबसे अधिक 'रिप्रेशन' (दमन) कलाकारों के अंदर ही घुटता रहता है। प्रत्यागमन (रिग्रेशन) की अवस्था में जब अपने मनोराज्य से प्रवंचित होकर कलाकार पीछे लौटता है तो उसके सामने पहले कल्पना (फेन्टसी) ही आती है। कलाकार की विशेषता यह होती है कि वह प्रवंचनाओं (फ्रस्ट्रेशंस) से कातर

नहीं होता—वह कलात्मक स्वरूप प्रदानकर अपनी आकांक्षाओं को साकार बना देता है। कल्पना के प्राचुर्य के कारण कलाकार 'न्यूरोसिस' का शिकार नहीं होता। अत स्पष्ट है कि व्यक्ति का अतृप्त भाव (अनप्रेटिफायड डिसायर्स) ही कला का हिस्सा होता है। कला ध्वन्यात्मक होनी चाहिए—इसीलिए वीभत्सता कला म सर्वथा अवांछनीय मानी गई है। फ्रायड के अनुसार कला में साधारणी भाव का सबसे बडा गुण उसका सामाजिक उपयोग के अनुकूल होना ही है। फ्रायड की मान्यता है कि दमित तत्त्वों का अभिव्यक्तिकरण ही कला का मुख्य आधार है। इसलिए कविता और स्वप्न का गहरा संबंध है। एक माने म तो कला भी जाग्रत स्वप्न (कांसस ड्रीम) ही होती है। वस्तुत साधारणीकरण का अर्थ समाजीकरण ही है। कला दमित वासनाओं को सामाजिक रूप दे देती है।

कला संबंधी जो विचार पहले उल्लिखित हुए उनसे यह सिद्ध होता है कि दमित भावनाओं (जो फ्रायड के अनुसार 'सेक्स' ही है) को भाषा, लय, स्वर, नृत्य आदि के द्वारा प्रकट करना कला का काम है। वस्तुस्थिति से कल्पना का किस हद तक अलगाव होता है, यह प्रारंभ म ज्ञात नहीं था। इसलिए प्रतीकात्मक क्रियाओं (सिम्बौलिक एक्सस) के रूप में कला का काम चल जाया करता था।

प्रारंभ म जीवन और कला संपृक्त थी और जीवन में यान्त्रिकता नहीं थी। इसलिए कलात्मक अभिव्यक्ति में कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं थी। अब तो कला कृत्रिम हो गई है। इसलिए कला के क्षेत्र में एक नए आंदोलन की आवश्यकता है। प्रयत्न ऐसा हो कि कला 'ड्राइंग आर्ट' नहीं रहकर 'लाइफ आर्ट' बन सके। आदि मानवों में कला का अस्तित्व जीवन से पृथक नहीं था। क्योंकि उनका जीवन आर्थिक प्रयत्नों में ही इतना संलग्न होता था कि बेचारों को अलग से कला की उपासना का अवसर ही कहाँ था। इसीलिए कला उनके सभी प्रयत्नों के साथ ओत प्रोत थी।

कला और यथार्थवाद

आज इस बात पर बडा जोर दिया जा रहा है कि यथार्थ का चित्रण ही कला का उद्देश्य होना चाहिए। किंतु यथार्थ (रियलिज्म) का त्याग कला उस समय कर देती है, जब वह वर्ग विशेष से प्रभावित हो जाती है। फिर वर्ग विशेष से प्रभावित कला यथार्थ का गला घोंट देती है। या फिर ऐसी कला जो केवल कल्पना का ही सहारा लेकर चलती है, जीवन से अलग हो जाती है और साहित्य भी जीवन से दूर जा पडता है। ऐसी स्थिति म कला अपना सामाजिक दायित्व नहीं निभा सकती। वह कला का प्रतिगामी रूप होता है। कला की प्रगतिशीलता तो इसमें है कि कला समाज का चित्रण करे—जन मन की वाणी बने और समाज के उपेक्षित तत्त्वों में नव जीवन ला दे। मार्क्सवादी आलोचक काडविल के अनुसार कला का प्रधान कर्त्तव्य लोक कल्याण के लिए वर्त्तमान सामाजिक जीवन की विसमताओं और विकृतियों का उन्मूलन करना और सामाजिक आनंद के द्वारा संत्रस्त मानवता में खुशी बिखेरना है। वर्तमान पूँजीवादी समाज में सचमुच कला अपने सामाजिक दायित्वों को छोड बैठी है। वह वर्ग स्वार्थों के साथ बँध गई है और वर्ग सामंजस्य (क्लास कौलेबोरेशन) तथा यथा स्थित (स्टटसको) बनाए रखने में उसका उपयोग हो रहा है। अतएव कला को वर्ग प्रभाव से मुक्त होकर नवीन मानवता के लिए, सुंदर, स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए आज नया कदम उठाना है। नवयुग के साथ नया सामाजिक विधान का सर्जन करना है तभी कला अपने दायित्वों का निर्वाह कर सकेगी और लोक कल्याण का साधन हो सकेगी, अन्यथा नहीं।



कामायनी-संदेश

श्री वाराणसि राममूर्ति 'रेणु', एम० ए०

भवानी शङ्करौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ
याभ्यां बिना न पश्यंति सिद्धाः स्वांतस्थमीश्वरम्
—तुलसीदास

कवियों की, स्थूल रूप से, दो श्रेणियां की जा सकती हैं। एक 'कवीनांकवि' और दूसरे 'लोकानांकवि'। इनमें से प्रथम कोटि के लोग क्रांतदर्शी एवं मानव की शाश्वत समस्याओं के निदान ढूंढ निकालने में अपनी साधना एवं तपश्चर्या का सदुपयोग करते रहते हैं। उनकी प्रतिभा तथा कल्पना मानवता की मधुमती भूमिका का आश्रय पाकर मांगलिक विहार करती हैं। उनके ज्वलनशील व्यक्तित्व भगवान भास्कर की तरह स्वयं जलकर शेष सृष्टि को प्रभूत मात्रा में राशि राशि प्रकाश दान दिया करते हैं। दृष्टि उनकी बड़ी ही व्यापक एवं उदार रहती है। जगत की प्रत्येक वस्तु—जड़ अथवा चेतन—में, अणु प्रत्यणु में, वे लोग कोई कल्याणमयी स्पंदन स्पष्ट लक्षित करते हैं। स्पंदन की उन सिहरनों तथा अपने हृदय की धड़कनों में उन्हें इतना सादृश्य अनुभूत होता है कि दोनों में कोई पार्थक्य करते नहीं बनता। इस प्रकार उनकी अनुभूतियां शेष विश्व की बन जाती हैं और सारे विश्व के अनुभव उनके दर्पणवत् अस्तित्व में अपने ही चित्र अंकित करते हैं। इस कारण, जगत की कोई भी वस्तु उनकी दृष्टि में हेय अथवा वर्ज्य नहीं रह जाती। अतीत उनके लिए प्रेरणा का स्रोत बनता है, तो भविष्य भव्य आशा का केंद्र। इसके विपरीत दूसरे वर्ग के कवि शुद्ध वर्तमान के प्राणी होते हैं। ये सामयिक समस्याओं तथा प्रश्नों ही को लेकर, क्षणिक आवेश के वशीभूत हो रचनाएँ प्रस्तुत करते रहते हैं। उनकी दृष्टि स्थूल, संकुचित, लौकिक एवं भौतिक हुआ करती है। बाह्य जीवन की विषमताओं को देखकर ये शीघ्र ही घबड़ा जाते हैं और उनके यथातथ्य चित्रांकण ही में अपने कवि कर्म की सार्थकता मानते हैं। किन्तु द्रष्टा कवि न होने के कारण उन समस्याओं के लिए निदान अथवा जीवन के साथ उनका सामंजस्य विधान नहीं सुझा पाते। यद्यपि इस खेवे के लेखकों की कृतियाँ सम सामयिक जनता का समादर पा जाती हैं, फिर भी वे दीर्घजीवी नहीं हो सकतीं। उन जड़ सामयिक समस्याओं के साथ ही उनका भी तिरोधान हो जाता है। 'लोकानांकवि' आवर्तों, तरङ्गों तथा बुद्बुदों की भांति समय समय पर जीवन प्रवाह की ऊपरी सतह पर उठते मिटते रहते हैं, जबकि 'कवीनांकवि' स्वयं प्रवाह की धारा बन कर उसे गति प्रदान करते हैं, उसकी दिशा, गहराई एवं सांद्रता का निरूपण करते हैं।

हिंदी के अमर कवि स्व० श्री जयशंकर 'प्रसाद' 'कवीनांकवि,' द्रष्टा हैं। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यंत स्वस्थ, संयत, व्यापक, उदार एवं कलात्मक है। जीवन की गहराई में पैठ कर, उसका निकट से निकट परिशीलन करके उसके सत्य स्वरूप का प्रतिपादन, उसकी अवदात सुघराई का स्पष्ट निर्देश, अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं चिंतन के बल पर, किया है। मानव जीवन में निरंतर चलनेवाले संघर्षों तथा विषमताओं का अपने ढंग से, स्वस्थ एवं शाश्वत समाधान प्रस्तुत किया है। कोरे उपदेशक न होने से इनकी रचनाओं में शुष्क संदेश का रूखापन नहीं गोचर होता। किंतु वास्तव में उनका काव्य जीवन के किसी स्पष्ट एवं स्फुट संदेश ही को लेकर गतिशील हुआ है। और उसी संदेश में उसका शाश्वत्व निहित है। समरसता से अनुप्राणित प्रेम ही वह पवित्र संदेश है, समस्त लौकिक संघर्षों, द्वंद्वों एवं ज्वालाओं के लिए एकमात्र शीतल प्रलेप। 'प्रसाद' के अनुसार जीवन को जीवन बनानेवाला, उसे भी उन्नत स्तर पर बिठानेवाला सत्साधन यही समरसता है और यह समरसता वह 'हिरण्मय पात्र' है, जिसमें सत्य यानी प्रेम का मुख ढका रहता है। यदि सत्य के दर्शन करने हैं तो अवश्य उसका उद्घाटन कर लेना होगा।

'कामायनी' का संदेश हृदयंगम कराने के पूर्व हमें इस बात पर तनिक विचार करना है कि इस महाकाव्य का वर्तमान मानव जीवन के साथ कैसा संबंध है, इस

बीसवीं शती में ऐसी कृति का आविर्भाव आकस्मिक सयोग-मात्र है, अथवा सामयिक विचार-धारा के साथ उसका कोई लगाव, सबध सूत्र भी जुड़ा मिलता है? भारतीय वाङ्मय के इतिहास पर सरसरी निगाह डालने से पता चलेगा कि मध्ययुगीन साहित्य प्रायः पौराणिक गाथाओं तथा विचार धारा से अनुप्राणित रहा है। उस पर प्रागैतिहासिक चिंतन एवं मननशीलता का बहुत ही अल्प प्रभाव रह गया। हिंदी साहित्य का मध्ययुग तो ब्रह्मवैवर्त, महाभारत आदि पुराणों में प्रतिपादित सगुण ब्रह्म के निरूपण से यहाँ-से वहाँ तक भरा पड़ा है। किंतु इधर १६ वीं शती में आकर साहित्य-सबधी पिछली मान्यताओं में जैसे विद्रोह के स्वर सुनाई पड़ने लगे। ब्राह्म एवं आर्य समाजियों ने उपनिषदीय विचारधारा को अधिमानता देकर, भक्ति एव विश्वास की जगह मनन चिंतन को प्रतिष्ठित कर डाला। स्वामी दयानद ने स्पष्ट शब्दों में पुराणों की निंदा की। आर्य धर्म एव सस्कृति के प्रतिपालक रामकृष्ण परमहस, विवेकानद, स्वामी रामतीर्थ आदि वेदात ही की ओर चल पड़े थे। अवतारवाद के प्रति उपेक्षा एव उदासीनता बढ़ती गई। मानव-जीवन की श्रेष्ठता के गुण गाने ही में कविवाणी व्यस्त हुई। हरिऔध जी के 'कृष्ण' एवं गुप्त जी के 'राम' पुरुषार्थवादी आदर्श मानवों के रूप में चित्रित हो गए। छायावादी युग में आकर साहित्य का शेषनाग जैसे पौराणिकता का निर्मोक हटाकर सुमधुर नाट्य करने लगा। प्रसाद, निराला, महादेवी आदि बौद्ध-विचार-सरणि तथा वेदात से प्रभावित हुए। इस प्रकार आधुनिक मानव-मन पुराणों की अपेक्षा धीरे-धीरे वैदिक एव औपनिषदिक साहित्य के निकट पहुँचता गया। एक ओर यह स्थिति बनी रही और दूसरी तरफ भौतिक, यान्त्रिक सभ्यता आधी की सी चाल से विकसित होती जा रही है। अतिविकसित जड़ बुद्धिवाद श्रद्धा और विश्वास को धीरे-धीरे पीछे ढकेलता जा रहा है। इस प्रकार सामयिक विचार धारा में सतुलन नहीं रह गया। ज्ञान और कर्म का, मानव का केंद्र स्थान कामना के साथ सामजस्य टूट चला है। ऐसे समय में समरसता एव प्रेम का पाठ, काता समित कोमल कवि वाणी में, पढ़ाने का कोई भी प्रयास युग का माँग के सर्वथा अनुरूप ही होगा। 'कामायनी' के अवतरण के पीछे मेरी अल्प मति में, कुछ-कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ काम करती रहीं। युग के प्रतिनिधि कवि प्रसाद ने तपोमय जीवन को महत्त्व देनेवाली पौराणिक मान्यता का तिरस्कार कितने स्पष्ट शब्दों में कर दिया है!—

तप नहीं, केवल जीवन सत्य !
जिसे तुम समझे हो अभिशाप
ईश का वह रहस्य वरदान !

इसी प्रकार देव-सस्कृति की भस्म राशि पर उसकी भूलों से अस्पृष्ट मानव सस्कृति का निर्माण कराकर, कवि ने मनुष्य को देवता से ऊँचा उठा दिया है। मानव जीवन को अनमोल तीर्थ, भवधाम बना दिया है। जीवन के प्रति मोह, ललक पैदा करने की भरपूर कोशिश की है।

अब हम, यहाँ पर, यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि इस कोशिश का कैसा रूप रहा। यहां पर 'प्रसाद' के काव्य-जीवन की कुजी, उनका परम चरम सदेश हाथ लगेगा। मानव को देवता से ऊपर उठाने के महान अनुष्ठान में हाथ बँटानेवाली शक्ति 'प्रेम-कला' है। देव सस्कृति में वह चीज नहीं थी। इसी 'प्रेमकला' की विविध किरणों के अभिवर्णन से समूचा प्रसाद साहित्य जगमगा उठा है। उनके सर्वोत्तम नाटक स्कंदगुप्त में स्वर्गीय सुमन देवसेना के रूप में अवतीर्ण हुई है यह प्रेमकला, जिसकी चरम परिणति हम 'कामायनी' में साफ देखते हैं। काम अपनी पुत्री श्रद्धा का परिचय कराते हुए मनु से कहते हैं—

यह लीला जिसकी विकस चली,
वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला,
जिसका सदेश सुनाने को
ससृति में आयी यह अमला !

वर्त्तमान तेलुगु साहित्य के आचार्य मधुर कवि श्री रायप्रोलु सुब्बाराव ने भी इसी 'प्रेम लक्ष्मी' का आराध्या बनाया है। जिस व्यक्ति ने सच्चिदानद कल्याण का सदन, इस जगती पर जन्म लेकर भी, 'प्रेम लक्ष्मी' की आराधना नहीं की, उसका जीवन श्री आचार्य जी निरर्थक मानते हैं। उनकी एक रचना है जिसका अर्थ है—सृष्टि में सर्वत्र एक विशिष्ट प्रकार का 'माधुरी दर्शन' हो जाता है, सारा विश्व एक सुरभित सुमन वाटिका सा लगता है और वहाँ की प्रत्येक वस्तु—स्थावर या जगम—एक प्रफुल्ल प्रसून।

समस्त सृष्टि विस्तार की मूल शक्ति 'प्रेमकला' के आगमन के साथ ही महाकाव्य के चिंता विजड़ित कथानक

में जैसे पर लग जाते हैं। नायक मनु के अवसन्न एवं निष्क्रिय एकांत जीवन में आशा और गति के अंकुर फूटने लगते हैं। कारण, श्रद्धा तो 'तुमुल कलह कोलाहल में हृदय की बात है' शिथिल चेतना के लिये 'मलय की बात है' विषाद एवं व्यथा-तिमिर वन के लिए 'कुसुम विकसित प्रात है' धधकती जीवन घाटियों के लिये 'सरस बरसात है' झुलसते विश्वदिन के लिए 'कुसुम-ऋतु-रात' है, और उसी के शब्दों में—

चिर निराशा नीरधर से
प्रतिच्छायित अश्रुसर में,
मधुप मुखर मरंद मुकुलित
मैं सजल जलजात रे मन ।।

ऐसी सर्वमंगला प्रेम ज्योति के कल्याणी आलोक में महाकाव्य की समाप्ति भी दिखाई गई है। यह दृश्य अतीव स्पृहणीय एवं स्मरणीय है।

प्रतिफलित हुईं सब आँखें
उस प्रेम ज्योति विमला से !
सब पहचाने से लगते
अपनी ही एक कला से !

'प्रेमकला' के प्रतीक कामायनी के मुँह से कवि ने 'काम' का जो महत्त्व प्रकट करा दिया है, वह तो हिंदी-साहित्य के लिए उनकी विशिष्ट एवं अनमोल देन रहेगी।

काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत से बनकर अजान !
कर रही लीलामय आनंद
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त;
काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम !

यही काम आत्म विस्तार का मूल साधन है—

तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर नहीं सके आत्म विस्तार !
पूर्ण आकर्षण जीवन - केंद्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि ।

दुनिया के सभी कर्म काम ही के परिणाम हैं। अतः समस्त सृष्टि व्यापार की धुरी है वह; परमात्मा का रूप! भगवद्गीता भी इस तथ्य की दाद देती है। वहाँ पर भगवान ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

धर्माऽविरुद्धो भूतेषु
कामोऽस्मि भरतर्षभ !

किन्तु काम को उसके परिशोधित रूप में ही ग्रहण करना श्रेयस्कर है, अन्यथा वह प्रेत बन जाता है। परिष्कृत काम ही के रूप हैं दया, माया, ममता, मधुरिमा, त्याग, विश्वास आदि उदात्त वृत्तियाँ! यह कामना मानव का केंद्र स्थान है। मनुष्य के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक है। किंतु इसके व्यापार में नियंत्रण या संतुलन का होना जरूरी है, वरना उसमें अतिचार बढ़ जायगा और संयम का सौंदर्य नष्ट होगा। प्रणय को परिणय का रूप देने में ही उसकी पवित्रता की रक्षा हो सकती है। वासना, जो कि साधारणतया त्याज समझी जाति है, लज्जा का नियंत्रण स्वीकार कर पवित्र एवं उपादेय बन जाती है।

कविवर प्रसाद ने अपने इस अनुपम महाकाव्य के द्वारा मानव-जीवन को आनंद-धाम बना सकनेवाले कितने ही उपदेश दिलाए हैं। सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के कुछ अपने अधिकार भी रहते हैं जिनसे उसे वंचित नहीं रखा जाना चाहिए।

ये प्राणी जो बचे हुए हैं,
इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या,
वे सब ही हैं फीके ?

ऐकांतिक स्वार्थ आत्मघातक होता है—उससे व्यक्ति का विकास रुक जाता है—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा !
औरों को हँसते देखो मनु हँसो
और सुख पावो,

अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।

जीवन को उसकी समग्रता एवं पूर्णता में देखना चाहिए। वह एक सतत प्रकाशमान एवं प्रवहमान धारा है। श्रद्धा इड़ा को फटकारती है—

जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह
ओ तर्कमयी! तू गिने लहर
प्रतिबिंबित तारा पकड़ ठहर
सुख-दुख का मधुमय धूप-छाँह
तूने छोड़ी यह सरल राह!

राष्ट्र-नीति और जीवन-कर्म कैसे हों, इसका भी ब्योरा सुन लें—

मानव को इड़ा के हाथ सौंपते हुए श्रद्धा चेतावनी देती है—

तुम दोनों देखो राष्ट्र-नीति,
शासक बन फैलाओ न भीति।
हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय
हर ले हो मानव भाग्य उदय!
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन मा की पुकार!

अहा! कितनी आशामयी और संजीवनी पुकार है, कैसा प्राण-प्रेरक संदेश है।

दानशीलता समृद्धि की जननी है, देकर कोई निर्धन नहीं होता—

'प्रिय! अब तक हो इतने सशंक!
देकर कुछ कोई नहीं रङ्क।

करुणा और ममता की प्रतिमा कामायनी के निम्नांकित उद्‌गारों में भगवान तथागत की अनंत करुणा जैसे घनीभूत हो दर्शन दे रही है—

चमड़े उनके आवरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम,
वे जीवित हों मांसल बनकर
हम अमृत दुहें वे दुग्धधाम!
वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु।

लगे हाथ अहिंसा के प्रतीक तकली के द्वारा नीचे की पंक्तियों में प्रदर्शित श्रद्धा का व्यावहारिक हिंसा विरोध भी देखकर हृदय शीतल कर लें। यह तकलीगान भी कितना हृदय हारी है—

जीवन के कोमल तंतु बढ़े
तेरी ही मंजुलता समान
चिर नग्न प्राण उनमें लिपटें
सुंदरता का कुछ बढ़े ज्ञान
वासना भरी उन आँखों पर
आवरण डाल दें कांतिमान
जिसमें सौंदर्य निखर आवे
लतिका में फुल्ल-कुसुम समान

हिंदी के रीतिकाल की नारी के बीभत्स एवं घृणित चित्र के लिए प्रतिक्रिया के रूप में आधुनिक हिंदी कवियों ने नारी-गौरव की पुनः प्रतिष्ठा करना, जैसे अपना प्रथम एवं पवित्र कर्तव्य मान लिया है। श्रद्धेय गुप्तजी की यशोधरा, कुब्जा, गोपियाँ (द्वापर), उर्मिला, हरिऔध जी की राधा आदि के साथ ही देवसेना, कामायनी आदि चरित्रों की सृष्टि करके कविवर प्रसाद ने भी अपने पूर्व कविकृत पापों के लिए संपूर्ण प्रायश्चित प्रस्तुत कर दिया। देखिए काम मनु को कैसी फटकार बताता है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में
कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है संबंध बनी
अधिकार और अधिकारी की।

और—

मनु! उसने तो कर दिया दान!
पर तुमने तो पाया सदैव
उसकी सुंदर जड़ देह मात्र

सौंदर्य-जलधि से भर लाये
केवल तुम अपना गरल पात्र !

इस भर्त्सना के साथ ही मनु को भयंकर शाप दिलाकर ऐसे अनुचित कर्मों से कवि मानव समाज को दूर रहने की चेतावनी देते हैं।

यद्यपि कामायनी मे प्रसाद जी ने जीवन—व्यष्टि एवं समष्टि- -संबंधी अपनी अनेक मान्यताएँ प्रतिपादित की हैं, फिर भी विषमता की ज्वालाओं से दग्ध वर्तमान समाज के लिए उनका मुख्य संदेश, जैसा कि हम आरंभ में कह आये हैं, एक ही है—समरसता। यह 'समरसता' शैवागमों के आनंदवाद से संबंध रखती है। शाङ्कर अद्वैत के अनुसार निवृत्ति मार्ग श्रेयस्कर माना जाता है जब कि कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले मीमांसक प्रवृत्ति ही को अधि मानता देते हैं। किंतु आनंदवाद में ये दोनों मार्ग लिए जाते हैं और इनमें समरसता का प्रतिपादन परमार्थ माना जाता है। इन्हीं आनंदवादियों के अनुसार शिव 'जड़' एवं शक्ति उसे प्रेरणा देकर गतिशील बनाने वाला साधन मानी जाती है। इसी मान्यता के अनुरूप मनुका श्रद्धा और इड़ा के साथ संबंध भी स्थापित किया गया है। पहले सर्ग में मनु अकेला एवं चिंताकुल रहा। जब तक श्रद्धा का प्रवेश उसके जीवन में न हुआ तबतक वह निराश एवं निष्क्रिय पड़ा रहा। श्रद्धा ही उसके सूने जीवन को बसाती है। श्रद्धा का त्याग करने पर ईर्ष्यालु मनु फिर से निरुपाय एवं असहाय बन जाता है, तो इड़ा उसे प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देकर प्रजापति मनु के रुप मे क्रियाशील बनाती है। अतिचारी एवं प्रकृति के क्रोध का भाजन बन मुमूर्षु सा पड़ा रहनेवाला मनु श्रद्धा का करुण कोमल स्पर्श पाकर जी उठता है और अंतमें श्रद्धा ही उसे आनंद-धाम तक पहुँचाती है। जब कभी उसका साथ छूटता मनु का जीवन अंधकारमय बन जाता। मनु पुरुष तथा श्रद्धा प्रकृति की प्रतीक हैं जिनमें समरसता का संपादन आनंद का द्वार खड़ा कर देता है। यही सामरस्य 'प्रेमकला' आनंद-वाद की जननी है।

मानव-जीवन को संचालित करनेवाले तत्त्व तीन हैं—इच्छा, ज्ञान और कर्म। तीनों की केंद्र बिंदु इच्छा है। इन तीनों मे जब तक सामरस्यपूर्ण मेल न होगा तब तक जीवन में शांति एवं आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। यह सामंजस्य-संपादन श्रद्धा ही के द्वारा संभव होगा। कामायनी के रहस्य-सर्ग में वर्णित त्रिपुरदाह का रहस्य यही है—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की !
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडंबना है जीवन की !

× × ×

महाज्योति-रेखा सी बन कर
श्रद्धा की स्मित दौड़ी उनमें
वे संबंध हुए, फिर सहसा,
जाग उठी थी ज्वाला मनमें !

यह त्रिपुरदाह जिसके जीवन में घटित होता है उससे बढ़कर भाग्यशाली कौन हो सकता है! वही महात्मा घोषित कर सकता है कि—

सब भेद-भाव भुलवा कर
दुख-सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे, 'यह मैं हूँ'
यह नीड़ विश्व बन जाता !

और उसके भावनालोक में प्रवेश कर—

समरस थे जड़ या चेतन
सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती
आनंद अखंड घना था !

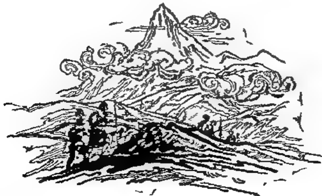
समूचा संसार अखंड आनंद धाम बन जाता है।

अंतिम सर्ग में, सारस्वत नगर के कुछ यात्री कैलाश की ओर चल पड़ते हैं। उनके साथ सोमलताओं को पीठ पर लिए एक बैल भी है जिसे मानव चला लेता है। बैल को धर्म का प्रतीक कहा गया है, उस पर कोई नहीं बैठता। उसे कैलाश पर छोड़कर यात्री लौटेंगे, यहाँ पर भारतीय आर्य संस्कृति के उत्कट प्रेमी कविवर प्रसाद ने हमारा ध्यान एक उदात्त सांस्कृतिक तत्त्व की ओर आकृष्ट किया है। वृषभ तो धर्म का प्रतीक है ही, और वह शिवजी का वाहन माना जाता है। अतः उस पर बैठना अथवा उसे कोई कष्ट पहुँचाना धर्म द्रोह ही कहा जायगा। जब तक धर्म के चारों चरण बराबर बेरोक-टोक चलते रहते हैं, तब तक मानवता फूलती फलती

रहेगी। धर्म का प्रचार सर्वत्र बिना किसी बाधा के होने देना प्रत्येक आर्यसंतान का कर्तव्य है। जिस देश में धर्म का ऐसा सार्वभौम सत्कार होता है वह पुण्यभूमि मानी जाती है। हमारे यहाँ साँढों को दाग कर गाँव की चारों ओर घुमाने और अंत में उत्तरी दिशा में (सीमांत) उन्हें छोड़ने का जो धार्मिक अनुष्ठान सर्वविदित है, उसका तो यही निगूढ़ आशय है। यह 'वृषोत्सर्जन'-कर्म हिंदुओं के घरों में श्राद्ध पक्ष के १२ वें दिन किया जाता है, जबकि जीव प्रेतयोनि से मुक्त होकर कैलाश की ओर गमन करता है। साँढों को शिव-मंदिरों ही में दागने की परंपरा भी अनादि काल से चली आ रही है। शिव जी का एक और नाम है पशुपति। पार्थिव शिव-लिंग मिट्टी ही की बनी रहती है। मिट्टी और बैल का साथ। इसमें क्या कोई रहस्य है? एक भारतवर्ष ही में बैल को धर्म का प्रतीक माना गया है। तनिक गहराई में पैठने से इसका आशय स्पष्ट हो जाता है। भारत कृषिप्रधान देश है और खेती यहाँ का सर्वमान्य एवं श्रेष्ठ व्यवसाय। अतः हलधर बैल से बढ़कर उसका प्रतिनिधित्व कर सकनेवाला और कौन हो सकता है? और हल, सो भी पृथ्वी (खेतों) पर ही चलनेवाला। (पार्थिव) पशुपति-लिंग का इस प्रकार बैल (नंदी) के साथ मेल का, यह सांकेतिक महत्त्व समझ लें तो असंगत न होगा। जीवन के प्रत्येक व्यवसाय एवं व्यापार का किसी-न किसी धार्मिक आचरण में पर्यवसान दिखाना, हमारे यहाँ कोई नई बात नहीं है। मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को सबल एवं सफल बनानेवाले दो महान् तत्त्व—कृषि एवं मंत्र के आधार "गो ब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यम्" वाली प्रार्थना, आज भी प्रत्येक संस्कृति का भारतीय रोज दुहराता रहता है। बैल को धीरे धीरे चला कर शिवजी के आवास कैलाश पर छोड़ देने की जो बात, महाकाव्य के अंत में चली है, उसका मेरी अल्प मति में कुछ-कुछ यही संकेत लेना समीचीन लगता है।

कविवर प्रसाद के महाकाव्य कामायनी की रचना बीसवीं शती के भारतीय साहित्य-जगत की एक अनुपम घटना है। इससे वर्तमान भारत ही नहीं, अपितु विषमता की ज्वाला से दग्ध समूचा संसार लाभ उठा सकता है; ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं है। इसका संदेश वह प्रालेय प्रलेप है जो कि मानव-समाज की समस्त वेदनाओं को शांत कर सकेगा। प्रसाद जैसे एक साथ दर्शन और सौंदर्य के कवि और 'कामायनी'-जैसी महीयसी कृति का आविर्भाव युगों अनंतर ही संभव होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है किसी भी आधुनिक भाषा साहित्य में इसके टक्कर का महाकाव्य संभवतः नहीं है। प्रसाद की अमर वाणी का सहारा पाकर हिंदी साहित्य अमर हो गया है।

या देवी सर्व भूतेषु श्रद्धा रूपेण संस्थिता !
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः !!



फाइनांस-कमीशन का निर्णय

प्रो० कन्हाईलाल मिश्र

संघीय शासन विधान के अंतर्गत केंद्र और राज्य के बीच समुचित आर्थिक समझौते का होना आवश्यक हो जाता है। संघीय शासन की नींव ही आपसी समझौते पर डाली गई है। अगर अच्छी तरह छान-बीन की जाय तो दिखाई पड़ेगा कि ऐसा कोई भी सीधा सादा, बना-बनाया रास्ता नहीं जिसे अपनाकर संघ और राज्य के बीच के आर्थिक संबंध की कठिनाइयों को हल किया जाय। इसलिए एक उपाय के बदले बहुत से उपायों को अपनाना पड़ता है एवं सतत् जागरूक रह कर केंद्र और राज्य की आवश्यकताओं का एवं विभिन्न राज्यों की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करना पड़ता है। आपसी संघर्ष और असंतोष को मिटाने के लिए नहीं, सिर्फ कम करने के लिए ही, पारस्परिक उदार दृष्टिकोण, अधिक-से-अधिक ज्ञान एवं सहयोग की भावना की आवश्यकता होती है।

एक दिन था जब केंद्र के साधन सीमित थे, एवं केंद्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्यों को ही सहायता के रूप में धन देना पड़ता था। शुरू शुरू में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के साथ भी यही बात थी, जर्मनी के राज्य केंद्र की सहायता करते थे जिसे 'मेट्रीकुलर बेट्रेज' की संज्ञा दी गई थी और हमारे यहाँ भी सन् १६२१ में जब सन् १६१६ के कानूनी सुधार के अनुसार प्रांतीय स्वायत्त शासन की नींव पड़ी एवं आय के रास्तों का विभाजन किया गया, तो प्रांतों को ६८३ लाख रुपया केंद्र को देना पड़ा। लार्ड मेस्टन को प्रांतों के भार को निर्धारण करने को कहा गया था जिनके निर्णय को 'मेस्टन अवार्ड' के नाम से पुकारा गया और जिसको लेकर देश में काफी वाद-विवाद हुआ।

पर अब इस तरह की बातें नहीं रहीं। आज तो कुछ ऐसे हैं जिनका महत्त्व और विस्तार एक प्रांत अथवा राज्य की सीमा रेखा के बाहर चला जाता है, जैसे आयकर (व्यक्तिगत आय पर एवं कम्पनी के आय पर) आयात निर्यात-कर, कुछ उत्पादन कर आदि। ऐसे करों की देख-भाल और वसूली केंद्रीय सरकार ही सफलतापूर्वक कर सकती है। किन्तु ऐसे सारे करों से प्राप्त आय को केंद्रवाले ही रखलें तो राज्यों का काम ही नहीं चल सकता, इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है कि कुछ करों की वसूली तो केंद्र के जिम्मे रहता है, पर उसका निश्चित परिमाण अथवा कभी-कभी कुल परिमाण, खास खास उद्देश्यों को सामने रखकर, विभिन्न सहयोगी राज्यों में बाँट दिया जाता है। भारतवर्ष में सन् १६३५ के विधान में संघीय राज्य के इस पहलू की पूरी झलक दिखाई पड़ती है। १६३५ का विधान एक बिल्कुल अपने ढंग का संघीय विधान था—संघीय राजस्व की व्यवस्था भी कुछ नवीन रास्तों से उपस्थित की गई थी। आय के कुछ मदों को एकदम संघीय बना दिया गया, जैसे आयात कर एवं कंपनी के आय पर कर (कॉरपोरेशन टैक्स), कुछ मदों को एकदम प्रांतीय बना दिया गया, जैसे भूमि पर लगान, मादकद्रव्य पर उत्पादन कर, पेशे पर कर, बिक्री कर एवं मनोरंजन-कर आदि। तीसरी श्रेणी में ऐसे मदों को रखा गया जो आंशिक रूप से संघीय और आंशिक रूप से प्रांतीय थे, जैसे आय कर, कुछ निर्यात कर एवं उत्पादन कर और चौथी श्रेणी में ऐसे कर आते थे जिनका शासन तो संघ से होने को था पर उनसे प्राप्त आय प्रांतों को दे दिया जाता। तीसरे प्रकार के करों का संघीय राजस्व में विशेष स्थान है और साधारणतः इन्हें संतुलन उपस्थित करनेवाले कर की संज्ञा दी जाती है।

उस समय के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स ने, सर ऑटो निमेयर को, आय-कर एवं जूट निर्यात कर के बँटवारे के संबंध में प्रांतों को कितना और किस आधार पर सहायता दी जानी चाहिए, निर्णय देने के लिए नियुक्त किया। उन्होंने सलाह दी कि ५०% आय कर प्रांतों एवं संघ में सम्मिलित होनेवाले देशी राज्यों में बाँटा जाय और ५०% संघ के पास रहे। प्रांतों में आपस में बँटने का अनुपात क्या था यह तालिका नं० १ में देखिए। जूट-निर्यात के बारे में इन्होंने राय दी कि कुल कर का ६२½% जूट उत्पन्न करनेवाले प्रांतों को मिले। प्रांतों को सहायता देने के परिमाण का भी इन्होंने निर्धारण किया। सर निमेयर ने संघ की महत्ता को दिखाते हुए प्रांतों के विकास-कार्य के

महत्त्व को भी स्वीकार किया और साथ-ही साथ उन्होंने यह भी कहा कि सैद्धांतिक पहलू पर लाख ध्यान देने के बावजूद संघीय राजस्व की सफलता बिना व्यावहारिक यथार्थवाद और सहयोग की भावना के सम्भव नहीं है। कोई भी प्रांत इस निपटारे से खुश नहीं था। कोई प्रांत चाहता था कि बँटवारा कर वसूली के आधार पर हो, कोई जन संख्या के आधार पर और कोई जहाँ से कर के पैसे कमाए गए हैं उस आधार पर।

सर ओटो के निर्णय को लंबी आयु मिली। सन् १९४७ में जब विभाजन के कारण देश के आर्थिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन आया तो प्रांतों के हिस्से को पुनः निर्धारित करने का अवसर उपस्थित हुआ। सन् १९४८ में भारत-सरकार की आज्ञा से पुनः अनुपात निर्धारित किया गया। पर विभिन्न राज्यों ने इसका इतना तीव्र विरोध किया कि पुनः सन् १९४९ के नवंबर महीने में सर चिंतामणि देशमुख को इस पर राय देने का भार सौंपा गया। सर देशमुख के सामने यह प्रश्न नहीं था कि संघीय राजस्व की छान बीन करें और केंद्र एवं राज्यों के बीच के अनुपात को तय करें। पर बहुत से राज्यों ने 'देशमुख छानबीन' को अधिक व्यापक समझ कर अपना-अपना दुख-दर्द उनके सामने रखा। मगर देशमुख छानबीन का क्षेत्र सीमित था। विभाजित राज्यों पर ध्यान रखते हुए सर देशमुख ने साफ साफ कहा था—'मेरे अनुसार तो अनुपात निर्धारण करने का व्यावहारिक रास्ता वही है जिसे इस बदली हुई स्थिति में विभाजित राज्यों के शेष क्षेत्रफल, जनसंख्या और आर्थिक महत्त्व को सामने रखकर सर निमेयर नए अनुपात का निर्धारण करते।' इस प्रकार 'देशमुख-अवार्ड' जो सन १९५० के शुरू में प्रकाशित हुआ कोई नई महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी। इससे राज्यों को पुनः कोई संतोष नहीं हुआ। उनकी पुरानी शिकायतें ज्यों की-त्यों बनी रहीं।

जहाँ तक जूट निर्यात कर का प्रश्न था विभाजन के बाद ६२½% वाली बात खत्म हो गई और सन् १९४८ के अनुसार पूर्वी बंगाल के अलग हो जाने के कारण जूट उपजानेवाले राज्यों के हिस्से को ६२½% से २०% कर दिया गया। पश्चिमी बंगाल ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया। जिसके फलस्वरूप सन् १९४७-४८ में ४० लाख और सन् १९४८-४९ एवं ४९-५० के लिए ५०, ५० लाख अतिरिक्त सहायता की व्यवस्था की गई। चूँकि नए विधान में जूट उत्पन्न करनेवाले राज्यों को किसी खास अनुपात में सहायता मिलने उसके स्थान पर निश्चित सहायता की व्यवस्था की गई है, इसलिए सन् १९५० के 'देशमुख अवार्ड' में इस सहायता की दर तय कर डाली गई—देखिए तालिका न० २।

विभाजन के बाद ही, नए विधान में केंद्र और राज्य के आर्थिक संबंध के निर्धारण में सलाह देने के लिए श्री नलनीरंजन सरकार की अध्यक्षता में केंद्रीय शासन ने एक 'विशेषज्ञ समिति' बैठाई थी, जो आगे चलकर विशेषज्ञ-समिति अथवा सरकार समिति के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस समिति ने राज्यों को बाँटनेवाले निधि को ५०% से ६०% बढ़ा देने की सलाह दी और विभिन्न राज्यों में निधि के अनुपात के निर्धारण के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देने को कहा। कुल ६०% में २०% जन-संख्या के आधार पर, ३५% उगाही अथवा आय के स्रोत के आधार पर और ५% ऊपर के दोनों सिद्धांतों को पालन करने में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हों उन्हें दूर करने के लिए। इस प्रकार साफ साफ प्रगट है कि 'सरकार-समिति' ने प्रांतों की आवश्यकता को अधिक महत्त्व दिया।

मगर विधान परिषद् ने 'सरकार समिति' की राय को विधान में उपस्थित करना स्वीकार नहीं किया और प्रच-लित आर्थिक व्यवस्था को तब तक बनाए रखने का निश्चय किया जब तक कि नया 'फाइनांस कमीशन' जिसकी बहाली विधान के लागू होने के दो साल के भीतर राष्ट्र-पति द्वारा की जायगी, राष्ट्रपति को पूरी छान बीन के बाद अपनी राय नहीं दे दे। यही कारण है कि नवंबर सन् १९५१ में श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में राष्ट्रपति ने विधान के २८० वीं धारा के अनुसार कुल ५ सदस्यों का एक कमीशन नियुक्त किया। कमीशन के सदस्य अत्यंत ही अनुभवी और योग्य थे—श्री० एल० मेहता, जस्टिस कोबलद्र राव, बी० के० मदन और श्री० ए० रंगाचारी इसके सदस्यों के नाम हैं। इन्हें निम्न-लिखित बातों पर राष्ट्रपति को परामर्श देना था।—

(१) केंद्र और राज्यों के बीच विभाजन का अनुपात तय करना एवं बाद में निर्धारित अंश को विभिन्न अ व राज्यों में किस अनुपात में बाँटा जाय इसका निर्णय करना एवं 'ब' राज्य के संयुक्त अनुपात को भी तय करना।

(२) राज्य की ठोस निधि (कॉंसिलिडेटेड फंड ऑफ इंडिया) से राज्यों को सहायता देने के सिद्धांतों का विवेचन करना।

(३) 'बी' राज्यों और भारत-सरकार के बीच आर्थिक संबंध की क्या स्थिति होनी चाहिए इसपर परामर्श देना।

(४) ठोस आर्थिक प्रगति के लिए कुछ सुझाव रखना।

व्यावहारिक रूप में इस कमीशन के निर्णय के पूर्व करीब १३ १४ साल तक भारत के संघीय राजस्व की आधार शिला सर निमेयर की रिपोर्ट पर ही टिकी रही। इसी बीच देश में विराट परिवर्तन हुए—देश का विभाजन हुआ, मुद्रास्फीति का भयकर रूप सामने आया, देशी राज्यों का विघटन हुआ, भीतरी चुंगी की दीवारें टूट गईं, जन कल्याण के विकास के लिए राज्यों ने नया नया कदम उठाया और ब्रिटिश राज्य के समाप्त होने से भारत की सुरक्षा का सारा दायित्व केंद्र के कंधों पर पड गया। सर निमेयर के समय की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति में एव फाइनांस कमीशन की नियुक्ति होने के समय की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति में प्रभावपूर्ण परिवर्तन उपस्थित हो गया था। कमीशन को पुन यथोचित छान बीन करनी थी। यथोचित आँकड़ों के अभाव में कमीशन की कठिनाइयाँ कम नहीं होने पाई। कमीशन के सदस्यों ने प्राय सभी राज्यों की राजधानी में पैर रखा, स्थानीय अधिकारियों से बातें कीं, स्थानीय प्रेस के सुझावों को देखा, जिन्होंने इस विषय पर विवेचन एव अध्ययन किया है उनकी राय ली और तब कहीं साल भर के बाद ३१ दिसंबर सन् १९५२ में अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति के सामने पेश की।

कमीशन ने केंद्र की नई जिम्मेवारियों के महत्त्व पर पूर्ण ध्यान दिया पर साथ ही साथ राज्यों की बढ़ती जिम्मवारी और सापेक्षिक रूप से कम तेजी से बढनेवाले आय के रास्तों पर भी ख्याल रखा। कमीशन को इस परिणाम पर पहुँचना पड़ा कि राज्यों का आय बढ़ना ही चाहिए। कमीशन के शब्दों में 'विभिन्न राज्यों के अधिकारियों से बातचीत के उपरांत हमलोगों को कोई संदेह नहीं रह गया कि राज्यों के वर्तमान आय म पूरी तरह वृद्धि होनी ही चाहिए। किन्तु हमलोगो को केवल राज्य की ही आवश्यकताओ पर ध्यान देना नहीं है, यह भी देखना है कि क्या आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा केंद्र राज्यो को दे सकने की क्षमता रखता है अथवा नहीं'। इस प्रकार अपना निर्णय देने के समय कमीशन ने तीन तथ्यो को सामने रक्खा।

(क) केंद्र की फौजी सुरक्षा एव आर्थिक संतुलन को बनाए रखने की शक्ति में कमी नहीं उपस्थित होन पावे।

(ख) राज्यो को सहायता देने के सिद्धांत में सार्वभौमिकता (यूनिफार्मिटी) होनी चाहिए, जिससे किसी राज्य को यथासभव यह अनुभव करन का अवसर नहीं मिले कि अमुक राज्य के साथ पक्षपात किया गया है अथवा अमुक राज्य के स्वार्थ की अवहेलना की गई है।

और, (ग) वितरण की व्यवस्था में इस बात पर भी ध्यान रहना चाहिए कि विभिन्न राज्यों में जो आर्थिक असमानता है उसमें धीरे धीरे कमी उपस्थित की जाय।

इन बातों को सामने रखकर कमीशन न वर्तमान ५०% के स्थान पर राज्यों के मिलने के अनुपात को ५५% कर देने की सलाह दी। 'स' राज्य के अनुपात को २·७५% रखा। कमीशन ने विभिन्न राज्यों के आपसी विभाजन के अनुपात का भी निर्धारण कर दिया है (देखिए तालिका न० १ में) कमीशन ने विभिन्न राज्यों के सुझाव पर कि कुल आय-कर का अधिक हिस्सा उन्हें मिले, पूरा ध्यान दिया और किस आधार पर राज्यों के हिस्से में पडे कोष का विभाजन हो, इस पर भी कमीशनवालों ने अच्छी तरह विचार किया है। कमीशन ने दो प्रमुख तथ्यों को सामने रखा। राज्य की आवश्यकता को पहला स्थान दिया गया और इस आवश्यकता के निर्धारण को जन संख्या से संबंधित किया गया। दूसरे इस बात पर भी ख्याल किया गया कि किस राज्य से कितना कर वसूल हुआ है। इस प्रकार कमीशन के मतानुसार राज्यों को मिलनेवाले कोष का २०% बँटवारा सापेक्षिक वसूली (रिलेटिव कलेक्शन) पर आधारित किया गया और बाकी ८०% सापेक्षिक जन संख्या पर जो सन् १९५१ की जन-गणना से प्राप्त की गई है।

यद्यपि केंद्र द्वारा वसूले गए उत्पादन कर के विभाजन का प्रश्न कमीशन के सामने नहीं था फिर भी कमीशन ने इस कर के विभाजन के लिए भी राय दी है—खासकर विभिन्न राज्यों ने कमीशन से इस विषय पर राय देने की अपील भी की थी। केंद्र के कुल उत्पादन कर का हिस्सा राज्यों को मिले, यह कमीशनवालों को उपयुक्त नहीं जँचा।

उन्होंने तीन ऐसे उत्पादन-करों को चुना जिसका ४०% राज्यों को दिया जाय। तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति घी इन तीनों चीजों से प्राप्त उत्पादन-कर के साथ ही ऐसी बात हुई। विभिन्न राज्यों में बँटवारे का निश्चित अनुपात तय किया गया (देखिए तालिका नं० ३)। इस अनुपात के निर्धारण में केवल जन-संख्या पर ही महत्त्व दिया गया।

जूट निर्यात कर के अनुपात-निर्धारण का प्रश्न विधान में ही अंत कर दिया गया—'देशमुख अवार्ड' में अनुपात के स्थान पर सहायता के निश्चित परिमाण का निर्धारण हो चुका था। कमीशन ने इस परिमाण में थोड़ा अंतर ला दिया। चारों राज्यों के हिस्से में वृद्धि हुई। (देखिए तालिका नं० २)।

फाइनांस-कमीशन के निर्णय के पहले सन् १९४९-५०, ५१-५२ तीन वर्षों में राज्य को प्रतिवर्ष केंद्र से सब प्रकार के हिस्से और सहायता को मिलाकर करीब ६५ करोड़ रुपया प्राप्त हो जाता था। कमीशन के निर्णय से यह बढ़ कर कुल करीब ८६ करोड़ हो जाता है (देखिए तालिका नं० ४)। ऊपर कमीशन के निर्णय के अनुसार आय-कर, उत्पादन-कर, और जूट के स्थान पर सहायता, इन तीनों का वर्णन किया जा चुका है। ८६ करोड़ में से कुल ७५ करोड़ रुपया इन्हीं तीनों मदों में चला जाता है, बाकी रहा करीब ११ करोड़ रुपया, इसमें कई प्रकार की सहायता की व्यवस्था की गई है। करीब ५ करोड़ खास खास राज्यों को सहायता के रूप में, करीब ४॥ करोड़ तीन राज्यों के आय की क्षति पूर्ति के लिए और करीब १॥ करोड़ जो १९५६-५७ तक बढ़ कर २॥ करोड़ बन जायगा, खास-खास पिछड़े राज्यों को प्रारंभिक शिक्षा के विकास के लिए। ५ करोड़ ५ लाख में से विशेष प्रकार की सहायता सात राज्यों को दी गई है। आसाम १ करोड़, पंजाब २॥ करोड़, बंगाल ८० लाख, उड़ीसा ७५ लाख। ट्रावनकोर कोचीन ४५ लाख, मैसूर ४० लाख और सौराष्ट्र ४० लाख। कुल करीब ४॥ करोड़ में से पुराने आय की क्षतिपूर्ति के लिए सौराष्ट्र को १ करोड़ ८७ लाख, मैसूर को १ करोड़ ५८ लाख और ट्रावनकोर-कोचीन को ९८ लाख। खासकर प्रारंभिक शिक्षा के विकास के लिए ८ पिछड़े राज्यों को, शुरू में कुल १॥ करोड़ और बाद में १९५६-५७ तक २ करोड़ की सहायता देने की व्यवस्था की गई है। इस मद में बिहार को शुरू में ४१ लाख और १९५६-५७ तक ८३ लाख मिलने को है। इस प्रकार कमीशन के नए निर्णय के अनुसार बिहार को कुल ८ करोड़ ५५ लाख केंद्र से मिलेगा—७ करोड़ ३० लाख आय कर एवं उत्पादन कर के अंश से, ७५ लाख जूट निर्यात-कर के स्थान पर और ५० लाख प्रारंभिक शिक्षा के लिए।

कमीशन ने सहायता देने के सिद्धांतों एवं आधारों पर भी पूरा प्रकाश डाला है। सहायता देने के कारणों का विश्लेषण करते हुए कमीशन ने प्रगट किया कि—

(१) राज्य के साधनों में कमी हो।

(२ राज्य में लोक-कल्याण के क्षेत्र एवं विकास के कार्यों में आवश्यक वृद्धि उपस्थित करने की आवश्यकता दिखाई जाय।

और, (३) राज्य की रोजी रोटी, बीमा, सामाजिक सुरक्षा आदि जिम्मेवारियों को उठाया जाय।

कमीशन ने निश्चित शर्त पर आधारित और बिना निश्चित शर्त पर आधारित, दोनों प्रकार की सहायता को महत्त्वपूर्ण बताया है। सहायता प्राप्त करनेवाले राज्य को अधिक-से अधिक स्वावलंबी बनने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा न हो कि सहायता के भरोसे कोई राज्य अपनी आर्थिक व्यवस्था में असावधान हो जाय, अन्यथा सावधान राज्यों के साथ अन्याय हो जाएगा। सहायता के और भी बहुत से उद्देश्यों में कुछ ये हैं—

(१) आधारभूत सामाजिक सेवा की पूर्ति में दक्ष रुपया लाई जानी चाहिए।

(२) ऐसे राज्यों को भी सहायता मिलनी चाहिए जिन्हें राष्ट्रीय महत्त्व की जिम्मेवारी को पूरी करने की आवश्यकता हो गई हो, जैसे विभाजित अथवा सीमा पर स्थित राज्य की जिम्मेवारी।

(३) पिछड़े राज्यों को राष्ट्रीय विकास के लिए कुछ सहायता मिलनी चाहिए। प्रारंभिक शिक्षा के विकास के लिए अविकसित राज्यों को विशेष प्रकार की सहायता दी जाय, इस बात पर भी कमीशन ने राय दी है, आदि आदि।

'ग्रांट' देने के सिद्धांत और व्यवहार पर दूसरे संघीय राज्यों के भी अलग अलग अनुभव हैं। यहाँ आस्ट्रेलिया के 'कामनवेल्थ ग्रांट-कमीशन' के बारे में दो शब्द कहना

अमगन नहीं होगा। आस्ट्रेलियन कमीशन की राय में सधीय राज्य की व्यवस्था ज्यों-की त्यों रहनेवाली नहीं हो सकती, इसमें आवश्यकतानुसार बराबर परिवर्तन की आवश्यकता होती है। आस्ट्रेलिया में सन् १९३३ में ही इस कमीशन की स्थापना हुई और तभी से बराबर हर-साल दक्षिणी आस्ट्रेलिया, पश्चिमी आस्ट्रेलिया एवं टस-मानिया राज्यों की सहायता के आवेदन पत्रों की कमीशन छान-बीन करती है और सहायता देने के प्रश्न पर दो बातों का विशेष ख्याल रखती है। (१) राज्य की कर देने की क्या क्षमता है एवं क्या इस क्षमता तक कर की दर में वृद्धि की गई है, और (२) क्या राज्य में बजट बनाने में काफी सावधानी और मितव्ययिता से काम लिया जाता है अथवा नहीं? भारतीय कमीशन की ग्रांट-व्यवस्था को देखकर कहा जा सकता है कि कमीशन ने आस्ट्रेलिया के अनुभव से लाभ उठाने की कोशिश की है।

देश के आर्थिक विकास से संबंध रखनेवाले दो सुझाव कमीशन ने राष्ट्रपति के सामने रखे हैं। पहला यह कि राष्ट्रपति के सचिवालय से मिला जुला एक छोटा-सा संगठन होना चाहिए जो बराबर संघ और राज्यों के पारस्परिक आर्थिक संबंध का अध्ययन एवं अनुसंधान करे। इसका परिणाम यह होगा कि भविष्य में नियुक्त होनेवाले कमीशन को बहुत सारे काम की बातें एवं उपयोगी आँकड़े आसानी से प्राप्त हो जायँगे। आय-कर संबंधी आँकड़ों में सुधार उपस्थित करने की कमीशन ने सलाह दी। अमेरिका में भी केंद्र और राज्य के बीच आर्थिक संबंध की छान-बीन के लिए कई महत्त्वपूर्ण कमीटियाँ नियुक्त हुई हैं। एक कमीटी ने यहाँ भी एक स्थायी 'स्टेट फेडरल ऑथरिटी' की स्थापना की राय दी है। इस 'ऑथरिटी' का काम होगा--

(१) कर की वसूली, अंतिम भार और उगाही का अध्ययन एवं अनुसंधान करना।

(२) समुचित साधनों द्वारा इस विषय में जनमत को शिक्षित करना।

और, (३) 'ऑथरिटी' के तीन सदस्य होंगे—एक की नियुक्ति अमेरिका के राष्ट्रपति करेंगे—दूसरे को राज्य के गवर्नरों के प्रतिनिधि चुनेंगे और तीसरे को ऊपर नियुक्त हुए दोनों सदस्य चुनेंगे। ये तीनों सदस्य ऐसे होंगे जो विभिन्न राज्य सरकार के बीच के आर्थिक संबंध के विशेषज्ञ हों।

बंबई के लब्ध-प्रतिष्ठ अर्थशास्त्री श्री सी० एन० वकील ने कमीशन के निर्णय का स्वागत करते हुए कुछ आलोच-नाएँ भी सामने रखी हैं। उनके अनुसार कमीशन को आय कर के बाँटनेवाले कोष के अनुपात निर्धारण में ५०% आबादी और ५०% उगाही पर ध्यान देना चाहिए। ८०% आबादी पर अनुपात को आधारित करना आबादी के प्रसार को अवांछित प्रोत्साहन देना है। पर यहाँ इतना कहा जा सकता है कि विभिन्न राज्यों में रहने-वालों की आर्थिक सुविधा में इतना अधिक अंतर है कि बिना आबादी पर विशेष ध्यान दिए थोड़ी भी समानता उत्पन्न नहीं की जा सकती, और, फिर आबादी के बढ़ने से राज्यों के सामने इतनी कठिनाइयाँ सिर्फ इसलिए आ जाती हैं कि उन्हें आय कर से कुछ अधिक हिस्सा मिलेगा, कोई भी राज्य आबादी की वृद्धि को बढ़ाना नहीं देगा। उनकी राय में उत्पादन-कर से ४०% के बदले अगर राज्यों को ५०% मिलता तो अच्छा होता। राज्य के विकास की जिम्मेवारियों को देखते हुए यह न्याय-संगत मालूम पड़ता है।

उन्होंने एक और भी महत्त्वपूर्ण सुझाव सामने रखा है। उनका कहना है कि सरकारी दफ्तरों में 'रिसर्च' का काम सुचारू रूप से नहीं चलता, इसलिए अगर तीन चार प्रमुख विश्व विद्यालयों में 'फेलोशिप' की स्थापना के द्वारा अध्ययन और रिसर्च की व्यवस्था की जाय तो अधिक लाभप्रद होगा। इसके लिए यथोचित आर्थिक सहायता की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इस सुझाव के लिए वकील साहब धन्यवाद के पात्र हैं। मेरी राय में दूसरे ढंग से भी इस तरह की व्यवस्था की जा सकती है। तीन-चार विश्व-विद्यालयों के स्थान पर किसी एक ही प्रौढ़ विश्वविद्यालय को चुना जा सकता है जहाँ केंद्र और राज्य के आर्थिक संबंध के विषय में अध्ययन और रिसर्च की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था की जाय एवं तद्विषयक पूरी सामग्री इकट्ठी की जाय। पुनः हर राज्य से दो-दो साल के लिए एक एक सुयोग्य छात्र को उस विद्यालय में रहकर अध्ययन करने और रिसर्च करने के लिए यथोचित आर्थिक सहायता दी जाय। विभिन्न राज्यों का यह संयुक्त 'रिसर्च टीम' संघ एवं राज्यों के पारस्परिक आर्थिक संबंध के प्रश्नों पर बहुत अच्छा प्रकाश डालेगी जो भविष्य में, इस पर हुए खर्च से भी कई गुना अधिक उपयोगी होगा।

तालिका नं० १

राज्य को मिलनेवाले कोष के विभाजन का विभिन्न अनुपात

	सर निमेयर-अवार्ड सन् १९३६	अल्पकालीन घोषणा सन् १९४८ में	देशमुख अवर्ड सन् १९५० में	फाईनास कमीशन-निर्णय, सन् १९५२
१. मद्रास	१५	१८	१७ ५	१५ २५
२. बबई	२०	२१	२१	१७ ५०
३. बगाल (प०)	२०	१२	१३ ५	११'१५
४. यू० पी०	१५	१६	१८	१५ ७३
५ पंजाब	८	५	५३	३ २५
६. बिहार	१०	१३	१२ ५	९ ७३
७. सी० पी० (म० प्रा०)	५	६	६	५ २५
८. आसाम	२	३	३	१ २५
९. उड़ीसा	२	३	३	३'५०
१०. उ० प० सी० प्रा०	१			
११. सिंध	२			
१२. हैदराबाद	..	..	..	४ ५०
१३. मध्य भारत	...	...	...	१ ७५
१४. मैसूर				२'२५
१५. पेप्सू				७५
१६ राजस्थान				३'५०
१७. सौराष्ट्र				१ ००
१८. ट्राव कोचीन				२ ५०

तालिका नं० २

जूट-निर्यात-कर-संबंधी

	निमेयर-अवार्ड १९३६	अल्पकालीन निर्णय १९४८	देशमुख-अवार्ड १९५० (लाख)	फाईनांस क० १९५२ (लाख)
	६२½%	२०%		
१ बंगाल (प०)			१०५	१५०
२ बिहार			३५	७५
३. आसाम			४०	७५
४. उड़ीसा			५	१५

तालिका नं० ३

उत्पादन-कर में राज्यों का हिस्सा

राज्य	अनुपात
१. आसाम	२·६१
२. बिहार	११·६०
३ बंबई	१०·३७
४. हैदराबाद	५·३६
५ मध्यभारत	२·२६
६. मध्यप्रदेश	६·१३
७. मद्रास	१६·४४
८. मैसूर	२·९२
९. उड़ीसा	४·२२
१०. पेप्सू	१
११. पंजाब	३·६६
१२. राजस्थान	४·४१
१३. सौराष्ट्र	१·१६
१४. ट्रावनकोचीन	२·६८
१५. यू० पी०	१८·२२
१६. बंगाल (प०)	७·१६

तालिका न० ४

कमीशन के निर्णय का राज्यों के कुल हिस्से पर प्रभाव

राज्यों का नाम	सन् १९५१-५२ में अंत होनेवाले पिछले तीन वर्षों का वार्षिक औसत		कमीशन के निर्णय के अंदर औसत	
	करोड़	लाख	करोड़	लाख
१ आसाम	२	२१	३	४५
२ बिहार	६	६५	८	३५
३ बंबई	११	६०	११	९५
४. हैदराबाद	१	२३	३	५६
५ मध्यभारत	×	६	१	४६
६ मध्यप्रदेश	३	४५	४	२०
७ मद्रास	८	५९	११	१०
८ मैसूर	३	४५	३	६८
९ उड़ीसा	७	१	३	७४
१० पेप्सू	×	१२	×	६५
११ पंजाब	३	४३	३	८७
१२ राजस्थान	×	१०	२	८६
१३ सौराष्ट्र	२	७५	३	२
१४ ट्रावनकोर कोचीन	३	२२	३	२३
१५ यू० पी०	८	८८	११	७०
१६ बंगाल (प०)	७	५४	९	६०
कुल	६५	१२	८५	९३

अमानत

श्री करतारसिंह दुग्गल

[एक बीमार युवती मृत्यु की अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। जब परदा उठता है समूचा परिवार उसके पलंग की चारों ओर खड़ा नजर आता है।]

बीमार युवती—पिताजी चुप। माता जी चुप। बहनें चुप। भाई चुप। नौकर चुप। आप सब चुप हैं। आँसू भरी आँखें लिए मेरे पलंग के पास सब चुप हैं, सब मेरी ओर देख रहे हैं। क्या मेरा अंतिम क्षण निहारने के लिए? सचमुच मैं मर रही हूँ क्या? अस्पतालवालों ने मेरे रोग को असाध्य बताकर मुझे लौटा दिया। डाक्टर निराश होकर मुझे छोड़ गए। अब मुझे कोई भी दवा नहीं देगा, न ऊदे रंग की दवा, न तरबूजे रंग की। इंजेक्शन लगाना भी बंद कर दिया गया है। सचमुच मैं मर रही हूँ? सत्रह साल की आयु में भी कोई मरता है?

(सारे परिवार की आँखों से आँसू गिरते हैं।)

बीमार युवती—सत्रह साल की आयु! सत्रह साल की आयु तो होती है झूला झूलने की आयु। सत्रह साल की आयु तो होती है झरोखों खिड़कियों पर खड़े होने की आयु। सत्रह साल की आयु तो होती है तारे गिनने की आयु। सत्रह साल की आयु! जब सुगंधियाँ युवती को ढूँढ़ती फिरती हैं, जब जुगनू आ छिपते हैं चोटियों में, जब हवाएँ संदेश देती हैं, जब आँखें सूख जाती हैं, और फिर भीग जाती हैं। सत्रह साल की आयु! जब मुस्कान रोके नहीं रुकती, जब सारा संसार सुंदर लगता है, जब ऊँचा बोल नहीं निकलता। सत्रह साल की आयु! लाज-संकोच की आयु, सपनों की आयु, हाव-भाव की आयु। सत्रह साल की आयु होती है खाने पीने, पहनने, हँसने, खेलने की आयु! सत्रह साल की आयु में भी कोई मरता है?

(चीत्कार करती हुई)

मैं मरना नहीं चाहती, मैं मरना नहीं चाहती। कोई मुझे बचा लो, माताजी···पिताजी···कोई मुझे बचा लो।

(परिवार की चीखें निकल पड़ती हैं; पिता के संकेत पर सब बाहर चले जाते हैं। कमरे में अब केवल पिता रह जाता है। बाहर गैलरी से और पासवाले कमरे से कभी कभी किसी की सिसकियाँ भरने की आवाज आती रहती है।)

बीमार युवती—चले गए, सब चले गए। अंतिम बार मिल कर ममता भरी मा भी चली गई। अंतिम बार मिल कर मा, बहनें सब चली गईं। भाई चले गए, जिनके वचो मैंने याद किए थे। बस, आप रह गए हैं, पिताजी, बस आप। मेरे पास बैठ जाइए···पलंग पर, ऐसे, बस। मेरे साथ बातें कीजिए। मैं मर नहीं रही हूँ। हाय, आपको कैसे विश्वास दिलाऊँ मैं नहीं मर रही हूँ। मेरे पैर ठंडे हो गए हैं···मुड़ गए हैं, कोई बात नहीं। मैं एकटक आपको देख रही हूँ। आपकी आखों से गिरनेवाले एक एक आँसू को देख रही हूँ। (घबराकर) पिता जी, बाहर अमराई पर कोई काग बोल रहा है·· शायद कोई आने वाला है। मुझे सुगंध मिल रही है। शीतल वायु का जैसे झोंका सा आ रहा हो। बाहर चौकीदार कहीं गेट बंद न कर दे। पिताजी, उसे कहिए आज की रात द्वार खुला ही रखे। आज की रात बत्तियाँ जलती रहें·· मेरे पलंग के पास एक कुर्सी रख दीजिए, बस, यहीं पर।

(घबराकर)

हाय हाय, मेरे हाथ ठंडे हो गए हैं, हाय, मेरे हाथ अकड़ रहे हैं, मेरी बाँहें नहीं हिल रही हैं। माताजी··· माता जी···। मैं गई···मैं चली···

(घबराई हुई मा अंदर आती है।)

बीमार युवती—माताजी। आप आ गईं·· मुझे अपनी गोद में ले लीजिए। मैं जा रही हूँ। हाय, मुझे बचा लो माँ···

(माँ लड़की का सिर अपने घुटनों पर रख लेती है। पिता पलंग के पास खड़ा हो जाता है।)

बीमार युवती—मेरे हाथ खटाई के सूखे छिलके की तरह अकड़ गए हैं। मेरी उँगलियाँ पीली पड़ गई हैं। मेरे पैर ऐसे निष्प्राण पड़े हैं, जैसे खिलौने कहीं रख हों। मेरी टाँगों में जैसे चींटियाँ रेंग रही हैं। टाँगें

ठंढी होती जा रही हैं। निष्प्राण होती जा रही हैं। यह ठंढ चलते-चलते, यह सुन्न बढते बढते मेरे हृदय तक पहुँच जायगा, मेरे सिर तक पहुँच जायगा। अच्छा, क्या इसे ही कहते हैं मौत? ऐसे बेजान हो जाना, ऐसे निष्प्राण हो जाना, अकड जाना, काठ के तख्ते की तरह। तो ऐसे ही कोई मरता है। क्या मैं मर रही हूँ? (घबराकर) हैं, बाहर मोतिया क्यों भौंक रही है? इसे किसी ने क्यो नहीं बाँधा अभी तक? पिताजी, बाहर देखिए कोई आकर लौट न जाय। मजाल है, चिड़िया को पर भी मारने दे, यह चुड़ैल मोतिया। इतनी दूर से कोई आएगा और मोतिया उस पर यों भौंकेगी। पिताजी, आप जाते क्यों नहीं? पिताजी आप जाइए…

(पिता बाहर जाता है। लड़की स्नेहपूर्ण दृष्टि से माता की ओर देखती है।)

बीमार युवती—माताजी! मेरी माताजी! आई मरने से क्या होगा? पिताजी बाहर गए हैं। तुम मेरे हाथो में, पैरों में मेंहदी रचा दो, सामने आलमारी के ऊपर के खाने में पुड़िया रखी है। माताजी, मैं मर जाऊँगी, तो मेरे लिए बनाए दहेज के सामानों का क्या करोगी। हाय, मेरे पलग-पोश, जिनको काढते हुए मेरी पोरियाँ रह गईं, पलगपोशों के जोडे…चादरें…तकियों के गिलाफ और खिड़कियों के लिए पर्दे, दरवाजों के लिए पर्दे। अपना एक छोटा सा घर! स्वय फूलों के बीज डालना, स्वय फूलों को निकलते हुए देखना, स्वय अपने फूल चुनना, अपने कमरे में सजाना, अपने फूलों की भीनी-भीनी सुगध। मैं सोचती हूँ माताजी, यदि मैं आज न मरूँ तो अगले महीने इस रोज मैं कहाँ रहूँगी? अब मेरी सहेलियाँ क्या गीत गाने नहीं आएँगी? अब मेंहदी नहीं घोली जायगी? अब उबटन नहीं मला जायगा? मेरी बिंदियाँ ऐसे ही सूख जायँगी? सिंदूर यों ही पड़ा रह जायगा? हाय, यदि मुझे पता होता, तो मैं जी भर कर बातें तो कर लेती। यदि मुझे पता होता तो मैं क्यों किसी को प्यार करती? मैं क्यों शिकायतें सुनती? क्यों उलाहने सुनती? हाय, यदि मुझे पता होता तो इन गज-गज भर लबे बालों को मैं क्यों पालती? कितने काजल घुल गए मेरी आँखों की झीलों में। सौ सौ सुगधियाँ मेरे सीने की लालसाओं को भुठलाती रहीं। हाय, यदि मुझे मालूम होता! उषा की लाली को मैं जी भर कर देख तो लेती, रक्ताभ सायकाल से मैं कोई सबंध तो जोड़ लेती। चाँदनी आ आ कर मेरी खिड़की से यों ही लौट नहीं जाती। पानी के किनारे गीले बालू पर मैं जी भर कर लोट लेती। ठंढे मीठे झरनों में पैर लटकाकर बैठी रहती। कलियों से मैं खिलने-फूलने और मुरझाने का रहस्य पूछ लेती। किसी का साथ करती, किसी का साथ छोड़ती…… मुझे अकेले चलने का अनुभव तो होता। न मैंने कोई पूनी बनाई, न मैंने कोई चर्खा काता, न मैंने कोई अट्टी उतारी। हाथ में क्या मुँह लेकर जाऊँ? मेरी पूँजी क्या है? मैं मरने के लिए तैयार नहीं हूँ, बिलकुल तैयार नहीं। मेरी मा, मुझे रोक लो। किसी उपाय से मुझे बचा लो। कोई कीमत नहीं जिससे आदमी जीवन खरीद सके? कुछ वर्ष और जी लेती। बूढी आयु में तो सब मरते हैं, पांच दिन बीमार रह कर कोई इस तरह कूँच नहीं करता। हाय, अब सुन्न घुटनों तक पहुँच गया, मेरी पिंडलियां जम गई हैं, अकड़ गई हैं, पत्थर हो गई हैं। मैं मर रही हूँ, और आनेवाला अभी तक नहीं आया। (घबराकर) हाय, यह बत्ती कैसे बुझ गई, हाय, यह रोशनी किसने बुझा दी, दिए क्यों बुझ गए? मैं नहीं मरूँगी; मैं नहीं मरूँगी, मैं नहीं मरूँगी ……नहीं मरूँगी, अभी…

[बेहोश हो जाती है और बेहोशी में ही हँसना शुरू कर देती है। कुछ देर बेहोशी में जैसे-तैसे बोलती रहती है। उसका एक भाई सूखी हुई आँख लिए चुपचाप पलंग के पास आकर खड़ा हो जाता है।]

बीमार युवती—(हसते हुए जैसे कोई बच्चा किसी को छेड़ता है।) मैं तो नहीं मरूँगी। मुझे कौन मार सकता है? मैं तो मा की गोद में छिप जाऊँगी। मैं तो पत्तों के झुड में खो जाऊँगी। मैं तो परछाईं की ओट में हो जाऊँगी।

(बेहोशी आ जाती है फिर हँसते हसते रोना शुरू कर देती है।)

हाय, कितनी मुसीबतें हैं। अछूते, कुवारे, हाथ लगने से मैले हो जानेवाले इस शरीर को छोड देना। लाख-लाख हीरे के साचे में ढली इस काया को त्याग देना। इन गोल गुद-गुदी बाँहों को, इन आँखों को, जिनमें लाख लाख जादू भरे हैं, इन ओठों को, जो एक बोल का बोझ नहीं सह सकते थे।… …ऐसे हाथ पता नहीं फिर मिले, न मिले; ऐसे हाथों की सी

अँगुलियाँ पता नहीं फिर मिलें या न मिलें, ऐसी उँगलियों जैसी पोरियाँ पता नहीं उधर हों, न हों। हाय·· कितनी मुसीबतें हैं।

(एकाएक रोना एकदम बंद कर देती है और फिर बकने लगती है)

मेरी माँ के सात बच्चे हुए पर जब मैं आई, उसकी फिर से मा बनने की अभिलाषा मिट गई।

मैंने सोचा था, मेरा ब्याह होगा और मैं आजाद हो जाऊँगी। जी भरकर सोऊँगी, जी भरकर खट्टी अंबिया खाऊँगी। जी भर के हसूँगी, बाहर निकलूँगी बिना किसी को बताए कि कहाँ जा रही हूँ और लौट के आऊगी, तब जब मेरा जी चाहेगा। (वैसे ही अर्धचेतनावस्था में)

हाय पता नहीं, शायद मैं मर ही गई हूँ। ऊपर, और ऊपर, बिलकुल ऊपर। तारे नीचे, चाँद नीचे, सूरज नीचे, आकाश नीचे, यह कौन सा लोक है? कासनी रंग, ऊदे रंग, पीले रंग, गुलाबी रंग··रंगों में रंग घुल मिल गए हैं·मंद शीतल वायु··हल्की हल्की धूप··हरी मखमली घास में लिपटी हुई धरती··फूल द्वारपालों की तरह खड़े··फूल हंस रहे·फूल मस्त, अडोल आखें मूँदे हुए फूल जिनके गले से कलियाँ चिपक गई है, फूल जिन पर भौंरे मंडरा रहे हैं··फूल जिन की झोली शबनम के मोतियों से भरी है··फूल जिनके पास बुलबुलें चहक रही हैं। फूल घास में से झाँक रहे·फूल पत्तियों से ताक रहे··फूल टहनियों से उछल उछल पड़ते, फूल पेड़ों से लपक-लपक कर चुंबन बरसा रहे·फूल कानों में कुछ कह रहे, संदेश दे रहे···सुगंध लुटा रहे।··साफ, उज्जवल, शीतल, गरम फूटते हुए झरने, दूध जैसी सफेद झाग वाली, उछलती कूदती, नाचती, गिरती जल धाराएँ·· अलसाई हुई नशीली नहरें, सोई हुई अचल झीलें, अंगूर्द की तरह जड़ी हुई झीलों के किनारे पेड़··फूलों से सजे हुए, फलों से लदे हुए, पेड़ों की घनी परछाइयाँ।·· परछाईं में मुस्ता रही मछलियाँ, सोए हुए कछुवे·· रंग-बिरंग के पक्षी चहक रहे··गुटक रहे·मटक रहे; किलोलें करते हुए नन्हे हिरण, मिमियाती बकरियाँ मासूम निर्लेप भेड़ें··दूध टपकाते गऊ के स्तन। भरपूर नवयुवतियाँ, खिले खिले से मुखड़े···मुस्कानें बिखेर रहीं, ···गोरे गोरे रंग, ऊँचे लंबे आकार···गज-गज भर के बाल, मदमाते काले नयन··अर्द्ध नग्न-सी··ढकी ढकी सी··· वायु में तैर रहे, घास पर फैल रहे रेशमी पहनावे, कोमल-कोमल रस से भरी···कहीं गा रही···कहीं खेल रही·· ···कहीं टहल रही··कहीं पेड़ों पर चढ रही। कहीं घास पर लेटी··कहीं नहा रहीं·शिकारों में सोई हुई··· गुलाबी-गुलाबी गाल, याकूती होंठ। साँचों में ढले आकार, एक मस्ती, एक दुलार, एक उल्लास··· प्रसन्नता, प्रफुल्लता, चिर यौवन···एक अनंत आनंद···अटूट सपना, अथाह प्यार···दूर, बहुत दूर बर्फों से लदे पहाड़। पहाड़ों से आ रही ताजी हवा, हवाओं से लिपटे हुए गीत··स्नेहों के, चावों के, खुशियों के, मीठे मीठे, मधुर-मधुर···सोने की चम चम करती चट्टानें। चट्टानों के पैरों में लौट रहे हीरे, मोती, पन्ने, जवाहर। पुरुष-नवयुवक, छलहीन, निष्कपट, सन्तुष्ट·· शीशम-जैसे आकार··फौलादी छातियाँ·लड़कियों के पास बैठे···हाथों में हाथ थामे चलते, झूला झूलते, खिलखिलाकर हँसते··पावन, निर्लेप, स्वच्छ नयन, स्वच्छ बोल, स्वच्छ परस, स्वच्छ··स्वच्छ··सब कुछ स्वच्छ।

(एक नशे में डूबी हुई-सी शांत हो जाती है, कुछ क्षण ऐसे चुप रहकर सहसा फूट-फूट कर रोने लगती है।)

बीमार युवती—मैं नहीं मरूँगी, मैं नहीं मरूँगी, माता जी! पिताजी······मेरे अच्छे भाई, मुझे बचा लो। मैं नहीं जाऊँगी वहाँ; वहाँ केवल फूल हैं, फूलों के साथ काँटे नहीं, मुस्कानें हैं, सुगंधियाँ हैं, फुहारें हैं, वहाँ प्रयास नहीं, परिश्रम नहीं, पसीना नहीं। वहाँ कोई हल नहीं चलता, वहाँ कोई बीज नहीं बोता; वहाँ कोई रखवाली के लिए नहीं बैठता, वहाँ कोई ढार नहीं मोड़ता; सिर पर मट्ठे की मटकी लिए वहाँ कोई कुल-वधू नहीं जाती। चलते-चलते किसी के तलवे नहीं छिलते। चक्की पीसते-पीसते किसी के हाथों में गड्ढे नहीं पड़ते। थक कर, हार कर, खेत के किनारे औंधे मुँह सोए हुए बेहोश मैंने किसी को नहीं देखा, वहाँ धूल नहीं, मिट्टी उड़-उड़ कर किसी की भौंहों पर नहीं पड़ती, जिसे कोई चुनरी के पल्ले से बैठ कर पोंछे। भोर की सीटियाँ वहाँ काम पर नहीं बुलाती······ भागते-भागते फूली हुई साँस लिए समय पर कारखाने पहुँचनेवाला कोई भी वहाँ नहीं दीखता। वहाँ कोई बच्चा नहीं, जो किलकारियाँ भर रहा हो·····मुड़-मुड़कर अपनी माँ के दूध की ओर निहार रहा हो, थोड़ी थोड़ी भूख में विसूर रहा हो; नन्हा कितना सचमुच प्यारा लगता है। वहाँ कोई अभिलाषा नहीं, वहाँ कोई प्रतीक्षा नहीं······

वहाँ ऐसा कोई नहीं जो खिड़की में खड़े होकर किसी को देखता, और दूर से आता हुआ किसी को देखकर खिल उठता। वहाँ कोई रूठता नहीं किसी रूठे हुए को मनाना और फिर उस का मान जाना हाय, यह दुनियाँ कितनी मीठी है!

(ऊँचे स्वर में फरियाद करने लगती है)

बीमार युवती—मैं नहीं मरना चाहती। मेरे अच्छे भैया, तुम भी कुछ नहीं कर सकते? बाहर गेलरी में टेलीफोन रखा है, विलायतवाले भैया को टेलीफोन करके तो देखो, शायद वहाँ से कोई दवा मिल जाय। • • शायद वहाँ से कोई इंजेक्शन आ जाय • • पश्चिमवाले तो बहुत आगे बढ़ गए हैं एटम बम से यदि लाखों को मार सकते हैं, तो क्या एक नवयौवना को जीवित नहीं कर सकते? • सत्रह साल की एक नवयुवती मेरे विलायतवाले भैया से कहो—तेरी बहन, जिस की ओर आँख उठा कर तू किसी को देखने नहीं देता था, आज निर्दयी मौत के चंगुल में तड़प रही है, उस को किसी तरह बचा लो। कोई हीला नहीं, कोई बहाना नहीं, कोई सिफारिश नहीं, कोई फरियाद नहीं, कोई सुनवाई नहीं •• यह कैसा न्याय है? अब सुन्न कमर तक पहुँच गया है, • मेरी दोनों टाँगें अचेत हो गई हैं। पैर मुड़ गए, हाथ मुड़ गए, टाँगें मर गईं, यह मौत कितने वेग से चलती है। मैं सोचती हूँ यदि मैं आज मर जाऊँ तो आप मुझे रात ही में तो नहीं जला देंगे • • कल तक तो रुकेंगे। • • • •

किसी को आना चाहिए था •• पता नहीं देर क्यों कर रहा है, इतनी? हाय•• •• कल तुम जला दोगे? मेरे गज-गज भर लंबे बालों की दोनों बणियाँ जल जल जायँगी? सुगंध-भरे मेरे ये रेशमी बाल •• • अछूती कुंवारी मेरी यह काया ••फूल की पत्तियों जैसे ओंठ, •• हर समय हँसते-मुस्कुराते दूध जैसे सफेद दांत••• लाज से झुक झुक जाते मेरे ये नयन, हाथ की उँगलियाँ मूँग की कोमल फलियों सी! हाय जिन पर कोई कहता था भाग्य की रेखाएँ अंकित हैं, राज भोगेगी। ये हाथ जल जायँगे, जल कर मिट्टी हो जायँगे। भैया बाहर जाकर देखो—कोई द्वार न बंद कर दे, (भाई बाहर जाता है) पिताजी, बत्तियाँ जलती रहें, आज की रात पता नहीं किस द्वार से कौन आ जाय।

किसी को आना चाहिए था, मैं बुलाऊँ और कोई न आए •••• अच्छा • अच्छा •••••

(क्षण भर के लिए मौन हो जाती है और फिर कहने लगती है।)

बीमार युवती—माता जी, मेरे मरने के बाद कोई पहुँचे तो उसे कहना तेरी बाट जोहते-जोहते वह चली गई। माता जी, मेरी चुनियाँ रंगरेज से मंगवा लेना। हाय, कैसे प्यारे रंग में रंगे होंगे उसने।—उन चुनियों का तुम क्या करोगी? किसी को मेरी कमीजें पूरी आयँगी, तभी तो उनके साथ की चुनियों को कोई ओढ़ेगी मैं तो सब से छोटी हूँ छोटी लड़कियों को आग शायद पहिले लगती है माँ, मैंने डाकिए से कहा था, उस की बेटी के ब्याह पर मैं उसे कपड़े दूँगी, मेरा धारीदार सूट उसे दे देना, जब मेरी चिट्ठियाँ लेकर वह आए • मेरी चिट्ठियाँ आएँगी, पर मैं उत्तर नहीं दूँगी, • कभी मैं प्रतीक्षा करती थी तो चिट्ठियाँ नहीं आती थीं। पर आज मेरी चिट्ठियों से डब्बा भरा है,—मुझे जलाते समय, माता जी, मेरी चिट्ठियों को मेरे साथ रख देना। • ।

मैं वह उपन्यास पढ़ रही थी—अधूरा ही रह जायगा पहले जब उपन्यास पढ़ती थी,—तो पूरा पढ़े बिना मुझे कुछ सूझता ही न था—इस साल अंगूर की बेल फलेगी,—पिछले साल मैं प्रतीक्षा करती रही, करती रही, खटमिठे, काले-काले, अंगूरों की। यदि गाय ने इस साल बछिया दी तो उसका नाम चमेली रखना हाय। अब सोने से पहिले पिता जी के बालों में उँगलियाँ कौन फेरेगी?—अब उनके तकिए का गिलाफ कौन बदलेगी? • मेरे हाथ से तकिया पर गिलाफ चढ़ा न हो तो रात को उनको नींद ही नहीं आती। (एकदम घबराकर, हैं, बाहर तालाब में बत्तखें क्यों चिल्ला उठी हैं? कोई आ रहा है "हाँ, आ रहा है"ये उसीकी पदचाप है आ रहा है ••आ रहा है अब बरामदे में पहुँच चुका है। आ रहा है, ''आ रहा है •आ रहा है, अब गैलरी में आ गया है। आ रहा है "आ रहा है ' आ रहा है••

(एक नवयुवक कमरे में आता है, उस के पीछे परिवार के बाकी लोग हैं, हर कोई उस के मुख की ओर देख रहा है।)

बीमार युवती (प्रसन्नता से) आप आ गए मैं कहती ही थी आप जरूर आयँगे।•• मैं किसी को बुलाऊँ

और वह न आए। (नवयुवक की ओर) आगे आ जाइए, इस कुर्सी पर बैठ जाइए, कब से आप के लिए खाली पड़ी है, ये सब मेरे मुँह की ओर निहार रहे थे और मुझे आप की प्रतीक्षा थी, मैं अकेली कैसे चली जाती? मैं कुँवारी अकेले कैसे कहीं जाती? मैं आप की अमानत थी, अपनी अमानत को सभाल लीजिए। अपना हाथ मेरे माथे पर रख दीजिए (नवयुवक अपना हाथ बीमार युवती के माथे पर रखता है।)

बीमार युवती—यूँ बस अब मैं शांत हो गई।" जैसे कोई मंजिल पर पहुँच जाता है वह एक बूँद पा जाता है जिसके बिना अमृत भी प्यास नहीं बुझा सकता। एक परस जो मेरी अंधियारी डगर में उजाला करता रहेगा।"'एक नजर, जिस ने मेरी समूची भूख मिटा डाली··· ये स्वप्निल आँखें, हाय, ऐसी आँखें उस लोक में नहीं थीं, ये हाथ जिनका स्पर्श मुझे पुलकित कर रहा है, हाय ऐसे हाथ उस लोक में नहीं थे। ये होंठ जैसे इन में लाख लाख इकरार छिपे हों। हाय, ऐसे होंठ उस लोक में नहीं थे। अब मैं शांत हो गई।···मैंने ये आँखें देख लीं, मैंने ये हाथ लिए, इन होंठों ने जैसे कितना कुछ मेरे कानों में कह डाला है! अब मैं शांत हो गई।"सुनो अब मेरी छाती की ओर चल पड़ा"'मेरा गला रुक रहा है मेरी आँखों के सामने जैसे तारे घूम रहे हैं"मेरे माथे पर अपना हाथ ऐसे ही रखे रहिए··मेरी अंतिम सांस तक"'पिता जी! मैं जा रही हूँ। माताजी। म जा रही हूँ! भैया! मैं जा रही हूँ।"बहनो मैं जा रही हूँ"'मैं जा···
(युवती अंतिम सांस छोड़ती है। उसके श्वास छोड़ने पर सारे परिवार की एक सिसकी निकलती है। बीच-बीच में कोई फूट-फूट कर रोने भी लगता है।)

गीत : श्री नरेशचंद्र वर्मा 'नरेश'

मेरी दीप-शिखा कुम्हलायी!
सरस स्नेह की भूखी-प्यासी
यह मिट्टी की काया,
मन से मन मिलने को व्याकुल
घेर रही है माया॥

स्नेह चुक रहा, प्रणय-वर्तिका
अब बुझने को आयी।

सहम समीर परस दीपक-छवि
मंद - मंद बहता है।
काँप रहा तम नीचे-ऊपर
शबनम जलन सहता है॥

कहता—महामिलन की वेला
क्षण भर को क्यों आयी?

रस-विवेचन

प्रो० वीरेंद्र श्रीवास्तव, विद्यावाचस्पति

काव्य में रस और भाव

अथर्ववेद वेनसूक्त में ऋषि ने इस विश्व की अपार महिमा के आलोकन से भाव-विह्वल होकर कहा—'देखो देव का काव्य, न मरता है, न जीर्ण होता है।'[१] जरा और मृत्यु की छाया से असपृक्त देव काव्य की शाश्वत और चिरतन सुषमा मनोहारिणी क्यों न हो। 'मनीषी परिभू (सर्वव्यापी) स्वयभू कवि ने यथातथ्य रूप में शाश्वत काल से अर्थों का विधान किया है।'[२] मननशील क्रांतदर्शी कवि जब सर्वतोव्यापिनी प्रतिभा और आत्मनिर्भरता की गरिमा से युक्त होकर अर्थ-विधान करे तो उसमें चिर नवीन सौंदर्य का समावेश क्यों न हो। वह निश्चय ही रस है, रस को ही पाकर यह आनदमय होता है।[३] कवि का रस और आनद उसके काव्य से छलकता है, जिसका पान करके सहृदय आनद-मग्न हो जाता है, अजरता और अमरता का अनुभव करता है। प्रजापति कवि के देव-काव्य का अनुकरण और अनुसरण करके ही ऋषियों के वेद-काव्य से लेकर आजतक के कवियों की प्रतिभा काव्य का सृजन करती आ रही है। प्रत्येक कवि की कामना रहती है कि उसका काव्य अजर हो, अमर हो, अर्थ का सम्यक् विधान करे और मानव को सरसता तथा आनद से विभोर कर दे।

'रसात्मक वाक्य'[४] को काव्य की सज्ञा दी जाय या 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द'[५] को काव्य कहा जाय अथवा 'शात क्षणों में स्मृत भावों से प्रसूत प्रबल भावना का सहज प्रवाह'[६] काव्य पद-वाच्य माना जाय। प्रत्येक अवस्था में हृदय की आनदवृत्ति का उद्बोधन काव्य का अनिवार्य लक्षण बन जाता है। यदि काव्य में आनद प्रदान की क्षमता नहीं है तो वह काव्य ही नहीं है। काव्य के इस आनद को अलकार शास्त्रियों ने पारिभाषिक नाम 'रस' दिया है। विभिन्न इंद्रियों के विषय जन्य आनंद से लेकर ब्रह्मानद तक आनद की अनेक कोटियाँ हैं। इन कोटियों में काव्य का आनद इतना उदात्त और प्रशस्त है कि उसे ब्रह्मानद सहोदर कहा गया है। अनुभूति क्षण में कोई भी आनद अखड और प्रमेयातर शून्य है, परतु पश्चाद्वक्ता विश्लेषण के द्वारा आनद के विधायक तत्त्वों के उन्मेष से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस आनद को हम कहाँ स्थान दें और किस कोटि में रखें। जिस आनद में जितनी अधिक स्वार्थपरता हो, सकोचशीलता हो और तन्निष्ठता का अभाव हो उतनी ही हीन कोटि का वह आनद है और जिस आनद में जितनी अधिक स्वार्थशून्यता, व्यापकता और अनन्यता हो उतनी ही उच्च कोटि का वह आनद है। काव्य का आनद उच्च कोटि का है यह अनुभवगम्य तो है ही पर आगे विवेचनीय 'रस की साधारणीकरण प्रक्रिया' से और विशद हो जायगा। काव्य के आनद या रसकी निष्पत्ति में भाव जगत की प्रधानता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, गणितज्ञ, ऐतिहासिक या अन्य साहित्य स्रष्टा की कृति में बोध-वृत्ति जन्य आह्लाद अवश्य है, पर वहाँ भाव-जगत का समावेश नहीं। काव्य निर्माता के अतिरिक्त अन्य साहित्य विधाता यदि भावुक हो जाय और अपनी रचना को भावप्रवण कर दे तो वह अपने उद्देश्य से दूर जा पड़ता है और अपनी रचना को दोषग्रस्त कर देता है। उसका दृष्टिकोण सर्वथा वस्तुनिष्ठ है, वह आत्मनिष्ठ नहीं बन सकता। इसके विपरीत कवि आत्मनिष्ठ है, उसकी रचना में भाव योग आवश्यक है। भाव योग की पराकाष्ठा और उसका चरम विकास ही काव्य का रस या आनद है। भाव का (रागात्मिकवृत) विकास जिस प्रकार होता है उसी को रसनिष्पत्ति कहते हैं।

१ पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति।
२ 'कविर्मनीषी परिभू, स्वयभू याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य —यजु० ४०।
३ रसो वै स। रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।
४ विश्वनाथ ५. पडितराज जगन्नाथ ६. वर्डसवर्थ

रसनिष्पत्ति और अलौकिकत्व

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव (संचारी) के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।[1] यह भरत मुनि का वाक्य रस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आधार रूप में रहा है। इस सूत्रवाक्य की व्याख्या अनेक आचार्यों ने अनेक रूप में की है। उन वादों की आलोचना के पूर्व सामान्य रूप में रस निष्पत्ति को समझ लेना उचित होगा। लोक में भावों की उत्पत्ति के कारण ही काव्य में निबद्ध होकर वाचिक और आंगिक अभिनय के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन[2] (भावनात्मक ज्ञान) कराने से या रति आदि भावों में विशेष आस्वादांकुरण योग्यता के लाने से[3] विभावन व्यापारयुक्त होकर विभाव कहे जाते हैं। साक्षात् भावोत्पत्ति का कारण आलंबन विभाव है और उसकी चेष्टाएँ और परिस्थितियाँ भावोद्दीपक होने के कारण उद्दीपन विभाव। आलंबन विभाव और उद्दीपन विभाव से उत्पन्न आश्रय स्थित भाव के कार्य ही काव्य में निबद्ध होकर अनुभव कराने के कारण या विभावित रति आदि का ही बाद में रसादि रूप से भावन कराने के कारण अनुभावन व्यापारयुक्त[3] होकर अनुभाव कहे जाते हैं। भावना, स्वेद, रोमांच इत्यादि शारीरिक विकार ही काव्य में अनुभाव होते हैं। लोक में सहायक कारण ही काव्य में निबद्ध होकर विविध अभिमुख रूप में रस में विचरण करने से व्यभिचारी[4] अथवा रस का सम्यक् संचार कराने से संचरण व्यापारयुक्त[3] होकर संचारी-पद वाच्य हो जाते हैं। समुद्र में क्षणस्थायी तरंगों की तरह जो भाव बीच बीच में थोड़ी देर के लिए उठकर विलीन हो जाते हैं, पर रस को संचरणशील बना जाते हैं वे ही संचारी हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव सब मिलकर सहृदय के स्थायीभाव को रस रूप में परिणत कर देते हैं। रस में प्रारंभ से लेकर अंत तक रहनेवाला भाव स्थायी भाव है और उसकी अपेक्षा स्वल्पकालीन भाव संचारी भाव है। उदाहरणार्थ पथिक सघन वन में जा रहा है। सामने से सिंह आ जाता है और गर्जन तर्जन करने लगता है, पथिक सहायक रहित और साधन हीन है। वह भय से आक्रांत हो जाता है। भय के मारे पसीना आ जाता है, चेहरा फक् पड़ जाता है, वाणी लड़खड़ाने लगती है। मोह और जड़ता भी बीच में आ जाते हैं। हो सकता है उसका मरण भी हो जाय। यह सब लौकिक घटना है। यही काव्य में जब वर्णित होगी तो पथिक आश्रय, सिंह आलंबन विभाव, उसका गर्जन तर्जन और पथिक की साधनशून्यता उद्दीपन विभाव, भयजन्य पसीना आदि अनुभाव, मोह, जड़ता या मरण संचारी भाव तथा इन सब के संयोग से स्थायी भाव भय का भयानक रस में परिणत होना कहा जायगा। लौकिक घटना को काव्य में वर्णित करने में ही कवि की विधायिका कल्पनाशक्ति अपनी दक्षता प्रदर्शित करती है। इस दक्षता का परिणाम बहुत अद्भुत होता है। लौकिक भय तो मनुष्य को उद्विग्न करनेवाला होता है, पर भयानक रस आनंदजनक होता है। इसलिए अलंकार शास्त्रियों ने विभावन आदि अलौकिक काव्य-व्यापार के आधार पर रस को अलौकिक सिद्ध किया है।[1] श्री रामचंद्र शुक्ल ने इस अलौकिकत्व को अर्थवादात्मक (प्रशंसात्मक) कहकर अनुभूति को लौकिक ही कहा है, पर यह केवल अर्थवादात्मक ही नहीं है। रसानंद की अनुभूति सचमुच अन्य लौकिक अनुभूतियों से विशेषता रखती है। लोक में किसी इष्टजन के नाश से या अनिष्ट की प्राप्ति से शोक उत्पन्न होता है तथा अश्रुप्रवाह आदि वेदनात्मक अनुभूति होती है। यही काव्य में निबद्ध होकर आनंदात्मक करुण रस की अनुभूति कहलाती है। शुक्लजी ने इस अनुभूति को दुःखात्मक ही माना है, सुखात्मक नहीं।[2] पर बात ऐसी नहीं है। संसार में कोई व्यक्ति दुःखात्मक अनुभूति नहीं चाहता। वह उसके साधनों से दूर भागता है। पर 'उत्तर रामचरित' जैसे करुण रस प्रधान नाटक या अन्य दुःखांत नाटकों या काव्यों के पढ़ने में पाठक और भी अधिक रुचि लेता है। यदि उसे आनंद न मिलता होता तो वह नाटक को पटक देता। हाँ, वह आँसू भी बहा देता है, पर वे आँसू

१ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। — भ० ना० अ० ६

२ भरत ना० ७। ६

३ साहित्य दर्पण ३। ६ कारिका व्याख्या

४ विविधमभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। — भ० ना० शा०

१ साहित्य दर्पण ३।२३, ३।२० २६। काव्यप्रकाश ४।२८ व्याख्या—प्राचीन काव्य शास्त्रियों ने लौकिक अनुभूतियों के अनेक विकल्पों को उत्पन्न करके रस की स्थिति उनसे विलक्षण बताई है। विस्तार नहीं दिया जा सकता है।

२ चिन्तामणि पृ० ३४१, ४२

सहानुभूति के कारण हैं, साधारणीकरण प्रक्रिया के परिणाम हैं, दुःख के आँसू नहीं हैं। यदि सचमुच पथिक की जगह वन में हम हों तो डर के मारे दुर्गति हो जाय। वहाँ आनद का कोई स्थान ही नहीं। यदि वास्तव में राम की तरह हमारी हालत हो गई हो, इष्ट का विनाश हो गया हो तो रोते रोते दुर्दशा हो जाय। भय और शोक की ये अनुभूतियाँ लौकिक हैं, हम से सबद्ध हैं, साधारणीकरण से शून्य हैं। पर ये ही अनुभूतियाँ यदि काव्य में निबद्ध हो जायँ, तो हम अपने भय पर हँस भी लेंगे और अनिष्टनाश पर भी आनदलीन हो सकेंगे। इसीलिए वर्डस्वर्थ ने 'शात क्षणों में स्मृत भावजन्य प्रवाह को' काव्य कहा था। इसी अलौकिकत्व के स्वरूप को पूरा अवगत न कर सकने के कारण अनेक आलोचक 'रसवाद' को दूषित समझ बैठे हैं और भावात्मक रस से दूर ले जाकर काव्य को बौद्धिक आनंद के समकक्ष स्थापित करते हैं। इस प्रकार विभावादि के सयोग से रस-निष्पन्न होता है। पहले विभाव आदि पृथक् प्रतीत होते हैं पर रसावस्था में आने पर सब सम्मिलित होकर एकाकार हो जाते हैं; इसलिये रस समूहालम्बनात्मक कहा जाता है। रस को अखंड भी कहा गया है।[1]

रस-निष्पत्ति-प्रकार

विभावादि के सयोग से स्थायीभाव रस-रूप में निष्पन्न होता है, इस विषय में प्रश्न उठता है कि किसका स्थायी भाव रस बनता है। क्या अनुकार्य राम सीता आदि का भाव या अनुकर्ता नट नटी का भाव या सामाजिक का भाव? अनुभव से तो प्रतीत होता है कि काव्य का आनद सामाजिक, चाहे वह दर्शक हो या काव्य पाठक हो या श्रोता हो, प्राप्त करता है। पर ऊपर के विवेचन में आश्रय, आलबन विभाव आदि का विचार करते हुए हम देख आए हैं कि राम आश्रय है तो सीता आलबन विभाव है, राम में सीता विषयक रति उत्पन्न होती है इसलिए रस का समावेश भी वहीं होना चाहिए। नाटक के अभिनय में रगमच पर या चलचित्रों के पट पर आनेवाले नटों और नटियों में उसी प्रकार का विभावादि सामग्री का दर्शन सभ्य करते हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि रति आदि उन्हीं में उत्पन्न हैं और इसलिए रस भी वहीं होना चाहिए। ऐसी अवस्था में यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि रस की स्थिति कहाँ मानी जाय? वास्तविक पात्र राम सीता या दुष्यत शकुतला आदि न जाने किस अतीत के गर्भ में विलीन हो चुके हैं, उनकी रति आदि की अब सभावना कहाँ? अभिनेता तो केवल आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनय अर्थात् अनुकरण के द्वारा उन्हीं अतीत में समाविष्ट या कल्पित पात्रों का प्रतिनिधित्व करता है, वास्तविक रति आदि भावों की उसमें स्थिति कैसे हो? सामाजिक में अतीत सीता या शकुतला-विषयक रति नहीं हो सकती, किसी नटी के आश्रित मात्र विषयक रति भी सामाजिक में सभव नहीं, तो सामाजिक में रस कैसे उत्पन्न हो? इस समस्या का समाधान अनेक आचार्यों ने अपनी दृष्टि से किया है। सक्षेप में उनके सिद्धातों का प्रतिपादन कर हम वास्तविक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

उत्पत्तिवाद या आरोपवाद

मीमासक भट्टलोल्लट ने मुख्य रूप में विभावादि के सयोग से अर्थात् उत्पाद्योत्पादक सबध से इसकी स्थिति अनुकार्य में ही मानी है। परतु अनुकर्ता नट अपनी दक्षता से अनुकार्य का इतना सुदर अभिनय करता है कि सामाजिक अनुकर्ता में ही अनुकार्य का आरोप कर बैठता है और उसे प्रतीत होने लगता है कि रति आदि नट में ही है और वही चमत्कार रस को उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार साँप के न होने पर भी साँप के रूप में देखी गई रस्सी से भय उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सीता विषयक राम रति नट में अविद्यमान होने पर भी नाट्य चातुर्य से उसमें स्थित सी प्रतीत होती हुई सहृदय के हृदय में चमत्कार अर्पित करती है और रस पद को प्राप्त कर लेती है। भट्टलोल्लट ने लौकिक उत्पत्तिवाद (कार्य-कारण सिद्धात के अनुसार कारण सिंहादि से कार्यभय इत्यादि का उत्पन्न होना) के साथ मीमासकों के मिथ्याज्ञान सबधी अख्यातिवाद के आरोप को मिलाकर अपना सिद्धात स्थापित किया है।

अनुमितिवाद

श्री शकुक आचार्य नैयायिक थे। उनकी संमति में अनुमान से ही रसनिष्पत्ति हो सकती है। जिस प्रकार पक्ष सत्व, सपक्ष सत्व और विपक्ष सत्व धर्मों से युक्त हेतु साध्य का अनुमान करा देता है उसी प्रकार काव्य में भी यह 'राम-

१ विभावा अनुभावाश्च सात्विका व्यभिचारिण ।
प्रतीयमाना प्रथम खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ॥ ३ सा० द० ३।२८ व्याख्या

सीताविषयक रति युक्त है क्योंकि सीतादि रूप विभावादि से सबद्ध है या सीताविषयक कटाक्षादि से युक्त है, जो ऐसा नहीं है वह ऐसा नहीं है जैसे मैं' इस अनुमान प्रयोग से रति का अनुमान हो जा सकता है। यह रति आदि भाव अनुमीयमान होने पर भी वस्तु सौंदर्य के बल से आस्वाद्य बनकर समाहित स्थायी रति के रूप में सामाजिकों की वासना से अनुग्रथीयमान होकर रस कहा जाता है।

यह अन्यथाख्याति अनुमान का कारण किस प्रकार बनती है इसको शकुक इस तरह समझाते हैं। सम्यक् ज्ञान, मिथ्याज्ञान, सशय ज्ञान और सादृश्य ज्ञान इन चार प्रकार के ज्ञानों से भिन्न 'चित्रतुरग न्याय' से नट को 'यह राम है' ऐसा सामाजिक समझ बैठता है। यह यथार्थ ज्ञान नहीं, क्योंकि नट राम ही है, ऐसा ज्ञान नहीं होता, मिथ्याज्ञान भी नहीं, क्योंकि नट राम नहीं है इस प्रकार का उत्तर काल में बोध नहीं होता, संशयज्ञान भी नहीं क्योंकि नट है या राम है ऐसी दुविधा की प्रतीति नहीं होती और सादृश्य ज्ञान भी नहीं क्योंकि राम की तरह नट है, ऐसा ख्याल भी नहीं होता। जिस तरह चित्र में लिखे घोड़े को यह घोड़ा है ऐसा कहा जाता है उसी तरह सामाजिक नट को 'यह राम है' ऐसा समझ बैठता है। नट के वाचिक अभिनय और काव्यवाक्यावली के अनुसधान बल से (साक्षात्कार-सा करने से) और उसी के द्वारा शिक्षा तथा अभ्यास की निपुणता से प्रकाशित कृत्रिम कारण - कार्य और सहकारी के होने पर भी विभावादि या वाच्य सामग्री के सयोग से अर्थात् अनुभाव्य अनुभावक-सबध से नट में रति का अनुमान हो जाता है, यह रति आदि भाव ही सामाजिक की वासना से आस्वादित होकर रस कहलाता है।

इस पक्ष में दोष यह है कि अन्यदीय भाव के अनुमान से सामाजिक को रसोद्बोध कैसे हो सकता है। रस साक्षात् अनुभव का विषय है, अनुमान का विषय नहीं। इसके अतिरिक्त मिथ्याग्रस्त हेतु हेत्वाभास है, जैसे कुहरे को धुँआ समझकर अग्नि का अनुमान भ्रांत है, उसी प्रकार नट अर्थात् पक्ष में असत्य धर्मयुक्त हेतु से भाव का अनुमान भी भ्रांत है।

भुक्तिवाद

साख्य मतानुयायी भट्टनायक ने शब्द के तीन व्यापारों की कल्पना से इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। शब्द की अभिधाशक्ति से वाच्यवाचक सबध-ज्ञान द्वारा काव्य का अर्थ समझ में आ जाता है। शब्द की दूसरी शक्ति भावकत्व है। इस शक्ति या व्यापार से व्यक्तित्व सब सबध छोड़कर साधारण प्रतीति होता है। इसी का दूसरा नाम साधारणीकरण है। भावना के बल से विभावादि की सामान्य रूप में प्रतीति होने लगती है। राम, सीता, मैं, तू इत्यादि को दूर कर सामान्य मानवता और सामान्य रति आदि भाव का ज्ञान होने लगता है। इस प्रकार सीमाओं के अतिक्रमण से प्रतिकूल बाधाएँ विनष्ट हो जाती हैं और रसास्वाद सभव होने लगता है। यदि यह प्रतीत बनी रहती कि रत्यादि पात्रगत है या नटगत या स्वात्मगत है, तो भाव रस का रूप ही न ले पाता। शब्द के तीसरे व्यापार भोजकत्व द्वारा अर्थात् तमोगुण और रजोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की प्रबलता से आनदात्मक वेदना द्वारा रस का भोग सभव हो जाता है। इस प्रकार विभावादि के सयोग से अर्थात् भोज्य भोजक सबध से रस की निष्पत्ति अर्थात् भुक्ति होती है।

भट्टनायक ने भावकत्व के द्वारा साधारणीकरण को प्रस्तुत किया, जो कि वास्तव में रसनिष्पत्ति की व्याख्या का सुदर प्रयास है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रस का भोग या आस्वाद सामाजिक में माना है। दोष यही है कि भावकत्व और भोजकत्व इन दो अतिरिक्त व्यापारों की कल्पना अनावश्यक है।

अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्तपाद और उनके अनुयायी अलंकारशास्त्रियों ने शब्द की व्यजनाशक्ति के द्वारा ही रसनिष्पत्ति को निरूपित किया। उनकी सम्मति में जिस प्रकार नए मिट्टी के बर्तन में गध पहले से रहती है पर जल के डालने से अभिव्यक्त हो जाती है उसी प्रकार सामाजिकों में रति इत्यादि की वासना गुप्त रूप से बनी रहती है पर अभिव्यक्त हो जाती है विभावादि सामग्री के उपस्थित होने पर। काव्य में वर्णित विभावादि अपने विभावन, अनुभावन और सचारण व्यापार से, जो कि साधारणीकरण के अनुवर्ती ही हैं, सामाजिक में रस निष्पन्न कर देते हैं। यह साधारणीकरण शब्द की व्यजना-शक्ति के अतिरिक्त पृथक भावकत्व नाम का व्यापार नहीं है। इस साधारणीकरण का विवेचन अपेक्षित है। इसका विस्तार करने से पूर्व चारों आचार्यों के मत को स्पष्ट करने के लिये एक सारिणी प्रस्तुत की जाती है—

वाद	दर्शनानुयायी	आचार्य	विभावादि संयोग	निष्पत्ति	भाव का स्थान
१ उत्पत्तिवाद या आरोपवाद	मीमांसक	भट्टलोल्लट	उत्पाद्योत्पादक-सम्बंध	उत्पत्ति	अनुकार्यगत
२ अनुमितिवाद	नैयायिक	श्री शंकुक	अनुमाप्यानुमापक या गम्य गमक	अनुमिति (अनुमान)	अनुकर्तृगत
३ भुक्तिवाद	सांख्यशास्त्री	भट्टनायक	भोज्य भोजक या पोष्य-पोषक	भुक्ति अथवा पुष्टि	सामाजिक में साधारणीकृत
४ अभिव्यक्तिवाद	अलंकारशास्त्री	अभिनवगुप्त	अभिव्यंग्याभिव्यंजक	अभिव्यक्ति	सामाजिकगत

भरतमुनि के सूत्र-संयोग और निष्पत्ति की व्याख्या के आधार पर उपर्युक्त आचार्यों के वाद हैं।

साधारणीकरण

वास्तविक समस्या के निदान की ओर भट्टनायक ने अपने भावकत्व व्यापार में साधारणीकरण को लाकर ही ध्यान आकृष्ट किया, यह हम देख चुके हैं। साधारणीकरण के प्रभाव से ही अनुकार्य, अनुकर्ता और सामाजिक की खाई पट जाती है। इस प्रक्रिया में पहले तादात्म्य का योग होता है। अनुकर्ता नट अनुकार्य पात्र राम आदि के साथ तादात्म्य स्थापित करता है, सामाजिक अनुकर्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करके अनुकार्य से एकाकार हो जाता है। इस तादात्म्य से तीनों की विभिन्नता समाप्त होकर अभिन्नता आ जाती है और तीनों एक हो जाते हैं। यह आश्रय का तादात्म्य अर्थात् एकाकारता तीनों के रत्यादि भाव को एक रूप बनाने की क्षमता रखता है। लोक में जिस व्यक्ति से तदात्म्यता की जाती है उसके सुख और दुख भी अपने बन जाते हैं अर्थात् उसकी रागात्मिका वृत्ति और हमारी रागात्मिका वृत्ति एक हो जाती है। हम समुद्र का लंघन नहीं कर सकते, रावण जैसे पराक्रमी का विनाश नहीं कर सकते, पर हनुमान और राम के साथ तादात्म्य स्थापित करके उससे अपने को अभिन्न समझते हैं और ऐसा लगता है कि हम समुद्र लाँघ रहे हैं या रावण को मार रहे हैं। इस तादात्म्य को प्रबल कर देते हैं हमारी सहानुभूति और समवेदना के गुण। मनुष्य के ये सहज गुण विभावादि के योग से जाग्रत हो जाते हैं। परिणाम होता है कि हम सामान्य व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर सम्पूर्ण भेदजनक विशेषताओं को दूर कर सामान्य मानवता के धरातल पर आसीन हो जाते हैं। तादात्म्य और अभेद के बाद साधारणीकरण में व्यक्तित्व का लोप कर सबको साधारण या सामान्य बना देने की क्षमता है। अपना-पराया, न अपना, न पराया यह विभावादि ज्ञान में भेद भाव नहीं रहता। इस प्रकार आलंबन विभावादि में साधारणीकरण का प्रवेश हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि पूज्य पात्रों के शृंगार व्यापार उनके प्रति सामाजिक की आदर भावना से रुद्ध नहीं हो पाते, न सामाजिक की अपनी रति आदि वसना व्रीडाजनक हो पाती है। साधारणीकरण में व्यक्तिवैशिष्ट्य सर्वथा समाप्त हो जाता है, पूज्य, मित्र, उदासीन, शत्रु आदि की सम्बंध-विशेष की धारणा जाती रहती है। राम, दुष्यंत इत्यादि मनुष्यत्व के रूप में और सीता, शकुंतला आदि स्त्रीत्व के रूप में उपस्थित होते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण सबको जनसामान्य बनाकर एक धरातल पर ले आता है जहाँ मात्र एक ही भाव की अनुभूति जागती है। इसे ब्रह्मानंद सहोदर, सच्चिदानंद सहोदर आदि जो कहा जाय, बात एक ही है। उपनिषद् ने ठीक ही कहा है।—

रसोवैसः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति।

आधुनिक यूरोपीय उपन्यासों में कुछ नूतन प्रयोग

डॉ० देवराज उपाध्याय

[गतांक का शेषांश]

उपन्यासकार यदि अपनी ओर से कुछ न कह कर पात्रों की चेतना को ही अपनी व्याख्या अथवा वर्णन का माध्यम बनाए तो उसके उपन्यासों में नाटकीयता के साथ आत्मनिष्ठता की अभिवृद्धि हो जाती है और इससे पाठकों के रसास्वादन में भी सुविधा होती है। दूसरे शब्दों में कथा में रस का परिपाक भी अच्छा होता है। इसका कारण क्या है? क्यों इस तरह के उपन्यासों में पाठकों को, और नहीं तो एक विशिष्ट वर्ग के पाठकों को अधिक रसात्मकता की प्रतीति होती है? इस प्रश्न के उठते ही कला का प्रश्न सामने आता है। कलावस्तु और प्रकृतवस्तु में अंतर यह है कि प्रकृतवस्तु के घटनावयव अव्यवस्थित रूप में इधर उधर बिखरे पड़े रहते हैं, उन्हें संगठित कर एक ध्येय-सूत्र में आबद्ध करने का प्रयत्न लक्षित नहीं होता। मैंने कहा लक्षित नहीं होता, हो सकता है। सबसे बड़ा कलाकार ईश्वर का भी एक लक्ष्य हो, जिसकी सेवा इन प्राकृतिक घटनावयवों से होती है पर वह इतना व्यापक और विशाल है कि मनुष्य की सीमित दृष्टि अंकित नहीं कर सकती। जिन महापुरुषों की दृष्टि में वैसी विशालता आ गई है, वे प्रकृति को भी कला के रूप में देखते भी हों, पर हम यहाँ अधिकांश मानव-समूह की ही बात कर रहे हैं। कला का संचालन एक प्रधान संयोजक तत्त्व के तत्त्वावधान में होता है, उसमें निर्वाचन होता है, व्यवस्था होती है, संगठन होता है। प्रकृतवस्तु से सादृश्य रखना कला की पहली शर्त है। यदि वह प्रकृतवस्तु से विपरीत है तो उसका आमदोपभोग नहीं किया जा सकता है। पर सादृश्य या सामीप्य रखते हुए कलाकृति मूल प्रकृतवस्तु से भिन्न होती है। वह शुद्ध तथ्य प्रकृतवस्तु का अनुकरण नहीं है। वह प्रकृतवस्तु+एक्स है अर्थात् वह प्रकृतवस्तु का वह रूप है जो कलाकार के मस्तिष्क पर प्रतिबिंबित है, वह प्रकृति से कुछ मुड़ी हुई चीज है। वह 'एट वन रिमूव फ्रॉम रियलिटी' है। ऐसा मालूम होता है कि कला का रहस्य इसी में है कि वह प्रत्यक्ष न हो, परोक्ष हो, वह 'रियलिटी' से 'एटवन रिमूभ' हो। उपन्यास में 'रियलिटी' का प्रदर्शन नहीं होता, वह जरा आड़ी तिरछी होकर आती है, लेखक की प्रतिभा के तरल माध्यम से होकर आते समय उसमें थोड़ा 'रिफ्रैक्टिभ इनडेक्स' आ जाता है। उपन्यास में हम 'रिफ्रैक्टिभ इनडक्स' की अवहेलना नहीं कर सकते।

इसी तर्क को लेकर थोड़ा आगे बढ़िए। उपन्यास में विशुद्ध तथ्य 'रियलिटी' का स्थान नहीं होता, परन्तु औपन्यासिक की प्रतिभा से संयोजित और संकलित तथ्य का समावेश होता है। हम इसी 'एट वन रिमूभ' वाली 'रियलिटी' की ओर से 'रियलिटी' को देखते हैं, तो हमारा आनंद द्विगुणित हो जाता है। यह हमारा कथकड़ी प्रवृत्तिवाला १६ वीं शताब्दी अथवा उसके पूर्व की 'एडवेंचरस रोमांसेज' है। यदि उपन्यासकर अपने द्वारा देखे गए तथ्य को पात्र के या पात्रों के दृष्टिकोण से उपस्थित करता है तो उसमें अधिक चुनाव, व्यवस्था और संगठन का समावेश हुआ। पहले उपन्यासकार ने अपने दृष्टिकोण से देखा, बाद में उस किंचित परिवर्तन को पात्र ने अपने दृष्टिकोण से देखा, इस तरह व्यवस्था आई अर्थात् वह 'रियलिटी' से 'टू रिमूभ' पर होगा। पहले का फार्मूला था 'रियलिटी+एक्स' अब वह हो गया 'रियलिटी' +एक्स+वाई। अब उसमें पहले प्रकार के उपन्यासों से अधिक रसोन्मेष आ जाना स्वाभाविक है। कला का रहस्य संख्या में नहीं है, इसमें नहीं है कि वह कितनी बातें कहती है, कितना तथ्य बतलाती है, पर इसमें है कि वह उन तथ्यों के द्वारा कितनी जीवन समृद्धि या आढ्यता की झलक दिखलाती है। बातें थोड़ी हों पर उन पर इस तरह का प्रकाश फेंका जाय कि वे तथ्य न रहकर तत्त्व बन जायँ। मंचागृह में जब नर्तकी आती है, तब उसकी मुद्राएँ तो वे ही है, पर उन पर विविध रंग का प्रकाश पड़ने से वे ही कितनी प्रभावोत्पादक और 'अपीलिंग' हो जाती हैं। मेरी

कल्पना में प्राकृतिक तथ्य मिश्री की डली है, जो किसी तरल द्रव्य में घुलकर सहज ही पेय बन जाती है। उपन्यासकार दृष्टिकोण-रूपी तरल द्रव्य में उसे घुलाकर 'सौलूशन' बनाता है। पर वह पूर्ण 'सौलूशन' नहीं तैयार कर पाता, रह रह कर तलछट जम जाता है, जिसे हिलाकर पीने की आवश्यकता होती है; पर जब इस तरल द्रव्य में पात्र की चेतना का जल मिल जाता है तो उसमें एक 'परफेक्ट सौलूशन' तैयार करने की क्षमता आ जाती है; जिसकी शीशी पर 'शेक बिफोर यू यूज' लिखने की आवश्यकता नहीं रहती। कहने का अर्थ यह है कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य यह है कि वह पाठकों के लिए शीतल, स्वास्थ्यवर्द्धक और शक्तिदायक पेय-पदार्थ तैयार करे जो सुविधापूर्वक सुलभ हो, जिसका रस कंठ के नीचे उतरकर हृदय को शीतल कर दे। इस मिश्रण को तैयार करने के दो उपाय हैं। एक तो जेम्स का जिसकी पहले चर्चा की गई है। इसमें अंतर्जीवन के प्रवाह में घटनाओं तथ्यों को घुलाकर रखा जाता है। इसमें यह माना जाता है कि मनुष्य भावनाओं के नगर में रहनेवाला प्राणी है और अपनी बाहरी स्थिति के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं में ही वह जीता है। दूसरी पद्धति मोपाँसा की है जिसमें बाह्यनिष्ठता (आबजेक्टिविटी) ही 'सबजेक्टिविटी' को आत्मसात् कर लेती है। मानव व्यक्ति की 'आबजेक्टिविटी ही सब कुछ है और उसके सारे व्यक्तित्व को यहाँ तक कि 'आबजेक्टिविटी' को भी वही अंतर्निहित किए हो। यह नहीं कि मनुष्य की 'सबजेक्टिविटी' हो ही नहीं, पर वह 'आबजेक्टिविटी' में ही चिपकी हो। जेम्स हमारे सामने एक शर्बत का गिलास देते हैं तो मोपाँसा 'लेमनचूस' की गोलियाँ। रस जो दोनों में है पर प्रदान करने की पद्धति दोनों की भिन्न है। दोनों में श्रेष्ठ कौन है?—इसका निर्णय करना कठिन है। हम मोपाँसा को भी उतने ही चाव से पढ़ते हैं जितना कि जेम्स को।

अब दृष्टिकोण की एकाग्रता पर विचार करना रह जाता है, जिसे अभी तक स्थगित रखा गया था। स्थगित इसलिए रखा था कि यह नाटकीय उपन्यास की विशिष्ट पद्धति है और इसकी योजना में विशेष कौशल की आवश्यकता होती है, इस बिंदु को स्पष्ट करना भी अपेक्षाकृत कठिन है, पर चेष्टा की गई है, उसके द्वारा इसे समझने में सहूलियत होगी। हेनरी जेम्स ने अपनी भूमिकाओं में लिखा है कि रचना कौशल और दृष्टिबिंदु की एकाग्रता की दृष्टि से 'एम्बैस्डर' उसका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। पर अनेक दृष्टियों से इस बात को समझाने के लिए मैं 'गोल्डन बावेल' नामक उपन्यास को लूँगा। मुख्य कथा यह है कि मैगी भरवर को, प्रिंस अमरीगो से विवाह हो जाने के पश्चात्, यह चिंता होती है कि उसके पिता की देखरेख करनेवाला कोई नहीं रह जायगा। अतः वह अपने प्रभाव से एक चार्लोट स्टैंट नामक महिला से उसका विवाह करा देती है, पर घटना कुछ ऐसा रुख पकड़ती है कि मैगी अपने समय का अधिकांश भाग अपने पिता के साथ व्यतीत करती है और स्टैंट का अधिकांश समय उसके पति के साथ व्यतीत होता है, यह परिस्थिति मैगी के लिए असह्य हो जाती है, वह चाहती है—इस राहु का अंत, जिसने उसके जीवन के सुख-चन्द्र को ग्रसित कर लिया है। मैगी और उसके पति इतने सभ्य हैं कि इस अरुचिकर विषय पर स्पष्ट शब्दों में बातें नहीं करते। हाँ, बातचीत के क्रम में केवल संकेत मात्र करते हैं, मैगी की हालत उस शतरंज के खिलाड़ी की तरह है जिसे अपनी गोटियाँ अँधेरे में चलानी पड़ती हैं। इस कहानी में एक और व्यक्ति भी है मिसेज असिंघम। जिन्होंने मैगी का विवाह कराया था और जिनका एक मात्र ध्येय यह था कि इन दोनों का दाम्पत्य-जीवन सुखद और सफल हो। इस पूरे उपन्यास की रचना तीन दृष्टिकोणों से हुई है, प्रथम भाग में सारी कथा प्रिंस अमरीगो और चार्लोट मैगी के पिता और मिसेज असिंघम के दृष्टिकोण से बढ़ रही है। प्रारंभ में जेम्स उस संघर्ष का स्वरूप खड़ा कर रहे हैं जिसका निर्माण प्रिंस और स्टैंट के मस्तिष्क में हो रहा है। सौ पन्नों में मैगी के पिता के दृष्टिकोण का वर्णन है, असिंघम-दम्पति तो इस नाटक के पात्र नहीं हैं, उनकी स्थिति एक दिलचस्पी-रखनेवाले दर्शक की है। वे आपस में वार्तालाप के बीच इस घटना पर विचार-विनिमय करते हैं और इसके द्वारा ही पाठकों को कथा और परिस्थिति के अन्य महत्त्वपूर्ण पहलुओं का ज्ञान होता है। ऐसा मालूम होता है कि जेम्स घटनाओं के आंतरिक रूप और बाह्य रूप दोनों से पाठकों को परिचित कराना चाहता है। नाटक में साक्षात् पार्ट करनेवाले मैगी, प्रिंस जैसे पात्रों के द्वारा हमें आंतरिक रूप के देखने

में सुविधा होती है तो अभिगम्य दृष्टि हमें बाह्य रूप का दर्शन कराते हैं।

दूसरे भाग में सारा वातावरण मैगी की चेतना और चिंता से ओतप्रोत हो, अपने में विद्युत धारा से 'चार्जड तार' की तरह जीवित और स्फूर्त होता है। इस कोमल, निरीह, नारी के सामने एक ओर पिता है, दूसरी ओर पति है जिसे वह प्यार करती है। वह रह रहकर फिसल रहा है। उसके आत्मसम्मान की भावना, सभ्यता की भावना मुँह खोल कर कुछ कहने नहीं देती। वह केवल सकेत करती है और देखती है कि देखें इसका प्रभाव किस रूप में पड़ता है, वह देखती है टॉम के मतपरिवर्तन से चालांट के हृदय की छटपटाहट कैसी होती है। वह बड़े गौर से देखती है कि उसका पिता अपनी पुत्री को प्रसन्न करने के लिए कितनी उदारता से पेश आता है। अपनी प्रेमिका से सरस विहार करते हुए उसके पिता के हृदय की कौन सी दशा होती है। वह इन सब दृश्यों को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखती है और सब की चोट को अपने हृदय पर लेती है। इस दृष्टिकोण की एकाग्रता के कारण उपन्यास में एक घनीभूत नाटकीयता आ गई है, ठीक उसी तरह जिस तरह नदी के पाट को सकरा कर देने पर उसमें बाँध बाँध देने पर प्रवाह में प्रखरता आ जाती है। जिस जागरूकता और सतर्कता में मैगी का क्षण-क्षण बीत रहा है, जिस 'चढ़े तो चाखे प्रेमरस, गिरे तो चकनाचूर'-वाली परिस्थिति का वह सामना कर रही है, उसे पढ़कर उस वनवासी की कल्पना जाग उठती है जो बड़ी सतर्कता से कान खड़े कर पत्ते की एक एक खड़खड़ाहट, वायु की एक एक सरसराहट को सुनता है, ताकि वह खतरे को भाप सके। और पाठक की मानसिक स्थिति उस दर्शक की हो जाती है जो सांस रोक कर उस नट की दुस्साहसिकता को देखता है, जो पतली रस्सी पर आकाश में अपने शरीर को 'बैलेंस' कर खड़ा रहता है, जो कहीं गिरा तो उसकी हड्डी-पसली चकनाचूर। दृष्टिकोण को सीमित कर देने से, कला की दृष्टि से एक लाभ और भी होता है कि कथा धीरे-धीरे पाठकों के सामने खुलती है। एक दृष्टिकोण से देखने पर कथा के कुछ भाग पर प्रकाश पड़ा, कुछ अप्रकाशित ही रह गया, वह दूसरे दृष्टिकोण से प्रकाशित हुआ। तब तक समय-प्रवाह के कारण और भी बातें आईं, जिन्हें तीसरे या जिसे हमने वाह्य दृष्टिकोण कहा है। इस तरह पाठक को पता भी नहीं चलता और कहानी उसके हृदय में घर कर जाती है; मानो पाठक रूपी रोगी को बेहोशी की शीशी सुँघा कर उसकी अचेतन्यावस्था में बारीकी से शल्यक्रिया की गई हो।

ऊपर नाटकीय उपन्यासों की कुछ विशेषताओं की चर्चा की गई। इसके दो कारण थे। प्रथमतः १६ वीं शताब्दी के अंतिम दो तीन दशकों से अंग्रेजी उपन्यास में कथाकार के अस्तित्व को हटाने और उपन्यासों को नाटकीय बनाने की विशेष प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। द्वितीय इसलिए कि आज के उपन्यासों में इस श्रेणी के उपन्यासों के विरुद्ध एक स्पष्ट प्रतिक्रिया परिलक्षित हो रही है कि इन उपन्यासकारों के मत में उपन्यास का आदर्श यह था कि एक विषय हो, जिसे नाटकीय परिस्थिति के बीच में रखकर चित्रित किया गया हो, जिसका विकास निर्बाध और तर्कसंगत रूप में हुआ हो। विषय की एकाग्रता, नाटकीय परिस्थिति और तर्क-सगति—ये उपन्यास के लिए आवश्यक समझे जाते थे। पर अब उपन्यास में से तीनों उपादानों का ह्रास हो चला है। वास्तव में देखा जाय तो जेम्स जैसे प्रमुख नाटकीय उपन्यासों के रचयिता थे और जिनके उपन्यास में पूर्वोल्लिखित पाँच-पांच विशेषताएँ पाई जाती थीं, उनकी रचनाओं में वह 'स्पिरिट' पाई जाती है, जिसे हम 'क्लासिक' कहते हैं। सुस्पष्टता, सरलता, नियमबद्धता, संगठन इत्यादि क्लासिक साहित्य की आत्मा हैं, इसमें सारी बातें व्यवस्थित, साफ-सुथरी और एक विशेष पद्धति के अनुसार घटती हैं, यही बात इन उपन्यासों में भी पाई जाती है। आधुनिक उपन्यासों में हम उसी तरह की प्रतिक्रिया देख रहे हैं, जैसी प्रतिक्रिया अंग्रेजी कविता क्षेत्र में १६ वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों (१६६८-१८३०) में रोमांटिक कवियों में पोप, ड्राइडेन इत्यादि के विरुद्ध हुई थी। पोप इत्यादि ने नियम इत्यादि के आभूषण पहनाकर कविता को कम सुसज्जित नहीं किया था। उनके द्वारा काव्य का कम उपकार नहीं हुआ था। पर आगे चलकर काव्य इस नियम की खराद पर चढ़कर गढ़ी, चिकनी, सुंदर मूर्ति बन गया जिसमें सब कुछ तो हो पर प्राणों के स्पंदन का अभाव हो, जिसको हृदय से लगा कर हमारी उमंगें भूखी ही रह जायें। पहिले जिसे हम आख्याता लेखक उपन्यास कह आए हैं उनमें लेखक इस तरह कहानी की पीठ पर सवार रहता था कि कहानी

बेचारी को अपने स्वरूप को प्रस्फुटित करने का अवसर ही नहीं मिलता था। वह चाहती थी अपना जौहर स्वयं दिखलाना। वह पाठकों के न्यायालय में अपने मुकदमे की पैरवी स्वयं करने के लिए उत्सुक हो रही थी। वह समझने लगी थी कि लेखक के वकालत से मेरे 'केस' को सशक्त और प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित नहीं किया जा रहा है। अत वह वायडोर को आगे आकर स्वयं अपने हाथों में लेना चाहती थी। वह चाहती थी कि वह स्वयं बोले, वह नहीं चाहती थी कि लेखक गला दबाकर उसे बुलवावे। १६ वीं शताब्दी के अंत और बीसवीं के प्रारंभ का युग कथा के इसी स्वातन्त्र्य प्राप्ति का युग था। वह लेखक से सर्वथा मुक्त हो गई और इस स्वतंत्रता के युग में उसने बड़ी बड़ी उच्च कोटि की कहानियाँ कहीं। जेम्स, टालस्टाय, डास्टायेव्स्की इत्यादि इस युग की देन हैं। पर जहां वह लेखक से मुक्त हो सकी, वहाँ वह धीरे-धीरे किसी दृष्टिकोण अथवा विचार (आइडिया) की दासी हो गई। उसका ध्येय यह हो गया कि एक विशेष दृष्टिकोण से ही कथा को उपस्थित किया जाय। इस दृष्टिकोण की एकाग्रता ही इस प्रकार के उपन्यासों के मूल तत्त्व हैं और शेष चार विशेषताएँ जो इसी मूल को सिंचित करने के लिए स्वयं आ जाती हैं। अब देखना यह है कि यह शृंखला सोने की भले ही हो, पर थी आखिर शृंखला ही—इसके विरोध में जो एक प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई, उसके कारण उपन्यास को बाह्य आकृति में क्या परिवर्तन हुआ।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी कला की बाह्य आकृति उसका ढाँचा, उसकी मोड़ भी कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं, उसका भी रूप रंग मूल प्रेरणा के द्वारा ही निश्चित होता है। पहिले कथा-संगठन की मूल प्रेरणा प्लॉट थी, ध्येय था एक सुसंगठित कथा के सूत्र में बाँध कर लेखक के ज्ञान, विज्ञान, तथा उसके नीति मूलक, धर्म मूलक विचारों का प्रतिपादन, जो फिल्डिंग स्कॉट इत्यादि के उपन्यासों के रूप में प्रकट हुआ। बाद में उपन्यास का उद्देश्य लेखक के विचार-प्रतिपादन को छोड़-कर पात्र के दृष्टिकोण पर केंद्रित हो गया, तब 'अम्बैसडर', 'गल्डेनबाउल', 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' जैसे नाटकीय उपन्यास सामने आए—सुसंगठित सुशृंखलित, काक चेष्टा बकोध्यानी। इन उपन्यासों में एक विचित्र एकाग्रता है, ऐसे उपन्यास को पढ़ कर उस चकोर की कल्पना जगती है जो चाद की ओर ध्यान मग्न हो, चातक जो स्वाति की बूँद के प्रति समर्पित हो, चील जो विस्तृत आकाश में मँडराती हुई किसी मांस के टुकड़े पर झपट्टा मारने की तैयारी में हो। इनमें एक 'यूनिफार्मिटी' है 'सिम्पलीसिटी' है, एक विशिष्ट प्रणाली का आलम्बन है, सिमट जाने की प्रवृत्ति है, पर इसके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया की लहर आई उसमें यह सब बातें बह गई। नियमानुवर्तिता के स्थान पर तोड़ फोड़, सादगी के स्थान पर पेचीदगी, संगठन के स्थान पर बिखराहट आ गई। अब उपन्यास चारों ओर से सिमट कर एक जलाशय के रूप को छोड़ कर, फैल कर बिखर जानेवाली बाढ़ का रूप धारण करने लगे। सारी शक्तियाँ एक केंद्रभूमि पर चक्कर काटने के बदले पद पद पर निकल भागने का दृश्य उपस्थित करने लगीं। यह समझा जाने लगा कि उपन्यासों का काम नैरन्तर्य से अधिक अनैरन्तर्य दिखलाना है। एक प्रकार की घटनाओं से एकाएक दूसरे प्रकार की घटनाओं पर कूद कर चले जाने से एक पात्र समूह से दूसरे पात्र समूह पर चले जाने से, एक चेतना-केंद्र को छोड़ दूसरे चेतना केंद्र को बदल देने से जीवन भावना की अभिव्यक्ति अधिक अच्छे ढंग से हो सकती है। दूसरे शब्दों में जीवन मँडुकप्लुति नहीं है।

इस भावना को विज्ञान के 'कैंव्यूम थियूरी' और मनो-विज्ञानके 'डिसइंटग्रेशन आफ सोल' के सिद्धांतों से अधिक प्रोत्साहन मिला। विज्ञान ने अपनी प्रयोगशाला में देखा कि परमाणुओं में 'इलेक्ट्रोन्स' और 'प्रोटन्स' में लपक झपक मची रहती है। उसमें एक दूसरे के पास कूद कर चला जाता है, तो बीच में कोई नैरंतर्य की रेखा नहीं होती। बीच का स्थान रिक्त रहता है। दूसरी ओर मनोविज्ञान ने आत्मा नामक पदार्थ की धज्जी धज्जी उड़ा दी। उसे टुकड़े टुकड़े कर दिया। उसने कहा कि आज तक हम जिस सीधे-सादे ढंग से, हल्के फुल्के दृष्टिकोण से आत्मा के स्वरूप पर विचार करने के अभ्यस्त हैं और जिसका प्रतिफलन हमारे कथा साहित्य में होता आया है, वह सर्वथा निर्मूल है। उसमें कोई भी तथ्य नहीं, वह सत्य का विरोधी है। मानव आत्मा कोई ऐसी दृढ़ वस्तु नहीं, कोई सत्पदार्थ नहीं, जिसे किसी एक या अनेक सामंजस्यपूर्ण घटनाओं के द्वारा देखा-सुना जा सके। आत्मा की एकता या अनेकता की

बात यों समझिए—एक माला का चित्र अपनी कल्पना के सामने लाइए। आप देखेंगे कुछ दाने हैं और एक सूत है, जिसके द्वारा ये दाने एकता में आबद्ध हैं। पर नए मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से आत्मा में दाने दाने ही केवल मिलते हैं। सूत का पता नहीं चलता। अब एकता के दृष्टिकोण से आत्मा का विचार करना सत्य का अपलाप है, जैसा आजतक लोग करते आए हैं। इसमें विचारों के क्रम का कोइ स्थान नहीं, तर्क की कोइ गुंजाइश नहीं। यह कोई ऐसी चीज है जो बिखरा-बिखरा, एक दूसरे से असंबद्ध, असम्पृक्त विच्छिन्न रहता है। जिसे हम तर्क, युक्ति कहते हैं वह हमारे मन की काल्पनिक और कृत्रिम चीज है, इसे हमने अपनी व्यावहारिकता के लिए, काम चलाने के लिए बना लिया है। हमारी आत्मा का छोटा सा चेतन अंश भी इतनी मण्डूकप्लुति में चलता है, ऊपर नीचे दायें-बायें, कि उसकी कोई गतिविधि निश्चित नहीं की जा सकती। वह कभी भी, किसी ओर भी मुड़ जा सकता है। इसका कोई ठिकाना नहीं। आत्मा है तो अपनी, एक शरीर की सीमा में आबद्ध भी, पर दूसरी आत्माओं पर भी छा जाने अथवा दूसरी आत्माओं को अपने ऊपर छाए देने की विचित्र शक्ति इसमें है, वह दूसरों के घर में चुपचाप प्रवेश कर जा सकती है और अपने घर में दूसरों के प्रवेश पर भी आँखें मूँद ले सकती है।

इस तरह के क्रान्तिकारी विचार के कारण उपन्यासों की बाह्याकृति में परिवर्तन न हो यह असंभव है। उपन्यासों में 'कंटिन्यूटि' का अभाव हो गया। 'प्लॉट' की तरफ से उदासीनता हो गई। तर्क संगति, युक्ति-युक्तता का महत्त्व जाता रहा। क्षणों का एन्द्रिय संवेदनाओं का महत्त्व बढ़ा। प्रयत्न यह होने लगा कि जीवन भावना के लिए बाहरी दृढ़ता भले ही न हो, भले ही अस्पष्टता हो अथवा गड़बड़झाला हो, पर सत्यता अवश्य हो।

ऊपर कहा गया है कि नाटकीय उपन्यासों में 'क्लासिकल स्पिरिट' की प्रधानता थी, पर इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया की जो लहर इस युग में चली, तो पुनः 'रोमान्टिसिज्म' ने अपना प्रभुत्व जमा लिया। मैं एक पद आगे बढ़ कर यह कहूँगा कि 'रोमान्टिसिज्म' ने नहीं, बल्कि 'लिरिकइज्म' ने। यह 'लिरिकइज्म' 'रोमान्टिसिज्म' का अधिक विकसित रूप है। इस 'लिरिकइज्म' में गजल की गीतिमयता नहीं, जिसमें नाद-सौंदर्य को भाव सौंदर्य से सहायता मिलती रही है। यह भारतीय पक्के उस्तादी संगीत का रूप है, यह ध्रुपद या तिताला है। इसमें तूम-तूम ता ना ना-जैसे संगीत से ही प्रभावोत्पादकता की सृष्टि की जाती है।

ऊपर आधुनिकतम उपन्यासों की जिन विशेषताओं की चर्चा की गई है उसका स्पष्टीकरण तीन औपन्यासिकों की रचनाओं के आधार पर किया जा सकता है। वे हैं कोनार्ड, डोरथी रिचर्डसन और जेम्स ज्वायस। इन तीन औपन्यासिकों में पूर्ववर्ती परंपरा से सर्वथा निर्विच्छिन्नता पाई जाती हो, सो बात नहीं। साहित्य में ऐसी निर्विच्छिन्नता नहीं हो सकती। इन औपन्यासिकों ने अपने पूर्व के उपन्यासों से बहुत कुछ सीखा है। कहीं कहीं उन्होंने मौलिकता दिखलाई अवश्य है, पर अधिकतर इन्होंने अपने से पूर्व के कथाकारों की प्रवृत्तियों को ही अपनाकर, उन्हें और भी चरमावस्था को पहुँचा कर उन्हें नूतन प्रकार के उपन्यासों की सेवा में नियोजित किया है। कोनार्ड के सारे उपन्यास और उसकी कला का सांगोपांग विवेचन संभव नहीं, पर उसके प्रसिद्ध उपन्यास 'लार्ड जिम' के आधार पर कुछ उपयोगी चर्चा की जा सकती है। फर्ग्स ने कोनार्ड के बारे में लिखा है—'ही डज नॉट हैव लुक अस डाइरेक्टली एट द आवजेक्ट बट रादर एट द मिरर इन विच द आवजेक्ट इज रिफ्लेक्टेड।' अर्थात् कोनार्ड हमारी दृष्टि के सामने वस्तु को न रखकर उसको प्रतिबिंबित करनेवाले दर्पण को रखता है। परंतु कोनार्ड के उपन्यासों को पढ़कर मेरे सामने एक दूसरा ही रूपक उपस्थित होता है। मान लीजिए कि आपके सिर पर एक जलता दीपक रखा हुआ है और आपके आगे और पीछे दो बड़े-बड़े दर्पण रखे हैं। अब आप दर्पण की ओर देखिए तो आपको दीप शिखाधारिणी मूर्तियों की माला उपस्थित होगी। ठीक इसी तरह कोनार्ड की कथावस्तु, नाटकीय औपन्यासिकों के विपरीत एक दृष्टिकोण से न कही जाकर अनेक दृष्टिकोण से कही जाती है, और इस पद्धति के कारण उसकी रचनाओं में एक विचित्र भराव, गांभीर्य और गहराई आ गई है। 'लार्ड जिम' में नायक नौसैनिक एक बड़ा ही बहादुर सिपाही है; पर किसी विशेष परिस्थिति से बाध्य होकर अपने अधिकारियों से संघर्ष में आ जाता है। उसे न्यायालय का सामना करना पड़ता है और अपने पद से च्युत होकर अनेकों तरह से अपमान भाजन होना पड़ता है। पर अंत में अपनी कर्मठता, परिश्रम, और दृढ़ता के बल पर अपनी खोई प्रतिष्ठा और पद को प्राप्त

कर लेता है। यही कथा है, पर यह कथा लेखक अपनी ओर से कहता है। यह क्रम तीन अध्यायों तक चलता है। बाद मे मार्लो नामक व्यक्ति आता है जो जिम के ट्रायल का दर्शक है। यहाँ से कथा का क्रम दूसरा ही हो जाता है। मार्लो सारी कथा को अपनी दृष्टि से अपने मित्रों को आराम और फुर्सत के समय सुनाता है। कुछ कथा लेफ्टनेंट क दृष्टिकोण से, कुछ व्यापारी सलीन क, कुछ जिम की पत्नी क, कुछ सामुद्रिक लुटेरे ब्राउन के, अर्थात् अनेकों दृष्टिकोणों से कहने का प्रयास किया गया है। कोनार्ड एक फटोग्राफर है जो जीवन का सच्चा चित्र खींचना चाहता है। चित्र खींचने क लिए पहले 'फोकस' को ठीक कर लना आवश्यक होता है। पर कोई पूर्ण 'फोकस' का पा लेना असभव है, अत सदा कैमरा की स्थिति को बद लते हुए जितने भी चित्र उपलब्ध हो सकते हैं, उन्हें एकत्र कर देना श्रयस्कर समझा जाता है। हाँ, उन्हें 'कम्पोजिट' रूप तो देना ही पड़ता है। इस पद्धति के अवलबन के कारण कोनार्ड के उपन्यास में एक विचित्र इन्द्रधनुषी रगीनी आ गई है। जीवन की चमक और स्पदनशील लावण्य आ गया।

ऊपर यह चर्चा हो चुकी है कि किस तरह जेम्स ने अपने उपन्यासों की कथा को पाठकों से 'टू रिमूव्स' पर रखने का प्रयत्न किया है। पर कोनार्ड ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'चास म अपनी कथा को पाठकों से 'एट फाइव और सिक्स रिमूव्स' पर रखकर अपनी कला को सफल बनाया है। इसमें फ्लोर डी बेरियल नामक नायिक की कथा है जो कपट और धूर्तता से द्रव्योपार्जन करनेवाले व्यवसायी की पुत्री है। यह कुछ दिनों तक मिसेज टीन के यहाँ अतिथि के रूप में रहती है। बाद मे उसी के भाई एथौनी के साथ भाग जाती है। इसमें मार्लो ने सारी कथा 'अपने' से कही है। यह सब सूचनाएँ कुछ तो उसने स्वय प्राप्त की हैं, कुछ मिस्टर और मिसेज जेन के वार्तालाप से प्राप्त हुई हैं। कुछ अनुमान से निकाल लिया है। अत कथा का ग्राफ कुछ इस तरह होगा फ्लोर→मिसेज जेन→मार्लो→मी→रिडर। अर्थात् पाठक को वह सूचना मिलती है जो मार्लो स्वय से कहता है। जिसे उसने मिसेज जेन से सुना है। जिसे मिसेज जेन ने फ्लोरा से सुन रखा था। इन चार या पाँच माध्यमों से होकर आने में कथा कितनी शक्तिशाली हो गई है यह प्रत्यक पाठक ही जानता है। आधिभौतिक विज्ञान के विद्यार्थी अच्छी तरह जानते हैं कि किस तरह छोटी-सी शक्ति को एकाधिक माध्यमों से ले जाकर उसे इतना शक्तिशाली बनाया जा सकता है कि वे वडे बड़े चट्टानों को उठा सकें।

कोनार्ड की तीसरी विशेषता है कथाक्रम में भयानक उलट-फेर। कथा कहनेका सीधा-सादा ढंग यह है कि कथा क्रम से कही जाय। जिस क्रम से घटनाएँ घटी हैं, उसी का अनुकरण किया जाय। जो घटना पहले हुई हो, उसका पहले उल्लेख हो। बाद में होनेवाली का बाद में। पर कोनार्ड की पद्धति यह है कि वह अपने पात्रों को एक विशिष्ट परिस्थिति में पकडेगा। वैसी परिस्थिति में जिसमें अपनी छाप डाल देने की अपूर्व क्षमता हो। जीवन प्रवाह से एक ऐसी सशक्त आवेगशील और जीवत लहर को पकड़ा जाय, जो अपना वर्तमान तो प्रगट करे ही साथ ही अपने भूत का भी प्रतिबिंब देता रहे। जिसके स्पष्ट ज्ञान के लिए पाठक में प्रबल जिज्ञासा जाग उठे और जिस जिज्ञासा को शात करने का काम कथाकार पर आ पडे, तो एक प्रबल माग के उत्तर के स्वरूप में मान लीजिए कि कथा का स्वाभाविक क्रम विकास क ख ग घ ङ, च, छ, ज, झ,... • ञ क रूप में होता है पर......उपन्यास में कथा क्रम एक दम उलट पुलट जाएगा। वह कुछ यों हो सकता है त, थ, द, ध, न, य, र, ट, ठ, इत्यादि। इस उलटे पुलटे कथाक्रम क समर्थन में यह कहा जा सकता है कि यह अधिक स्वाभाविक और जीवनानुरूप है। वास्तव में देखा जाय तो कोई बात क्रमिक रूप में नहीं होती। वह टेढे मेढे रास्ते से चलती है, जीवन में कोई सीधा राजमार्ग होता नहीं, तो उपन्यास भी क्यों राजमार्ग से होकर यात्रा को निकले।

इस पद्धति से दूसरा लाभ यह है कि उत्सुकता को जागरित कर शात करने का अवसर अनायास ही उपलब्ध हो जाता है, जो उपन्यास की विशिष्टता है। कोनार्ड का सिद्धात था कि जीवन एक सतर्क, जागरुक और चचल चिड़िया है। जहाँ आप पकडने गए कि जरा सा आहट पाकर वह फुर्र से उड़ जायगी। उसे पकड़ना है तो सास रोक कर प्रतीक्षा कीजिए, देखते रहिए कि कब वह पकड़ने के सर्वानुकूल स्थिति मे आ गई है और तब दबे पाँव जाकर पकड लीजिए। जेम्स की पद्धति दूसरी थी। वे जीवन का शिकार करने के लिये बकायदा मोर्चाबदी

करते थे, पर लेोनार्ड बिल्ली की तरह देह साध कर शिकार की ताक में रहते थे और बस मौका पाते ही उसे दबोच देते थे।

इसी तरह का एक और प्रयोग स्टेफन हडसन ने 'सैमो ऑफ रिचर्ड काट' नाम के उपन्यास में किया है। यह उपन्यास सात जिल्दों में समाप्त हुआ है। एक व्यक्ति की कथा है जो अपनी पत्नी से असंतुष्ट होकर दूसरा विवाह कर लेता है, पर इसमें कथा के क्रम का नितांत अभाव है और कब, किस समय, किस तरफ कहानी मुड़ जायगी, पता नहीं। प्रथम भाग में हम रिचार्ड काट को इटली में पाते हैं, जहाँ वह सुंदर झीलों और आकर्षक उद्यानों में अपनी पत्नी से ऊब कर अनेक आनंदप्रद प्रमोद प्रमोद में जीवन व्यतीत कर रहा है। दूसरे भाग में उपन्यास का क्षेत्र इटली से हटकर अमेरिका में आ जाता है और काट के 'कॉटेथिर' का दृश्य सामने आता है; जिसके फलस्वरूप उसने अपनी पत्नी को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी। इस तरह कथा बेढंगी चाल से चलती हुई काट के बाल्यकाल से लेकर उसके जीवन के मध्याह्न तक की बात कह जाती है। अभी तीन-चार ही वर्ष होते हैं कि अंगरेजी के एक औपन्यासिक क्लिनिट दुवारनॉ ने कथा-साहित्य में एक बड़ा ही मनोरंजक प्रयोग किया है। उप-न्यास का नाम है 'टी विथ मिसेज गुडमैन' इसमें एक चाय पार्टी का वर्णन है। इसमें सात व्यक्ति निमंत्रित हैं, जिनमें पुरुष, नारी, बालक, वृद्ध, प्रौढ़, युवा सब तरह और सब मनोवृत्ति के व्यक्ति हैं। वे सब बारी-बारी से इस पार्टी का वर्णन करते हैं और प्रत्येक वर्णन में कथा के कुछ उन अंशों पर प्रकाश पड़ता है जो पहले तिमिरावृत्त थे। इस तरह पूरी कथा धीरे धीरे पाठक के सामने अपनी पूरी समृद्धि के साथ उपस्थित हो जाती है। ऐसा मालूम पड़ता है कि किसी स्थान पर या उद्यान में एक कल्पवृक्ष स्थित हो और वहाँ आसपास में अनेक पशु घास चर रहे हों। वे आते हैं और वृक्ष में देह रगड़कर अपने शरीर की खुजलाहट मिटाते हैं। उनकी देह के आघात से वृक्ष हिल जाता है और जमीन पर रत्न झड़ पड़ते हैं। जमीन जवाहिरातों से पट जाती है और खूबी यह कि प्रत्येक बार भिन्न भिन्न प्रकार के रत्नों की वर्षा होती है और उनमें कभी भी 'ओवरलैपिंग' नहीं होती। जिस स्थान पर मोतियों की वर्षा हुई है, उस पर दूसरी बार पुखराज की वर्षा नहीं होती।

जेम्स ज्वायस ने अन्य पुस्तकें भी लिखी हैं पर प्रयोग की नूतनता की दृष्टि से 'यूलिसस' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके संबंध में आलोचकों के बीच सदा से मतभेद रहा है और रहेगा। इसकी कतिपय विशेषताएँ निम्नलिखित हैं, जिन्हें ध्यान में रखने से उपन्यास की परंपरा में इसके मूल्य निर्धारण में सहायता मिलेगी। १. यह एक हजार पन्नों की वृहदकाय पुस्तक है; जिसमें स्टेफन डेडलस, लियोपार्ड ब्लॉसम और उसकी पत्नी मैरियो ब्लिडी के एक दिन के जीवन का वर्णन है; अर्थात् सोलह जून १६०४ के ८ बजे प्रातःकाल से लेकर दूसरे दिन मध्याह्न दो बजे तक की कथा है। यह एक दिन की कथा प्रधानतः एक ही मनुष्य की कथा है, पर मालूम होता है कि इसमें सब दिन और सब मनुष्यों की कथा है, यह मानव-मस्तिष्क के आंतरिक प्रवाह की कथा है, जो कब कहाँ से और किधर मोड़ लेगी, पता नहीं। २. यह उपन्यास वास्तविक अर्थ में आत्मनिष्ठ या अन्तर्निष्ठ उपन्यास कहा जा सकता है। जेम्स के उपन्यास भी कम 'सबजेक्टिव' नहीं थे; पर जेम्स की आत्मनिष्ठता और ज्वायस की आत्मनिष्ठता में अंतर है। जेम्स में पात्रों की आत्मनिष्ठता तो है, पर उसके साथ-साथ पात्रों की क्रियात्मकता भी है। पात्र अपनी आंतरिक प्रेरणाओं के अनुरूप कार्य-व्यापार निरत भी दिखलाई पड़ते हैं। यह अवश्य है कि जेम्स ने पात्रों के आंतरिक मानसिक गतिशीलता को 'क्लोस अप' और 'लो अप' पद्धति के द्वारा दिखलाने का प्रयत्न किया है। पर इसका पर्यवसान क्रिया में है, नाटक में है। पात्र की मानसिक क्रियाशीलता स्थूल बाह्य सक्रियता का रूप अनवरत धारण करती है। ऐसा कभी नहीं होता कि मानसिक व्यापार की तरलता क्रिया का ठोस-रूप धारण न कर सके। अर्थात् जेम्स में आत्मनिष्ठता तो है, उसने पात्रों की आत्मस्थिति, आत्मस्थता, दिखलाई तो है, पर उसके प्रदर्शन के लिए क्रिया-व्यापार को दिखलाना आवश्यक था। मानो उसके अभाव में आत्मस्थिति का प्रदर्शन हो ही नहीं सकता था। अंगरेजी में कहेंगे कि 'सोल हैज बीन डिस्प्लेड बाइ एक्शन' अर्थात् आत्मा क्रिया के द्वारा प्रदर्शित की गई है" पर ज्वायस के पात्र में इस 'एक्शन' का, नाटक का, क्रियात्मकता का सर्वथा अभाव है। वे मानस मात्र हैं, भाव मात्र हैं, वेदनामात्र हैं, क्रिया है ही नहीं। जिस तरह हथौड़े की चोट खाकर न जाने कितनी

चिनगारियाँ निकल पड़ती हैं, ऊपर नीचे, अगल-बगल में, उसी तरह पात्र का मानस-प्रवाह किस ओर कब वह निकलेगा, कहा नहीं जा सकता। ३. उपन्यास में 'मोनोलॉग इन्टेरियर' (स्वगत कथन) की भरमार है। उपन्यास के अधिकांश भाग में पात्र मानो अपनेआप से ही बातें करने में संलग्न हैं। उनकी भाषा मानो केवल उनकी है। व्यावहारिकता से अनियंत्रित मानस-प्रवाह की तरलता को अभिव्यक्त करना जिस उपन्यास का ध्येय हो उसके लिए यह पद्धति सर्वोत्तम है। पुस्तक के अंत में ५०, ६० पन्नों में ऐसी भाषा का प्रयोग है जिसमें न तो कहीं विराम है, न कहीं इस बात पर ही ध्यान रखा गया है कि कौन-सा शब्द किस स्थान पर व्याकरण के अनुसार आना चाहिए। कारण, कि व्याकरण के नियम तो किसी उद्देश्य से, व्यावहारिकता की प्रेरणा से बनाए गए ऊपरी नियम हैं, उनमें नैसर्गिता नहीं है। हमारे मानस का प्रवाह व्याकरण की बँधी-बधाई प्रणालियों का कायल नहीं होता। वह स्वछंद निर्मुक्त रूप से इधर उधर उमड़ता चलता है।

इस पद्धति के द्वारा लेखक को अपने अस्तित्व को एकदम हटा लेने में सुविधा होती है। यूरोपीय उपन्यास साहित्य का इन ५० वर्षों का इतिहास एक वाक्य में कथाकार के व्यक्तित्व का कथा-पटल से तिरोहित होने का इतिहास है। पर जेम्स ने पात्रों के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को आरोपित करने के लाख प्रयत्न किए हों, पर उसकी शैली विशिष्ट पृथकत्व की सूचना दे ही देती है। ऐसा मालूम होता है कि सारे नाटक का एक नियन्तक है, जो इन सब क्रियाओं में एक संबद्धता और संलग्नता को बनाए रखता है। कहना नहीं होगा कि जेम्स की दृष्टि में इस संलग्नता, संबद्धता, का बड़ा महत्त्व था। वास्तव में पूछा जाय तो ऊपर जिन्हें हम नाटकीय उपन्यास कह आए हैं, उनका ध्येय ही संगठन, संलग्नता और संबद्धता था। पर ज्वायस का उद्देश्य ही बिखराहट था, असंबद्धता और असंलग्नता था। जेम्स और ज्वायस के बीच एक नूतन मनोविज्ञान का व्यवधान आ गया था। जेम्स तक का मनोविज्ञान आत्मा के एकत्व में विश्वास करता था, परंतु ज्वायस तक आते आते इस एकत्व में उसकी आस्था घट चली थी। वह अब टूट-टूटकर विभिन्न मानसिक अवस्थाएँ मात्र रह गई थीं—परस्पर निरपेक्ष इस मनोविज्ञान को लेकर उपन्यास जो रूप धारण कर सकता था, वही रूप ज्वायस में पाया जाता है।

जो हो, ज्वायस की उपन्यास-कला में सिनमा की पद्धति का प्रभाव तो स्पष्ट ही है। सिनमा में दो तीन पद्धतियों से अधिक काम लिया जाता है—'क्लोज अप' 'स्लोअप' तथा 'कायलॅट'। आपने देखा होगा कि कभी-कभी किसी पात्र के मुख या अन्य किसी अवयव को अत्यधिक बढ़ा चढ़ा कर विपुलाकार बना कर दिखलाया जाता है। उसकी सक्रियता दिखलाने के लिए नहीं, पर इस उद्देश्य से कि उसके भावों तथा उसके भाव प्रेरित सौंदर्यानुभूति की छाप दर्शक पर अच्छी तरह पड़ सके। यह 'क्लोज अप' है। कभी-कभी गति के वेग को शिथिल करके दिखलाया जाता है, ताकि हम उसके क्रमिक विकास को देख सकें। यदि गति बहुत तेज है तो हम उसे एक सीधी रेखा में ही देख सकते हैं। उसके प्रत्येक पद को नहीं देख सकते। इस पद्धति के सहारे प्रत्येक क्षण के विकास को देख सकते हैं। यही 'स्लो अप' है। 'मोनेलॉग' में लिए गए चित्रों को जहाँ से चाहें काट कर, जहाँ चाहे, बैठा सकते हैं। ज्वायस ने इन सब पद्धतियों से काम लिया है। इस उपन्यास में पात्र की किसी मानसिक अवस्था अथवा क्षण को ऐसे विपुलाकार 'लेंस' से देखा गया है कि वह निःसीम सा हो उठा है और उसमें वे दृश्य दृष्टिगोचर होने लगे हैं जिन पर साधारणतः हमारी दृष्टि नहीं जाती, पर जो वस्तु की वास्तविकता को ग्रहण कराने के लिए अत्यावश्यक होते हैं।

अधपके सेब

श्री कातिकनाथ मिश्र

आखिर एक दिन जब पिता की नजर बचा कर शुचि अपने आँचल में दो सेब लिए चिन-यो के घर के पीछे एकान्त में उसने दिये, तो उसका कलेजा धक-धक काँप रहा था। सेब का भेद मामूली भेंट का आना हो गया था और उसके ऊपर दूनी 'उसकी' चिन्ता की धड़कन का भार आ पड़ा था।

× × ×

बड़े अरमान से उसके पिता ने वह पेड़ लगा कर सींचा था। उसने भी खूब मेहनत कर उन फलों की रक्षा की थी, चिड़िया-चुरमुन तक को पास फटकने न दिया था। उसके पिता उस पेड़ का पहला फल चीन के राजकुमार को भेंट करना चाहते थे—अपने पिता के मुँह से राजकुमार की प्रशंसा बार-बार सुन, शुचि यह पहले ही ताड़ गई थी, परन्तु वह पिता से नजर बचाकर चिन-यो को पहली भेंट देना चाहती थी। इसके लिए पास के ही दो फल भी उसने चुन लिए थे। उन दोनों पर उसकी खास नजर रहा करती। दिन भर उसी पेड़ के नीचे खेलती रहती और उसके ऊपर चुनमुन तक को बैठने नहीं देती। अपनी एक पुरानी कीमती रेशमी साड़ी फाड़ कर कंचुकी-सी बना ली थी और कड़ी धूप, चंचल हवा एवं कठोर शीत उष्ण से उनकी रक्षा करने के लिए उनको लपेट दिया था। इस पर भी उसे सन्तोष न होता और वह बार-बार कंचुकी खोलकर उन्हें देखती, सहलाती और उनकी बाढ़ का अध्ययन करती।

उस दिन उसके हर्ष और आश्चर्य की सीमा न रही, जब भोर में कंचुकी खोलने पर उसने देखा कि फल के डंठल के पास से रक्तवर्ण की एक मोटी-सी रेखा क्रमशः पतली होती हुई निम्न भाग तक चली आई है। ध्यान से जो देखा, तो पतली-पतली लकीरें अनेक स्थान पर दिखाई पड़ीं। वह विभोर हो गई। उसके मुख मण्डल पर भी वैसी ही लकीरें उभर आईं।

ज्यों-त्यों करके उसने दिन काटा। गोधूलि की वेला आई और वह पिता की नजर बचा कर नूतन फल-द्वय लिए दौड़ पड़ी—चिन-यो के घर। जल्दी-जल्दी उसे साथ लिए घर के पिछवाड़े पहुँची—उसे डर लग रहा था कि कोई देख न ले; उसके पिता से न कह दे। यही कारण था कि, उसका कलेजा धक-धक काँप रहा था।

× × ×

चिन यो तो हक्का-बक्का था; शुचि की आतुरता, उसकी हड़बड़ी, यह कुसमय, कुछ भी उसकी समझ में न आ रहा था। एक नजर वह उन फलों को देखता, फिर उसके मुख मण्डल की ओर फिर उसकी आँखों को, जिनसे सब प्रतिफल सन्तोष की भावना टपक रही थी। शुचि धीरे धीरे स्थिर हो रही थी; वह क्रमशः शान्त हो रही थी। अपनी बदहोशी का खयाल कर अब उसे शर्म भी आने लगी थी। चिन यो ने तभी मुस्कुराते हुए कहा था—'अभी तो ये पके नहीं; ऐसी जल्दी क्या—!' चिन यो ने उसकी गर्दन थपथपा दी थी। शुचि भी सोचने लगी थी—'ऐसी जल्दी क्या—।'

पर, रास्ते में ये शब्द उसे फिर सुनाई पड़ने लगे और जब घर पहुँची तो इसकी तीव्रता और भी बढ़ गई थी। वह ग्लानि का अनुभव करने लगी थी—दिन भर इसीके पीछे उसने समय बिताया था, और अब ..सोचने लगी, यदि किसी प्रकार ये समय से कुछ पहले ही पक जाते तो क्या चिन यो यह कहता कि ऐसी जल्दी क्या—।

शुचि घर की बूढ़ी दाई के पास पहुँची। दाई उसकी दादी की उम्र की थी और दादी की तरह मानती भी थी। सहज नम्रता से भरे भाव से पूछा—'दादी, सेब समय से पहले कैसे पक सकता है?' दादी हँस-हँस खनकती-सी बोली—'दुखी बिटिया, इनका समय पर ही पकना ठीक होता है; इसमें जल्दी न करनी चाहिए।'

शु-चि को संतोष न हुआ। नहाने के कमरे में पहुँची, जहाँ नौकर कपड़ा निचोड़ रहा था। शु चि ने सोचा—शायद यह देहाती छोकरा जानता हो। कपड़े के भीतर छुपाए सेब दिखाकर उससे भी वही प्रश्न किया जो दादी से किया था। छोकरे ने उसे हाथ से छुआ और कहा—'दंभक है'। जाँच करने के लिए उसने तर्जनी का नख चुभा दिया। शु चि तिलमिला उठी, भीतर से पानी जैसा कोई पदार्थ निकल आया था। छोकरे पर उसे बेहद गुस्सा आ रहा था। वह एक पल भी वहाँ टिक न सकी।

भोली शु चि अपने रसोई घर पहुँची जहाँ उसका नया खुदिस्तानी बावर्ची अपनी जाँघ तक कपड़े समेटे, *घुटने के बल बैठा, दोनों मुट्ठियों के ज़ोर से एक खास ढंग* में आँटा गूंध रहा था। एक साल पूर्व तक लगातार घोड़ी, बकरी या भेंड़ चराकर जिस वर्णशंकर तुर्क ने अपने जीवन के पैंतीस साल रेगानिस्तान में गुज़ार दिए थे, वह सेब की कोमलता को क्या समझे—शु चि भी इस बात को भला क्या जाने। किंतु इसके सामने भी शु चि ने अपनी उत्सुकता व्यक्त कर दी। और, वह जल्लाद तुर्क (तेरा बुरा हो)—उसे तनिक भी दया न आयी। शु चि तो आशा-पूर्त्ति की संभावना से पुलकित हुई जा रही थी। परंतु जब उस कसाई ने निर्दयता पूर्ण कार्य प्रारंभ किया तो एकबारगी वह सन्न रह गई। वह आँटे से लथपथ हाथों से सेबों को पकड़े, चुटकियों के बल से दबा दबा कर, रगड़ रगड़ कर उन्हें पकाने का उपक्रम करने लगा था। घोड़ी और गदही दुहनेवाली उँगलियों का दबाव भला वे क्या सह सकें। एक दबाव में चमड़ी लाल हो जाती, दूसरी *रगड़ में ही नीली हो जाती और फिर तो काला स्याह।* देखते-ही देखते सेब पल्ल पल्ल करने लगे।

शु चि सिसक सिसक कर रोने लगी थी। ज़ोर से रोने भी तो कैसे—बाप का डर लग रहा था। जब जल्लाद ने छोड़ा, तो दोनों हाथों से सेब थामें, सीधे अपने कमरे में भागी, अपने तन पर के वस्त्र की भी सुधि न रही। वहाँ बिछावन पर पड़ी पड़ी बड़ी देर तक रोती रही। आँखें खोलती तो झर झर अश्रु-पात होने लगता और फिर आँखें मुँद जातीं।

उधर, चिन शें, शु चि से अलग होकर जब अपने कमरे में पहुँचा तो उसे लगा जैसे उससे शु चि का अपमान हो गया हो। पढ़ना कुछ पहल ही बंद कर, टहलने का बहाना करता हुआ, शु चि के घर पहुँचा। कमरे में *पहुँचकर जो देखा, तो समझते देर न लगी।*

'शु चि यह क्या किया?'

'बावर्ची ने ' ', शु चि वाक्य भी पूरा न कर सकी।

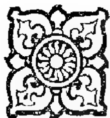
चिन शें के जी में आया कि वह बावर्ची का खून कर दे, पर, उसका मुकाबला करना मुश्किल था। अपनी असहाय अवस्था का ज्ञान होते ही उसका क्रोध अश्रु धारा में पिघल गया।

अपने घर लौट, किवाड़ बंद कर, तकिए में मुँह छुपाए सुबक सुबक कर रोता रहा। घर के लोग बाहर से ही पूछते रहे। लोगों ने देखा—थोड़ी देर में उसकी बाहों ने तकिए के साथ उसके सर को सदा के लिए जकड़ लिया था।

× × ×

आज भी शु चि के इस मूर्खतापूर्ण भोलेपन और चिन शें की भावुकता की कहानी चीन की युवतियाँ अपनी *कम उम्र की सहेलियों* को वय संधि काल में कह-कह कर सावधान करती रहती हैं।





भारतीय वाङ्मय

१. तेलुगु के आधुनिक महाकवि

तेलुगु साहित्य के आधुनिक महाकवि श्री देवुलपल्लि कृष्ण शास्त्री का मँझला कद, तेज से जगमगाता चेहरा, चश्में के अदर से चमकती आँखें, मलमल से ढँका हुआ सुपुष्ट शरीर तथा पान-राग रंजित भावपूर्ण ओष्ठ दर्शकों को अनायास अपनी ओर आकर्षित करनेवाला व्यक्तित्व है। शास्त्री जी एक महाकवि ही नहीं, एक प्रबल वक्ता भी है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। उनकी अलङ्कृत वाग्धारा, और विस्फोटक कल्पना शक्ति श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर देती हैं। उनका एक एक शब्द शक्ति का पुंज है। उनका दर्शनीय व्यक्तित्व एवं उनकी मोहक वाणी नव-युग की कविता की प्रतीक सी दीखती हैं। वे नव युग के कवि ही नहीं, बल्कि उत्साही प्रचारक भी हैं।

तेलुगु साहित्य में सन् १६२० से आधुनिक युग प्रारंभ होता है। क्या भाषा, क्या भाव, क्या छंद, क्या अलंकार, काव्य रचना के समस्त उपकरणों में उस से नवीनता ही दीखने लगी है। श्री गुरजाड अप्पाराव एवं श्री रायप्रोलु सुब्बाराव, इस नवीन धारा की कविता के जन्म दाता माने जाते हैं। इस कविता का भाव-सौंदर्य, अलंकार विधान, एवं सरलता ने कई भाव प्रवण युवक कवियों को अपनी ओर आकर्षित किया, जिससे नव कविता की सरिता उद्दाम गति से बहने लगी। रूढ़ि के पक्षपाती कवियों ने इसका खूब विरोध किया और नव कवि उपहास के पात्र बने। जनता भी इस कविता को समझने की क्षमता नहीं रखने के कारण, इस कविता के प्रति उदासीन सी रहने लगी। ऐसे समय श्री कृष्णशास्त्री ने, आंध्र देश भर में, इस कविता का प्रचार किया। पर्लाकिमिडि से लेकर मद्रास तक भ्रमण करते हुए उन्होंने इस नव कविता की विशेषता को समझने का ढंग, तथा प्राचीन कविता और नवीन-कविता का अंतर समझाया। शास्त्रीजी ने अपनी कविताओं के द्वारा तेलुगु साहित्य मंदिर को मात्र सजाया नहीं, वरन् नवीन-कविता के पठन-पाठन के लिए कई श्रद्धालु मन भी बनाए। उस समय के उनके भ्रमण, तेलुगु-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनके भाषण सुनने कई साहित्य-रसिक एकत्र होते थे। जिस प्रकार प्रभात की सुनहली किरणों के स्पर्श से सरसिज के पटल खुल जाते हैं, और सौरभ फैलने लगता है, वैसे ही कृष्ण शास्त्री जी के विश्लेषणात्मक भाषण से श्रोताओं में एक अदृश्य भाव-जगत अनावृत होने लगता है और कई काव्य रस लोलुप भ्रमर, इस नव काव्य वाटिका की ओर खिंच आते हैं।

शास्त्रीजी एक प्रतिभा संपन्न कवि है। करुणा उनकी कविताओं की आधार शिला है। इस कवि को विरह-जन्य वेदना प्रिय है और उस वेदना का हृदय स्पर्शी वर्णन करने में वे सिद्धहस्त है। इनकी कई मुक्तक रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है, जिनमें 'कृष्ण पक्ष' 'प्रवासी' 'ऊर्वशी'—कुछ ऐसे कविता संग्रह हैं, जो इनकी काव्यशक्ति तथा भाव-स्फूर्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कृष्णशास्त्रीजी स्वतंत्र विचार के व्यक्ति है। गतानुगतिकता से उन्हें चिढ है।

वे कहते हैं—

क्रौर्य कौटिल्य कल्पित दास्य
शृंखलमुलु, तमतने चेदरिपोव
गगन तलमु मार्मोगग गठ मेत्ति
जगमु निंड स्वेच्छा गान झरुल निंतु

अर्थात्—मैं स्वेच्छा से ऐसे काव्य निर्झरों से सारा संसार भर दूँगा, जिसके संगीत से सारा आकाश गूँज उठे, और जिसके कारण क्रूर, कुटिल, कल्पित दास्य शृंखलाएँ अपनेआप टूट जायँ।

उनकी काव्य सरिता कैसी है? इस संबंध में उनका कहना है—

तिमिर लता तारका कुसुममुल दालप
गर्कडा शिलयु नवजीव कलल देर
ओडुमोक चिवुरु लेत्ति मुरुवु सूप
जगमु निंड स्वेच्छा गान झरुल निंतु।

अर्थात्—मेरी कविता के प्रभाव से तिमिर-लता में तारिका-कुसुम खिलेंगे, कर्कशशिला में भी नवजीवन प्रस्फुटित होगा, ठूँठों में भी किसलय खिलने लगेंगे, ऐसी ही काव्य सरिताओं से मैं संसार को भर दूँगा।

कवि कृष्ण शास्त्री का दुःख कल्पित नहीं है, अनुभूत है। यही कारण है कि दुःख के वर्णन में वे अद्वितीय हैं। उनको दुःख प्रिय है। उन्हें खुद अपना जीवन निराला दीखता है, क्योंकि उनकी अनुभूति दूसरों की अनुभूति से भिन्न है। वे कहते हैं—

विलग दोचु नादु जीवितमु नाके
जिलुगु वेन्नेलतो जिम्म चीकटुल तो
अमल मोहन संगीत मदु हृदय
दलन दारुण रोदन ध्वनुल विंदु।

अर्थात्—मुझे खुद अपना जीवन विचित्र दीखता है। मैं रजत चंद्रिका में गाढ़ांधकार देखता हूँ, अमल मोहक संगीत में हृदय विदारक दारुण रोदन ध्वनियाँ सुनता हूँ।

दुःख के निरंतर सहवास से वह उन्हें भोग की वस्तु बन गया है। दुःख उनकी निरुपम संपत्ति है, उसी के कारण उनकी आत्मा शक्तिवान हो गई है। उसी दीर्घ दुःख ने उन्हें विशाल दृष्टि प्रदान की है, और वे व्यष्टि को भूलकर समष्टि की ओर अग्रसर होने लगे हैं। वह दुःख स्वार्थ एवं निराशा-जन्य नहीं है, आशा मुखी है। उस दुःख तिमिर के गर्भ में प्रभात की आशा ज्योति निहित है। वे अपनी वेदना को विश्व में भुलाना चाहते हैं। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से उनका प्रेम है। उसके अणु अणु में कवि अपनी प्रिया के स्पर्श का अनुभव करते हैं। वह उस प्रिया से हिल मिल कर एक होना चाहते हैं।

प्रकृति के प्रति उनका यह प्रेम क्यों है? उन्हीं के शब्दों में सुन लें।

सौरभमु लेल चिम्मु पुष्पव्रजमु?
चंद्रकल नेल वेदजल्लु चंदमाम?
एल सललबु पारु, गड्पेल विसरु?

अर्थात्—पुष्प क्यों सौरभ को बिखेरता है? चंद्र क्यों अपनी चाँदनी से समस्त संसार को आप्लावित करता है? पानी क्यों बहता है? प्रभंजन क्यों बहता है? मैं भी इसीलिए प्रेम करता हूँ, क्योंकि प्रेम किए बिना मैं नहीं रह सकता।

शुद्ध तथा सात्विक प्रेम के कारण कवि ब्रह्मानंद का अनुभव करता है। उसके बाद उन्हें, सांसारिक सुख भोग तुच्छ दीखते हैं। वे कहते हैं—

प्रविमल प्रेम साम्राज्य पट्ट भद्र
भाग्यमु गन्न जिरुत संपद लवेल?

अर्थात्—जब हमने प्रविमल प्रेम-साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया है, तब तुच्छ सांसारिक सुख संपत्ति की हमें क्या आवश्यकता है।

कृष्ण शास्त्रीजी की भाषा प्रसाद गुण पूर्ण, ललित तथा भावानुकूल है। किसी भी विषय को आकर्षक ढंग से कहना उनकी प्रतिभा की विशेषता है। उनकी शैली मधुर है। संस्कृत-समासों के भार से लदी, प्रबंध शैली में तथा व्यावहारिक लोक भाषा में—दोनों में काव्य-गान करने की असाधारण क्षमता उन्हें प्राप्त है।

आज ५६ वर्ष की आयु में भी इस कवि का उत्साह देखकर युवक चकित रह जाते हैं। तेलुगु काव्य श्री को समृद्ध करने के लिए ही भगवान इस महाकवि को चिरकाल तक स्वस्थ एवं प्रसन्न रखें, यही उससे हमारी प्रार्थना है।

—रामाचिराव एम० ए०

२. १९५२ का तमिल-साहित्य

लघु कथा

कलैमहल, कावेरी, और अमुद सुरभि ये तीनों प्रसिद्ध मासिक हैं। उन में हर मास एक एक में कम से कम पाँच छः उत्कृष्ट कहानियाँ छपती हैं।

'कलैमहल' ने कहानियों की एक नई टेकनिक निकाली। १९५२ में इसने एक वाक्य दिया—'किवाड़ पट से बंद हुआ।' इसी वाक्य से कहानी प्रारंभ करनी थी। इस साल परस्पर विरोधी दो शीर्षक देकर दो प्रसिद्ध कहानीकारों से दो-दो कहानियाँ लिखवाई गई। जैसे राशी देशिकन ने 'झड़नेवाला पत्ता' शीर्षक कहानी लिखी और त० ना कुमारस्वामी ने 'कोंपल' शीर्षक।

मायावी ने 'चपलता' शीर्षक पति-पत्नी के आचरण पर संदेह को आधार बनाकर एक कहानी माला तैयार की थी। पिछले साल ये लोकप्रिय लेखक, मायावी, लेदारी, अखिलन, प० श्रा० नागराजन, विन्ना आदि की कहानियाँ कलैमहल में छपीं। कलैमहल में प्रकाशित कहानियों में देशिकन की 'झड़नेवाला पत्ता'

कला योजना की दृष्टि से उत्कृष्ट कहानियों में थी। अखिलन की 'तीन बार' शीर्षक कहानी में इस समाज के कुत्सित स्वार्थ का शिकार एक गिरहकट से मिलते हैं, जो एक भिखारिन से प्रेम करता है। वह उसमें अपने जेल वास के कारण 'तीन ही बार' मिल सका है।

'कावेरी' ने यथापूर्व कई कहानियाँ छापीं, जिनमें जी० एस० मणि की कहानियों की अच्छी चर्चा रही। जी० एस० मणि पति-पत्नी के बीच के भावजगत में विचर कर विविध दृष्टिकोणों से कई ढंग से घटना-चक्र उपस्थित करने में सिद्धहस्त हैं। इनके अलावा कावेरी में के० नुदरोगाल, वि० शेषाद्रि (इस लेख के लेखक) और दो-एक नवोदित कहानीकारों ने भी अपनी कहानियाँ प्रकाशित कराईं। इस संबंध में यह स्पष्ट कह दूँ कि अगर कलैमहल पुरान-पंथी है तो कावेरी इस दिशा में उससे एक कदम आगे।

अमुद सुरभि, दिनमणि कदिर, स्वदेशमित्रन, पोन्नी, कुमुदम आदि पत्रों की अलग-अलग लेखक मंडली है। और यह सच है कि इन मंडलियों के लेखक निश्चय ही कलम के धनी हैं।

इस वर्ष कल्पित ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्रों को लेकर कुछ कहानियाँ लिखी गई हैं। जिनमें अहल्या तथा शिवाजी को लेकर लिखी गई कहानियाँ सुंदर उतरी थीं।

सियाचीं को भी पात्र बनाकर कुछ लेखकों ने कहानियाँ लिखीं। कुल मिलाकर इस साल लगभग ढाई हजार कहानियाँ छपी हैं। दिनमणि कदिर ने तो दावा किया है—'मैंने लगभग तीन सौ कहानियाँ इस वर्ष प्रकाशित हुई हैं।'

उपन्यास

कहानियों के बाद उपन्यास ही तमिल नाड में लोकप्रिय हैं। हर पत्र में धारावाहिक रूप से कोई-न-कोई उपन्यास छपता है। कलैमहल हरवर्ष पुरस्कार देकर एक उपन्यास चुन लेता है। इस साल 'पेण कुरल' (नारी-स्वर) नामक धारावाहिक उपन्यास उसमें छपा है। उसके साथ मायावी ने 'अलिन ओली' (प्रेम की झंकार) नामक उपन्यास भी छापा है।

दिनमणि कदिर 'विवाह रद्द' नामक तुमिलन का उपन्यास छाप रहा है।

कावेरी में वि० शेषाद्रि का 'नीरोट्टम' (धाराप्रवाह) छपा है। उसमें कुछ समस्याओं का समाधान देने का प्रयास किया गया है। पूज्य विनोबा जी के भूदानयज्ञ के आधार पर ग्रामों में समानता तथा जमीन पर सम्मिलित अधिकार के प्रचार का उद्देश्य उसका मुख्य विषय है। सामाजिक क्षेत्र में जातिगत विद्वेष तथा उत्तर-दक्षिण के विरोध के भी विरुद्ध में आवाज उठाई गई है।

आनंदविकटन में अडुत्तवीडु (पड़ोसी घर) नामक उपन्यास लक्ष्मी का लिखा हुआ छपा है। पत्रों में प्रकाशित उपन्यासों के अलावा अखिलन, मु० वरदराजनार आदि के उपन्यास भी छपे हैं।

कुछ हिंदी, बंगला और अँग्रेजी की कहानियाँ तथा उपन्यास अनूदित भी हुए हैं। बंगला से चंदना, गुजराती से मनोरमा आदि उपन्यास तथा कहानियों में शरत्-रूपती की कहानियाँ अनूदित होकर छपी हैं।

एकांकी

दिल्ली के पूर्णंतिरुनायन हास्य रस के एकांकी लिखने में सिद्धहस्त हैं। कलैमहल में उनके कई एकांकी छपे हैं।

गोमती स्वामीनाथन ने यथापूर्व कई एकांकी कुमुदम में छपवाए हैं।

साहित्य के अन्य अंगों की पूर्ति का जैसा प्रयत्न किया जा रहा है, वैसा इस दिशा में कुछ नहीं हो रहा है। फिर भी तमिल नाड में हास्य-रस के एकांकियों को प्रधानता दी जाती है। आनंदविकटन और दिनमणि कदिर हास्य रस के एकांकी-लेखकों में अच्छा स्थान रखते हैं।

राजाजी ने आनंदविकटन के दीपावली-अंक में हास्य के बारे में लिखते हुए लिखा था कि—कुशाग्र बुद्धि, लोकानुभव, तथा गंभीर विचार रखनेवाले व्यक्ति ही सुंदर तथा कल्याणकारी हास्य तैयार कर सकते हैं। कुछ लोग इसे 'बचपन' की निशानी समझकर उसकी खिल्ली उड़ा सकते हैं। लेकिन मनुष्यता पर विश्वास रखनेवाले, मानव को सर्वोपरि माननेवाले समझ सकते हैं कि हास्य का जीवन में क्या स्थान है। दुश्मन को भी एक बार हँसा दीजिए तो वह दुश्मनी भूल जाए। इसी हास्य-रसास्वादन के कारण आज भी तमिल नाड ऐसे रोने पैदा नहीं करता, जो रह रहकर उत्तर भारत में दिखाई देते हैं और बहुत चीजों का राख बनाकर ही शांत होते हैं। मैंने देखा है कि व्यक्तिगत जीवन में जो खूब हँसते

हैं, हंसाते हैं, वे भी कलम पकड़ते ही गंभीर बन जाते हैं और कलम की नोक से आग बहाने लग जाते हैं।'

'वेदव बनारसी' की शैली में नाडोडी ने कई लेख लिखे हैं। उनकी कलकत्ता-यात्रा पर निकली रचना-माला, मेहमानों को कैसे भगाओ, कमाई के अंदर खर्च कैसे समावे आदि फुटकल रचनाएँ सुंदर रही हैं।

निबंध

साहित्यिक निबंध यहाँ कम छपते हैं। पाठ्य पुस्तक में स्वीकृत कराने की इच्छा से कुछ अध्यापकों ने साहित्यिक निबंधों के संग्रह छपवाए हैं। तो भी, हर पत्र में परिचया त्मक रीति से पुराने काव्यों की टिप्पणी लिखी रहती है। कलैमहल ने तिरुवल्लुवर के तिरुक्कुरल पर नामक्कल रामलिंगम पिल्लै के लिखे कुछ फुटकल निबंध निकाले हैं। स्वदेशमित्रन साप्ताहिक में वल्मीकिनाथन ने शिलप्पधिकारम पर, आनंदविकटन में पी० श्री आचार्य ने कम्ब-रामायण पर 'अमुद सुरभी' में परमशिवानंदन ने जीवक-चिंतामणि पर निबंध-माला छपवाई।

आलोचनात्मक लेख भी यहाँ कम छपते हैं। किंतु, पत्रों में पुस्तक परिचय देते वक्त आलोचना का पुट आ ही जाता है।

'कलैक्कदिर' नामक मासिक अपनी नीति के अनुसार विज्ञान-संबंधी लेख निकाल रहा है। कलैमहल, कावेरी में डॉ० एन० आर० श्रीनिवासन, ना० कि० नागराजन, डा० रामगोपाल प्रभृत महाशयों के दवा संबंधी लेख छपे हैं।

कलैमहल में मा० कृष्णन ने जंगली सूअर, भेड़िया, सियार आदि जानवरों के गुण विशेष पर प्रकाश डलते हुए कई लेख लिखे हैं।

राजनीति के संबंध में दिनमणि कदिर, आनंदविकटन, कल्की तथा अन्य पत्र भी संपादकीय टिप्पणी लिखते रहते हैं। कल्की का झुकाव समाजवाद की ओर है अतः उनके संपादकीय में अन्य पत्रों से ज्यादा तीव्रता रहती है। उसी संपादकीय नीति के कारण कल्की की बिक्री साठ हजार तक पहुँच गई है।

आनंदविकटन के संपादक जावा, मलाया आदि सुदूर पूर्व का भ्रमण कर आए हैं। इस यात्रा-संबंधी उनके लेख वर्ष के मध्य से ही निकलने लगे हैं, जो शैली तथा सामग्री की उपादेयता के कारण बहुत ही लोकप्रिय हैं।

शेन्तमिष में वि० शेषाद्रि की लेखमाला, 'कंबन-तुलसी' के भावसाम्य के स्थलों को दिखाते हुए, खोज के साथ छप रही है।

कविता

कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में बहुत कम छपती हैं। कलैमहल में पिछले साल सिर्फ पाँच-छः कविताएँ छपी हैं। उसमें ज्योति की 'वाल्मीकि' पर कविता कंबन की शैली के अनुकरण पर सुंदर उतरी है।

आनंदविकटन में 'कोलमगलम सुब्बू' की कविताएँ छपी हैं। उनकी जैसी प्रकृति है ठीक उसी प्रकार लोक-भाषा में हास्य रस का पुट देकर उन्होंने कुछ चीजें दी हैं।

नामक्कल रामलिंगम पिल्लै का, जो तमिलनाड के एक श्रेष्ठ कवि समझे जाते हैं, एक संग्रह दिसंबर में निकला है। जिसमें गांधीवाद के आधार पर तमिलों की प्रशंसा, तमिल भाषा की प्रशंसा, भूदान यज्ञ की प्रशंसा के गीत गाए गए हैं। वे राष्ट्र की एकता पर विश्वास करने-वाले धर्मभीरु व्यक्ति हैं। ईश्वर पर भक्ति रखनेवाले साधु पुरुष हैं। अतः उनकी कविताओं में भी ये विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

'तमिष च्चि कत्ति' (तमिल स्त्री का कटार) 'भारती दासन' की नवीन कृति है। इसमें तेज सिंह के शासनकाल में उसके सूबेदार का किसी तमिल स्त्री पर किया हुआ अत्याचार वर्णित है। तमिल स्त्री ने उसे सीने में कटार भोंककर मार दिया था। अपने सूबेदार की मृत्यु से कुपित होकर तेजसिंह उस स्त्री को कठिन सजा दिलवा देता है।

पता नहीं यह कल्पित कहानी है या इतिहास सत्य है।

भक्ति-साहित्य

इस साल मानों तमिलनाड की सुप्त भक्तिभावना एकाएक जागकर कोने-कोने में प्रकाश फैलाने लगी है। सभी मठाधीश जाग पड़े हैं। घूम घूमकर एकता, प्रेम, सद्भाव और भक्ति की भावना पर सदुपदेश देने के साथ-साथ उन्होंने भक्ति-साहित्य के भी प्रकाशन आरंभ किए हैं। उनमें परिव्राजकाचार्य श्री काञ्ची कामकोटि पीठ के अधिपति श्रीमन् शंकराचार्य तथा श्री०ल० श्री तिरुप्पनदाल कुन्रक्कुडी आदि मठ के अधिपतियों के काम प्रशंसनीय हैं। उनके कारण ब्राह्मण-अब्राह्मण का द्वेष कम होने लगा है।

बाल साहित्य

इस साल पत्रों के अलावा कई बालोपयोगी छोटी छोटी कहानियां, उपन्यास आदि भी प्रकाशित हुए हैं। ख़ास पत्र भी बच्चों के लिए चलते हैं और प्रमुख पत्रों में भी बालकों के लिए कुछ विशेष स्तम्भ सुरक्षित रहते हैं।

यथाशक्ति मैंने तमिल साहित्य की आधुनिक रूप रेखा प्रस्तुत की है।

किंतु तमिल साहित्य अभी अच्छी तरह सँवर नहीं सका है, इसे अच्छी तरह सँवारने की आवश्यकता है।

आशा है १९५८ में कलाकार निश्चिन्त होकर सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक समस्याओं का समाधान देने की ओर अग्रसर होंगे, सके कुछ आसार अभी इन तीन-चार महीनों म भी मिलने लगे हैं।

—ति० शेषाद्रि, एम० ए०

३. गुजरात की एक महत्त्वपूर्ण संस्था

विद्याप्रेमी बड़ौदा नरेश स्व० सयाजी राव की स्थापित गुजराती ग्रंथों की प्रकाशन-संस्था का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उसका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

श्रीमंत सयाजीराव ने सन् १८९५ म दो लाख रुपये के अपने निजी खाते से इस ग्रंथमाला की स्थापना की थी। इसके द्वारा अब तक पांच सौ से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें कुछ मराठी भाषा में हैं, पर अधिकांश गुजराती के ही हैं। ग्रंथमाला के लिए दो लाख का फंड स्थापित करते समय सयाजीराव ने कहा था—

'अपने लोगों को विश्व के श्रेष्ठ विचारकों के विचार का परिचय मिले और गरीब स्त्री, पुरुष, बाजार में बैठे सभी जन साधारण को साहित्य समृद्धि का ज्ञान हो इसके लिए गुजराती और अन्य भाषा में ऐसी पुस्तकें तैयार करवाने के लिए दो लाख की रकम अपने निजी खाते से मैं अलग निकालता हूँ। जिसका ब्याज इस कार्य को चलाने के काम म आएगा।'

सयाजीराव के इच्छानुसार प्राच्य विद्या मंदिर की भाषांतर शाखा द्वारा ग्रंथ तैयार करवाकर कई प्रकाशनों से प्रकाशित करवाए गए। ग्रंथमाला ४ नामों से प्रसिद्ध हुई—

(१) श्रीसयाजी साहित्यमाला (२) श्रीसयाजी बाल ज्ञानमाला (३) श्रीसयाजी विकासमाला और (४) मातुश्री जमनाबाई, स्मारक ग्रंथमाला। इनमें से प्रथम से २, दूसरी से ३१३, तीसरी से १८५ और चौथी से १८ मराठी ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

इनमें साहित्यमाला के आधे से अधिक ग्रंथ अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद हैं, कई मराठी के भी हैं। मीराबाई नामक ग्रंथ का गुजराती से हिंदी में अनुवाद प्रकाशित किया गया है। दीर्घ निकाय नामक पाली ग्रंथ का मराठी अनुवाद भी छपा है। हिंदी में अनुवादित ६ ग्रंथ हैं। मौलिक गुजराती ग्रंथ १३० के करीब हैं। इनमें से कई ग्रंथ ऐसे भी हैं जिन विषयों के अभी तक हिंदी में कोई ग्रंथ ही नहीं लिखे गए, अत हिंदी साहित्य सम्मेलन एव नागरी प्रचारिणी सभादि को जो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रतीत हों उनको हिंदी में भी प्रकाशित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरी सयाजी बालज्ञानमाला के अन्तर्गत छोटे छोटे ।) से ॥) मूल्य वाले अच्छे अच्छे ग्रंथ निकले हैं। अधिकांश ग्रंथ गुजराती भाषा की मौलिक रचना हैं। कुछ मराठी एवं हिंदी के भी हैं।

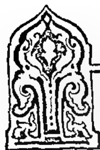
तीसरी विकासमाला के ग्रंथ भी छोटे छोटे हैं =) से ॥-) तक के।

इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की योजना दोनों संस्थाओं से भिन्न प्रकार की है, क्योंकि इसके प्रकाशक भिन्न भिन्न कई संस्था एव व्यक्ति हैं, जिनमें एन० सी० कोठारी और लुहाणा प्रिंटिंग प्रेस मुख्य हैं।

इन ग्रंथ मालाओं से प्रकाशित पुस्तक विविध विषयों की हैं। प्रथम दोनों मालाओं में इतिहास, जीवन-चरित्र, विज्ञान, धर्मनीति आदि विषयों के बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अधिकारी विद्वानों के लिखित हैं। तीसरी में उद्योग आदि ग्राम-विकास संबंधी एवं चौथी में स्त्री जीवनादि संबंधी ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

थोड़े में कहा जाय तो यह एक ऐसी आदर्श साहित्यिक संस्था है जिससे हिंदी-जगत प्रेरणा लेकर हिंदी साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति में प्रयत्नशील होगा।

—अगरचंद नाहटा



विचार-संचय

१. साहित्य की चेतना—समष्टिगत या व्यष्टिगत

साहित्य की मूल चेतना को लेकर साहित्यिकों, चिंतकों एवं दार्शनिकों ने बहुत कुछ कहा सुना फिर भी साहित्य की चेतना के दोनों पक्षों के पक्ष और विपक्ष में बहुत सी बातें कहने को रह जाती हैं। इस प्रश्न का विवेचन करने के पूर्व साहित्य की मूल चेतना या प्रेरणा के संबंध में पाश्चात्य एवं प्राच्य विद्वानों द्वारा जो कुछ भी कहा गया है, उसका आकलन समीचीन ही होगा।

सबसे पुराना प्रचलित मत है—आत्मानुभूतिवाला मत। इस मत के पोषकों का कहना है कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है। साहित्य का प्रयोजन ही आत्मानुभूति है। साहित्य जगत में यह मत सर्वमान्य रहा है। यह मत अद्वैतवाद के दर्शन पर अवलंबित है, क्योंकि अनुभूति आत्मा को ही होती है। उन दोनों में तादात्म्य है। इस मत की बहुत सी टीकाएँ एवं व्याख्याएँ हुई हैं। यह मत इतना प्रचलित रहा है कि अब तक भी साहित्य चिंतकों के लिए मेरुदण्ड का कार्य करता रहा है। गो० तुलसीदासने 'स्वांत सुखाय तुलसी रघु में तो व दर्शन की गुत्थी सुलझाने का प्रयास करते हैं, बाद में आत्मानुभूति को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं और आत्माभिव्यक्ति को केवल अभिव्यक्ति तक लाकर सीमित कर देते हैं। ये तुलसी के 'स्वांत सुखाय' को इसी आत्माभिव्यक्ति का पर्याय मानते हैं। आत्माभिव्यक्ति में आचार्य वाजपेयी जी अनुभूति की प्रधानता मानते हैं। अंत में इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अनुभूति ही साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा है। वे कहते हैं—'क्या स्रष्टा की अनुभूति से रहित काव्य सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है?' मेरी समझ में वाजपेयीजी अपने मन में बहुत अधिक सुलझे हुए हैं।

वाजपेयी जी के समसामयिक अन्य चिंतकों की राय भी उनसे मिलती-जुलती तो है, परंतु वे अपने विचार में सुलझे हुए नहीं लगते हैं। बाबू गुलाबराय जी और डॉ० नगेंद्र एक जैसी बात करते हैं। गुलाबरायजी कहते हैं—'साहित्य भी हमारी रक्षा के भाव से प्रेरित होकर आत्मानुभूति का साधन बनता है।' नगेंद्र भी आत्माभिव्यक्ति के पोषक हैं। वे साहित्य की सृष्टि के मूल में 'अहं' का विस्फोट मानते हैं। [illegible] है—

डॉ० नगेंद्र जिसको निश्छलता मानते हैं और जिसके कारण आत्माभिव्यक्ति संभव है, वही आत्मसाक्षात्कार का कारण बनती है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ही चिंतक एक ही बात कहते हैं। दूसरे शब्दों में ये दोनों ही चिंतक कवि या लेखक को ब्रह्म का पर्याय मानते हैं, क्योंकि ब्रह्म या कवि मूल रूप में स्रष्टा ही तो हैं। ब्रह्म सृष्टि की रचना में तभी प्रवृत्त होता है जब वह अपना फैलाव चाहता है, अपने अस्तित्व को सृष्टि में देखना चाहता है। कवि या लेखक भी, डॉ० नगेंद्र या बाबू गुलाबरायजी के मत में तभी अपनी रचनाओं में प्रवृत्त होते हैं, जब वे निश्छल होकर अपना ही साक्षात्कार अपनी रचनाओं में करना चाहते हैं। ब्रह्म की तरह वे भी अपनी आत्मा का विस्तार चाहते हैं। 'एकोऽहं बहुस्यामि' ब्रह्म और कवि दोनों का ही लक्ष्य है। जैनेंद्र भी 'अहं' के पोषक हैं। इनका कहना है कि साहित्यकार अहं के कारण परेशान रहता है। उनके अनुसार 'साहित्य अहं का विसर्जन है।' साहित्यकार अपने 'अहं' का विसर्जन कर पाठकों को सौंप देता है।

यह 'अहं' शब्द बड़ा भयानक है। मैं अन्यत्र कहीं कह चुका हूँ कि इस शब्द का भयंकर दुष्प्रयोग कवियों या लेखकों के द्वारा हुआ है। अगर ऐसी स्थिति नहीं रहती तो डॉ० नगेंद्र को यह चेतावनी देने की नौबत ही नहीं आती कि 'आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण नहीं होता।' प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कवियों के द्वारा अहंकार का पोषण हुआ है। दर्शन की शब्दावलियों को प्रयोग में लाकर, उच्च आदर्शवादी व्याख्या कर देना ही सब कुछ नहीं है। वस्तु-स्थिति की ओर से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं। हिंदी का छायावाद युग तथा अंग्रेजी-साहित्य का रोमांटिक युग अहंमन्यता के सबसे बड़े पोषक रहे हैं। कवियों का अहंकार उनकी रचनाओं या वैयक्तिक जीवन में देखा जा सकता है। खासकर 'स्वांतः सुखाय' तथा 'आत्माभिव्यक्ति' इन दोनों शब्दों को कवि या लेखक गंदी गलियों में घसीट कर ले गए हैं। आत्माभिव्यक्ति को तो इन लोगों ने अपने सुख-दुःख की अभिव्यक्ति या प्रेमाभिव्यक्ति ही मान लिया है। रही निश्छलता की बात! उस पर भी गौर करना पड़ेगा। जिस निश्छलता की वकालत डॉ० नगेंद्र कवियों और लेखकों की ओर से करते हैं, क्या वह आत्मप्रवंचना मात्र नहीं है? कौन नहीं जानता कि कीट्स या शेली का प्रेम सोलहो आने लौकिक था? परंतु अपने प्रेम की जिस उच्चता का वर्णन इन कवियों द्वारा हुआ है वह अस्वाभाविक प्रेम का प्रतिरूप ही लगता है। 'प्रसाद' का 'आँसू' निश्चय ही वियोग काव्य है। अब इसमें दो मत की गुंजाइश नहीं रह गई है। फिर भी 'प्रसाद' कहते हैं—

'... पर शेष चिह्न हैं केवल, मेरे उस महामिलन के।'

इस महामिलन शब्द ने आलोचकों के मन में कितने भ्रम उत्पन्न किए, यह बतलाने की जरूरत नहीं है। मैं डॉ० नगेंद्र से जिज्ञासु बनकर पूछना चाहूँगा कि यह आत्म-प्रवंचना है या उन्हीं के शब्दों में 'आत्मसाक्षात्कार'। यह आत्मसाक्षात्कार बड़ी उच्चतम भावना है। परंतु इसमें खतरे भी कम नहीं हैं। सूर ने माधुर्यभाव की भक्ति को जिस उच्चतम स्तर पर बिठाया, उस स्तर का निर्वाह सूर के परवर्ती कवि नहीं कर सके। इस माधुर्यभाव को जिस गंदी गली में घसीट कर बाद के कवि ले गए, क्या वही खतरा 'आत्माभिव्यक्ति' के साथ लगा हुआ नहीं है? क्या आत्माभिव्यक्ति में कवियों या लेखकों की रचना उनके जीवन की कहानी-मात्र नहीं रह गई है। इस प्रश्न पर तो बाद में विचार किया जायगा कि आत्माभिव्यक्ति साहित्य की मूल प्रेरणा है या नहीं, परन्तु इसके जो खतरे हैं उसकी ओर से भी तो आँखें नहीं मूँदी जा सकती हैं। आत्माभिव्यक्ति के द्वारा जिस निश्छलता या आत्मसाक्षात्कार की बात की जाती है, वह स्वयं भ्रमोत्पादक है। अपनी गलतियों पर पर्दा डालने की प्रवृत्ति मानव में चिर-काल से रही है। यह निश्छलता की बात वैसी ही है जैसे कैथोलिक चर्चों में 'सेल्फ कन्फेशन' की बात। और आत्मसाक्षात्कार की बात कह कर कवि या लेखक को ब्रह्म की कोटि में बिठाना कुछ ऐसी टेढ़ी बात हो जाती है जिसको दर्शन के गहनवेत्ता के सिवा साधारण पाठक समझ नहीं सकते। इस कोटि के चिंतकों द्वारा कही गई बातों से यही आभास होने लगता है कि लेखक या कवि पहले आत्मा की बात करते हैं तब 'पर' की बातें करते हैं। तुलसी ने भी पहले अपनी ही मुक्ति चाही थी। बाद में उनकी रचनाओं को पढ़कर औरों को मुक्ति मिली, यह तो उसका परिणाम हुआ। इस तरह तो लेखकों की भावना आत्मकेंद्रित ही होती चली जायगी।

सुधांशुजी इससे मिलता-जुलता पर समन्वात्मक दृष्टिकोण रखते हैं। 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' नामक पुस्तक में कहते हैं—'काव्य में कलाकार अपने आत्म-भाव को स्रष्टा के अनुरूप ही रखता है।' इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि जिस प्रकार सृष्टि में ब्रह्म की सत्ता व्याप्त रहती है, उसी प्रकार रचनाओं में कवि या लेखक के आत्म-भाव व्याप्त होते हैं; परंतु वह स्पष्ट कहीं भी लक्षित नहीं होता है।' यह 'आत्म भाव' क्या है ? इसकी व्याख्या वे ठीक-ठीक नहीं कर सके हैं। 'समीक्षा की समीक्षा' में प्रभाकर माचवे कहते हैं—'इस शीर्षक के अध्याय में 'आत्म भाव' से एक ओर सुधांशुजी कवि के अंतर्जगत् की चर्चा करते जान पड़ते हैं, दूसरी ओर सामाजिक 'स्व' को भी वे नहीं भुला सके हैं।' प्रभाकर माचवे के कथन की पुष्टि सुधांशुजी के इस उद्धरण से हो जायगी, जब वे आत्म-भाव का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—'मनुष्य का जो आत्म भाव है वह जीवन की परंपरा से सर्वथा भिन्न नहीं हुआ करता और इसीलिए काव्य में जो आत्म-भाव प्रतिष्ठित किया जाता है, वह परंपरा को लेकर ही चलता है।'

आज का चिंतक जब साहित्य की उपादेयता की बात करने लगता है, तब वह 'आत्म भाव' या आत्माभिव्यक्ति की बातें चाहे जितनी करे, पर सामाजिकता को वह नहीं भुला पाता। साहित्य की सामाजिक उपादेयता, युग का ऐसा जादू है जो सिर पर चढ़ कर बोलने ही लगता है। डॉ० नगेंद्र या बाबू गुलाबराय जी भी आत्मानुभूति या आत्मसाक्षात्कार की बात करते हुए व्यक्ति की सामाजिक-भावना में विलयन की बात करने ही लगते हैं। वे जानते हैं कि युग का यह तकाजा है। इसको अनसुनी नहीं किया जा सकता है। सुधांशुजी काव्य की प्रेरणाशक्ति भी वासना और आत्म-सुख को ही मानते हैं। यह 'आत्म सुख' शब्द भी इसी प्रकार भ्रमोत्पादक है, अस्पष्टार्थवाची है। सुधांशुजी और नगेंद्रजी इस प्रकार अन्तश्चेतनावादी साहित्य मीमांसक बन जाते हैं। साहित्य की मूलप्रेरणा को लेकर फ्रायड और एडलर जो कहते हैं, उस पर दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त ही होगा। फ्रायड के मत में कविता या कोई भी कला 'दमित वासनाओं की मानसिक तृप्ति का प्रयास मात्र है।' इस मत की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि व्यक्ति की जब आकांक्षाएँ अतृप्त रह जाती हैं, तब वे तुरत समाप्त नहीं हो जातीं, वरन् अचेतन या उपचेतन में जाकर संचित रहती हैं और समर्थ व्यक्तियों (कलाकारों) द्वारा व्यवस्थित अभिव्यक्ति कविता या कला का रूप धारण करती है। यह तो हुई वासना की बात। आत्मसुख की व्याख्या करते हुए एडलर महोदय कहते हैं—'कविता अन्य कलाओं की भाँति अपूर्ण मानव की पूर्णता का प्रयास है।' एडलर के मत को स्पष्ट करते हुए प्रभाकर माचवे कहते हैं —'साहित्य में आनंद और सौंदर्य की प्रतिष्ठा इसलिए है कि जीवन में ईप्सित सुख या सौंदर्य हमें नहीं मिल सकता।' इस कथन को और भी स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि कवि या लेखक केवल आत्म-सुख के लिए ही कविता या कोई रचना करता है। फ्रायड और एडलर परस्पर एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं। फ्रायड कविता या कला को नितांत वैयक्तिक मानता है, क्योंकि कवियों और लेखकों की दमित वासनाएँ ही तो कलात्मक अभिव्यक्ति पाती हैं। एडलर इन कला-कृतियों और रचनाओं में कलाकारों और लेखकों की पूर्णता का आभास पाता है। अगर सुधांशुजी वासना और आत्म-सुख के द्वारा यही कहना चाहते हैं तो स्थिति सुलझी हुई नहीं है। डॉ० नगेंद्र फ्रायड के मत का समर्थन करते हुए महादेवी की रचना 'दीपशिखा' के बारे में कहते हैं—'महादेवी जी के जीवन में संतों की आत्मसाधना देखना तो उपहास्य होगा, परंतु अपनी वासना का परिष्कार करने के लिए उन्होंने साधना की है और अब भी कर रही हैं; इसको अस्वीकार करना अनुचित होगा।' सुधांशु जी काव्य के मूल में 'वासना का परिशोधित रूप प्रेम मानते हैं।' ऊपर मैं कहीं कह चुका हूँ कि आज के युग का जादू इन विचारकों के सिर पर चढ़कर बोलने लगा है। यह मानने में शायद किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि आज केवल स्वात सुख, आत्मसुख आदि को लेकर कवि या कलाकार अपनी रचनाएँ नहीं कर सकता। इस वासना और आत्मसुख में वैयक्तिकता कूट-कूट कर भरी हुई है समय के परिवर्त्तन के साथ-ही साथ युग की चेतनाओं में भी परिवर्त्तन आने लगा है। हमारा वर्त्तमान हिंदी-साहित्य जिस गति से आगे बढ़ रहा है, वह उत्साहवर्द्धक कम से कम नहीं है। इसकी जड़ में विचारों की यही उलझन

वर्त्तमान है। अभी तक जिन विचारकों के विचारों की समीक्षा ऊपर की जा चुकी है, वे अपने दृष्टिकोण में नितांत व्यक्तिवादी हैं। लेकिन अपनी व्यक्तिवादिता को ये वाग्जाल में छिपा देने का प्रयत्न करते हैं। डॉ० नगेंद्र या बाबू गुलाबराय भी जब आत्मसाक्षात्कार की बात करते हैं तब वह आत्मसाक्षात्कार सामाजिकता का प्रतिरूप बन जाता है। निश्चय ही सामाजिकता की बात करके ये अपनी कमजोरी छिपाने का प्रयत्न करते हैं। मैं कह चुका हूँ कि सुधांशुजी समन्वयात्मक दृष्टिकोण को लेकर आए हैं। इसलिए अपनी पुस्तक 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत' में पृ० कहते हैं— 'स्वांत सुखाय और जनहिताय दोनों तत्त्व एक ही हैं। प्रत्यक्ष में नहीं तो कल्पना में भी यदि लोक-समुदाय का ग्राहक रूप उपस्थित न रहे, तो कवि को तदनुरूप काव्य-रचना की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मनोभाव का यह तथ्य केवल दार्शनिक ही नहीं, ऐतिहासिक भी है।' सुधांशुजी के इस कथन में बड़े ही शुभ लक्षण दीखते हैं। आज एक स्वर से कवि या लेखक का समुदाय इस एकांगिता के दृष्टिकोण को छोड़ रहा है और वे समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाता जा रहा है। इस सामाजिकता के युग में वैयक्तिकता का आग्रह कोरा दुराग्रह ही होगा। अगर जीवन में सतुलन की अपेक्षा है तो साहित्य में भी है। साहित्य भी सतुलन खोजता है।

किसी भी युग का कोई लेखक या कलाकार क्यों न हो, वह तबतक महान नहीं हो सकता जबतक कि उसकी चेतना सजग नहीं हो उठती है। तुलसी महान इसलिए नहीं हैं कि उन्होंने राम के चरित्र का गुणगान किया, वरन् इसलिए कि उनकी सामाजिक चेतना सबसे अधिक जागरूक थी। भारतेंदुजी या उनके मंडल के कवि भी इसलिए सदैव आदर के पात्र रहेंगे कि वे जनता के प्रति सब युग के कवियों से अधिक वफादार थे। भारतेंदु को लेकर और भी छानबीन की जा सकती है। भारतेंदु जी ने सब तरह की कविताएँ लिखीं, परन्तु उनकी समस्त रचनाओं में वे ही प्रकाशस्तम्भ रहेंगी जिनमें राष्ट्रीय भावना कूट-कूटकर भर दी गई है तथा जिन गीतों को भारतेंदु ने जन-सामान्य के लिए प्रचलित छंदों में लिखा है। भारतेंदु मानवतावादी कलाकार थे। इसलिए वे मानवता के इतिहास तक जिंदा रहेंगे। प्रेमचंद भी ऐसे ही मानवतावादी कलाकार थे। जीवन में संघर्षों से जूझते-जूझते उनमें दृढ़ता आ गई थी और वे मानवता को प्यार करने लगे थे। भविष्य में जिनका युग आनेवाला है वह युग प्रेमचन्द के ही अनुसार होगा, इसलिए वे सर्वप्रिय रहेंगे।

मैक्सिमगोर्की और टॉल्सटाय की महानता उनकी सामाजिक चेतना में ही निहित है। आज किसी लेखक या कलाकार की महानता को परखने के लिए यह देखना नहीं होगा कि उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी है या बहिर्मुखी है। देखना यह होगा कि उसकी बहिर्मुखी वृत्ति किस हदतक सामाजिक चेतना को आत्मसात् कर सकी है। वर्तमान युग का महान अंगरेजी कवि टॉमस स्टर्न इलियट भी परंपरावादी है। अतिशय बुद्धिवादी होते हुए भी वह सामाजिक चेतना का कायल है। वह कवि या लेखक को सामाजिक प्राणी मानता है और कवि की भावनाओं का विकास सामाजिक चेतना में ही मानता है। प्रत्येक युग की चेतना अपनी अलग ही होती है। १६ वीं या २० वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ ऐसे साहित्य के समीक्षक आए, जिन्होंने वैयक्तिकता को खूब उभारा। फ्रायड, एडलर, आस्करवाइल्ड, फ्लाबेयर, क्रोचे तथा हिन्दी में उनका अनुकरण करनेवाले डॉ० नगेंद्र, बाबू गुलाबराय, जैनेंद्र आदि ऐसे ही सुधी समीक्षक हैं। फल हुआ कि साहित्य में वैयक्तिकता का खूब बोलबाला रहा। अन्तर्मुखी वृत्ति खूब पनपी। सामाजिकता के प्रति जागरूक रहते हुए भी वैयक्तिक चेतना ही इन समीक्षकों पर हावी होती चली गई। डा० नगेंद्र हों या बाबू गुलाबराय दोनों ही सामाजिकता के प्रति सजग हैं, परन्तु साहित्य की सामाजिक चेतना के ये कायल नहीं हैं। डॉ० नगेंद्र तो यहाँ तक कह देते हैं कि डॉ० इकबाल, गोर्की और मिल्टन की महानता का कारण काव्य में उनकी वैयक्तिक अभिव्यक्ति ही है। उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया को ही साहित्य में व्यक्त किया है। लेकिन साहित्य की महानता कवियों और लेखकों से कुछ और ही अपेक्षा रखती है। श्री सुधांशुजी ने इसीलिए स्वांत० सुखाय के साथ जनहिताय की भी सत्ता स्वीकार की है। कवि के स्वांतः सुख को कौन अस्वीकार करता है; परन्तु आत्मसुख से ऊपर उठकर कवियों को परसुख का भी तो ध्यान देना है। आज के युग में ही नहीं, सभी युग में जनहिताय की भावना प्रबल रही है। साहित्य की चेतना के प्रश्न पर प्राचीन मनीषियों

के विचारों से हमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। काव्य या साहित्य लिखने की प्रेरणा उसे होती ही क्यों है? काव्य रचना की प्रेरणा दुःख से होती है। इस संबंध में आदि कवि वाल्मीकि की बात हम नहीं भूल सकते हैं। क्रौंच के जोड़े को चीत्कार करते देख कवि के हृदय से ये पंक्तियाँ—

मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेक मवधोः काम मोहितम् ॥

निःसृत हुई थीं। ये पंक्तियाँ दुःख की अत्यंत तीव्र अनुभूति की प्रतिक्रिया थीं। आदि कवि वाल्मीकि के संबंध में जो कहानी कही जाती है वह मात्र दंतकथा नहीं है। इस कथा के पीछे गूढ़ अर्थ और भाव छिपे हुए हैं। वाल्मीकि का दुःख उनका निजी दुःख नहीं था। सृष्टि के प्राणियों को दुःख में देखकर करुणा विगलित हृदय से जो काव्य की धारा फूट पड़ी उसने ही छंद और लय का रूप ग्रहण किया। डा० भगवानदास ने अपने निबंध 'साहित्य के प्रयोजन' में इसकी विस्तृत चर्चा की है। सृष्टि के दुःख को अपना दुःख मानना अपने से ऊपर उठकर विस्तृत विश्व को अपना लेना है। दुःख में तपकर मनुष्य का हृदय कंचन बन जाता है। वह अपने और पराए के भेद भाव को भुला देता है। जिस व्यक्ति में यह संवेदनशीलता या पर-दुखकातरता जितनी मात्रा में वर्तमान रहेगी, उसके लिए वसुधा उसी अनुपात में कुटुम्बवत प्रतीत होगी। दुःख मनुष्य के हृदय को उर्वर बनाता है। महादेवी कहती हैं—'हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किंतु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को उर्वर बनाए बिना नहीं गिर सकता।' सचमुच यही दुःख काव्य की प्रेरणा है। कवि पंत ने भी कहा—

'वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान।
निकल कर आँखों से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान ॥

या, अँगरेजी कवि के इस कथन के मर्म को भली भांति समझना होगा—

आवर स्वीटेस्ट सौंग्स आर दोज
दैट टैल आफ सैडेस्ट थॉट्स।

इस तरह यह दुःख मानव हृदय को संवेदनशील बनाता है और उसका हृदय विश्वात्मा का एक अंग बन जाता है। यही व्यक्ति का समष्टि में विलयन है।

यह दुःख निश्चय ही समष्टिगत चेतना है। समष्टिगत चेतना ही काव्यानुभूति बन जाती है। आखिर शेष सृष्टि से संबंध रखनेवाली बात क्या है? शेष सृष्टि से रागात्मक संबंध रखने के लिए, उसी संवेदनशील हृदय की नितांत आवश्यकता है। शेष सृष्टि से रागात्मक संबंध रखने के लिए व्यक्ति को 'स्व' से ऊपर उठना पड़ता है। कविता जीवन की विविधता में एक सामंजस्य ढूँढ़ती है। महादेवी कहती हैं—'मनुष्य बाह्य संसार के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही उसके साथ एक रागात्मक संबंध स्थापित कर लेता है।' जब रसनिष्पत्ति या साधरणीकरण का प्रश्न उठता है, तब यह समष्टिगत चेतना और भी परिलक्षित होने लगती है। क्या साधरणीकरण बिना समष्टिगत चेतना के संभव है। यह समष्टिगत चेतना जीवन में प्रवेश किए बिना आ ही नहीं सकती। आज प्रगतिवादी लेखक भी हमारी जनवादी भावना को जगाने में इसलिए असमर्थ रह जाते हैं कि उनकी चेतना समष्टिगत न होकर बौद्धिक है। अतः जिस मर्मस्पर्शिता की अपेक्षा है, वह हम आज के कलाकारों में नहीं पाते हैं। प्रेमचंद में यह समष्टिगत चेतना इसलिए आ सकी थी कि वे आराम कुर्सी पर बैठकर लिखनेवाले लेखक नहीं थे, वरन् जीवन-संघर्षों से जूझनेवाले थे। स्वर्गीय प्रसाद भी अपनी दुकान पर बैठे बैठे तम्बाकू बेचा करते थे। आज के लेखकों या कलाकारों को चेतना प्राप्त करने के लिए जन-जीवन में बैठना है। शुक्लजी ने भी साहित्य की सामाजिक सार्थकता पर गौर किया है। इसीलिए वे गीत-काव्य की अपेक्षा प्रबंध-काव्य को चाहते थे; जिसमें समस्त जीवन की अभिव्यक्ति रहती है। 'चिंतामणि' में शुक्लजी कहते हैं—'भारतीय काव्य दृष्टि के निरूपण में हम दिखा चुके हैं कि भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती है और यही अभिव्यक्ति इसकी प्रकृत भूमि है!' रस की चर्चा करते हुए भी वे उक्त पुस्तक में कहते हैं 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अंतर्वृत्ति नहीं है।' शुक्लजी के दिए गए उद्धरणों की विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। हमारी समीक्षा के क्षेत्र में शुक्लजी

प्रकाश स्तम्भ रहे हैं। खेद है बाद के समीक्षक उनके चरण चिह्न पर नहीं चल सके।

इस समष्टिगत चेतना के संबंध में दो बातें कहकर निबंध समाप्त करूँगा। जब सामाजिक चेतना की बात की जाती है, तब मेरा मतलब उस सभा से नहीं है, जब जनसामान्य सभा-स्थल पर एकत्र होकर कवियों या लेखकों को अमुक अमुक बातें कहने या लिखने की राय देते हैं या वे एक साथ मिलकर कोई प्रस्ताव करते हैं और उसकी प्रति कवि या लेखकों को भेज देते हैं। सामाजिक चेतना का यह अर्थ कभी नहीं होता जैसा कि सामाजिक अनुबंध सिद्धांत (सोशल कान्ट्रैक्ट थियूरी) में हम पाते हैं। गंगा प्रसाद पाण्डेय कहते हैं—'समन्वय की भावना भारतीय संस्कृति की मूल चेतना है। वस्तुतः यहाँ का साहित्य भी समन्वयात्मक रहा है और रहेगा।' साहित्य की सबसे बड़ी शपथ सामूहिक एकता और समता है। यह सामूहिक एकता और समता सामाजिक चेतना के ही परिणाम हैं। जब तक साहित्य की अंतर्मुखी वृत्ति वैयक्तिक चेतना से ऊपर नहीं उठेगी, तबतक मानवता और सामाजिकता के विशाल प्रांगण में उनकी पैठ ही नहीं हो सकती। इसलिए साहित्यकारों की चेतना को सामूहिक तो होना ही है। यह सामाजिक चेतना केवल युग की पुकार ही नहीं है, बल्कि साहित्य का सत्य भी है। महान साहित्यिक इस सत्य की अवहेलना कभी नहीं कर सकता है। जब जब यह वैयक्तिक चेतना उभरती है, तब तब साहित्य का स्तर नीचे गिरने लगता है। इसलिए हम पुनः गंगा प्रसाद पाण्डेय के शब्दों में कहेंगे—'साहित्य का सृजन व्यक्ति के माध्यम से होता है, पर वह समूह (समष्टि) को अपने में समन्वय के द्वारा समेट लेता है, जैसे ससीम सिंधु अपने में अनंत आकाश को।'

— प्रसिद्धनारायण सिंह

२. भारत की प्राचीन चित्र-कला

चित्रकला भारत की प्राचीनतम कला रही है। मानव ने जब लिपि का आविष्कार किया, तो उसमें भी पहला स्थान चित्रलिपि का ही रहा है। चित्रकला के प्राथमिक चिह्न स्पेन तथा मध्यभारत की गुफाओं में पाए गए हैं। कला के इन प्राथमिक स्वरूपों का काल लगभग २५००० वर्ष ई० पूर्व माना जाता है। इनमें विविध हिंसक पशुओं तथा मानवों का पारस्परिक संघर्ष अंकित है।

लिखित रूप में चित्रकला संबंधी प्रथम उल्लेख ऋगवेदः ११४५ में मिलता है, जहाँ चमड़े पर अग्नि के चित्र का उल्लेख किया गया है। संघ राष्ट्रों की चर्चा में पाणिनि ने भी राज्य चिह्नों का उल्लेख किया है। संस्कृत नाटकों में चित्रकला-संबंधी अनेक उल्लेख मिलते हैं। पूर्वराग का तो प्रसंग ही प्रायः चित्र देखने से आता है। वात्सायन के कामसूत्र के अनुसार अभिजात्य कन्याओं को चित्रकला की विधिवत शिक्षा दी जाती थी। ७ वीं शताब्दी में रचित बाण की कादम्बरी से भी इस कथन की पुष्टि होती है। कालिदास के नाटकों से विदित होता है कि मांगलिक अवसरों पर देवताओं के चित्र बनाकर पूजे जाते थे। तांत्रिकों के समाज में विविध कोणों से युक्त रेखांकित ज्यामितिक की पूजा की जाती थी। बौद्धधर्म तो वस्तुतः चित्रधर्म ही कहा गया है, जिसका प्रचार लेखनी की अपेक्षा वर्तनी पर अधिक अवलंबित रहा है। ध्वस्त अयोध्या के वर्णन में महाकवि कालिदास ने दीवारों पर बने भित्ति-चित्रों की सजीवता का उल्लेख किया है। विक्रमोर्वशीय में विदूषक विरहातुर पुरुरवा को चित्रफलक पर उर्वशी का चित्र बनाने की सलाह देता है। मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र मालविका को चित्रशाला में गणेश का चित्र दिखाता है। उत्तर रामचरित के लेखक ने परशुराम तथा तपोवन के चित्रों का उल्लेख किया है। मुद्राराक्षस में चिंता करता हुआ राक्षस अपने पुरुषार्थ की तुलना उस चित्र से करता है, जिसे टाँगने के लिए दीवार प्राप्य नहीं है।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि प्राचीन भारत में चित्रकला कितने विकसित रूप को प्राप्त कर चुकी थी। फलकों पर निर्मित प्राचीन चित्र आज उपलब्ध नहीं हैं, किंतु इस युग के जो भित्ति-चित्र हैं उनसे उस युग के कला-विकास की बहुत-कुछ जानकारी मिल जाती है।

मोहनजोदड़ों में हुई खुदाई में डिजाइन चित्रित जो बर्तन मिले हैं तथा जो मिट्टी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमें भारतीय कला के प्राथमिक स्वरूप के दर्शन होते हैं। मोहनजोदड़ो के बाद के महत्त्वपूर्ण चित्रांकणों में सारनाथ और बाघ (मध्यभारत) का स्थान है। सारनाथ की कला बौद्धचित्रकला का प्रतिनिधित्व करती है। बाघ की कला अशोक कालीन है। उसके प्रमुख चित्र हैं बुद्ध के बाद-

चिह्न, कलिंग विजय, विजय के बाद अशोक का अनुशोचन, अशोक का राजदरबार, विविध दरबारी, विदेशी सभ्य आदि। विद्वानों की धारणा है कि बाघ का शिल्पी राज्यशिल्पी था। बाघ की कला में परंपरा और स्वच्छंदता का सुंदर सम्मिश्रण हुआ है।

बाघ के बाद ऐतिहासिक दृष्टि से अजंता का स्थान है। कला की दृष्टि से अजंता की शैली विश्व की श्रेष्ठतम शैलियों में से है। अजंता की कला में विविध पद्धतियों का सामंजस्य हुआ है। यह कला यद्यपि बौद्धमठों की देखरेख में चित्रित हुई, किंतु उसके चित्रकार बौद्ध भिक्षु न होकर गृहस्थ चित्रकार थे। दूसरे अजंता की कला किसी एक निश्चित काल की वस्तु नहीं है, वरन् उसे, अनेक चित्रकारों ने विविध युगों में चित्रित किया है क्योंकि अजंता के चित्रों में कुछ चित्र ऐसे भी हैं जिनमें राजा पुलकेशिन और कुछ विदेशी दरबारी अंकित किए गए हैं। साथ ही यक्षदम्पति, नागस्त्रियाँ और प्रणयोत्सव संबंधी विविध चित्रों के शिल्पी निश्चय ही पुलकेशिन के दरबारी शिल्पी रहे होंगे। अजंता की कला पर महायान धर्म का प्रचुर प्रभाव है। उसके विविध विषय बुद्ध संबंधी लोकगाथाएँ रहे हैं। अंकन में रेखाओं, रंगों की साधना तथा 'लाइट एन्ड शेड' के उपयोग ने उनमें एक अद्भुत आकर्षण की सृष्टि कर दी है।

एलौरा की कला के निर्माण का श्रेय राष्ट्रकूट के जैन राजाओं को है। इसका अंकन मुख्यतः पोथियों पर ही हुआ। एलौरा की कला में हम सबसे पहिले पर्शियन प्रभाव का समावेश पाते हैं। यह जैन चित्रकला चित्रांकण के विषयों में बड़ी साम्प्रदायिक रही।

राजपूत चित्रकला का विकास जैन चित्रकला से ही हुआ, किंतु पर्शियन प्रभाव अबतक आत्मसात हो चुका था। राजपूत कला ने जैनकला से अधिक स्वच्छंदता का प्रयोग किया। राजपूत चित्रशैली की विशेषता उसकी रेखाप्रधानता है। इस कला के विषय शृंगारिक ही रहे, सामंतों के भोगविलासमय जीवन को धार्मिक आवरण में कृष्णचरित्र के द्वारा अभिव्यक्त करना ही उसका लक्ष्य रहा है। चित्रकार दरबारी होते थे और कला आत्मिक प्रेरणा का फल न होकर आश्रयदाताओं की फरमाइश की पूर्ति हुआ करती थी। राजपूतशैली के भी अनेक उपभेद हैं—कोटाशैली, किशनगढ़शैली, बूंदी शैली, जयपुरशैली, जोधपुरशैली, उदयपुरशैली आदि। इनमें किशनगढ़ और जयपुर शैलियाँ उत्तम मानी जाती है।

राजपूतशैली के बाद मुगलशैली का विकास हुआ जो तद्वत चित्रण में अपनी सानी नहीं रखती। इस पद्धति का निर्माण भारतीय तथा फारसी शैलों के मिश्रण से हुआ है—उसकी आत्मा भारतीय है तथा शरीर (फार्म) फारसी। फारस से लौटते समय हुमायूँ ने सैयदअली और अबदुस्समद नामक दो चित्रकारों को साथ लाया और उनके द्वारा फारसी के सुप्रसिद्ध काव्य 'अमीर हमजा' को चित्रांकित कराया। कालांतर में अकबर ने भारतीय तथा फारसी शैली के सम्मिश्रण से मुगल चित्रशैली को जन्म दिया है। उसके दरबार के चित्रकारों में असावन, दसवंत, सावलदास, फारुखबेग, मुराद आदि मुख्य थे।

मुगल चित्रकला की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। एक तो ईरानी प्रभाव से हाशियों में विविध जानवर, शिकार के दृश्य, हिरण आदि रहते हैं। दूसरे यह कला मुख्यतः शबीह उतारने की कला रही। तीसरे रंगसाजी, बनावट और पच्चीकारी इसमें सर्वाधिक रही। चौथे तद्वत चित्रण ही इसमें प्रधान है—कलाकार का आत्माभिव्यंजन गौण। इन्हीं कारणों से यह पद्धति निपट दरबारी और फरमाइशी कला रही और औरंगजेब के काल में लुप्त हो गई।

औरंजेब के समय में दरबारों से निकाले गए चित्रकारों ने राजपूतशैली के सहयोग से एक नई पद्धति को जन्म दिया, जिसे विद्वान् कांगड़ा, पहाड़ी, हिमालय आदि नामों से संबोधित करते हैं। आनंद कुमार स्वामी ने इस पद्धति का उल्लेख राजपूत शैली के अंतर्गत किया है।

इस शैली के प्रमुख विषय राधाकृष्ण की विविध केलि क्रिडाएँ तथा पौराणिक कथाएँ हैं। कलाकारों की दृष्टि नारी के वैविध्यपूर्ण चित्रांकण की ओर प्रवृत्त रही। कृष्ण लीला, नायिकाभेद, नल-दमयन्ती, सावित्री सत्यवान, की पौराणिक गाथाओं के साथ ही हम्मीरहठ, बैताल विक्रम-चरित्र, माधवानल, कामकन्दला आदि लौकिक कथाएं भी इस काल की विषय रहीं। राजपूतशैली में पाए जानेवाले रागमाला और बारहमासा के चित्र यहां विरल हैं। कांगड़ाशैली के चित्रकारों में मानकू, चैतू, मोलाराम आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

—रामेश्वर शर्मा

३. नारी के धिकार पर आश्रित संस्कृति

भारतीय कुटुंब का मध्य बिंदु गृहणी है। गृहणी के व्यक्तित्व रूपी सूर्य के चारों ओर अन्य परिजन ग्रह उपग्रहों की भाँति मँडराते रहते हैं। भारतीय कुटुंब की व्यवस्थापिका नारी अपने आसपास के वातावरण में जो शक्ति, स्फूर्ति और समन्वयात्मक कर्तव्य परायणता भर देती है इसका कारण उसके कामिनी रूप में नहीं खोजा जा सकता। इस शक्ति का परिपाक उसके उदारचेता भगिनी रूप में तथा ममतापूर्ण मातृत्व में से ही प्रस्फुटित होता रहता है। कुटुंब संस्था की सारी शक्ति गृहणी के चारित्रिक बल में है। यही कुटुंब भारतीय समाज व्यवस्था का मूल है। भारतीय संस्कृति की गरिमा और गहन आध्यात्म दर्शन का स्रोत भी यही है।

आधुनिक कही जानेवाली पाश्चात्य नारी का क्षेत्र गृह नहीं रहा है। इसीलिए वहाँ गृहस्थी कोई स्थाई शक्ति रखनेवाली इकाई नहीं रही। कानून का बंधन पति पत्नी को एक-दूसरे के निकट रखने को बाध्य न करे तो दाम्पत्य जीवन की कड़ियाँ ही बिखर जाय। बच्चों के लिए शिशु शाला और अतिथियों के लिए होटलों का प्रबंध करने के पश्चात् नारी को जो भी अवकाश प्राप्त होता है उसमें वह कृत्रिम प्रसाधनों द्वारा आकर्षक चेहरा बनाकर वासनापूर्ण उच्छृंखल मनोरंजन करने का व्यक्तिगत स्वातंत्र्य भोगती रहती है।

भारतीय नारी पत्नी रूप में पति की आत्मा से अलौकिक प्रेम बंधन में बँधी रहती है। यह प्रेम धर्म के रस से सिंचता है, सामाजिक आदर की हवा में खिलता है और सरल आत्मसमर्पण में विकसित होता है। यह बहिन, भाभी और ननद के रूप में साहचर्य स्नेह और स्वस्थ विनोद का संबंध स्थापित करके कुटुंब को पुलक की अनुभूति कराती रहती है। गुरुजनों के प्रति उचित आदर उसकी सीमा को संकुचित नहीं करता, किंतु उसके जीवन को आशीर्वादों की बौछार से महान बना देता है। भारतीय नारी को अर्थोपार्जन की चिंता से मुक्ति देना पुरुष वर्ग का कर्तव्य रहा है। और साथ ही संतोष के साथ निर्वाह करना नारी का लक्ष्य रहा है।।

आधुनिक कही जानेवाली समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अर्थोपार्जन की स्वतंत्रता ही नहीं, किंतु प्रोत्साहन दिया जाता है। विशेषकर पति और पत्नी जब दोनों धन संग्रह की विभीषिका के पीछे पड़ जाते हैं और बच्चों को भाग्य के सहारे छोड़ देते हैं, तब यही अनुभव होता है कि भारतीय कुटुंब अस्तव्यस्त होता जा रहा है।

हमारे पूज्य नेताओं ने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त की और उसको सभालने में शक्ति का परिचय दिया है, इसमें संदेह नहीं, पर समाज व्यवस्था के जिन नियमों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है वे सीधे विलायत की नकल हैं। विशेष कर जब टूटते हुए भारतीय कुटुंब की जर्जर अवस्था हमारे सामने आती है तब हृदय कचोट उठता है और नेता कहे जानेवालों के प्रति अश्रद्धा अनायास ही उत्पन्न हो जाती है।

एक दृश्य से कल्पना को सहारा मिल सकता है। संध्या समय साढ़े पाँच बजे पति महोदय दफ्तर से थके माँदे घर आते हैं। घर में ताला बंद देख कर बाहर ही चहलकदमी करने लगते हैं। कुछ देर में आया दो बच्चों के साथ मारपीट करती हुई आती है। जैसे तैसे बच्चों को चाकलेट दे दा कर पिता कहे जाने वाले महाशय बाथरूम में जाते हैं। थोड़ी देर में श्रीमती जी अपनी नौकरी से वापिस आती हैं। उनके साथ उनके कुछ मित्र हैं जो आग्रहपूर्वक उनको सिनेमा ले जाना चाहते हैं। श्रीमती जी पति की आज्ञा की आवश्यकता नहीं समझती हैं। आया को सूचना भर दे जाती हैं कि वे दस बजे रात तक आ सकेंगी। उनके लिए होटल से भोजन लाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे वहीं कहीं खा-पी लेंगी।

कुटुंब जीवन का उपरोक्त दृश्य भारतीय दृष्टि को अमर्यादित और दूषित जान पड़ेगा। चाहे इसमें उच्छृंखलता और अन्य दोष न भी हों फिर भी इसमें भारतीयता नहीं, इसमें एकीकरण करने का वह भाव नहीं जो आकर्षण बन कर कुटुंब के लोगों में एकता और जीवन की उमंग भर सके। नारी स्वातंत्र्य का पक्ष लेकर बेहुदा-कुछ वितंडावाद उपस्थित किया जा सकता है। पर क्या कोई भी उदार हृदय पुरुष इस बात से असहमत हो सकता है कि नारी की मुट्ठियाँ पैसे से भर कर उसको बेसहारे सड़क पर छोड़ दिया जाय? उसके नारीत्व के आसपास अनुत्तरदायी तत्वों की भीड़ जमा कर, पुरुष दूर खड़ा हो जाय और जर असमय में ही नारी के औदार्य का अनुचित लाभ उठा कर समाज की काली छाया उसका

अपमान करने में सफल हो जाय तब पुरुष कहता फिरे कि यह स्वतंत्रता है ?

आपद्धर्म जातीय धर्म नहीं हो सकता। जो लोग इतिहास और जीवन में से अपवादों को बटोर कर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि नारी में भी पुरुष जैसी ही शक्ति तथा शारीरिक और मानसिक क्षमताएँ हैं वे गणित को भूले नहीं होंगे। जिस देश और जाति के लोग इस विचार का प्रचार करने में अतिशयोक्ति से काम लेते हैं वे यूरोपवासी क्या नहीं जानते कि यूरोप की फौजों में पुरुष वर्ग अधिक है स्त्री वर्ग कम। और यदि कहीं नारी वर्ग को सेना में भर्ती भी किया गया है तो उनसे अग्र पंक्ति का कार्य अर्थात् गोली चलाना सफलतापूर्वक नहीं हो सका है। हाँ, घायल सैनिकों की परिचर्या के हेतु अस्पतालों में नर्सों का कार्य करने पर भी यदि हमारा हठ उनको सैनिक पदवियों से विभूषित करने में ही गर्व समझे तो इसमें नारीत्व का दोष नहीं, दोष है पुरुष की हठधर्मिता का। यूरोप की राजनीतिक संस्थाओं मे स्त्रियों का अनुपात क्या पुरुषों से बहुत कम नहीं ? पिछले पचास वर्षों मे इंगलंड में जितने राज मन्त्री हो गए उनमे से कितनी स्त्रियाँ थीं ?

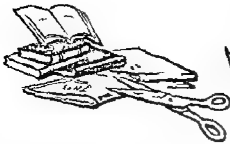
हाँ, नाच घरों मे नृत्य के नाम पर 'जंघा प्रदर्शन-प्रतियोगिता' मे भाग लेनेवाली नारियों की संख्या अलबत्ता पुरुषों से अधिक ही रही है; और इसका भी कारण है दर्शकों की प्रोत्साहन भरी आँखें जिनमें अवश्य ही पुरुषों की ही आँखें अधिक होती हैं।

जिस संस्कृति में पुरुष की राजस प्रवृत्तियाँ नारी के उदार मन को धोखे में फँसाने का जाल रचती हैं पुरुष की कापुरुता के मनोरंजनार्थ नारी के सहज शील को विकृत किया जाता है और पुरुष की तामसी बुद्धि के जाल में फँसी हुई नारी की आत्मा को छटपटाती हुई देख कर आनंद मनाया जाता है, उस संस्कृति में और भारतीय संस्कृति में सात समुद्रों का अंतर रहे, तभी अच्छा है।

भारतीय जनता प्रगति से मुख नहीं मोड़ना चाहती ; पर प्रगति का भी भारतीयकरण होना आवश्यक है। जहाँ दूसरे लोगों ने धन-बल, जन-बल और शस्त्र-बल पर अपनी उन्नति का झंडा फहराया है, वहाँ भारत की संस्कृति ने इस बल के साधन समूह में चरित्र का बल अथवा नैतिकता के बल को न केवल स्थान ही दिया है, अपितु उसको सर्वोपरि भी मान लिया है। अतः साधनों के जुटाने मे हम विज्ञान का सहारा लें, अन्य देशों से मशीनों का आयात करें, पर यदि वे मशीनें हमारी नैतिकता को पीस कर हमें धनी बनाने चली हैं, तो उनको दूर से ही प्रणाम करना उचित है।

—भैयालाल वर्मा





सार-संकलन

१. वक्तृत्व-कला का लोप

आजकल यह कम सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति वक्तृत्व-कला में बड़ा पटु है। और अगर किसी के बारे में यह बात कह दी जाए तो उसके श्रोता सभा में जाने के बदले सभा से भाग निकलने की कोशिश करने लगेंगे। अब समय काम का हो गया है और भाषण के अभिनय से लोगों की अरुचि हो गई है।

अच्छी से-अच्छी वक्तृत्व-कला भी अभिनय की कला होती है। यह लिखी हुई पंक्तियों को नाटकीयता से पढ़ने की कला है, जिसमें चरित को अपना अभिनय आप ही करना होता है। यह कला मर रही है, इसका एक कारण ध्वनि विस्तारक यंत्रों का प्रचार है। ये यंत्र श्रोता और वक्ता के बीच व्यवधान बन जाते हैं। फिर वक्ता को यह सुयोग ही नहीं रहता कि वह भाव भंगी और मुद्रा से अपने भाषण को बल पहुँचा सके और श्रोता को उस प्रकार से प्रभावित कर सके जैसे नाटक के अभिनेता करते हैं। अब इस यंत्र के युग में श्रोता भी सभाओं में सिमट कर नहीं बैठते, न उनकी दृष्टि वक्ता के मुख पर रहती है। असल में, आज की सभाओं में श्रोता के कान ही सजग रहते हैं। ऐसी अवस्था में वक्ता अभिनय करे तो किसे दिखाने को? निदान, वह अपना भाषण पढ़ डालता है। वक्तृत्व-कला राजनीति के लिए चमत्कार की चीज थी। लेकिन, अब तो राजनीतिक प्रचार का माध्यम भी रेडियो हो रहा है। और रेडियो पर भाषण का पढ़ दिया जाना ही काफी समझा जाता है।

वक्तृत्व-कला की राह में दूसरी बाधा यह है कि लोग इसे दैवी चमत्कार समझते हैं। उनका ख्याल है भाषण दिए नहीं जाते, वे ईश्वरीय प्रेरणा से बरस पड़ते हैं। इससे बढ़ कर भ्रामक बात कोई और नहीं हो सकती। सच्ची बात तो यह है कि अच्छी-से अच्छी वक्तृताएँ तब दी जाती हैं जब वे पहले से लिखी हुई हों और वक्ता ने उन्हें भली भाँति याद कर लिया हो। सिसरो प्राचीन काल का बहुत बड़ा वक्ता हो गया है। किंतु, उसने भी माना है कि वक्तृता का मजमून सतर्कता और परिश्रम से तैयार किया जाना चाहिए।

जैसे संगीतज्ञ गीतों को अक्षरशः याद कर लेते हैं, उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं में यह गुण रहा है कि वे अपने लिखित भाषणों के एक-एक अक्षर को याद कर लें। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में वेन्डेल फिलिप्स ने एक भाषण एक सौ दस मिनट में दिया और इस अदा से दिया मानों वह बिना तैयारी के बोल रहा हो। सभी लोग दंग हो गए, लेकिन, एक आदमी के पास उस भाषण की एक प्रति मौजूद थी। केवल उसी को आश्चर्य नहीं हुआ और हुआ भी तो इस बात पर कि फिलिप्स लिखित भाषण का एक-एक शब्द सही जगह पर बोल गया था।

अब्राहमलिंकन के जीवनी लेखक ने लिखा है कि १५ साल की उम्र से ही वे अपना भाषण लिख कर तैयार करने लगे थे और उनकी धारणा-शक्ति ऐसी थी कि बोलने के समय वे शब्द प्रति शब्द ठीक जगह पर बोल जाते थे।

सर विंस्टन चर्चिल इस गए बीते जमाने में भी अपनी अद्भुत वक्तृताओं के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। किंतु, उनके भाषणों के पीछे भी उनकी स्मरण शक्ति ही काम करती है। बचपन में उन्होंने एक प्रतियोगिता में मेकाले की एक कविता की बारह सौ पंक्तियाँ बिना रुके हुए सुना दी थीं। पिछले युद्ध के समय भी उन्होंने जो बड़ी बड़ी वक्तृताएँ दीं वे परिश्रमपूर्वक तैयार की गई थीं। उनके किसी किसी भाषण के पीछे तो डेढ़ महीने के परिश्रम का इतिहास है। चर्चिल साहब की जीवनी लेखिका ने लिखा है कि चर्चिल साहब भाषण की अग्रिम प्रतियाँ पत्रों को भेज देते थे और कभी कभी संपादकों को यह देखकर आश्चर्य होता था कि वक्ता ने विश्वासपूर्वक स्थल-स्थल पर करतल ध्वनि का भी संकेत दे दिया है।

किंतु, लिखित भाषणों को कंठस्थ करने की योग्यता हर एक वक्ता में नहीं होती और न हर एक वक्ता यही कर सकता है कि रटे हुए भाषण को स्वाभाविकता से सुना

है। इसके लिए कुछ तो विशेष प्रकार की शक्ति चाहिए और कुछ अभ्यास। यह साधना बहुत कुछ वैसी ही होती है जैसी साधना नाटकों के अभिनेता किया करते हैं।

वक्तृत्व कला का विरोधी एक और भाव है और वह यह कि कुछ लोग समझते हैं कि भाषण को प्रभविष्णु करने के लिए वाक्य धीरे-धीरे बोलने चाहिए जिससे लोगों पर यह असर पड़े कि वक्ता गहरी चिंता में चल रहा है और वह निराकार भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए उचित शब्दों की खोज में है। किंतु, इस पद्धति का परिणाम अक्सर यह होता है कि श्रोता जँभाई लेने लगते हैं। इसलिए जिसे अच्छा भाषण देना हो उसे बोलने में क्षिप्रता लाने का अभ्यास करना चाहिए। इससे दो लाभ हैं। एक तो यह कि धारा प्रवाह भाषण के समय जनता को नींद नहीं आती। और दूसरा यह कि इससे स्वयं वक्ता भी ऊँघने से बच जाता है।

ऊँची वक्तृता में बुद्धि क्रिया और साहित्य-कला का अद्भुत संयोग होता है और इसका अभ्यास स्मृति में किया जाता है। जो आलसी और निरुद्यमी है उसे अच्छी वक्तृता देने का प्रयास ही नहीं करना चाहिए। इसी तरह, जो लोग यह समझते हैं कि अभिनय पूर्ण भाषण देना उनकी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है, वे भी इस कला में कोई चमत्कार दिखाने से रह जायँगे। और ऐसे भाषण रोज रोज तो दिए ही नहीं जा सकते। उनका समय जीवन में कभी-कभी ही आता है।

—मैक्स ईस्टमैन (रीडर्स डायजेस्ट से)

२. साम्यवादी संकट

यह बात स्वयं क्रुश्चेव और मेलेनकोव के मुख से आई है कि ३५ वर्षों के सोवियत शासन के बाद भी रूस में कृषि की कोई खास उन्नति नहीं हो सकी, पशुपालन की स्थिति लगभग वैसी ही है जैसी सन् १९१८ ई० में थी और मांस, दूध तथा घी आदि के उत्पादन में इधर कई साल से कमी होती गई है। सोवियत प्रणाली के विरुद्ध जितनी भी बातें कही जाती हैं उन सब का खंडन एकमात्र इस अनुमान से किया जाता रहा है कि हो न हो, इस प्रणाली का आर्थिक प्रगति से कोई गुप्त संबंध है। किंतु, रूस के नेताओं की इस स्पष्टोक्ति से तो सोवियत प्रणाली विषयक यह अनुमान भी संदेह में पड़ जाता है।

मेलेनकोव और क्रुश्चेव ने यह विवरण एक नई योजना के सिलसिले में दिया है जिसका उद्देश्य कृषि और पशुपालन की दिशा में दो-तीन साल के अंदर क्रांति करना है। कृषि में क्रांति शायद कर दी जाय, किंतु पशुपालन और दूध के उत्पादन में यह क्रांति कैसे की जा सकती है, यह समझ में नहीं आता। कृषि की क्रांति यंत्रों से की जा सकती है, किंतु, पशुओं के पालन और उनकी नस्ल सुधारने के काम में तो किसानों की वैयक्तिक सूझ-बूझ की जरूरत पड़ेगी। यह सूझ-बूझ क्या क्रांति के रास्ते से पैदा की जा सकती है और क्या उसका सुफल दो तीन साल में देखने को मिल सकता है?

एक बात और है कि सोवियत जनता तो अपने अधिनायकों के लौह शासन के अधीन वर्षों से पिसती चली आ रही थी। अब अचानक शासक इस बात के लिए चिंतित क्यों हो उठे हैं कि जनता की अवस्था में दो-तीन साल के अंदर परिवर्तन जरूर आना चाहिए? क्या जनता का दबाव रूस में इस स्तर पर पहुँच चुका है जहाँ उसकी और उपेक्षा नहीं की जा सकती?

इस दबाव का रूप क्या है, इसे तो रूसी शासक खूब छिपाए हुए हैं। किंतु, अनुमान से यह बात जानी जा सकती है कि दबाव दो तरह के हैं। एक तो यह दबाव उनका होगा जो कारखानों में मजदूरी करते हैं और जो पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हैं। दूसरा दबाव सेना का होगा क्योंकि सेना में सिपाही किसानों के बेटे हैं और किसान रूस में सुखी नहीं हैं।

—फ्रांज बर्केनाउ (एनकाउंटर से)

३. कलाकार की निंदा और स्तुति

मेरा विश्वास है कि मैं किसी से ईर्ष्या नहीं करता। दूसरों की सफलता पर कुढ़ने का भाव मुझ में नहीं है। जिस कोने पर इतने दिनों तक मेरा अधिकार रहा है, उसे मैं छोड़ देने को राजी हूँ। जो भी यहाँ अधिकार जमाना चाहे वह खुशी से आ सकता है।

लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं, इसकी मुझे अब तनिक भी परवाह नहीं है। चाहें तो वे मुझे अपना लें, चाहें तो ठुकरा दें, मेरे लिए दोनों स्थितियाँ एक समान हैं। जब मुझे यह मालूम होता है कि लोग मुझे पसंद करते हैं तब इस बात से मुझे थोड़ी खुशी जरूर होती है

लेकिन जब वे मुझे पसंद नहीं करते तब इस बात का मुझ पर कोई असर नहीं होता।

बहुत दिनों से मैं यह जानता हूं कि मुझ में कोई चीज है जिससे कुछ लोग मेरे विरुद्ध हो जाते हैं। लेकिन, यह तो स्वाभाविक बात है। कोई भी आदमी हर आदमी को पसंद नहीं कर सकता। किंतु, मेरी तो अब यह अवस्था है कि अपनी निंदा से मैं घबरा नहीं सकता, उससे मेरा कुछ मनोरंजन ही हो जाता है।

केवल यही जिज्ञासा है कि अपने उस दोष या गुण को पहचान लूं जिससे लोग मुझ से चिढ़ जाते हैं। मुझे तो अब इस बात की भी फिक्र नहीं है कि लोग मुझे लेखक के रूप में कैसा समझते हैं। मैंने जिस काम का आरंभ किया था वह जैसे-तैसे पूरा हो गया। इससे आगे की चिंता मुझे क्यों हो ?

—सामरसेट माम (आत्म कथा)

४. साम्यवाद और इस्लाम

सभी धर्म साम्यवाद के विरोधी हैं, क्योंकि प्राय धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं, आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करते हैं, किंतु, साम्यवाद इस तरह के विश्वासों से मुक्त है। फिर भी धार्मिक समाजों में ऐसी बातें हो सकती हैं जिनसे साम्यवाद का मेल हो और जिस समाज में ऐसी बातें अधिक होंगी उसे साम्यवाद को स्वीकार करने में कठिनाई भी कम होगी। साम्यवाद और इस्लाम के बीच अगर हम मौलिक और आकस्मिक दोनों प्रकार की समानताओं को लेकर विचार करें तो हमें निम्नलिखित बातें मालूम होती हैं।

साम्यवाद पाश्चात्य ढग की शासन प्रणाली का विरोधी है। वह यूरोपीय रहन-सहन और तौर तरीकों में भी विश्वास नहीं करता। यही हाल नाजियों का भी था। वे भी यूरोप की विचार प्रणाली के विरोधी थे और यूरोप में प्रचलित विश्वासों के विरुद्ध अपना पाँव जमाना चाहते थे। मुस्लिम देशों में उन्नीसवीं सदी में यूरोप के लिए काफी उत्साह जगा था। बल्कि, अभी हाल तक वे यूरोप के प्रति विश्वासी थे। किंतु अब परिस्थिति बदल गई है और प्रत्येक मुसलमानी देश में यूरोप के खिलाफ एक तरह की प्रतिक्रिया जग रही है। मोरक्को, ट्युनिसिया, स्वेज, सूडान, फिलस्तीन और अबादान में यूरोपीय देशों की जो नीति रही उससे भी इस्लामी देश कुछ नाराज हैं। मगर, नाराजी कुछ एक दो बातों को ही लेकर नहीं है, बल्कि, इस नाराजी के कुछ कारण सास्कृतिक भी हैं, यद्यपि साम्राज्यवादी दबावों से निकलने का भाव अभी सबसे प्रधान दीखता है। यूरोप और अमेरिका प्रति इस्लामी देशों में यह जो घृणा का भाव है उससे साम्यवादी लोग काफी फायदा उठा सकते हैं। घटनाएँ आकस्मिक ही हैं, लेकिन, उन्होंने मुसलमानों और साम्य वादियों को लगभग पास ला दिया है। इधर कई इस्लामिक देशों में प्रजासत्ता का भी आरंभ हुआ, किंतु अधिकांश जगहों पर शासन की यह प्रणाली ठीक से काम नहीं कर सकी और शासक जोश में भर कर इस प्रणाली के विपरीत जाने लगे।

अरबवाले यह तो भूल गए कि इतिहास में कभी वे भी साम्राज्यवादी रह चुके हैं, किंतु अमरिका और यूरोप के साम्राज्यवाद के वे कटुआलोचक हो रहे हैं। रूस को एक और लाभ है कि वह खुद तो जाति और वर्णभेद के पचड़ों से बचा हुआ है, लेकिन अफ्रिका और दूसरे देशों में फैले हुए वर्णभेद के झगड़ों से उसे काफी फायदा पहुँच रहा है।

इस्लामिक देशों में फैली हुई गरीबी दूसरा कारण है जिससे ये देश साम्यवाद के फेरे में पड़ सकते हैं। गरीबी इन देशों में और दूसरे देशों में भी पहले के युगों में भी थी। लेकिन, अमीर और गरीब के बीच की खाई आज जितनी चौड़ी है, पहले वह उतनी चौड़ी नहीं थी। इसका भी कारण पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव माना जाता है, क्योंकि यत्र पाश्चात्य विश्व की देन हैं और यत्रों के द्वारा ही अमीरों की अमीरी और गरीबों की गरीबी बढ़ाने का काम ज्यादा आगे बढ़ा है। पाश्चात्य जगत से स्वास्थ्य, सफाई और रोगों को दूर करने की जो परंपरा फैली उसीसे जनसंख्या भी बढ़ती गई है। किंतु, पाश्चात्य देशों ने इसी अनुपात में खाद्य वस्तुओं का उत्पादन नहीं बढ़ाया।

किंतु, किसानों से अधिक इस्लामिक देशों में खतरा मजदूरों को लेकर है जो जहाँ तहाँ मिलों में काम करने लगे हैं। साम्यवाद के ज्यादा विश्वस्त सिपाही किसान नहीं, मजदूर हैं। और इन देशों में मजदूरों की संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ेगी, त्यों त्यों साम्यवाद के पक्ष में और जोरों से प्रचार होता जायगा।

मौलिक लक्षणों पर आते ही हमें स्पष्ट दिखाई देता है कि इस्लामिक समाज में एकतंत्र शासन की परंपरा बहुत बड़ी रही है। जो लोग इस्लाम के भीतर प्रजातंत्र की झलक देख कर उसे इस्लाम का प्रधान गुण मानते हैं, वे न तो इस्लाम को जानते हैं, न प्रजातंत्र को। इस्लाम में मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की परंपरा जरूर रही है, लेकिन, इसने प्रजातंत्र का रूप कभी नहीं लिया। और यह समानता की परंपरा ऐसी है जिसका मेल प्रजातंत्र के साथ भी बिठाया जा सकता है और एकतंत्र के साथ भी। इस्लाम का राजनीतिक इतिहास आदि से अब तक केवल एकतंत्र शासन का इतिहास है। यह बात दूसरी है कि यह एकतंत्र शासन सदैव स्वेच्छाचारी ही नहीं रहा। क्योंकि इस्लामिक राज्यों में राजा भी कुरान की आज्ञाओं से अलग नहीं जा सकता था। इस प्रकार उसकी स्वेच्छाचारिता सीमित और, प्राय दोषहीन थी। तब भी वे राजे स्वेच्छाचारी होते थे और कभी कभी अत्याचारी भी। इस्लाम के इतिहास में पार्लामेंट, प्रातिनिधिक संस्था, नगर पालिका या प्रातिनिधिक मन्त्रिमंडलों की परंपरा कहीं नहीं मिलती। खलीफाओं के बाद जो शाह और सुलतान हुए, उन्हें लोग पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में देखने के आदी थे। इसलिए, इस्लामिक शास्त्राचार्यों ने यह कहा है कि जो गद्दी नशीन हो, उसकी आज्ञा माने बिना चल नहीं सकता। इस्लामिक परंपरा इस बात की परंपरा रही है कि 'अराजकता से अत्याचार अच्छा है।' इस्लाम एक तरह की राजनीतिक शांति का प्रेमी है। जो आ जाय, उसकी इज्जत करो, यह नीति इस्लाम में कई बार बरती गई है। इब्ने जामा नामक मिस्र के एक काजी ने लिखा है कि जो आदमी गद्दी पर आ जाता है उसे जनता के द्वारा आदर पाने का अधिकार आपसे आप हो जाता है। वह मूर्ख हो या अन्यायी और पापी, अथवा वह कोई दास या औरत ही क्यों नहीं हो, जनता को उसका हुक्म मानना ही चाहिए। उसकी आज्ञा तभी नहीं मानी जायगी जब उससे कोई मजबूत आदमी उसे गद्दी से खदेड़ दे। और तब इस नए आगंतुक की आज्ञा चलनी चाहिए।

काजी इब्ने जामा ने जो धर्म बताया, उसी का पालन करने के लिए सरदार और सामंत इस्लामिक राज्यों में कूप मचाते रहे हैं। जिस जन समाज के हृदय में ऐसे भाव विराज रहे हों वह साम्यवादी कूप से घबराएगा क्यों? बल्कि, यह कूप तो उसे अच्छा ही लगेगा क्योंकि जबर्दस्ती सत्ता छीनकर आनेवाले साम्यवादी राज्य में लगन अधिक होती है, कार्य तत्परता अधिक होती है और कर्मचारियों के भ्रष्टाचार और शैथिल्य को वह बर्दाश्त नहीं कर सकता।

इस्लामिक समाज में एक और गुण है कि वह अपनी धार्मिक पुस्तक और अपने नबी में आँख मूँद कर विश्वास करता है और इस विश्वास से उसकी एकता में वृद्धि होती है। मुसलमानों ने सारे संसार को दारुल-इस्लाम (जहाँ मुसलमानों का वश चलता है) और दारुल हरब (जहाँ मुसलमानों का वश नहीं चलता) में बाँट रखा है। यह एकता, समूह का यह प्रखर व्यक्तित्व बहुत कुछ साम्यवादी समाज के ही व्यक्तित्व के समान है। साम्यवादी देश भी दुनिया को दो भागों में विभक्त समझते हैं। इस बिंदु पर इस्लाम और साम्यवाद में एक तरह की गहरी समानता है। इस्लाम कहता है 'ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके पैगम्बर हैं।' साम्यवादी कहता है, 'ईश्वर नहीं है और मार्क्स उसके पैगम्बर हैं।' सामूहिक जिम्मेवारी के सिद्धांत को दोनों ही मानते हैं, लेकिन, अपने अपने ढंग पर।

किंतु, यह अपना अपना ढंग ही दोनों को विभक्त भी करता है। इस्लाम कहता है 'ईश्वर है' और साम्यवाद कहता है, 'ईश्वर नहीं है', यह मौलिक भेद बहुत बड़ा है और इसीलिए सच्चा मुसलमान सच्चा साम्यवादी नहीं हो सकेगा। ऊपरी समानता से भीतरी समानता नहीं उत्पन्न होती। मुसलमान ईश्वर को मानते हैं, वे धार्मिक और श्रद्धालु हैं, एक यही बात साम्यवाद से उन्हें बचाने को यथेष्ट है।

—बर्नर्ड लेविस (इंटरनेशनल अफेयर्स, जनवरी, १९५४)

विश्व वार्ता

१. भारत

भारत एक विस्तृत शांति क्षेत्र का निर्माण करना चाहता है। कोरिया और हिंद चीन दोनों मुख्यत एशिया के प्रश्न हैं और इन पर एशिया का भाग्य निर्भर करता है। साथ ही इसका प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर भी अनिवार्य रूप से पड़ेगा। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने बराबर सामूहिक शांति की अनिवार्यता पर जोर डाला है और इसके लिए हाल ही अपने भाषण में श्री नेहरू ने व्यावहारिक पाँच सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है। ये सिद्धांत इस प्रकार हैं —(१) प्रत्येक देश एक दूसरे की अखंडता और स्वतंत्रता का सम्मान करे (२) कोई देश दूसरे के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे (३) कोई देश एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करे (४) प्रत्येक देश एक दूसरे को समान समझे तथा एक दूसरे को लाभ पहुचायें और (५) सब देश एक दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रहें।

जहाँ तक भारत की परराष्ट्र नीति का प्रश्न है प्रधान मंत्री नेहरू ने इस यथार्थ को पुन स्पष्ट कर दिया है कि यदि कोरिया में एकता नहीं हुई तो युद्ध का संकट सदा बना रहेगा। हिंद चीन की चर्चा करते हुए आपने कहा है कि यह तथ्य समझना आवश्यक है कि वहाँ संघर्ष उपनिवेशवाद के विरुद्ध है। यदि यह बात विश्व के राजनीतिज्ञ समझ जायँ तो हिंद चीन की समस्या को सुलझाने में सहायता मिलेगी।

भारत की स्थिति को विश्व राजनीति में स्पष्ट करते हुए गत २२ मई को प्रधान मंत्री नेहरू ने भारतीय लोकसभा में इस बात की पुन. घोषणा की है कि गोले-बारूद, शस्त्र या सैनिक से भरे हुए किसी भी विदेशी विमान को भारत पर से उड़ने की अनुमति नहीं दी जायगी।

अमेरिका स्थित भारतीय राजदूत श्री गगनविहारीलाल मेहता ने वाशिंगटन में कहा है कि जेनेवा में हिंद चीन के विषय में संधि की रूप-रेखा तैयार कर ली जाय तो भारत तटस्थ निरीक्षक राष्ट्र के रूप में अपनी सेवाएँ अर्पित करने को तैयार है। प्रधान मंत्री श्री नेहरू की हार्दिक इच्छा है कि हिंद चीन में समझौता हो जाय।

२. पाकिस्तान

भाषा का प्रश्न, अहमदिया आंदोलन, बेकारी तथा अन्य कई कारणों को लेकर पाकिस्तान की राजनीतिक स्थिति का सन्तुलन तो नष्ट था ही इधर पूर्वी पाकिस्तान स्थित नारायणगंज जूट मिल्स के भयंकर कांड ने उसमें और उग्रता एवं कटुता उत्पन्न कर दी है। पाकिस्तान सरकार अपनी बेढंगी नीति एवं आंतरिक दुर्बलताओं के कारण जनता का विश्वास खो चुकी है और इसकी प्रतिक्रिया यहाँ तक हुई है कि पूर्वी पाकिस्तान पश्चिम पाकिस्तान को शोषक की दृष्टि से देखने लगा है। इधर पाकिस्तान में वैधानिक संकट पुन उत्पन्न होने की अत्यधिक संभावना व्यक्त की जा रही है, क्योंकि बताया जाता है कि पूर्वी पाकिस्तान के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री फजलुल हक ने एक अंतर्राष्ट्रीय संपर्क विभाग की स्थापना की थी जिसे उन्होंने अपने ही अधीन रखा था।

पर्यवेक्षकों का कहना था कि वर्तमान विधान के रहते पूर्वी पाकिस्तान के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री फजलुल हक के अंतर्राष्ट्रीय संपर्क-विभाग के खोलने से पाकिस्तान में नई वैधानिक समस्या उत्पन्न हो गयी थी, क्योंकि बताया जाता है कि वर्तमान संविधान के अनुसार कराँची की केंद्रीय सरकार ही पाकिस्तान के परराष्ट्रीय मामलों के लिए उत्तरदायी है। प्रांतीय सरकारों का उससे कोई संबंध नहीं है।

उस समय कराँची के अधिकारी मंडल ने इस विषय पर कोई मत देने से अस्वीकार कर दिया था। वह प्रधान मंत्री मोहम्मद अली और पूर्वी बंगाल के भूतपूर्व मुख्य मंत्री फजलुल हक की वार्ता की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्मरणीय है कि कुछ दिन पूर्व कराँची में पाकिस्तान के मुख्य मंत्रियों

सम्मेलन हो रहा था और श्री फजलुल हक इस सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए कराँची गए थे।

कराँची का राजनीतिक क्षेत्र श्री फजलुल हक के कार्य को अवैधानिक और बाधा उत्पन्न करनेवाला बताता है।

उसका विचार है कि परराष्ट्र समस्या, सुरक्षा और मुद्रा की प्रथा केंद्रीय सरकार के अधिकार की बात है। इसलिए श्री हक का यह कदम पाकिस्तानी एकता को भग करनेवाला है। राजनीतिक क्षेत्र का कहना है कि इधर श्री हक के जितने भी भाषण हुए हैं वे पाकिस्तान की एकता को विछिन्न करनेवाले हैं।

पूर्वी पाकिस्तान-स्थित नारायणगंज जूट कारखाने में जो भयकर दगा हुआ है उसकी जिम्मेवारी पाकिस्तान के प्रधान मत्री कम्युनिस्टों पर थोपते हैं किंतु भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री हक इससे सहमत नहीं हैं। साथ ही श्री हक के साथी भी इसे मानने को तैयार नहीं हैं। दूसरी ओर अमेरिका के साथ पाकिस्तान की जो सधि हुई है श्री हक तथा उनके साथी उसका भी विरोध करते हैं।

इस विरोध का परिणाम आज यह हुआ है कि पूर्वी बगाल के भूतपूर्व मुख्यमत्री श्री फजलुल हक को देशद्रोही करार देकर उनके मत्रिमडल को बर्खास्त कर दिया गया है। आज पूर्वी बगाल मे गवर्नरी शासन लागू हो गया है। मत्रियों के सम्मेलन से जब श्री फजलुल हक ढाका वापस गए तब उन्हें नजरबद कर दिया गया। समाचार तो यहाँ तक आया था कि वे गिरफ्तार कर लिए गए हैं किंतु पाकिस्तान सरकार ने इस समाचार का खंडन किया है। उसने यह बताया है कि उन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया है, हाँ, उन्हें अपने घर में नजरबद कर दिया गया है। उनपर यह रोक अवश्य लागू कर दी गई है कि वे कहीं नहीं आ-जा सकते हैं। उनसे लोग मिल भी नहीं सकते हैं, यह भी बात सही है।

अभी भी पाकिस्तान की राजनीतिक स्थिति बड़ी भयकर है। हक मत्रिमडल के कुछ सदस्य तथा हक मंत्रिमडल के कुछ समर्थकों को भी गिरफ्तार किया गया है। पाकिस्तान से कोई समाचार भी अब सही सही नहीं मिल रहा है। समाचार के आने पर भी रोक लगा दिया गया है। वहाँ के अखबारों में भी वही समाचार प्रकाशित होते हैं, जिसे पाकिस्तान सरकार मजूर कर प्रकाशन की स्वीकृति देती है।

इस सबध में यह भी स्मरणीय है कि आवामी लीग के एक अधिकारी श्रीमदनुरुलहक उस्मानी ने कुछ ही दिन पहले यह चेतावनी दी थी कि यदि केंद्रीय सरकार पूर्वी पाकिस्तान पर गवर्नर का शासन लादेगी तो देश में गृह-युद्ध छिड़ जायगा। भविष्य की बात अभी नहीं कही जा सकती। पता नहीं पूर्वी पाकिस्तान के भाग्य में अभी और क्या देखना बाकी है।

२, अमेरिका

गणतंत्रवाद का नारा बुलद करनेवाली अमरीकी सरकार जनमत का किस रूप में उपेक्षा करती है और इस गणतंत्रवाद की ओट में अपनी साम्राज्यवादी नीति के प्रचार के लिए क्या षड्यंत्र रचती है इसका उज्वल प्रमाण इस बात से ही मिल जाता है कि ९० प्रतिशत अमरीकी जनता हिंद चीन में अमरीकी फौजें भेजने के विरुद्ध है।

'यू० एस० एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट' नामक साप्ताहिक ने लिखा है कि अमरीकी सिनेट की एक प्रमुख कमेटी के अध्यक्ष का कहना है कि उनके पास जो पत्र आ रहे हैं उनमें ९९ प्रतिशत लोग एशिया की लड़ाई में अमेरिका के हस्तक्षेप के विरुद्ध हैं।

उक्त साप्ताहिक पत्र ने यह भी लिखा है कि इस समय यदि हावर-सरकार अमरीकी कांग्रेस से यह पूछना चाहे कि हिंद चीन में फौज भेजी जाय या नहीं तो अमरीकी कांग्रेस के अधिकांश मत विरोध में आएँगे। इसका प्रमुख कारण यह है कि इस वर्ष अमरीकी कांग्रेस के दोनों सदनों का चुनाव होगा और आम जनता हिंद-चीन में अपनी सतानों को बलि देने के विरुद्ध है। यदि अभी हिंद-चीन में अमरीकी फौजें भेजी गईं तो चुनाव में सरकारी रिपब्लिकन पार्टी के उमीदवार बुरी तरह हार जाएँगे, ऐसी आशका है। अमरीकी जनता के इसी रुख के कारण परराष्ट्र मत्री श्री डलेस को अपनी नीति में परिवर्त्तन करना पड़ा। पहले तो वे हिंद चीन मे अविलब फौजें भेजने की बात करते थे किंतु अब उन्हें अपना रुख ढीला करना पड़ा है।

अमेरिका के सुरक्षा सचिव श्री चार्ल्स विल्सन ने कहा है कि सुदूर पूर्व की स्थिति में अभी अतलांतिक समझौते की भांति प्रशांत संगठन बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

आपने यह भी कहा है कि मैं हिंद चीन में अमरीकी सैनिकों को भेजने पर विश्वास नहीं करता हूँ।

एक समाचार में यह भी बताया गया है कि अमेरिका में इस अफवाह को लेकर युद्ध का आतंक व्याप्त है कि हिंद चीन में अमेरिका क्रियात्मक हस्तक्षेप करने की दिशा में झुक रहा है, चाहे ब्रिटिश सहयोग मिले या न मिले। अमेरिका के परराष्ट्र मंत्री श्री डलेस के भाषणों से इस भय में उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जा रही है।

इस बात का भी संकेत मिल रहा है कि आइजन हावर और श्रीडलेस संयुक्त चीफ आफ स्टाफ के अध्यक्ष एडमिरल रैडफोर्ड के इस विचार से पूर्णतः असहमत हैं कि हिंद चीन को छोड़ दिया जाय। वे यह अवश्य चाहते हैं कि फ्रांस को अमरीकी शर्तों पर सहायता अवश्य दी जाय। उन शर्तों में एक यह भी है कि हिंद चीन के युद्ध में फ्रांस को अपनी शक्ति पर चलने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए और उसे इन देशों को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करनी चाहिए। साथ ही फ्रांस वहाँ की स्थानीय सेनाओं के प्रशिक्षण का कार्य अमेरिका को सौंप दे।

फ्रांसीसी सूत्रों से ज्ञात होता है कि पेरिस ने वाशिंगटन से अपनी यह इच्छा प्रकट की है कि वह ब्रिटेन के बिना भी दक्षिण पूर्वा एशिया संधि में सम्मिलित होने को तैयार है।

४. ब्रिटेन

कूटनीतिक क्षेत्रों की प्रतिक्रिया के आधार पर इस समय हिंदचीन में तत्काल कूटनीतिक या सैनिक आवश्यकता के प्रश्न को लेकर ब्रिटेन और अमेरिका में तीव्र मतभेद उत्पन्न होने की आशंका की जा रही है। इसका संकेत डिन बीन-फू के पतन के पूर्व से ही मिल रहा है, जब ब्रिटेन ने वियतनाम में प्रत्यक्ष सैनिक हस्तक्षेप के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया था और किसी प्रकार की सैनिक सहायता देने से अस्वीकार कर दिया था। धीरे-धीरे यह मतभेद घनीभूत होता जा रहा है और अब तो उसने एक ठोस रूप ग्रहण कर लिया है।

ब्रिटेन के प्रमुख दैनिक 'लंदन टाइम्स' का कहना है कि दक्षिण पूर्वा एशिया की समस्याओं पर पश्चिमी देशों के बीच उग्र मतभेदों के कारण भयंकर संकट उपस्थित हो गया है। इस संकट का रूप भयानक है क्योंकि दक्षिण पूर्व एशिया की समस्या के स्वरूप तथा उसके समाधान दोनों पर पश्चिमी देशों में मतभेद है।

पश्चिमी देशों के आपसी मतभेद इधर बड़ी स्पष्टता से सामने आने लगे हैं। हिंद चीन में प्रथम बार डिन बीन-फू में जम कर युद्ध हुआ और उसमें फ्रांस हार गया। परिणाम स्वरूप दो बार फ्रेंच सरकार लुढ़कते लुढ़कते बची। हिंद चीन के युद्ध में हस्तक्षेप करने के प्रश्न पर ब्रिटिश तथा अमरीकी मंत्री अप्रत्याशित ढंग से झगड़ पड़े। स्वयं अमरीकी राजनीतिज्ञ इस प्रश्न पर परस्पर विरोधी वक्तव्य प्रकाशित करवाते रहे हैं, जिससे स्पष्ट है कि स्वयं अमरीकी नेताओं में कितना मतभेद है।

ब्रिटिश प्रधान मंत्री सर चर्चिल ने गत १८ मई को पार्लमेंट में कहा कि जब तक जेनेवा-सम्मेलन का अंतिम परिणाम नहीं मालूम हो जाता तब तक दक्षिण पूर्वा एशिया तथा पश्चिमी प्रशांत क्षेत्र की सुरक्षा-योजना के संबंध में कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता। ब्रिटेन ने वैसी किसी भी वार्ता में भाग नहीं लिया है जिससे किसी कार्य के लिए उसे बाध्य किया जा सके। ब्रिटिश सरकार इस संबंध में भारत, बर्मा, तथा लंका की सरकारों के साथ संपर्क बनाए हुए है।

इस बात का भी अनुमान राजनीतिक क्षेत्रों में लगाया जाता है कि ब्रिटिश-सरकार दक्षिण पूर्वी एशिया के लिए एक सामूहिक सुरक्षा योजना प्रस्तुत करने का विचार कर रही है। इसमें भारत और इस क्षेत्र के अन्य राष्ट्रों को ब्रिटेन, अमेरिका, रूस, चीन और फ्रांस के साथ भाग लेने के लिए आमंत्रित किया जायगा।

कूटनीतिक क्षेत्रों में इस योजना के संबंध में बताया जा रहा है कि इस तरह की योजना से दो लाभ होंगे। एक यह कि जेनेवा सम्मेलन के निर्णयों के लिए गारंटी हो जायगी और दूसरे दक्षिण पूर्वा एशिया के सैनिक दृष्टि से दुर्बल देशों तथा चीन को यह भरोसा हो जायगा कि उन पर आक्रमण नहीं होगा।

अभी तक इस बात की जानकारी नहीं हो सकी है कि श्री ईडन तथा श्री मोलोतोव ने ऐसे किसी विचार पर बातचीत की है या नहीं। लेकिन ऐसा समझा जा रहा है कि रूस इसे पसंद करेगा। चीन के संबंध में भी ऐसी ही आशा की जा सकती है। लेकिन इस दिशा में एक रुकावट यह हो सकती है कि अमेरिका ऐसी

संघ में चीन के सम्मिलित किए जाने का विरोध करे, क्योंकि यदि चीन को एक बार भी किसी अनाक्रमणात्मक संधि में संयुक्त राष्ट्र और बड़े-बड़े सदस्यों के साथ साझीदार बना लिया गया तो अमेरिका, फ्रांस तथा दूसरे राष्ट्रों के चीन के संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बनाए जाने और पेकिंग-सरकार को मान्यता देने के विरोध में कोई तुक नहीं होगा।

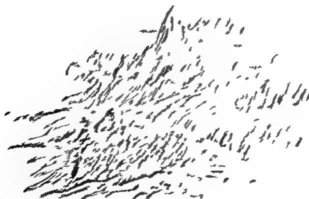
इसके अतिरिक्त इस योजना से साम्यवाद-विरोधी देशों की उत्तर अतलांतक संधि जैसी प्रशांत-संधि को कुठाराघात पहुँचेगा जिसके लिए अमेरिका इतना अधिक जोर दे रहा है और जो ब्रिटेन के लिए एक परेशानी बन गई है। एशियाई देशों में भी इसका स्वागत नहीं किया गया और रूस तथा चीन पर भी इसका कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा है।

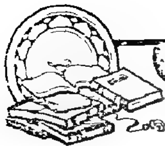
५. नेपाल

नेपाल में भारतीय रुपये का मूल्य इन दिनों बढ़ता जा रहा है। गैर सरकारी कारोबारी एक सौ भारतीय रुपयों पर एक सौ साठ नेपाली रुपया देते हैं। भारतीय रुपयों की कोई सरकारी दर तो यहाँ निर्धारित नहीं है, पर इन दिनों भारत की मुद्रा की जितनी माँग है उतनी पहले कभी नहीं रही। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय भारतीय रुपये की कीमत बहुत गिर गई थी। ५६ नेपाली रुपयों पर एक सौ भारतीय रुपया उन दिनों मिल जाता था। मई १९५१ में एक सौ भारतीय रुपयों के बदले एक सौ दस नेपाली रुपये मिलते थे। नेपाल में भारत और नेपाल दोनों की मुद्राएँ चलती हैं, पर नेपाल सरकार भी देश के दो तिहाई हिस्से में भारतीय मुद्रा ही ग्रहण करती है। काठमांडू और आस पास की पहाड़ियों में नेपाली मुद्रा का ही प्रचार है।

इसलिए उनकी कीमत घट जाने से इन दोनों को बड़ा घाटा हुआ है। भारत और नेपाल में हवाई-यातायात बढ़ जाने के कारण भी भारतीय मुद्रा की माँग बढ़ती जा रही है। अधिकारियों का अनुमान है कि प्रतिमास हवाई-यात्रियों को पूरा ढाई लाख भारतीय रुपयों की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि हवाई कंपनियाँ नेपाली रुपया स्वीकार नहीं करतीं। [illegible]

[illegible]





पुस्तकालोचन

घर की आन—श्री सत्यप्रकाश संगर, प्रकाशक सरस्वती प्रकाशन मन्दिर १२/२८ पटेल नगर, नई दिल्ली, मूल्य ३॥) ।

इस उपन्यास की भित्ति ग्राम-समाज और पारिवारिक जीवन पर पड़ी है। फूट और कलह के बीज आशंकाओं से किस प्रकार पनपते हैं और किस प्रकार एक उन्नत परिवार विच्छिन्न हो जाता है, इसी का स्वाभाविक चित्र इसमें उतारा गया है। ग्रामीण पात्र अपनी स्वाभाविक पृष्ठभूमि में बड़े स्वाभाविक उतरे हैं और जीवित लगते हैं। कथानक का विकास बड़े सरल ढंग से होता गया है, जिसमें आडंबरहीन भाषा, प्रकृति-चित्रण और जहाँ-तहाँ व्यंग के पुट से रोचकता का समावेश हुआ है। ग्रामीण समाज के अध्ययन की अंतर्दृष्टि लेखक में है और उस अध्ययन को रसानुभूति बनाने में भी वह सफल हुआ है। वास्तविकता उसकी दृष्टि की विशेषता है और आदर्श-स्थापना उसका उद्देश्य है। भाषा, चित्रण, शैली सब में एक सादगी है और कथा में एकसूत्रता है। जहाँ तक उपन्यास की टेकनिक का सवाल है, लेखक जादू नहीं पैदा कर सका है। सभी चरित्र किताब के खुले पन्नों की तरह अपने अपने ढंग से स्पष्ट हैं। उनकी इस स्पष्टता में ऐसी एक एकांगिता है, जो उस रहस्य-सृष्टि का अवसर नहीं दे सकी है, जिससे पाठकों की रुचि और सहानुभूति को उपयोगी खाद्य दे सके। प्रारम्भ में एक वर्द्धिष्णु गाँव के लिए इतने पन्ने खर्च किए गए हैं, ऐसी वर्णन-बहुलता है कि आगे किसी आकर्षक संकेत का आभास भी नहीं मिलता। सरल और सादी होने पर भी भाषा में एक ओज होता है, जो इसमें नहीं है। फिर भी उपन्यास अच्छा है। इसमें रुचि भ्रष्टता कहीं नहीं है और सादे स्वाभाविक ढंग से इसका निर्वाह किया गया है। इस कृति में लेखक के भावी कृतित्व की आशा और विश्वास की झलक मिलती है।

—हंसकुमार तिवारी

आँखों में—कवि श्री हरिकृष्ण प्रेमी, प्रकाशक—उपर्युक्त, मूल्य २।) ।

प्रेमीजी आज कवि की अपेक्षा नाटककार के रूप में हिंदी-जगत् में विशेष प्रसिद्ध हैं। किंतु काव्य के क्षेत्र में भी उनकी सेवाएँ रही हैं, आज भी हैं। आँखों में उनकी सर्वप्रथम कविता पुस्तक है, जिसका यह दूसरा संस्करण है। गति की दौड़ में आज की हिंदी-कविता बहुत आगे निकल आई है अवश्य, किंतु इस पुस्तक का स्थान पुराने स्मृति चिह्न के ही रूप में नहीं है, आज की धड़कन भी इसमें बहुत जगह स्पंदित है। इसमें निश्छल प्रेमी हृदय के उद्गार हैं, जो अपनी स्थल विशेष की मार्मिकता के कारण आज के मन को भी स्पर्श करते हैं। मिलिंदजी ने भूमिका में लिखा है, प्रेमी उन भावुकों में है, जो न तो संसार से इतने उठ जाते हैं कि प्यार को तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगें और न इतने नीचे गिर जाते हैं कि विकार को प्यार करने लगें। उनकी कविता उस निष्कपट सामान्य श्रेणी के भावुक मानवों की स्पष्ट भाषा है, जो हृदय रखते हैं, प्यार करते हैं, कष्ट सहते हैं और रोते हैं।

इस निश्छलता तक तो बात ठीक है, परन्तु कृति में प्राथमिकता की छाप भाषा-योजना में और भाव निर्वाह में पद-पद पर मिलती है, उन्हीं में जहाँ-तहाँ प्रौढ़ पंक्तियाँ भी मिल जाती हैं। शुरू में कवि ने मर्म तक जाने की एक शर्त रखी है कि—

> पोंछ इस दुखिया जीवन के
> ये पागल पन्ने खोलो;
> पहले कलुषित हृदय,
> वेदना के निर्मल जल में धो लो।

पुस्तक का असली परिचय कवि के ही शब्दों में है।

> व्यथित हृदय की पहली झाँकी
> चर के ये थोड़े उद्गार;
> शेष, शिशु-सा छिपा हुआ है
> अंतस्तल में हाहाकार।

प्राणों की पीड़ा से जो पहली पहचान हुई, आँखों में उसी वेदना के छद हैं। आज साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी बदल गई है और साहित्य भी नए मोड़ पर मुड़ा है, किंतु मानव-मन में प्रेम और वेदना की वही पुरानी श्यामल छाया आज भी है, इसलिये इन पंक्तियों के दर्पण में उसकी झलक लोगों को प्रिय भी लगेगी।

—हंसकुमार तिवारी

विश्वधर्म-दर्शन—ले० श्री साँवलिया बिहारीलाल वर्मा, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, मूल्य १३॥)।

प्रस्तुत पुस्तक विश्व के सभी धर्मों का परिचय देने के लिए लिखी गई है। इसके ४८४ पृष्ठों में गागर में सागर भरने का काम श्री वर्माजी ने किया है। एतदर्थ श्री वर्माजी का धर्म प्रेमी-समाज आभारी रहेगा। लेखक का यह दावा नहीं कि यह पुस्तक मौलिक है। आचार्य हेमचद्र के शब्दों में यदि कहा जाय तो कोई पुस्तक मौलिक नहीं होती। फिर भी लेखक का कौशल इसी म है कि वह प्रतिपाद्य विषय को विशिष्ट प्रकार की निरूपण पद्धति का आश्रयण करके मौलिक जैसा बना देता है। श्रीवर्माजी की पुस्तक को इस अर्थ में मौलिक कहा जा सकता है। लेखक का दृष्टिकोण सर्वधर्म समन्वय का है और प्रकाशक महोदय ने भी उनकी इस दृष्टि का समर्थन किया है। धर्मों के भेद के कारण अबतक जो विवाद बढे हैं उनसे ऊब कर ही विद्वानों ने सर्वधर्म समन्वय का मार्ग निकाला है। इससे यह लाभ तो अवश्य होता है कि धर्मों की विलक्षणता से दृष्टि हट कर उनमें रही हुई एकता की ओर स्थिर होती है। धार्मिकनिष्ठा की सकुचितता दूर होकर दृष्टि विशाल बनती है। परिणामस्वरूप धार्मिक समाज सर्वधर्म सहिष्णु बनता है। लोक-जीवन में से विवाद अस्तगत होकर विश्वबन्धुत्व की भावना प्रबल बनती है। यही आज के समाज के लिए अत्यत आवश्यक है।

लेखक की वेदभक्ति उनको एक ओर पाश्चात्य विद्वानों ने जो वैदिक सशोधन का कार्य किया है उसके लिए अत्यत महत्त्वपूर्ण 'अत्यन्त श्लाघ्य' जेसे विशेषणों से प्रशसा के पुष्पों से पूजा करने की प्रेरणा देती है तो उनकी भारतीयता की भक्ति पाश्चात्य विद्वानों के लिए 'दुःसाहस' और 'मूले कुठाराघात' की लोकोक्ति की चरितार्थता जैसे कठोर विशेषणों का प्रयोग करने की प्रेरणा देती है। हमे समझ में नहीं आता कि हम उनका विशिष्ट मत क्या समझे? यदि पाश्चात्य पडितों ने वैदिक सशोधन का कार्य करके 'मूले कुठाराघात' ही किया है और उनका वह दुःसाहस ही था तो उनके कार्य को अत्यत श्लाघ्य और महत्त्वपूर्ण कहना कहाँ तक ठीक है? वेद में से भारतीयता पाश्चात्य विद्वानों ने निकाल दी है यह उनका आक्षेप है। किंतु इसका मतलब क्या? सर्व-धर्मसमन्वय की बात करनेवाले श्री वर्माजी इसीलिए नाराज हैं कि पाश्चात्यों ने वेद का उद्भव आधुनिक भारत से बाहर माना है। श्रीवर्माजी धार्मिक अधभक्ति के निराकरण में प्रवृत्त होकर जहाँ पुण्य की कमाई करते हैं वहाँ यह नया राष्ट्रभक्ति का भूत वाचकों के मन में खडा कर बड़ा पाप कर रहे हैं। आज की शांति की समस्या धार्मिक अधविश्वासों या धार्मिक विवादों के कारण उतनी नहीं उलझी है जितनी राष्ट्रभक्ति के कारण। अतएव यदि विश्वबधुत्व के लिए सर्व-धर्म-समन्वय आवश्यक है तो उससे कहीं अधिक आवश्यक है सर्वराष्ट्र-समन्वय। विदेशी विद्वानों ने वैदिक सशोधन जो किया है उसमें भ्रम का निराकरण सौम्यभाषा में करना एक बात है और भारतीयता को आगे कर कटुशब्दों का प्रयोग करना दूसरी बात है। मतभेद हो सकता है, होना भी चाहिए। सब धर्मों में भी मतभेद तो है ही अन्यथा धर्म भेद कैसा और उनका समन्वय कैसा? किंतु जिस प्रकार धर्मों में भेद रहते हुए भी आपने धर्मों के समन्वय का प्रयत्न किया है उसी प्रकार वेद के अर्थों के विषय में, उद्भव के विषय में भी मतभेद हो सकते हैं। यदि उनमें समन्वय सभव हो, करें। सभव न हो तो मतभेदों का सौम्य निरूपण करके अपना एक मत जो हो, उसे व्यक्त करें। वेद मानव जाति के लिए हितकारी यदि हों, तो कहीं भी उनका उद्भव हो, वे हितकारी ही रहेंगे। और यदि भारत में उनका उद्भव होने पर भी आज हम वेद का अध्ययन अध्यापन आवश्यक नहीं समझते, उनके अर्थ के विषय में ही विचार में पडे हैं तो वेद के भारतीय होने मात्र से ही हमारा कौन सा हित हो जायगा।

वैदिकवाङ्मय के विषय में जयपुर के प० श्रीमधुसूदनजी तथा उनके शिष्यों ने जो विशिष्ट सशोधन किया है उसका निर्देश भी पहले खड में नहीं है, यह कमी खटकती है।

वैदिक आर्य बहु देवता उपासक थे, ऐसा मत पाश्चात्य-विद्वानों का है। यह बता कर वर्माजी ने उसे निर्मूल

सिद्ध किया है (पृ० २७)। किंतु उनका यह कथन भ्रामक है। पश्चात्य विद्वानों का तो यह मत है कि आर्य प्रारंभ में बहुदेवता उपासक थे, किंतु बाद में एक देवता उपासक हुए। पश्चात्य विद्वानों के इस मत को निर्मूल करने का कोई कारण नहीं।

स्वामी दयानंदजी का यह मत कि वेदकालीन भारत में यज्ञों में पशु वध नहीं होता था (पृ० ४७), बिना समालोचना के ही उल्लिखित है। वस्तुतः उस मत में कोई तथ्य नहीं, यह बात लेखक के अगले प्रकरण से (पृ० ६७) ही सिद्ध हो जाती है।

लेखक भगवान महावीर को जैन-धर्म का प्रथम उपदेशक मानते हैं, ऐसा भास होता है (पृ० ८०), किंतु भ० महावीर से भी पहले पार्श्वनाथ का अस्तित्व अब ऐतिहासिकों ने स्वीकृत कर लिया है और बौद्ध-धर्म के विद्वान श्री धर्मानंद कोसाम्बी का तो यहाँ तक कहना है कि भ० पार्श्वनाथ की परंपरा से ही आचार्य की बहुत-सी बात बुद्ध ने भी ली हैं।

यज्ञों के विरोध करनेवालों में जैन और बौद्धों के (पृ० ६०) अलावा आजीवक आदि अन्य लुप्त सम्प्रदायों को भी गिनाना जरूरी है। आजीवकों का परिचय देते हुए लेखक ने जैनों से भी प्राचीन उन्हें बताया है (पृ० १२१), किंतु प्रमाण कुछ नहीं दिया। आजीवकों के विषय में विशेष जानकारी के लिए अभी हाल में ही श्री बरुआ ने एक पुस्तक लिखी है, जिज्ञासु के लिए उसमें अच्छी सामग्री दी गई है।

भगवान महावीर को जैनधर्म का प्रवर्तक बताया (पृ० १२२) गया है यह ठीक नहीं।

लेखक ने आधुनिक आर्य समाज, ब्रह्मसमाज आदि का भी परिचय दिया है।

समग्र पुस्तक के अंत में धर्म-समन्वय का प्रकरण है, किंतु पुस्तक में उल्लिखित धर्मों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है इसका कोई बुद्धिगम्य स्पष्टीकरण मिलता नहीं। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि लेखक का ध्येय समन्वय दिखाना नहीं, किंतु धर्मों का ऐसा सामान्य परिचय देना है जिसमें धर्मों की निंदा न करके उनके दोष न दिखा करके सिर्फ मान्यताओं का निरूपण करना। आम जनता के लिए पुस्तक उपयोगी है।

—दलसुख मालवणिया

रीतिकालीन हिंदी कविता और सेनापति—लेखक—रामचंद्र तिवारी; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, नखास चौक, गोरखपुर मूल्य ३॥)।

सेनापति निर्विवाद रूप से हिंदी के चोटी के कवियों में गिने जाते हैं। भक्तियुगीन एवं रीतियुगीन प्रवृत्तियों का जो प्रौढ एवं कलात्मक समन्वय इनके काव्य में उपस्थित हुआ है वह अध्ययन एवं खोज की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इस दिशा में जो छुटपुट प्रयास हुए हैं वे व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से अधूरे एवं अपर्याप्त रहे हैं।

इस ग्रंथ में लेखक ने रीतिकालीन हिंदी-कविता की सभी प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त निर्देश करके उन्हीं के प्रकाश में कविवर सेनापति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विवेचन प्रस्तुत किया है। हिंदी साहित्य में रीति का विशिष्ट अर्थ, नामकरण, उद्भव के हेतु, विषयतत्त्व की परंपरा, पूर्ववर्ती साहित्य में शृंगार की व्यापकता, रीतिसाहित्य के विविधमोड़, शैली की दृष्टि से स्वरूप-विभाजन, कवियों के विविधवर्ग, रीतिग्रंथ का सामान्य रूप, उनके विवेचन का आधार, विवेचन का स्तर, रीतिकालीन कवियों की सौंदर्यानुभूति तथा भक्तिकालीन काव्यधाराओं का रीतियुगीन स्वरूप आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का संक्षिप्त निरूपण करते हुए रीतिकालीन हिंदी-कविता का स्वरूप उपस्थित करने की चेष्टा लेखक ने की है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाव्य का काल सं० १७०० से १६०० तक माना है, परन्तु प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने सं० १५६८ में लिखित कृपारामकृत 'हिततरंगिणी' की चर्चा करते हुए संवत् १६०० से लेकर १७०० तक के काल को रीतिकाव्य का 'प्रस्तावना काल' माना है और १७०० के पश्चात 'विकास विस्तार-काल' मानना चाहा है। लेखक की मौलिक दृष्टि ध्यान देने योग्य है यद्यपि उससे सहमत होना आवश्यक नहीं। प्रत्येक दो प्रधान प्रवृत्तिवाले युगों के बीच एक संधिकाल की कल्पना की जा सकती है। वस्तुतः केवल कुछ लक्षणग्रंथों की प्राप्ति के आधार पर संवत् १७०० के पूर्व प्रवाहित होनेवाली काव्यधारा को रीतिकाव्य से सीधा संबंधित करना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि भक्तिकाव्य धारा की जो प्रधानता तब तक चलती रही है उससे इंकार नहीं किया जा सकता। वैसे तो बीज रूप में कृष्णकाव्यधारा के ही कवियों म

रीतिकाव्य के अनेक स्रोत खोजे जा सकते हैं, जिनमें उक्त 'प्रस्तावना' का रूप न्नक जाता है। वस्तुतः इसी वैज्ञानिक काल-विभाजन पर समुचित ध्यान न रहने के कारण लेखक ने रामायण महानाटक (स० १६६७) के रचयिता प्राणचंद चौहान को भी रीतिकाल क अतर्गत गिना दिया हैं। शैली के आधार पर लेखक का वर्गीकरण बड़ा सार्थक एवं सुविधाजनक हुआ है। 'रीतिबद्ध' के अतर्गत 'लक्षण-लक्ष्यबद्ध' एव 'लक्ष्य' और 'रीतिमुक्त' के अंतर्गत 'रहस्योन्मुख प्रेमकाव्य' एवं 'विशुद्ध प्रेमकाव्य' के वर्गीकरण द्वारा रीतिकालीन काव्य की विविधरूपता का सुचारु विश्लेषण हो सका है।

रीतिकालीन हिंदी कविता के विवेचन के उपरात लेखक ने सेनापति के जीवन वृत्त, कविताकाल, रचनाओं तथा व्यक्तित्व का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करके सेनापति का काव्यविषयक आदर्श तथा उनके काव्य का स्वरूप कुछ विस्तार से उपस्थित किया है। इसके अतर्गत शृ गार-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, भक्तिभावना तथा भाषा-शैली और छद आदि की दृष्टि से सेनापति क अभिव्यक्ति कौशल इत्यादि सभी आवश्यक विषयों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है। सेनापति की रचनाओं के अतर्गत उनक 'काव्यकल्पद्रुम' की चर्चा लेखक ने की है और कहा है कि डॉ० नगेंद्र ने 'काव्यकल्पद्रुम' को मम्मट के काव्य प्रकाश की शैली में विरचित ग्रंथ माना है। यदि यह सत्य है और डॉ० नगेंद्र ने 'काव्यकल्पद्रुम' देखा है तब तो सेनापति को रीतिबद्ध मानने में कोई सदेह रहता ही नहीं। मेरे विचार से लेखक को इस तथ्य की प्रामाणिकता पर और गहराइ से सोचना चाहिए था और असदिग्ध रूप मे किसी निष्कर्ष तक पहुँचना चाहिए था। यह और भी आवश्यक इसलिए हो जाता है कि लेखक आचार्य शुक्ल की उस परपरा को, जिसके अनुसार सेनापति भक्तिकाल के फुटकल कवियों मे रखे गए हैं, मानकर नहीं चला है। सेनापति की भक्तिभावना के प्राधान्य को भी स्वय लेखक अस्वीकार नहीं कर सका है। अत. सेनापति के रीतिकाव्य की विशेषताओं की प्रधानता के आधार के रूप में उनके उक्त 'काव्यकल्पद्रुम' का निस्सदेह विशिष्ट महत्त्व हो जाता है और इसी दृष्टि से इस तथ्य की गभीर गवेषणा भी अपेक्षित है।

इसी प्रकार लेखक का दृष्टिकोण 'मधुर रस' के विषय में भी अस्पष्ट एवं उलझा हुआ सा रह गया है। लेखक ने जहाँ तक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत का उल्लेख करते हुए 'विषय भेद' के आधार पर 'मधुर रस' को शृ गार का ही भगवद्विषयक रूप माना है वहाँ तक तो ठीक है, परतु जहाँ वह तथाकथित 'वैज्ञानिक दृष्टि' के नाम पर डॉ० नगेंद्र की निम्नलिखित पक्तियों का हवाला देता है वहीं विषय जटिल हो गया है—

'अध्यात्म अथवा परोक्ष प्रेम भौतिक जीवन की विफलता का ही दूसरा रूप है। इस जीवन में अभिव्यक्ति न पाकर पराजित हृदय की वृत्तियाँ उस जीवन की ओर मुड़ीं। नर से त्रस्त होकर उन्होंने नारायण को अपना लक्ष्य बनाया। सारा देश भक्ति—अपार्थिव प्रेम—के मद में झूम उठा।'

वस्तुत' डॉ० नगेन्द्र का उक्त कथन किसी प्रकार की 'वैज्ञानिक दृष्टि' का सूचक न होकर 'अनैतिहासिक दृष्टि' का द्योतक है जो भारतीय भक्तिकाव्य धारा के उस इतिहास को हृदयगम नहीं कर पाई जिसके अनुसार भक्ति आदोलन की नींव दक्षिण भारत में आल्वार संतो द्वारा (नर से त्रस्त होकर' नहीं वरन् स्वाभाविक रूप मे नारायण को लक्ष्य बना कर) डाली जा चुकी थी, जिनका काल सातवीं शताब्दी—और किसी किसी के मत से तो उससे भी पूर्व माना जाता है और जिनकी परपरा में विख्यात वैष्णव भक्त आचार्य श्री रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ था। आश्चर्य है कि लेखक ने डॉ० नगेंद्र के उक्त मत को नवीन ऐतिहासिक शोध के प्रकाश में न परखकर ज्यों का-त्यों उसका समर्थन कर दिया है।

उपर्युक्त कतिपय न्यूनताओं के होते हुए भी ग्रथ म उपलब्ध शास्त्रीय विवेचन लेखक की सूक्ष्म एव सतुलित दृष्टि का परिचायक है। न्यूनताओं का जो सकेत किया गया है वह केवल इस दृष्टि से कि आगामी संस्करणों में लेखक द्वारा ग्रथ को अधिकाधिक आधिकारिक रूप दिया जा सके।

साराश यह कि विद्वान लेखक ने उक्त ग्रथ के सीमित आकार (११२ पृष्ठ) मे रीतिकालीन कविता और सेनापति का एक सर्वांगीण अध्ययन एव मूल्यांकन उपस्थित कर दिया है जो सभी दृष्टियों से उपयोगी एव महत्त्वपूर्ण है। साथ ही अभीतक रीतिकाव्य तथा सेनापति पर जो कुछ अध्ययन एवं शोध का कार्य हुआ है लगभग उसकी समस्त

साधनों का स्वस्थ उपयोग लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ में उचित सीमा के भीतर किया है। फलतः ग्रंथ का रूप संक्षिप्त होते हुए भी ठोस एवं प्रामाणिक हो गया है। हिंदी-समालोचना क्षेत्र में पदार्पण करते हुए अपने इस प्रथम प्रयास में ही लेखक ने जिस गाम्भीर्य एवं पांडित्य का परिचय दिया है वह इस दिशा में उसके उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है।

—देवकीनन्दन श्रीवास्तव

इंसान की लाश (कहानियाँ)—लेखक—श्री विष्णुकिशोर झा 'बेचन', प्रकाशक—भारती प्रकाशन, भगवान पुस्तकालय, भागलपुर-२ पृष्ठ संख्या १०४, मूल्य १=)।

आज चौदहों भुवनों में जो असमानता और कलुष का विष व्याप्त हो गया है, वह 'इंसान की लाश' की चौदह कहानियों में संग्रहीत है। कहानीकार ने समाज के विभिन्न विषम-वस्तुओं को अपनी छोटी-छोटी कहानियों में बाँधने का प्रयास किया है और वह काफी सफल भी हुआ है।

अर्थ के विषम विभाजन के कारण स्नेह, यौवन और इच्छाएँ किस प्रकार विनष्ट होती हैं, प्रतिभाएँ कैसे लुप्त होती हैं, इसका यथार्थ चित्रण 'पड़वा वैरी', 'जहाँ प्रतिमाएँ मरती हैं', 'पचास कप', 'सिगरेट जल रहा है', 'अन्न दी का लूत', 'इंसान की लाश' आदि कहानियों में हुआ है। 'भले सावन मास' में कुछ टीस है जो दर्द पैदा करती है और एक प्यारी सी मुसकानी गूँज छोड़ जाती है।

लेखक ने जीवन को समझने का प्रयास सही रास्ते से किया है, वे न तो बाहर के फुलाव में पड़े हैं, न टेकनिक के मोह में। यही कारण है कि उनकी अनुभूतियों में ईमानदारी है और है एक स्पष्ट दृष्टिकोण।

पुस्तक का नामकरण भी काफी तात्पर्यपूर्ण हुआ है क्योंकि बेकारी और गरीबी में पड़ा इंसान आज अगर जीने की कोशिश नहीं करता तो उसे लाश ही कहा जायगा।

लेखक ने जिन्दगी को आँकने का पूरा प्रयास किया है और लेखक से हिंदी-साहित्य को अभी बहुत आशा है।

—अनुज

पुस्तकालय क्यों और कैसे ?—लेखक—श्री अनुज शास्त्री, प्रकाशक—भारती प्रकाशन, भगवान पुस्तकालय भागलपुर-२, मूल्य १॥)।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में, खासकर बिहार में पुस्तकालयों की संख्या में काफी अभिवृद्धि हुई है लेकिन उसकी उपयोगिता में नहीं। इसका प्रमुख कारण हिंदी में पुस्तकालय-संचालन-कला संबंधी साहित्य की कमी है। इस कमी की कुछ हद तक पूर्ति करने का प्रयास श्री अनुज शास्त्री ने इस पुस्तक द्वारा किया है।

श्री शास्त्री पुस्तकालय आंदोलन के अनुभवी तथा कर्मठ कार्यकर्ता हैं। अपने अनुभव के आधार पर लेखक ने ग्रामीण पुस्तकालयों की प्रमुख-प्रमुख समस्याओं के निदान के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण विचार इस पुस्तक में दिए हैं जिससे ग्रामीण पुस्तकालय को काफी लाभ एवं पुस्तकालय आंदोलन के नव जागरण में काफी सहायता मिलेगी।

पुस्तक में ये निबंध हैं—(१) पुस्तकालय की महत्ता (२) पुस्तकालय का विकास और भारत (३) बिहार में पुस्तकालयों की परंपरा (४) गाँव का पुस्तकालय और भविष्य की योजनाएँ (५) ग्रामीण पुस्तकालय का संचालन (६) भारत में पुस्तकालय आंदोलन (७) बिहार में पुस्तकालय आंदोलन (८) उपसंहार। ग्रामीण पुस्तकालय का संचालन शीर्षक निम्न खंडों में विभाजित है—(क) स्थापना (ख) भवन (ग) सदस्यता (घ) आर्थिक समस्या (ङ) पुस्तकालय का प्रबंध (च) पुस्तकों का चुनाव (छ) वर्गीकरण (ज) पुस्तकालयाध्यक्ष (झ) आवश्यक रजिस्टर (ञ) आदर्श विधान। आर्थिक समस्या को हल करने के जो उपाय बतलाए गए हैं वह ग्रामीण पुस्तकालयों के लिए अनुकरणीय है। 'भविष्य की योजनाएँ' शीर्षक की ओर सरकार और पुस्तकालय आंदोलन के संचालकों को ध्यान देना चाहिए।

पुस्तक प्रत्येक ग्रामीण पुस्तकालय और पुस्तकालय मंत्री के लिए उपयोगी है। पुस्तक की उपयोगिता को देखते हुए मूल्य कुछ अधिक जँचता है। इसके अतिरिक्त दूसरे संस्करण में प्रेस संबंधी भूलों का निराकरण करने के लिए लेखक को सचेष्ट रहना चाहिए।

—चेतन

संस्मरण

पू के कदमों में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ५)

राजनीति

जनीति विज्ञान प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र ६)
रतीय संविधान और शासन प्रो० विमलाप्रसाद ६॥)

नीति-शास्त्र

ति शास्त्र श्री क्षेमधारी सिंह २॥)

नागरिक शास्त्र

धमिक नागरिक शास्त्र प्रो० दिवाकर झा ४)

आर्थिक इतिहास

रत का आर्थिक इतिहास प्रो० मोतीचन्द्र गोयल ३)
गलैंड का आर्थिक इतिहास " २)

सामान्य विज्ञान

वन का विकास माननीय श्री रामचरित्र सिंह २॥)
वनस्थान भारती श्री रामनारायण 'यादवेन्दु' १०)

ग्राम्य साहित्य

न्नपूर्णा के मन्दिर में श्री शिवपूजन सहाय १॥)

सामाजिक शिक्षावली

सामाजिक शिक्षा संपादक-मंडल ॥=)
गाव स्वर्ग बन सकता है " ॥=)
हम जानना चाहिए " ॥=)
किसान और मजदूर संपादक-मंडल ॥=)
हमारा कर्तव्य " ।-)
पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा " ॥)
पशुपालन और भारत का पशुधन " ॥)
बिहार पंचायत राज और उसके अधिकार " ॥)
फल तथा सब्जीसंरक्षण श्री उमेश्वरप्रसाद वर्मा १॥)
फलोत्पादन " १॥)

आलोचना

दिनकर की काव्यसाधना प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव ३॥)
काव्य और कल्पना प्रो० रामखेलावन पाण्डेय ३॥)
निर्गुण काव्यदर्शन प्रो० सिद्धिनाथ तिवारी ५)

चित्र (अलबम)

अमर रेखाएँ चित्रकार—श्यामलानन्द २)

मैथिली-साहित्य

खट्टर ककाक तरंग प्रो० हरिमोहन झा १॥)

बाल-साहित्य

कहानी

न्नतसोपान प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ॥।)
नवरत्न " ॥।)
कथा कहानी " ॥।)
सीख की बात " ॥।)
आश्चर्यजनक कहानियाँ श्री केदारनाथमिश्र 'प्रभात' १)
मूर्खों की कहानियाँ " १)
मनोरंजक कहानियाँ " १)
समुद्र के मोती " १)
शेर का शिकारी श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' ॥।)
लहरदार पूँछ श्रीराधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० ॥।)
नकली सिंह " ॥।)
ऊँचे ऊँट " ॥।)
साँढ़ और घन " ॥।)
चोर राजा श्री राधाकृष्ण प्रसाद एम० ए० ॥।)
शालिम कुमार श्री शिवस्वरूप वर्मा ॥।)
सीत-वसंत " ॥।)
हितोपदेश की कहानियाँ श्री शशिनाथ झा १॥)
मामाजी " ॥।)
रूसी जीवट की कहानियाँ श्री सुरेश्वर पाठक १॥।)
सत्तू में भैंस सुश्री विन्ध्यवासिनी देवी ॥।)
जादू का छड़ी श्री विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त ॥)
जादू का थैला श्री जगदानन्द झा ॥।)
काठी घोड़ा " ॥)
कासिम का चप्पल " ॥)
चालाक मुर्गी " ॥)
सियार का न्याय " ॥)
चाँद का दूत " ।=)

दादा का ढोल	श्री जगदानन्द झा	।=)
गधे की सूझ	"	।=)
समझदार मेढक	"	।=)
बेटे हों तो ऐसे	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	।॥)
बेटियाँ हों तो ऐसी	"	।॥)
अनोखा संसार	"	॥=)
रोचक कहानियाँ	श्री सुरेश्वर पाठक	१।)
राजकुमारी का ब्याह	श्री दयाभानु 'अलख'	१)
अनोखे देश में	श्री गिरिधारीलाल शर्मा 'गर्ग'	।॥)
किराकाग	"	।॥)
सोने का कीड़ा	"	।॥)
रिपवान विंकिल	"	।॥)
जंगल बोलता है	"	१)
घरौंदा	श्री गोविन्दशरण, एम० ए०	१।।)

पौराणिक कहानी

उपदेश की कहानियाँ — श्री अनूपलाल मण्डल —भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=); भाग, ३ ।।=); भाग, ४ ।।=)

इनके चरण-चिह्नों पर	श्री रामवृक्ष बेनीपुरी	।॥)
माँ के सपूत	श्री शिवपूजन सहाय	॥-)

भौगोलिक कहानी

अपना देश श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी भाग१-।=,भाग २-॥)

चित्रित कहानियाँ

गोल-गपोड़े	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	।॥)
हाऊ धिनाधिन	"	।॥)

चित्रित लोरियाँ

आ री निंदिया	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	।॥)
हँसी खुशी	"	।॥)

ऐतिहासिक कहानी

रत्नाकर	श्री शशिनाथ झा	१)
अष्टदल (दो भाग) प्रत्येक भाग	"	।=)
संक्षिप्त रामायण-कथा	श्री नागार्जुन	१।।)
बाल-महाभारत	श्री चन्द्रमाराय शर्मा	१)
चित्तौड़ का साका	श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'	।॥)

अमर कथाएँ — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग, १ ।=)
भाग, २ ।=), भाग, ३ ।=), भाग, ४ ।≡)

हम इनकी संतान हैं — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी
दो भाग, प्रत्येक भाग ॥-)

सामान्य ज्ञान

छात्र-जीवन	श्री फूलदेवसहाय वर्मा	१।)
क्यों और कैसे ?	श्री जगदानन्द झा	१।।)

प्रकृति पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-॥=)
भाग २-॥=)॥

यात्रा-वर्णन

सिन्दबाद की समुद्र-यात्रा — श्री जगदानन्द झा — १)

पृथ्वी पर विजय — श्री रामवृक्ष बेनीपुरी भाग १-॥-)॥
भाग २-॥=)॥

विचित्र यात्रा — श्री तारकेश्वर प्रसाद वर्मा — १)

कविता

मिर्चे का मजा	श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर'	।॥)
पेटू पांड़े	श्री व्रजकिशोर 'नारायण'	।॥)
खट्टे हैं अंगूर	श्री रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'	।॥)
वीर बालक	श्री गयाप्रसाद 'कौशल'	१)

उपन्यास

आदमी	प० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	।।)
देशद्रोही	पं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'	।।)

रेखाचित्र

कुछ सच्चे सपने प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ॥=)

जीवनी

चाणक्य	श्री मथुराप्रसाद दीक्षित	।=
अशोक	श्री वीरेन्द्र नारायण	।=
शिवाजी	"	।=
लोकमान्य तिलक	श्री शुकदेव राय	।
लाला लाजपतराय	"	।
हिन्दी के प्राचीन कवि	"	

Regd No. P. 784
Annual Subs. Rs. 10/-

AVANTIKA

June 1954
This Issue Rs.

अवन्तिका के प्रथम वर्ष

की

फाइल मँगाकर लाभ उठायें

१. अवन्तिका के प्रथम वर्ष की फाइल दो जिल्दों में हमारे कार्यालय में उपलब्ध है। जिन सज्जनों को अपने पुस्तकालय या संग्रहालय के लिए इन जिल्दों की जरूरत हो वे मनिआर्डर से १२) बारह रुपये भेजकर अथवा वी० पी० का आर्डर देकर ये जिल्दें मँगवा सकते हैं। प्रथम वर्ष की फाइल में जिन लेखकों और कवियों की रचनाएँ आपको पढ़ने के लिए मिलेंगी उनमें से कुछ के नाम ये हैं—श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्री सुमित्रानन्दन पंत, महाकवि निराला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पं० दुलारे वाजपेयी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

२. अवन्तिका का वार्षिक चंदा १०) दस रुपये, और एक अंक का १) रुपया है।

३. अवन्तिका का वर्षारम्भ जनवरी से होता है।

४. अवन्तिका का ग्राहक किसी भी महीने से बना जा सकता है।

५. अंक भेजने का खर्च कार्यालय देता है।

६. पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें; अन्यथा पत्रोत्तर भेजने में विलम्ब होगा।

७. नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता।

—प्रकाशक—

श्रीअजन्ता प्रेस, लिमिटेड, पटना–४